(51)

काय चिकित्सा सार

(ESSENTIALS OF MEDICINE)

OFFERED

TO

THE PRIZE COMPETITION DEPARTMENT

OF

EDUCATION MINISTRY

GOVERNMENT OF INDIA.

N.DELHI.

By

DHARM DATT VAIDYA

Ex-Principal

GURUKUL KANGRI AYURVEDIC COLLEGE.,

KANKHAL (HARDWAR).

काय चिकित्सा सार

(ESSENTIALS OF MEDICINE)

OFFERED

TO

THE PRIZE COMPETITION DEPARTMENT

OF

EDUCATION MINISTRY

GOVERNMENT OF INDIA

N.DELHI

By

DHARM DATT VAIDYA

Ex- Principal

GURUKUL KANGRI AYURVEDIC COLLEGE

KANKHAL (HARDWAR)

नवीन तथा प्राचीन

का य चि कि त्सा - सा र

E S S E N T I A L S   OF   M E D I C I N E

both

MODERN   AND   AYURVEDIC

* * *

लेखक.

धर्म दत्त विद्यालंकार

(गुरुकुल विश्व विद्यालय.. १९१७)

ग्रेजुएट मद्रास आयुर्वेदिक कालेज ..(१९२१)

भूतपूर्व प्रिंसिपल

गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेदिक कालेज

लेखक.

"AYURVEDIC INTERPRETATION OF MEDICINE"

-*-*-*-*-*-*-

भू मि का

अर्वाचीन चिकित्सा शास्त्र की बहुत सी देन हैं। इनमें से इसका जीवाणु सिद्धान्त तथा जीवाणु विनाशकारी औषधियां इसकी बहुमूल्य देन हैं। इस चिकित्सा ने जीवाणु निराकरण करके रोगों को, और कष्टदायक लक्षणों को शांत करके रोगियों को जो आराम पहुंचाया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाये, थोड़ी है।

दूसरी ओर प्राचीन चिकित्सा शास्त्र का जो यह सिद्धान्त है कि निर्दोष शरीर में रोग नहीं होता, दोष वृद्धि हो जाने पर रोग होता है तथा दोष का निराकरण कर देने पर रोग शांत हो जाता है उसकी एक भारी देन है।

जैसे कहा है :-

देहिनं नहि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ॥ च।चि।३।१२॥

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेक कारणम् ।

दोषानुबन्धनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम् । च।चि।३।२९२॥

दोष को आयुर्वेद में तीन प्रकार का कहा है..

१.. वायु दोष :- शारीरिक या मानसिक अभिघात करने पर, सहसा शीत लग जाने पर, विकास तक प्रचुर आहार के न मिलने पर, आराम के न मिलने पर, अति श्रम करने पर अर्थात् शरीर की प्राण शक्ति के कम हो जाने पर शरीर में एक दोष बढ़ता है, जिसे वायु दोष कहा जाता है।

२.. शरीर में संतुलित रूप से चलने वाले पचनक्रिया (Catabolism) तथा वृद्धि की (Anabolism) में से जब प्रथम की बढ़ जाता अर्थात् धात्वाग्नि प्रबल हो जाता है तब भी शरीर में एक दोष बढ़ता है जिसे पित्त दोष कहा जाता है।

३.. उपर्युक्त इन्हीं दोनों प्रक्रियाओं में से जब पचन की प्रक्रिया मंद और वृद्धि की प्रक्रिया तीव्रतर हो जाती है तब भी शरीर में एक दोष बढ़ता है, उसे कफ दोष कहा जाता है।

इन दोषों में से किसी एक, दो या तीन के बढ़ जाने पर रोगोत्पत्ति होती है। संभव है ऐसी अवस्था में जीवाणु संक्रमण सुगमता से हो जाता है (परंतु इस स्थापना का परीक्षणों द्वारा सिद्ध करना अभी बाकी है)

अर्वाचीन चिकित्सा शास्त्र बीज रूपी जीवाणु का निराकरण करके रोग को अच्छा करता है। प्राचीन चिकित्सा शास्त्र भूमि रूप शरीर की रोगानुशयिता (Predisposition) को दूर करके रोग को अच्छा करता है। नवीन चिकित्सा शास्त्र जीवाणु विपरीत चिकित्सा या लक्षण विपरीत चिकित्सा पर बल देता है। प्राचीन चिकित्सा शास्त्र दोषज विपरीत चिकित्सा पर बल देता

है। दूसरे शब्दों में पहला रोग को ठीक करने का तथा दूसरा रोगी को ठीक करने का यत्न करता है। इसके मत में रोगी के ठीक हो जाने पर उसके अपने तत्त्व ही जीवाणु का निराकरण कर देते हैं। नवीन चिकित्सा शास्त्र चिकित्सा में कृत्रिम उपायों का भी अवलंबन करता है। प्राचीन चिकित्सा शास्त्र प्राकृतिक उपायों पर ही निर्भर रहता है। रोग निवारण के प्राकृतिक उपायों के साथ साथ दोष शामक औषधियों के प्रयोग को ही बहुधा करते हैं।

तथापि नवीन चिकित्सा शास्त्र को प्राचीन चिकित्सा शास्त्र का तथा प्राचीन को नवीन चिकित्सा शास्त्र का विरोधी नहीं समझते हैं। जीवाणु भी रोग का एक निदान है है और निदान विपरीत चिकित्सा चरक आदि की अभिमत चिकित्सा ही है, जैसे कि वाग्भट ने कहा है..

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥

इस प्रकार इन दोनों चिकित्सा शास्त्रों को एक दूसरे का पूरक या सहायक समझना ही ठीक है।

"नवीन तथा प्राचीन काय चिकित्सा सार" नामक इस ग्रंथ में प्रतिदिन उपलब्ध मान/ रोगों की नवीन तथा प्राचीन चिकित्सा साथ साथ लिखी गई है ताकि दोनों चिकित्सा शास्त्रों का अध्ययन साथ साथ हो सके और इससे भविष्य में एक पूर्ण चिकित्सा पद्धति का उदय हो सके।

हिन्दी में नवीन तथा प्राचीन चिकित्सा शास्त्रों पर विशद एवं व्यवस्थित रूप से लिखा हुआ संभवतः यह प्रथम ग्रंथ है। यह चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन करने वालों तथा चिकित्सा करने वालों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

—— हरी दत्त।

—: विषय सूची :—

विषय :- पृष्ठ संख्या

000000

000000

रोग परीक्षा विधि CLINICAL METHOD.

श्री सूची

--*-*-*-*

महास्रोतस् के रोग (Diseases of the alementary System).

आमाशय के रोग (Diseases of the Stomach)

आमाशय की स्थिति:

भोजन प्रणाली (Oesophagus) के तथा ग्रहण्याशय (Duodenum) के बीच के विस्तृत एक फुट लंबे भाग को जो देखने में अंग्रेजी के "J" प्रकार की आकृति का होता है आमाशय कहते हैं। इस आशय के ऊपर के छिद्र को Cardiae-Orifice कहते हैं। यह सातवीं पसली के अग्रभाग अर्थात (Costal Cartilage) के साढ़े ३ इंच पीछे तथा उरोऽस्थि (Sternum) के बाहर के किनारे से १ इंच वा मध्य रेखा से ढाई इंच हटकर होता है। आमाशय का विस्तृत भाग (Fundus) ऊपर की ओर (Midclavicular line) लगभग ५ वीं पसली तक जाता है अर्थात हृदय के निचले सिरे (Apex) के पीछे इससे कुछ ऊंचाई पर होता है। आमाशय का Greater curvature लेटी हुई अवस्था में बांई ओर की पसलियों के किनारे के साथ साथ रहता है। जब पेट भरा होता है तब यह कुछ नीचे नाभि की ओर खिसक जाता है। आमाशय का निम्न छिद्र (Pyloric orifice) उरोऽस्थि के निचले सिरे तथा नाभि के मध्य बिन्दु से दांई ओर Lateral Sternal line के ठीक बाहिर की ओर होता है तथा आगे यकृत द्वारा ढका रहता है।

आमाशय की रचना:

आमाशय की दीवार चार स्तरों से बनी है। बाह्य स्तर (Serous coat) तो ~~xxx~~ peritoneum से बनी है जो लसिका (Lymph) के द्वारा चिकनी रहती है।

दूसरी मांस मय दीवार बाहर की ओर दीर्घाकृति मांस सूत्रों (Longitudinal fibres) से तथा अन्दर की ओर वृत्ताकृति मांस सूत्रों (Circular fibres) से बनी है। निम्न छिद्र की दीवार में ये वृत्ताकृति मांस सूत्र मात्रा में बहुत अधिक हो गये हैं जिससे इनके कारण वहां निम्न द्वार (Pyloric Sphincter) बन गया है। मांस मय स्तर के नीचे एक स्नायु तंतु (Conne:Tiss:) से बना स्तर होता है जिसमें रक्त वाहिनियां रहती हैं जो अन्दर की ओर की श्लेष्मल कला को शाखायें देती हैं। श्लेष्मल कला में विद्यमान पाचक ग्रन्थियों को भी इन्हीं से रक्त मिलता है तथा उनसे लौटा हुआ रक्त (Venous Blood) भी इन्हीं रक्त वाहिनियों द्वारा वापिस लौटता है।

सबसे अन्दर की स्तर को श्लेष्म कला (Mucous Memberane) कहते हैं। लेंस के द्वारा इसे अन्दर से देखने पर इसमें मधु मक्खि के छत्ते के समान छिद्र दीखते हैं जो वस्तुत: आमाशय ग्रन्थियों (Gastric Glands) के छिद्र या (Ducts) होते हैं। श्लेष्म कला का आवरण (Epithelium) एक Columnar सेलों से बना होता है। श्लेष्म कला में सर्वत्र आमाशय ग्रन्थियां छाई हुई

हुई [redacted] हैं। ये ग्रन्थियां प्रणालिका कृति (Tubuler) होती हैं जिनकी दीवार बहुभुजी (Polyhedral) सेलों से बनी होती है। इन सेलों को Central Cells कहते हैं। इन्हीं से पेप्सीन को बनाने वाला पदार्थ Pepsinogen उत्पन्न होता है। इन सेलों में से Rennin नामक Enzyme भी उत्पन्न होता है। इन सेलों के बीच बीच में श्लेष्म द्रव उत्पन्न करने वाले Mucoid Cells भी होते हैं। इन सेलों, तथा ग्रन्थियों की Basement Membrane के बीच में एक दूसरे गोल कृति या अंडा कृति सेल भी होते हैं जो हाइड्रोक्लोरिक एसिड को उत्पन्न करने के कारण Oxyntic Cells कहाते हैं। श्लेष्म कला में आई हुई इन ग्रन्थियों को गति देने तथा इनसे रसको निकालने के लिये थोड़ा मांस भी होता है जिसे Mucous muscle कहते हैं।

आमाशय की वात नाड़ियां (NERVES)

आमाशय की Parasympathetic शाखायें Vagus से आती हैं। Left Vagus इसके ऊपर के तथा अगले पृष्ठ को शाखायें देती है। Right Vagus इसके पिछले तथा निचले पृष्ठों को शाखायें देती है। Vagus की उत्तेजना से अर्थात शान्ति, संतोष, प्रसन्नता आदि भावों तथा मृदु व्यायाम से आमाशय को रक्त अधिक पहुंचता है तथा आमाशय रस अधिक उत्पन्न होता है। Atropine के देने से Vagus का प्रभाव मंद हो जाता है जिससे आमाशय रस की उत्पत्ति मंद हो जाती है। Vagus की उत्तेजना से आमाशय की मांस शक्ति (Tone) भी बढ़ती है अर्थात भोजन के बाद आमाशय शीघ्र खाली हो जाता है।

आमाशय की Sympathetie शाखायें Caeliac Plexus से आती हैं। इनकी उत्तेजना से आमाशय को रक्त कम पहुंचता है। आमाशय रस का स्राव कम हो जाता है तथा आमाशय मांस की शक्ति भी घट जाती है।

आमाशय कार्य

आमाशय में आमाशय रस (Gastric Juice) दिन रात में डाई सेर के लगभग उत्पन्न होता है। इसमें श्लेष्म द्रव (Mucus) जो एक Glucoprotein है पर्याप्त मात्रा में होता है। इसके कारण विदाहिक गुण भोजन की विदाहकता नष्ट हो जाती है क्योंकि यह भोजन द्रव्यों को मृदु तथा चिकना करने का काम करता है। अधिक गर्म द्रव्यों की गर्मी तथा शीतल द्रव्यों की शीतलता भी इसके कारण कम हो जाती है। जब विदाहिक आहार अधिक मात्रा में लिया जाता है तो श्लेष्म द्रव भी अधिक उत्पन्न होता है। जब श्लेष्म द्रव अधिक उत्पन्न होता है तब दूसरे पाचक द्रव्य (Enzymes) कम उत्पन्न होते हैं। अतएव विदाहिक गुण द्रव्यों के अति सेवन से पाचक अग्नि के मंद होने का भय रहता है। इस श्लेष्म द्रव में भूले आये कीटाणुओं को नष्ट कर देने का भी गुण होता है।

श्लेष्म द्रव के अतिरिक्त आमाशय रस में Pepsin तथा Rennin ये दो पाचक रस (Enzymes) लगभग .३ प्रतिशत तथा हाईड्रोक्लोरिक एसिड •१५ प्रतिशत होता है। इस एसिड की उपस्थिति में पेप्सीन भोजन गत प्रोटीन को पचा कर Peptone में बदल देता है। एसिड जीवाणुओं को भी नष्ट कर देता है। आमाशय रस का Rennin दूध के घुलन शील Coseinogen को Casein की फुट्टियों में बदल देता है फिर पेप्सीन इन फुट्टियों को Paptone में बदलता है। आमाशय रस में स्वल्प Lipase भी होता है जो भोजन के फैट को Glycerol तथा Fottyacids में बदल देता है। मुख से आये लाला (Saliva) के द्वारा भोजन में लिये गये स्टार्च का भी पचन आमाशय के ऊर्ध्व भाग में होता है रहता है अर्थात स्टार्च मुख में तथा आमाशय के प्रथम भाग में घुलन शील Dextrin के रूप में परिवर्तित हो जाता है। स्टार्च प्राय: घी के साथ लियाजाता है। घृत से आमाशय रस का स्राव घटता है अत: पेट में भी लाला का पाचन भी जारी रहता है। बहुत से व्यक्तियों में यह आमाशय रस सम अवस्था में ही रहता है परन्तु कुछ एक १० प्रतिशत में स्वभावत: हाईड्रोक्लोरिक एसिड अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। ऐसे व्यक्तियों की अग्नि तीव्र होती है। उन्हें तीक्ष्णाग्नि (Hyperchlorhydric Energetic Temp:) प्रकृति के व्यक्ति कहतेहैं। इनमें श्लेष्म द्रव की मात्रा कम होती है। इसके विपरीत कुछ एक व्यक्तियों (१० प्रतिशत) में स्वभावत: हाईड्रोक्लोरिक एसिड की मात्रा बहुत कम होती है तथा श्लेष्म द्रव की मात्रा अधिक होती है। इन्हें मंदाग्नि (Hypochlorhydric Phlegmatic) प्रकृति के व्यक्ति कहते हैं। अजीर्ण रोग प्राय: इन दो प्रकार के व्यक्तियों में होता है।

प्रसन्न और शांत प्रकृति के व्यक्तियों में आमाशय की आमाशय रस स्रावक शक्ति तथा अन्न प्रेरक शक्ति दोनों ठीक रहती हैं। जिससे अन्न का पाक ठीक ठीक होता तथा भोजन के तीन घंटे बाद भोजन द्रव आमाशय से आगे निकल जाता है।

परन्तु क्रोध आदि तीव्र मानसिक उत्तेजनाओं से आमाशय की ये दोनों शक्तियां, आमाशय रस स्रावक शक्ति तथा अन्न प्रेरक शक्ति तीव्र हो जाती हैं। शोक, भय, दु:ख आदि अवसादक भावों से आमाशय की ये दोनों शक्तियां मंद पड़ जाती हैं। इसीलिये तीव्र मानसिक भाव भी अजीर्ण रोग के कारण होते हैं।

गर्म जल, मद्य, सिरका आदि उत्तेजक पदार्थों से आमाशय की दोनों शक्तियां बढ़ती हैं। Histamine के इंजेक्शन से हाईड्रोक्लोरिक एसिड अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। भोजन से पहले कुछ घृत या तैल के पी लेने से या भोजन में अति शीतल जल पीने से आमाशय की ये दोनों शक्तियां घट जाती हैं।

आमाशय की दीवार में जो अन्न प्रेरक शक्ति या प्राण शक्ति रहती है वह अति मानसिक श्रम श्रान्ति, बेचैनी और उत्सुकता से घट जाती है। शरीर में उत्पन्न विष द्रव्यों के बढ़ जाने या दीर्घ रोगों से उत्पन्न विष संचार (Toxaemia) से भी घट जाती है। वातिक प्रकृति (Nervous Temperament) के व्यक्तियों में आमाशय की दीवार कुछ निर्बल होती है। जब यह शक्ति कम होती है तो थोड़ा आहार लेने पर भी आमाशय में विष्टंभ या भारी पन लगता है। इस प्रकार के आमाशय को वातिक (Hypotonic Stomach) कहते हैं। इस अवस्था में किया हुआ भोजन लेने के चार पांच घंटे बाद भी कुछ कुछ आमाशय में रहता है। पांच ६ घंटे बाद भी आमाशय में द्रव हल के क्वथित (Splashing) परीक्षा करने पर हलन (Splashing) प्रतीत हो तो आमाशय की निर्बलता का अनुमान करना चाहिये।

तीव्र अजीर्ण, तीव्र श्लैष्मिक अजीर्ण, तीव्र श्लैष्मिक आमाशय शोथ, तीव्र श्लैष्मिक अम्ल पित्त, तीव्र श्लैष्मिक छर्दि ।

Acute Catarrhal Gastritis, Acute Catarrhal Dyspepsia.

(१) भोजन जनित तीव्राजीर्ण। Dietetic acute catarrhal gastritis:

किसी दुष्पच भारी भोजन के अधिक मात्रा में लेने के बाद या ऐसे मांस, दुग्ध, दाल आदि के जो देर तक पड़े रहें हों लेने से अरोचक जो उलटियां होती हैं उसे तीव्र श्लैष्मिक अजीर्ण कहते हैं।

स्निग्ध गुरु शीत गुण भारी या दुष्पच भोजन या अति मात्रा में किया हुआ भोजन आमाशय श्लैष्मकला के लिये विक्षोभक होता है। विशेषत: जो स्वभावत: मंदाग्नि (Hypochlorhydric) प्रकृति के व्यक्ति हैं उनके लिये थोड़ा विक्षोभक भोजन भी असह्य होता है। विक्षोभक आहार के कारण आमाशय श्लेष्म कला में अधिक रक्त का संचय (Hyperaemia) हो जाता है। ऐसी अवस्था में श्लेष्म कला से श्लेष्म द्रव अधिक मात्रा में निकला करता है और Pepsin तथा हाइड्रोक्लोरिक एसिड की निकासी कम हो जाती है। संभव है यह श्लेष्म द्रव क्षारीय होने के कारण एसिड को नष्ट कर देता है। इनके न निकलने से किया हुआ भोजन अपचित पड़ा रहता है और किण्वन (Ferment) होने लगता है। जिससे इसमें एक तो Organic Acids (Lactic, Butyric Acids) तथा दूसरा गैस उत्पन्न हो जाते हैं। गैस के कारण पेट में भारीपन, बेचैनी, तथा विष्टंभ के लक्षण प्रतीत होते हैं। पेट में विक्षोभ के कारण जी मचलाने तथा वमन होने की प्रवृत्ति होती है। वमन होने पर पहले तो आहार द्रव्य और फिर श्लेष्म द्रव ही निकलता है जो खट्टा, कड़वा, कुछ दुर्गन्ध युक्त होता है। इस अवस्थित

क्लिन्न द्रव से भोजन प्रणाली में जलन सी हो जाती है। इसलिये इसे लोगों ने अम्ल पित्त का नाम दे दिया। वमन द्वारा जल के अधिक मात्रा में निकल जाने से रोगी को भारी पिपासा प्रतीत होती है। विष का विष संचार (Toxaemia) होने से रोगी शिथिल सा हो जाता है। इसे शीत स्वेद आ जाता है तथा सिर में दर्द होता है। आमाशय श्लेष्म कला में शोथ होने के कारण पेट पर स्पर्श सह्यता का लक्षण भी होता है। जल के अधिक मात्रा में निकल जाने से नाड़ी निर्बल तथा तीव्र हो जाती है। तापमान कुछ गिरा हुआ होता है।

(२) जीवाणु जनित तीव्रामाशय : Infective catarrhal Gastritis:-

बिगड़े हुये दूध, मांस आदि आहार में Salmonella श्रेणी के जीवाणु उत्पन्न हो जाते हैं जो आंत में पहुंच कर रोग करने लगते हैं। इसलिये ऐसे भोजन के लेने के १०, १२ घंटे बाद जब जीवाणु रोग कर लेते हैं तब वमन और अतिसार के लक्षण होने लगते हैं। दुष्पाच भोजन से उत्पन्न रोग में प्राय: मल बंधा रहता है परन्तु जीवाणु जनित तीव्र आमाशय शोथ में अतिसार भी होने लगते हैं। इस अवस्था में मंद ज्वर आमाशय शोथ तथा कुछ कुछ आन्त्र शोथ भी होता है। अर्थात Gastroenteritis होता है। ग्रीष्म ऋतु में बिगड़े हुये दूध के पीने से शिशुओं में जो वमन और अतिसार हो जाया करते हैं वे भी आमाशय तथा आन्त्र में शोथ के कारण होते हैं।

वमन के द्वारा पेट में से विषात्मक द्रव्य के निकल जाने पर यदि सिवाय स्वल्प जल के कोई भी आहार ४८ घंटे तक न दिया जाय तो रोगी का कष्ट स्वयं शान्त हो जाता है।

तीव्र आमाशय शोथ की चिकित्सा :

आमाशय में विद्यमान विषात्मक द्रव्य के निराकरण के लिये २० औंस हलके गर्म जल में एक छोटा चम्मच लवण का मिला के, पिला के, रोगी को वमन प्रवृत्त करनी चाहिये। जो मल ऊपर से न निकल सके उसे एरंड तेल ४ ड्राम, या Mag: Sulph: २ ड्राम Mag: Carb: ३० ग्रेन जल १ औंस के मिश्रण से या Calomel १ ~~बटा~~ ८ ग्रेन की चार पांच मात्रा एक एक घंटे के अंतर से देने के बाद प्रात: Seidlitz Powder देकर पेट साफ करके निकाल दें। पेट की बेचैनी को दूर करने के लिये पेट पर सिकाई करनी चाहिये तथा Dilutehydrocyanic Acid २ बूंद Soda-bi-carb: ३० ग्रेन Bismuth Carb ५ ग्रेन को गोंद के घोल १ औंस में मिला के ४, ४ घंटे बाद दे सकते हैं। जब तक रोगी को वमन का कष्ट रहे केवल घूंट घूंट जल या चाय का पानी घूंट घूंट देना चाहिये। बालक को वमन और दस्त हों तो उसका भी दूध बंद कर देना चाहिये। केवल घूंट घूंट जल या ना ... देना इन आधी या एक

चौथाई ताकत का थोड़ा थोड़ा पिलाते रहना चाहिये। प्रति पौंड भार के पीछे २४ घंटों में उसे ढाई औंस के हिसाब से जल दे देना चाहिये। उसके शोधन के लिये एरंड तैल का घोल थोड़ा थोड़ा देते रहना चाहिये या केवल एरंड तैल का आधा चम्मच एक दो बार (१-६ मास के बालक में) देने से भी लाभ हो जाता है। २४ घंटों के बाद फिर गाय का दूध आधा आधा औंस १ ग्रेन सोडियम सायट्रेट मिला कर चार चार घंटे बाद २४ घंटों तक दें। फिर एक दिन एक एक औंस चार चार घंटे बाद देने से वमन अतिसार आदि लक्षण शान्त हो जाते हैं। इसके बाद दूध की मात्रा बढ़ा सकते हैं तथा बालक बड़ा हो तो उसमें स्वल्प मात्रा में खांड भी मिला सकते हैं।

बड़े व्यक्तियों में २४ घंटे निराहार रहने के बाद पहले फल रस फिर दाल का पानी या दो दो घंटे बाद १,२ छटांक दूध देना चाहिये।

चिरस्थायी अजीर्ण, चिरस्थायी श्लैष्मिक अजीर्ण, चिर० श्लै० अ० अम्लपित्त, चिरस्थायी श्लैष्मिक आमाशय शोथ,

Chronic Dyspepsia, Chronic catarrhal Gastritis, Hypochlorhydric Dyspepsia.

विक्षोभक भोजन या अति रूक्ष, शीत, गुरु, गुरु भोजन या बासी बिगड़ा हुआ भोजन, या बिना चबाये हुये अति शीघ्रता में भोजन किया जाय अथवा दांतों गले नासिका आदि में चिरस्थायी शोथ हो और वहां से कोई विष द्रव्य पेट में जाता रहता हो तो स्वभाव से मंदाग्नि व्यक्तियों के आमाशय की श्लेष्म कला में चिरस्थायी शोथ हो जाता है। चिरस्थायी विक्षोभ के कारण हाइड्रोक्लोरिक एसिड तथा पेप्सीन की स्रावक ग्रंथियों में क्षीणता (Atrophy) हो जाती है उनके स्थान पर श्लेष्मकला में स्नायु तंतु (Granular या Gonne: Tiss:) आता जाता है अर्थात उसमें fibrosis होता जाता है। इस प्रकार देखने में पेट की अंदर की श्लेष्म कला मोटी प्रतीत होती है। इसीलिये इसे Hypertrophie Gastritis भी कहते हैं। श्लेष्म कला के इस प्रकार सूजने से पाचक रस (एसिड तथा पेप्सीन) की मात्रा घट जाती है, श्लेष्म द्रव की मात्रा अधिक हो जाती है।

यह रोग युवावस्था के बाद की आयु के मंदाग्नि प्रकृति व्यक्तियों में होता है। पाचक रस की न्यूनता के कारण भूख कम लगती है, जो भोजन खाया भी जाता है वह देर से हजम होता है। खाने के बाद पेट में हवा के उत्पन्न हो जाने से पेट में भारीपन रहता है। डकारों के आने से भी यह भारीपन पूर्ण तया दूर नहीं होता। तीन चार घंटों बाद वह हलका होता है। स्निग्ध तथा भारी भोजन लेने से यह कष्ट और अधिक होता है। पेट में हवा के कारण [illegible] भी होती

है अर्थात हृदय गति बढ़ जाती है। खाने के बाद कई घंटों तक भोजन की रुचि नहीं होती। यदि कभी स्निग्ध, गुरु, शीत गुण भोजन अधिक ले लिया जाय तो अरुचि होकर वमन भी हो जाती है। पेट में उत्पन्न अम्लों (Organic Acids) के डकार के साथ ऊपर आ जाने से छाती में जलन भी हो सकती है जिसे हमें अम्ल पित्त कहा जाता है। भोजन करने के बाद आलस्य, तन्द्रा तथा शारीरिक और मानसिक मंदता के लक्षण भी होते हैं।

रोगी की परीक्षा करने पर आमाशय प्रदेश पर स्पर्श क्षमता प्रतीत होती है। जिह्वा मोटी होती तथा उस पर दांतों के चिन्ह होते हैं। रोगी देखने में कुछ पांडुर होता है।

<u>चिरस्थायी श्लैष्मिक आमाशय शोथ की चिकित्सा :</u>

दांतों, गले, नासिका आदि की परीक्षा करके उनमें कोई आमाशय विक्षोभक कारण हो तो उसका निराकरण करना चाहिये। भोजन मात्रा में थोड़ा, शुष्क, हलका होना चाहिये तथा चबाकर लेना चाहिये। भोजन के साथ जलपान नहीं करना चाहिये। मृदु व्यायाम, विशेषतः पेट की व्यायाम, आसन मर्दन आदि से पेट की शक्ति को बढ़ाना चाहिये।

आमाशय प्रक्षालन के लिये प्रातः सांय एक कप गर्म जल में २० ग्रेन सोडा बाइकार्ब डालकर पी लेना चाहिये। भोजन से पहले किसी तिक्त तथा क्षारीय औषधि का प्रयोग करने से पाचक रस अधिक उत्पन्न होते हैं उदाहरणतः - Soda-Bi-Carb १५ ग्रेन, Tincture Nuxvomica ५ बूंद, Tincture Glentianco ३० बूंद जल १ औंस में मिलाकर दोनों समय भोजन से पहले दे सकते हैं।

मल बंधता की निवृत्ति के लिये Sodium Phosphate १ ड्राम आठ दस औंस जल में मिलाकर दिन में एक बार पिला सकते हैं।

आयुर्वेद में आमाशय रोग :

अग्नि :-

आयुर्वेद में अग्नि के विषय में कहा गया है कि हमारी आयु, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, उत्साह, वृद्धि, कान्ति, ओज, तेज, धातु पाचक अग्नियां, प्राण अपान समान व्यान उदान आदि प्राण शक्तियां ये सब पाचकाग्नि पर निर्भर हैं। जब तक शरीर में पाचकाग्नि है मनुष्य जीता है, उसके शांत होने पर वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अग्नि के विकृत होने पर ही नाना रोग उत्पन्न होते हैं। ।चरक चि-१५।

इसीलिये वाग्भट्ट ने कहा है :-

तस्मादग्निंपालयेत्सयत्नेस्तस्मिन्नष्टे याति नाना शैव,

दोषा ग्रैस्ते गृयते रोगसंघैर्युक्ते तुस्यान्नीरुजो दीर्घजीवी ।।चि०अ० ७।

प्राण वायु जो श्वास प्रश्वास के समान अन्न के ग्रहण करने का कार्य करता है अन्न को आमाशय में लाता है जहां पर विद्यमान क्लेदक श्लेष्मा (Mucus) उसका एक मृदु सा घोल बना देता है। फिर आमाशय में विद्यमान समान वायु पाचकाग्नि को प्रवृत्त करता है जो भुक्त अन्न का भलिप्रकार से पाक करती है अर्थात् उसे रस और मल में परिवर्तित कर देती है। । च० चि-१५।

आयुर्वेद में मंद, तीक्ष्ण, विषम, तथा सम चार प्रकार की अग्नि कही गई है। बहुत से व्यक्तियों की अग्नि "सम" होती है। कुछ एक की अग्नि मंद होती है अर्थात जो स्वभावत: कफ प्रकृति के हैं या जिनमें कफ की वृद्धि होती है उनमें (Hypochlorhydria) होता है। कुछ एक की अग्नि तीक्ष्ण होती है अर्थात पित्त प्रकृति के व्यक्तियों में या पित्त वर्द्धक कारणों से (Hyperchlorhydria) हो जाता है। कुछ एक की अग्नि विषम होती है अर्थात वात प्रकृति (Hyposthenic Temperament) के व्यक्तियों में वात वर्द्धक कारणों से आमाशय में निर्बलता (Hypotonia) हो जाती है जिससे स्वल्प से विदोषक कारण से भी आमाशय स्त्राव कम हो जाता है तथा प्रसन्नता आदि के भावों से अग्नि ठीक हो जाती है।

(मा० नि०)

आयुर्वेद में--तीव्र अजीर्ण या तीव्र श्लैष्मिक अम्ल पित्त ।

आयुर्वेद में इसे श्लैष्मिक छर्दि रोग भी कहा है। खाये हुये अन्न के अग्नि की मंदता के कारण न पचने पर, एवं इसके विदग्ध या विष रूप में परिवर्तित हो जाने पर, जो वमन होती है उसे श्लैष्मिक छर्दि कहा है।

विधियों का प्रयोग किया जाता है। आमाशय तथा ग्रहण्याशय में कफ प्रकोप हो तो निंब जल और लवण आदि से वमन,तथा त्रिफला त्रिवृत् आदि से विरेचन कराने के अनन्तर रोगी को निंबादि चूर्ण (नीम पत्र, त्रिफला,त्रिकुट,अजवायन,लवण,क्षार समान समान) एक एक माशा दिन में दो बार गर्म जल के साथ कुछ काल देना चाहिये। या दशांग योग (वासा,गुडूची,पर्पट,नीम,चिरायता,भांगरा,त्रिफला,पटोल। का क्वाथ) प्रातः सांय देना चाहिये। विरेचक गुण औषधियों के साथ तिक्त कटु रस औषधियों के देने से भी आमाशय में अग्नि दीप्त होती है। उदाहरणतः त्रिफला के साथ त्रिकुट मिलाकर मधु से चटा सकते हैं। या त्रिफला और कुटकी का क्वाथ प्रातः काल पिलाया जा सकता है अथवा अविपत्ति का चूर्ण (त्रिफला,त्रिकुट,इलायची,विडंग,मोथा,तेज पत्र,१,१ लवंग सब के समान त्रिवृत् इन सबसे दुगना,शर्करा सबके समान) के दो तीन माशे की मात्रा में प्रातः सांय दो बार देने से अग्नि दीप्त होती है।

श्लैष्मिक अजीर्ण जनित,या श्लैष्मिक अम्ल पित्त जनित, या आमाशय शोथ जनित शूल :

मात्रा तथा वर्धक गुरु, स्निग्ध,शीत गुण भोजनों के अति मात्रा में सेवन से अर्थात आमाशय शोथ के कारण होने वाले शूल को श्लैष्मिक आमाशय शूल कहते हैं। इसमें जी मचली,मुखप्रसेक,अंगसाद आदि के साथ पेट में हलका हलका भारीपन या बेचैनी सी रहती है जो भोजन लेने के बाद ही प्रतीत होने लगती है।

श्लेष्म० आमाशय शूल के लिये वमन चिकित्सा,लंघन चिकित्सा,रूक्ष गुण सुपच भोजन,क्षार युक्त दशमूल क्वाथ,हिंग्वादि चूर्ण (हींग १,सोवर्चल २, सोंठ ४,हरीतकी ८ भाग।) तथा निंबादि चूर्ण का प्रयोग हितकर है।

परिणाम शूल -- आमाशय व्रण -- ग्रहण्याशय व्रण

(Pepticulur, Postprandial Pain)

कारण :-

इन ३० प्रतिशत व्यक्तियों में जो स्वभावतः तीक्ष्णाग्नि (Hyperchaor-hydric) प्रकृति के होते हैं अर्थात जिनके आमाशय में स्वभावतः लोम द्रव की मात्रा का और हरिक तथा पेप्सीन की मात्रा अधिक उत्पन्न होती है यह रोग होता है। इस प्रकृति के व्यक्तियों का आमाशय भोजन करने के बाद शीघ्र खाली हो जाता है। क्योंकि इनमें आमाशय स्राव की अधिकता

के साथ साथ आमाशय गति भी अधिक होती है, अतः इनके आमाशय की श्लैष्म कला पर आमाशय रस के एसिड तथा पेप्सीन का पाचक प्रभाव होकर क्षत या व्रण होने का भय रहता है। पेप्सीन के द्वारा उत्पन्न होने के कारण इस व्रण को Peptic ulcer कहा जाता है। इस प्रकार जन्म से ही तीक्ष्णाग्नि प्रकृति का होना भी इस रोग का एक कारण प्रतीत होता है।

परन्तु एसिड या पेप्सीन कितनी अधिक मात्रा में भी हों तथा श्लैष्म द्रव की मात्रा कम भी हो तो भी जब तक आमाशय श्लैष्म कला स्वस्थ रहती है। वह पच नहीं सकती। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जब आमाशय श्लैष्म कला रुग्ण हो जाती है, जब उसका पोषण न्यून हो जाता है, जब उसकी प्राण शक्ति हीन हो जाती है, तभी उसका कोई अंश Pepsin पेप्सीन के द्वारा पचता है। अतः पहले आमाशय श्लैष्म कला शोथ का होना भी इस रोग का एक कारण है। क्योंकि तीक्ष्णाग्नि प्रकृति का व्यक्ति यदि विक्षोभक गुण आहार करता रहे, जैसे वह अति मात्रा में आहार करे, या शीघ्रता में बिना चबाये भोजन ले, या तीक्ष्ण उष्ण गुण आहार, चटनी, नमक, सिरका, मसाले, तेज चाय, काफी, आदि का अधिक सेवन करे, या तम्बाकू अधिक पिये तो चिर स्थायी आमाशय शोथ हो जाता है। इसे दूषी हुई श्लैष्म कला पर एसिड का पाचक प्रभाव होकर व्रण या क्षत हो सकता है। इसी प्रकार दांतों, नासिका या गले में चिर स्थायी शोथ रहता हो तथा वहां से पूय द्रव पेट में जाता रहे तो उसके विक्षोभक प्रभाव से भी आमाशय शोथ हो सकता है।

यह भी देखा जाता है कि तीक्ष्णाग्नि प्रकृति के जो व्यक्ति अवसाद में शीघ्र ही चिन्तित, क्रुद्ध या व्याकुल हो जाते हैं उनमें यह रोग अधिकतः होता है। अथवा यह रोग मंद रूप में हो तो मानसिक आवेगों के दुष्प्रभाव से तीव्र रूप धारण कर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो मानसिक विक्षोभ की अवस्था में आमाशय श्लैष्म कला का पोषण कम हो जाता है। उसको रक्त की मात्रा कम मिलती है जिससे उसकी प्राण शक्ति हीन हो जाती है। अथवा Vogus की Postgonglionic सूत्रों से Acetlycholine के उत्पन्न होने के कारण आमाशय रस का स्राव तथा आमाशय की गति दोनों बढ़ जाते हैं। ~~जिससे आमाशय की गति दोनों बढ़ जाते हैं~~। जिससे आमाशय व्रण के लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। तीव्र मानसिक आवेगों से आमाशय ~~क~~ रस का स्राव तथा आमाशय गति दोनों बढ़ जाते हैं।

आमाशय व्रण या ग्रहण्याशय व्रण का यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। इसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि स्वभावतः सांसारिक व्यवहारों में लगे रहने के कारण इन्हें मानसिक आघातों

अधिक रहती है।

इस प्रकार जन्म से ही दीप्ताग्नि प्रकृति का होना तथा चिरकालिक आमाशय शोथ, या आमाशय की श्लैष्मिक कला की निर्बलता का रहना ये भी कारण इस रोग के प्रतीत होते हैं। इनमें से प्रथम कारण का हटाना प्रायः कठिन होता है। परन्तु पथ्याहार विहार से आमाशय शोथ को दूर किया जा सकता है। अथवा यदि पित्ताधिक्य (एसिड डिस पेप्सिया) के कारणों का निवारण किया जा सके तो इस रोग से बचा जा सकता है।

आमाशय के जिस क्षेत्र में एसिड के उत्पादक सेल होते हैं उसकी श्लैष्मिक कला में व्रण नहीं होता परन्तु आमाशय निम्न द्वार के समीप के आमाशय के Lessercurvature पर तथा ग्रहण्याशय KEMMaHMMX (Duodenum) के प्रथम एक इंच भाग में व्रण विशेषतः होता है अर्थात जो प्रदेश एसिड के लिये अधिक अभ्यस्त नहीं है उन पर एसिड की अधिकता आती रहे तो उनमें व्रण हो जाता है। आमाशय व्रण या ग्रहण्याशय व्रण बहुधा एक ही होता है तथा लगभग ५,१० मिलीमीटर विस्तार का और ५,७ मिलीमीटर गहराई का होता है अर्थात केवल श्लैष्मिक कला के निम्न तल तक होता या उससे नीचे Mucous Muscle के तह तक भी जाता है।

लक्षण :-

यह पित्ताधिक्य या पैप्टिक अम्ल पित्त (Acid Dyspepsia) का रोग तथा इसके उग्र रूप में होने वाला परिणाम व्रण (Pepticulcer) का रोग मध्यमायु के व्यक्तियों में विशेषतः पुरुषों में २५ से ५० वर्ष तक की आयु में धीरे धीरे अज्ञात रूप से आरंभ होता है तथा फिर स्थायी रूप में रहता है। आमाशय में व्रण हो तो भोजन करने के १,२ घंटे बाद और यदि ग्रहण्याशय में व्रण हो तो भोजन करने के २,३ घंटे बाद पेट में शूल होने लगता है और लगभग १ घंटे तक रहकर स्वयमेव शांत हो जाता है अर्थात् भोजन करने के एक दो घंटे बाद जब पेट से भोजन द्रव आगे निकल जाता है स्वतंत्र एसिड का संपर्क सीधा व्रण से होता है तो व्रण के तल में विद्यमान मांस सूत्रों में क्षोभ (Spasm) उत्पन्न होने लगता है जिससे यह शूल अनुभव होता है। यह शूल आमाशय प्रदेश में मध्य रेखा के समीप कुछ बाईं ओर होता है। ग्रहण्याशय व्रण के कारण हो तो मध्य रेखा के कुछ दाईं ओर होता है तथा एक निश्चित स्थान पर होता है। इस शूल में रोगी को पेट में दाह की या काटने की सी प्रतीति अथवा भूख की चोट के लगने (Hunger Pain) की सी प्रतीति होती है। कभी कभी यह शूल पीछे पीठ की ओर जाता प्रतीत होता है। रात के भोजन के दो तीन घंटे बाद सोते सोते यह शूल प्रतीत हो सकता है। कुछ खा लेने से यह शूल कम पड़

जाता है। किसी क्षार के सेवन से सहसा शांत हो जाता है। कभी कभी जब शूल अधिक होता है अर्थात आमाशय निम्न द्वार में स्तंभ प्रबलता से होता है (Pylorospasm) होता है) तो वमन हो जाता है जिसमें थोड़ा अम्ल द्रव निकल जाता है। जिसके निकलते ही शूल शांत हो जाता है। इस पित्त वमन में जो थोड़ा अन्न निकलता है वह पूर्ण पक्व होता है, अपक्व नहीं होता। इसमें श्लेष्म द्रव भी नहीं होता तथा इस वमन में ही मचलाने या अरुचि का लक्षण भी विशेष नहीं होता। अर्थात "पित्त वमन" के लक्षण "श्लैष्मिक वमन" से विभिन्न होते हैं। जब एक बार वमन होकर शूल शांत हो जाता है तो दुबारा शूल होने पर रोगी स्वयं वमन को प्रवृत्त करके शान्ति प्राप्त कर लेता है।

रोगी को यह शूल नित्य प्रति ही तथा प्रत्येक ऋतु में ही ऐसा नहीं है। जब जब वह अधिक मात्रा में भोजन लेता है या गरिष्ट एवं विदाहक आहार करता है या कभी कभी ऋतु परिवर्तन काल में साधारण मात्रा में भोजन करने पर भी शूल उठ जाता है। जिन अवस्थाओं में आमाशय शोथ होता है उन्हीं में शूल होने की अधिक धारणा रहती है।

इस पैत्तिक आमाशय शोथ में साधारणत: रोगी को भूख अच्छी लगती है। श्लेष्माणीं के समान उसे अन्नारुचि का लक्षण नहीं होता परंतु क्योंकि अधिक आहार करने से शूल का कष्ट हो जाता है, इसलिये रोगी बच कर भोजन करता है।

परीक्षा :-

आमाशय प्रदेश पर मध्य रेखा के कुछ बाँई ओर या दाँई ओर दबाने से एक स्थान पर स्पर्शाक्षमता का लक्षण होता है। रोगी की विष्ठा साफ होती है। आमाशय से निकले स्राव की परीक्षा करने पर उसमें रक्तांश रहित मिलता है। X-Ray परीक्षा करने पर Barium का घोल Lessercurvalure के एक प्रदेश में आमाशय की दीवार के अंदर धंसा हुआ दीखता है जिसे Niche कहते हैं। यह छाया व्रण के गढ़े (Crater) में बेरियम के धंस जाने से उत्पन्न होती है।

भेद के लक्षण :-

चिरस्थायी श्लैष्मिक आमाशय शोथ में पेट के अंदर फैलना या बेचैनी या भारी पन का कष्ट होता है। शूल नहीं होता, और यह कष्ट भी भोजन खाने के तुरंत बाद प्रतीत होने लगता है। उस रोग में वमन होती है तो वह श्लैष्मिक द्रव तथा अपक्व भोजन से युक्त होती है। इसमें अन्नारुचि रहती तथा भूख कम लगती है तथा थोड़ा सा भारी भोजन या तला हुआ भोजन कष्ट का कारण हो जाता है। जब कि इस रोग में भूख अच्छी लगती है। इसमें साधारण भोजन भी अधिक मात्रा में लेने तथा तीक्ष्ण उष्ण आहार

द्रव्यों के सेवन से कष्ट बढ़ता है।

उपद्रव :-

आमाशय व्रण के कारण कभी कभी व्रण के गहरे हो जाने पर उसके तल में विद्यमान रक्त वाहिनी के क्षत हो जाने से रक्त स्राव होकर रक्त वमन (Haematemesis) का उपद्रव हो जाता है। यह रक्त रंग में काला, कुछ अंश में जमा हुआ तथा भोजन द्रव्य से मिश्रित होता है। इस वमन के कारण निकला कुछ रक्त मल में मिश्रित होकर भी रक्त मिश्रित मल के रूप में निकलता है।

छाती में से आने वाले उर: क्षय जनित रक्त ष्ठीवन (Haemoptysis) से इसका संदेह हो सकता है। परन्तु इस अवस्था में रक्त का रंग लाल होता है। वायु से मिश्रित होने के कारण वह फ़ागदार होता है तथा थोड़ा थोड़ा कई दिन तक आता रहता है। आमाशय व्रण जनित रक्त एक ही बार आता है। कई दिन तक नहीं आता रहता है। रक्त वमन के द्वारा रक्त अधिक मात्रा में नहीं निकलता पर यदि अधिक निकल जाय तो मूर्छा तथा श्वास कृच्छता के लक्षण भी हो सकते हैं। जितनी नाड़ी संख्या अधिक हो और रक्त भार गिर गया हो उतना ही रक्त वमन अधिक भयंकर समझना चाहिये।

परिणाम शूल (Peptic ulcer) की चिकित्सा :-

विश्राम चिकित्सा :-

दो तीन सप्ताह या एक मास तक के लिये शय्याशायी होकर पूर्ण विश्राम कर लेने तथा व्यापार संबंधी व्याकुलताओं से मुक्त होकर निश्चिन्त रहने या किसी घरेलू खेल में व्यस्त हो जाने से परिणाम शूल का कष्ट सर्वथा शांत हो जाता है। संभवत: Cholinergic Vagus के विक्षोभ के दूर हो जाने से इस रोग में आराम आता है। ऐसा विश्राम के दौरान में रोगी को स्नान शौच आदि के लिये ही उठने की छूट देनी चाहिये अन्यथा उसे पड़े रहना चाहिये। शारीरिक विश्राम की अपेक्षा मानसिक विश्राम अधिक आवश्यक होता है। इसके लिये औषधि का प्रयोग आवश्यक हो तो Phenobarbitone का प्रयोग आधा ग्रेन की मात्रा में दिन में दो तीन बार करना चाहिये। परंतु क्रोध आदि तीव्र मानसिक आवेशों को इस रोग का वर्धक समझते हुये उनसे सदा बचना चाहिये तथा हर हालत में शांत रहने का यत्न करना चाहिये।

भोजन चिकित्सा :-

इस पित्तातिसारी या पैत्तिक अम्ल पित्त रोग या पैत्तिक आमाशय शोथ के रोग में रोगी को थोड़ा थोड़ा आहार थोड़ी थोड़ी देर बाद मिलना

चाहिये क्योंकि अधिक मात्रा में भोजन लेने से आमाशय शोथ बढ़ता है तथा दो आहारों के बीच के काल के दीर्घ होने से पाचकाग्नि को जब अन्न नहीं मिलता तो वह धातुओं का अर्थात आमाशय श्लेष्म कला का ही पाक करने लगती है। प्रोटीन आहार आमाशय के एसिड तथा पैप्सीन को शीघ्र उदासीन कर देता है तथा स्निग्ध आहार अर्थात घृत का प्रयोग आमाशय रस के स्राव तथा आमाशय की गति मंद करता है। इसलिये दुग्ध तथा घृत या क्रीम या मक्खन इन दोनों का स्वल्प मात्रा में थोड़ी थोड़ी देर बाद प्रयोग करने से इस रोग में बड़ा लाभ होता है। Sippy के भोजन के अनुसार रोगी को प्रात: ७ बजे से सांय ७ बजे तक प्रत्येक घंटे के बाद एक औंस दुग्ध एक औंस क्रीम के साथ साथ मिलाकर पीने के लिये दिया जाता है। क्रीम न हो तो दुग्ध २,३ औंस एक एक घंटे बाद पिलाते हैं। १ औंस दुग्ध में दो ग्रेन Sodium Citrate पाचन में सहायक के तौर पर मिला सकते हैं। दुग्ध में खांड मिलाना चाहें तो उसे मिला सकते हैं। एक एक घंटे बाद दुग्ध देना प्राय: क्रियात्मक नहीं होता इसलिये ढाई औंस दुग्ध तथा ढाई औंस क्रीम (२० प्रतिशत) अर्थात दुग्ध और क्रीम के मिश्रण का एक एक कप प्रति दो दो घंटे के बाद देना ठीक रहता है। दिन में दो बार एक एक कप संतरे, टमाटर आदि का रस ग्लूकोज के साथ देने से रोगी का चित्त दुग्ध से नहीं उकता तथा उसे Ascorbic Acid भी प्राप्त हो जाता है। किसी एक दुग्ध के कप के स्थान पर दिन में एक बार एक हलका सा उबला हुआ अंडा भी दिया जा सकता है। रात्रि के समय रोगी के पास दुग्ध रहना चाहिये ताकि जब वह जागे तब एक एक कप दुग्ध वह रात में भी एक दो बार पी सके।

एक सप्ताह तक दुग्ध, क्रीम अंडे तथा फल रस पर रहने के बाद दूसरे सप्ताह में प्रति दो घंटे बाद एक कप दुग्ध का प्रयोग तो जारी रखना ही चाहिये परन्तु दिन में तीन बार अर्थात प्रातराश तथा दोनों भोजनों के समय तीन औंस टोस्ट तथा मक्खन का प्रयोग और बढ़ा देना चाहिये तथा जहां पहले दिन में एक बार एक अंडा दिया जा रहा है, दूसरे सप्ताह में दिन में तीन बार दुग्ध के साथ एक एक हलका उबला हुआ अंडा दे देना चाहिये।

तीसरे सप्ताह में दूसरे सप्ताह के भोजन के अतिरिक्त दोनों भोजनों के समय किसी सब्जी का घृत मिश्रित सूप या घृत मिश्रित कोई सी पिसी हुई मुलायम सब्जी भी और दे देनी चाहिये।

चौथे सप्ताह में प्रति दो घंटे के बाद दिये जाने वाले दुग्ध क्रीम के एक कप के अतिरिक्त प्रातराश तथा दो भोजनों के समय आहार की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये अर्थात मुलायम रोटी, पिसी हुई सब्जी, खीर, उबले चावल, कस्टर्ड,

आदि दे देने चाहिये। चौथे सप्ताह के बाद भी इस भोजन को जारी रखना चाहिये अर्थात प्रातराश और भोजनों के बीच के समय में प्रति दो घंटे बाद एक कप दूध लेते रहना चाहिये। अथवा एक कप किसी फल का रस भी लेना चाहिये।

इस प्रकार बिना किसी औषधि के प्रयोग के केवल विश्राम और आहार संबंधी चिकित्सा से रोगी का शूल शांत हो जाता है तथा यदि वह आयु भर इसी प्रकार के आहार को अर्थात मात्रा में स्वल्प एवं स्निग्ध आहार को २ ढाई घंटे के अंतर से लेता रहे तो इस रोग के पुनराक्रमण का भय भी नहीं रहता। रोगी को यह मृदु स्निग्ध प्रोटीन प्रधान आहार स्वल्प मात्रा में धीरे धीरे बहुत चबा कर लेना चाहिये। भोजन के समय किसी प्रकार के वाद विवाद में मग्न या चिंता में नहीं रहना चाहिये। शांत और निश्चिन्त और प्रसन्नता की अवस्था में किया हुआ भोजन आमाशय के शोथ का वर्धक नहीं होता। सब तले हुये भोजनों कच्ची, सब्जियों, फलों, सलाद, आचार, चटनी, मसाले, तेज काफी, चाय, सिरके, सोडा वाटर, बादाम, अखरोट, आदि मेवों, बीजों तथा छिलकों वाली सब्जियों, छिलके वाली दालों, का सदा के लिये परित्याग कर देना चाहिये तथा दिन के प्रधान भोजनों के लेने के आधा घंटे पहले २ चम्मच जैतून का तेल या मूंगफली का तेल या बादाम रोगन भी लेना चाहिये। भोजन से पहले स्नेह पान कर लेने से पित्ताजीर्ण या परिणाम शूल में लाभ रहता है।

रोगी का पेट साफ रखना चाहिये। इसके लिये Liquid Paraffine या Mag: Carb: या Milk of magnesia को दो बार लिया जा सकता है।

क्षार चिकित्सा :- (Ant Acids)

इस रोग में क्षार प्रयोग चिरकाल से होता आ रहा है। परन्तु क्षार चिकित्सा केवल लक्षण शामक या शूल शामक ही है। रोग शामक नहीं है। पित्ताजीर्ण तथा आमाशय व्रण के दूर करने की शक्ति इस चिकित्सा में नहीं है। अतः जब तक कष्ट अधिक हो तब तक इस चिकित्सा का सहारा लेना चाहिये। इसके बाद भोजन चिकित्सा के द्वारा ही इस रोग को शांत करने का यत्न करना चाहिये। इस रोग में प्रयुक्त होने वाले प्रधान प्रधान क्षारों का यहां उल्लेख किया जाता है। दिन के प्रधान आहारों के लेने के एक घंटे बाद दिन रात में ४,६ बार इनका प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग से आमाशय का एसिड उदासीन हो जाता है जिससे वह शूल का कारण नहीं बनता।

। १। Sodium-Bi-carbonate ३० ग्रेन की मात्रा में तुरंत शूल को शान्त करता है। परन्तु एक तो यह पेट के एसिड के लिये उत्तेजक होता है तथा दूसरा यह घुलनशील होने के कारण रक्त में पहुंच कर कुछ काल के निरंतर प्रयोग के बाद क्षारीयता (alkalosis) उत्पन्न कर देता है। अतः इसका प्रयोग कम किया जाता है।

। २। Magnesuim oxide, magnesium carbonate १०,६० ग्रेन Magnesium Hydroxide Mixture १,२ ड्राम ये सब उत्तम शूल शामक क्षार हैं परन्तु कुछ कुछ रेचक गुण वाले हैं जिनसे कईयों को सहन नहीं होते।

। ३। Magnesium trisilicate (Gastomag, magsil) Neutrasil ३० ग्रेन की मात्रा में ४,५ औंस जल के साथ भोजन के १ घंटे बाद दिया जाता है। यह एक उत्तम क्षारीय औषधि है जिसमें कोई दोष नहीं है। इसकी तथा Alum: Hydrox: की बनी हुई गोलियां १ या दो की मात्रा में दिन में २ बार चबा लेने से भी आराम रहता है।

। ४। फिटकरी से बनी हुई Aluminum Hydroxide Gel (Aludrox) Sefella, Sedonal tab. जो कि इस साल्ट का ३,४ प्रतिशत घोल है, न तो रक्त में क्षारीयता (Alkalasis) करता है, ना ही पेट में एसिड के साथ मिल कर CO_2 को उत्पन्न करता है। भोजन के बाद या एक घंटे बाद तथा रात को १,२ चम्मच की मात्रा में ४,६ औंस जल में मिला के दिया जाता है। यह कुछ मल बंध कारक होता है। इसलिये इसे Magnesium trisilicate -- के साथ मिला के देते हैं। Aluminium Socium Silicate (Gastrona) (Neutralon) भी इसी प्रकार प्रयुक्त होता है। Syntrogel गोलियां

। ५। Calcium carbonate ३० ग्रेन मात्रा में एक अति प्राचीन काल से इस रोग में प्रयुक्त होने वाला क्षार है पर विशेष मल बंध कारक हो जाता है। इस दोष की निवृत्ति के लिये इसे Mag:Carb: १ ग्राम के साथ मिला के देना चाहिये।

निम्नलिखित क्षारीय मिश्रण इस रोग में प्रयुक्त होते हैं।

Pulv:magnesium trisilicate co-magnesium trisilicate, Heavy magnesium carbonate, Chawk, Sodium Bicarbonate --- बराबर बराबर। जब रोग तीव्र रूप में होता है तब ३० ग्रेन मात्रा में इस चूर्ण का प्रयोग ४,४ घंटे पर किया जाता है।

Magnesium oxide २ औंस calcicumcarbonate ४ औंस मिला के इस मिश्रण में से आधा आधा चम्मच ४,६ औंस जल के साथ दिन में चार बार दे सकते हैं।

Magnesium carbonate co tablets तथा Aluminium Hydroxide

Gel तथा Magnesium Trisilicate को मिलाकर बनाई गोलियां Tablets(Celusil) मिलती हैं। २,३ गोली चूस कर ऊपर जल पी लिया जाता है।

आमाशय शामक औषधियाँ या Parosympathetic depressants या anticholinergic Drugs के द्वारा चिकित्सा:-

१.. Belladonna आमाशय में विद्यमान Vagus को अवसन्न करके वहां होने वाले आमाशय स्राव तथा आमाशय गति को कम करता है। जिससे एसिड का अति स्राव तथा आमाशय में होने वाला स्तंभ जनित शूल दोनों शांत होते हैं। Belladonna [illegible] की १० बूंद तथा ८ Phenoborbital elikir १ ड्राम की मात्रा में भोजन से पहले या रात को दर्द हो तो सोने से पहले दिया जाता है। परन्तु इसकी मात्रा [illegible] बढ़ानी पड़ती है जिससे इस औषधि के द्वारा [illegible] विशेष दुष्प्रभाव भी होने लगते हैं। अत: यह औषधि भी निर्दोष नहीं है। Exract Belladonna १ बटा ८ से १ बटा ४ ग्रेन तथा Phenoborbitone १ बटा ४ ग्रेन की मात्रा में बनी गोलियां भी दिन में दो तीन बार भोजन से या सोने से पहले दी जाती हैं। ~~Atropine sulphate १/१०० ग्रेन तथा Hyoscyamine का Tincture ३० बूंद भी इसी प्रकार दी जा सकती हैं।~~

२.. Trasentin भी इस रोग में $1\frac{5}{4}$ ग्रेन [illegible] की मात्रा में ३ बार देने से स्तम्भ शामक होता है। स्तंभशामक तथा क्षारीय औषधियों को मिलाकर बनाये योग (Pyrapentala B.I.) भी दिये जाते हैं।

आमाशय [illegible] व्रण जनित रक्त वमन की चिकित्सा:

रक्त वमन होने पर रोगी को बिस्तर पर लिटाये रखना चाहिये तथा उसकी चारपाई के पांयते को कुछ ऊंचा उठा देना चाहिये। बरफ चूसने के लिये देनी चाहिये तथा आमाशय प्रदेश पर बरफ की टोपी रखनी चाहिये। सारे शरीर को गर्म रखने का यत्न करना चाहिये। रक्त वमन को देखकर रोगी व्याकुल होता है। इसलिये इसके मस्तिष्क को अवसन्न करने के लिये Codeine Phosphate $\frac{1}{2}$ - १ ग्रेन त्वचा द्वारा या मुख द्वारा देना चाहिये। या Sodium Pheno barbitone ½-1½ ग्रेन त्वचा द्वारा दे देना चाहिये। इसके बाद कुछ दिन तक Phenobarbitone का मुख से प्रयोग करते रहना चाहिये।

रोगी को दो दिन निराहार रखना चाहिये। केवल घूंट घूंट करके जल मात्र देना चाहिये। एक घंटे में एक औंस जल मुख से या चार चार घंटे बाद [illegible] ४,६ औंस नार्मल सेलाइन ५ प्रतिशत ग्लूकोज मिला कर धीरे धीरे गुदा द्वा-

दे सकते हैं अथवा त्वचा द्वारा दिन भर में एक दो पाइंट नार्मल सेलाइन दे देना चाहिये। दो दिन बाद दो तीन औंस दूध और क्रीम का मिश्रण एक एक घंटे के अंतर से दिन रात में १२ बार दिया जा सकता है। रात को भी एक दो बार इतना दूध दे सकते हैं। १,२ ग्राम Calcium carbonate दूध के साथ तीन चार बार देने से या Aluminium Hydroxide Gel १,२ ड्राम पांच छ: बार देने से रक्त वमन का भय नहीं रहता। ये औषधियां मल बंधक हैं। इसलिये दिन में ३,४ बार Magnesium Carbonate भी दे देना ठीक है। मल बंध के दूर करने के लिये विरेचक औषधि का प्रयोग करना ठीक नहीं। दो तीन दिन बाद वस्ति द्वारा आंतों को साफ कर सकते हैं। जब तक मल में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में रक्त रहे तब तक ठोस भोजन नहीं देना चाहिये। प्राय: एक या दो सप्ताह बाद मल में से रक्त लुप्त हो जाता है।

आयुर्वेद में परिणाम शूल।

तीक्ष्णाग्नि प्रकृति के व्यक्तियों में अत्युष्ण, तीक्ष्ण, विदाही भोजनों के लेते रहने से तथा क्रोधादि तीक्ष्ण मानसिक भावों से युक्त रहने से भोजन के जीर्ण हो जाने के बाद दोपहर के समय या मध्य रात्रि के समय नाभि पर जो तीव्र शूल होता है उसे परिणाम शूल या पैत्तिक शूल कहा गया है। तथा इसके कारण होने वाली ऊष्मा और छाती को जलाने वाली छर्दि को पित्त छर्दि कहा गया है। ।। सु। उ। ४२ ।। श्लो.८२।

चरक ने कहा है कि यदि आमाशय में कफ धातु स्वभावत: क्षीण हो अर्थात कफस्राव कम होता हो तथा ऊष्ण तीक्ष्ण गुण आहारों से आमाशय में पित्त की वृद्धि हो अर्थात पाचकाग्नि तीव्र हो और साथ ही आमाशय में वायु का प्रकोप के कारण वह विक्षोभ शील भी हो और अर्थात इसने से भोजन द्रव शीघ्र आगे चला जाता हो तो वहां की बढ़ी हुई पाचकाग्नि ही जब वहां पचाने के लिये आहार नहीं मिलता तो वह आमाशय गत धातुओं को पचाने लगती है। ऐसी अवस्था में रोगी को भोजन करने पर तो शान्ति पड़ जाती है पर भोजन के पचने के बाद ही [illegible] शूल का लक्षण [illegible] आरंभ हो जाता है। इसे तीक्ष्णाग्नि या अत्यग्नि रोग कहा जाता है। ।। च। चि। १५।। ५५-५६ तथा २१८-२२८

इसकी चिकित्सा के लिये सुश्रुत (सुश्रुत । उ। ४२ श्लो.१०२ तथा उ० ४९। चरक । चि।१५ तथा २०) ने शीतोदक से वमन तथा शीत औषधियों द्वारा मृदु विरेचन कराने के साथ थोड़ी थोड़ी देर बाद जीवनीय औषधियों से साधित घृत मिश्रित दूध या जांगल मांस रस या दही या शालि, गोधूम, यव आदि से बने स्वल्पाहार के दूध के साथ लेते रहने का विधान किया है। औषधियों में ... पूर्ण के साथ चाटने, ... के मधुर

घृत के साथ लेने, त्रिफला, अमलतास, मुलहटी, द्राक्षा, कुटकी आदि से बने क्वाथ के मधु के साथ लेने, केवल हरीतकी या केवल आमला की के चूर्ण के मधु घृत के साथ चाटने या गोमूत्र भावित हरीतकी के या शुक्ति भस्म, शंख भस्म, वराट भस्म आदि के एक आधा माशे की मात्रा में दिन में ३,४ बार लेने, धात्री लौह के दिन में एक आधा माशे की मात्रा में २,३ बार लेने, किसी तिक्त घृत के भोजन से पहले दिन में २,३ बार लेने, या भोजन से पहले स्वल्प मात्रा में घृत पान कर लेने या बादाम रोगन के ले लेने का विधान किया है।

इस रोग में तीक्ष्ण उष्ण गुण आहारों, तीक्ष्ण मानस भावों तथा अति जागरण और धूप को अपथ्य कहा गया है।

आमाशय का कैंसर : (Carcinoma of the Stomach)

कैंसर का रोग शरीर के अन्यान्य अंगों की अपेक्षा महास्रोतस् में अधिकतः होता है। वहाँ भी आमाशय में और [redacted] ५५,६० वर्षों की आयु के नागरिक पुरुषों में अधिक होता है। जिससे पता चलता है कि कृत्रिम आहार के लेने वाले मिथ्या आहारी पुरुषों में जब उनके आमाशय की स्वाभाविक शक्ति क्षीण हो जाती है तब होता है। बड़ी आयु में भी आमाशय की श्लेष्म कला स्वस्थ हो तो यह रोग नहीं होता। शोथ युक्त आमाशय में ही यह रोग होता है।

कैंसर की संप्राप्ति :-

यदि शरीर के किसी स्वस्थ प्रदेश को क्षत कर दिया जाय तो तुरंत वहाँ रोहण या क्षति पूर्ति की प्रतिक्रिया आरंभ हो जाती है और जब क्षति पूरी हो जाती है तब यह प्रक्रिया स्वयमेव शांत हो जाती है।

परन्तु किसी ऐसे अस्वस्थ प्रदेश कि जिसके सेलों की शक्ति चिरकालिक विक्षोभ से क्षीण हो गई हो क्षत किया जाय तो वहाँ पर रोहण या सेलों के विभक्त होकर क्षति पूर्ति कर लेने (Mitosis) की जो प्रक्रिया आरंभ होती है वह फिर बंद ही नहीं होती, जारी रहती है। जिससे वहाँ पर एक अति वृद्धि हो जाती है। इस अनियन्त्रित वृद्धि को कैंसर कहते हैं।

सेलों के अंदर विद्यमान Chromosomes तथा उनके भी अंदर विद्यमान Genes में जो कि Nucleo proteins के बने हुये हैं वृद्धि (Reproduction) का एक सहज गुण रहता है अर्थात ये ही क्षत प्रदेश में होने वाले रोहण (Mitosis) का कारण होते हैं। इनमें ही इस वृद्धि को नियंत्रित करने (Growth regulatory mechanism) का गुण भी रहता है। संभव है कि चिरकाल तक किसी विक्षोभक कारण के रहने से या

किसी कैंसर जनक विष (Carsinogen) से जब किसी प्रदेश के सेलों की वृद्धि को नियंत्रित रखने की शक्ति विकृत हो जाती है तब वहाँ एक बार प्रारंभ हुई वृद्धि की प्रक्रिया बराबर जारी ही रहती है। जिससे इससे उत्पन्न अर्बुद (ट्यूमर) को कैंसर कहा जाता है।

बहुधा कैंसर रोग आमाशय के निम्न तिहाई भाग में होता है तथा निम्नलिखित रूप का होता है।

१.. ½ - १ इंच व्यास के उठे हुये कठोर किनारों के व्रण के रूप में (Ulcerative या Excavating form) का होता है।

२.. कुकुर मुत्ते (Fungus) का एक गोलाकार मृदु अर्बुद श्लैष्मिक कला पर उत्पन्न हो जाता है जिसे Polypoid या Papillary form का कैंसर कहते हैं।

३.. आमाशय के निम्न छिद्र की दीवार मोटी तथा कठोर हो जाती है जिससे यह छिद्र कुछ तंग हो जाता है। अथवा आमाशय की सारी दीवार ही मोटी तथा कठोर हो जाती है। इस अवस्था में कोई व्रण या अर्बुद नहीं होता। केवल दीवार की मृदुता के स्थान में कठोरता आ जाती है। जब आमाशय की सारी दीवार कड़े की तरह कठोर हो जाती है उसे Leather bottle stomach कहते हैं।

<u>रोग प्रसरण :-</u> (Metastasis)

आमाशय में विद्यमान कैंसर से उसके सेल Portal Vein के द्वारा यकृत में प्रसरण कर जाते हैं जिससे यकृत में Secondary cancer हो जाता है। वह आकार में बड़ा हो जाता है। कभी कभी उसके पृष्ठ पर कठोर ग्रन्थियाँ (Nodules) भी अनुभव होती हैं। यकृत पर दबाने से स्पर्शाक्षमता का लक्षण होता है। यकृत में इस रोग के हो जाने के कारण कभी कभी रोगी को पीठ पर दर्द प्रतीत होता है।

आमाशय के कैंसर से उसके सेल आमाशय के बाह्यावरण (Serous coat) में Lymphatics द्वारा और फिर सारे Peritoneum में फैल सकते हैं। फिर उसके विद्यमान रहने से उसमें जलोदर का रोग भी हो जाता है।

<u>आमाशय कैंसर के लक्षण :-</u>

क्योंकि कैंसर का रोग बहुत धीरे धीरे अज्ञात रूप में उत्पन्न होता है। जब यह कुछ बढ़ जाता है तब इसका पता लगता है। इसमें प्रथम रोगी की भूख नष्ट होने लगती है। थोड़ा भोजन विशेषतः ठोस भोजन लेने से पेट भर जाता तथा इच्छा नष्ट हो जाती है। अतएव

यदि ५५,६० वर्ष की आयु के एक व्यक्ति को जिसे आयु भर पहले अजीर्ण का कोई कष्ट न हुआ हो अब दो चार मास से अजीर्ण का कष्ट रहने लगे जो औषधियों के सेवन से भी ठीक न होता हो तो कैंसर रोग का संदेह करना चाहिये। इस रोग के कारण आमाशय के मांस की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी कारण भूख मर जाती है। इस रोग के साथ क्योंकि आमाशय शोथ भी रहता है अत: भोजन करते ही पेट में भारी पन या बेचैनी बढ़ जाती है और डकार आते हैं।

अजीर्ण के अतिरिक्त इस रोग के रोगी का शरीर शीघ्र शीघ्र कृश होता जाता है। ५,७ सेर भार घट जाता है। त्वचा के नीचे विद्यमान चर्बी सूखती जाती है। त्वचा शुष्क होती जाती है। रोगी के कार्य करने की शक्ति शीघ्र शीघ्र न्यून होती जाती है। पांडुता बढ़ती जाती है। रोगी का बल इस रोग के कारण शीघ्र न्यून होता जाता है।

इस रोग का प्रसरण यकृत में हो जाने पर निरंतर मंद ज्वर भी रहने लगता है।

इन लक्षणों के बाद या कभी कभी प्रारंभ से ही आमाशय प्रदेश पर मंद मंद दर्द रहने लगता है जो यद्यपि भोजन खाने से कुछ बढ़ जाता है। तथापि हर समय ही रहता है। आमाशय में उत्पन्न यह दर्द कभी कभी पीठ पर होता प्रतीत होता है। जब व्रण युक्त कैंसर (Ulcerocarcinoma) निम्न द्वार (Pylorus) पर होता है तो वहां के मांस मय स्तर के विक्षुब्ध होने एवं उसमें स्तंभ के उत्पन्न होने से यह दर्द उत्पन्न होता है। साधारण आमाशय व्रण के समान क्षारीओषधि के सेवन से यह सर्वथा शांत नहीं होता।

वमन भी इस रोग का एक लक्षण होता है। क्योंकि आमाशय निम्न छिद्र में इस रोग के कारण कुछ अवरोध (Stenosis) उत्पन्न हो जाता है जिससे आमाशय में रुका हुआ अन्न द्रव वमन के द्वारा बाहर निकल जाता है। पहले पेट में कुछ दर्द उठता है और फिर अरुचि होकर वमन हो जाती है, जिससे कुछ देर के लिये दर्द शांत हो जाता है। वमन से आये अन्न द्रव में रक्त का अंश हो तो वह काले से रंग का होता है। उसमें एसिड नहीं होता, क्योंकि आमाशय श्लेष्म कला के क्षीण हो जाने से उसके (प्रम्लस्रावी) Oxyntic सेल नष्ट हो जाते हैं।

आमाशय कैंसर व्रण युक्त हो तो मल में भी अव्यक्त रक्त (Occult-Blood) मिलता है।

एक्सरे परीक्षा से इस रोग का निश्चय किया जा सकता है। आमाशय श्लेष्म कला के रोग ग्रस्त भाग में आमाशय गति (Peristalsis) नहीं होती

अथवा आमाशय श्लेष्मकला विषम् आकृति की दीखती है। अथवा Greater curvature पर व्रण का चिन्ह (Crater) प्रतीत होता है।

यह एक घातक रोग है। रोग के पता लग जाने के बाद १ डेढ वर्ष तक प्राय: बढ़ती हुई अशक्ति और निर्बलता के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा :-

यह एक असाध्य रोग है। Resection का शल्य कर्म जितना शीघ्र किया जाय उतना ही इसकी असाध्यता को कम किया जासकता है। जब तक शल्य कर्म न हो सके तब तक रोगी को वही द्रव भोजन जैसा कि ऊपर आमाशय व्रण के लिये कहा है, देना चाहिये। Predigested दूध का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये ५ औंस को से जल में दो Peptonising tablets (Pancreatin) डाई ग्रेन सोडा बाई कार्ब ७ ग्रेन Sucrose डाई ग्रेन की गोलियां मिलती हैं) मिला कर उसे १ पाइन्ट दूध में मिश्रित कर हलकी गर्मी (७८ फारनहाइट) में ७,१५ मिनट रखकर और उसके बाद दूध को उबाल कर उसका प्रयोग करना चाहिये। ग्लूकोज २५ प्र०श० तथा विटामिन सी ७०० मिलि के ५० सी.सी. के शिरा द्वारा देने से रोगी की शक्ति बनी रहती है। अवरोध के कारण आमाशय में द्रव संचित होकर वमन हो जाती है तो Stomach Tube द्वारा क्षारीय जल से (१ पाइन्ट में ६० ग्रेन सोडा बाई कार्ब) पेट को प्रतिदिन धो देना चाहिये। दर्द के लिये Aspirin ७ ग्रेन दिन में ३ बार दे सकते हैं।

आयुर्वेद में -- आमाशय कैंसर :-

आमाशय कैंसर के कारण जो शूल उत्पन्न होता है उसे आयुर्वेद ग्रंथों में "अन्न द्रव शूल" कहा गया प्रतीत होता है तथा कहा गया है कि यह पेट में होने वाला ऐसा शूल है जो रात दिन रहता है। भोजन से पहले भी रहता, बाद में भी रहता है। पथ्य सेवन से भी शांत नहीं होता। ।। मा० नि० ।।

आमाशय कैंसर से होने वाला वमन का वर्णन चरक ने क्रिमिज छर्दि में किया है। उसने कहा है जो शूल और अपक्व के लक्षणों से युक्त काले रंग की रक्त युक्त वमन बनी ही रहती है। अच्छी नहीं होती, वह क्रिमिज छर्दि कहलाती है। ।। च० चि० २० ।।

क्रिमिज गुल्म के नाम से चरक ने कैंसर का वर्णन किया है तथा कहा है कि कोष्ठ में पत्थर की तरह कठोर, बड़ा दर्द करने वाली, शीघ्र पक जाने वाली एवं शारीरिक बल, अग्नि बल और मनोबल तीनों का अपहरण करने वाली ग्रंथि होती है। उसे क्रिमिज गुल्म कहते हैं। ।। च० चि० ५।।४६

इसकी चिकित्सा का कोन आयुर्वेद ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता।

वातिक अजीर्ण Nervous या Asthenic Dyspepsia.

जिस प्रकार कुछ एक क्रोधी तथा चिड़चिड़े शील व्यक्तियों में Vagus के विक्षुब्ध रहने से आमाशय रस अधिक उत्पन्न होता तथा आमाशय का बल भी बढ़ा हुआ रहता है जिसके परिणाम रूप उन्हें पित्ताजीर्ण (एसिडडिस पेप्सिया) तथा परिणाम शूल हो जाते हैं वैसे ही कुछ एक व्यक्तियों में दुःख शोक, भय, निराशा आदि अवसादक भावों से Sympathetic नाड़ियां शीघ्र उत्तेजित हो जाती हैं जिनकी उत्तेजना से आमाशय रस की मात्रा तथा आमाशय बल दोनों क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न अजीर्ण को वाताजीर्ण (Nervous Dyspepsia) कहते हैं।

आमाशय को आने वाली Sympathetic नाड़ियों का उद्गम Hypothalamus से होता है। अतः दुःख, शोक, भय, निराशा आदि भावों का प्रभाव आमाशय पर पड़ना स्वाभाविक है। परन्तु स्वस्थ मनुष्य में मस्तिष्क के निम्न केन्द्र ऊर्ध्व मस्तिष्क (Cortex) के जो बुद्धि या विवेक का स्थान है नियंत्रण में रहते हैं। इसलिये शोक, दुःख, भय आदि के भाव देर तक नहीं रहते तथा इनके कारण उत्पन्न अजीर्ण भी देर तक नहीं रहता। परन्तु जिस व्यक्ति में ऊर्ध्व मस्तिष्क निर्बल होता है अर्थात जिस व्यक्ति में आवेगों के ऊपर बुद्धि का नियंत्रण शिथिल होता है उसमें वाताजीर्ण चिरस्थायी रूप में रह जाता है। उदाहरणतः जब किसी व्यक्ति का अपनी अति प्रिय और वांछित वस्तु से सदा के लिये वियोग हो जाता है या उसकी चिर परिपालित आशा पर तुषारपात हो जाता है अथवा उसे उस अवस्था में जिसमें वह क्षण भर भी जीना पसंद नहीं करता, रहना पड़ता है तो वह व्याकुल हो उठता है, परंतु कुछ काल बाद विवेक या बुद्धि का उदय होता है जो धीरे धीरे दुःख या निराशा के भाव पर विजय पा लेती है एवं व्याकुलता जाती रहती है। परन्तु जब ऊर्ध्व मस्तिष्क की प्राण शक्ति हीन हुई होती है अर्थात मानसिक शक्ति कम होती है तो दुःख का भाव न्यूनाधिक रूप में बना ही रहता है और उसके कारण उत्पन्न वाताजीर्ण या मानसिक अजीर्ण भी जारी रहता है।

इसी प्रकार अति श्रम से या किसी रोग जनित निर्बलता से या पांडु रोग के कारण भी आमाशय के निर्बल हो जाने से जो अजीर्ण उत्पन्न होता है उसे भी वातिक अजीर्ण कहा जाता है।

इन दोनों अवस्थाओं में आमाशय रस कम उत्पन्न होता है। आमाशय का बल कम हो जाता है। जिससे एक तो भूख घट जाती है दूसरे खाया हुआ अन्न जीर्ण नहीं होता एवं भोजन के बाद पेट में भारीपन या विष्टम्भ

(Flatulence) का लक्षण रहता है। यह भारीपन हवा के कारण से नहीं, पर आमाशय के बल के घट जाने से लगता है। मन में दुःख या निराशा के छिपे हुये भाव के कारण रोगी में विषाद और न्यूनाधिक उन्निद्रता के लक्षण भी रहते हैं।

मन में छिपा हुआ दुःख या निराशा का भाव इस अजीर्ण का कारण होता है और उसका निकालना सुगम नहीं होता। इसलिये यह रोग सुखसाध्य नहीं है तथापि रोगी को निश्चय दिला देना चाहिये कि पेट में या हृदय आदि में उसे कोई विकार नहीं है। मानसिक दुःख की निवृत्ति के लिये किसी कार्य में उसे लगाने का यत्न करना चाहिये। उसे ग्लूकोज पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। भोजन से १,२ घंटे पहले Insulin का सुचीवेध दे देने से भूख बढ़ जाती है। पर्याप्त मात्रा में भोजन अंदर जाने पर रोग प्रकृति स्वयं शांत होने लगता है।

आयुर्वेद में वातिक अजीर्ण :-

आमाशय की प्राण शक्ति के कम हो जाने से जो अजीर्ण उत्पन्न होता है उसे आयुर्वेद में वाताजीर्ण कहते हैं। आमाशय की दीवार की शक्ति कम हो तो थोड़ी मात्रा में भोजन लेने से भी पेट में भारीपन, दबाव या अफारा सा लगने लगता है। जिससे इसे आयुर्वेद में विष्टंभाजीर्ण भी कहा है। निर्बल आमाशय में विक्षोभ पड़ने पर स्तंभ (Spasm) उत्पन्न होकर वेदना भी हो सकती है। रोगी वातिक प्रकृति का होता है। इसलिये शरीर में स्वल्प विक्षोभ से भी सिर, शाखाओं आदि में दर्द की प्रतीति होती रहती है। मस्तिष्क संबंधि निर्बलता के कारण उसे मानसिक व्यामोह का लक्षण भी रहता है। ।। मा० नि०।।

अष्टांग इसी प्रकार शारीरिक निर्बलता से उत्पन्न वाताजीर्ण में विष्टंभ आदि लक्षण होते हैं। इसकी चिकित्सा के लिये आमाशय स्तंभ शामक हींग तथा लशुन के योग जैसे हिंग्वष्टक लशुनाष्टक आदि दिये जाते हैं। आमाशय पर अभ्यंग स्वेदन आदि किये जाते हैं। मानसिक तथा शारीरिक प्राण शक्ति के बढ़ाने के लिये रोगी को अधिक मात्रा में पौष्टिक आहार दिया जाता है तथा स्वर्ण लौह आदि के योग चतुर्मुख चिन्तामणि आदि दिये जाते हैं। चरक ने वाताजीर्ण में घृत के साथ दीपन गुण औषधियों के देने का विधान किया है। ।। चि०१५।।

छुद्रांत के रोग । Diseases of the Small Intestine.

छुद्रांत की रचना विज्ञान तथा क्रिया विज्ञान :-

रचना :-

आमाशय निम्न छिद्र से वृहदन्त्र के प्रारंभिक भाग (Caecum के Ileocolic Valve) तक की साढ़े ६ मीटर लंबी भोजन नाली को छुद्रान्त्र

कहते हैं। इसका स्त्रोत ऊपर अधिक चौड़ा होता है तथा क्रमशः नीचे की ओर तंग होता जाता है। क्षुद्रान्त्र नाभि प्रदेश (Umbilical region) में रहता है। इसके प्रथम चौड़े भाग को आमाशय से अन्न रस के ग्रहण करने के कारण ग्रहणी या ग्रहण्याशय कहते हैं। क्योंकि यह १२ अंगुल या १२ इंच लंबा (२५ सेंटीमिटर) होता है इसे Duodenum कहते हैं। आंत का यह भाग Mesentary के बिना होता तथा अपूर्ण वृत्त के आकार का होता है और नाभि के ऊपर कोष्ट के मध्य प्रदेश में रहता है। आमाशय निम्न छिद्र से लगभग तीन चार इंच नीचे ग्रहण्याशय की श्लेष्म कला में Bile Duct तथा Pancreatic Duct दोनों मिलकर एक स्थान पर खुलती हैं अर्थात् आमाशय के समान ग्रहण्याशय भी अन्न के पचने का स्थान है। आमाशय तथा ग्रहण्याशय को रुधिर Hepatic artery तथा Superior mesenteric Artery से आता तथा इनसे रक्त Portal Vein द्वारा वापिस लौटता है। इसकी नाड़ियां भी Caeliac Plexus से आती हैं।

ग्रहण्याशय से नीचे क्षुद्रांत्र का जो भाग Mesentery के द्वारा कोष्ट की पिछली दीवार से बंधा है। इसके प्रथम ८ फुट लंबे भाग को Jejunum खाली कहते हैं तथा इसके नीचे के शेषआंत के भाग को जो १२ फुट लंबा होता है और जो Hypogastric region में रहता है Ileum कहते हैं।

क्षुद्रांत्र की दीवार में सबसे बाहर Serous Layer होती है जो Peritoneum से बनी हुई है। इससे अंदर मांसमय स्तर (Muscular Layer) है जो बाहर बाहर दीर्घ सूत्रों (Longitudenal-Fibres) तथा अंदर की ओर गोल सूत्रों (Circular Fibres) से बनी है। क्षुद्रांत्र की अन्न प्रेरक गति इसी मांस पर निर्भर है। इससे अंदर की ओर स्नायु तंतु (Connective Tissue) का बना स्तर होता है जिसे Submucous Layer कहते हैं। इसमें रक्त वाहिनियां तथा लसीका वाहिनियां (Lymph Vessels) रहती हैं। इसके अंदर चौथा श्लेष्म कला का स्तर (Mucous Membrane) होता है। क्षुद्रांत्र के प्रारंभिक भाग में यह अधिक स्थूल तथा अत्यधिक रक्त वाहिनियोंसे युक्त होती है। नीचे की ओर क्रमशः यह स्तर पतली होता जाता है। इस स्तर में भी बाहिर की ओर एक मांस का स्तर जिसे Muscularis Mucosae कहते हैं होता है। जो श्लेष्मकला में होने वाली गति का प्रवर्तक है। इसके अंदर की ओर एक जालाकार स्तर (Retiform Layer) है। जिसमें Lymph corpuscles या Nodules तथा रक्त वाहिनियों और वात नाड़ियों की शाखायें बिछी हुई रहती हैं। इसके अंदर की ओर एक Basement Membrane

या आधार स्तर होता है। जिसपर स्तंभाकृति सेलें (Columnar Cells) का स्तर रहता है जिसे अन्तस्त्वचा (Epithelium) कहते हैं।

Circular folds:- क्षुद्रांत्र के अंदर की तरफ श्लेष्म कला की उभरी हुई तहों को Circular Folds कहते हैं। आंत के ऊपर के भाग में ये बहुत अधिक तथा नीचे की ओर क्रमशः कम होता जाता है। ये भोजन द्रव को रोक कर पचाने तथा शरीर में विलीन करने में सहायक होते हैं।

Villi:- Lacteals तथा रक्त वाहिनियों के बाहर को उभरे हुये अंकुरों को Villi कहते हैं। ये भोजन रस को विलीन करने का कार्य करते हैं। क्षुद्रांत के प्रारंभिक भाग में अधिक होते हैं।

आंत्र ग्रन्थियां आंत की पाचक ग्रन्थियां प्रणालिका कार (Tubular) होती हैं। आंत का पाचक रस (Succus Entericus) इन्हीं से उत्पन्न होता है।

लसीका ग्रन्थियां (Lymphatic Nodules Solitary तथा Aggregated Payer's patches)Retiform tissue,Lymphocytes और सूक्ष्म रक्त वाहिनियों की बनी हुई छोटी छोटी ग्रन्थियां Sub-Mucous Layer या श्लेष्म कला के निचले भाग में छाई हुई हैं। इनके चारों ओर लसीका (Lymph) रहती है जो Lacteals के साथ संबंधित होती है। क्षुद्रांत्र के निचले भाग (Ileum) में ये विशेषतः पाई जाती हैं तथा कृमियों या बैक्टीरिया को नष्ट करने का कार्य करती हैं।

क्षुद्रांत्र की दीवार में आने वाली रक्त वाहिनियां एक तो Serous तथा Muscular तहों के बीच में, तथा दूसरे Submucous Tissue में जाल बनाती हैं। फिर इनमें से सूक्ष्म शाखायें श्लेष्म कला, Villi , तथा आंत्रग्रन्थियों में रक्त पहुंचाती हैं। वहां से शिरायें आरंभ होकर वापिस रक्त लाती हैं। Locleasls भी श्लेष्म कला में आरंभ होती हैं। Mucous तथा Sub-mucous Tissue में इनका जाल सा बना होता है जहां से ये Mesentery की बड़ी Locteals में आ मिलती हैं।

क्षुद्रांत्र में नाड़ियां:- Vagus तथा Splanchnie Nerves से Caeliac Ganglion के द्वारा Superior mesenteric Artery के साथ साथ आती हैं। ये मांस मय स्तर के बीच में एक जाल बनाती हैं जिसे Myenteric Plexus कहते हैं। दूसरा जाल ये Sub-mucous Layer में बनाती हैं जिसे Sub-Mucous Plexus कहते हैं। इनसे श्लेष्म कला को सूत्र जाते हैं।

Sympathetic नाड़ियों की उत्तेजना से क्षुद्रांत्र की गतियां बन्द न हो जाती हैं तथा इसके द्वारा (Sphincters) अवरुद्ध (Constrict)

हो जाते हैं। इसकी रक्त वाहिनियां भी संकुचित (Constrict) हो जाती हैं। मानसिक आवेश तथा श्रम से ये नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। Parasympathetic नाड़ियां व्यायाम के बाद आराम के समय उत्तेजित होती हैं। इनकी उत्तेजना से आंत्र मांस की नलियां भलि प्रकार होती हैं तथा आंत्रिक पाचक रस ठीक ठीक निकलता है।

क्रिया :-

ग्रहणी में भोजन का पाचन (Digestion) तथा विलयन (Absorption) दोनों कार्य होते हैं। अग्न्याशय (Pancreas) से आया हुआ (Pancreatic-Juice) तथा आंत की दीवार में विद्यमान आंत्रिक ग्रन्थियों से उत्पन्न Succus Entericus अन्न के पाचन का कार्य करते हैं।

भोजन में लिये प्रोटीन, आमाशय के Pepsin अग्न्याशयरस के Trypsin, आंत्रिक रस के Enterokinase से Peptone में बदल जाते हैं जो फिर आंत्रिक रस के Erepsin नामक पाचक रस से पहले Polypeptide. --- और फिर Amino Acids के रूप में बदल कर विलीन हो जाते हैं।

भोजन में लिये स्टार्च खांड आदि (Disaccharides) आंत में पचकर Monosaccharides में बदल कर विलीन होते हैं अर्थात अग्न्याशय रस के Amylase से तथा आंत्रिक रस के Maltase से स्टार्च, ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाता है। आंत्रिक रस के Sucrase से गन्ने की खांड (Surcese) तथा Lactase से दूध की खांड (Lactase) पचकर ग्लूकोज के रूप में विलीन होती हैं।

इसी प्रकार भोजन में लिया स्नेह पदार्थ अग्न्याशय रस के Lipase के द्वारा Glycerol तथा Fatty Acids में बदल जाते हैं। ये Fatty Acids Alkalis के साथ मिल कर "सोप" बन जाते हैं एवं शीघ्र विलयन योग्य बन जाते हैं। यकृत से आया पित्त (Bile) इन Fatty Acids के सोप बनने की प्रक्रिया में सहायक होता है।

ग्रहणी के ऊर्ध्व भाग में पचन तथा विलयन का कार्य विशेषता से होता है। Ileum के निम्न भाग तक पहुंचते पहुंचते भोजन का बहुत सा भोजन रस विलीन हो लेता है। जितना ही आंत की श्लैष्मिक कला के सेल स्वस्थ होते हैं इतना ही भोजन रस का विलयन ठीक होता है अर्थात् जितना इनकी सहज प्राण शक्ति (समान वायु) सम अवस्था में रहती है इतना ही पूर्णता से वे भोजन रस को ग्रहण कर लेते हैं। इनकी प्राण शक्ति को कायम रखने के लिये इनको विषैले द्रव्यों से बचाना चाहिये। तथा रक्त के द्वारा इन्हें आक्सिजन, केल्शियम, विटामिन आदि मिलते रहने चाहियें। भोजन से प्राप्त ग्लूकोज तथा Amino Acids की रक्त वाहिनियों और Portal Vein

कोष से होकर संपूर्ण शरीर में पहुंचते हैं। भोजन से प्राप्त स्निग्धतत्व अधिक मात्रा में Lacteals तथा Thoracic Duct के द्वारा शरीर में पहुंचता है।

ग्रहणी रोग, ग्रहणी शोथ, चिर स्थायी आमातिसार, (Tropical Sprue)

कारण :-

नमी वाले गर्म प्रदेशों में पाया जाने वाला यह एक चिर स्थायी आमातिसार है। इस रोग के कारण के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। कुछएकइसे अजीर्ण से उत्पन्न होने वाला रोग मानते हैं। नमी वाले गरम प्रदेश में मंदाग्नि (Aclorhydric) प्रकृति के व्यक्तियों में से जो प्रोटीन भोजन तो नहीं लेते पर कार्बोहाइड्रेट और स्निग्ध तत्व अधिक मात्रा में लेते रहते हैं उनमें इन भोजनों से उत्पन्न हुए Unsaturated Fatty -- Acids पचन और विलयन की अपूर्णता के कारण क्षुद्रांत्र के प्रारंभिक भाग में किण्व (Ferment) होते रहते हैं। इस अजीर्ण जनित किण्व के परिणाम रूप क्षुद्रांत्र की श्लेष्म कला में चिरस्थायी श्लैष्मक (Catarrhal) शोथ हो जाता है। जिससे ग्रहण्याशय की श्लैष्मक कला से श्लेष्म द्रव का स्राव अधिक होता है। एवं क्षुद्रांत्र में भलिप्रकार न पचा हुआ आहार द्रव्य आमातिसार के रूप में निकलने लगता है। इस प्रकार कुछएक इस रोग को कार्बोहाइड्रेट तथा फैट के चिर अजीर्ण के कारण उत्पन्न हुआ मानते हैं। तथा क्षुद्रांत्र की श्लेष्म कला के सूख जाने अथवा क्षीण हो जाने के कारण ग्लूकोज, फैट, कैल्शियम, लोह, विटामिन बी काम्प्लेक्स, Antianaemic Factor आदि के विलीन न हो सकने से इस रोग के लक्षणों की उत्पत्ति मानते हैं।

दूसरे लोग-भोजन में किसी आवश्यक तत्व की न्यूनता से यह रोग उत्पन्न होता है ऐसा कहते हैं। उनका कहना है कि यह रोग दुग्ध, तक्र, मांस आदि प्रोटीन भोजनों के सेवन या वह यीस्ट तथा लिवर के सेवन से ठीक हो जाता है। अतः इन भोजनों में विद्यमान किसी तत्व विशेषतः Vitamin B. की-कि जिसे Extrinasic Haematinic Principle कहते हैं-की न्यूनता से उत्पन्न होता है। इसलिये वे इसे अभावरोग या Deficiency Disease कहते हैं। भोजन में इसी तत्व की न्यूनता के कारण क्षुद्रांत्र की श्लेष्म कला क्षीण (Atrophied) हो जाती है तथा अस्थि मज्जा में रक्त कणों की यथा वृद्धि न होने से Macrocytic Anaemia (वातिक पांडु) हो जाता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आमाशय की श्लेष्म कला से उत्पन्न होने वाले एक रस Enzyme Intrinsic Hoematinic -- Principle. की न्यूनता के कारण

भोजन द्वारा आने वाला Extrinasic Haematinic Principle (Vit.B.12)
--- शरीर में विलीन नहीं हो पाता जिससे रक्त की यथावत् उत्पत्ति नहीं होती और फिर उत्तम मंदाग्नि होकर यह रोग हो जाता है। इसलिये इसे Deficiency Disease ही मानना चाहिये। यह उनका मत है जो इसे आमाशय की निर्बलता या अजीर्ण से उत्पन्न मानते हैं। उनसे यह मत मेल खाता है।

बहुत से विद्वानों का अभी तक यही मंतव्य है कि Vit.B-12. अथवा Vitamin B. Complex के अंदर विद्यमान Folic Acid या Riboflavin या Nicotinic Acid में से किसी की न्यूनता के कारण क्षुद्रांत्र की दीवार में विद्यमान नाड़ी जालों अर्थात मांस में विद्यमान Myenteric Plexus तथा Sub-Mucous Tissue में विद्यमान Sub-Mucosal Plexus के सेलों में क्षीणता (Degen) हो जाती है तथा Muscularis Mucosea क्षीण हो जाता है। जिससे श्लैष्म कला में से Villi द्वारा भोजन रस का विलयन ठीक ठीक नहीं हो पाता। वे कहते हैं कि यदि क्षुद्रांत्र की श्लैष्म कला तथा Muscularis Mucosea का पोषण ठीक ठीक न हो तो X-Ray द्वारा परीक्षा करने पर क्षुद्रांत्र का चित्र जैसा स्वस्थावस्था में रहता है वैसा न रहकर निर्बल एवं शिथिल आंत्र का सा हो जाता है। अर्थात् उसमें Barium के विषम आकृति के ढेर से दीखते हैं। जिसे Flocculation या Segmentation of Barium कहते हैं। यह चित्र क्षुद्रांत्र की निर्बलता या शिथिलता का सूचक है जो भोजन में विद्यमान किसी तत्व के अभाव के कारण उत्पन्न होती है। अत: संभवत: यह अभावरोग ही है।

संप्राप्ति :-

रोगी के आमाशय और क्षुद्रांत्र की श्लैष्म कला में पहले शोथ और रक्त संचय रहता है। जिव्हा की श्लैष्म कला भी रक्त वर्ण होती है। रोग के जीर्ण हो जाने पर इन श्लैष्म कलाओं में क्षीणता (Atrophy) हो जाती है। Pancreas के रस के ठीक ठीक आने से भोजन का स्नेह तथा कार्बोहाइड्रेट पचते तो हैं अर्थात Fatty Acids बनते हैं पर विलीन न होने से किण्ठ हो जाते अथवा मल द्वारा निकल जाते हैं। ग्लूकोज भी विलीन नहीं होता किण्ठ होकर गैस उत्पन्न करता है जिससे पेट भारी रहता है।

लक्षण :-

ग्रहणी रोग अज्ञात रूप में धीरे धीरे आरंभ होता है तथा युवकों में अधिकतर देखा जाता है। ग्लूकोज तथा फैट के विलीन न होने

होने से रोगी को विष्टंभाजीर्ण (Flatulent Dyspepsia) रहता है। खाने के बाद पेट भारी हो जाता है तथा साथ ही अपक्व मल के तीन चार या पांच छः बार प्रातः कालीन दस्त हो जाते हैं अर्थात् रात भर पेट कुछ भारी रहता है और प्रातः काल मात्रा में बड़ा, ढीला सा, फीके रंग का, झागदार खट्टी सी बू वाला एक दस्त बिना किसी दर्द के हो जाता है। जिसके वेग को रोकना रोगी के लिये कठिन होता है। इसके बाद दोपहर तक दो तीन या कभी कभी इससे अधिक बार इसी प्रकार के वेग हो जाते हैं। क्योंकि एक तो इनमें फैट का अंश अधिक होता है। दूसरा इनमें पित्त (Bile) परिवर्तित होता सा Stercobilin के स्थान पर Leucobilin में परिवर्तित होता है। अतः इनका रंग सफेदी मायल होता है। ग्लूकोज के अति मात्रा में विदग्ध होने से ये एसिड प्रतिक्रिया के तथा झागदार होते हैं। साधारणतः न्यूट्रल फैट से Split Fat (Fatty Acids) दुगनी मात्रा में हुआ करती है पर ग्रहणी रोगी के मल में यह अनुपात १:३ का होता है। अर्थात फैट पचाती तो है परन्तु उसका विलयन घट जाता है।

आहार रस के विलयन के घट जाने से शरीर में फैट की मात्रा घटती जाती है। शरीर कृश एवं निर्बल होता जाता है। त्वचा तथा नख शुष्क से दीखते हैं। मज्जा का पोषण न होने से रक्त का निर्माण कम होता है जिससे पांडुता का लक्षण उत्पन्न हो जाता है।

<u>परीक्षा :-</u>

परीक्षा करने पर रोगी में तापमान, नाड़ी गति, श्वास गति आदि नार्मल ही होते हैं। जिव्हा आई हुई होती है। उसके किनारे लाल होते हैं। रोग पुराना हो तो इसके Papillae घिसे हुए होते हैं। जिससे वह साफ सी दिखती है। जीभ का आना इस रोग का एक प्रधान लक्षण है। आमाशय द्रव की परीक्षा करने से उसमें एसिड बहुत कम मिलता है। रक्त की परीक्षा करने से उसमें Macrocytic Hyperchromic श्रेणी का पांडु (वातिक पांडु) मिलता है। Colour Index १ मात्र से कुछ ऊपर होता है। श्वेत कण कुछ घटे हुये होते हैं। इनमें Lymphocytes की आपेक्षिक वृद्धि होती है। रक्त में Calcium की मात्रा घटी हुई होती है। (साधारणतः ६ मिलिग्राम प्रतिशत होती है। इस रोग में ८.८ के लगभग हो जाती है) साधारणतः जब जब मल में फैट की मात्रा बढ़ती है वह भोजन के कैल्शियम को निक्षिप्त करके विलीन नहीं होने देती जिससे रक्त में इसकी मात्रा घट जाती है।

रोगी को ग्लूकोज खिलाकर रक्त की परीक्षा की जाय तो इसके विलयन के मंद होने के कारण Glucose Tolerance curve अधिक नीचा हुआ

या Flat दीखता है। X-Ray परीक्षा करने पर क्षुद्रांत्र में Barium के विषम आकृति के ढेर दीखते हैं। जिसे Barium का Flocculation कहते हैं या Segmentation of the Small Intestine कहते हैं। अर्थात् स्वस्थ आंत के Feathery छाया के स्थान पर Flocculation की ही छाया दीखती है जो आंत में उत्पन्न विकृति का द्योतक होती है।

औषक भेदक परीक्षा :-

१.. Pernicious Anaemia:- में रोगी का भार नहीं घटता

~~xxxx~~

२.. आंत्रिक क्षय Intestinal T.B. में Blood Glucose Curve Flat नहीं होता तथा पांडु भी Hypochromic होता अर्थात् रंजक द्रव्य की कमी के कारण होता है। अतः इन रोगों से इसका भेद करना कठिन नहीं।

साध्यासाध्य :-

यह रोग शीघ्र नाशक नहीं होता। युवावस्था में शीघ्र अच्छा हो जाता है। मध्यमायु में याप्य होता अर्थात् आयु भर इसकी चिकित्सा करनी पड़ती है। वृद्धावस्था में यह ठीक नहीं होता।

ग्रहणी रोग की दुग्ध चिकित्सा :- (Manson's Milk Treatment)

ग्रहणी रोग की प्रधान चिकित्सा भोजन चिकित्सा है। इसके बिना केवल औषध चिकित्सा से लाभ नहीं हो सकता। इसके साथ औषध चिकित्सा ~~xxxxx~~ शीघ्र लाभ दिखाती है। क्योंकि रोगी की प्राण शक्ति हीन होती है। इसके बढ़ाने के लिये उसे श्वेत सारी करके किसी जान्तव प्रोटीन पर रखना चाहिये। इसके लिये चिकनाई से रहित दुग्ध विशेष उपयोगी है। यदि स्नेह रहित दुग्ध १,१ पाव की मात्रा में दिन में छः सात बार दिया जाय अर्थात् दिन भर में कुल डेढ़ दो सेर प्रारंभ करके तीन सेर तक दे दिया जाय तो रोगी शीघ्र अच्छा होने लगता है। कुछ दिन बाद गाय का दूध बिना चिकनाई निकाले भी दिया जा सकता है। ताजा दूध न मिले तो उसकी में स्नेह रहित दूध का पाउडर भी उचित मात्रा में पानी में मिलाकर दिया जा सकता है। दूध के पांच छः सप्ताह के प्रयोग से प्रायः रोगी की अवस्था सुधर जाती है फिर उसे दूध के अतिरिक्त किसी मौसमी फल का रस जैसे आम, संतरा, टमाटर आदि का रस भी दिन में दो तीन बार दे सकते हैं। इसके कुछ दिन बाद दूध के साथ एक एक हलका उबला हुआ अंडा भी दिन में कभी कभी दिया जा सकता है। वह भी हजम हो जाय तो फिर रोटी का सिका हुआ टोस्ट पहले शुष्क और फिर उबला हुआ दूध के साथ दिया जा सकता है। इस प्रकार क्रमशः रोगी को ऐसे साधारण भोजन पर ले आना चाहिये जिसमें

प्रोटीन आहार अधिक कार्बोहाइड्रेट तथा फैट कम दें।

औषध चिकित्सा :- Vitamin B-12.

इस रोग के लिये उत्तम औषधि है। इससे ग्रहणी रोग शांत हो जाता है तथा पांडुता भी ठीक हो जाती है। ७,१० Microgram की मात्रा में दिन में एक बार मांस द्वारा कुछ दिन देने से सब लक्षण शांत हो जाते हैं फिर सप्ताह में १ बार और फिर दो या तीन सप्ताह में एक बार इसकी यह मात्रा देनी चाहिये। भोजन चिकित्सा के साथ यह औषधि लाभदायक होती है।

Castle ने पहले पहल Liver Extract को इस रोग के लिये लाभदायक बताया। Crude Liver Extract (१ सी.सी. = १,२ Units) ४ सी.सी. की मात्रा में एक सप्ताह तक प्रति दिन मांस द्वारा दिया जाता है, इसी मात्रा में कुछ मास तक सप्ताह में दो बार दिया जाता है। Concentrated Liver Extract(१ सी.सी. = १०,१५ Unit) दो तीन दिन तक १ सी.सी. मात्रा में दिया जाता है फिर कुछ दिन तक इसी मात्रा में एक एक दिन छोड़ के दिया जाता और फिर एक एक सप्ताह बाद इसी मात्रा में दिया जाता है।

Spies ने पहले पहल Folic Acid को इस रोग के लिये उपयोगी बताया। Folic Acid भी उपर्युक्त दोनों औषधियों के समान एक ग्रहणी रोग शामक औषधि है। इसके १०,१५ मिलिग्राम दैनिक मात्रा में देने से रोग के लक्षण शीघ्र शांत होने लगते हैं। एक सप्ताह बाद इसकी मात्रा पहले १० फिर ५ और फिर ढाई मिलिग्राम दैनिक कर देनी चाहिये। पांडुता के लिये Fersolate २ गोली प्रति दिन २,३ बार दी जा सकती है। कैल्शियम की न्यूनता के लिये Cal. Lact; १५ दिन में ३ बार दिया जा सकता है। इस रोग में विटामिन बी कम्प्लेक्स की भी शरीर में न्यूनता होती है। अतः Thiamine १० मिलि. Riboflavin ५ मिलि. Nicotinamide ७० मिली. की मात्रा में दिन में ३ बार दे देने चाहिये।

वायुर्वेद में ग्रहणी रोग :-

प्रधानतः वातिक अजीर्ण या प्राण शक्ति की हीनता के कारण उत्पन्न अजीर्ण (Asthenic Dyspepsia) के परिणाम रूप में हुए ग्रहणी रोग को वातिक ग्रहणी कहा जाता है। इसमें अग्नि बल, शरीर बल, तथा मानसिक बल सभी मंद होते हैं तथा रोगी कृश होता है।

प्रधानतः श्लैष्मिक अजीर्ण (Hypochlorhydric या Mucous Dyspepsia) के उपद्रव रूप में उत्पन्न ग्रहणी रोग को श्लैष्मिक ग्रहणी रोग कहा जाता है। इसमें रोगी कृश नहीं होता पर

दुर्बल होता है। आमातिसार के वेग दोनों में ही होते हैं।

चरक ने कहा है कि अग्नि की दुर्बलता के परिणाम रूप में ग्रहणी अपक्व अन्न को जब आगे फेंकने लगती है तो इससे होने वाले अपक्व या आम अतिसार को ग्रहणी कहते हैं। ।। च।चि।१५। तथा सु० उ०। ४०।। श्लो. १५०-१६०

ग्रहणी रोग की चिकित्सा आयुर्वेद में अजीर्ण की तरह की जाती है अर्थात आम पाचक औषधियों द्वारा दस्तों को बंद किया जाता है। एक मास या १५ दिन के लिये रोगी को केवल तक्र या चिकनाई निकले गाढ़े मट्ठे पर रक्खा जाता है अथवा चिकनाई निकले तक्र को कपड़े में लटका कर उससे बने गाढ़े पनीर का सेवन उचित मात्रा में कराया जाता है। श्लेष्म प्रधान ग्रहणी रोग में तक्र के सेवन के साथ पाचक दीपन औषधियाँ जैसे लशुनाष्टक, हिंग्वाष्टक,लवंगादि चूर्ण,तालीसादि चूर्ण, पिप्पली चूर्ण आदि का तीन तीन माशा मात्रा में दिन में तीन बार सेवन कराया जाता है। शंख वटी,अग्नि वल्लभ रस,आदि दीपन पाचक गुण रस भी दो दो रत्ती मात्रा में इस रोग के लिये बड़े उपयोगी हैं।

वात प्रधान ग्रहणी रोग में लोह, गोमूत्र तथा ताम्र अभ्रक आदि के योग से बने पंचामृत लौह,मंडूर,पंचामृत पर्पटी,लौह पर्पटी,अग्नि वल्लभ आदि का दो दो रत्ती मात्रा में दिन में तीन बार प्रयोग किया जाता है। पर्पटी को शंख भस्म दो रत्ती तथा जीरा चार रत्ती के साथ मिला कर देना चाहिये। तक्र या गोदुग्ध के पथ्य के साथ इन औषधियों का एक डेढ़ मास प्रयोग करने से ग्रहणी रोग प्रायः अच्छा हो जाता है। आयुर्वेद में तक्र को इस रोग के लिये विशेष उपयोगी कहा है। च।चि।१५। सु।उ।४०।

अतिसार :- (Diarrhoea-Enteritis (Enteros-Intenstine)

भुक्तान्न जब आंत में से अति वेग के साथ "सरण" करने लगे जिससे खाया हुआ द्रव्य छः सात घंटों में ही मल के रूप में बाहिर निकलने लग जाय तो इसे "अतिसार" कहते हैं।

१.. श्लैष्मिक अतिसार,आम अतिसार, Dyspeptic or Dietetic Diarrhoea:-

ग्रीष्म ऋतु में आमाशय में रस हिक की मात्रा स्वभावतः कम होती है। उस समय यदि अधिक मात्रा में दुष्पच आहार किया जाय और वह अपच ही आन्त्र में पहुंच जाय तो वह उसकी श्लेष्मल कला भोजन में लिया स्निग्ध तत्व तथा कार्बोहाइड्रेट अपच अवस्था में आन्त्र के लिये विशेष विक्षोभक होते हैं। अर्थात उनके Fatty Acids तथा ग्लूकोज किण्वित होकर श्लेष्म कला पर ऐसा दुष्प्रभाव करते हैं कि वह सूज जाती है। उसकी पाचक ग्रन्थियाँ की मात्रा बढ़

जाती है। इसके बढ़ जाने से भुक्तान्न शीघ्र शीघ्र आगे सरक जाता है।

यह अजीर्ण जनित अतिसार बड़ों में भी होता है। पर दो वर्ष से छोटे गाय भैंस का दूध पीने वाले विशेषतः खांड मिला कर दूध पीने वाले बच्चों में तथा शीघ्र ही अन्नाहार प्रारंभ कर देने वाले बालकों में भी बहुत पाया जाता है। Fatty Acids के मल में अधिक होने से वह चिकना, मात्रा में बड़ा, खट्टी खट्टी बू वाला होता है। यकृत से आई पित्त (Bile) के शीघ्र शीघ्र बह जाने से उसमें स्वाभाविक परिवर्तन के न होने से ~~इसके~~ कारण मल में हरापन रहता है। कार्बोहाइड्रेट भोजन या खांड के अति किण्वन से गैस बहुत उत्पन्न होती है/ जिससे मल झागदार होता है तथा पेट में अफारा सा भी होता है। मल में एसिड्स के निकलने के कारण गुदा के आस पास की त्वचा भी रक्त वर्ण हो जाती है। बालक को दूध हजम नहीं तो मल में Casein की मोटी २ फुटकियां निकलती हैं। इस अजीर्णातिसार में मल अधिक पतला नहीं होता, ना ही विशेष ज्वर होता है।

<u>तीव्र अतिसार, ज्वरातिसार</u> । (Infective Diarrhoea, Summer-Diarrhoea, Febrile Diarrhoea)

ग्रीष्म ऋतु में २ वर्ष से नीचे के, गाय भैंस का दूध पीने वाले बालकों में, बिगड़े हुए दूध के द्वारा किसी जीवाणु के अथवा किसी विशेष के ~~छोटी~~ आंत में जाकर रोपण कर जाने से क्षुद्रांत्र की श्लेष्म कला ~~सूज~~ सूज जाती है। Lymph Follicles भी सूज जाते हैं। श्लेष्म कला तथा उससे नीचे की Submucous Coat में Round Cells भर जाते हैं। ~~छोटी~~ आंत की श्लेष्म कला से न केवल श्लेष्म स्त्राव ही अधिक मात्रा में होता है परन्तु जीवाणु विष का रक्त में संचार भी विशेष होता है। Portal Vein द्वारा इस जीवाणु विष के यकृत में जाने से उसमें Fatty अथवा Parenchymatous Degeneration भी थोड़ा बहुत हो जाता है। रक्त द्वारा शरीर में इस विष का संचार कर जाने से यह रोग केवल अतिसार ही नहीं रहता पर इसमें ज्वर भी अधिक हो जाता तथा इस विष का जो २२ फुट लंबी आंतों में से प्रसार कर रहा है नाड़ी मंडल ~~पर~~ पर (N.System) पर ऐसा विषैला प्रभाव होता है जिससे शिशु अति शिथिल (Prostrated) हो जाता है। इसका हृदय तथा नाड़ी पर भी इस विष का निर्बलता जनक प्रभाव होता है। इस जीवाणु जनित अतिसार में वमन के साथ अतिसार आरंभ होते हैं। और शीघ्र ही पतले हो जाते हैं। अजीर्ण जनित अतिसार इतने पतले कभी नहीं होते तथा वे तो दूध के के बंद कर देने पर बंद हो जाते हैं। ये अतिसार दूध के बंद कर देने पर भी

जारी रहते हैं। तापमान भी जो कृमिज जनित अतिसार में नार्मल होता या बहुत हलका सा ही होता है। इसमें १०२, १०३ डिग्री तक पहुंच जाता है। दिन भर में ५,६ पतले अतिसार हो जाने से बालक में जल का भाग कम (Dehydration) हो जाता है। यदि बालक की आंखें कुछ कुछ अंदर धंस जायें, उसकी त्वचा में रुक्षता हो अर्थात चुटकी भरने से वह वैसी ही झुर्रीदार बनी रहे, उसकी जिव्हा शुष्क हो, पिपासा बहुत हो, पेट पटका हुआ तथा उसकी त्वचा कुछ ढीली सी दीखे, नाड़ी गति तीव्र हो, हृदय के शब्द मृदु (Soft) हों, ब्रह्म रंध्र (Fontenelle) में गढ़ा पड़ जाय, मूत्र की मात्रा घटी हुई हो तो Dehydration के होने का निश्चय कर लेना चाहिये।

पतले दस्तों के द्वारा शरीर के बहुत से द्रव के निकल जाने से वृक्क फेल होने लगते हैं। वे मूत्र कम बनाते हैं जिससे मूत्र द्वारा शरीर के एसिडस की जो निकासी होती रहती है वह घट जाती है। रक्त के Sodium Bi-Carbonate के Sodium को पकड़ लेते हैं जिससे रक्त में Base घट जाता तथा Acids की मात्रा बढ़ जाती है अर्थात अम्लवृद्धि/Acidosis का रोग हो जाता है। ऐसी अवस्था में बालक गहरे गहरे परन्तु तीव्र गति से श्वास लेने लगता है। जिसे श्वासक्षुधा/Air Hunger कहा जाता है।

यह रोग दो तीन दिन में अच्छा ना हो तो शिशु के लिये घातक हो जाता है। इसकी मृत्यु अंदर आये हुये जीवाणु या Virus के शरीर में संचार कर जाने (Toxaemia) से होती है। तापमान बढ़ता जाय बालक की होश कम होती जाय, नाड़ी गति तीव्रतर निर्बल होती जाय जिसका गिनना कठिन हो जाय, रक्त संचार की निर्बलता से हाथ पांव ठंडे होने लगें तो जीवाणु विष संचार (Toxaemia) का संदेह कर लेना चाहिये।

बड़े व्यक्तियों में बिगड़े हुये बासी भोजन के द्वारा किसी जीवाणु के आंत में संक्रमण कर जाने से भी नाभि प्रदेश पर दर्द होकर पतले दुर्गन्धित अतिसार होने लगते हैं। तापमान भी १०१ के लगभग हो जाता है। विष संचार तथा अनेक अतिसार हो जाने के कारण रोगी शिथिल हो जाता तथा उसके हाथ पांव ठंडे हो जाते हैं।

उपद्रव रूप अतिसार Parenteral Infective Diarrhoea—विषम ज्वर (Malaria) तथा Septicaemia के उपद्रव रूप में भी अतिसार रोग होता है।

वातातिसार :- (Nervous Diarrhoea):

आन्त्र की श्लेष्म कला में किसी प्रकार के शोथ के बिना ही उसके नाड़ी मंडल Neuromusculer Mechanism के विक्षोभ के कारण ही मुक्तान्न आगे की ओर शीघ्र सरण कर जाये जैसे कि किसी व्यक्ति में भोजन पान करने के बाद अर्थात् आमाशय में भोजन या जल आदि के पहुंचने के साथ ही बृहदन्त्र में अन्न प्रेरक चेष्टा होकर मल त्याग का वेग ही जाया करता है अर्थात् Gastrocolic Reflex असाधारण रूप से तीव्र होता है। इसे वाताभिसार कहते हैं। इसी प्रकार कभी कभी मन के व्याकुल होने पर या किसी भय की आशंका होने पर मल मूत्र शीघ्र शीघ्र आने लग जाते हैं तब भी मन के आंत की नाड़ियां विक्षोभ हो उठती है। इस प्रकार के अतिसार में मल बहुत पतला नहीं होता। कुछ कुछ बंधा हुआ मल ही शीघ्र शीघ्र करके दो तीन बार आ जाता है।

अतिसार की चिकित्सा :-

अजीर्ण जनित अतिसार Dyspeptic Diarrhoea की चिकित्सा :-

बालक को लगभग १२,२४ घंटे के लिये निराहार तथा जल के आधार पर रक्खा जाय। अर्थात् केवल पकाकर ठंडा किया जल ढाई औंस प्रति पौंड भार के पीछे और ५,१० औंस जल दस्तों द्वारा बाहिर निकले जल के बदले में दिया जाय तो दस्त अच्छे होने लग जाते हैं। साधारण जल के स्थान पर आधी ताकत का नार्मल सेलाइन भी दिया जा सकता है। इस प्रकार एक वर्ष की आयु के बालक को जिसका भार लगभग २० पौंड होता है डेढ सेर के लगभग जल दिन भर में दे देना चाहिये।

आन्त्र के शोधन के लिये छः मास के बालक को आधा ड्राम एरंड तैल Soda Sulph: २,५ ग्रेन किसी अर्क में डालकर अथवा Calomel १ बटा १० ग्रेन Lactose में मिलाकर या Milk of Magnesia १,१ ड्राम एक एक घंटे बाद दो तीन बार दे देना चाहिये। आन्त्र के शुद्ध हो जाने पर दस्त स्वयमेव शांत हो जाते हैं।

१२,२४ घंटे के इस उपवास के बाद पहले दूध का पानी दें फिर फिकनाई तथा मीठे से रहित दूध स्वल्प मात्रा में देवें।

इस प्रकार पथ्य करने पर भी दस्त शांत न हों तो Bismuth Subcarbonate ५ ग्रेन की मात्रा में या Bismuth Carb: २ ग्रेन Tincture Catechue ३ ग्रेन Glycerin ५ बूंद १० बूंद, जल ६० बूंद मिला के ऐसी मात्रा तीन तीन घंटे बाद दे सकते हैं।

बड़े व्यक्ति में अजीर्ण जनित अतिसार हो तो एक दिन के उपवास

के साथ Caster Oil ४ ड्राम, Mucilage Ocacia ४ ड्राम, Syrup: Zingiberis २ ड्राम, Aqua menthae Pip: ३ ~~बटा~~ ४ औंस मिला के इसी को एक एक घंटे के अंतर से चार बार देवें या १ ड्राम Mag:Sulph: १ औंस जल के साथ एक एक घंटे बाद तीन चार बार देवें।

तीव्र अतिसार Infective Diarrhoea की चिकित्सा :-

तीव्र वमन और अतिसार की अवस्था में शिशु का दूध बंद करके उसे केवल इलाज का ठंडे किये जल या निम्नलिखित किसी द्रव्य (Solution) पर रखना चाहिये जिससे (Dehydration) तथा Acidosis के लक्षण शांत हों। यह द्रव वमन के कारण मुख से न दिये जा सकते हों तो त्वचा द्वारा या शिरा द्वारा देने चाहिये। प्रधान द्रव जो दिये जाते हैं वे हैं।

१.. Isotonic Sodium Chloride Solution जो लवण का .८५ प्रतिशतक घोल है अर्थात जो एक लिटर जल में ८. ५ ग्राम लवण डालकर बनाया जाता है। इसके देने से शरीर में जल Sodium Base तथा Chloride की कमी पूरी होती है। शिशु को यह द्रव आधी ताकत का करके उसके प्रति पौंड भार के पीछे ३ औंस की दैनिक मात्रा में पीने के लिये देना चाहिये।

२..Ringer's Solution (Isotonic Solution of Sodium Choloride) यह शरीर में हुई Sodium, Potassium, Calcium तथा जल सब की कमी को पूरी करता है। १ लिटर जल में Sodium Chloride ८. ६ ग्राम Potossium Chloride .३ ग्राम Calcium Chloride .३३ ग्राम मिला के तैयार किया जाता है। इसे भी आधी ताकत का करके उपर्युक्त मात्रा में मुख द्वारा दिया जाता है।

३.. छठा भाग या Sixth Molar Sodium Lactate Solution:- क्योंकि Sodium Lactate का Anion तो Oxidize होकर CO_2 बन जाता है। Sodium रक्त में रह जाता है। अतः अम्लवृद्धि Acidosis के लिये यह Solution उत्तम है। Concentrated Sodium Lactate की One molar Solution Solution आती है। जो १ लिटर जल में ११२ ग्राम Sodium Lactate के मिलाने से बनता है। यह बाजार में ५० सी॰सी॰ Ampoules में मिलता है। इससे १ ~~बटा~~ ६ अर्थात छठा भाग Sodium Lactate Solution बनाया जा सकता है। जिसमें १ लिटर जल में १८. ७ ग्राम Sodium Lactate होता है।

४.. दूध का पानी भी उपर्युक्त मात्रा में मुख द्वारा दिया जाता है। जब वमन की अधिकता के कारण मुख से द्रव न दिया जा सके तब त्वचा या शिरा

द्वारा बालक में उसके प्रति पौंड भार के पीछे ६० सी.सी
तथा वहाँ मे दैनिक ३,४ पाँइन्ट अथवा ३,या ४ ब्वार सी
एक द्रव दिये जाते हैं। इस प्रयोजन से निम्नलिखित द्रव वि

१.. Normal Saline २.. Ringer's Soluti
३.. Six Molar Sodium Lactate Solution,
Ringer's Lactate Solution (One Sixth
Sodium Lactate Solution --- ---
Ringer's Solution --- ४०० सी.सी)। ५.. 5
६.. Protein Hydrolysate, का Distled Water
ग्लूकोज के Solution में बना Solu-tion
की कमी हो तो शिरा द्वारा धीरे धीरे दिया जाता
बालक में शिरा द्वारा Solution न
तो Isotonic Saline अथवा आधी ताकत के
में २ प्रतिशत ग्लूकोज का Solution कारिरा अथ
से त्वचा में डाल देना चाहिये। द्रव के शीघ्र विलयन के लि
सी.सी के पीछे उसमें २५ Viscosity Units Hyaluroni
के मिला देने चाहिये। या १ सी.सी में मिलाकर उसी प्रदेश
चाहिये। मुख द्वारा,त्वचा द्वारा अथवा शिरा द्वारा
तब तक जारी रखना चाहिये जब तक अतिसार,वमन,तथा
के लक्षण रहें। दो दिन में जब रोगी की अवस्था ठीक होने
पानी या स्नेह रहित दूध या Half Cream Dried Mi
आधा औंस,दूसरे दिन एक औंस,तीसरे दिन डेढ औंस की
घंटे के अंतर से देना आरंभ करें। दूध के अतिरिक्त जल भी
चाहिये। तीन चार दिन बाद फिर चाँड भी तीन औंस
पर डालना आरंभ कर दें। यह भोजन अनुकूल हो जाय तो
दूध २,३ औंस की मात्रा में देना आरंभ क रें।

औषध चिकित्सा :- Sulpha succidine, Sulpha

प्रथम दिन २ गोली की मात्रा में प्रति ६ घंटे बाद
एक गोली प्रति चार घंटे बाद देने से बहुधा लाभ होता है
Sulphathiazole भी इसकी आधी मात्रा में इसी
है। Chloramphenicol-- .२५ की एक गोली
३,४ बार करके किसी शर्बत के साथ दिया जाय तो भी
इसी प्रकार Streptomycin के साथ इसे या Sul
को मिलाकर बनाई औषधियां जैसे Chlorostrep, Entero

cetin. आदि भी १ से ४ गोली की मात्रा में दिन में चार चार बार देने से तीव्र अतिसार के लिये शामक होती है Streptomycin की गोलियों का मौखिक प्रयोग भी तीव्र अतिसार में लाभदायक पाया गया है। हृदय की निर्बलता के लिये Coramine ३ बूंद मात्रा में या ब्रांडी १० बूंद मात्रा में दी जा सकती है। Parenteral Diarrhoea के लिये Penicillin तथा Streptomycin उपयोगी औषधियां हैं। विषम ज्वर के कारण हो तो किसी विषम ज्वर शामक औषधि का प्रयोग करना चाहिये।

Nervous Diarrhoea की चिकित्सा :-

आन्त्रगत नाड़ी मंडल (N.System) की निर्बलता एवं विक्षोभ शीलता के कारण दिन में ३,४ बार वेग होते हों तो विक्षोभक गुरु आहारों जैसे गर्म चाय, काफी, मसाले, कच्ची सब्जियों का परित्याग करके दूध, खीर, घृत, मक्खन, रोटी आदि सुपाच्य पौष्टिक भोजनों का सेवन करना चाहिये। Nuxvomica के Tincture ५ बूंद Liquor-Asenicalis २ बूंद को आधा औंस जल में मिलाकर भोजन के बाद लेना चाहिये। इस प्रकार की पौष्टिक औषधियों से नाड़ियों की निर्बलता को दूर करना चाहिये।

भोजन करते ही मल त्याग होने की प्रवृत्ति को रोकने के लिये भोजन से पहले Tincture Belladonna १० बूंद, Sodium Bromide ५ ग्रेन, Spirit Chloroform ५ बूंद, Aqua आधा औंस मिलाकर ऐसी एक मात्रा दिन में दो बार ले लेनी चाहिये। अथवा Belladonna Extract १/4 ग्रेन या उसके स्थान पर Atropine Sulphate १/300 ग्रेन और Phenobarbital १/4 ग्रेन मिलाकर बनाई गोली दिन में २,३ बार ले लेनी चाहिये। अथवा भोजन से पहले केवल Phenobarbital १/2 ग्रेन की मात्रा लेने से भी मल त्याग का वेग नहीं होता। अथवा Codein १/4 ग्रेन भोजन के बाद लेने से भी मल त्याग का वेग बंद हो जाता है। धीरे धीरे इन औषधियों की मात्रा कम करते हुये फिर इनका सेवन बंद कर देने पर भी रोग प्रकट नहीं होता।

आयुर्वेद में अतिसार :-

डुडांत्र में विक्षोभक गुरु आहार द्रव्य के पहुंचने पर वहां अग्नि शांत हो जाती है। स्राव बढ़ जाता है। आहार के विक्षोभक होने से वायु भी प्रकुपित हो जाता है। आंत का विक्षुब्ध हुआ यह

वायु जब मल युक्त बढ़े हुये इस स्रोतस्र स्नाव को नीचे की ओर फेंकने लगता है तो उसे अतिसार कहते हैं।   ।। सु० उ० । ४० ।।

<u>श्लैष्मिक अतिसार :-</u>

अति मात्रा में गुरु, शीत, स्निग्ध युक्त भोजन के सेवन से अग्नि के मंद हो जाने के कारण उत्पन्न हुए (Dyspeptic Diarrhoea) अतिसार को श्लैष्मिक अतिसार कहते हैं। इसमें मल चिकना, गाढ़ा, पानी में डूबने वाला, श्वेत वर्ण, श्लेष्म द्रव युक्त, दुर्गन्धित होता है। रोगी में क्षुधा नाश, अरुचि, वमन, तन्द्रा, आलस्य, मंदता आदि मंदाग्नि सूचक लक्षण होते हैं।

।। सु० । उ० । ४० ।।

<u>पित्तातिसार :-</u> (Toxic Diarrhoea)

किसी उष्ण तीक्ष्ण गुण विष द्रव्य के क्षुद्रान्त्र में पहुंचने पर उसकी श्लेष्मकला में तीव्र पैत्तिक शोथ होकर जो हरे पीले रंग के दुर्गन्ध युक्त पतले दस्त होने लगते हैं जिस अवस्था में रोगी में ज्वर, संताप, पिपासा, मूर्छा, पाक आदि पित्त प्रकोप सूचक लक्षण होते हैं उसे पित्तातिसार कहते हैं।

।। सु० । उ० । ४० ।।

<u>वातातिसार :-</u>(Nervous Diarrhoea)

आंत्रगत वायु के विक्षोभ से या मानस विक्षोभ से जो अतिसार होता है उसे वातातिसार कहते हैं।   ।। च० । चि० । १९ ।।

<u>श्लैष्मिक अतिसार की चिकित्सा :-</u>

श्लेष्मातिसार में लंघन, पाचन अथवा लंघन शोधन चिकित्सा की जाती है। शोधन ~~xxx~~ पाचन के लिये हरीतकी ४,६ मासे के साथ सौंफ और सुंठी चूर्ण दो दो मासे तथा कुछ लवण मिला के देते हैं। पंचसकार, लवणभास्कर आदि में से किसी का ४,६ मासे की मात्रा में प्रयोग कर सकते हैं। छोटे बालक के लिये स नाय, सौंफ, गुलाब, अमलतास का गूदा इनके क्वाथ को दो तोला की मात्रा में ~~xxxxxxxxxxxxxxxx~~ पकाकर खांड या गुड़ डालकर दे सकते हैं।

श्लेष्मातिसार में रेचन न देना हो तो राम बाण रस, संजीवनी वटी दो दो रत्ती लवंग चतुः सम, लशुनाष्टक, हिंग्वष्टक दो दो मासा इनमें से किसी औषधि का प्रयोग पाचन दीपन प्रयोजन से किया जाता है। च० । चि० । १९ । १०६

<u>पित्तातिसार चिकित्सा :-</u>

ज्वरयुक्त पित्तातिसार में लंघन तथा मृदु शोधन ही करना चाहिये अथवा बिना शोधन के ही आनन्द भैरव रस, लोकनाथ रस या सिद्ध प्राणेश्वर रस को उशीर, मोथा, नेत्र बाला, धनिया, चन्दन, इनके बनाये जल के अनुपान से अथवा नागरादि क्वाथ (सौंठ, अतिविषा, मोथा, चिरायता, गिलोय, कुटज) के अनुपान से दिन में तीन बार देना चाहिये। अति तीव्र अतिसार में पारद

गैरिक आदि विष नाशक द्रव्यों के साथ नीलोफर, उत्पल, नेत्र बाला, खस बिल्व, कतीरा, लोध्र, जवासा, चन्दन, लोध्र, जाल की पुष्प, इन्द्र जौं, आदि में से किसी दो तीन पित्त शामक संग्राही औषधियों के क्वाथ का प्रयोग किया जाता है।

चरक ने जौ या चावल के मांड के साथ वन्य औषधियों जैसे बला, चारों पर्णी, दो कंटकारी, गोखरू, शतावरी के क्वाथ के दिन में तीन बार पिलाने का विधान किया है। बालकों को दिन भर दूध का पानी, चावलों का मांड या जौ का पानी पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये तथा इन वन्य औषधियों तथा शीत, संग्राही औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

सु।80/50-58/ चौ.चि।19-6/48-50)

वातातिसार चिकित्सा :-

रोगी की वात शामक चिकित्सा करनी चाहिये अर्थात रोगी को घृत, दुग्ध, रोटी आदि स्निग्ध मृदु आहार, निद्रा, मृदु व्यायाम, अभ्यंग आदि के द्वारा बलवान बनाना चाहिये। तथा उसे भय शोक आदि की आदत को छोड़कर प्रसन्न चित्त रहने का यत्न करना चाहिये। लशुनाष्टक, हिंग्वाष्टक आदि के घृत के साथ भोजन से पहले चाटने से आंत की विक्षोभ शीलता घटती है। ॥ च। चि। १६॥

बृहदंत्र का रचना विज्ञान तथा क्रिया विज्ञान :-

रचना :-

Ileum के निचले छिद्र (Ileocolic Valve) से गुदा तक की भोजन नाली को बृहदंत्र (Colon) कहते हैं। इसके प्रथम ढाई इंच लंबे तथा २ इंच चौड़े भाग को Caecum कहते हैं। यह Illiac-Fossa में Inguinal Ligament के बाहर के आधे भाग के ऊपर स्थित है। इसके ऊपर के भाग में ही पीछे की ओर Ileum का निम्न द्वार खुलता है। इस छिद्र के कुछ नीचे ही आंत्र पुच्छ Vermiform Appendix का छिद्र रहता है। यह आंत्र पुच्छ ३,४ इंच लंबा होता तथा बहुधा Caecum के पीछे की ओर रहता है। आंत के समान इसकी दीवार भी चार स्तरों से बनी हुई है। Anterior Superior Spine से नाभि तक सीधी रेखा के तीन भाग किये जायें तो मध्यम और बाहिर के भागों की xxxxxxx संधि पर इस (Appendix) का Base होता है। (Mc Burney(s-Point) इस Ceacum से आगे ऊपर चढ़ने बृहदंत्र को Ascending Colon कहते हैं/ जो ८ इंच लंबा होता है। यह Right Lumber Region में रहता है। इसके आगे बृहदंत्र को Transverse Colon या लेटा हुआ भाग कहते हैं जो [illegible] लंबा होता है तथा नाभि प्रदेश (Umbilical Region)

में रहता है। इसके अगले Left Hypochondriac तथा Left Lumber Region में नीचे उतरने वाले भाग को Descending Colon कहते हैं जो १० इंच लंबा होता है। इससे अगले Pelvic में रहने वाले १६ इंच लंबे भाग को Pelvic Colon कहते हैं। अक्षर की तरह मुड़े हुये होने से इसे Sigmoid Colon भी कहते हैं। यह Hypogastric Region में रहता है। इससे निचले साढ़े ४ इंच के लगभग लंबे भाग को मलाशय (Rectum) और इससे निचले १ इंच भाग को गुदाग्रीवा (Anal Canal) कहते हैं। इस प्रकार वृहदंत्र लगभग ५ फुट (डेढ़ मीटर) लंबा होता है।

रक्त वाहिनियां :-

वृहदंत्र को रक्त Superior तथा Inferior Mesenteric-Arteries की शाखाओं से आता तथा इन्हीं नाम की Veins के द्वारा वापिस Portal Vein में और वहां से यकृत में जाता है।

मलाशय को रक्त एक ओर तो Inferior Mesenteric Artery के निचले सिरे से जिसे Superior Hoemorrhoidal Artery कहते हैं मिलता है। दूसरी ओर Aorta के निचले सिरे अर्थात Common Iliac Artery से निकली Internal Iliac Artery की मलाशय को जाने वाली Middle Haemorrhoidal Artery से भी रक्त मिलता है। इसी प्रकार मलाशय में से रक्त एक तो Superior Haemorrhaidal Vein द्वारा जिससे Inferior Mesenteric Vein आरंभ होती है वापिस Portal Vein में जाता है दूसरी ओर Middle Haemorrhoidal Vein. द्वारा Internal Iliac Vein में तथा Inferior Haemarrhaidal Veins के द्वारा Internal Pundendal-Vein में होता हुआ Internal Iliac Vein में ही चला जाता है। ~~गुदाग्रीवा~~ Anal Canal में शिराओं Veins का एक जाल Plexus होता है जिसमें चौड़े प्रदेश (Sacculations) होते हैं।

लसीका ग्रन्थियां :-

Ascending तथा Transverse Colon से आई हुई लसीका वाहिनियां Superior Mesenteric Lymph Glands में तथा Descending और Pelvic Colon की लसीका वाहिनियां Inferior Mesenteric Artery के उद्भव स्थान पर पड़ी Lymph Glands में समाप्त होती हैं। मलाशय के ऊपर के भाग की लसीका वाहिनियां भी इन्हीं में समाप्त होती हैं। निचले भाग की लसीका वाहिनियां Internal Iliac--

कहते हैं। इस रोग में रोगी के मल के साथ Shigella जाती (Genus) के जीवाणु बहुत बड़ी मात्रा में बाहिर जाते हैं। रोग के अच्छे हो जाने पर भी रोगी के मल में ये जीवाणु जिन्हें प्रवाहिका जीवाणु (Dysentery Bacilli) भी कहते हैं महीनों तक बाहिर आते रहते हैं। इनसे निकला हुआ यह जीवाणु दूसरों के भोजन में प्रवेश करके इन्हें भी यह रोग कर सकता है। इसलिये इन्हें प्रवाहिका वाहक (Dysentery Carrier) कहते हैं। गर्मी तथा वर्षा ऋतु में जहां वहां लोग बड़ी संख्या में इकट्ठे होते हैं जैसे मेलों में, तीर्थ यात्रा में तथा कैंपों में वहां वहां यह रोग इन्हीं वाहकों के मल के भोजन में ~~xxxxxxxx~~ संक्रमण कर जाने से फैलता है। यदि ऐसा "कैरियर" भोजन बनाने आदि का कार्य करता हो तो सीधा इसके द्वारा अथवा मक्खियों के द्वारा इस रोग का जीवाणु दूसरों के भोजन में प्रवेश करके इस रोग का कारण बन जाता है।

प्रवाहिका जीवाणु :-

प्रवाहिका कृमि Dysentery Bacilli अगति शील Non-Mo~~n~~tile, बिना कैप्सूल के (Non-Capsulated) Gram Negative पतले शलाकाकृति (Rod Shape) होते हैं। ये ग्लूकोज को किण्वित (Ferment) करके एसिड उत्पन्न करते हैं। गैस उत्पन्न नहीं करते। ये Lactose को Ferment नहीं करते। इनमें से एक तो ऐसे कृमि हैं जो Mannitol (एक Ferment न होने वाला Alcohol) को Ferment नहीं करते। जैसे Shiga Bacillus ।२। Schmitz Bacillus । दूसरे ऐसे कृमि हैं जो Mannitol को Ferment करते हैं। जैसे Flexner Bacillus, तथा ।२। Sonne Bacillus.

१.. Shiga Bacillus (Shigella Shigae, Bacterium Shigae, अथवा Shigella Dysenteriae) का पता १८९८ में Shiga ने लगाया। यह एक प्रबल प्रवाहिका जनक जीवाणु है तथा यह एक प्रबल Exotoxin को जो प्रोटीन किस्म का होता है उत्पन्न करता है जिसका दुष्प्रभाव केवल आंतों पर ही नहीं परन्तु Centeral Nervous System / धातोमंडल पर भी होता है। इसीलिये किसी किसी रोगी में इस रोग के अच्छे होने पर पक्षाघात या अंगाघात (Paralysis) का उपद्रव हो जाता है।

२.. दूसरा इस रोग का कृमि Schmitz Bacillus Shigella Schmitzii. है जिसका पता Schmitz ने १९१७ में लगाया। यह भी ग्लूकोज को Ferment करता है। यह कभी कभी इस रोग का कारण होता है।

३.. Mannitol को Ferment करने वाले प्रवाहिका जीवाणु (Shigellae) ग्लूकोज तथा Mannilol दोनों को Ferment करते तथा एसिड पैदा करते हैं (गैस नहीं) इनमें से Flexner Bacillus (Shigella Flexneri, Shigella Paralysenteriae) --- --- --- ---

का पता Flexner ने १६०० में लगाया। यह प्राय: मृदु प्रवाहिका का कारण होता है।

४.. Mannitol तथा ग्लूकोज को Ferment करने वाले जीवाणु समूह में एक Shigella Boydii या Boyd Bacillus है यह भी Mild Catarrhal Dysentery का कारण होता है।

५.. Sonne Bacillus या Shigella Sonnei भी ग्लूकोज, Mannitol, Maltose, Saccharose सबको Ferment करके एसिड पैदा करता है। गैस नहीं। यह भी मृदु प्रवाहिका के रूप में प्राय: पाया जाता है। Sonne ने १६१५ में इसका पता लगाया।

इन जीवाणुओं के सेल के अंदर रहने वाला एक Endotoxin होता है। जो इस रोग का प्रधान कारण प्रतीत होता है। बृहदंत्र में पहुंचने पर जब इन जीवाणुओं का पचन (Autolysis) होने लगता है तो इनके अंदर से निकले इस द्रव्य (जो एक Phospholipoid-Carbohydrate-Polypeptide का मिश्रण प्रतीत होता है) के दुष्प्रभाव से बृहदंत्र शोथ का लक्षण उत्पन्न होता है। शीत देशों तथा शीत ऋतु में भी ये जीवाणु दूसरों के अंदर भोजन द्वारा प्रवेश करते हैं। परन्तु गरम देश तथा ग्रीष्म ऋतु में ये विशेषत: रोग जनक हो जाते हैं। इसी प्रकार ऐसे व्यक्ति में जो पहले से ही थका हुआ, हारा हुआ एवं किसी रोग से निर्बल हुआ हो उसमें ये विशेषत: रोग जनक हो जाते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि यह जीवाणु तो इस रोग का व्यंजक कारण है। इस रोग का उत्पादक कारण आंत की प्राण शक्ति (Vitality) की हीनता तथा उसमें पहले से ही अजीर्ण जनित शोथ का होना है।

विकृति विज्ञान :-

इस जीवाणु के दुष्प्रभाव से बृहदंत्र की विशेषत: उसके Sigmoid Flex ure से गुदा तक के भाग की श्लेष्म कला में रक्त संचय (Hyperaemia) तथा 3 भार (Oedema) के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात बृहदंत्र शोथ (Colitis) हो जाता है। यदि शोथ प्रबल रूप में हो तो स्थान स्थान पर यह श्लेष्म कला मृत (Necrosed) हो जाती है। जिससे वहां वहां पूय छेद (Slough) के चकत्ते बन जाते हैं। फिर इन पूय छेदों के झड़कर पृथक हो जाने से वहां वहां व्रण बन जाते हैं जो बहुत उथले होते एवं Muscularis Mucosae के नीचे कभी नहीं जाते। इन व्रणों के नग्न पृष्ट पर निकला हुआ स्त्राव जमा रहता है अर्थात Fibrin और Polymorpponuclear Leucocytes छाये रहते हैं। इन व्रणों के तल प्रदेश में इस रोग के जीवाणु पर्याप्त मात्रा में पड़े हुये मिलते हैं।

लक्षण :-

प्रवाहिका रोग युवकों में विशेषत: होता है। जीवाणु के संक्रमण करने के

दो चार दिन के अंदर अंदर ही पेट में शूल (Griping) होकर दस्त होने लगते हैं। जो पहले गाढ़े फिर पतले हो जाते हैं तथा दिन में ४,५ बार या इससे अधिक बार आते हैं। शीघ्र ही शूल का लक्षण कम होता जाता था प्रवाहण (Tenesmus) या गुदा में बोझ पड़ कर मल त्याग होने लगता है। मल में केवल थोड़ी सी चमकीली श्वेत रंग की आंव निकलती है जो शीघ्र ही रक्त से मिश्रित हो जाती है। बृहदंत्र में उत्पन्न इस शोथ के कारण १००,१०२ डिग्री तक का ज्वर भी होता है। यह रोग मृदु रूप में हो तो ऐसे आंव के दस्त दिन रात में लगभग ८,१० बार आते हैं। रोग के इस मृदु रूप को Catarrhal Bacillary Dysentery कहते हैं। इसका कारण बहुधा Flexner, Schmitz तथा Sonne Bacilli होते हैं। दो चार दिन में जब यह रोग अच्छा होने लगता है तो दस्तों की संख्या घट जाती है। आंव में से रक्त लुप्त हो जाता है, आंव कम होती जाती है। पीले रंग का मल आने लगता है। आंत में हुए व्रणों का Granulation Tissue के द्वारा रोपण हो जाता है। वहां Epithelial सेल भी आ जाते हैं परन्तु आंत्र ग्रन्थियां (Glands) नहीं बनतीं।

जब यह रोग कुछ तीव्र रूप में होता है तब मल दिन रात में २०,३० या इससे भी अधिक बार आता है। मरोड़ के साथ निकलने वाली आंव में रक्त और पूय की मात्रा अधिक होती है। ज्वर भी कुछ अधिक होता है। विष संचार का लक्षण भी अधिक स्पष्ट होता है। इसे (Acute Bacillary Dysentary) कहते हैं तथा बहुधा यह Shiga Bacillus के कारण होता है।

साधारणतः तीव्र रोग भी ५,७ दिन से अधिक नहीं रहता।

परीक्षा :-

परीक्षा करने पर बांये कोष्ठ के निम्न भाग Left Iliac Fossa पर दबाने से स्पर्श क्षमता का लक्षण होता है। मूत्र की मात्रा कम होती है। आंव की परीक्षा करने से इसमें ६० प्रतिशत सेल Polymorphonuclear होते हैं। कुछ एक Macrophage सेल होते हैं।

चिकित्सा :-

प्रवाहिका जीवाणु के लिये उत्तम Antibiatic औषधियां Tetracylin Drugs हैं। उदाहरणतः Terramycin १ बटा ४ या आधा ग्राम की मात्रा में छः छः घंटे के बाद चार बार देने से लाभ हो जाता है। इसी प्रकार Chloramphenical की भी १ बटा ४ से आधा ग्राम की मात्रा छः छः घंटे के अंतर से चार पांच बार देने से रोग को शांत कर देती है। इसी प्रकार Sulphasuccidine, Sulphaguanidine, Phthalyl-Sulphathiazole.-

भी २ से ४ ग्राम की मात्रा में पहले चार चार घंटे के अंतर से और फिर रोग के कुछ ठीक होने पर एक दो ग्राम की मात्रा में चार चार घंटे पर देने से इस रोग के लिये बहुत लाभदायक होते हैं। इन्हें बराबर या दो गुना Sodabicarb में मिलाकर देना चाहिये। इन औषधियों से भी एक दो दिन में ही लाभ हो जाता है।

प्रथम २४ घंटे रोगी को केवल जल या ग्लूकोज मिश्रित जल पर ही रखना चाहिये। फिर दूध, चाय अथवा Barley water देना चाहिये। उसके बाद पहले अरारूट, साबूदाना, आदि जल में बनाकर और फिर दुग्ध में बनाकर देने चाहिये और फिर खालिस दूध या कार्नफ्लेक्ट के साथ दुग्ध देना चाहिये। फिर चावल और दूध, फल, रस। कस्टर्ड आदि दिये जा सकते हैं।

उदर शूल के लिये पेट पर गर्म बोतल द्वारा सेक देने से कुछ द्वारा Codein Phosphate -- १ बटा ४, आधा ग्रेन की मात्रा में देने से या Phenobarbitone--- १ बटा ४, आधा ग्रेन की मात्रा में देने से आराम आ जाता है।

दस्तों द्वारा जल की मात्रा शरीर से अधिक निकल जाती है। अत: रोगी को जल पर्याप्त मात्रा में पीना के लिये देते रहना चाहिये।

संक्रामक जीवी प्रवाहिका, या संक्रामक जीवी अतिसार।
(Amaebic Dysentery, Amaebiasis).

कारण :-

विषम ज्वर जीवाणु Malarial Parasite के समान ही एक और प्राणी जीवाणु Protozoon हमारे शरीर में रह सकता है। जिसे Entamaeba Histolytica कहते हैं। जैसे बहुत बार विषम ज्वर जीवाणु हमारे शरीर में रहता है पर हमें ज्वर नहीं होता। वैसे ही यह प्राणी जीवाणु बहुत से व्यक्तियों की बृहदंत्र में निरुपद्रव रूप में रहता हुआ पाया जाता है। इस रूप में यह जीवाणु आंत के अंदर Bacteria आदि मलों पर अपना निर्वाह करता है। परन्तु जब यह जीवाणु आंत की दीवार पर हमला करके उसके अंदर प्रविष्ट हो जाता है और वहां के सेलों, रक्तकणों और श्वेत कणों को खाकर अपनी वृद्धि करने लगता है तब यह चिर प्रवाहिका (Chronic Dysentery) का कारण बन जाता है। अर्थात् कईयों में निरुपद्रवरूप से ह रहने वाला यह जीवाणु दूसरों में उपद्रव कारी हो जाता है। बृहदंत्र में उत्पन्न हुआ कौन सा दोष इस जीवाणु को उपद्रव कारी कर देता है। इस विषय में अभी तक निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति के मल के द्वारा उसकी आंत के अंदर हुए व्रणों में वृद्धि करने वाले ये जीवाणु Amaebae या Trophozaites बहुत संख्या में बाहिर आते रहते हैं। बाहर आकर कुछ घंटे जीवित रहने के बाद ये मर जाते हैं। इसलिये ये रोग संक्रमण का कारण नहीं बनते। रोगी को इस रोग के आरंभ में जब पतले दस्त आते हैं तब ताजे दस्त से तैयार की स्लाइड पर माइक्रोस्कोप की सहायता से इसे देखा जा सकता है। इस प्रकार देखने में यह २०,३० माईक्रोन व्यास का, एक कण से तीन चार गुणा बड़ा, बराबर गति करता हुआ और अपना आकार बदलता हुआ एक कृमि दिखाई पड़ता है। एक सेल वाले इस जीवाणु का बाहर बाहर का भाग शीशे की तरह पारदर्शी होता है। जिसे Hyaline Ectoplasm कहते हैं। इसके अंदर के प्रोटोप्लाजमा को जो दानेदार दीखता है Grandular Endoplasm कहते हैं। इस जीवाणु में केन्द्र से हटा हुआ एक Nucleus होता है तथा इसके अंदर इसके द्वारा खाया हुआ कोई रक्त कण भी बहुधा देखा जा सकता है। पहले पहल Schaudiun ने १६०३ में इसका पता लगाया था।

जब यह रोग पुराना हो जाता है या जब इसके तीव्र लक्षण शांत हो जाते हैं अर्थात मल कुछ गाढ़ा आने लगता है तब उसमें यह जीवाणु एक थैली में बंद हुए (Enycsted) रूप में आने लगता है। संभवत: जब इस जीवाणु की वृद्धि विभजन (Mitosis) के द्वारा होनी बंद हो जाती है तब यह Cyst का रूप ले लेता है। Amaebea तो व्रणों में रहते हैं। परन्तु ये Cysts आंत की श्लेष्म कला पर रहते हैं। मल की स्लाइड बनाकर Gram Odine से रंगने पर यह Cyst. ७ से १५ माईक्रोन व्यास का गोलाकार एक से चार Nuclei वाला दृष्टिगत होता है। Entamaeba Coli से जो आंत में रहने वाला एक सर्वथा निरुपद्रव प्राणी जीवाणु है इसका भ्रम हो सकता है परन्तु उसमें Nuclei चार से अधिक ८ तक होते हैं। जिससे इसका तुलनता से भेद हो जाता है। क्योंकि इन Cysts पर एक कठोर गिलाफ चढ़ा होता है। ये मल द्वारा बाहिर निकल कर गीले स्थान पर ८,१० दिन तक भी जीवित रह सकते हैं। ये जीवित अंडे (Cysts) जल द्वारा या कच्ची खाई जाने वाली सब्जियों के द्वारा अथवा यदि इस रोग का रोगी भोजन देने का कार्य करता हो तो उसके हाथ के द्वारा दूसरों के पेट में चले जाते हैं। इस प्रकार मुख्य तौर से इस रोग से मुक्त हुए व्यक्तियों (Carriers) के द्वारा यह रोग दूसरों में संक्रमण करता है अर्थात यह प्रवाहिका परिवार में या होटल में एक व्यक्ति से दूसरे (Endemic रूप में) इक्के दुक्के लोगों में फैलने वाला रोग है।

<u>विकृति विज्ञान :-</u>

इन अंडों के आमाशय में पहुंचने पर Pancreatic Juice के द्वारा

इनके गिलाफ पचकर फट जाते हैं और इसमें से ४ Nuclei वाला Amaeba निकल कर स्वतंत्र हो जाता है। ये चार Nuclei फिर विभजन (Mitosis) के द्वारा ८ छोटे छोटे Amaebulae बन जाते हैं जो Lieberkuhn के Folicles या बृहदंत्र ग्रन्थियों के मुख द्वारा इनमें प्रविष्ट हो जाते हैं। वहां वहां पर इनके विभजन द्वारा वृद्धि कर जाने से इन की कोलोनियां बस जाती हैं। तथा इनके अंदर से निकले एक द्रव के द्वारा जिसे Toxin नहीं पर Proteolytic Enzyme कहते हैं, आंत्र ग्रन्थियां तथा इनके आसपास का स्नायुतंतु गल जाता है अर्थात इनके रहने के स्थान में Colliquative Necrosis हो जाता है। इस रोग में बृहदंत्र की श्लेष्म कला पर कोई विशेष विकार नहीं होता। परन्तु श्लेष्म कला के नीचे के Submucous Tissue में इन जीवाणुओं की जहां जहां बस्तियां बसती हैं वहां वहां विद्रधियां (Abscesses) बन जाती हैं जो पिन के नाके से लेकर एक इंच तक की होती हैं। इन विद्रधियों के मुख जो छोटे छोटे होते हैं श्लेष्म कला में खुलते हैं। इस प्रकार तंग मुख वाले तथा बड़े पेट वाले (Flask Shape) व्रण बृहदंत्र में हो जाते हैं। Caecum तथा Ascending Colon में जहां मल देर तक रुकता है वहां वहां ये जीवाणु आंत की दीवार में विशेषतः रोपण करते हैं। श्लेष्म कला पा| विषमाकृति व्रण दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः जो इन विद्रधियों के मुख होते हैं तथा इन व्रणों के बीच बीच की श्लेष्म कला नार्मल होती है अर्थात Bacillary प्रवाहिका के व्रण तो श्लेष्म कला के ऊपर ऊपर होते हैं गहरे नहीं होते/ इस पिर प्रवाहिका के व्रण श्लेष्म कला में गहरे होते हैं। इनके तल आंत की मांस मय स्तर या बाहर की स्तर (Perit ioneum) से बने होते हैं। इन व्रणों के गहरे होने के कारण रक्तवाहिनियों में से रक्त स्राव होता रहता है जिससे काले रंग का रक्त मल में मिला हुआ बाहिर आता है। व्रणों में से निकला पूय भी मल के साथ बाहिर निकलता है। कभी कभी Submucous Tissue में स्थित आस हुई शिरा के द्वारा अमीबी Portal Vein में पहुंच जाते, तथा वहां से यकृत में पहुंच कर उसके सैलों में अपनी बस्तियां बसा लेते हैं। जिससे इसमें Colliquative-Necrosis की प्रक्रिया होने लगती है। इसे यकृति द्रधि वृद्धि Liver-Abseess कहा जाता है।

<u>लक्षण :-</u>

गरम देशों में, युवकों तथा मध्यमायु के व्यक्तियों में, अज्ञात रूप से बहुत धीरे धीरे आरंभ होने वाला तथा एक साथ बहुत सों में न होकर कहीं कहीं इक्के दुक्के व्यक्ति को होने वाला यह प्रवाहिका रोग है। Entamaeba

Histolytica आंत को खाने वाले अमीबा के आंत में प्रवेश करने के आठ मास से लेकर दो मास के लगभग समय तक इस रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

इस रोग का प्रधान लक्षण अतिसार अर्थात २४ घंटे में तीन चार से लेकर आठ दस दस्तों तक आ जाना है। साधारणतः रोगी का दस्त मात्रा में बहुत, शीघ्र आने तथा ढीला सा होता है जिसमें आंव मिली हुई होती है अथवा खून और आंव दोनों दस्त के साथ मिश्रित रूप में आते हैं। खून के दूर से आने के कारण वह काला होता तथा मल के साथ अच्छी तरह मिश्रित हुआ होता है। रक्त के कारण दस्त में बू भी रहती है। जब कभी कुछ भोजन संबंधी अपथ्य हो जाता है दस्त और भी ढीला हो जाता है। कुछ एक रोगियों में तो मल बंध की शिकायत विशेष रहती है।

दस्त की शिकायत के अतिरिक्त इस रोग में अन्नाह चि,अफारा, तथा विशेषतः पेट में दर्द या बेचैनी सी रहने का लक्षण रहता है। कब्ज़ पुरानी हो जाने पर यह लक्षण और अधिक बढ़ जाता है। Caecum प्रदेश या यकृत प्रदेश पर स्पर्श क्षमता का लक्षण भी होता है। कभी कभी Sigmoid-colon. पर दबाने से भी दर्द होता है। इस रोग में पेट के इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ शरीर व्यापि लक्षण जैसे शारीरिक श्रम करने से शीघ्र थक जाने या मानसिक श्रम करने से सिर में चक्कर आ जाने या [illegible] मन में चिड़चिड़ापन / क्षोभ शीलता के बढ़ जाने के लक्षण भी रहते हैं। कई बार इस रोग के लक्षण इतने अस्पष्ट होते हैं कि इसका निश्चय करना कठिन होता है।

<u>परीक्षा :-</u>

रोगी के मल की प्रतिक्रिया अम्लीय होती है। इसमें Pus Cells होते हैं। Cysts भी होते हैं। देखने में रक्त का मिश्रण होने से दस्त भूरे रंग का चटनी की तरह का तथा कुछ दुर्गन्ध युक्त होता है। मल में निकली रक्त मिश्रित आंव की परीक्षा करने से उसमें Amaebae देखे जा सकते हैं। रक्त की परीक्षा करने पर उसमें १० हजार के लगभग Leucocytosis भी मिलता है। बेरियम की बस्ति देकर X-Ray परीक्षा करने पर Caecum अथवा Colon शोथ अथवा स्तंभ(Spasm) के कारण विषम आकृति के अथवा संकुचित (Stenosed) दिखाई पड़ते हैं। बृहदंत्र के निचले भाग में पाये जाने वाला Haustration या Sacculation लुप्त हुआ दीखता है।

<u>चिकित्सा :-</u>

Chronic Amaebic Dysentary की चिकित्सा :-

संक्रामक चिर प्रवाहिका रोग के रूप में एवं चिर स्थायी रूप में अधिक पाया जाता है। इसके लिये अमीबा नाशक (Amaebicide) औषधियों को (Antibiotic) औषधियों के साथ साथ देने से विशेष लाभ होता हुआ देखा जाता है। उदाहरणत: पहले Oxytetracycline (Terramycin) अथवा Chlortetracycline (Aureomycin) इनमें से किसी को .२५ से .५ ग्राम की मात्रा में ६,६ घंटे बाद ५ से ७ दिन तक दिया जाता है। अथवा Penicillin ५ लाख Units की मात्रा में मांस द्वारा दिन में दो बार सात दिन तक दी जाती है अथवा Sulphadiamidine (Sulphamezathine) १,१ ग्राम की मात्रा को दिन में दो बार ७ दिन तक दिया जाता है। इन (Antibiotic) औषधियों से अमीबी तथा अंडे दोनों ३, ४ दिन में लुप्त हो जाते हैं। इन कोर्स के समाप्त होने पर किसी Antiamaebic औषधि का कोर्स आरंभ किया जाता है। उदाहरणत: Chloro-iodo-hydroxy quinoline(Vioform-Entervioform Entero Quinol) आदि का जिसमें ४० प्रति शतक के लगभग (Iodine) होता है या Diiodohydroxyquinoline (Diodoquin Davoquin,Nivembin,Embequin) आदि का जिसमें ६० प्र०श० के लगभग Iodine होता है।.२५ ग्राम (३ $\frac{3}{4}$ ग्रेन) की गोलियों का दिन में तीन बार १४ दिन तक प्रयोग किया जाता है। आंत में ये औषधियां पहुंच कर न तो घुलती हैं,ना ही विलीन होती हैं। अत: इनका स्थानिक प्रभाव आंत के Amaebae पर विशेष होता है। यदि इस रोग के साथ साथ यकृत में भी दर्द हो तो Chloroquin Phosphate ७५ मिलिग्राम Enterovioform १ ~~वा~~ ४ ग्राम Sulphamezathine १ ~~वा~~ २ ग्राम को मिला कर बनाई गोलियां दिन में ४ बार दस दिन देने से लाभ हो जाता है। Camoform (P.D.) की १ वा २ गोलियां दिन में तीन बार ५ दिन तक दी जाती है तथा इसे आंत में विद्यमान Amaebae और Cysts दोनों के लिये घातक पाया गया है। Fumagillin (Fumidil) एक नई Amaebicide औषधि है जो ७० मिलि ग्राम मात्रा में तीन बार ७ दिन तक देने से Amaebae को नष्ट कर देने वाली तथा उपर्युक्त औषधियों से ठीक न होने वाले रोगी को ठीक करने वाली कही जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त कोर्स को समाप्त करने के बाद एक दो सप्ताह के लिये औषधि प्रयोग बंद करके ३ दिन लगातार मल की परीक्षा करनी चाहिये। यदि परीक्षा पौजिटिव हो तो एक सप्ताह के बाद फिर औषधियों का उपर्युक्त कोर्स आरंभ कर देना चाहिये परन्तु यदि परिणाम नैगेटिव हो तो १ मास

ठहर कर फिर मल की परीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार एक एक मास बाद १२ बार मल की परीक्षा करने से परिणाम् नैगेटिव मिले तो रोगी को अच्छा हुआ घोषित कर देना चाहिये।

तीव्र रोग की चिकित्सा :-

तीव्र रुप में यह चिर प्रवाहिका का रोग हो अर्थात् दस्तों की संख्या अधिक हो या Acute Primary Attack हो तो Emetine Hydrochloride आधा ग्रेन को १ सी.सी जल में घुले घोल के प्रति दिन ६ दिन तक मांस द्वारा देने से लाभ हो जाता है। यह औषधि हृदय को निर्बल करती है। अतः इस चिकित्सा के दौरान में रोगी को बिस्तर पर पड़े रहना चाहिये। Emetine इस रोग के Trophozeties को नष्ट करती है Cysts पर इसका विशेष कोई प्रभाव नहीं होता। यदि Emetine न दिया जा सकता हो तो Camoform अथवा किसी उपयुक्त Antibiotic का प्रयोग किया जा सकता है।

इस रोग में रोगी की शारीरिक शक्ति को कम नहीं होने देना चाहिये तथा दूध दही आदि मृदु प्रोटीन भोजन विशेष देने चाहिये। सब्जी, फल, चटनी, आचार, मद्य, अधिक गर्म तथा अति शीत पेय तथा भारी भोजन सर्वथा नहीं देने चाहिये।

प्रवाहिका जनित यकृच्छोथ Hepatitis तथा प्रवाहिका जनित यकृद्विद्रधि :- (Liver Abscess)

जिन व्यक्तियों को चिर स्थायी रुप में यह चिर प्रवाहिका का रोग होता है उनमें से कुछ एक लगभग ५,६ प्रतिशत में आंत्र व्रणों में से Emboli के सिरा द्वारा यकृत में पहुंच जाने से यकृच्छोथ तथा यकृद्विद्रधि के रोग हो जाया करते हैं। चिर प्रवाहिका का रोगी मद्य मसाले आदि तीक्ष्ण उष्ण गुण आहार द्रव्यों का अति मात्रा में प्रयोग करे या आहार अधिक मात्रा में लेवे तो यकृत में रक्त संचय के हो जाने से इन रोगों के होने में सहायता मिलती है।

यकृच्छोथ :- Amaebic Hepatitis:-

जब वृहदंत्र में से Amaebae एक बड़ी मात्रा में यकृत में संचार कर जाते हैं तब उनके विपरीत वहां पर एक प्रबल प्रतिक्रिया होती है अर्थात यकृत में रक्त संचय प्रबल रुप में होता है जिससे जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यकृत में होने वाली प्रति क्रिया से तीव्र या चिरस्थायी यकृच्छोथ हो जाता है। इस अवस्था में रक्त के भर जाने से यकृत आकार में कुछ बड़ा हो जाता है। [illegible] छूने पर दबाने से दर्द होता है। थोड़ा बहुत

ज्वर भी होता है। या विष संचार के कारण क्षुधानाश,अशक्ति तथा पांडुता के लक्षण भी होते हैं। रक्त की परीक्षा करने से Leucocytosis का लक्षण भी मिलता है।

यकृद्विद्रधि :- (Liver.Abscess)

जब यकृत् में होने वाली प्रति क्रिया के द्वारा जीवाणु नष्ट न हो पायें,यकृत की प्राण शक्ति कुछ क्षीण हो एवं जीवाणु या अमीबा किसी एक स्थान पर रोक्थ करने लग जाय तो इनमें से उत्पन्न होने वाले Proteolytic-Enzyme के द्वारा इसके आस पास के यकृत् के सेलों में विनाशक प्रक्रिया (Cytolitic Activity) आरंभ हो जाती है। क्षुधा यकृत् के दक्षिण खंड के (Right Lobe) के ऊपर के भाग में आदि से एक इंच के लगभग व्यास का भूरे रंग का चकता बन जाता है जिसके सेल क्षीण अवस्था में होते हैं। अर्थात यह एक Necrotic Patch होता है। इस चकत्ते का केन्द्र भाग धीरे धीरे द्रव रूप में परिणत होने लगता है एवं यह विद्रधि धीरे धीरे आकार में बढ़ती जाती है। अंत में १,२ या इससे भी अधिक इंच व्यास की एक विद्रधि बन जाती है। जब इस विद्रधि का प्रसार यकृत् के पृष्ठ तक हो जाता है तब वह अपने समीपस्थ अंग के साथ चिपक जाता है। यकृत् में ऊपर के भाग में विद्रधि हो तो वह दक्षिण फुफ्फुस के साथ चिपक जाता है।

लक्षण :-

यकृद्विद्रधि होने पर वेदना का लक्षण होता है। अर्थात यकृत् प्रदेश पर भेदन या चुभने (खिंच) की सी वेदना होती है। यकृच्छोथ की अवस्था में यह वेदना मंद मंद बेचैनी (Dullaching) के रूप में होती है। कुछ एक व्यक्तियों (६ प्र०श० के लगभग) में वेदना कन्धे के आस पास अर्थात Acromion के प्रदेश के आसपास होती है। दक्षिण Diaphragam में से यह दर्द Phrenic Nerve के द्वारा Cervical Plexus के चौथे root में और वहां से निकलने वाले Supraclavicular तथा Suproacromial Nerves के द्वारा कंधे की त्वचा में प्रतिक्षिप्त (Reflex) होती है। वेदना के लक्षण के अतिरिक्त यकृत् पसलियों के नीचे (Sub-Costal Region) कुछ कुछ बढ़ा हुआ होता तथा दबाने से दुखता भी है।

वेदना और यकृद्वृद्धि के स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त सांयकालिक ज्वर के होने का लक्षण भी होता है। प्रातःकाल तापमान नार्मल होता पर सांयकाल १०१-१०२ डिग्री तक हो जाता है। ज्वर सर्दी लगकर चढ़ता है।

तथा रात को पसीना देकर उतरता है। अथवा ज्वर प्रातः काल नार्मल से कुछ ऊपर तथा सायंकाल १०२, १०३ डिग्री तक हो जाता है। इसे देख कर स्वभावतः विषम ज्वर का संदेह होता है। परन्तु इस रोग में Polymorphonuclear Leucocytosis होता है। जबकि इस रोग में Mononuclear Leucopenia पाया जाता है। वह क्वीनीन से उतर जाता है। यह नहीं उतरता। ज्वर के अतिरिक्त रोगी का रंग कुछ मटियाला सा हो जाता है। भार घटता जाता है। अन्न के लिये अरुचि रहती है। विद्रधि के कारण Common Bile Duct या Portal Fissure पर दबाव पड़ जाय तो हल्का हल्का कामला का लक्षण भी होता है अर्थात आंखों में कुछ पीलापन दीखता है।

परीक्षा :-

यकृत के दक्षिण खंड के ऊपर के भाग में विद्रधि हो तो यकृत ऊपर की तरफ बढ़ता है। इस अवस्था में यकृत की ऊपर की सीमा जो Mid Clavicular Line में छठी, Mid Axillary Line में ८ वीं, तथा Scapular Line में १० वीं पसली पर होती है। एक इंच के लगभग ऊपर की ओर बढ़ी हुई मिलती है अर्थात टकोरने से यकृत की मंद टकोर ऊपर बढ़ी हुई होती है, श्वास प्रश्वास ध्वनियां (Breathsound) भी मंद रूप में सुनते हैं। वाचिककंपन (Vocal Fremitus) भी घटी हुई होती है। दक्षिण फुफ्फुस का यह प्रदेश अर्थात (Base) श्वास प्रश्वास के साथ जितना हिलना चाहिये उतना नहीं हिलता, गहरा श्वास लेने से रोगी को दर्द होता है। अतः उसका श्वास भी उथला ही होता है। रोगी की स्थिति से भी इस रोग का पता चलता है। अर्थात रोगी दाहिने ही पार्श्व पर लेटना पसंद करता है। क्योंकि बांये पार्श्व पर लेटने से यकृत के इधर खिसकने पर दर्द प्रतीत होने लगता है। यकृत प्रदेश पर पसलियों के बीच में उभार सा भी कभी कभी दीखता है। यकृत के निम्न भाग में विद्रधि हो तो उभार नीचे की ओर को स्पर्श द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है। यकृत में विद्रधि कहीं भी हो, यकृत पर दबाने से दर्द होता है। X-Ray. द्वारा परीक्षा करने से दांये Diaphragm में गतिशीलता कम हुई दीखती है। वह स्थिर तथा कुछ ऊंचा उठा हुआ दीखता है। रक्त परीक्षा करने पर Leucocytosis श्वेतकणवृद्धि का लक्षण मिलता है।

इस रोग की उचित चिकित्सा न हो, विद्रधि फैलती जाय तो विष संचार के बढ़ने से रोगी अशक्त, हीन बल, कृश होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है अथवा विद्रधि अपने समीपस्थ किसी आशय में खुल जाती है। ऊपर दक्षिण फुफ्फुस में खुल जाय तो Pulmonary Abscess होकर रक्त युक्त पूय मुख से निकलने लगती है। जिसे देख कर Pulmonary टी॰बी॰ का संदेह हो जाता है। परन्तु यकृत की पूय चाकलेट के रंग की भूरी सी होती है। अतः इस रोग

का उर: दाह से भेद करना सुगम है। विद्रधि (Pleura) में फूट जाय तो Pleurisy with effsuion या Empyema का रोग हो जाता है। कभी कभी इस विद्रधि के आमाशय में फूटने से पूय वमन आंत में फूटने से मल में पूय आने के लक्षण हो सकते हैं। कोष्ठ की अगली दीवार के साथ इसके चिपक जाने से यह विद्रधि आमाशय प्रदेश (Epigastrium) में पूय बना सकती है।

चिकित्सा— यकृत् शोथ की अवस्था में या प्रारम्भिक यकृद्विद्रधि की अवस्था में चिकित्सा करने से यह रोग पूर्णतया ठीक हो सकता है।(Chloroquine Diphosphate Avlochlor Nivaquine) इस रोग की निश्चय पूर्व उत्तम औषधि है। पहले दिन तथा दूसरे दिन इसकी ४ गोलियों की एक एक मात्रा प्रतिदिन दी जाती है। १ गोली ·२५ ग्राम की होती है। फिर १५,२० दिन तक प्रतिदिन इसकी दो दो गोलियों की एक मात्रा प्रतिदिन दी जाती है। यह औषधि Amaebicide है तथा यकृत् आदि में फैल कर अपना यह प्रभाव करती है।

यकृच्छोथ तथा यकृद्विद्रधि के लिये दूसरी उपयोगी औषधि Emetine Hydrochloride है जो एक ग्रेन अर्थात ६० मिलि ग्राम की मात्रा में ६ दिन तक प्रति दिन मांस द्वारा दी जाती है। इस चिकित्सा के दौरान में रोगी को दो सप्ताह शय्या शायी होकर रहना चाहिये तथा दुग्ध,फल रस आदि द्रव भोजन पर रहना चाहिये। इस चिकित्सा के बाद रोगी को दो सप्ताह तक उपर्युक्त किसी अमीबानाशक औषधि जैसे Enterovioform या Embbequin का ३ $\frac{3}{4}$ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार सेवन करना चाहिये। Diodoquin तथा Chloroquin Phosphate की २५० तथा ७५ मिलि ग्राम की मात्रा में मिलाकर बनाई गोलियां भी दिन में तीन बार दी जाती हैं। ये Dysentery तथा Hepatitis दोनों को एक साथ लाभ पहुंचाती है। विद्रधि बड़ी हो, Emetine तथा Chloroquine Phosphate. की चिकित्सा से शांत न हो तो उसमें से Aspiration द्वारा पूय को निकालना चाहिये। पसलियों के बीच में जहां उभार प्रतीत होता हो या जहां स्पर्शासहता का लक्षण विशेष हो उस स्थान पर अथवा जहां विद्रधि का बाह्य लक्षण न हो तो Midoxillary Line में ८ वें या ९ वें Inter Space में पूय का पता (Exploration) करना चाहिये। १०,२० सी.सी सोल्यूशन के द्वारा इस प्रदेश में पहले यकृत् के बाहर के खोल तक Anaesthetic औषधि डाल देनी चाहिये और फिर एक चौड़ी नीडिल को तीन इंच गहराई तक प्रविष्ट करके पिस्टन को ऊपर खींचते हुए पूय का पता करना चाहिये। एक

स्थान पर पूय न मिले तो नीडल को त्वचा तक बाहर वापिस करके दूसरी दिशा में डाल कर देखना चाहिये। या Posterior Axillary Line में छिद्र का पता लेना चाहिये। छिद्र का पता लगने पर फिर और भी मोटी नीडल प्रविष्ट करके उसका संबंध Potain's Aspiration के साथ कर दिया जाता है और पूय को बाहिर खींच लिया जाता है। पूय की मात्रा कुछ औंस से लेकर कई पौंड तक हो सकती है। जितनी निकाली जा सके, निकाल देनी चाहिये। इसके बाद Vioform, Embequin आदि औषधियों का प्रयोग करना चाहिये ताकि आंत में से फिर Amaeba का संक्रमण न हो।

क्रोणातिसार: Ulcerative Colitis, Non-Specific Colitis:

संक्रामक प्रवाहिका से तथा वृद्धों में होने वाले चिर स्थायी वृक्क रोग (Chronic Nephritis) से जब कि रक्त में मूत्र विष (Urea) की वृद्धि हो जाती है बृहदंत्र की श्लेष्म कला में शोथ होकर (Colitis) रोग हो जाया करता है। परंतु इनसे सर्वथा भिन्न एक इस प्रकार का बृहदंत्र शोथ है जो किसी विशेष जीवाणु या शरीर में उत्पन्न हुए विष (Metabolite) के द्वारा नहीं होता प्रत्युत बृहदंत्र श्लेष्म कला की किसी अपनी निर्बलता या विक्षोभ शीलता (Devitalisation) के कारण होता है। इसलिये इसे Non-specific Idiopathic Colitis कहते हैं। इस रोग के बढ़ने पर बृहदंत्र श्लेष्म कला में उथले व्रण भी हो जाते हैं। इसलिये इसे Ulcerative Colitis भी कहते हैं।

कारण :-

बृहदंत्र के प्रारंभिक चढ़ते हुये तथा लेटे हुए आधे भाग में Parasympathetic नाड़ियां Vagus से और इसके शेष निम्न भाग में यही नाड़ियां Sacral Nerves से आती हैं तथा बृहदंत्र की मांस पेशियों में होने वाली गति को उत्तेजित करने का कार्य करती हैं। उन मनुष्यों में जो स्वभावत: विक्षोभ शील प्रकृति के होते हैं बृहदंत्र के निम्न भाग में जाने वाली ये नाड़ियां विशेषत: अधिक विक्षुब्ध रहती हैं जिससे उनका बृहदंत्र अधिक गति शील रहता है। विक्षोभ शील व्यक्तियों में उनका बृहदंत्र अधिक गतिशील ही नहीं पर उसमें से स्वभावत: स्वल्प मात्रा में उत्पन्न होने वाले एक पाचक रस Lysozyme की उत्पत्ति भी अधिक बढ़ जाती है। यह इतनी बढ़ जाती है कि उसके द्वारा श्लेष्म कला के ऊपर छाया श्लेष्म द्रव Mucus भी पच जाता Hydrolised हो जाता है। यह श्लेष्म द्रव वस्तुत: विक्षोभक द्रव्यों से श्लेष्म कला की रक्षा करता है। जब यह पच जाता है तो ऊपर से आये विक्षोभक गुण भोजन

या Trypsin आदि Enzymes अथवा बृहदंत्र में पाये जाने वाले जीवाणुओं का दुष्प्रभाव श्लेष्मकला पर सुगमता से हो जाता है। इस प्रकार मानसिक विक्षोभ शीलता को इस रोग का प्रधान कारण कहा जाता है। Portis ने पहले पहल इस रोग को इस प्रकार मानसिक कारण से उत्पन्न होने वाला बताया तथा बताया कि रोगी के मल में Lysozyme की मात्रा अधिक पाई जाती है।

इस रोग के रोगियों की अग्नि पहले से ही मंद या तीक्ष्ण होती है अर्थात ये Hyper या Hypochlorhydric प्रकृति के होते हैं। इसलिये यदि ये भारी भोजन अधिक मात्रा में करें या विक्षोभक भोजन विशेष लेवें तो वह भी बृहदंत्र की श्लेष्म कला में शोथ का कारण बन जाता है। जब यह रोग एक बार हो जाता है अर्थात बृहदंत्र शोथ उत्पन्न हो जाता है तब जीवाणु Diplobacillus या Streptococcus आदि इस रोग के सहायक कारण बन जाते हैं परन्तु उन्हें इस रोग का प्रधान कारण नहीं माना जाता।

विकृति :-

मलाशय (Rectum) तथा Pelvic Colon की श्लेष्म कला में पामारोग (Eczema) के समान लालिमा युक्त शोथ हो जाता है। श्लेष्म कला कुछ मोटी भी हो जाती है। इस शोथ युक्त प्रदेश में से मल का स्पर्श होने पर रक्त स्राव हो जाता है। इसीलिये इस रोग में मल के साथ लाल सा रक्त भी थोड़ा बहुत आता है। रोग के पुराने हो जाने पर इस शोथ युक्त प्रदेश की झिल्ली Epithelium स्थान स्थान पर मृत Necrosed होकर झड़ जाती है जिससे बृहदंत्र में छोटे छोटे उथले व्रण हो जाते हैं। व्रणों के बीच बीच की श्लेष्म कला सूजी हुई होती है। रोग के और पुराने हो जाने पर श्लेष्म कला के नीचे का अवयव (Submucous Tissue) कुछ मोटा एवं कठोर होने लगता है। अर्थात उसमें Fibrosis की प्रतिक्रिया होने लगती है। इससे आंत की दीवार कठोर हो जाती, आंत के बीच का मार्ग कुछ तंग हो जाता एवं आंत का आकार बदल जाता है। अर्थात उसके अंदर दीखने वाले Haustra लुप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में जब शोथ के बाद आंत दृढ़ होने लगती है उसकी लचक जाती रहती है। वह मल का शोषण नहीं कर सकती है तथा विक्षुब्ध होने के कारण उसे शीघ्र शीघ्र आगे फेंकने लगती है जिससे अतिसार रोग हो जाता है। बड़ी आंत की श्लेष्म कला में शोथ तथा व्रण भाव रहने से अतिसार के साथ आंव तथा लाल रंग का रक्त भी आता रहता है।

लक्षण :-

यह एक पुराना रोग है जो धीरे धीरे अज्ञात रूप में आरंभ होता

है। महीनों वर्षों तक रहता है। कभी कम हो जाता है, कभी बढ़ जाता है। अतिसार इस रोग का प्रधान लक्षण है जो अर्ध द्रव होता, मात्रा में बहुत नहीं होता तथा दिन में दो तीन या ५, १० तक वेग होते हैं। इन दस्तों में लाल रंग का पतला खून, आंव तथा पूय भी मिश्रित हुए हुए आते हैं। बहुधा रोगी इस खून को अर्श के कारण आया समझता है। इस रोग में दस्त पीले से रंग का होता है तथा विशेष मरोड़ और दर्द के साथ नहीं आता तथा बहुत दिनों तक जारी रहता है। इसलिये इसका Bacillary Dysentary से संदेह नहीं होता। रोग पुराना हो बृहदंत्र के बड़े भाग में फैल गया हो तो इसमें ज्वर भी न्यूनाधिक रहता है। इस प्रकार रक्तातिसार और ज्वर के अतिरिक्त पांडुता निर्बलता और भार के घट जाने के लक्षण भी होते हैं। अतिसारों के रहने पर भी इस रोग में पेट अफारा हुआ नहीं होता प्रत्युत कुछ पिचका हुआ होता है। इस रोग में यकृत भी बढ़ जाता एवं रुग्ण होता है तथा इसमें दर्द भी हो जाता है। आंत से आने वाली किसी Toxin से अथवा पोषण हीनता Malnutrition से यकृत रुग्ण होता प्रतीत होता है। पुराने रोग में Barium का Enema देने पर X-Ray द्वारा देखने पर शोथयुक्त तथा इसके Muscularis Muscosae के मृत (Paralysed) हो जाने के कारण आंत में पाये जाने वाले Haustra दिखाई नहीं पड़ते। आंत कुछ अधिक संकुचित हुई दीखती तथा व्रणों के गड्ढे Craters दिखाई पड़ते हैं।

<u>जीर्णातिसार की चिकित्सा :-</u>

इस रोग के कारणों का ठीक ठीक पता न होने से इसकी कोई प्रामाणिक चिकित्सा नहीं है। यदि रोगी की प्राण शक्ति को कायम रखा जाय एवं उसे बढ़ाया जाय तो रोग के लक्षण शांत होने लगते हैं। इसलिये रोगी की विश्राम चिकित्सा करनी चाहिये। शारीरिक विश्राम से भी मानसिक विश्राम देना अधिक सहायक होता है। इसके लिये Phenobarbitone आधा ग्रेन की मात्रा में प्रातः सांय दे सकते हैं।

रोगी की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिये उसे पौष्टिक आहार जो दूध, प्रोटीन तथा विटामिन प्रधान हो देना चाहिये। दिन में तीन चार या इससे अधिक बार अतिसार हो जाने से शरीर में से जल, सोडियम, पोटाशियम, कैल्शियम आदि अधिक मात्रा में निकलते रहते हैं। आंतों में से होने वाले स्राव के द्वारा दिन रात में ४०, ५० ग्राम के लगभग प्रोटीन भी निकल जाता है। इसलिये भोजन इतना और इस प्रकार का होना चाहिये जो इस कमी को पूरा करे। दूध या मट्ठा इस दृष्टि से इस रोग के लिये उत्तम आहार है। एक सेर दूध से लगभग ३३ ग्राम प्रोटीन तथा छः सौ कैलोरी

ऊष्मा भी शरीर को मिलती है। इसलिये दिन भर में यदि दो तीन सेर दुग्ध रोगी लेकर ले सके तो यह उसके लिये पूर्ण भोजन हो जाता है। दुग्ध, दही, के अतिरिक्त रोटी, उबला चावल, मछली, मूंग की दाल, परवल, लौकी, तोरी, टींडा, उबले हुये आलू, पिसे हुये मृदु शाक, आधा उबला अंडा, कीमा किया हुआ मांस, फलों के बिना गुठली के गूदे, फल रस आदि सभी रोगी को दिये जा सकते हैं।

यह भोजन प्रारंभ में इतना होना चाहिये कि उसमें रोगी को प्रोटीन ६० ग्राम, फैट इससे ०८ ड्योढ़ा अर्थात् १२० ग्राम तथा कार्बोहाइड्रेट प्रोटीन से दुगना अर्थात् १८० ग्राम प्रतिदिन मिल जाय। इन भोजन तत्वों के अतिरिक्त उसे Vitamin "A" ५३०० इंटर नेशनल यूनिट्स Thiamine १.५ मिलीग्राम Riboflavine २ मिलिग्राम Nicotinic Acid ६० मिलीग्राम तथा Vitamin "C" ७५ मिलीग्राम मिल जाय। यदि ये विटामिन भोजन से पूरे ना मिल सकेते हों तो Beplex (२ कैप्सूल प्रतिदिन) Marmite, Yeast आदि कृत्रिम विटामिन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। विटामिन "सी" के द्वारा व्रणों के रोकने में सहायता मिलती है।

रोगी की अवस्था के सुधरने पर आहार की मात्रा इतनी बढ़ा देनी चाहिये कि फिर उसे प्रोटीन १६० ग्राम, फैट २०० ग्राम, कार्बोहाइड्रेट, २८० ग्राम प्रतिदिन मिल जाय तथा विटामिन "ए" की मात्रा भी ८३०० यूनिट्स Thiamine २.५ मिलिग्राम, Riboflavine ४ मिलीग्राम, Nicotinric Acid २५ मिलीग्राम विटामिन "सी" १५० मिलीग्राम मिल जाय।

विटामिनों के अतिरिक्त रोगी को भोजन के द्वारा या औषध द्वारा १५.२० मिलिग्राम लोहा तथा ५०० मिलीग्राम Calcium भी प्रतिदिन मिलना चाहिये। इतनी मात्रा के आहार के मिलने पर रोगी की अवस्था सुधर जाती है। छिलकों या रेशे वाले रूक्ष भोजन, बीजों वाले सब्जी, फल, पत्तों के शाक, मरिच मसाले, खटाई आदि तीखे भोजन, तले हुये भोजन, मीठे वाले भोजन, गर्म चाय, काफी, मद्य, भुने मेवे, नाना मिठाइयां, तमाखू आदि रोगी को कभी नहीं देने चाहिये। रोगी को मंदाग्नि का रोग (Hypochlorhydria) हो तो भोजन के साथ Acid Hydrochloric Dilute 15-30 बूंद जल के साथ दे देना चाहिये। यदि रोगी तीक्ष्णाग्नि होता है तो Sippy का दुग्ध प्रधान भोजन देना चाहिये।

<u>औषध चिकित्सा :-</u>

Parasympathetic नाड़ियों के विक्षोभ को शांत करने के लिये Phenobarbitone आधा ग्रेन या Tincture Belladonna १०, १५ बूंद दिन में तीन बार या Atropine Sulphate १ बटा ७५ ग्रेन रात को

एक बार त्वचा द्वारा या Extract Belladonna १ या ८ ग्रेन Phenobabritone आधा ग्रेन की ७ गोली दिन में ३ बार देने से या Codeine आधा ग्रेन दिन में दो बार देने से अतिसार होना बंद हो जाता है। बड़ी आंत में Lysozyme की अधिक उत्पत्ति को रोकने के लिये Antilysozyme Drugs दिये गये हैं जिनसे लाभ होता है। रोग का तीव्र वेग बहुधा इनके प्रयोग से शांत हो जाता है। Cortisone दिन भर में ७० से ३०० मिलिग्राम तक की मात्रा में दिया जाय तो अतिसारों की संख्या कम हो जाती है। ज्वर शांत हो जाता है तथा भूख लगने लगती है।लगभग चार पांच सप्ताह तक इस औषधि का प्रयोग करने से रोगी को बहुत लाभ प्रतीत होता है। परन्तु कभी कभी यह लाभ स्थायी नहीं रहता। A C T H अर्थात् Corticotropin का २०,४० Units की मात्रा में दिन में एक बार शिरा द्वारा या मांस द्वारा भी प्रयोग किया जाता है। रोगी के लिये इसे भी लाभदायक पाया जाता है। इस रोग की तीव्रता वृहदंत्र में पाये जाने वाले जीवाणुओं के कारण होती है। इसलिये Antibiotic औषधियों के प्रयोग से रोग का वेग मंद पड़ जाता है। Streptomycin तथा Synthomycetin इस प्रयोजन के लिये अधिक उपयोगी पाये गये हैं।

Phathalyl Sulphathiazole १ ग्राम मात्रा में दिन में ४,६ बार दो सप्ताह तक या Procaine Pencillin के प्रातः सांय दो बार ५ दिन देने से भी लाभ हो सकता है। तीव्र रोग की अवस्था में बस्ति चिकित्सा से अर्थात् २ औंस जल में ६० ग्रेन स्टार्च तथा ३० बूंद Tincture Opium मिलाके उसकी बस्ति को अंदर रोकने से दस्तों में लाभ प्रतीत होता है। इसी प्रकार १२ औंस जल में २,३ औंस दूध या मट्ठा मिला के भी बस्ति दी जाती है। २,३ औंस Cod-Liver-Oil की बस्ति भी इस रोग के लिये विशेष लाभदायक है। फिर ~~कभी~~ इसे बढ़ाकर ८ औंस तक कर देना चाहिये तथा इसे अंदर रोकने का यत्न करना चाहिये। बहुत संभवतः इन पथ्य ~~का~~ बस्तियों से निर्बल हुए वृहदंत्र की शक्ति बढ़ती है।

<u>वायुर्वेद में प्रवाहिका :-</u>

इस बाजार के यां अपथ्य जनित विदोषक द्रव्य के वृहदंत्र में अधिक मात्रा में पहुंच जाने पर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में श्लैष्मिक वृहदंत्र शोथ हो जाता है। ऐसी ~~अवस्था~~ अवस्था में यदि वृहदंत्र की प्राण शक्ति भी कारणवश न्यून हो तो उसका वायु भी प्रकुपित हो उठता है। वायु प्रकुपित होकर जब वृहदंत्र के श्लेष्म द्रव को नीचे फैंकने लगता है तब शीघ्र शीघ्र प्रवाहण होने लगते हैं। इन प्रवाहणों के कारण इस रोग को प्रवाहिका रोग कहते हैं। वृहदंत्र की प्राण शक्ति की निर्बलता के कारण ही यह रोग हो तो इसे वात प्रवाहिका कहते हैं। वृहदंत्र में तीव्र शोथ के कारण रोग हो तो इसे पित्त प्रवाहिका कहते हैं।

वृहदंत्र में प्रधानतः मृदु श्लैष्मिक शोथ Catarrhs के कारण प्रवाहिका हों तो उसे श्लैष्मिक प्रवाहिका कहते हैं। रक्त के दूषित होने के कारण ही यह रोग हो तो उसे रक्तज प्रवाहिका कहते हैं। वातज प्रवाहिका में ऐंठन या शूल का लक्षण विशेष होता है। पित्तज प्रवाहिका में ज्वर विशेष होता है। कफज प्रवाहिका में आंव की मात्रा विशेष आती है। रक्तज प्रवाहिका में रक्त की मात्रा अधिक होती है। ॥ सु०। उ०। ४०॥

प्रवाहिका चिकित्सा :-

एरंड तेल के द्वारा मल शोधन करने के बाद बाल बिल्व, मुस्ता, मोचरस, तथा सौंफ को समान समान मिलाकर बनाया चूर्ण या कुटज इंद्रयव, मुस्ता, धुंघा बाला, दाड़िम त्वक्, मोचरस, बिल्व, धानिया, अतिविषा, समान समान का बनाया हुआ चूर्ण ३,३ माशे की मात्रा में दिन में ४ बार दे देना चाहिये। अथवा भंग हरड़ को घृत में भूनकर बनाया चूर्ण ६,६ माशे की मात्रा में ३,४ बार दे देना चाहिये। इस चूर्ण को सौंफ के साथ बराबर बराबर मिला कर मधु या मिश्री के साथ मिला कर दिन में ३,४ बार देने से भी लाभ होता है। ईसबगोल की भूसी का ६,६ माशे की मात्रा में दिन में ४ बार प्रयोग करने से भी प्रवाहिका वेग शांत होता है। जीर्ण प्रवाहिका या अमीबिका प्रवाहिका के लिये कुटज और इंद्रयव के योगों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणतः कुटजावलेह २,३ माशे की मात्रा में या कुटजाष्टक १ माशे की मात्रा में या कुटजारिष्ट १,२ तोला या उपर्युक्त कुटज, इंद्रयव, बिल्व, अतीस, मुस्ता, धुंधबाला, आदि बनाया कुटजादि चूर्ण ३ माशे की मात्रा में दिन में ३ बार पर्याप्त समय के लिये दिया जाता है। अथवा कुटज, अतिविषा, बिल्व, मुस्ता का क्वाथ या इंद्रयव के चूर्ण का २,३ माशे की मात्रा में प्रतिदिन ३ बार प्रयोग करने से लाभ होता हुआ देखा जाता है।

आयुर्वेद में--छिद्रोदरातिसार या रक्तातिसार या Ulcerative Colitis:

चरक ने कहा है कि किसी रोग से निर्बल हुआ व्यक्ति भोजन के संबंध में अत्यधिक अपथ्य करे और भय शोक आदि चिन्ता द्वेषों से अधिक ग्रस्त रहे तो उसकी पाचक अग्नि नष्ट हो जाती है। जिससे शरीर में तीनों दोष प्रकुपित हो उठते हैं। अर्थात प्राण शक्ति घट जाती है तथा पित्त और कफ अर्थात पाचक की और श्लेष्म स्राव बढ़ जाते हैं। इस अवस्था में वृहदंत्र में तीनों दोषों का प्रकोप विशेष हो जाय अर्थात एक तो उसकी प्राण शक्ति हीन हो जाय, दूसरा उसमें तीव्र शोथ हो जाय तथा तीसरा उससे श्लेष्म का स्राव भी अधिक हो तो जो अतिसार होता है उसे छिद्रोदरातिसार कहते हैं क्योंकि इसमें रक्त रहता है। इसलिये इसे रक्तातिसार भी कह देते हैं।

चरक ने कहा है कि इस रोग में बृहदंत्र के अवयव अति दूषित हो जाते हैं। इसीलिये इसमें पीले, हरे, नीले, लाल या मांस धावन के समान रंग के या लाल रंग के खून से युक्त दस्त होते हैं। जिनमें आंव भी होती है। कभी ये कुछ वेदना के साथ आते हैं और कभी बिना किसी प्रकार के दर्द के आते हैं। कभी ये पक्व और कभी अपक्व होते हैं। रोगी की अग्नि मंद होती है। उसके मांस, रक्त और बल ये क्रमशः क्षीण तो हो जाते हैं पर उतना अधिक क्षीण नहीं होते। यह रोग कृच्छ्रसाध्य है। ।। च।चि।१९।।

चिकित्सा :-

त्रिदोषातिसार या चिरस्थायी रक्तातिसार के लिये शतावरी घृत या क्षीरी वृक्षों अर्थात् वड़, गूलर, पीपल, आदि की कोंपलों को उबले जल में डालकर, छानकर, उस जल से, अथवा इनके और शतावरी के स्वरस से, साधित किये हुए घृत को एक एक तोले की मात्रा में दिन में दो बार पिलाने और दुग्ध मधु के साथ चाटने के लिये कहा गया है तथा बस्ति के द्वारा बृहदंत्र को स्वच्छ करके बाद में किसी बल्य तेल को जैसे नारायण तेल, शतावरी तेल की २,४ औंस की मात्रा में बस्ति देने का विधान किया गया है। या सेंमल के फूलों के रस दूध, आधा आधा छटांक घृत तिल तेल डेढ डेढ छटांक को मिला कर बस्ति यंत्र के द्वारा गुदा में डालकर यथा शक्ति इसे अंदर ही रोका जाता है। रोगी को भोजन में गाय या बकरी का दूध, चावल, मांस रस पर्याप्त मात्रा में दिये जाते हैं।

विषूचिका- हैजा :- Cholera (Flow of bile)

कारण :-

इस संक्रामक रोग के संक्रमण के कारण भूत जीवाणु को विषूचिका जीवाणु Cholera Bacillus अथवा कोमा के चिन्ह के आकार का होने से Comma-Bocillus या Cholera Vibrio कहते हैं। पहले पहल इसका पता Kock ने १८८३ में लगाया था। इस रोग के रोगी के पेट से आने वाले मल में यह प्रभूत मात्रा में बाहिर निकलता है। सूक्ष्म वीक्षक द्वारा देखने पर यह कृमि कोमा की तरह मुड़ा हुआ, गतिशील, ग्राम नेगेटिव, डेढ से २ माइक्रोन लंबा होता है। बाहिर निकलने के बाद नदी, तालाब, कुएं आदि के जल में प्रवेश कर जाय तो वहां लगभग एक दो सप्ताह तक जीवित रह जाता है। इस दूषित जल के, या उससे धोये गये फल और कच्ची खायी जाने वाली सब्जियों के द्वारा यह जीवाणु दूसरों के पेट में प्रवेश कर जाता है। बर्फ में भी यह जीवित रह सकता है। परन्तु शुष्क प्रदेश

में जहाँ इसे जल न मिले, यह तुरंत मर जाता है। इसलिये गरमी और नमी वाली मौसम में तीर्थ आदि जलीय प्रदेशों में जब हजारों लोग किसी एक छोटे से स्थान पर एकत्रित होते हैं किसी रोगी के मल के द्वारा या किसी Carrier के मल से यह रोग अनेकानेक व्यक्तियों में फैल जाता है। रोगी के साथ रहने वाले कुछ एक व्यक्तियों के मल में यह कृमि पाया जाता है/ यद्यपि इन्हें इस रोग के चिन्ह नहीं होते। अर्थात् रोगी से इसके फैलने का इतना भय नहीं जितना कैरियर से है।

स्वस्थ दीखने वाले रोगी पुरुष (Contact Carriers) के मल में भी ये जीवाणु पाये जाते हैं। इससे अनुमान होता है कि आमाशय और छोटी आंत में किसी प्रकार का दोष उपस्थित हो तो इस जीवाणु को वहाँ पर वृद्धि करने का अवसर मिल जाता है तथा वृद्धि करने पर ही यह रोग का कारण बनता है। छोटे पशुओं में भी पहले सोडा बाई कार्ब के द्वारा उनके पेट के रस को उदासीन कर देने के बाद इन जीवाणुओं को मुख द्वारा प्रविष्ट करके रोग उत्पन्न किया जा सका है। अतः बहुत संभव है कि अपथ्याहार के द्वारा ~~आमाशय के दूषित~~ आमाशय और आंत के दुष्ट होने पर इस जीवाणु का वहाँ बढ़ना सुगम हो जाता है।

<u>सम्प्राप्ति :-</u>

छोटी आंत की श्लेष्म कला पर विशेषतः Luberkuhn की ग्रन्थियों में यह जीवाणु अत्यधिक मात्रा में वृद्धि करता है अर्थात् इसकी झिल्ली (Epithelium) के सेलों के बीच बीच में तथा उनके नीचे घुसकर वहाँ वृद्धि करने लगता है। इसके विपरीत रक्त वाहिनियों में अति रक्त संचय हो जाता है तथा रक्त का द्रव भाग (Serum) भी अधिक मात्रा में निकलता है। जिसका इन जीवाणुओं पर विनाशक प्रभाव होता है अर्थात् जीवाणुओं में Bacteriolysis या Autolysis की प्रक्रिया होने लगती है। इन जीवाणुओं के विनष्ट होने से इनमें से एक अन्तर्विष (Endotoxin) निकलता है जो बड़ा जहरीला होता है। वह एक तरफ तो इस श्लेष्म कला की झिल्ली की मृत्यु का कारण होता है जिससे इस झिल्ली के सेल ढेर के ढेर झड़ते हैं तथा छिलकों (Flakes) के रूप में दस्तों के द्वारा बाहिर आते हैं। दूसरी ओर यही विष शरीर में फैलकर अर्थात् विष संचार (Toxaemia) के द्वारा इस रोग में पाये जाने वाले लक्षणों का कारण बनता है। इन जीवाणुओं के कारण ही आंत की रक्त वाहिनियों से अत्यधिक द्रव की मात्रा आंत में आने लगती है जिससे शरीर का बहुत सा जल तथा लवण (Sodium Chloride) अधिक से अधिक शरीर में से निकल जाते हैं। रक्त के Plasma में क्षार की मात्रा भी घट जाती है। शरीर के रक्त में से द्रव भाग के अत्यधिक मात्रा में बाहिर निकल जाने से वह गाढ़ा तथा चिपचिपा हो जाता है। इसकी Specific Gravity जो साधारण अवस्था में १०५८ होती है बढ़ जाती है। प्राय: १ पाईंट जल के निकल जाने पर यह १०६१ हो जाती है।

५ पाइंट तक जल शरीर में से निकल जाय तो यह १०६५ तक बढ़ जाती है। रक्त के एक क्यूबिक मिलीमीटर रक्त कणों की संख्या जो साधारणत: ५ मिलियन होती है बढ़कर ६,७ मिलियन तक हो जाती है। अर्थात् Polycythemia हो जाती है। श्वेत कणों की संख्या भी १५,३० हजार प्रतिक्यूबिक मिलीमीटर हो जाती है। Haemoglobin भी १०० सी॰सी॰ में १४,१६ ग्राम से बढ़कर २० ग्राम तक हो जाता है। रक्त में Serum की मात्रा भी ३५ से ६४ प्रतिशतक तक कम हो जाती है। शरीर के सबी अंगों में जलांश की मात्रा न्यून हो जाती है। इस प्रकार हृदय का पीडाख न होने से तथा विष संचार के कारण वह निर्बल हो जाता है। उसके प्रति स्पंदन में आगे रक्त कम हो जाता है। शाखाओं के सिरों को रक्त कम मात्रा में पहुंचता है जिससे शाखाओं की सिरायें शिथिल (Collapsed) हो जाती हैं। वृक्कों को भी रक्त कम पहुंचता है। अर्थात् उनमें Ischaemia हो कर उनकी मूत्र स्रावी लिकायें (Tubules) को आक्सिजन की उचित मात्रा नहीं मिल पाती जिससे उनके सेलों में Hyaline Degeneration की प्रतिक्रिया हो जाती है। मूत्र की मात्रा बहुत थोड़ी बनती है। उसकी स्पेसिफिक गैविटि बढ़ जाती है तथा उसमें अलबुमिन भी आने लगता है। मूत्र के कम बनने से रक्त में एसिड्स रुक जाते हैं एवं रक्त में अम्लीयता बढ़ जाती है (अर्थात् Acidaemia हो जाता है) । इस रोग में यकृत में से पित्त का स्रोत में आना बंद हो जाता है। जब रोग अच्छा होने लगता है वह फिर आने लग जाता है।

लक्षण :-

अधिकतर: इसके तीव्र विषूचिका (Cholera Gravis) नामक भेद में प्रथम अतिसारावस्था (Evacuation Stage) होती है जो ५,१० घंटे तक रहती है। इसमें सहसा ही एक व्यक्ति को दस्त आने आरंभ हो जाते हैं जो पतले, मात्रा में बड़े, एक के बाद एक करके अनेक हो जाते हैं। इनमें पहले तो कुछ मलांश होता है। बाद में केवल चावल के धोवन के समान जलांश तथा उसमें श्लेष्म कला की झिल्ली (Epithelium) से झड़े छिलके होते हैं। इनके आते समय किसी प्रकार की किनाया मरोड़ होने का लक्षण नहीं होता। इन दस्तों के द्वारा विषूचिका जीवाणु भारी मात्रा में लगभग १ सी॰सी॰ में एक हजार मिलियन की संख्या में बाहर आते हैं। दस्तों के आरंभ होने के कुछ काल बाद वमन के वेग होने लगते हैं जिनमें पहले खाया हुआ अन्न और बाद में केवल चावलों के धोने के सदृश जल ही निकलने लगता है। इस प्रकार नीचे तथा ऊपर से कई पाइंट जल शरीर में से निकल जाता है। जल के साथ बहुत सा लवण केल्सियम तथा क्षार भी शरीर में से बाहर हो जाता है। संभव है इनके निकल जाने के कारण ही नाड़ियों (Nerves) पर कोई ऐसा दुष्प्रभाव पड़ता है कि पिंडलियों तथा हाथ पांव और पेट की मांस पेशियों में स्तंभ (Cramp)

होने लगता है।

इस अवस्था के ५, १० घंटे रहने के बाद फिर इस रोग की द्वितीय अवस्था शीत अवस्था (Algid Stage) आरंभ होने लगती है। इसमें अतिसार और वमन के वेग कम हो जाते हैं। या बंद ही हो जाते हैं परन्तु इस जीवाणु से उत्पन्न विष के सर्व शरीर में फैल जाने से शरीर व्यापी विष संचार जनित लक्षण (ToxQemic Symptoms) होने लगते हैं। इस अवस्था का प्रधान लक्षण रक्त संचार के फेल हो जाने (Collapse) का लक्षण है। इसलिये इस अवस्था में नाड़ी तीव्र तथा निर्बल हो जाती है। हृदय शब्द मंद हो जाते, रक्त भार गिर कर ७० M.M. of Mercury के लगभग हो जाता है। शरीर की त्वचा शीतल हो जाती है। उस पर ठंडा सा पसीना आ जाता है। अंगुलियों पर ऐसी झुर्रियां पड़ जाती है जैसे उन्हें देर तक जल में रक्खा गया हो। ओष्ठ, नाक, कान आदि के सिरे नीले से पड़ जाते हैं। दस्तों तथा वमन के द्वारा बहुत सा जल निकल जाने से शरीर के सारे अंग ही सूख कर पिचक से जाते हैं। इसीलिये रोगी का चेहरा कुम्हला जाता है। गालें पिचक जाती, आंखें अंदर धंस जाती, नाक पतली सी पड़ जाती तथा आवाज बहुत दुर्बल हो जाती है। यद्यपि त्वचा शीत होती परन्तु रोगी को अंदर भारी गर्मी लगती है। बगल में तापमान ६५ डिग्री होता है पर गुदा में १०१ डिग्री के लगभग पाया जाता है। अतिसार और वमन इन दो लक्षणों के अतिरिक्त गुदा के अंदर के तापमान में वृद्धि का होना भी इस रोग का एक लक्षण है जितना यह तापमान अधिक हो उतना ही रोग को अधिक उग्रतर समझना चाहिये। इस शीत अवस्था में रक्त संचारक शक्ति के क्षीण हो जाने से रक्त भार गिर जाने से तथा रक्त में से बहुत से जलांश के निकल जाने से वृक्कों में मूत्र बनना बंद हो जाता है जिससे मूत्राघात (Anuria) का लक्षण भी हो जाता है। इस अवस्था में रोगी का जो स्वरूप होता है उसे Cholera Facies का नाम दिया गया है।

यह अवस्था ५ घंटे से लेकर २४ घंटे तक रह सकती है। यदि इसका प्रत्युपाय न किया जाय तो हृदय और रक्त वाहिनियों के बल के क्षीण हो जाने से तथा गुर्दों के फेल होने के कारण शरीर में Acidosis तथा Uraemia के हो जाने से मृत्यु हो जाती है। रोगी की इस रोग में होश अंत तक बनी रहती है। पर जब Uraemia की प्रबलता होती है तब उसमें मूर्छा (Stupor) का लक्षण उत्पन्न हो जाता है।

शीतावस्था के बाद जब रोगी की अवस्था सुधरने लगती है तो उसे Reaction की Stage कहते है। इसमें क्रमशः नाड़ी प्रकट होने लगती, त्वचा गर्म होने लगती, रक्त भार बढ़ने लगता, मूत्र आने लगता तथा उसकी

मात्रा बढ़ने लगती तथा मल में पित्तांश आने लगता है।

असाध्य साध्य :-

जब इस रोग में रक्त भार अधिक गिर जाता है अर्थात् ७० से नीचे हो जाता है, मूत्रा घात शीघ्र हो जाता है/ अथवा रोगी गर्भिणी हो, निर्बल, वृद्ध या बालक हो तो यह रोग असाध्य ही समझना चाहिये। विषैले भोजन के खाये जाने के बाद होने वाले तीव्र अतिसार Salmonella poisoning से इस रोग का भ्रम हो सकता है परन्तु इस रोग में वमन तथा अरुचि के लक्षण प्रबल होते हैं, इसमें पेट में दर्द तथा सिर में दर्द होने के लक्षण भी होते हैं तथा इसमें मूत्राघात होने का लक्षण नहीं होता। विषम् ज्वर जनित अतिसार (Malarial Diarrhoea) से भी इसका भ्रम हो सकता है परन्तु इस रोग में मल के अन्दर पीलापन न्यूनाधिक रूप में अवश्य रहता है। वमन में भी पीलापन होता है। अत: भेद करना कठिन नहीं। सोमल (Arsenic) की विषैली मात्रा खाये जाने के बाद भी अतिसार होते हैं। परन्तु इसमें अतिसारों की अपेक्षा वमन का कष्ट अधिक होता है।

चिकित्सा :-

इस रोग की प्रधान चिकित्सा (Replacement Theraphy) है। अर्थात् शरीर से निकले जल और लवण की शरीर में फिर से पूर्ति करने का यत्न करना चाहिये। इसके लिये बाहु की किसी शिरा पर की त्वचा को काट कर शिरा को नग्न करके इसके द्वारा Normal Saline जो १ लिटर Distilled Water, में ८.५ ग्राम Sodium Chloride मिला कर इसको उबालकर तैयार किया जाता है। प्राय: २ लिटर की मात्रा में शरीर में प्रविष्ट कर दिया जाता है। लवण जल न केवल क्षति पूर्ति करता है परन्तु Chloride संभवत: विष (Toxin) को पकड़ लेता है और फिर इसके बाहर निकल जाने से वह भी शरीर से बाहिर हो जाता है।

जब शरीर में से बहुत सा द्रव निकल चुका हो, रक्त भार ८० या ७० (M.M.of Mercury) हो गया हो तो Hypertonic Saline जो एक लिटर Distilled Water में १३.७५ ग्राम Sodium Chloride .२५ ग्राम Calcium Chloride मिलाकर उबालकर बनाया जाता है, दिया जाता है। इसके देने से रक्त वाहिनियों में से रक्त द्रव की आंत की ओर जाने की गति बंद हो जाती है। इसके एक लिटर देने के बाद फिर Normal Saline दिया जाता है/ रोगी में Uraemia के लक्षण होने लगें या उनके होने की संभावना हो तो आधा या एक लिटर Alkaline Solution जो एक लिटर Distilled तथा उबाले हुये जल में १८.२५ ग्राम Sodium Bi-Carbonat

तथा ५.७५ ग्राम Sodium Chloride मिलाकर बनाया जाता है। शिरा द्वारा दे देना चाहिये। इसके एक लिटर की मात्रा में देने के बाद फिर आवश्यकतानुसार Hypertonic Saline. या Isotonic Saline Solution दे दिया जाता है। रक्त की Specific Gravity के अनुसार Saline की मात्रा दी जाती है अर्थात् यदि वह १०६३ या १०६४ के लगभग हो तो एक लिटर Saline की मात्रा पर्याप्त होती है। जब तक स्पेसिफिक ग्रेविटि १०६० से नीचे न आ जाय। Saline का प्रयोग जारी रक्खा जाता है। बाद में Isotonic Saline Solution में ५ प्रतिशत ग्लूकोज मिलाकर बनाया जल भी दिया जाता है। Alkaline Solution बनाने के लिये Saline Solution जब उबलने के बाद ठंडा होकर ४० सेंटिग्रेड हो जाय तब उसमें Soda Bi-Carb: मिलाना चाहिये। इसे मिलाने के बाद फिर जल को कभी नहीं उबालना चाहिये। जब मूत्र आने लग जाय तब Saline में ग्लूकोज मिलाकर देना चाहिये। जब रोगी के पेट में ग्लूकोज का जल हजम होने लग जाय फिर इंजेक्शन अनावश्यक है। इस Replacement Therapy. से शीतावस्था (Collapse) में बहुत लाभ होता है। इससे त्वचा में गर्मी, कलाई में नाड़ी तथा रक्त में भार फिर आ जाता है। Saline Solution चाहे कितनी सावधानता से दिया जाय इसके देने से रोगी को सरदी लगकर ज्वर चढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में Saline का वेग कम कर दिया जाता या उसका प्रयोग बंद कर दिया जाता है। रोगी पर कंबल डालकर उसे गर्म रक्खा जाता है। आधा सी.सी. Adrenaline का त्वचा द्वारा प्रयोग भी इस कंप को शांत कर देता है। औषधियों में से Cortisone अथवा Corticotrophin को इस रोग के लिये भी लाभदायक पाया गया है। Sulfaguanidine के ४ ग्राम की मात्रा में पहली बार देकर फिर दो ग्राम की मात्रा में इसी के ३,३ घंटे पर देने से भी लाभ होता देखा जाता है।

जब विशूचिका रोग मृदु रूप में हो तो आधा लिटर Isotonic-Saline के त्वचा द्वारा शरीर में प्रविष्ट कर देने से भी लाभ हो जाता है तथा यदि रोगी को अतिसार के वेग न भी रहें तो चार चार औंस नार्मल सेलाइन दो दो घंटे के अन्तर से गुदा द्वारा देते रहने से भी लाभ होता है। मूत्र न आ रहा हो या बहुत कम मात्रा में आ रहा हो Acidosis के लक्षण हों तो उपर्युक्त Alkaline Solution १ औंस या ५ औंस की मात्रा में दो दो घंटे के अंतर से गुदा द्वारा देने से भी मूत्र प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार तीव्र रोग में तो शिरा द्वारा Saline Solution का प्रयोग आवश्यक होता है परन्तु जब रोग मृदु हो अर्थात् रक्त की स्पेसिफिक ग्रेविटि १०६२ से अधिक न हो तो वमन रोकने Avomine Tablets (जो २५ मिलि ग्राम की मिलती

है तथा जिसमें १४ मिलि ग्राम Promethazine Base तथा ११ मिलिग्राम ८ Chlorotheophylline होता है।) के देने से वमन शांत हो जाती है। तब ~~गुद द्वारा~~ आधी ताकत का शीतल Saline Solution(Sodium Chloride ४ ग्राम, ग्लूकोज २५ ग्राम, गुलाब जल १० सि०सी०, जल १००० सि०सी० उचित मात्रा में थोड़ा थोड़ा करके मुख से दे दिया जाता है। वमन न आ रहे हों तो गुदा द्वारा भी उपरोक्त विधि से Saline Solution दिया जाता है।

आयुर्वेद में विशूचिका रोग :-

चरक तथा सुश्रुत में विसूचिका रोग का विशेष वर्णन नहीं हुआ। निदान में इसे अजीर्ण से उत्पन्न होने वाला वात प्रधान रोग कहा है। अर्थात अजीर्ण जनित विष से आमाशय तथा क्षुद्रांत्र की प्राण शक्ति क्षीण हो जाती है जिससे इनकी दीवार की रक्त वाहिनियां शिथिल (Dilated) हो जाती हैं। एवं इनसे रक्त का द्रव भाग प्रभूत मात्रा में बाहर निकलने लगता है। इस रोग की चिकित्सा के लिये रोगी को गर्म रखते हुये उसे उष्ण दीपन पाचन गुण औषधियां दी जाती हैं। उदाहरणार्थ: अग्नि वृद्धि के लिये संजीवनी वटी (विडंग, शुंठी, पिप्पली, त्रिफला, वचा, गुडुची, भल्लातक, मीठा विष, समान समान मात्रा में मिला गो मूत्र से १५,१६ दिन मर्दन करके रत्ती रत्ती की गोलियां बनाई जाती हैं।) पोदीने के अर्क, या प्याज के रस या आर्द्रक रस के अनुपान से १५,१५ मिनट के बाद दो दो गोली की मात्रा में १२ गोली तक दी जाती हैं।

लशुन का भी इस रोग में प्रयोग किया जाता है। लशुनाष्टक चूर्ण, या लशुन वटी । लशुन ८ भाग, मरिच ४ भाग, हींग २ भाग, कपूर १ भाग, निम्बु रस से चने के बराबर गोली बना ली जाती हैं। आधा आधा घंटे बाद दी जाती हैं।

लाल मिर्च तथा अहिफेन का भी इस रोग में प्रयोग लाभदायक पाया जाता है। इसके लिये लाल मरिच, जातीफल, हींग प्रत्येक ~~xxxxxxxx~~ दो तोला कपूर २ माशा, चन्द्रोदय २ माशा, अहिफेन १ माशा, मिला कर प्याज के रस से मूंग बराबर गोली बना कर आधा आधा घंटे बाद इसकी दो दो गोलियां अर्क पोदीने के अनुपान से दी जाती हैं। अ कर्पूरासव के १५,१५ बूंद की मात्रा में आधा आधा घंटे बाद देने से भी लाभ हो जाता है। Essential Oils के प्रयोग से जैसे अमृत धारा के पांच पांच बूंद की मात्रा में आधे आधा घंटे के बाद प्रयोग से भी बहुधा लाभ हो जाता है। इस रोग में अफीम युक्त औषधि का प्रयोग प्रारम्भ में नहीं करना चाहिये।

आंत्र गुल्म ।- Appendicitis

इतिहास :-

युरोप में पहले पहल १८८६ में इस रोग का पता Fritz ने दिया। १८८९ में Macburney ने यह बताया कि Anterior —

Superior Spine से नाभि तक खींची रेखा के अन्दर के दो तिहाई तथा बाहिर के एक तिहाई भाग की संधि पर आंत्र पुच्छ (Appendix) रहता है। इसलिये इस बिन्दु को Macburney's Point कहते हैं। १८८४ में इसी विद्वान ने इस रोग के शल्य कर्म का वर्णन किया। यही कारण है कि आज तक त्वचा पर इस रोग के लिये दिये जाने वाले चीरे को Macburney's Incision कहते हैं। १९०० में डाक्टर Fowler ने इस रोग के रोगी के पड़ने की उचित स्थिति का वर्णन किया। इस स्थिति को आज तक हम Fowler's Position कहते हैं। । यद्यपि दुःख के साथ कहना पड़ता है कि यह महान सर्जन अन्त में इसी रोग से ग्रस्त हुआ और बच न सका।

कारण :-

Appendix का रोग बालकों और युवकों में अधिकतः होता है। इसे पेट का Tonsil या Abdominal Tonsil कहते हैं। गले का Tonsil भी इसी आयु में सूजता है। अतः प्रतीत होता है कि जैसे वह Lymphoid Tissue जीवाणु संक्रमण की प्रबलता तथा शरीर की प्रतिरोधक शक्ति की हीनता से सूज जाता है। वैसे Appendix भी आंत में जीवाणुओं की प्रबलता तथा शरीर की प्रतिरोधक शक्ति की हीनता से सूजता होगा। इन दोनों बातों अर्थात् जीवाणुओं की प्रबलता और शरीर की निर्बलता का कारण भोजन दोष प्रतीत होता है। जिस का सबूत यह है कि प्राकृतिक आहार लेने वालों की अपेक्षा कृत्रिम आहार लेने वालों में अर्थात् नगरों में रहने वाले उच्च वर्ग के लोगों में ही यह अधिकतः होता है। इनके भोजन में Cellulose की मात्रा तथा Vitamins की मात्रा कम होती है जिससे एक ओर मल बंध रोग हो जाता तथा दूसरी ओर आंत की प्रतिरोधक शक्ति गिर जाती है। बृहदंत्र तथा विशेषतः Caecum में मलावरोध के कारण शोथ अर्थात् Typhlitis हो जाता है और इसके कारण Appendix की श्लेष्मकला में भी शोथ का प्रसरण हो जाता है। अब यदि आंत्र पुच्छ (कापुल) Sphincter सूज जाने से बंद हो जाय और इसके अंदर होने वाला श्लेष्म स्राव (Mucus) इसके अन्दर रुक जाय तो इसमें Streptococci तथा B.Coli. की वृद्धि के कारण यह श्लेष्म स्राव और अधिक अधिक बढ़ता है। इस बढ़े हुये तथा बंद हुए (Obstructed) स्राव का दबाव पड़ने से आंत्र पुच्छ की दीवार में विद्यमान Veins तथा Lymphatics अवरुद्ध हो जाती है एवं फट जाती है। जिससे आक्सिजन के उचित मात्रा में न मिलने से आंत्र पुच्छ की प्रतिरोधक शक्ति हीन हो जाती है एवं इस पर जीवाणुओं का आक्रमण सुगम हो जाता है।

विकृति :-

आंत्र पुच्छ के अंदर जीवाणुओं के अति मात्रा में रोहण कर जाने से पहले इसकी श्लेष्म कला में कैटेरिल (Catarrhal) शोथ हो जाता है फिर इसके बाद

स्तरों में भी रक्त संचय होकर शोथ हो जाता है जिससे आंत्र पुच्छ रक्त वर्ण तथा मोटा हो जाता है। इसे Catarrhal Appendicitis या श्लैष्मिक आंत्र गुल्म कहते हैं। बहुधा यह शोथ दर्द होने के दूसरे या तीसरे दिन शांत होने लगता है। तथा एक सप्ताह तक पूर्ण तया शांत हो जाता है।

परन्तु यदि यह शोथ दूसरे तीसरे दिन शांत न हो तो इसके अंदर पूयभाव के होने की आशंका करनी चाहिये। पहले तो आंत्र पुच्छ की श्लेष्म कला के किसी एक Lymph Follicle में पूय भाव आरंभ होता है जहां से रोग जीवाणु Submucous Layer में फैलते हैं और फिर वहां से रक्त वाहिनियों के साथ साथ वे Subserous Layer में भी फैल जाते हैं। इस प्रकार क्रमश: मांस मय स्तर तथा बाहर की Peritoneum की स्तर में भी पूय भाव फैल जाता है। इसे Suppurative Appendicitis या पैत्तिक आंत्र गुल्म कहते हैं। Peritoneum में पूय भाव होते ही Omentum समीपस्थ आंत्र (Loops of intestine) तथा Caecum इस सूजे हुये चमकीले आंत्र पुच्छ से चिपक जाते हैं तथा वहां विद्यमान पूय भाव को Peritoneal-Cavity में फैलने से रोक देते हैं। आंत्र पुच्छ (Appendix) के इन समीपस्थ अवयवों के साथ जुड़ जाने (Adhesion) से जो एक गोला या गुल्म सा बनता है उसे Appendicular Mass कहते हैं। आंत्र पुच्छ में पूय भाव हुआ हो तो दर्द होने के तीसरे चौथे दिन यह वृद्धि गुल्म अनुभव किया जा सकता है। यदि पूय भाव मंद रूप में हो तो यह गुल्म भी कुछ एक सप्ताहों में पूर्णतया लुप्त हो जाता है और इस रोग के लक्षण भी सर्वथा शांत हो जाते हैं। यदि इसके बाद फिर कभी दोबारा इस रोग के दर्द आदि लक्षण प्रकट हों तो जान लेना चाहिये कि रोग शांत नहीं हुआ/ केवल दबा हुआ है। तब शल्य कर्म करना आवश्यक हो जाता है। जब इस रोग के आरंभ होने के एक सप्ताह बाद भी ज्वर, गुल्म आदि लक्षण जारी रहें तो समझना चाहिये कि एक स्थानिक विद्रधि (Localized-Intraperitoneal Abscess) बन चुकी है जो Caecum के पीछे नीचे की तरफ होती तथा साधारण चिकित्सा से ठीक नहीं होती।

लक्षण :-

सहसा पेट में दर्द हो जाना इस रोग का प्रधान लक्षण है। जो बहुधा प्रात:काल आरंभ होता, शूल चुभने का सा होता है तथा नाभि प्रदेश पर होता प्रतीत होता है। परंतु २४ घंटे के अंदर अंदर यह दर्द Right Ilioc Fossa में केन्द्रित हो जाता है। अर्थात् ९९ या १०० डिग्री के लगभग ज्वर का होना भी इसका दूसरा लक्षण है। पूर्ण मलबंधता का होना इसका तीसरा लक्षण है। अरुचि अथवा वमन का लक्षण भी बहुधा होता है पर वमन का लक्षण देर तक नहीं रहता।

परीक्षा :-

परीक्षा:-

देखने पर रोगी दाहिनी टांग को पेट पर सिकोड़ के सीधा पड़ा हुआ दीखता है। यदि टांग को फैलाता है तो पेट की मांस पेशियों पर खींच पड़ने से उसे दुख न होती है। उसके पेट की दीवार विशेषत: Right Rectus Abdominis अकड़ी हुई सी रहती है। श्वास प्रश्वास के साथ भी हिलती नहीं है। रोगी की जीभ भी देखने में मैली तथा शुष्क दीखती है। Macburney's Point पर स्पर्श करने से स्पर्शाक्षमता का लक्षण मिलता है तथा स्पर्श करने पर रोगी अपने पेट को ऐसा तान लेता है कि गहरा स्पर्श करना कठिन होता है। अंदर Peritoneum में शोथ के प्रसरण कर जाने से आंत्र पुच्छ प्रदेश या पेटकी मध्य रेखा, ~~Rmpm~~ Poupart's-Ligament तथा नाभि से बाहिर की ओर खींची सीधी रेखा से बने त्रिकोण (Sherring Triangle) प्रदेश की त्वचा में भी स्पर्शाक्षमता (Hyperaesthesia) का लक्षण होता है।

नाड़ी की परीक्षा करने पर उसकी गति तीव्र होती, उसका बल कम होता है।। जितना ही गति अधिक अधिक होती जाय उतना ही रोग को बढ़ता हुआ समझना चाहिये। यदि तापमान के बढ़ने के बिना भी नाड़ी गति बढ़ जाय तो उसे हृदय पर विष के प्रभाव या (Toxic Myocarditis) के कारण बढ़ता हुआ समझना चाहिये। आंत्र पुच्छ में मृत्यु की प्रक्रिया या Gangrene आरंभ हो जाय तो ज्वर तो कम होता जाता है। नाड़ी गति तीव्र होती जाती है तथा रोगी की अवस्था गिरती जाती है।

रक्त परीक्षा करने पर श्वेताणों (Leucocytes) की वृद्धि १५-२० हजार प्रति क्यूबिक मिलीमीटर तक होती है। जब यह २० हजार से ऊपर हो और दो तीन दिन तक ऐसी ही बनी रहे तो आंत्र पुच्छ में पूय भाव की आशंका कर लेनी चाहिये।

आंत्र पुच्छ की चिकित्सा:-

इस रोग की प्रधान चिकित्सा शल्य चिकित्सा है तथापि रोग मृदु हो, नाड़ी संख्या प्रति मिनट बढ़ न रही हो, लक्षण भी शांत ही रहे हों तो जब तक रोगी का तापमान तथा नाड़ी संख्या नार्मल न हो जाय उसे निराहार रखना चाहिये। केवल एक मिनट में ४० बूंद जल का घूंट देते रहना चाहिये। रोगी को Fowler's Position में शांत भाव से लिटाये रखना भी लाभदायक है। दर्द के लिये पेट पर गर्म बोतल या Antiphlogistine का प्लास्टर का प्रयोग करना चाहिये। मल बंध की निवृत्ति के लिये ग्लिसरीन का गुदा में मे प्रयोग करना चाहिये। रात को Paraffine २ ड्राम की मात्रा में प्रतिदिन दे सकते हैं। Calomel $\frac{1}{8}$ ग्रेन, Menthal $\frac{1}{8}$ ग्रेन Extract Belladonna $\frac{1}{8}$ ग्रेन, Extract Hyoscyamus $\frac{1}{8}$ ग्रेन, तथा Extract Gention की पर्याप्त मात्रा में बनी उ गोली दो दो घंटे के बाद देने

से दर्द में आराम प्रतीत होता है। यों तो Antibiotic औषधियां शल्य कर्म की सहायक मात्र होती हैं परन्तु रोग मृदु हो तो भी Pencillin तथा Streptomycin के सम्मिलित इंजेक्शन के देने से भी संक्रमण शांत होता है। मृदु रोग में इस साधारण चिकित्सा के बाद बहुधा शल्य कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु रोग कुछ तीव्र रूप में हो Adhesions हो गये हों तो उपर्युक्त चिकित्सा से रोगी के ठीक हो जाने के ३ मास बाद शल्य कर्म कराने का आदेश देना चाहिये।

आयुर्वेद में-- श्लैष्मिक आंत्र गुल्म तथा पैत्तिक आंत्र गुल्म
(Catarrhal and Suppuratine Appendicitis)

आयुर्वेदानुसार शरीर में कफ का प्रकोप हो अथवा पित्त का प्रकोप विशेष हो तथा साथ ही आंत्र पुच्छ में विक्षोभ का कोई कारण उपस्थित हो जाय तो उसमें कफ शोथ (Catarrh) या पित्त शोथ (Acute Inflammation) हो जाता है। उसमें कफ शोथ होने पर नाभि प्रदेश पर मृदु वेदना, स्वल्प स्पर्शासहता के होने तथा रोगी में अरुचि, वमन तथा मृदु ज्वर होने के लक्षण होते हैं। जब आंत्र पुच्छ में पित्त शोथ होता है अर्थात् पैत्तिक आंत्र गुल्म होता है तब नाभि प्रदेश पर शूल अधिक तथा स्पर्शासहता अधिक होती है साथ ही रोगी में ज्वर स्वेद और पिपासा के लक्षण विशेष होते हैं। इस आंत्र गुल्म की चिकित्सा के लिये लंघन और स्वेदन का विधान किया गया है। अरुचि और वमन अधिक हों तो वमन औषधि देकर वमन कराने का भी विधान किया गया है। इनसे शूल के कुछ कम हो जाने या दूर हो जाने पर फिर क्षार और कटु औषधियों से साधित घृत का प्रयोग लिखकर कहा गया है। यदि मल बंध विशेष हो तो शूल के मृदु हो जाने पर मिश्रक स्नेह या हिंगु त्रिगुण तेल का एक एक चम्मच मात्रा में दिन में दो बार प्रयोग आरंभ कर देना चाहिये। पैत्तिक गुल्म या पैत्तिक आंत्र गुल्म में लंघन स्वेदन के साथ साथ द्राक्षा और हरड़ या द्राक्षा और त्रिफला का फांट मिश्री के साथ घूंट घूंट पिलाते रहने का विधान किया गया है। इनसे शूल के कुछ कम हो जाने या दूर हो जाने पर फिर क्षार और कटु औषधियों से साधित घृत के देने उदाहरणतया षट्पल घृत या दशमूली घृत का प्रयोग लिख कर कहा गया है। यदि मलबंध विशेष हो तो शूल के मृदु हो जाने पर मिश्रक स्नेह या हिंगु त्रिगुण तेल का एक एक चम्मच मात्रा में दिन में दो बार प्रयोग आरंभ कर देना चाहिये।

पैत्तिक गुल्म या पैत्तिक आंत्र गुल्म में लंघन, स्वेदन के साथ साथ द्राक्षा और हरड़ या द्राक्षा और त्रिफला का फांट मिश्री के साथ घूंट घूंट पिलाते रहने का विधान किया गया है। बाहु की शिरा से कुछ रक्तस्राव लेकर कर देने से शरीर में पित्त प्रकोप शांत हो जाता है। जिससे आंत्र गुल्म में फायदा न

होता। शूल के कुछ शांत हो जाने पर कटु रोहिणी, त्रिफला, मुलहठी, त्रिवृत, त्रायमाणा आदि शीतल रेचक औषधियों से साधित घृत के या तिक्त घृत, महातिक्त घृत के एक एक चम्मच मात्रा में देने का विधान किया गया है। ।। च।चि।५।।

भोजन में केवल पके हुये जल, गौ या बकरी के दूध या मांस रस के कुछ काल देने का विधान है।

मल बंध :- Constipation.

मल विसर्जन क्रिया :-

भोजन में लिया हुआ आहार द्रव्य लगभग ३ घंटे में आमाशय से निकल कर २, १½ घंटे में Ileum के निचले सिरे पर पहुंच जाता है और वहां पर कुछ काल रुका रहता है। फिर किसी आहार, पान के करने से क्षुद्रांत्र के इस निम्न भाग में एक प्रेरक गति उठती है। जिसे आमाशय की चेष्टा के कारण उत्पन्न होने से, Gastroileal Reflex कहते हैं। इसके उत्पन्न होने पर क्षुद्रांत्र और बृहदंत्र के बीच का द्वार Ileocaecal Valve जो हर समय बंद रहता है, खुल जाता है और क्षुद्रांत्र के निम्न भाग में एकत्रित हुआ वह अन्न द्रव आगे Caecum में खिसक जाता है। बृहदंत्र में पहुंचने पर इस अन्न द्रव की गति मंद हो जाती है। वहां यह एक ही स्थान पर घंटों तक रुका रहता है। दिन रात में ३, ४ बार के लगभग इसमें प्रेरक गति (Peristalsis) उत्पन्न होती है जो कुछ एक सेकन्ड के लिये रहती है। इनमें चढ़ती हुई आंत का मल लेटी हुई आंत में और लेटी हुई आंत का मल उतरती हुई आंत में एक समूह में गति कर जाता है। अर्थात् बृहदंत्र में Mass Peristalisis होता है। इस प्रकार खाया हुआ भोजन लगभग १६ घंटे के बाद Pelvic Colon के निचले सिरे तक पहुंच जाता है और वहां पहुंच कर रुका रहता है अर्थात् सबेरे प्रातराश तथा १२ बजे दोपहर का लिया हुआ आहार द्रव्य १६ घंटे के समय के बाद अगले दिन सबेरे ४ बजे तक Pelvic Colon में पहुंच जाता है।

प्रात: काल ५ या ६ बजे उठने पर जब एक व्यक्ति साधारण या गर्म किया हुआ जल पीता है या गर्म चाय आदि पीता है, या केवल मल त्याग का संकल्प ही करता है तो आमाशय की गति के द्वारा या मानसिक प्रेरणा वश Pelvic Colon में एक प्रेरक गति उत्पन्न होने लगती है जिससे उसमें विद्यमान मल आगे खिसक कर मलाशय में प्रवेश करने लगता है। उस समय यदि व्यक्ति निश्चिन्त हो किसी कार्य या चिन्ता में व्याप्त न हो अर्थात् यदि Sympathetic नाड़ियां उत्तेजित न हों तो मलाशय में आये मल के उसकी दीवार पर दबाव पड़ने से मल त्याग की संवेदना या मल विसर्जन की हाजत होने लगती है। इसके पेट की गति के साथ संबंधित होने से इसे Gastro Colic--

Reflex करते हैं। इस प्रकार जब मल के प्रवेश के कारण मलाशय की संज्ञा हुई नाड़ियों में एक संवेदना सी प्रतीत होती है तो इसकी प्रतीति Spinal Cord में विद्यमान "मल विसर्जन केन्द्र" (Defaecation Centre) में पहुंचती है जहां से एक मल प्रेरक चेष्टा (Efferent Impulse) उत्पन्न हो जाती है जिससे मलाशय की दीवारों पर Colon के संपूर्ण निम्न भाग के मांस में एक प्रेरक गति उत्पन्न हो जाती है। इस समय में गुदा के द्वारा (Anal Sphincters) खुल जाते हैं तथा वृहदंत्र के सारे निम्न भाग में संकोच होकर Descending Colon तथा Pelvic Colon का संपूर्ण मल एक वेग में शरीर से बाहिर हो जाता है। मल विसर्जन के समय व्यक्ति अपने ~~कोष्ठ~~ कोष्ठ की दीवार की मांस पेशियों तथा श्वास महा पेशी (Diaphragm) का दबाव भी डालता है। अपितु ये ऐच्छिक मांस पेशियां भी Colon की अनैच्छिक मांस पेशियों की इस समय सहायता करती हैं। इस प्रकार मलाशय (Rectum) जो मल विसर्जन की से पहले भी खाली था। इसके बाद भी खाली हो जाता है।

मल बंधा का कारण :-

परन्तु जब आलस्यवश या कार्यवश, या लज्जावश या मलत्याग के स्थान के अभाव वश मलाशय में होने वाली इस संवेदना या हाजत की अवहेलना की जाती है तब मल त्याग का वेग स्वयंमेव शांत हो जाता है। इसके बाद फिर भोजन के बाद या चाय आदि स्वल्पाहार के बाद फिर यह Gastrocolic Reflex उत्पन्न हो जाता है एवं मलत्याग हो जाता है। अथवा अगले दिन सवेरे अपने निश्चित समय पर मलत्याग का वेग होकर मलाशय में स्थित यह मल बाहर हो जाता है, एवं मलाशय फिर स्वच्छ हो जाता है। परन्तु यदि बारंबार इस हाजत की परवाह न की जाय अर्थात् मलाशय में मल के आ जाने पर भी मलत्याग के लिये न जाया जाय तो धीरे धीरे मलाशय में मल के प्रवेश से उत्पन्न होने वाली यह संवेदना या बेचैनी की प्रतीति उत्तरोत्तर हल्की पड़ती जाती है अर्थात् मल के प्रवेश से मलाशय की नाड़ियों में उत्पन्न होने वाली उत्तेजना (Nervous-- Stimulation) कुंठित एवं मन्थर पड़ती जाती है। मलाशय में मल जमा होकर शुष्क हो जाता है और मलाशय के लिये इसे बाहिर फैंकना कुछ कठिन हो जाता है। इसलिये इस रोग को मल कृच्छ्र रोग ~~या~~ (Dyschezia) या कष्ट से मल त्याग का रोग कहना ठीक है। जो मलाशय की वातिक निर्बलता (Nervous Weak- ness) के कारण उत्पन्न होता है।

भोजन संबंधी :-

आंत की दीवार में होने वाली अन्न प्रेरक गति Peristalsis दीवार में छाये हुये Auerbach's Plexus की नाड़ियों के द्वारा उत्पन्न होती है। Sympathetic तथा Parasympathetic नाड़ियां इस गति का

नियमन करती है। अन्न में विद्यमान विलोभक द्रव्य के द्वारा यह प्रेरक गति बढ़ती है। इसीलिये यदि आहार अति मृदु हो जैसे बिना छान चोकर का पतला आटा, मैदा, या मशीन का साफ किया हुआ चावल, दूध, दही आदि का ही आहार किया जाय तो भी प्रेरक गति के मंद होने से मलबंधा (Intestinal Stasis का लक्षण रहता है। चोकर में Vitamin B_1 होता है। जो शरीर की नाड़ियों के लिये बलवर्धक होता है। इस Vitamin की न्यूनता बनी रहे तो आंत की प्रेरक शक्ति भी मंद हो जाती है जिससे मल बंधा हो जाता है। भोजन से यह हमें प्रतिदिन १ मिलिग्राम मात्रा में प्राप्त होता है। अतः पालिश किये हुये अनाज भी मल बंध के कारण हो जाते हैं। वनस्पति, शाक, फल आदि में फोक का अंश अधिक होता है। अतः इनका सेवन सर्वथा न किया जाय तो भी मल बंधा रहता है। यकृत से निकलने वाला पित्त भी आंत में होने वाली प्रेरक गति (Peristalsis) का उत्तेजक होता है। अतः यकृद्रोग में भी मलबंधा हो जाता है। जो व्यक्ति आसन शील होते हैं, व्यायाम श्रम नहीं करते, उनके अन्य मांसों के समान आंत का मांस भी शिथिल हो जाता है जिससे मलबंधा रहता है। शरीर में मेदा वृद्धि हो जाने पर या पांडु रोग होने पर या मधु मेह में तथा वृद्धावस्था के कारण भी आंतों का शिथिल हो जाना स्वाभाविक है। जिससे मलबंधा रहता है। इसी प्रकार अजीर्ण के उपद्रव रूप में जैसे कभी कभी अतिसार हो जाता है वैसे ही यदि उस के कारण आंत में गैस की उत्पत्ति अधिक हो तो आंत की दीवार पर गैस का दबाव रहने से उसकी अन्न प्रेरक अथवा मल प्रेरक शक्ति मंद हो जाती है। इसी प्रकार वात प्रकृति के व्यक्तियों में जो प्रसन्न न रहकर विक्षुब्ध एवं चिन्तित रहते हैं (। जैसे Neurasthenia, Hysteria आदि प्रकृति के व्यक्तियों में।) नाड़ी मंडल के विक्षुब्ध रहने से भी मलबंधा रहता है। पथरीली चट्टानों या पथरीले मैदानों के जिनमें चूने का पत्थर रहता है जल के पीने से आंतों में Calcium Carbonate अधिक मात्रा में पहुंच जाता है। इसके शोषक होने से भी मल बंधा रहता है। इस प्रकार कुछ एक स्थानों का जल भारी होने के कारण मलबंधा होता है।

<u>लक्षण :-</u>

पुराने विचार के लोग तो मलबंधा को तीन चौथाई रोगों का कारण बताते हैं। उनका यह विचार है कि वृहदंत्र तथा मलाशय में मल द्रव्य के चिरकाल तक रुके रहने से वहां पर जीवाणु जनित विष द्रव्य अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं। जिनके शरीर में विलीन होते रहने से शरीर में विष द्रव्यों की मात्रा बढ़ जाती है अर्थात Autointoxication होता रहता है। जिसके कारण मस्तिष्क तथा नाड़ी मंडल में अवसाद (Depression) रहता है। मानसिक तथा शारीरिक कार्यशक्ति कम हो जाती है अर्थात उनमें स्वाभाविक स्फूर्ति नहीं रहती।

रक्त पर इनका दुष्प्रभाव होने से रक्त वाहिनियां तंग हो जाती हैं अर्थात् रक्तभार बढ़ जाता है। पांडुता हो जाती है जिससे त्वचा का रंग फीका पड़ जाता है। आंत में गैस के बढ़ जाने से निद्रा टूट टूट कर आती है। जननेन्द्रिय संबंधी अवयवों पर गैस का दबाव पड़ने से स्वप्न दोष हो जाता है। आंत में मल के देर तक रुके रहने से अर्शरोग भी होता है।

दूसरे नवीन विचार के लोगों का मंतव्य है कि मलबंध से होने वाले जो लक्षण कहे जाते हैं उनका वैज्ञानिक आधार कोई नहीं है। कुछ एक के मत में तो ये विज्ञापन वालों की कोरी कल्पना मात्र हैं। इसके विपरीत उनका यह भी कथन है कि विरेचक गुण औषधियों का नित्य प्रति प्रयोग करने वालों में Autointoxcication का भय अधिक है। क्योंकि विरेचक औषधि लेने से खाया हुआ द्रव्य शीघ्र शीघ्र अपक्वावस्था में ही बृहदंत्र में पहुंच जाता है जिससे उसमें विषों के उत्पन्न होने की अधिक संभावना रहती है।

मलबंध की चिकित्सा :-

प्रातःकाल अथवा प्रातः सांय दोनों समय मल त्याग के लिये एक समय निश्चित होना चाहिये। घड़ी को देखकर उस समय अन्य सभी कार्यों को त्याग कर मल त्याग के लिये चले जाना चाहिये। उस समय पर मल त्याग का संकल्प करने मात्र से मल विसर्जन संवेदना (Defeactation Reflex) होने लगती है। उस समय अन्य सभी चिन्ताओं से मुक्त होना आवश्यक होता है। इस शिथिलता (Felaxation) को प्राप्त करने के लिये अखबार या कोई पुस्तक पढ़ी जा सकती है। अथवा एक गिलास जल या आधा गिलास गरम जल या एक प्याला गरम चाय इसी उद्देश्य से भी लिया जाय और मल त्याग का संकल्प किया जाय तो मल त्याग की संवेदना उठने लगती है। मल त्याग के निश्चित समय की टाल कभी नहीं करनी चाहिये। बाल्यकाल से ही निश्चित समय मल त्याग की संवेदना न भी हो तो भी मल त्याग के लिये जाकर मल विसर्जन का यत्न करना चाहिये। मल विसर्जन न हो तो ग्लिसरीन की बत्ती लेकर ८,१० मिनट बाद फिर जाना चाहिये। अथवा दो,चार ड्राम गिलिसरीन को बराबर जल में मिला ग्लिसरीन सीरिंज से उसे गुदा में प्रविष्ट करके १० मिनट बाद फिर मल त्याग का यत्न करना चाहिये। गिलिसरीन न लिया जा सकता हो तो एक शीर्षासन कर लेना चाहिये। इससे Pelvic Colon में हरकत होकर मल त्याग की संवेदना हो जाती है।

मल बंध रोगी को कम चिकनाई वाला आहार जैसे गाय का दूध, चिकनाई निकला पनीर, तथा फुलका लेना चाहिये। चोकर वाले आटे तथा घर में कुटे चावलों का सेवन करना चाहिये। प्रातः सांय किसी मौसमी फल का सेवन नित्य करना चाहिये। तथा भोजन में दाल की अपेक्षा सब्जियों का सेवन अधिक

करना चाहिये। अर्थात् भोजन रेशा की जो आंत्रगति (Peristalisis) का उत्तेजक हो।

दूध के और मैदे के बने पकवानों, घी, तेल में तले गये खाद्यों, जमीन के अंदर होने वाले कन्दों, बादाम, काजू, अखरोट, आदि सूखे मेवों का मल बंधक होने से परित्याग करना चाहिये। खांड का सेवन भी कम करना चाहिये। उसके स्थान पर गुड़ अथवा Lactose का सेवन करना चाहिये। दूध का अधिक मात्रा में सेवन या भारी जल (Hard Water) का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

ऐसे व्यायाम जिनसे पेट तथा Perineum के प्रदेशों की मांस पेशियों पर जोर पड़ता हो, मल बंध रोग के लिये हितकर होते हैं। इनके अतिरिक्त पेट पर घड़ी की सुई की दिशा में मर्दन करने या मालिश करने या तीन सेर के लगभग भार के किसी पत्थर के फिराने से भी आंत की मांस पेशियों की प्राय शक्ति बढ़ती है।

औषधि चिकित्सा :-

इस रोग की चिकित्सा में औषधियों से कुछ काल के लिये ही सहायता लेनी चाहिये। औषधियों पर निर्भर नहीं हो जाना चाहिये। क्योंकि कुछ काल बाद यही औषधि निष्फल हो जाती है। औषधियों में से जो आंत का स्नेह न करती हैं, मल बंध के लिये विशेष उपयोगी होती हैं। अर्थात् ऐसा स्नेह जिसका आंत में Saponification न हो उसके स्नेह न के लिये विशेष उपयोगी होती है। उदाहरणतः Paraffine Liquid के २,६ ड्राम की मात्रा में सोने से पहले लेने या दोनों समय भोजन के बाद कुछ काल तक लेने से बृहदंत्र तथा मलाशय का स्नेहन हो मलबंध दूर हो जाता है। Liquid Paraffine के Magnesium Hydroxide Mixture के साथ बने Emulsion के प्रयोग से या Petrolagur से भी यही लाभ होता है। इसी प्रकार जैतून तेल Olive Oil के २,६ ड्राम या बादाम रोगन के इतनी मात्रा में प्रातः नाश्ते के बाद तथा रात सोने से पहले लेने से आंतों का स्नेहन हो जाता है। एवं मल बंध दूर होता है।

इसी प्रकार ईसबगोल के बीजों या छिलके के एक बड़े चम्मच की मात्रा में दिन में दो बार एक पाव जल या दूध के साथ लेने से भी आंत की मल प्रवर्तक गति उत्तेजित होती है। ये बीज या छिलके Hydrophilic या पानी को लेकर फूल जाने वाले होने से आंत पर दबाव डाल के उसकी Peristalsis को उत्तेजित करते हैं। Agar का भी १,४ ड्राम की मात्रा में इसी उद्देश्य से प्रयोग किया जाता है। इन स्नेहन, स्नेहक (Lubricant) औषधियों से मलबंध दूर न हो तो इन निम्नलिखित मृदु रेचक (Laxative) औषधियों में से किसी औषधि का प्रयोग करना चाहिये।

१.. Senna Leaves or Pods: : सनाय के पत्तों को ३० ग्रेन की मात्रा

मे या इसकी ५,६ फलियों को थोड़े जल मे पका छान कर स्वयं या दुग्ध के साथ दिन मे एक बार पी लेने से मल खुल कर आने लगता है। अथवा फलियों को जल मे दिन रात भिगोकर छानकर पी लेने से भी यही लाभ होता है।

२.. Liquid Extract of Cascara sagrada के १,२ ड्राम की मात्रा मे रात सोने से पहले लेने से भी मल ढीला हो जाता है। Solid Extract of Casear a Sagrada की ३ ग्रेन और Alôes के २ ग्रेन की मिलाकर बनाई गोली के रात को देने से भी मल ढीला होता है। Elixir of Casèara Sagrada Casgara Evacuant $\frac{1}{2}$, १ ड्राम आदि भी दिये जाते हैं।

३.. Megnesium Hydroxide Mixture (Milk of Magnesia) --- के ४,८ ड्राम की मात्रा मे रात सोने से पहले लेने से मलबंध दूर होता है।

४.. Sodium Phosphate (Sodium Diphosphate) --- के १,२ ड्राम की मात्रा मे प्याले गर्म जल मे प्रातः प्रात रात से पहले लेते रहने से भी मलबंध शांत हो जाता है।

५.. Acid Potassium Tartrate (Cream of Tartar)--- के ३० ग्रेन की मात्रा मे अथवा Sodium and Potassium Tartrate के जो Acid-Potassium Tartrate को फुलाकर Sodium Bi-Carbonate के द्वारा उदासीन करने से बनता है,२,४ ड्राम की मात्रा मे प्रातः आधा गिलास जल मे मिला कर देने से मलबंध ठीक हो जाता है। Seidlitz Powder के द्वारा भी जिसकी दो पुड़ियों के एक गिलास गर्म जल मे मिलाने से यही साल्ट बन जाता है,मल बंध ठीक होता है।

६.. Sodium Sulphate,Sodium Citrate,Sodium-Bi-Carbonate.- तीनों को समान समान मिला कर बनाये पाउडर मे से एक छोटा चम्मच एक प्याले जल मे प्रातः कुछ दिन पी लेने से भी मल बंध दूर होता है। छोटे बालक को Liquid-Extract of Cascana-- ५ बूंद को Syrup of Fig:- ३० बूंद के साथ मिलाकर अथवा Pulv Rhei ३,१० ग्रेन या Extract-Glycyrrhizae Liquid १० बूंद Extract Caseara Aromatic १० बूंद Syrup Fig: ३० बूंद मिला कर या Milk of Magnesia १ ड्राम की मात्रा मे दिन मे २,३ बार दे सकते हैं।

वस्ति चिकित्सा :-

हल्के गर्म Normal Saline की १,२ पाइंट की मात्रा मे .८८ इंच ऊंचाई से पहले प्रति दिन फिर एक एक दिन छोड़ कर फिर कभी कभी वस्ति लेने से कुछ दिन बाद बिना वस्ती के ठीक ठीक मल विसर्जन होने लगता है।

आयुर्वेद मे मलावरोध या मलबंध रोग :-

आयुर्वेद मे कहा गया है कि पुरीष वेग का अवरोध करते रहने से

मलाशय तथा वृहदंत्र का वायु विकृत हो जाता है। जिससे वह मल को यथावत् नहीं फेंकता अर्थात् यह अपान वायु की विकृति से उत्पन्न होने वाला रोग है।

॥ सु० । उ । ५५॥

इसके लिये वायु शामक, स्नेहन चिकित्सा की जाती है। प्रातः सांय थोड़े दूध के साथ या भोजन के प्रारंभ में और अन्त में एक एक तोला घृत थोड़े दूध के साथ या दो चार ग्रास रोटी के साथ कुछ दिन तक ले लिया जाय तो मलबंधा रोग शांत हो जाता है। अथवा ६,६ माशे बादाम रोगन प्रातः तथा रात को दो बार कुछ दिन तक लेने से भी आंत का स्नेहन होकर मलबंधा दूर हो जाता है अथवा रात को ३,४ औंस की मात्रा में किसी वायु शामक मृदु गुण तेल के बस्ति द्वारा मलाशय तथा वृहदंत्र में प्रविष्ट कर देने से भी आंत में वायु की गति ठीक ठीक होने लगती है। इसी प्रकार डेढ तोला उत्तम साबुन को ढाई तोला एरंड तेल में मिला कर उसमें से स्वल्प मात्रा को गुदा में प्रविष्ट कर दे तो मल का वेग होने लगता है।

मृदु रेचन के लिये गुलाब के फूलों और खांड से बना गुलकंद दिन में दो बार ले लिया जाय या गुलकंद और बीज रहित मुनक्कों की चटनी और सनाय के बारीक पत्तों के चूर्ण को मिला कर बनाई बेर बराबर गोलियां दो तीन की मात्रा में रात को ले ली जायें तो प्रातः मल का वेग हो जाता है अथवा मधुयष्ट्यादि चूर्ण (। मुलहटी या गुलाब फूल १६, सनाय के पत्र १६ भाग, गंधक तथा सौंफ ८,८ भाग खांड ५२ भाग।) के १, $1\frac{1}{2}$ ड्राम की मात्रा में रात को लेने से प्रातः मल साफ हो जाता है।

मलाशय गुल्म, मलाशयान्त्रिदोष गुल्म, Carcinoma of the rectum.

क्षुद्रांत्र में लगभग कैंसर का रोग नहीं होता परन्तु वृहदंत्र में जहां मल पतला न रहकर कुछ कठोर होता है बहुधा कैंसर हो जाता है। उसके भी निम्न भाग में अर्थात् मलाशय में विशेषतः यह रोग होता है। मलाशय से उतरकर दूसरे नंबर में यह Pelvic Colon में होता है। उससे उतरकर तीसरे नंबर में यह वृहदंत्र के शेष भागों में पाया जाता है। मलाशय में यह रोग उसके ऊपर के भाग में जहां मलाशय और Pelvic Colon की संधि होती है (अर्थात Rectosigmoid Junction है) वहां यह रोग विशेष होता है। उससे उतरकर दूसरे नंबर पर यह मलाशय के ऊपर के चौड़े भाग Ampulla में होता है। बहुत कम अवस्थाओं में यह गुद ग्रीवा में होता है। यह रोग ५५,६५ वर्ष की आयु के पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होता है। संभवतः यह किसी चिर विक्षोभक कारण से होता होगा परन्तु किस कारण से यह होता है, इस विषय में प्रामाणिक रूप से अभी तक कुछ कहा नहीं जा सकता। अधिकतः तो यह रोग मलाशय की श्लेष्म कला पर गोभी के फूल की तरह उभरे हुये व्रण के रूप में अर्थात् Papillomatous

Cancer के रूप में होता है तथा परीक्षा करने पर Adenocarcinoma अर्थात् लसीका ग्रन्थियों वाला कैंसर पाया जाता है। पहले यह कैंसर श्लेष्म कला तथा उसके नीचे के स्तर अर्थात् Sub-Mucous Coat में होता है तथा इन स्तरों में दूर तक ऊपर नीचे की ओर प्रसरण ~~xxxx~~ कर जाता है। फिर, संभवत: मल स्पर्श से, इसके पृष्ठ पर व्रण भाव होने लगता है। ~~xxxxxxxx~~ जिससे इसका आंत के अंदर का पृष्ठ कुछ प्याला कार हो जाता है परन्तु इसके किनारे उभरे हुये एवं कठोर होते हैं। यह व्रण रूप कैंसर मलाशय के रोग ग्रस्त भाग के चारों ओर या उसके एक अंश में होता है। यदि यह उसके चारों ओर भी फैला हुआ हो तो भी क्योंकि इसमें स्नायु तंतु की वृद्धि (Fibrosis) विशेष नहीं होती। अत: मार्गावरोध (Stenosis) का लक्षण शीघ्र उत्पन्न नहीं होता। श्लेष्म कला तथा Sub-Mucous Coat में से फिर यह क्रमश: मलाशय की दीवार के मांस मय स्तर में प्रसरण कर जाता है। इस अवस्था तक अर्थात् इस रोग की प्रारंभिक अवस्था में यह रोग शल्य कर्म द्वारा ठीक किया जा सकता है। परन्तु जब यह मांस के बाहर बाह्यावरण या (Peritoneum) में प्रसार कर जाता है वहां के Lymph Glands में आ जाता अथवा जब यह Superior Haemorrhoidal Artery के साथ साथ पड़े हुये Glands में और वहां से Lumber Glands में संक्रमण कर जाता है तब शल्य कर्म द्वारा इसका ठीक कर सकना असंभव हो जाता है।

मलाशय के ऊपर के भाग में एक दूसरी प्रकार का कैंसर भी होता है जिसमें मलाशय की दीवार कठोर हो जाती है जिससे बीच का रास्ता तंग हो जाता है। इसमें व्रणभाव इतना नहीं होता जितना कठोरता का लक्षण होता है। यह मलाशय या Colon को तंग कर देता है। इसलिये इसे Annular Cancer या क्योंकि इसमें स्नायुभाव (Eibrosis) विशेष होता है इसलिये इसे Cirrhoustype of-cancer. कहते हैं। इसके कारण मलाशय के ऊपर के भाग में मार्गावरोध का लक्षण विशेष होता है।

लक्षण :-

मलाशय में कैंसर बड़े अज्ञात रूप में आरंभ होता है। प्रारंभ में इसके कोई लक्षण ~~xx~~ ही नहीं होते, जिससे इसे जाना जा सके। इसी अवस्था में यह साध्य है। जब तक लक्षण उत्पन्न होते हैं तब तक यह इतना दूर तक फैल चुका होता है कि शल्य कर्म से साध्य ही नहीं रहता। यह बड़े दौर्भाग्य की बात है इसलिये चिकित्सक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इस रोग के निदान करने में निपुण हो। इसीलिये जब कभी एक बड़ी आयु के पुरुष में आयु में पहली बार मलाशय संबंधी कोई लक्षण लगातार रहने लगें अर्थात् मलावरोध होने लगे या दिन में कई बार मल विसर्जन होने लगे तो इस रोग का संदेह करना चाहिये।

कैंसर में व्रण भाव के कारण मल में रक्त का अंश भी आता है। इसलिये मल की परीक्षा करनी चाहिये उसमें अव्यक्त रक्त (Occult Blood) मिल जाय तो इस रोग की आशंका और दृढ़ हो जाती है। रोगी को बांये पार्श्व पर लिटा कर दोनों गोडों को पेट की तरफ संकुचित करके गुदा की अंगुली द्वारा स्पर्श परीक्षा की जाय तो संभव है कि अंगुली के सिरे से कैंसर के कठोर किनारों को अनुभव किया जा सके। अथवा व्रणभाव के कारण तथा थोड़ा थोड़ा रक्त स्राव होने तथा विष संचार (Toxaemia) के रहने से रोगी निर्बल एवं पांडु होता जाता है। एवं इसे मंद या सांयकालिक ज्वर भी हो जाता हो ~~तो इस रोग का संदेह करना चाहिये~~ तथा। रोगी के रक्त की परीक्षा करने से Blood Sedimentation-Rate बढ़ा हुआ हो तो भी इस रोग की आशंका हो जानी चाहिये।

यदि मलाशय या उसके ऊपर के Pelvic Colon में कठोर कैंसर (Cirrhous Annular Cancer) हो तो प्रारंभ से ही मलापरोध का लक्षण बड़ा स्पष्ट होता है। इसलिये यदि विरेचक औषधि के या बस्ति के बिना मल त्याग का होना कठिन हो रहा हो तो भी इस रोग का संदेह हो जाना चाहिये। इस प्रकार के कैंसर में व्रण भाव बाद में होता है। अतः रक्त स्राव या मल में रक्त की उपस्थिति का लक्षण इसमें नहीं होता। कभी कभी मलाशय का कैंसर से ग्रस्त यह भाग लटकता लटकता गुदा में से योनि मुख (Cervix Uteri) के समान निकलता है दीखता है। तथा इस Neoplasm और Internal-Sphincter के बीच का प्रदेश अंगुली द्वारा देखने से Vaginal Fornix के समान ही प्रतीत होता है। यदि किसी बड़ी आयु के व्यक्ति में यकृत वृद्धि का रोग हो जाय या जलोदर हो जाय या कामला रोग प्रारंभ हो जाय तो भी इस रोग का संदेह करना चाहिये। क्योंकि यकृत में Secondary कैंसर होकर उसके यकृत के Transverse Fissure पर दबाव पड़ जाने एवं Portal Vein या Bile Duct. के दब जाने से ये दोनों रोग हो सकते हैं। Berium की बस्ति देकर X-Ray. परीक्षा करने पर मलाशय का यह रोग ग्रस्त भाग तंग हुआ या विषम आकृति का दीखता है। यदि यह गुल्म Sigmoid Colon में हो तो बांये पेट के निचले भाग में स्पर्श द्वारा अनुभव हो सकता है। जब इस रोग का पूर्वावस्था में पता नहीं चलता तब व्रणभाव की वृद्धि होते जाने से विष संचार (Toxaemia) बढ़ता जाता है। रक्त स्राव के जारी रहने से पांडुता बढ़ती जाती है। तीव्र वेदना केवना के कैंसर का प्रधान लक्षण होने से रोगी में भूख और निद्रा दोनों विलुप्त हो जाते हैं। शिथिल एवं निर्बल होता हुआ रोगी प्रायः इन लक्षणों के प्रारंभ होने के डेढ़/दो वर्षों के बाद मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

अर्शांकुर, गुदांकुर, :- Piles, Haemorrhoids.

गुद नलिका (Anal Cannal) की दीवार में विद्यमान शिराओं का को ं

एक गुच्छा रक्त के भर जाने से फूल जाय अर्थात् Varicose हो जाय तो उस उभार या अंकुर को अर्शांकुर (Piles) कहते हैं। आभ्यन्तर और बाह्य भेद से ये अंकुर दो प्रकार के होते हैं। गुद ग्रीवा के ऊपर के भाग की शिराओं के फूलने से जो अंकुर बनते हैं और जो केवल मृदु श्लेष्म कला से ही ढके होते हैं आभ्यन्तर अंकुर (Internal Piles) कहलाते हैं। गुद ग्रीवा के निचले भाग में स्थित शिराओं से बने अंकुर जो श्लेष्म कला और त्वचा से ढके होते हैं बाह्य अंकुर (External Piles) कहलाते हैं।

कारण :-

गुद ग्रीवा के ऊपर के भाग की शिराओं का रक्त Superior Haemorrhoidar Vein. के द्वारा Partal Vein में जाता है। इससे स्पष्ट है कि यदि यकृत में रक्त संचय हो जाय अर्थात् यकृद्रोग (Hep: Cirrhosis) हो अथवा यदि आमाशय आंत आदि में कहीं पर शोथ और रक्त संचय विशेष हो अर्थात् अजीर्ण रोग हो तो इसका दुष्प्रभाव गुद ग्रीवा की शिराओं पर भी पड़ता है इसी प्रकार गुद ग्रीवा के निचले भाग का रक्त (Middle) तथा Inferior Haemorrhoidal Vein के द्वारा Hypogastric Vein में जाता है इसलिये यदि हृदय रोग हो तो भी गुदग्रीवा में रक्त का संचय बढ़ने लगता है। इन दूरवर्ति कारणों के अतिरिक्त यदि मलावरोध का रोग बना रहता हो जो कि व्यायाम न करने वाले परन्तु गरिष्ट और कृत्रिम भोजन करने वालों में होता है तो कठोर मल के संघर्ष से भी गुद ग्रीवा की शिराओं में अधिक अधिक रक्त भरने लगता है। उनमें अधिक रक्त के भरने से ही गुदांकुर उत्पन्न होते हैं। यह रोग बहुधा ३० वर्ष की आयु के लगभग आरंभ होता है। तथा पुरुषों में अधिक होता है। एक अर्शांकुर की परीक्षा करें तो उसके अंदर रक्त से भरा हुआ एक शिरा गुच्छ होता है जिस पर श्लेष्म कला या त्वचा की एक पतली तह चढ़ी होती है। मल त्याग के समय जब कठोर मल का इस गुच्छ पर दबाव पड़ता है तो बहुधा इस श्लेष्म कला के फट जाने से रक्त स्राव हो जाता है। इस प्रकार इस रोग की प्रथम अवस्था में अंकुर से रक्त स्राव होता रहता है। कभी कभी इस अंकुर की छिली हुई श्लेष्म कला में से जीवाणु संक्रमण हो जाने से शिरा गुच्छ में शोथ ~~हो जाता है।~~ (Phlebitis) का रोग हो जाता है। इसे बवासीर का दौरा (Attack) कहते हैं। जिसमें गुदा के अंदर विशेष वेदना रहती है। शिरा गुच्छ में शोथ देर तक रहे तो फिर उसके विक्षोभ से इस शिरा गुच्छ पर चढ़ी हुई श्लेष्म कला तथा त्वचा में अति वृद्धि (Metaplasia) हो जाता है। जिससे ये मोटी हो जाती हैं तथा श्लेष्म कला के Columnar सेल Squamous सेलों में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में फिर कठोर मल के संघर्ष से भी रक्त स्राव नहीं होता।

लक्षण :-

गुदांकुर का रोग युवावस्था में प्रारंभ होता है तथा प्रथमावस्था में मल त्याग के समय बूंद बूंद या धारा रूप में रक्त स्राव होने का लक्षण होता है। कुछ काल बाद विशेषतः बाह्यांकुर में जब स्नायुतंतु वृद्धि (Fibrosis) विशेष हो जाती है तब समय समय पर इसके सूज जाने से दर्द होने का लक्षण विशेष होता है। कठोर मल के द्वारा मल त्याग के समय इसके घिस जाने से कभी कभी जो रक्त स्राव होता भी है वह स्वल्प मात्रा में ही होता है।

अर्श की चिकित्सा :-

तीक्ष्ण उष्ण गुण आहार द्रव्य जैसे लाल मिरच, मद्य, तेल, मसाले, गुदा के लिये विक्षोभक होते हैं। मांस तथा घृत तेल आदि के बने आहार द्रव्य भी अजीर्ण तथा मल बंध कारक होते हैं। इनके अधिक प्रयोग करते हुये बैठे रहने से यकृत् तथा Portal Veins में रक्त का संचय अधिक होता है। इसलिये इनका भी परित्याग करना चाहिये। मलाशय में कठोर मल के रुके रहने से या गुदा की ठीक ठीक सफाई न होने से भी गुदा के अंकुर सूजते हैं अतः किसी मृदु रेचक गुण औषधि का सेवन करना चाहिये। Paraffine आधा औंस का दिन में एक दो बार प्रयोग किया जा सकता है। अथवा Sulphur के Confection (Guaiacum resin १०, Rhubarb २०, Acid Potassium Tartrate. ७५, Nutmeg: १०, Sublimed Sulphur १४५, Honey ७४०, भाग) का प्रयोग लाभदायक होता है या Pulvglycerrhiza co का १, २ ड्राम की मात्रा में प्रयोग करना उचित है। अर्श की दर्द के लिये रोगी को गर्म जल में आधा ~~XXXXX~~ घंटे बैठा देने से या गर्म बोतल से सेंकने से लाभ होता है।

रक्त स्राव अधिक हो तो मुलायम Lint को Hamamelis या Liquid Hazeline में भिगोकर गुदा में प्रविष्ट कर देना चाहिये। Calamine Powder से भरी हुई Lint गुदा में डाली जा सकती है। अथवा Bismuth Subgallate Suppository (५, ७$\frac{1}{2}$ ग्रेन) या Hamamelis (१, ३ ग्रेन) Suppository या Tonnic Acid Suppository (३, ५ ग्रेन) गुदा में रखनी चाहिये।

आयुर्वेद में अर्शोरोग :-

आयुर्वेद में कहा गया है कि पाचक अग्नि के मंद हो जाने से शरीर में मल अधिक मात्रा में संचित हो जाता है। ऐसी अवस्था में गुदा के अंदर कोई विक्षोभक कारण पहुंचा दें अर्थात् कठिन आसन पर बैठा जाय, या कठोर सवारी का प्रयोग किया जाय, या वेग को रोका जाय, या बल पूर्वक मल का

विलीन किया जाय तो वहाँ पर इस मल का विशेष संचय हो जाता है। इस प्रकार मलिन रक्त का संचय होने से गुदांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। गुदा में रक्त का यह संचय जब विशेष तथा हृदय और शरीर की निर्बलता से हो तब इसे वातिक अर्श (Asthenic Piles) कहते हैं। जब तीक्ष्ण उष्ण गुरु आहार विहार के कारण गुदा में तीव्र रक्त संचय होकर गुदांकुर उत्पन्न हों तब इसे पित्तार्श (Inflammatory या Bleeding Piles) कहते हैं। जब अग्नि के मंद होने व्यायाम के न करने तथा गुरु गुरु आहार के अति मात्रा में करने से यकृत, आंत, गुदा आदि में रक्त का संचय विशेष हो तब इसे श्लैष्मिक अर्श (Proliferative या Hypertrophic Piles) कहते हैं। ॥ च।चि।१२॥

अर्श की चिकित्सा :-

आयुर्वेदानुसार अर्शोन्कुरों की निवृत्ति के लिये एक तो मंद हुई अग्नि को बढ़ाने दूसरे आंत में बढ़े हुये अथवा वायु को शांत करने के उपाय करने चाहिये।

शुष्कार्श :-

वात प्रधान अर्शोन्कुर अधिक रक्त स्रावी नहीं होते। अतः उन्हें शुष्कार्श कहते हैं। इनमें वेदना और बंधु ये दो प्रधान लक्षण होते हैं। इनकी उष्ण गुरु चिकित्सा होनी चाहिये। वात प्रधान अर्श की उष्ण परन्तु बलवर्धक अर्थात् उष्ण स्निग्ध चिकित्सा, तथा प्रधान अर्श की लंघन गुरु या उष्ण रूक्ष गुरु चिकित्सा होनी चाहिये। मृदु रेचन तथा उष्ण वस्ति देने के बाद इनमें त्रिफला, हरीतकी, त्रिवृत, पंचकोल, गुग्गुलु, चित्रक मूल, आदि का वात प्रधान अर्श में दुग्ध घृत के साथ तथा प्रधान अर्श में उष्ण जल या मट्ठा के साथ या गो मूत्र शोधित हरीतकी के साथ प्रयोग करना चाहिये।

कुसब्बर, गुग्गुलु, रसौंत समान समान ही बहुत से मूली स्वरस के साथ बनी हुई गोलियाँ भी वातिक अर्श के लिये बड़ी लाभदायक हैं। अथवा त्रिफला, नीम गिरि, गंधक, सनाय, प्रत्येक पृथक पृथक एक भाग तथा रसौंत सबके तुल्य मिला अनेक बार मूली रस से मर्दन करके बनाई हुई बड़ी बड़ी गोलियाँ दिन में दो तीन देनी चाहिये। अथवा चित्रक मूल को १६ गुणा दुग्ध में पका उससे निकाले घृत का प्रयोग करना चाहिये। गंधक रसायन १,२ माशे की मात्रा में दिन में दो बार देना भी लाभदायक है।

त्रिफला चूर्ण, त्रिवृत चूर्ण या गुरव्या हरड़ के द्वारा विरेचन लेने से गुद शूल, गुद शोथ, शांत होते हैं। अभयारिष्ट, त्रिफलारिष्ट, चन्द्रप्रभा, योगराज गुग्गुलु के कुछ काल प्रयोग से भी शुष्कार्श शांत होते हैं। मूली, सूरणकंद, के प्रयोग तथा लघु भोजन से भी गुदा का शोथ दूर होता है।

गुद शोथ ... मूत्र की शांति के लिये रोगी की गुदा पर ... बत्ती

और हल्दी की गरम पौल्टिस बांधते हैं या रसौंत, कपूर तथा बिनौले की गिरी समान समान की बनी बत्ती पानी में घिसकर लेप की जाती है। या ५ तोला घृत में १ माशा कपूर मिला के गुदा में लगाने से भी दर्द शांत होता है।

स्रावी अर्श :-

पित्तार्शांकुर रक्त स्रावी होते हैं। इनकी शीत चिकित्सा की जाती है। रोगी निर्बल हो अर्थात् पित्त के साथ वात का अनुबंध हो तो रोगी की शीत स्निग्ध चिकित्सा होनी चाहिये। रोगी में अग्नि की मंदता हो अर्थात् कफ की वृद्धि भी हो तो शीत रूक्ष चिकित्सा होनी चाहिये। इस प्रकार शीत चिकित्सा के साथ दोषानुसार रोगी का लंघन, शोधन आदि अथवा बृंहण तर्पण आदि होना चाहिये। रक्त स्राव के लिये अर्थात् पित्त के शमन के लिये सितोपलादि चूर्ण को देना चाहिये या गोमय चूर्ण, सेमल के फूल के चूर्ण, को मिश्री के साथ मिलाकर तीन तीन माशे की मात्रा में तीन बार पिलाना चाहिये। अथवा उशीरासव का या चन्दनासव का या बोलपर्पटी, (रस गंधक कज्जली २, गुडूची सत्व १, हीराबोल ३ भाग।) का २, ४ रत्ती मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। रक्तावरोध के लिये गुदा में शतधौत घृत, या पंचवल्कल जल में धोया हुआ घृत, या दूर्वाघृत, या माजूफल चूर्ण १ तोला में फटकरी खील, दो माशा, कपूर १ माशा, मिलाके १६ गुणा घृत में मिलाकर बनाई मरहम या फटकरी और सुहागे की खील बराबर बराबर मिला कर १६ गुणा घृत में मिलाकर बनाई मरहम लगानी चाहिये।

आन्त्रिक कृमि: (Intestinal Worms)

१.. गेंडुपद कृमि :- Ascaris Lumbrocoides या Round Worms.

बालकों तथा नवयुवकों की छोटी आंत में गेंडुपद की आकृति का श्वेत भूरे रंग का, दोनों सिरों पर नोकीला कृमि होता है, जिनमें से नर कृमि ६, ७ इंच, मादा कृमि ८, ९ इंच लंबा होता है। इसके अंडे मल के साथ बाहर आते हैं और जल आदि द्वारा दूसरों के पेट में पहुंचते हैं। वहां इनके Larvae निकल कर शरीर के अंगों में बढ़ते हैं और बढ़कर फिर आंत में आ जाते हैं।

बहुधा इनके आंत में रहने पर भी कोई लक्षण नहीं होता। अथवा बालक रात को दांत कटकटाता है। या इनमें आक्षेप का लक्षण भी हो सकता है। अंत में एक कृमि के बाहर आने पर ही इसका पता चलता है।

चिकित्सा :-

इनके आंत में से निकालने के लिये :-

Piperazine Citrate Antepar तथा Elixir W. Pinocide Syrup. Tablets B. उत्तम औषधि है।

इस साल्ट की ३ ग्राम मात्रा युवक को तथा २ ग्राम मात्रा बालक को रात के भोजन से पहले देने तथा प्रात: Sodium या Mag: के Sulphate की ३,४ ड्राम की मात्रा के देने से ये कृमि बाहर आ जाते हैं।

Piperazine Adepate(Entacyl- B.D.H.) की ३ ग्राम की गोलियाँ भी मिलती हैं। युवक को इसकी ४, ४ $\frac{१}{२}$ ग्राम एक मात्रा ४ बार करके, भोजन के बाद तथा बालक को इसकी ३ ग्राम मात्रा इसी तरह ४बार करके एक दिन दे दी जाती है और अगले दिन प्रात: रेचक औषधि दे दी जाती है। या इतनी मात्रा को तीन दिन में देकर, फिर रेचक दे देना चाहिये।

२.. Santonin भी गेंडूपद कृमि के निकालने के लिये दिया जाता रहा है। युवक को ३ ग्रेन की, बालक को १,२ ग्रेन की मात्रा रात को देकर प्रात: एरंड तेल पिला दिया जाता है। एक एक दिन छोड़ कर २,३ बार इसका प्रयोग किया जा सकता है।

३.. Caprokel(Hexyl-resourci-nol) केप्सूल बाजार में मिलते हैं। पहली सांयकाल ४ ड्राम सोडा सल्फ देकर पेट साफ कर देना चाहिये। फिर प्रात: युवक को एक ग्राम मात्रा में तथा बालक को '६६-'८ ग्राम मात्रा में यह औषधि निगलवा देनी चाहिये। इसके ४ घंटे बाद सोडा सल्फ की दूसरी मात्रा दे दी जाती है। इस बीच में भोजन नहीं देना चाहिये।

४.. Hetrazan प्रति सेर भार के पीछे ~~आधा~~ 8-2 मिलिग्राम के हिसाब से 6 दिन ~~दिनों तक रात को देकर प्रात: रेचक~~ देने से भी ये निकल जाते हैं।

गुदकृमि, सूत्रकृमि,:- Oxyurisvermicularis, Thread Worms:-

बच्चों तथा बड़े व्यक्तियों दोनों के गुदा में या मल में पाये जाने वाला एक छोटा सा कृमि है। जिसमें नर कृमि ३ मिलीमीटर, मादा कृमि ७ मिलीमीटर लंबा होता है। यह बड़ी आंत में रहता है। परन्तु मादा कृमि गुदा में आकर विशेषत: रात को अंडे देता है। इससे रात को गुदकंडू बहुत होती है। गुदा पर से इस कृमि के अंडे अपने तथा दूसरों के पेट में पहुंच जाते हैं और फिर बढ़कर कृमि का रूप ले लेते हैं। इनके नष्ट करने के लिये ४,८ औंस ३ प्र० श० लवणोदक (Hypertonic Saline) या ४० में १ कोशिकावसे Quassia की बस्ति २,४ दिन तक देनी चाहिये तथा गुदा पर Yellow ox.of mere: की १ प्र० श० मलहन लगा देनी चाहिये।

इस कृमि के नष्ट करने के लिये भी Piperazine Citrate का ~~उपर्युक्त विधि से~~ प्रयोग अत्युत्तम है। Eutelon ·५ ग्राम की ~~एक~~ एक गोलियाँ दिन में ३ बार, ... है। Hexyl Resorcinol के

•२ ग्राम Crystal, पांच, खाली पेट देकर पीछे जुलाब की औषधि देने से भी ये कृमि निकल जाते हैं। Gentian Violet Meroxylan ½ ग्रेन दिन में २ बार, आठ दिन देने से भी ये कृमि नष्ट हो जाते हैं।

कद्दू दाने :- Tape Worm, Taenia Solium.

सुअर के अधकच्चे पके मांस के खाने वालों में कद्दूदाने जैसा यह कृमि पाया जाता है। अर्थात् कद्दू दानों जैसे टुकड़ों के मिलने से ७ फुट के लगभग लंबा यह कृमि होता है जिसके टुकड़े रोगी के मल में टूट टूट कर निकलते रहते हैं। जब तक इसका शिर नहीं निकल जाता, यह कृमि अंदर बढ़ता ही रहता है। इसके अंडे मल के द्वारा सुअर के पेट में चले जाते और Larvae बनकर उसके मांस में संचित हो जाते हैं जो फिर मांस के खाने वाले की आंत में बढ़कर बड़े कृमि का रूप ले लेते हैं।

चिकित्सा :-

इस कृमि के निकालने के लिये रोगी को दो दिन दुग्धाहार मात्र पर रखकर तीसरे दिन प्रातः आधा आधा ग्राम में पाक्रीन (Mepacrine) को दो दो ग्राम सोडा बाईकार्ब के साथ एक गिलास जल में १, २ घंटे के अंतर से दे देनी चाहिये। दूसरी मात्रा के १, २ घंटे बाद Soda Sulph: ४ ड्राम मात्रा में दे देना चाहिये। इससे कृमि भी शिर से लेकर बाहिर निकल जाता है। अथवा दो दिन के दुग्धाहार के बाद तीसरे दिन प्रातः Extractum Filicis Liequidum. १५, १५ बूंद मात्रा में कैप्सूल में बंद करके १५, १५ मिनट पर चार पांच बार देकर दोपहर को ४ ड्राम Mag: Sulph: की एक मात्रा दे देनी चाहिये। इससे भी कृमि मर कर निकल जाता है। आयुर्वेदानुसार अजीर्ण तथा बाहर से जीवाणु बीज संक्रमण, ये दो इस रोग के कारण कहे गये हैं। कद्दूदाने के सदृश कृमि के आंत से बाहिर निकालने के लिये लाल फूल के कद्दू के १ छटांक बीजों की गिरी, १ छटांक मिश्री के साथ मिलाकर १ पाव जल में रगड़ कर पिला दी जाती है। और इसके १, २ घंटे बाद दो औंस एरंड तैल दूध में मिला कर पिला दिया जाता है। इससे यह कृमि बाहिर आ जाता है।

कमीला और विडंग भी इस कृमि को बाहिर निकालते हैं। कमीला १ माशा, विडंग २, ३ माशा की मात्रा में मिला कर एक बार एक सप्ताह तक शहद के साथ देने से यह कृमि बाहर हो जाता है अथवा कमीला ३ माशा, १ तोला गुड़ के साथ मिला कर तीन दिन तक रात को एक बार लेने से भी यह कृमि निकल जाता है। गंडूपद कृमि, पलाश बीज की १ माशा की मात्रा में दिन में तीन बार, तीन दिन तक देने और फिर किसी विरेचक औषधि के देने से बाहर हो जाते हैं। इन कृमियों के लिये [illegible] मैं मिलाकर भी दीज

३

दिन बस्ती देने तथा गुदा को साबुन से धो कर स्वच्छ रखने से बहुत कुछ लाभ रहता है। तथा निम्नलिखित से बनी गोली जैसे निसौथ डेढ़ तोला, हिंग एक तोला, तथा खुरासानी अजवायन और पलाश बीज आधा आधा तोले से बनी गोलियों के कुछ दिन तक दिन में ३,४ बार देने से सब कृमि आंत में से निकल जाते हैं।

यकृत- रोग :-Diseases of the Liver.

यकृत की रचना :-

यकृत, शरीर की सबसे बड़ी ग्रन्थि (Gland) है। इसमें शरीर का एक चौथाई रक्त रहता है। दाहिनी पसलियों के पीछे Right Hypochondrium इसका स्थान है। यह अगणित छोटी छोटी खंडिकाओं (Lobules) और इनको परस्पर जोड़ने वाले स्नायु तंतु से जिसे Portal Canals कहते हैं, बना है। प्रत्येक खंडिका (Lobule) अगणित छोटे छोटे सेलों से बनी हुई है जो गोल होते हैं पर परस्पर दब जाने से बहुपार्श्वीय (Polygonal) दीखते हैं। इन्हें Liver Cells कहते हैं। इनमें Glycogenn होते तथा वसा का कुछ अंश रहता है। ये सेल पित्त या बाइल के निर्माण का कार्य करते रहते हैं।

यकृत में रक्त एक तो Portal Vein के द्वारा दूसरे Hepatic-Artery के द्वारा आता है जो इसके निचले पृष्ठ पर स्थित Fissure में से Hepatic Duct. के साथ प्रवेश करती हैं। यकृत में प्रवेश करके ये तीनों प्रत्येक Lobule के चारों ओर के स्नायु तंतु (Portal Canals) में फैल जाती हैं। यदि एक Lobule की परीक्षा करें तो इसके चारों ओर के सूक्ष्म स्नायु तंतु में इन तीनों की एक एक प्रशाखा मिलती है। इन तीनों में से Hepatic Artery तो यकृत के अंदर स्थित स्नायु तंतु को तथा Portal Vein और Bile Ducts के स्नायु तंतु को रक्त पहुंचाती है। Portal Vein यकृत के सेलों को रक्त पहुंचाती है। यदि एक Labule की परीक्षा करें तो इसके चारों ओर के स्नायु तंतु में एक सूक्ष्म Vein पाई जाती है जिसे Inter Lobular Vein कहते हैं। इसमें से छोटी छोटी Veins निकल कर लिवर सेलों की पंक्तियों के बीच बीच में से चलती हुई Lobule के केन्द्र तक जाती हैं। इन छोटी छोटी रक्त की प्रणालिकाओं को Intraobular Sinusoids (यकृत खंडिका सिरायें) कहा जाता है। Lobule के केन्द्र में इन छोटी छोटी सिराओं के मिलने से भी एक सिरा बन जाती है इसे Intralobular Vein या Central Vein कहते हैं फिर इन सिराओं के मिलने से Sublobular Veins बनती हैं और इनके मिलने से Hapatic Veins बन जाती हैं जो रक्त को वापिस Inferior Venacava में ले जाती हैं। Lobule के चारों ओर की Hepatic Artery की प्रशाखायें भी निकल कर इन्हीं Intralo-

Bular Sinusoida में मिल जाती है अर्थात् यकृत् के सेलों को Portal Vein तथा Hepatic Artery दोनों का सम्मिलित रक्त मिलता है। Lobule के सेलों की सूक्ष्म परीक्षा करें तो पता चलता है कि ये सेल Portal Canal से Central Vein तक पंक्तियों में पड़े होते हैं जिनमें से प्रति दो पंक्तियों के बाहिर दोनों ओर तो Sinusoids होती हैं और दोनों के बीच में एक सूक्ष्म सी पित्त प्रणालिका (Bile Capillary) होती है। अर्थात् सेलों की प्रत्येक पंक्ति के एक ओर तो रक्त वाहिनी होती है/दूसरी ओर पित्त वाहिनी होती है। स्पष्ट है कि यकृत् के ये सेल रक्त में रहने वाले Blood Bilirubin को लेकर उसे Bile Bilirubin में परिवर्तित करते रहते हैं। एवं पित्त या बाइल का निर्माण करते रहते हैं फिर यह पित्त Lobule के अन्दर विद्यमान इन Bile Canaliculi या पित्त प्रणालिकाओं के द्वारा वापिस पित्त प्रणाली (Bile Duct) में जाता रहता है। Lobule के अंदर की सूक्ष्म शिराओं Sinusoids की दीवारें चपटे Endothelial सेलों के अतिरिक्त शाखाओं वाले सेलों से जिन्हें Kupffer Cells कहते हैं बनी है। ये शाखायें वाले सेल Reticulo-endothelial सेल होते हैं जो कि प्लीहा मज्जा आदि के अंदर की रक्त वाहिनियों में विद्यमान Reticuloendothelial सेलों की तरह रक्त के अंदर विद्यमान टूटे हुवे रक्ताणुओं के Haemoglobin से Blood-Bilirubin बनाने का कार्य करते हैं। इस प्रकार यकृत् का प्रधान कार्य यह होता है कि यह रक्त के अन्तर्गत Blood Bilirubin को पृथक् करके पित्त या बाइल के रूप में अर्थात् Bile Bilirubin के रूप में आंत द्वारा शरीर से बाहिर कर दे। दायें बायें Vagus Nerves की तथा Sympathetic Nerves की शाखायें जो Caeliac Plexus से आती हैं। और Portal Vein,Hepatic Artery और Bile Duct के साथ साथ सारे यकृत् में फैली हैं और अंत में लिवर के सेलों में समाप्त होती हैं।

यकृत् की क्रिया :-

प्रधानतः यकृत् एक बड़ी पित्त स्रावक ग्रन्थि है। यद्यपि मृत हुवे रक्ताणुओं को पकड़ कर उनसे प्लीहा आदि के Reticulo Endothe-lial सेल Blood Bilirubin बना देते हैं तो भी यकृत के पित्त में पाये जाने वाले Bile Bilirubin उससे भिन्न होता है। Blood Bilirubin शरीर की Membrances में आर पार नहीं हो सकता अर्थात् Dialysable नहीं होता। अतएव वह वृक्कों में से निकल कर मूत्र में नहीं जाता,यकृत् के सेलों के द्वारा तैयार हुआ Bile Bilirubin,Dialysable

--- या Membranes में से छनने योग्य होता है एवं मूत्र में बाहर निकल जाता है। तथा Vandenbergh Solution को यदि Bile Bibirubin में मिलाया जाय तो तुरंत Blue Violet रंग आ जाता है। परन्तु यदि इसी Solution को Blood Bilirubin में मिलाया जाय तो उसके बाद जब तक ६६ प्रतिशत Alcohol न मिलाया जा Violet रंग नहीं आता। यकृत में से ७०० सी०सी० के लगभग पित्त या बाइल प्रतिदिन उत्पन्न होता है। यह आंत में पहुंच कर वसा के पाचन में Lipase की सहायता करता है। आंत की गति Peristalsis को उत्तेजित करके मलावरोध नहीं होने देता। आंत के अंदर जीवाणुओं की वृद्धि को रोकता है। इस बाइल के निकलने के साथ रक्त का न केवल Blood Bilirubin ही नहीं Cholesterol भी निकलता है। यद्यपि रक्त के Cholesterol तथा पित्त में निकलने वाले Cholesterol में विभिन्नता होती है क्योंकि जब यकृत रुग्ण होता है तब Blood Cholesterol में उचित परिवर्तन न हो सकने से वह पित्ताशय (Gall Bladder) में जाकर बैठ जाता है। जिससे पित्ताश्मरी (Gall Stone) बन जाने का भय रहता है। यकृत में Bile Bilirubin के साथ साथ Bile Salts जो Cholic Acids या Bile Acids के Sodium Salts होते हैं भी उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के कारण से बाइल में Cholesterol घुला रहता प्रतीत होता है। यकृत से Bile Ducts के द्वारा यह पित्त ग्रहणी में पहुंचता है। वहां आंत गत जीवाणु इस Bile Bilirubin को एक कुछ विकारी पदार्थ Stercobilinogen में परिवर्तित कर देते हैं फिर Oxigen के मिलने से यही पदार्थ Stercobilin बन जाता है और मल के साथ बाहिर निकल जाता है। इसके भूरे से रंग के होने के कारण ही मल का भूरा सा रंग होता है। आंत में विद्यमान Stercobilinogen कुछ विलीन होकर फिर Portal Vein द्वारा यकृत में पहुंच जाता है तथा यकृत में से इसका कुछ अंश Hepatic के द्वारा वापिस रक्त में पहुंचता है और वहां से यह Urolbilinogen के रूप में मूत्र में निकलने लगता है। मूत्र को हवा लगने से अर्थात् आक्सिजन के मिलने से यही फिर Urobilin बन जाता है। जब यकृत के सेल रुग्ण होते हैं एवं वे Urobilinogen को निकाल नहीं सकते हैं। तब रक्त में Blood Bilirubin और Urobilinogen दोनों की मात्रा बढ़ने से कामला होती है। यदि यकृत के सेल तो स्वस्थ हों परंतु Haemolysis की अधिकता हो तब रक्त में केवल Blood Bilirubin की वृद्धि के कारण कामला होती है। पित्त या Bile बनाने के अतिरिक्त यकृत निम्नलिखित कार्य भी करता है।

१.. ग्लूकोज को Glycogen के रूप में अपने अंदर सैलों में संचित रखता है।

२.. अपने सैलों में Fat को संचित रखता है जिसकी सहायता से इसमें विटामिन A.D. संचित रहते हैं तथा फिर यह फैट वहां Lecithin में परिवर्तित होकर तन्तुओं तक पहुंचता है।

३.. रक्त के प्रोटीन, जैसे Fibrinogen तथा Albumin भी यकृत में ही बनते हैं। यकृत Vitamin "K" की सहायता से Prothrombin भी तैयार करता है।

४.. यकृत के सैलों में लोह का अंश भी होता है जो Haemoglobin के बनने में काम आता है।

५.. यकृत के अंदर एक रक्त बनाने वाला तत्व Blood Forming Factor संचित रहता है जो अस्थि मज्जा के अंदर रक्त कणों की उत्पत्ति में सहायक होता है।

६.. रक्त में विद्यमान एक Enzyme जिसे Alkaline Phosphatase कहते हैं। यकृत में से निकलने वाले पित्त में निकलता है।

७.. शरीर में काम न आने वाले प्रोटीन से यूरिया बनने की प्रक्रिया भी यकृत में होती है।

८.. रक्त को जमने से रोकने वाला पदार्थ Heparin भी यकृत के Connective-Tissue में विद्यमान Mast Cells से उत्पन्न होता है।

९.. आंत में से जो विषैले पदार्थ रक्त द्वारा प्रवेश कर जाते हैं वे यकृत में नष्ट कर दिये जाते हैं। इसे यकृत का Detoxicating Function कहते हैं। Hepatic Artery के द्वारा अथवा संक्रामक रोगों तथा Injection द्वारा शरीर में प्रविष्ट विषैले द्रव्य भी यकृत में नष्ट हो जाते हैं। परन्तु यदि विष द्रव्य तीव्र हों तथा यकृत की प्राण शक्ति या प्रतिरोध शक्ति ही न हो तो इन के कारण यकृत के सैल क्षीण (Degen.) होने लगते हैं।

यकृत-परीक्षा— (प्रयोग शाला संबंधित)

१.. Vanden Bergh Test:- कामला रोग यकृत रोग के कारण है अथवा पांडु की अधिकता के कारण है। (Haemolytic) है। इसके जानने के लिये यह परीक्षा उत्तम है। साधारणतः १०० सी.सी. रक्त में Plasma-Bilirubin आधा मिलिग्राम मात्रा में होता है। दूसरे शब्दों में २ से ५ लाख में एक के हिसाब से होता है। जब यह इसका ४ गुणा हो जाता है अर्थात् १०० सी.सी. रक्त में २ मिलिग्राम अथवा ५० हजार में १ तक बढ़ जाता है। तब मूत्र तथा त्वचा में भी कामला आ जाता है। जिसे कामला कहते हैं। यदि यह यकृत रोग के कारण हो अर्थात् Infective Hepatitis या Cirrhosis के कारण हो तो Blood Serum में डालकर Venden Bergh--

Solution मिलाने से तुरंत या थोड़ी देर में Blue Violet रंग आ जाता है जिसे Prompt तथा Delayed Direct reaction कहते हैं। जिससे पता लगता है कि Serum में Bile Bilirubin है। यदि रोगी को कामला हो तो परंतु इस परीक्षा के करने पर यह रंग न आये या ९६ प्रतिशत अल्कोहल के मिलाने पर ही आये तो इससे Blood Bilirubin की अधिकता एवं पाण्डुजनित Haemolytic कामला ही समझना चाहिये।

२. Icterus Index इस प्रकार में एक Standard Potassium Chromate Solution के साथ Serum की तुलना करके इसके पीलेपन को नापा जाता है। स्वस्थावस्था में यह माप ४-६ यूनिट्स होता है।

३. Urobilinogen Test:- Ehrlichs Reagent के बराबर मूत्र में मिलाने से चमकीला गुलाबी रंग आ जाय तो समझना चाहिये कि या तो यकृद्रोग के कारण या Haemolytic Jaundice के कारण मूत्र में Urobilinogen आ रहा है। मूत्र में इसके Urobilin बन जाने से वह चमकीले पीले रंग का दीखता है।

४. Plasma Protein Test - या Albumin Globulin Ratio test। ऊपर कहा गया है यकृत में अल्बुमिन की उत्पत्ति होती है इसलिये जब यकृत के सेल रुग्ण होते हैं इसकी मात्रा जो साधारणतः १०० सी.सी. Plasma में ४ ग्राम होती है इससे घट जाती है। कुल Plasma Proteins १०० सी.सी.में ७ या ८ आठ ग्राम के लगभग होते हैं। वे घटकर ५ ग्राम या इससे भी कम हो जाते हैं। दूसरी ओर Globulin की वृद्धि हो जाती है। साधारणतः प्लाज्मा के १०० सी.सी.में Albumin ४ ग्राम Globulin २ ग्राम होता है अर्थात् इनका अनुपात २:१ का होता है। यकृद्रोग में यह उलट कर १:२ का हो जाता है। यकृत के रुग्ण होने के पर ही Gamma Globulin की रक्त में वृद्धि अधिक मात्रा में होने लगती है।

५. Thymol Turbidity Test:- इस बढ़े हुये Gamma Globulin के जानने के लिये Thymol के Saturated Solution का प्रयोग किया जाता है। Thymol रक्त के Serum में विद्यमान Globulin को नीचे बैठा देता है जिससे Serum धुंधला हो जाता है। जितना ही धुंधलापन अधिक होता है उतना ही यकृद्रोग अधिक समझा जाता है।

६. Serum Alkaline Phosphatase Test:- रक्त के Serum के १०० सी.सी.में Alkaline Phosphatase नामक Enzyme साधारणतः ३-१३ King Armstrong Units की मात्रा में होता है। यदि यकृत के सेलों के रुग्ण होने के कारण यह बाइल द्वारा न निकल सके तो रक्त में इसकी मात्रा बढ़ [illegible] Units हो जाय

तो समझना चाहिये कि यकृत् रुग्ण है। यदि कामला Haemolytic Type का हो तो इसकी मात्रा साधारण ही रहती है।

६. Serum Cholesterol Test Injaudice:- Cholesterol-- का भी यकृत् के साथ विशेष संबंध है। यह वसा का एक भाग होता है। कामला में जब यकृत् के सेल रुग्ण होते हैं तब रक्त के Serum में इसकी स्वाभाविक मात्रा जो १००सी.सी. में १२५ से २५० मिलीग्राम होती है, घट जाती है। यदि सेल ठीक हों और केवल पित्त नाड़ियों Bile Ducts में अवरोध (Obslruction) के कारण कामला हो तो रक्त में Cholesterol की मात्रा बढ़ जाती है।

यकृद्रोग जनित कामला, संक्रामक कामला :-

Acute Infective Hepatitis, Infectious Jaundice Viral Hepatitis, Catarrhal Jaundice.

यकृत् के सेलों के रुग्ण होने के कारण जो कामला रोग होता है उसका यहां वर्णन किया जाता है। यकृत् के सेल भी नाना जीवाणुओं या नाना तीव्र रासायनिक विषों से रुग्ण होकर कामला रोग का कारण होते हैं। पर यहां पर तो केवल कामला जनक सूक्ष्म विष Icterogenic Virus के इन सेलों पर दुष्प्रभाव से जो कामला रोग होता है उसी का उल्लेख किया जाता है।

कारण :-

यकृद्रोग जनित कामला रोगी के रक्त तथा मल में एक सूक्ष्मविष (Virus) रहता है जो रोगी के मल के दूसरों के पीने के पानी या कच्ची खाई जाने वाली सब्जियों के संपर्क में आ जाने से दूसरों में संक्रमण कर जाता है। पेट से यह यकृत् में तथा वहां से संपूर्ण रक्त में फैल जाता है। जहां लोग भारी संख्या में एकत्रित हो जाते हैं परन्तु उनके पीने के पानी को मल स्पर्श से बचाने का पूर्ण प्रबन्ध नहीं होता। वहां यह रोग संक्रामक रूप में फैलता है। वैसे यह रोग इक्के दुक्के व्यक्तियों में भी (Sporadic रूप में) होता है। यह भी अवश्य संक्रमण द्वारा ही हुआ समझना चाहिये। प्राय: यह रोग युवकों या मध्यमायु से नीचे के व्यक्तियों में होता है। विशेषतः शरद् काल में होता हुआ देखा जाता है तथा बहुधा एक बार होकर फिर दोबारा नहीं होता। यह Virus दो पृथक् रूपों में देखा जाता है। एक को Icterogenic Virus "A" या Infectious Hepatitis Virus "A" कहते हैं। दूसरा जो एक कामला Carrier के Serum के इंजेक्शन द्वारा दूसरे में संक्रमण कर जाने से होता है उसे Icterogenic Visus "B" या Serum Hepatitis Virus कहते हैं। यह वाइरस एक व्यक्ति के Serum के या रक्त के दूसरे शरीर में डाल देने से दो चार मास बाद कामला रोग उत्पन्न करने का कारण बनता है। इससे उत्पन्न हुई कामला को

Serum Hepatitis कहते हैं। इन दोनों में विभिन्नतायें ये हैं। Virus "A" का Incubation Period १ मास के लगभग होता है। जब कि Virus "B" में यही २,४ मास के लगभग होता है। "A" Virus मल के द्वारा फैलता है। B.Virus इंजेक्शन के द्वारा फैलता है तथा A.Virus के संक्रमण से इसी के लिये Immunity उत्पन्न होती है। B.Virus के संक्रमण से के प्रति ही Immunity उत्पन्न होती है। साधारणत: रोग के ठीक हो जाने के साथ मल में Virus लुप्त हो जाता है परंतु कभी कभी रोग के ठीक हो जाने के बाद भी महीनों तक मल में Virus निकलता रहता है।

<u>विकृति :-</u>

यों तो यह Virus सारे रक्त में फैल जाता है। पर यकृत पर इसका विशेष कुप्रभाव होता है। संभवत: इसके सेल इसे नष्ट करने का यत्न करते हैं जिससे इनमें न्यूनाधिक शोथ हो जाता है। इसीलिये इस रोग में Lobules के चारों ओर के Portal Canals में Oedema तथा रक्त के श्वेत कणों Mononuclear Leucocytes का विशेष संचय होता है। परंतु जो लोग मद्य, तीक्ष्ण मसालों या संखिया आदि तीक्ष्ण औषधियों का प्रयोग करते रहे हों तो उनके यकृत के सेलों में दुर्बलता या मृत्यु (Centrilobular Necrosis) की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है अर्थात् इस रोग में पहले Caterrhal और फिर Necrotic Hepatitis हो जाता है। इस प्रकार जब यकृत के सेल रुग्ण या दुर्बल हो जाते हैं तो क्योंकि यकृत के अंदर Bile Capillaries की दीवारें इन्हीं सेलों से बनी हैं तो बाइल का कुछ अंश इन सेलों में विलीन होकर या रिस रिस कर Lobule के चारों ओर विद्यमान Lymph Spaces में चला जाता है और फिर Lymph के द्वारा रक्त में चला जाता है। इस प्रकार बाइल का Bilirubin रक्त में प्रवेश कर जाता है।

<u>लक्षण :-</u>

Virus के प्रवेश करने के लगभग एक मास बाद इस रोग के लक्षण आरंभ होते हैं। इसकी पूर्वावस्था Pre Icteric Stage में बहुधा तो अज्ञात रूप में धीरे धीरे ही आरंभ होती है। यकृत के सेलों के रुग्ण हो जाने से एवं Portal Congestion हो जाने से आमाशय शोथ होकर क्षुधा नष्ट हो जाती है। भोजन के लिये अत्यधिक अरुचि हो जाती है। जी मचली और वमन के लक्षण भी हो जाते हैं। यकृत में शोथ होने से आमाशय प्रदेश में भारीपन या हल्की सी दर्द रहने का लक्षण होता है। शरीर में विष संचार के कारण सिर दर्द रहता है। शरीर थका थका और कमजोरी लगने लगता है। Infection के कारण ज्वर भी १००, १०२ तक रहता है। पित्त के रक्त में जाने से मूत्र गहरे रंग का हो जाता तथा आंत में पित्त के कम जाने से मल का

रंग फीका सा हो जाता है। मल मात्रा में अधिक तथा दुर्गन्धित होता है। इस अवस्था में इस रोग का संदेह प्राय: विषम ज्वर से हो जाता है।

इन प्रारंभिक लक्षणों के आरंभ होने के एक सप्ताह के अंदर अंदर ही इस रोग की कामलावस्था Icteric Stage · आरंभ हो जाती है तथा कामला के प्रकट हो जाने पर क्रमश: एक सप्ताह तक वह गहरी हो जाती है। इसके होने के साथ साथ अन्नारुचि और आमाशय प्रदेश पर भारीपन या वेदना होने आदि के उपर्युक्त लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। एक सप्ताह बाद कामला के कम होने के साथ साथ सब लक्षण कम होने लगते हैं। मल में पीला रंग आने लगता है एवं यह रोग लगभग एक डेढ मास तक ठीक हो जाता है। जब भूख लगने लगे तथा शरीर में हल्कापन और चलने फिरने की सामर्थ्य लगने लगे तब इस रोग को ठीक हुआ समझना चाहिये। चार छः सप्ताह में रोगी के अच्छा हो जाने पर भी यकृत कुछ कुछ बढ़ा रहता है तथा दुखता भी है अर्थात् उसमें थोड़ा थोड़ा शोथ रहता है। परंतु अधिक श्रम न किया जाय तो धीरे धीरे यह भी ठीक हो जाता है। कभी कभी चिर स्थायी यकृत वृद्धि Nodular Cirrhosis का लक्षण रोगी में रह जाता है।

परीक्षा :-

परीक्षा करने पर जब तक ज्वर रहता है, नाड़ी तीव्र रहती है, जब ज्वर कम हो जाता या शांत हो जाता है तब नाड़ी कुछ मंद होती है। यकृत कुछ न कुछ बढ़ा हुआ होता तथा पसलियों से एक दो अंगुल या अधिक नीचे स्पर्श होता है पर कठोर नहीं होता। दबाने से दर्द करता है। अर्थात् स्पर्शाक्षम होता है। कुछ रोगी में कामला होती है। पांडुता का लक्षण नहीं होता। मूत्र की परीक्षा करने से वह गहरे रंग का होता है। उसमें Bilirubin होता है। उसके हिलाने से उसकी झाग भी रंग होती है। इसके लिये Harrison Fouchet-Test. का उपयोगी है। Blood Serum में Bile Bilirubin होने के कारण Vanden Bergh Test Direct (तुरंत) या Direct या Delaye-d (Biphasic) होता है। Colorimeter की सहायता से इसका Quantitative Test करने पर Serum Bilirubin 1 Units से अधिक पाया जाता है। Serum Albumin के कम हो जाने तथा Globulin के बढ़ जाने से Thymol Turbidity Test Positive होता है। यकृत के सैलों के उग्र होने के कारण Serum Alkaline Phosphatase 25 King-Armstrong Units. तक बढ़ जाता है। रोगी के Serum में Cholesteral. भी बढ़ा हुआ होता है। श्वेत कणों की गिनती करने पर उसमें Leucocytosis नहीं प्रत्युत कुछ Leucopaenia ही मिलता है। इस रोग में वमन अथवा मल के साथ रक्त आने लगे, नाड़ी केवल संबंधी दुर्लक्षण जैसे तन्द्रालुता, निद्रा

नाम, मांस में ऐंठन Twitchings, Tremors, स्तंभ, (Spasms) हिक्का, प्रलाप, मूर्छा आदि लक्षण हों तो रोग कष्ट साध्य समझना चाहिये। गर्भिणी में भी यह रोग कष्ट साध्य होता है।

<u>चिकित्सा :-</u>

क्योंकि चलते फिरते रहने से Virus का दुष्प्रभाव बढ़ता है। इसलिये रोगी को न्यून से न्यून दो तीन सप्ताह के लिये शैय्याशायी होकर पड़ जाना चाहिये यकृत् के सेलों में ग्लायकोजन, तथा रक्त में प्रोटीन की मात्रा घट जाती है। इसलिये कोई हलका प्रोटीन भोजन जैसे मलाई रहित दूध इसे पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। ग्लूकोज प्रतिदिन भर में ४,६ औंस किसी फल रस जैसे निंबू, संतरे आदि के रस में मिलाकर इसे पिलाना चाहिये। उपवास करना ठीक नहीं। शरीर में से मल ~~की अर्थात्~~ (Metabolic Waste Matter) को पूर्णतया निकालने के लिये रोगी को जल की पर्याप्त मात्रा अर्थात् तीन लिटर तक प्रति दिन पिलानी चाहिये। यदि वह इतना जल न पी सकता हो अथवा वमन द्वारा जल निकल जाता हो तो एक लिटर जल प्रतिदिन ५,१० प्रतिशतक Glucose Infusion के रूप में शिरा द्वारा दे देना चाहिये (ग्लूकोज की शरीर में खपत ब.के बढ़ाने के लिये त्वचा द्वारा Insulin भी दे सकते हैं) इस Solution के प्रत्येक लिटर में आधा ग्राम Sodium Chloride तथा १ ग्राम Potassium Chlor: मिलाना चाहिये। वमन के रोकने के लिये Avomine २५ मिलि भोजन से पहले दे सकते हैं। औषध चिकित्सा इस रोग की कोई नहीं है। रात को एक आठ घंटे के अंतर से आधा ग्रेन Calomel की दो मात्रायें देकर प्रातः Alba Mixture एक औंस की मात्रा में सप्ताह में दो बार देते रहने से यकृत् तथा कोष्ठ का रक्त संचय शांत होता है। Vitamin B Complex के प्रयोग से रोगी का पोषण ठीक रहता है। Aureomycin दिन में १½ ग्राम मात्रा में मुख द्वारा देने से इस विष का कुछ शमन होता है। या Soda Sulph: तथा Soda Phos: २०,२० ग्रेन Soda Salycyl, Soda Bi-Carb: १५,१५ ग्रेन के १ औंस जल में मिला के दिन में ३ बार देने से भी लाभ होता है। Methionine आधा ग्राम की ६ गोलियां दिन में दे देनी चाहिये।

<u>आयुर्वेद में—— यकृदाश्रित कामला, ~~कोष्ठाश्रित~~ शाखाश्रित कामला,</u>

चरक (चि० अ० १६।(१२४)) में कहा है कि जब पित्त (Bile) के मार्ग में कफ और वायु दोनों का प्रकोप होता है अर्थात् इनमें श्लैष्मिक शोथ (Catarrh) और वायु का प्रकोप अर्थात् ह्रास (Degeneration) दोनों हो जायें तो पित्त अपने स्थान से भ्रष्ट होकर रक्त द्वारा शाखाओं में फैल जाता है। जिससे कोष्ठ में इसके अभाव से मल श्वेत भी हो जाता है। दूसरी ओर त्वचा, नेत्र, मूत्र

आदि पीत सी हो जाते हैं। आंत में पित्त के न जाने से अफारा रहता है। हृदय प्रदेश या आमाशय प्रदेश में भारीपन रहता है। अन्नारुचि, यकृत् वाले पार्श्व में दर्द, शरीर व्यापी दुर्बलता तथा ज्वर के लक्षण रहते हैं। चरक के ये शब्द Infective Hepatitis का ही वर्णन करते हुये प्रतीत होते हैं।

इस रोग की चिकित्सा के संबंध में चरक ने कहा है कि जंगली पक्षियों जैसे मोर, तीतर, मुर्गे आदि के मांस रस अथवा मूली अथवा कुलथी के बनाये रस के साथ अन्न खिलाना चाहिये तथा निम्बू बिजौरे आदि के खट्टा मिश्रित रस से त्रिवृत की पांच सात दिन तब तक देते रहना चाहिये जब तक मल का रंग पीला न हो जाय तथा वायु का प्रकोप शांत न हो जावे। कुटकी २ माशा में २ माशा मिश्री मिला के दिन में २ बार देने से मृदु रेचन होता तथा रोग शांत होता है। इसके बाद मंडूर वटक (शुद्ध गोमूत्र साधित मंडूर २६, त्रिवृत, त्रिफला, मुस्ता, विडंग, चव्य चित्रक, दारु हल्दी, स्वर्ण माक्षिक, देवदारु १,१ भाग) एक एक माशा की मात्रा में देना चाहिये। रोगी को चिकनाई रहित दुग्ध संतरा, मौसमी आदि के फल रस पर रखना चाहिये। ॥ च।चि।१६॥

यकृत् वृद्धि :- Cirrhosis of the liver, Diffuse Hepatic Fibrosis, Interstitial Hepatitis, Laennec's Cirrhosis, multilobular Cirrhosis.

कारण:-

क्योंकि यकृत् के सेलों को अधिकतर: शिराओं का रक्त मिलता है। उनकी प्रतिरोधक शक्ति स्वभावतः कम है। इसलिये जब कोई विषात्मक द्रव्य यकृत् में प्रवेश कर जाता है तब यकृत् के कुछ एक सेल मर जाते हैं। परंतु यदि यह द्रव्य मृदु विषात्मक ही हो एवं अस्थायी तौर पर ही यकृत् में आया हो तो ये मृत सेल फिर हटा दिये जाते हैं और इनके स्थान पर नये सेल आ जाते हैं क्योंकि यकृत् में अपने अंदर हुई क्षति को पूरी कर लेने की शक्ति विशेष रहती है परंतु जब कोई अति तीव्र विषात्मक द्रव्य यकृत् में प्रवेश कर जाय या एक मृदु विषात्मक द्रव्य लगातार कुछ काल तक यकृत् में प्रवेश करता ही रहे तब यकृत् के सेल मृत हो जाते हैं और उनके स्थान पर स्नायुतंतु (Eibrous Tissue) आ जाता है। इस प्रकार जब संखिया, पारा, Chloroform, Phosphorus आदि कोई तीक्ष्ण औषधि अति मात्रा में ले ली जाती है या कभी कभी गर्भावस्था में शरीर में उत्पन्न होने वाला विष द्रव्य अधिक मात्रा में अंदर उत्पन्न हो जाता है तब यकृत् के बहुत से सेल मर जाते हैं और उनके स्थान पर स्नायु तन्तु आ जाता है। इसे Toxic Hepatitis, Massive Necrosis या Acute Cirrhosis of the Liver. -- या Acute Yellow Atrophy of the Liver कहते हैं। इसमें यकृत् आकार तथा आकार में छोटा हो जाता है। परंतु जब कोई

बाह्य या आभ्यंतर विष द्रव्य थोड़ी थोड़ी मात्रा में लगातार यकृत कोष में प्रवेश करता रहे तो कुछ एक मृत हुये सेलों के स्थान पर तो नये सेल अति मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं और कुछ एक मृत हुये सेलों के स्थान पर आ स्नायुतंतु आ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि यकृत आकार में बड़ा तथा कठोर हो जाता है। इसे यकृत वृद्धि (Chronic Cirrhosis या Necrosis of the-Liver) कहते हैं। इस रोग का ही यहां वर्णन किया जाता है। यह निश्चित नहीं है कि यह रोग किस विशेष द्रव्य के द्वारा होता है तथापि प्रतीत होता है कि तीव्र विषात्मक आहार द्रव्यों जैसे मद्य, सिरका, लाल मिरच, तीव्र मसाले आदि का या संखिया, पारा, Phosphorus स्वर्ण आदि का लगातार प्रयोग करने या Colitis रोग की विष के कारण अथवा Hepatic Artery के द्वारा यकृत में आये विषम ज्वर, फिरंग रोग आदि के जीवाणुओं के कारण यह रोग होता है। इन्हें इस रोग का वंचक (Exciting) कारण कह सकते हैं।

उत्पादक कारण :-Predisposing Cause:

चिरस्थायी अजीर्ण या अतिसार के कारण जब यकृत के सेलों को उचित मात्रा में आहार नहीं मिलता अथवा आहार ही असंतुलित हो जिसमें कार्बोहाइड्रेट तथा फैट वाले भोजन ही हों, प्रोटीन भोजन बहुत कम या सर्वथा न हों तो भी यकृत के सेलों की प्रतिरोधात्मक शक्ति कम हो जाती है। प्राणियों पर परीक्षण करके देखा गया है कि यदि इन्हें दूध, दही, अंडे आदि का आहार दिया जाय अर्थात् इनके द्वारा इन्हें Sulphur वाले Qmino Acids. जैसे Methionine, Choline, Cystine आदि मिलते रहें तो इनके यकृत के सेलों में विष द्रव्यों को सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है तथा Lecithin की उत्पत्ति के लिये भी कि जो यकृत के सेलों में से फैट को अवयवों तक पहुंचाने के लिये आवश्यक पदार्थ है Methionive की आवश्यकता होती है। Methionine के अभाव में तथा कार्बोहाइड्रेट और फैट का अधिक प्रयोग करने से यकृत के सेलों में फैट की मात्रा बढ़ जाती है अर्थात् Unsaturated Fat के स्थान पर इनमें Saturated या Neutral Fat की मात्रा बढ़ जाती है। ऐसे फैट से युक्त सेलों पर Portal Vein अथवा Hepatic Artery से आये विषैले द्रव्यों का दुष्प्रभाव प्रबलता से होता है। इसका कारण या तो इनमें प्राणशक्ति की कमी है या वहां विद्यमान फैट में इन विषों को चूस लेने का जो विशेष गुण है, वह है।

विकृति :-

विषात्मक द्रव्य के द्वारा यकृत के सेलों के मृत होने के साथ साथ पहले Portal Spaces में स्नायु तंतु की वृद्धि होती है फिर Lobules के

किनारे किनारे के मरे हुये सेलों के बीच बीच में Fibroblasts बढ़ने लगते हैं। इस प्रकार रोग बढ़ता जाय तो फिर भिन्न भिन्न आकार के सेल समूहों के कि जिनमें से कुछ Lobule से बड़े होते हैं अथवा अनेक Lobules से मिलकर बने होते हैं,धारों ओर स्नायुतंतु के फीते से घिर जाते हैं। क्योंकि स्नायु तंतु बढ़कर यकृत् को अनेक कृत्रिम टुकड़ों Nodules में विभक्त कर देता है\इस रोग को Multilobular Cirrhosia भी कहा जाता है। ये Nodules या सेल समूह, Lobules से सर्वथा विभिन्न होते हैं। इनके सेल विभिन्न आकृति के होते हैं एवं सेलों की अति वृद्धि (Hyperplasia) के कारण नये उत्पन्न हुये हुए होते हैं। इनके बीच बीच में Portal-Sinusoids भी नहीं बनते हैं अर्थात् इन सेलों को रक्त Portal Vein से नहीं पर Hepatic Artery से मिलता है। इन सेल समूहों या Nodules के केन्द्र में Central Vein भी नहीं होती या एक किनारे की तरफ होती है। इस प्रकार यकृत् में स्नायु तंतु व नये उत्पन्न सेलों के अधिक मात्रा में बढ़ जाने (Hyperplasia) के कारण पहले यकृत् आकार में बड़ा तथा कुछ कठोर सा हो जाता है।बाद में जब सेलों में वृद्धि (Regeneration) की प्रक्रिया बंद हो जाती है जब केवल स्नायु तंतु की वृद्धि ही हो तब यकृत् आकार में छोटा (Atrophied) हो जाता है। जब यकृत् के सेल मृत हो जाते हैं तब उनके बीच के Sinusoids भी लुप्त हो जाते हैं। फिर Portal Veins की शाखायें भी सुकड़ जाती हैं। इसका परिणाम् यह होता है कि Portal System में रक्त अधिक मात्रा में भर जाता है। संभव है स्नायु तंतु के संकुचित होने से भी यकृत् के अंदर Portal Vein की शाखायें भिंच ~~जाती हैं या~~ (Stenosed ~~भी~~ हो) जाती हैं। यकृत् के सेलों के बीच बीच की Bile canaliculi बहुत कुछ बनी रहती है एवं Bile के मार्ग में अवरोध विशेष नहीं होता। इसी लिये कामला का लक्षण इस रोग में बहुत कम होता है।

<u>लक्षण :-</u>

अधेड़ आयु से ऊपर तथा वृद्धावस्था से पहले यह रोग होता है तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। इसका आरंभ धीरे धीरे अज्ञात रूप में होता है। क्योंकि विदाहीभक्त भोजनों के अति मात्रा में लेने से यह रोग होता है। इसलिये प्रारंभ में इस रोग के लक्षण___

१.. यकृत् में फैट के बैठ जाने से तथा चिर० आमाशय शोथ के कारण होते हैं अर्थात् रोगी को भूख न लगने तथा अन्न के लिये अरुचि रहने के लक्षण होते हैं। दिनोंतक भूख न लगने से एवं शरीर का पोषण कम हो जाने से शरीर कृश तथा कुछ पांडुर दीखता है।

२.. इसके बाद जब आमाशय आंत आदि की शिराओं में उचित मात्रा से अधिक

रक्त रुकने लगता है (अर्थात् रोगी की Portal शिराओं में रक्त भार बढ़ जाता है) और तब आमाशय आंत आदि के अंदर श्लैष्मिक शोथ (Catarrh) के लक्षण हो जाते हैं अर्थात् इनमें पाचक रस की उत्पत्ति तो कम होती, श्लेष्म द्रव की उत्पत्ति अधिक हो जाती है जिससे कफ जन्य (Hypochlorhydric-Gastritis) के लक्षण रहते हैं। साधारणतः आंत में उत्पन्न होने वाली गैस बहुत कुछ विलीन हो जाया करती है पर शोथ की अवस्था में उसके कम विलीन होने से पेट में विष्टम्भ या अफारा रहता है। थोड़ा भोजन लेने के बाद भी पेट भारी हो जाता है। क्षुद्रांत्र में शोथ रहने से मल पतला आता है अथवा मलावरोध की शिकायत रहती है। शरीर का पोषण कम होते जाने से शरीर कृश तथा त्वचा शुष्क दीखती है। त्वचा तथा नखों में पांडुता भी झलकती है जो रोग के प्रारंभ में लोह, विटामिन "सी" के कम मिलने से होती प्रतीत होती है।

३.. यकृत् तथा प्लीहा दोनों में वृद्धि का लक्षण होता है। यद्यपि यकृत् की अपेक्षा प्लीहा वृद्धि कम मात्रा में होती है। यकृत् बढ़ा न भी हो तो भी उसका किनारा स्पर्श हो जाता है अर्थात् कुछ कठोर होता है। जितना जितना वह अधिक कठोर होता है उतना उतना उसकी स्पर्शाक्षमता कम होती जाती है। यकृत् में एक दो सेंटीमीटर व्यास के Nodules के कारण उसका पृष्ठ समतल न होकर कुछ कुछ विषम होता है। जिस विष के कारण इस रोग में यकृत् के सैलों में अति वृद्धि होती है उसी से संभवतः प्लीहा के Recticular-Cells में भी अति वृद्धि होती प्रतीत होती है जिससे वह बढ़ी हो जाती है। संभव है, उसकी शिराओं में रक्त के रुक जाने से भी वह कुछ बढ़ती है। यकृत् के सैलों के नष्ट होने से उनमें Haemopoietic Principle का संचय ठीक नहीं हो पाता जिससे Hyperchromic Maerocytie Anemia प्रायः (वातिक पांडु) का लक्षण भी होता है।

४.. आमाशय आंत आदि का रक्त जब यकृत् में से वापिस नहीं जा पाता तो वह दूसरी कुछ एक गौण शिराओं के द्वारा (शारीरिक शिराओं) Systamic Veins में जाने लगता है। जिनमें से कुछ एक ये हैं।

।क। Falciform Ligament:- में जो यकृत् को पेट की अगली दीवार तथा Diaphragm के साथ जोड़ता है एक Para Umbilical Vein --- नाभि पर आकर अगली दीवार की शिराओं के साथ संबंध करती है। इसके द्वारा कोष्ठ की अगली दीवार की शिराओं में रक्त के लौटने से नाभि पर तथा उसके ऊपर की शिरायें फैली हुई दीखती हैं। नाभि के आसपास कभी कभी एक शिरा गुच्छ सी बन जाता है। (Caput Medusae)

3

।ख। भोजन प्रणाली (Oesophagus) के निचले भाग की शिरायें, आमाशय की शिराओं में संचित हुये रक्त को वापिस Azygos Veins में पहुंचाने लगती हैं जिससे वे फूलकर मोटा (Varicose) हो जाती हैं। इनके फट जाने से कभी कभी इस रोग में रक्त वमन का लक्षण हो जाता है जो एक भयंकर लक्षण है। पर बहुधा घातक नहीं होता।

।ग। क्योंकि गुदा की बृहदान्त्र दीवार में विद्यमान Inferior Haemorrhoidal Vein, ऊपर Superior Haemarrhoidal Vein तथा उसके भी ऊपर Inferior Mesenteric Vein में संचित हुए रक्त को वापिस Internal Iliac Vein में पहुंचाने लगती है/इसलिये यह फूल जाती है। इसके फूल जाने से कभी कभी इस रोग में गुदा से रक्त स्राव होने लगता है। इसलिये गुदा से रक्त स्राव विशेष हो तो Portal Cirrhosis रोग का संदेह करना चाहिये। इस प्रकार के Collateral Circulation से यदि लोष्ठ का रक्त वापिस जाता रहे तथा यकृत के सेलों में अति वृद्धि बनी रहे तो इस रोग के वर्षों तक रहने पर भी जलोदर, कामला आदि भयंकर लक्षण नहीं होते।

५.. परंतु यदि यह रोग बढ़ता ही जाय जिससे उदर शिराओं, ~~शिराओं पर~~ Portal-Tributaries में रक्त अधिक अधिक भरता जाय तो लोष्ठ की रक्त वाहिनियों में से रिस रिस कर (Transudation के द्वारा) रक्त का द्रव भाग उदर गुहा (Peritoneal Cavity) में भरने लगता है। यह द्रव पतला होता है। इसकी स्पेसिफिक ग्रैविटि १.००८ के लगभग होती है। जब यह द्रव Peritoneum के शोथ के कारण उत्पन्न होता है तब इसकी ग्रैविटि १.०१५ से अधिक होती है। इस जलोदर के लक्षण के उत्पन्न होने पर यह रोग कष्ट साध्य या असाध्य हो जाता है। जलोदर का कारण, ।क। Hypertension ।ख। रक्त में Hypoalbuminuria ।ग। Antidiuretic Hormones की अधिकता तथा ।घ। शरीर में Sodium Ion की वृद्धि है। जलोदर के साथ साथ पैरों तथा जांघों पर शोथ का लक्षण भी हो जाता है। रक्त में प्रोटीन के कम हो जाने या Colloidal Osmatic Pressure के कम हो जाने से या रक्त की Capillarie: --- पर किसी विष विशेष का दुष्प्रभाव होने से यह शोथ होता प्रतीत होता है।

६.. यकृत के सेलों के नष्ट हो जाने से जब उनमें फैट का परिपाक ठीक ठीक नहीं होता तब शरीर के अवयवों को फैट नहीं मिलता जिससे इस रोग में शरीर कृश हो जाता है। कृशता तथा पांडुता ये इस रोग के सूचक लक्षण होते हैं। हृदय की शिथिलता … का भार Tension

की होती है।

७.. रोग के बढ़ने के साथ साथ इसमें सांयकालिक मंद ज्वर ९९ से १०१ डिग्री तक के लगभग होने लगता है जिसका कारण क्या है,यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। ज्वरों के समान इसमें रोगी का मूत्र मात्रा में कम,गहरे रंग का अधिक स्पेसिफिक ग्रेविटि का, अम्लीय, तथा Urates से युक्त होता है। इसमें Urobilin की मात्रा अधिक होती है।

८.. कुछ एक रोगियों में वाहक के मार्गों के दबाव भिच जाने से एवं रक्त में Bilibubin के बढ़ जाने से हल्की सी कामला का लक्षण भी होता है। इसीलिये रोगी के Serum में Vanden Bergh Test Direct या Delayed पाजिटिव होता है।

९.. जब यकृत अधिक रुग्ण हो जाता है,वह अपना कार्य बंद कर देता है,तब विष संचार या Cholaemia होकर तंद्रा,कंप (Tremors,Twitchings) मूर्छा (Coma) आदि मृत्यु सूचक लक्षण होने लगते हैं।

भेदक लक्षण :-

कैंसर (Carsinoma of the Liver) से जो आमाशय अथवा मलाशय में कैंसर हो जाने पर उपद्रव के रूप में होता है। इस रोग का संदेह हो सकता है।परंतु इस रोग में रोगी को दायें कंधे पर कभी न कभी वेदना होने, सर्वथा प्लीहा वृद्धि के न होने, यकृत में कठोरता और विषमता के अधिक होने, शरीर में कृशता और अशक्ति के लक्षणों के अधिक होने के लक्षण होते हैं। यद्यपि यकृत में कैंसर का रोग आमाशय अथवा मलाशय में कैंसर के कारण होता है परंतु यकृत में कष्ट का लक्षण उनके (आंतों) लक्षणों के होने से पहले होता है। यकृत में कैंसर के कारण Portal Vein का अवरोध हो जाता है। जिससे जलोदर का लक्षण होता है। Peritoneum में कैंसर के संक्रमण से भी यह जलोदर होता है।

चिकित्सा :-

प्रारंभ में ही यकृत वृद्धि रोग का पता लग जाय तो यह ठीक हो सकता है। जलोदर का लक्षण आरंभ हो जाने पर यह कष्ट साध्य हो जाता है।

भोजन चिकित्सा :-

मद्य,लाल मिरच,आचार,सिरके,तीक्ष्ण मसाले तथा घी,तेल में तले हुये आहारों का परित्याग करना चाहिये। ~~प्रोटीन भोजनों का विशेष प्रयोग करना चाहिये।~~ प्रोटीन भोजनों का विशेष प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि वे यकृत के रक्षक होते हैं तथा रक्त में अलब्यूमिन की कमी को पूरा करते हैं। रोगी के प्रति सेर या किलोग्राम भार के पीछे १½ या २ ग्राम प्रोटीन इसे मिलना चाहिये।

प्रोटीन भोजनों में से गाय का दूध या मलाई हटाया हुआ दूध सर्वोत्तम है।

दूसरे नंबर पर इसे कार्बोहाइड्रेट आवश्यक है ताकि यकृत को ग्लूकोज मिलता रहे। इसके लिये ४ औंस के लगभग ग्लूकोज तथा किसी फल का रस तथा १०,१५ Units Insulin का देना वांछनीय है। इनके अतिरिक्त बनी बनी हुई सब्जियां, फल तथा अच्छी सिकी हुई रोटी स्वल्प मात्रा में ठीक है। तीसरे नंबर पर फैट बहुत थोड़ी मात्रा में आधी छटांक घी के रूप में देना चाहिये। इस रोग में बाइल के कुछ कम बनने से आंतों में से Vitamin "A" तथा Viatmin "D" का भी विलयन शरीर में कम होता है। कुछ भूख की कमी से भी शरीर को वे विटामिन कम मिलते हैं। अतः रोगी को Vitamin "A" ५ हजार यूनिट तथा Vitamin "D" १ हजार यूनिट की मात्रा में दिन में एक बार मिलना चाहिये। यकृद्रोगों में रोगी आराम करे तो रोग अधिक बढ़ने नहीं पाता। आराम में भी इसे २५०० कैलोरी का भोजन प्रतिदिन दे देना चाहिये। Choline तथा Methionine के १,२ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन १ मास तक देने से यकृत में संचित हुये फैट का यथावत् पचन हो जाता है (इसके लिये Meonine की ३,४ गोलियां प्रतिदिन दी जा सकती हैं) ३ पाव दूध से १ ग्राम Methionine मिल जाता है रोगी को शिरा द्वारा ग्लूकोज ५ %० cc जिसमें विटामिन सी ५०० मिलि० ग्रा० प्रति दिन देना चाहिये। औषधियों में से Mag:Sulph: या Sodium Phosphate Mag:Citrate किसी Saline को १ ड्राम की मात्रा में प्रतिदिन प्रातःकाल दे देना चाहिये। Brewer's Yeast के ½, १ औंस की मात्रा में प्रतिदिन दूध के साथ देना या Vitamin "B"Complex की बड़ी मात्रा में प्रतिदिन कुछ काल देने से यकृत तथा शरीर का पोषण अच्छा होता है। यकृत में होने वाली इसके सेलों की क्षतिग्रस्तता को रोकने के लिये Crude Liver Extract ४,५ सी०सी० की मात्रा में प्रतिदिन दो तीन सप्ताह तक दिया जाता है। जिससे पर्याप्त लाभ होता है। अब परीक्षक लोगों ने बताया है कि इसके शिरा द्वारा देने से और अधिक लाभ होता है अर्थात् पहले आधा १ सी०सी० की मात्रा से प्रारंभ करके प्रतिदिन आधा या एक सी०सी० की मात्रा [illegible] बढ़ाते हुये चार पांच सी०सी० की मात्रा तक इसे २५ सी०सी०, २५ प्रतिशतक ग्लूकोज के सोल्यूशन में मिला के धीरे धीरे शिरा द्वारा तीन सप्ताह तक प्रतिदिन फिर एक दिन छोड़कर देने से, बढ़े हुये रोग में भी पर्याप्त लाभ होता है। यह यकृत के लिये Lipotropic होता है तथा निर्विषीकरण या Detoxication के कार्य में यकृत की सहायता करता है। दूसरे लोग Protein Hydrolysate या Amino-Acid-Hydrolysate(Peptone-Solu:Amigen). के ५ प्रतिशतक Dextrose में ५ प्रतिशतक बने सोल्यूशन को १,२ या ३ लिटर की मात्रा में बहुत धीरे धीरे शिरा द्वारा देना इस रोग के लिये लाभदायक बताते हैं। Protein Hydroly Sate (Pronutrin) को मुख द्वारा भी ५० से ३०० ग्राम की दैनिक मात्रा में इस रोग में दिया जाता है।

कई लोग (Concentrated Human Serum Albumin Solution) का शिरा द्वारा प्रयोग इस रोग के लिये लाभदायक बताते हैं। २५ प्रतिशत Albumin Solution १०० सी सी मात्रा में धीरे धीरे ३०,४० मिनट में दिया जाता है।

बाल यकृद् वृद्धि: - Infantile cirrhosis of the Liver, Tropical Cirrhosis, Intercellular Hepatic Cirrhosis.

फैट पाचक तत्व :- (Lipotropic Factors)

दूध, अंडा, मांस आदि जान्तव प्रोटीन्स के पचन (Hydrolysis) से Cystine तथा Methionine नामक गंधक युक्त Aminoacids. उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार दूध के Casein नामक प्रोटीन से Choline जो Vitamin "B" का एक अंश है उत्पन्न होता है। ये सब द्रव्य यकृत् के सेलों में विद्यमान फैट के पाचन में अर्थात् उसके Phospholipid बनाने में सहायक होते हैं। इनके अतिरिक्त Vitamin B_{12}, Liver Extract तथा यीस्ट भी यकृत् के सेलों में आये फैट के पाचन में सहायक होते हैं। इन्हें फैट पाचक या Lipotropic Factor कहते हैं। जान्तव आहारों के अतिरिक्त अन्न के प्रोटीन से भी ये द्रव्य उत्पन्न होते हैं परंतु कम मात्रा में, दालों के प्रोटीन्स से इनकी उत्पत्ती अन्न की अपेक्षा भी कम होती है। इसीलिये जब किसी व्यक्ति को कार्बोहाइड्रेट या फैट ४०,५० प्रतिशत से अधिक तथा प्रोटीन १० प्रतिशत से कम मिलता हो तो उसके यकृत् के सेलों में फैट की मात्रा बढ़ जाती है। (Fatty Infiltration की प्रक्रिया होने लगती है)

कारण :-

६ मास से २ वर्ष तक की आयु के शिशुओं में कभी कभी यकृत् आकार में बड़ा तथा कुछ कठोर हो जाता है। इसे बाल यकृद् वृद्धि का रोग कहते हैं। यह रोग शहरों में होता है तथा मध्यम् वर्ग के शाकाहारी परिवारों में अधिकत: पाया जाता है। जब शाकाहारी माता के दूध पीने वाले बालक को माता का दूध कम मिले, गाय का ही दूध अधिक मिले तो उसमें इस रोग के होने का भय रहता है। क्योंकि गाय का दूध प्राय: जल के द्वारा हलका करके खांड मिलाकर पिलाया जाता है। ऐसा करने से बालक के आहार में प्रोटीन की मात्रा कम हो जाती है तथा कार्बोहाइड्रेट एवं फैट की मात्रा बढ़ जाती है जिससे उसके यकृत के सेलों में फैट अधिकाधिक मात्रा में निक्षिप्त हो जाता है। इसी प्रकार जिन बालकों को ६ मास की आयु हो जाने पर शीघ्र ही अन्न, खांड, मसाले आदि अधिक मात्रा में दे दिये जाते हैं, उनमें भी यकृद् के अंदर फैट का संचय अधिक मात्रा में होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यकृत् के सेलों में फैट के भर जाने से वे फूलकर फैल जाते हैं जिससे

सेलों के बीच के Sinusoids के तंग हो जाने से सेलों को आक्सिजन और पोषक द्रव्य कम मिलते हैं। परिणामत: उनमें हानि या मृत्यु की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। ऐसी अवस्था में जब यकृत् के सेलों में फैट की मात्रा अधिक होती है यदि बालक को अजीर्ण अतिसार मल बंधा के रोग रहें तो वहां पर उत्पन्न किसी विष के यकृत् में जाते रहने से या आंत में विद्यमान किसी जीवाणु विष (Infection) के यकृत् में जाते रहने से उसमें मृत्यु की प्रक्रिया और अधिक प्रबलता से होती है।

विकृति :-

इस प्रकार इस रोग में यकृत् के सेलों में पहले फैट की वृद्धि होती है और उनमें मृत्यु (Necrosis) की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। सेलों के हानि होने के साथ साथ नये सेलों और (Lobules) का निर्माण भी होने लगता है। (Pseudolobulation की प्रक्रिया होने लगती है) फिर इन नये बने सेलों में भी मृत्यु की प्रक्रिया होने लगती है। इस प्रकार सेलों के हानि होते जाने से सेलों के चारों ओर तथा Lobules के चारों ओर स्नायु तंतु (Connective Tiss:) की वृद्धि हो जाती है। (Pericullular एवं Perilobular Fibrosis की प्रक्रिया होने लगती है) बढ़े हुये सेलों तथा बढ़े हुये स्नायुतंतु दोनों में Lymphocytes भी अधिक मात्रा में संचित हो जाते हैं।

लक्षण :-

इस रोग की प्रथम अवस्था को अर्थात् यकृत् वृद्धि से पहले की अजीर्ण रोग की अवस्था को आन्त्र शोथ (Intestinal Catarrh) की अवस्था कहते हैं। यह अवस्था बहुत धीरे धीरे अज्ञात रूप में आरंभ होती है। इस अवस्था में बालक या तो भोजन अधिक मात्रा में लेने लगता है, या उसकी भूख कम हो जाती है। भोजन के भलीप्रकार हजम न होने से उसके पेट में हवा रहती है। जिससे उसका पेट अफारा हुआ या, उभरा हुआ दीखता है। उसे प्राय: मल बंधा रहता है अथवा कभी कभी अतिसार हो जाता है। भोजन के जीर्ण न होने से उसका रंग मटियाला सा हो जाता तथा शरीर कुछ कृश दीखने लगता है। देखने में बालक मंद एवं उदासीन सा होता जाता है। परीक्षा करने पर उसका यकृत् अंगुलियों को स्पर्श होने लगता है परंतु मृदु होता है। इस रोग की द्वितीयावस्था को यकृत् वृद्धि की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में यकृत् आकार में पर्याप्त बढ़ा हो जाता है तथा स्पर्श में कठोर प्रतीत होता है। बालक का पेट विशेष उभर जाता है। उसे मल बंधा या अतिसार में से कोई सा लक्षण होता है। उसे ज्वर भी रहता है जो विषम होता है। उसकी आंखों में कुछ कुछ पीलापन झलकता है। Serum की परीक्षा करने पर Vanden

Bergh Test Direct. अथवा Delayed, Positive होता है। मूत्र मात्रा में कम, अम्लीय, तथा पीला, Urobilin से युक्त होता है। रक्त परीक्षा करने पर Leucocytosis का लक्षण मिलता है। इस रोग की तृतीय अवस्था को कामलावस्था या जलोदरावस्था या यकृत् के कुछ छोटे एवं कठोर हो जाने के कारण यकृत की कठोरावस्था (Contraction Stage) कहते हैं। इस अवस्था में कुछ कुछ जलोदर प्रारंभ हो जाता है तथा आंखों में कामला का लक्षण हो जाता है। बालक का पेट अधिक उभर जाता है। उस पर की शिरायें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। यकृत् आकार में कुछ छोटा पर कठोरतर हो जाता है। मल खटियाले रंग का तथा दुर्गन्धित होता है। ज्वर लगातार रहने लगता है। इस अवस्था में बालक कुछ बेसुध सा होकर पड़ा रहता है। इस प्रकार तीन चार मास से लेकर दो वर्ष तक रोग रह सकता है तथा अंत में Cholaemia होकर या किसी उपद्रव के हो जाने से मृत्यु हो जाती है। प्रथम अवस्था तथा द्वितीयावस्था के प्रारंभ में यह रोग अच्छा हो सकता है। तृतीयावस्था में ठीक नहीं होता।

चिकित्सा :-

यदि शिशु को माता के दूध पर ही पाला जाय तो यकृत् वृद्धि रोग के होने का भय विशेष नहीं रहता। माता को दूध कम उतरता हो तो हव्वे का Half Cream Milk बिना खांड के बालक को पिलाना चाहिये। बालक को अन्न प्राशन कराते समय भी अन्न, खांड, घृत तथा सत्वाराग आहार द्रव्यों का प्रयोग बहुत ही धीरे धीरे क्रमशः करना चाहिये। इस समय बालक को Vitamin "C" तथा "B" का प्रयोग करने से इस रोग के होने का भय नहीं रहता। यकृत् वृद्धि रोग की प्रारंभिक अवस्था में अर्थात् अवचिता-वस्था में बालक का दूध बंद करके उसे कुछ दिन दूध के पानी पर रखना चाहिये उसके साथ जल तथा फल रस भी उचित मात्रा में देने चाहिये। अतिसार के शांत हो जाने पर फिर स्नेह रहित दूध के घी का आहार देना चाहिये। मल बंध के लिये तथा आंत को कुछ साफ रखने के लिये बालक को Colomel $\frac{1}{4}$ ग्रेन, Pulv Rhei ३ ग्रेन, मिला कर मधु के साथ चटायें। या Hydragyri-Cum. Creata १, २ ग्रेन देवें। या Milk of Magnesia १ ड्राम देवें। Felamine या Cholectrina $\frac{1}{3}$ गोलि के दिन में तीन बार देने से भी पित्त का प्रवाह बढ़ता है।

यकृद्रोग की शान्ति के लिये Methionine, Choline दोनों १, १ ग्राम दैनिक मात्रा में शर्बत या मिक्चर के रूप में मुख द्वारा दिये जाते हैं। Methionine, Choline, Inositol, Vitamin B_{12}. Liver Extract. आदि की गोलियां तथा मिक्चर मिलते हैं जिनका भोजन के बाद कुछ मास तक लगातार प्रयोग करने से बालक को पर्याप्त लाभ होता है। Lipotropes तथा

Vitamin B_{12}. के इंजेक्शन से भी लाभ होता है। ज्वर तीव्र हो तो Terramycin आधा ग्राम का प्रयोग कुछ एक दिन तक करने से वह शांत हो जाता है। श्वास स्थान संबंधी उपद्रवों में Penicillin का प्रयोग करना चाहिये।

पित्ताशय Gall Bladder के रोग :-

पित्ताशय :-

पित्ताशय ४,५ इंच लंबा होता है जिनमें ४५,५० सी.सी.के लगभग पित्त या बाइल जमा रहता है। वह यकृत के दांये खंड के निचले पृष्ठ पर ६ वीं Costal Cartilage के अगले सिरे पर Mammary Line पर होता है। यकृत में प्रतिदिन १००० सी.सी.के लगभग बाइल बन कर Hepatic Duct के द्वारा बाहर आती है फिर इसके और Gall Bladder से निकली नाली अर्थात् Cystic Duct के मिलने से Common Bile Duct बन जाती है जो यकृत में से आई हुई अथवा Gall Bladder में संचित हुई पित्त को (Duodenum) में ले जाती है। जब भोजन नहीं किया जाता तब पित्त पित्ताशय में संचित होता रहता है तथा जब भोजन आमाशय निम्न द्वार से आगे बढ़ता है तब पित्ताशय में संकोच उत्पन्न हो जाता है और वह ग्रहणी में आ जाता है।

पित्ताश्मरी :- Cholelithiasis, Gallstones, Biliary Calculus.

कारण :-

पित्ताश्मरी रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। इनमें भी ४०,४५ वर्ष की स्थूल शरीर की स्त्रियों में जो कार्बोहाइड्रेट तथा फैट का भोजन अधिक मात्रा में लेती हैं तथा जिन्हें बाल बच्चे भी हो चुके होते हैं= अधिकतः होता है। इनके पित्ताशय में पित्ताश्मरियां क्यों उत्पन्न हो जाती हैं इसके ठीक ठीक कारण का अभी तक पता नहीं चला, पर इतना कहा जा सकता है कि जब पित्ताशय में पित्त अधिक देर तक रुका रहे तथा वहां थोड़ा गाढ़ा होने के स्थान पर अर्थात् केवल ५,१० गुणा गाढ़ा होने के स्थान पर और भी अधिक गाढ़ा हो जाय तब पथरी बनने की अधिक गुंजायश रहती है। बैठे रहने से, व्यायाम न करने से तथा स्त्रियों में गर्भ स्थिति के काल में पित्ताशय में पित्त अधिक रुका रहता है एवं अधिक गाढ़ा हो जाया करता है। अधिक गाढ़ा हुआ पित्त पित्ताशय की श्लैष्म कला के लिये विक्षोभक हो जाता है। जिससे उसके अंदर से श्लैष्म स्राव (Exudation) अधिक मात्रा में निकलने लगता है। इस श्लैष्म स्राव के Leucocytes, Fibrin तथा झड़े हुये Epithelium के सेलों के साथ मिलकर छोटे छोटे श्लैष्म के (Masses of Exudation) बन जाते हैं जो पथरियों के लिये न्यूक्लियस का काम करते हैं।

अब यदि यकृत् के रुग्ण होने के कारण उसमें पित्त का निर्माण ठीक ठीक न हो अर्थात् उसमें Bile Salts तथा Fatty Acids कि अनुपात जिनके कारण Cholesterol उसमें घुला रहता है, कम हो जाय तो पित्ताशय में Cholesterol नीचे बैठने लगता है। इन श्लेष्म कणों के चारों ओर इसकी एक तह बैठ जाती है। इसके ऊपर फिर Calcium Bilirubinate की तह बैठ जाती है। इस प्रकार बारी बारी से इन दोनों द्रव्यों की तह के बैठते जाने से छोटी छोटी पित्ताशमरियां बन जाती है। यदि पित्ताशय की श्लेष्म कला में संक्रमण जनित शोथ हो अर्थात् पित्ताशय शोथ (Cholecystitis) रोग हो जिससे उसमें श्लेष्म स्राव की मात्रा अधिक उत्पन्न हो जाय तो क्योंकि Bile Salts घुलन शील होने से उसमें घुल जाते हैं और विलीन हो जाते हैं Cholesteral, Bile में घुला न रह सकने के कारण नीचे बैठने लग जाता है और एवं पित्ताशमरियों का कारण बन जाता है। इस प्रकार पित्ताशमरियां यकृत् और पित्ताशय के रुग्ण होने के कारण तथा उसमें पित्त के अधिक देर तक रुके रहने के कारण होती प्रतीत होती हैं।

<u>पित्ताश्मरी के लक्षण :-</u>

जब तक पित्ताश्मरियां पित्ताशय में रुकी रहती हैं तब तक क्योंकि इनके कारण पित्ताशय में विक्षोभ रहता है तथा विक्षोभ के कारण न्यूनाधिक शोथ भी रहता है। इसलिये पित्ताशय शोथ के कारण उत्पन्न होने वाले लक्षण रहते हैं। इस पित्ताशय शोथ में प्राय: करके आमाशय संबंधी लक्षण अर्थात् अजीर्ण के लक्षण रहते हैं। इन्हें पित्ताशय संबंधी अजीर्ण (Gall Bladder Dyspepsia) कहते हैं। क्योंकि इन दोनों आशयों को ही Vagus से तथा ८ वें ६ वें Segment से निकली Sympathetic नाड़ियां Great Splanchmic तथा Caeliac Ganglion के द्वारा जाती हैं। इसलिये पित्ताशय का कष्ट आमाशय में प्रक्षिप्त (Reflex) हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार भोजन करने के कुछ काल बाद पेट में भारीपन तथा आध्मान या अफारा (Flatulence) के लक्षण हो जाते हैं। आमाशय प्रदेश (Epigastrium) में या उसके दांई ओर पेट के ऊपर के भाग में हलका हलका दर्द उठने लगता है। खट्टे डकार आते हैं। भोजन के बाद जब पित्ताशय में संकोच की (कन्ट्रेक्शन) होकर उसमें से पित्त निकलने लगता है तब यह दर्द तथा अन्य लक्षण विशेषत: होते हैं। अधिक भोजन करने या घी, तेल आदि के पकवान लेने के बाद जब पित्ताशय से पित्त की निकासी होती है तब यह दर्द होता है। जब कोई पित्ताश्मरी पित्ताशयग्रीवा (Cystic Duct) में फंस जाती है तब पित्ताश्मरी शूल (Biliary Colic) का लक्षण उत्पन्न होता है। यदि नाड़ीरोध चिरस्थायी हो तो पित्ताशय, श्लेष्म द्रव

नंबर ११

के भर जाने से फूलकर बड़ा हो जाता है जिसे Hydrops कहते हैं। जब पित्ताश्मरी Common Bile Duct में प्रवेश करके रुक जाती है तो इस नाली पर इसका दबाव पड़ने से अश्मरी शूल Biliary Colic का दौरा आरंभ होता है। जब यह लचकीली नाली फैल जाती है तब यह शूल का वेग समाप्त हो जाता है। xxxxxxxxxxxx इसमें अश्मरी के रुकने से इसके अंदर श्लैष्मिक शोथ (Catarrhal Cholangitis) हो जाने के कारण न्यूनाधिक रूप में कामला का लक्षण भी हो जाता है। यह पित्ताश्मरी नीचे उतर कर इस नाली के निचले सिरे अर्थात् (Ampulla of Vater) में जो एक तंग स्थान होता है, रुक सकती है। तब भी Chelangitis के कारण कामला के होने का लक्षण होता है। पर यह कामला पित्ताश्मरी शूल के वेग के होने के बाद आरंभ हुई होती है।

पित्ताश्मरी शूल :- Biliary Colic, Gall Stone Colic:

अधिक मात्रा में भोजन लेने या भारी भोजन लेने के कुछ घंटे बाद अर्थात् सांयकाल या रात्रि के समय पित्ताश्मरी का शूल सहसा आरंभ हुआ करता है ~~तथा अश्मरी का शूल सहसा आरंभ हुआ करता है~~ तथा अश्मरी के Cystic या Common Bile Duct या Ampulla में रुक जाने पर या तो पित्ताशय में उत्पन्न संकोच (Spasm) के कारण होता है या Fibro Elastic Ducts के तन जाने से होता है तथा Ampulla में इसके अंदर विद्यमान Smooth Muscle--- के स्तंभ (कन्ट्रैक्शन) से उत्पन्न होता है। यह शूल पेट के ऊपर से दांये भाग में मध्यरेखा के पास के प्रदेश में होता है तथा इतने तीव्र रूप में होता है कि कष्ट से रोगी अत्यधिक व्याकुल और बेचैन दीखता है। वह दर्द कुछ से दोहरा भी हो जाता है। चीखता है, और बेहाल होकर इधर उधर फिरता है। दर्द पीछे पीठ पर Scapula के प्रदेश में अथवा ऊपर कंधे में जाता प्रतीत होता है अर्थात् त्वचा के जिस प्रदेश में ८,९ Segments से निकली नाड़ियां जाती हैं, वहां पर भी प्रतीत होता है। रोगी के चेहरे पर पसीना आ जाता है। उसका तापमान नार्मल से कम होता है, नाड़ी तीव्र तथा निर्बल होती है। पित्ताशय शूल के कारण रोगी को वमन होती है। तथा वमन से दर्द में कुछ कुछ कमी भी प्रतीत होती है। यह दर्द बहुत देर नहीं रहता। जिस प्रकार सहसा आरंभ हुआ था, उसी प्रकार सहसा शांत हो जाता है। इसके बाद कुछ एक में यह दर्द फिर कुछ कुछ घंटों बाद उठता है, अथवा महीनों और वर्षों के अंतर के बाद भी उठ जाता है। इस वेग के बाद यदि कामला हो जाय, मूत्र भी Bilirubin के कारण गहरे रंग का आने लगे तो समझना चाहिये कि Common Bile Duct में अश्मरी के कारण शोथ हो गया है। मुक्त शूल

(Renal Colic) पीठ पर से शुरु होकर नीचे जननेन्द्रिय अथवा उसके अंदर की ओर जाता है। इसमें बार बार मूत्र में रक्त के होने का लक्षण भी होता है। आंत्र शूल नाभि प्रदेश पर होता है। हृदय शूल (Coronary Thrombasis) ऊपर ग्रीवा या बाहु की दिशा में जाता है तथा इसमें श्वास कृच्छ्रता का लक्षण (Dyspnoea) भी होता है।

पित्ताशय शोथ, पित्ताशय शूल :- Chotecystitis:-

जैसे ऊपर कहा गया है अधिक भारी भोजन करने वाली चालीस उमर से ऊपर की स्थूल शरीर की बैठे रहने वाली स्त्रियों में पित्ताशय गत पित्त का प्रवाह कम होने से वह अधिक गाढ़ा हो जाती है। जिससे वह पित्ताशय की श्लेष्म कला के लिये विदाहक हो जाता है। इस विदाह से इसमें न्यूनाधिक शोथ सा बना रहता है। ऐसी अवस्था में यदि तीव्र अजीर्ण (Acute Gastritis) होकर आमाशय में एसिड या पाचक रस सर्वथा क्षीण हो जाय तो क्षुद्रांत्र के निचले भाग में विकास B.Colic ऊपर ग्रहण्याशय (Duodenum) तक आके वहां से पित्ताशय में भी संक्रमण कर जाते हैं। इस प्रकार पित्ताशय में इनका संक्रमण होकर पित्ताशय शोथ का रोग हो जाता है। संभव है कि गले, दांत आदि में से रक्त के द्वारा Non Haemolytic Streptococci और Staphylococci आदि का संक्रमण भी वहां पर हो जाता है।

तीव्र पित्ताशय शोथ :-

जीवाणु संक्रमण के द्वारा यह रोग जब तीव्र रुप में होता है इसे तीव्र पित्ताशय शोथ कहते (Acute Cholecystis) कहते हैं। जब यह तीव्र रुप भी मृदु रुप में हो अर्थात् पित्ताशय शोथ मृदु हो तो इसे तीव्र श्लै० पित्ताशय शोथ (Acute Catarrhal Cholecystitis) कहा जाता है। इसमें पित्ताशय प्रदेश में दर्द के साथ अरुचि और वमन के लक्षण होते हैं। पित्ताशय में शोथ तीव्र रुप में हो तो पैत्तिक या (Suppurative) तथा कोथिक या (Gangrenous) पित्ताशय शोथ (Cholecystitis) का रोग भी हो जाता है। इन अवस्थाओं में बहुधा पित्ताशय में अश्मरी भी होती है। शूल, अरुचि, वमन के लक्षणों के अतिरिक्त ज्वर तथा नाड़ी की शीघ्रता तथा Leucocytosis के लक्षण भी होते हैं। तथा पित्ताशय पर स्पर्श असहता का लक्षण विशेष होता है। जीर्ण पित्ताशय शोथ (Chronic Cpholecystitis) जो प्रारंभ से ही जीर्ण रुप में आरंभ होता है या तीव्र शोथ के उपद्रव के रुप में होता है अधिक सुलभ रोग है। इस अवस्था में शोथ के चिरकाल तक रहने से श्लेष्म कला तथा मांस मय स्तर में Ekk Fibrosis सन्धानुर्तुक वृद्धि की प्रक्रिया हो जाती है। जिससे पित्ताशय कठोर और कुछ स्थूल हो जाता है। इसमें पित्ताश्मरियां भी प्रायः होती हैं।

लक्षण :-

चिर स्थायी पित्ताशय शोथ में चिर स्थायी अजीर्ण के लक्षण जैसे भारी भोजन करने के कुछ घंटों बाद आमाशय प्रदेश (Epigastrium) तथा दांई पसलियों के नीचे के प्रदेश में, ऊपर तथा पीठ की तरफ जाने वाली दर्द के होने, आध्मान, अरुचि, वमन, अम्लोद्गार आदि के होने के लक्षण होते हैं तथा पित्ताशय पर स्पर्शाक्षमता का लक्षण भी होता है। साधारणत: ज्वर नहीं होता पर कभी कभी ९९ के लगभग तापमान भी होता है। बड़ी आयु के व्यक्तियों में कुछ कुछ दिनों के बाद सांयकाल सरदी लग कर कंप कंपी होकर अरुचि और वमन के लक्षणों के साथ हलका सा ज्वर हो जाता हो और महीनों तक ऐसा क्रम जारी रहे तो पित्ताशय शोथ का संदेह करना चाहिये। विशेषत: शारीरिक थकावट के अधिक हो जाने वाले दिन में सांयकाल यह ज्वर होता है। इसे प्राय: Biliary Fever कहा जाता है। कुछ कुछ काल बाद सांयकाल के समय सरदी सी लग कर इसके आक्रमण होते हैं। (Savill)

तीव्र पित्ताशय शोथ की चिकित्सा :-

तीव्र पित्ताशय शोथ में रोगी को खाट शायी रखें दर्द वाले प्रदेश पर गीला तथा गर्म सेक देना चाहिये या Kaolin की पोल्टिस बांधा देना चाहिये। या Dry Cups लगा देने से लाभ होता है। रोगी को केवल घूंट २ जल पर ही रखना चाहिये। दर्द के कम हो जाने पर स्वल्प मात्रा में दुग्ध आरंभ करके क्रमश: आहार बढ़ाना चाहिये। शोथ के लिये Sulphadiazine की २ ग्राम की प्रथम मात्रा देकर फिर इसकी १,१ ग्राम की मात्रा में ६,६ घंटे पर ५,७ दिन दे देनी चाहिये। अथवा Penicillin ६ लाख Units की मात्रा दिन में दो बार ५, ६ दिन तक दे दी जाती है। ये औषधियां पित्ताशय में रक्त द्वारा न जा के पित्त द्वारा पहुंचती हैं तो भी इनसे कुछ लाभ तो होता है। Aureomycin 500 मिलिग्राम प्रति ६ घंटे बाद ५,७ दिन देने से भी इसी प्रकार लाभ होता है। Hexamine भी पित्ताशय में जीवाणु संक्रमण को शांत करता है। इसकी ६०, से १२० ग्रेन की दैनिक मात्रा बराबर Sodium Bi-Carbonate के साथ प्रात: दोपहर तथा रात को दे देनी चाहिये। इसके देने से पहले दुग्ध दे दिया जाय और बाद में कुछ घंटों तक दुग्ध या आहार न दिया जाय तो क्योंकि यह भी पित्त के द्वारा पित्ताशय पर प्रभाव करता है। पित्त के शीघ्र न निकलने से औषधि का प्रभाव पित्ताशय पर देर तक रहता है। कुछ एक सप्ताह इसका प्रयोग करने से पूरा लाभ होता है। इस चिकित्सा के दौरान में देखते रहना चाहिये कि मूत्र अम्लीय न हो जाय। तीव्र शूल के शांत करने के लिये Phenobarbitone Sodium १ १/२ ग्रेन की मात्रा में त्वचा द्वारा ६,६ घंटे पर दे सकते हैं।

चिरस्थायी पित्ताशय शोथ Ch: Cholecystitis की चिकित्सा :-

यह रोग बिना पित्ताश्मरी के हो तो औषधि चिकित्सा से ठीक हो सकता है। अश्मरियाँ भी हों तो केवल औषधियों के प्रयोग से ठीक नहीं होता। तथापि यदि रोगी शल्य कर्म के योग्य न हो तो निम्नलिखित चिकित्सा से कुछ लाभ अवश्य होता है।

व्यायाम चिकित्सा :-

पित्ताशय में विद्यमान पित्त की स्थिरता (Stasis) के दूर करने के लिये मृदु व्यायाम तथा पेट संबंधी आसन लाभदायक होते हैं।

भोजन चिकित्सा :-

इस बात में कितनी सचाई है, यह तो निश्चय से नहीं कहा जा सकता परंतु बहुधा स्नेह हीन (Cholesteral Free) भोजन से पित्ताशय रोगी को लाभ प्रतीत होता है। घी, तेल में तैयार किये गये भोजनों का परित्याग कर देने से तो अवश्य ही लाभ होता है। मांस, अंडे आदि के स्नेह भी इसके लिये ठीक नहीं होते। जैतून तैल, बादाम रोगन तथा स्वल्प मात्रा में घृत, भोजन से एक आधा घंटे पहले चौथाई या आधा औंस की मात्रा में दिन में दो तीन बार लेने से तो विशेष लाभ होता है। ये पित्ताशय गत पित्त को बाहिर निकालने का कार्य करते हैं। परंतु भोजन में स्नेह का प्रयोग करने से वह दुष्पच हो जाता एवं पेट में हवा करने का कारण बन जाता है। भोजन दिन में चार पांच बार किया जा सकता है परंतु हर बार इसकी मात्रा बहुत कम कर देनी चाहिये। क्योंकि बहुधा इस रोगी में मंदाग्नि (Hypochlorhydria) या तीक्ष्णाग्नि (Hyperchlorhydria) का लक्षण होता है। इसीलिये इस रोग में नमक, तीक्ष्ण मसाले, मिर्च आदि भी हानिकारक होते हैं जो कंद जमीन के अंदर उत्पन्न होते हैं वे भी हवा करने वाले होने से इस रोग में हानिकारक हो जाते हैं। प्रारंभ में तो इस रोग में चिकनाई रहित दूध दही अर्थात् मट्ठा अधिक उपयुक्त रहते हैं क्योंकि कार्बोहाइड्रेट भोजन की अपेक्षा प्रोटीन भोजन से Bile Salts की उत्पत्ति अधिक होती है जो कि पित्त प्रवर्तक (Choleretic) होते हैं फिर छोटी छोटी उबली हुई सब्जियां, फल रस आदि और फिर कुछ रोटी किसी उबली हुई सब्जी के साथ देनी चाहिये। छोटी छोटी घृत या मक्खन भी थोड़ी थोड़ी मात्रा में भोजन में मिलाया जा सकता है।

औषध चिकित्सा :-

Ox Bile तथा Bile Acids पित्त प्रवर्तक (Choleretic) होते हैं। एतदर्थ Dehydrated Ox Bile या Bile Extract का ५ ग्रेन की मात्रा में कैप्सूल के अंदर बंद करके दिन में तीन बार प्रयोग किया जाता है परंतु Bile Salts इस रोग के लिये विशेष उपयोगी पाये गये हैं। इनकी उत्पत्ति के लिये प्रोटीन भोजन अधिक उपयोगी होते हैं। Dehydrocholic Acid (Bile Acid) का Sodium Salt (Dehydrocholin या Cholectrina या

Decholin) ~~कहा जाता है~~ ०.२५ ग्राम ($3\frac{3}{4}$ ग्रेन) की मात्रा में गोलियों के रूप में दिन में ३ बार दिया जाता है। इसी प्रकार Felamin को जो कि Hexamine Glycocholate, गोलियां ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो तीन बार दी जाती हैं। Bile Salts से बनी Bicolates की गोलियों के रात को सेवन से भी मल बंधा टूट ~~हो~~ जाता है।

कुछ एक रेचक औषधियां जैसे Alba Mist: १ औंस या Magnesium Sulph: १,२ ड्राम की मात्रा में अथवा Sodium Phosphate (Disodium Phosphate) १, २ ड्राम की मात्रा में १,२ औंस जल में प्रातः काल खाली पेट देने से तथा थोड़ी देर दायें पार्श्व पर लेट जाने से पित्ताशय से पित्त का प्रवाह विशेष रूप में होने लगता है। Potassium के Salts जैसे Bi-Carbonate या Citrate भी जल के साथ प्रातः सांय लेने से बाइल के प्रवर्तक होते हैं। Sodium Salicylate. अथवा Hexamine ७,१५ ग्रेन की मात्रा में बराबर या दो गुना Sodium Bi-Carbonate के साथ दिन में दो तीन बार देने से न केवल पित्ताशय में जीवाणु नाश (Antisepsis) ही होता है परंतु इसमें से पित्त का प्रवाह भी अधिक मात्रा में होता है। तीव्र Biliary Colic पित्ताशय ~~शूल~~ शूल के होने पर रोगी को एक पाइंट गर्म जल में १ ड्राम Sodium Bi-Carbonate डालकर थोड़ा थोड़ा पिलाने, गर्म पानी के टब में बिठाने या Tincture Belladonna २०,३० बूंद के पिलाने या Trasentin .०७५ ग्राम गोली के देने या Phenobarbitone Sodium. .१३ ग्राम के त्वचा द्वारा देने या Demerol अर्थात् Pethidine .१ ग्राम के त्वचा द्वारा देने या Morphine Sulphate $\frac{1}{4}$ ग्रेन Atropine-Sulphate $\frac{1}{100}$ ग्रेन के त्वचा द्वारा देने से पित्त मार्गों (Bile Ducts) के शिथिल हो जाने पर शूल शांत हो जाता है।

आयुर्वेद में- यकृदाल्युदर- यकृदाल्युदर- यकृद् वृद्धिः-

चरक के मत में विदाहि पक गुरु भोजनों के प्रभाव से यकृत् में वृद्धि हो जाती है। सुश्रुत का कथन है कि विदाहि अर्थात् पित्त प्रकोपक तथा गुरु, तथा अति, कफ वर्धक, अभिष्यन्दी भोजनों के सेवन से रुधिर और कफ (Lymph) दूषित हो जाते हैं। इन दूषित हुये रुधिर और कफ के कारण यकृत् में वृद्धि हो जाती है। यकृद्वृद्धि रोग को वात कफ या वात पित्त प्रकोप जनित कहा जाता है। यकृत् के अंदर वायु का प्रकोप होने से इसके सेलों में रुदातत, रूक्षता आदि होकर कठिनता के लक्षण होते हैं। कफ के प्रकोप के कारण यकृत् के सेलों तथा स्नायुतंतु में अति वृद्धि का लक्षण होता है। इस प्रकार यकृत् आकार में बड़ा तथा कुछ कठोर हो जाता है। शरीर में मंद मंद पित्त प्रकोप के कारण मृदु ज्वर भी हो जाता है। ॥ सु० । उ० ४२ । तथा च० । चि० । १३ ॥

चरक तथा सुश्रुत दोनों में इस रोग के लक्षणों का वर्णन करते हुये दुर्बलता, अग्नि नाश, अन्नारुचि, अपचन, वमन, पेट पर नील शिराओं के प्रादुर्भाव, पांडुता, आदि का उल्लेख किया है। ।। सु०। नि० ८। तथा च०। चि०। १३।।

यकृद्वृद्धि चिकित्सा के लिये गोमूत्र साधित हरीतकी का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणत: सवा सेर हरितकी को पांच सेर गोमूत्र में पका के जल भाग उड़ जाने पर उन्हें गुठली रहित करके पीस कर उसमें तीन त्रिकटु, त्रिवृट, देवदारु अपामार्ग, और दारू, अजवायन २,२ तोला हींग, १ तोला मिलाकर निम्बू रस से अनेक बार मर्दन करके बड़ी बड़ी गोलियां बना ली जायें और ऐसी २ गोलियां दिन में तीन बार ली जायें तो लाभ होता है। गोमूत्र साधित पंचामृत लौह मंडूर या पुनर्नवा मंडूर भी दो दो गोलियों की मात्रा में दिन में तीन बार दिये जाते हैं। हरितकी चूर्ण को दुगुने गुड़ में मिलाकर सेवन करने या अभयारिष्ट आदि का सेवन करने से भी यकृद्वृद्धि में लाभ होता है। त्रिफला को कुटकी, दारुहल्दी, गुडूची के साथ क्वाथ के रूप में भी दिया जाता है। वर्धमान, पिप्पली योग अर्थात् ५ पिप्पली से आरंभ करके दस दिन तक ५,५ पिप्पली क्रमश: बढ़ाते हुये तथा फिर दस दिन तक ५,५ पिप्पली घटाते हुये प्रयोग करने का विधान भी किया गया है। इस काल में भोजन दूध, चावल का होना चाहिये। इस रोग में चावल का प्रयोग दूध के साथ या मांस रस के साथ किया जाता है। क्षीर पान का विधान अधिक हितकारी कहा जाता है। इसी प्रकार गुड़ पिप्पली योग भी यकृद्रोग के लिये उत्तम हैं। इस रोग के लिये षट्पल घृत, जो पंचकोल और क्षार से साधित घृत है, लाभदायक कहा गया है। सुश्रुत ने पारिजातक, कुरक, अपामार्ग क्षारों को तेल के अनुपान के साथ पिलाने के लिये कहा है। पूती करंज के क्षार को निम्बू से भावना देकर उसके सेवन का विधान किया है। इस प्रकार उसने Potassium Salts का प्रयोग किया है। बकरे के जिगर के रस का प्रयोग भी इस रोग के लिये उपयोगी पाया गया है। अर्थात् लौह भस्म ६ माशे, ताम्र भस्म ३ माशे, रस सिंदूर ३ माशे को मिला बकरे के जिगर के रस की १०,१५ भावना देकर सुखाकर १,२ रत्ती की मात्रा दिन में दो तीन बार देने से भी लाभ होता है।

आयुर्वेद में पित्ताशय शोथ तथा पित्ताश्मरी।

अर्थात् पित्ताशय शोथ, यकृच्छूल, कफ गुल्म :-

चरक ने कहा है, शीत, गुरु, स्निग्ध गुरु आहार के अधिक मात्रा में लेने से, दिन रात आराम में पड़े रहने तथा व्यायाम न करने वालों में दक्षिण पार्श्व में कफ गुल्म हो जाता है। इसमें होने वाले शूल को कफ शूल कहा गया है। पित्ताशय में शोथ तथा शूल होने पर जीमचली, वमन, और हल्के दर्द होने के लक्षण होते हैं तथा यह रोग बहुत दिन तक चलता है। ।। च०। चि०। ५।।

इसकी चिकित्सा के लिये वमन विधि, लंघन विधि तथा स्वेदन विधि

का प्रयोग किया जाता है। इनके साथ उपर्युक्त गो मूत्र साधित हरीतकी या क्षारौषधियां दी जाती हैं। उदाहरणत: शंख वटी, क्षारगुटी, कांकायनवटी या यवक्षार, सैंधव, त्रिकुट, हींग, कुष्ठ, समान समान से बनाई गोली या चूर्ण की एक माशा की मात्रा दिन में तीन बार देनी चाहिये। इस चूर्ण को या गोलियों को उपर्युक्त त्रिफलादि क्वाथ के साथ देने से पित्ताशय शोथ या यकृच्छूल शांत होता है। क्षार साधित घृतों में से षट्पल घृत, दशमूली घृत, दश मूलषट्पल घृत, त्रिकुट, क्षार, सैंधव, हींग, से बनाया घृत। या मिश्रक स्नेह (त्रिफला, त्रिवृत, दंती, दशमूल, प्रत्येक ४,४ तोला को चार गुणा जल में पका चतुर्थांश रस के बराबर दूध, चतुर्थांश एरंड तेल तथा घृत मिला स्नेह पाक) भोजन से एक आधा घंटा पहले पिलाना चाहिये। भोजन में पुराने चावल, जौ, तक्र, जांगल मांस कुलथी, आदि का विधान किया गया है।

जलोदर :- Ascites:

उदरावरण कोष Peritoneal Cavity. में जल भरने लग जाय तो इस रोग को जलोदर कहते हैं।

१.. यकृद् वृद्धि जनित जलोदर :- (Ascites Due to Hepatic Cirrhosis)

यकृद्रोग के कारण Portal Capillaries में उनका रक्त भार के बढ़ जाने से एवं इनकी दीवारों में से जलभाग के इस कोष में रिसने से यह जलोदर होता है। मध्यमायु के व्यक्तियों में चिरकाल या वर्षों तक यकृद्रोग से ग्रस्त रहने के बाद उसके उपद्रव के रूप में यह रोग होता है। इस अवस्था में प्लीहा वृद्धि का लक्षण भी थोड़ा बहुत होता है। जलोदर से पेट तो उभरा होता है पर रोगी की शाखायें कृश दीखती हैं।

२.. वृक्क रोग जनित जलोदर :- (Ascites due to Acute or Subacute-Nephritis)

वृक्क रोग (Acute या Sub-Acute Nephritis) के कारण जब मूत्र के द्वारा बहुत सा अलब्यूमिन निकल जाता है एवं रक्त में प्रोटीन्स की मात्रा ५ प्रतिशत से कम हो जाती है अर्थात् Hypoproteinaemia हो जाता है। तो सर्वांग स्वयथु का रोग हो जाया करता है। क्योंकि जब तक शिराओं के रक्त में Colloidosmotic Pressure पर्याप्त रहता है वे अवयवों में विद्यमान जल को अपनी ओर खींचती रहती है। अलब्यूमिन के नष्ट होते रहने से जब इनका यह भार कम हो जाता है इनकी जल को अपनी ओर खींचने की शक्ति नहीं रहती जिससे अवयवों में जल तथा लवण अधिकाधिक मात्रा में संचित होते जाते हैं जिस प्रकार त्वचा के नीचे के अवयव (Subcutaneous Tissue) में जल एकत्रित हो जाता है वैसे ही यह उदरावरणकोष Peritonicum में भी भरने लग जाता है। अर्थात् इस अवस्था में जलोदर का रोग सर्वांग

स्फ़ाय (oedema) का एक भाग होता है तथा इस अवस्था में चेहरे, पांव आदि के शोथ के साथ साथ जलोदर का लक्षण होता है। मूत्र में अल्बूमिन Casts को तथा रक्त में Cholesterol की वृद्धि को तथा रोगी के श्वेत को फूले हुये शरीर को देखकर इस रोग का निश्चय हो जाता है।

३.. हृदय ज रोग जनित जलोदर :-(Ascites Due to Cardiac Failure).

हृदय शैथिल्य (Cardiac Dilatation) के रोग में जब दक्षिण हृदय में निर्बलता हो जाती है तब शरीर की शिराओं में रक्त भार बढ़ जाता है। जिससे इनमें से जल भाग अधिक मात्रा में बाहिर निकलने लगता है। जल के साथ लवण भी अधिक मात्रा में अवयवों में संचित हो जाता है। Portal-Capillaries में भी इसी प्रकार रक्त भार के बढ़ जाने से जलोदर हो जाता है। इस जलोदर में क्योंकि पहले वाम हृदय निर्बल होता है अतः श्वास कृच्छता तथा खांसी का लक्षण पहले होता है और उसके कुछ काल बाद दक्षिण हृदय के निर्बल हो जाने पर फिर पैरों में स्फ़ाय होता है। और उसके बाद जलोदर का लक्षण होता है।

Ascites due to Peritonitis:-

४.. उदराच्छ कला (Peritoneum) में शोथ हो जाने के कारण भी इस कला में से स्राव (Exudation) होकर जलोदर हो जाया करता है। ५,१० वर्ष की आयु के बालकों में जलोदर हो तो वह बहुधा उदराच्छदा Peritoneum में क्षय जीवाणु के संक्रमण कर जाने से होता है। इसे क्षयोदर कह सकते हैं। इस अवस्था में बालक का पेट उभरा हुआ स्थूल होता पर उसके हाथ पांव आदि अंग कृश होते हैं। इसे सायंकालिक ज्वर भी रहता है।

५.. कैंसर जनित जलोदर :- (Ascites Due to Carcinoma).

५५ से ऊपर बड़ी आयु के व्यक्तियों में जलोदर हो तो वह बहुधा कैंसर रोग जनित होता है। पहले आमाशय या गुदा में कैंसर प्रारंभ होता है। वहां से उसके सेल लसीका वाहिनियों (Lymph Vessels) के द्वारा Peritoneum में प्रवेश कर जाते हैं। अथवा वहां से यह रोग लसीका वाहिनियों के द्वारा Portal Fissure में विद्यमान Lymph Glands में संक्रमण करता है और इन बढ़ी हुई ग्रन्थियों के दबाव के कारण Portal Vein के दब जाने से उदरावरण कोष्ठ में जल भरने लग जाता है। इस अवस्था में प्रायः दांयें कंधे या उदर की पीठ पर दर्द होने का लक्षण होता है। Portal Fissure में विद्यमान Bile Duct पर इन ग्रन्थियों का दबाव विशेष पड़ जाय तो कामला का लक्षण हो जाता है। इस अवस्था में रोगी में थोड़े ज्वर होने का लक्षण भी होता है। स्त्रियों में Ovarian Cyst से इसका भेद करना होता है। सिस्ट हो तो पार्श्वों पर ठकोर की आवाज ऊंची (Resonant) होती है तथा सामने के प्रदेश पर ठकोर मंद होती है। पेट की

मोटाई सबसे अधिक नाभि के नीचे के प्रदेश में होती है। जलोदर रोग में पेट की सबसे अधिक मोटाई नाभि पर होती है।

जलोदर चिकित्सा :-

जिस कारण से जलोदर हो उसे दूर करना चाहिये। यकृद्रोग जनित जलोदर में रक्त में प्रोटीन कम (Hypoproteinaemia) होता है तथा शरीर में Sodium Chloride का संचय अधिक होता है। अतः प्रोटीन प्रधान तथा लवण रहित भोजन का प्रयोग करना चाहिये। बिना चिकनाई का दूध २० औंस तक, दो पाव सब्जी, १ छटांक अंडा तथा फल उसे प्रति दिन देना चाहिये। उदर के अंदर विद्यमान जल के एक लिटर में ८ ग्राम लवण होता है। यदि नमक की दैनिक मात्रा ८ ग्राम के स्थान पर ०.८ ग्राम कर दी जाय तो जितनी देर में पहले Peritoneum के अंदर १ लिटर भरता था उतनी देर में फिर ७० सी.सी. से भी कम जल भरता है। Mersalyl, Neptal, Salygran-Thiomerin आदि किसी Mercurial Diuretic % Solution के २ सी.सी. की मात्रा में सप्ताह में १,२ बार देने से पर्याप्त जल मूत्र द्वारा निकल जाता है। इसके एक दिन पहले तथा उस दिन Ammonium Chloride का १ ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार प्रयोग करने से और खुल कर मूत्र आता है। Mercloran या Mercuzanthin १,१ गोली के दिन में तीन बार देने से या Diamox १ गोली दिन में देने से भी मूत्र खुलकर आता है। या Chlorthiazide के ५०० मिलि० के तीन बार प्रति दिन तीन दिन देने से यारेसेले Hydrochlorothiazide भी मूत्र खुलकर आता है। ३,४ दिन बाद फिर इसी प्रकार इसे तीन दिन दे सकते हैं। प्रातःकाल Magnesium Sulphate का एक ड्राम की मात्रा में प्रयोग करके रेचन भी देते रहना चाहिये। तीव्र विरेचनों का अधिक प्रयोग करने से आंत में शोथ होने का भय रहता है। Mersalyl देने के बाद मूत्रल औषधियाँ के देने से कुछ लाभ हो सकता है। रोगी को जल की मात्रा भी दिन भर में ३,४ पाव तक सीमित रखनी चाहिये। हृदय रोग जनित जलोदर में पूर्ण विश्राम तथा Digoxin .२५ ग्राम के दिन में दो बार देने से लाभ हो जाता है। वृक्क रोग जनित जलोदर में प्रोटीन और लवण का त्याग कर देने, दैनिक जल की मात्रा के एक पाइंट तक कर देने, रोगी को केवल कार्बोहाइड्रेट, फल रस आदि पर रखने से लाभ हो सकता है।

आयुर्वेद में उदर रोग ।-

आयुर्वेदानुसार, कोष्ठ की रक्त वाहिनियों में से रक्त का द्रव भाग जब रिस रिस कर कोष्ठ गुहा को फुला देता है तब उसे उदर रोग कहते हैं। जब यह द्रव भाग त्वचा के नीचे के भाग में संचित होता है तब इसे श्वयथु कहते हैं। सु० । नि०७ ।

कारण :-

अग्नि के मंद हो जाने से तथा शरीर के रक्त तथा अवयवों में दोष के अति मात्रा में संचित हो जाने पर उदर रोग होता है। अर्थात् एक तो अग्नि की मंदता को, दूसरे रक्त में तथा शरीर में दोष के अति मात्रा में संचय को, इस रोग का कारण कहा गया है। इसी प्रकार स्नायु रोग को भी धातुओं में दोष के अति मात्रा में संचित हो जाने से उत्पन्न हुआ कहा गया है। ।।च।चि।१३।तथा २३सू०।नि०।७।।

वातोदर :-

जब अग्नि मंदता और तज्जनित दोष संचय विशेषत: वायु युक्त हों तब उत्पन्न होने वाले उदर रोग को वातोदर कहा जाता है। अर्थात् शरीर का पोषण ठीक ठीक न होने (Malnutrition) के कारण जब उदर रोग हुआ हो तो उसे वातोदर कहा जाता है। शरीर का पोषण यथावत् न होने से रक्त का पोषण नहीं होता जिससे अग्नि मंदता और उससे रक्त में दोष संचय की वृद्धि हो जाती है। रक्त में दोष के संचित हो जाने से सिराओं में भारवृद्धि (Hypertension) हो जाती है जिससे उनकी दीवार में निर्बलता एवं परिस्त्रावशीलता (Peremability) उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि यकृद्रोग तथा हृदयरोग में सिराओं की निर्बलता के कारण उत्पन्न होने वाले उदर रोग को आयुर्वेद में वातोदर कहा जाता है।

लक्षण :-

चरक ने पैरों, टांगों, बाहों, अंडकोष, आदि में शोथ के साथ कोष्ठ में शोथ का होना, शोथ का अस्थिर रूप में होना, कुक्षि में शूल का होना, कृशता, दुर्बलता, अन्नारुचि, अपच तथा त्वचा में कृष्ण वर्ण झलकना इस अवस्था के लक्षण कहे गये हैं। ।। च।चि।१३।।

कफोदर :-

जब स्निग्ध एवं गुरु गुण आहारों की अधिकता के कारण, अग्नि मंदता तथा शरीर में अति दोष संचय के लक्षण होते हैं और फिर उनसे उदर रोग होता है तब उसे कफोदर कहा जाता है। इस अवस्था में अवयवों में आम दोष या अम्ल दोष (Acidic Metabolities) तथा लवण के अति मात्रा में संचित होने पर, रक्त वाहिनियों के, जल भाग के, अधिक मात्रा में, बाहर अवयवों की तरफ रिसने से जलोदर होता है। ।। च।चि।१३।।

लक्षण :-

इसमें अग्नि के अति मंद होने तथा अवयवों में जल के अधिक मात्रा में संचित होने से कठोर स्नायु तथा कठोर कुक्षि शोथ होने तथा अरुचि, अपच, और नख, त्वचा आदि के श्वेत वर्ण दीखने के लक्षण होते हैं। संभवत: चरक ने अत्याहार करने से और शारीरिक श्रम के सर्वथा न करने के कारण उत्पन्न होने वाले वृक्क रोग से जो स्नायु एवं उदर रोग होते हैं, उसे कफोदर कहा है।

पित्तोदर :-

जब प्रधान तथा पित्त की या पाचक अग्नि के तीव्र हो जाने से अग्नि की मंदता और शरीर में दोष संचय के लक्षण हों और फिर इनके कारण उदर रोग हो तो इसे पित्तोदर कहा गया है। अर्थात् तीव्र कोष्ठावरण शोथ (Acute Peritonitis) से होने वाले उदर रोग को पित्तोदर कहा है।

श्लेष्मोदर :-

जब कोष्ठावरण कोष (Petitoneum) की रक्त वाहिनियाँ भी निर्बल (Permeable) हों, वहाँ पर आम दोष या मल दोष (Metabolitee) तथा आदि का संचय भी विशेष हो, वहाँ पर पचन क्रिया की अधिकता से पूयभाव या तीव्र शोथ (Acute Inflammation) भी हो तब ऐसी अवस्था में होने वाले उदर को श्लेष्मोदर कहा है। संभवत: बालकों में होने वाले क्षयोदर को तथा वृद्धावस्था में होने वाले कटि कोदर या कैंसर उदर को श्लेष्मोदर कहा गया है। ।। च।चि।१३।।

चिकित्सा :-

अग्नि के मंद हो जाने तथा शरीर में दोष के अति मात्रा में संचित होने से उदर रोग होता है। अत: उदर रोगी को सदा दीपन, गुरु, लघु आहार ही देना चाहिये तथा नित्य उसका शोधन करना चाहिये। ।। च।चि।१३।।

वातोदर रोगी का भी स्नेह स्वेदन करके मृदु शोधन करना चाहिये अर्थात् उसे कुछ दिन लगातार एरंड तैल या मिश्रक स्नेह या कोई रेचक घृत पिलाते रहना चाहिये तथा दश मूल क्वाथ को एरंड तैल या तिल तैल जैतून तैल आदि से युक्त बस्तियां भी देनी चाहिये। रोगी निर्बल न होने पाय। इसके लिये उसे थोड़ा थोड़ा करके दिन भर में पर्याप्त मात्रा में दूध पिलाना चाहिये अथवा कम मात्रा वाले मांस रस से अन्न देना चाहिये। रोगी विशेष निर्बल हो तो उसका केवल बस्तियों तथा अनुवासन द्वारा शोधन करते हुये उसे दूध, मांस रस तथा अन्न का पर्याप्त सेवन कराना चाहिये। वातोदर में गोमूत्र से बारंबार भावित किया हुआ थूहर आधा माशा की मात्रा में दशमूल क्वाथ से देना चाहिये अथवा दशमूल क्वाथ और एरंड तैल प्रतिदिन दो तीन सप्ताह तक देना चाहिये।

कफोदर चिकित्सा :-

कफोदर में बाह्याभ्यन्तर स्नेहन, स्वेदन करके विरेचन देने चाहिये। इसके लिये सप्ताह में दो दिन प्रात: काल दो गोलियाँ नाराच रस की दे देनी चाहिये। ००००००००० या रस पुष्प (जो शुद्ध सेन्धव ५ तो० शुद्ध कासीस ५ तो० फटकरी ५ तो०, पारा ५ तोला को संपुट में बंद कर अग्नि पर रखकर उड़ाकर बनाया जाता है) दो रत्ती की मात्रा में दो माशा सोडे के साथ सप्ताह में दो दिन रात को या प्रात: काल दे देना चाहिये। शेष दिन कुटकी, हरीतकी

अवलेह, पिप्पली युक्त, गौधा समान समान का बायगी उचित मात्रा में बनाया हुआ क्वाथ प्रतिदिन देते रहना चाहिये तथा मूत्र से बारबार भावित किया हुआ मंडूर या पंचामृत लौह मंडूर एक या आधे मासे की मात्रा में सायंकाल या रात को एक बार देना चाहिये। स्नुहीक्षीर १० तोला में ५ तोला पिप्पली चूर्ण डालकर इसकी गौ बराबर बनाई गोलियाँ भी यदि प्रातः सायं १,१ गोली दुग्ध के अनुपान से दी जायें तो उत्तम विरेचक होती हैं। रोगी को दुग्ध मात्र आहार पर ही रखना चाहिये। एक सेर हरीतकी को सवा सेर गोमूत्र में मंद मंद अग्नि पर सुखाकर उसे बनाये चूर्ण के द्वारा भी रोगी को विरेचन दिया जाय तो जलोदर शांत हो जाता है। यह विरेचन चिकित्सा दो चार सप्ताह तक जारी रखनी चाहिये तथा रोगी को दिन भर में डेढ दो सेर दुग्ध देदेना चाहिये ताकि वह निर्बल न हो। दुग्ध अधिक मात्रा में देने से, जल शरीर में अधिक जाता है। अतः यह डेढ,दो सेर के अंदर अंदर ठीक है। पुनर्नवाष्टक क्वाथ के तथा गोमूत्र से बारंबार भावित किये हुये मंडूर के अथवा पंचामृत लौह मंडूर के एक मास तक प्रयोग करने से भी जलोदर शांत होता है। पुनर्नवाष्टक क्वाथ के साथ दो चार गुटी भी दे दी जाय तो मल मूत्र दोनों खुलकर होते हैं।

जलोदर रोगीको लवण तथा जलपान न कराकर केवल पिप्पली युक्त गौक्षीर पर ही रखना चाहिये। यद्यपि [illegible] ऊंटनी का दुग्ध गौक्षीर से भी अच्छा कहा जाता है। छागक्षीर पर एक मास रहने से भी उदर रोग शांत होता है। पिप्पली वर्धमान प्रयोग, जिसमें १०,१२ पिप्पली की अधिकतम दैनिक मात्रा हो,एक मास तक जारी रखा जाय और इसके साथ रोगी को दुग्ध मात्र पर ही रख जा जाय तो भी इस रोग में लाभ होता है। दुग्ध के साथ शिलाजतु का एक मास सेवन करने से भी लाभ होता है। त्रिफलारिष्ट,पुनर्नवारिष्ट,दशमूलहरीतकी,कंस हरीतकी, त्रिफलारिष्ट चूर्ण तथा आम्रवृक्ष से १०,१२ बार भावित लौहभस्म के दो रत्ती की मात्रा में कुछ काल प्रयोग करने से जलोदर में लाभ होता है।

पित्तोदर चिकित्सा :- (Acute Peritonitis).

पित्तोदर चिकित्सा के लिये चरक ने रोगी का स्नेहन करने के बाद आरग्वध, त्रिवृत,आदि के द्वारा विरेचन देने के लिये कहा है। रोगी निर्बल होतो जल में दुग्ध, कैतन तैल तथा लवण मिलाकर बस्तियों द्वारा कोष्ठ शोधन करने के लिये कहा है तथा रोगी को केवल क्षीर मात्र भोजन पर रखने का आदेश किया है।

।। चि १३।।

श्वास संबंधी रोग :- Respiratory Diseases.

नासारोग :-Diseases of the Nose:

नासा श्लेष्म कला की रचना। — नासा मार्ग में विद्यमान श्लेष्म कला की बहिःस्तर (Epithelium) Ciliated Columar Cells से बनी हुई है। इन स्तम्भाकृति Columnar सेलों के बीच बीच में श्लेष्म सेल या Mucous Cells या Goblet Cells भी बिखरे हुये रहते हैं। इस बहिस्तर और इसकी आधार स्तर Basement-Membrane के नीचे Mucous तथा Serous Glands कीरक तह बिछी हुई है जिनकी प्रणालियां श्लेष्म कला के पृष्ठ पर खुलती हैं। इन ग्रन्थियों तथा पृष्ठ पर विद्यमान Goblet Cells दोनों के श्लेष्म द्रव (Mucus) से नासा मार्ग तर रहता है। इसीलिये बाहर से आने वाली हवा में विद्यमान धूल, धुआं, Pollen आदि के कण इस श्लेष्म कला में पकड़े जाते हैं और इस प्रकार छनी हुई हवा फुफुस में प्रवेश करती है। श्लेष्म कला की बहिस्तर में विद्यमान रोंगटे (Cilia) तथा श्लेष्म द्रव (Mucus) और इन कणों की तह को धकेल कर, पीछे नासा पश्चिम प्रदेश (Nasopharynx) में फेंक देते हैं। जहां से हलक या पेट में चले जाते और वहां से बाहिर निकल जाते हैं।

नासिका की श्लेष्म कला के नीचे स्नायुतंतु (Connective Tissue) से बना एक जाल है जो स्पंज के सदृश होता है जिसके खाली स्थानों में रक्त भरा होता है। इसे Erectile Tissue of the Nose कहते हैं। इस जाल में रक्त वाहिनियां भी अधिक संख्या में होती हैं जो Sympathetic नाड़ियों के द्वारा नियंत्रित होती हैं, Inferior Tubbinate के अगले पिछले सिरों तथा इसके निचले किनारे पर तथा Middle Tubbinate के अगले सिरे पर जहां जहां हवा का संपर्क विशेष होता है, यह Erectile Tissue मोटा होता है अर्थात् वहां वहां रक्त विशेष होता है। इसका लाभ यह होता है कि बाहिर से आने वाली शीतल हवा नाक में से गुजरते समय गर्म हो जाती है तथा यदि वह अधिक शुष्क हो तो वह कुछ कुछ तर भी हो जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारा उद्देश्य नासा मार्ग में विद्यमान Cilia, Mucus, तथा Erectile Tiss को स्वस्थावस्था में रखना है या यदि ये रुग्ण हो गये हों तो इनको फिर स्वस्थ कर देना है।

तीव्र प्रतिश्याय :- Common Cold, Acute Coryza, Cold in the Head.

कारण :-

सभी रोगों में यह एक अति सुलभ रोग है जो बहुत से बालकों और युवकों को वर्ष भर में दो तीन बार होता है तथा प्रतिश्याय प्रकृति के व्यक्तियों को अनेक बार होता है। इस रोग के संक्रमण का कारण एक Filterable Virus

है जो रोगी के छींकने, खांसने तथा थूकने से उत्पन्न छींटों के द्वारा दूसरे स्वस्थ व्यक्तियों की नासिका तथा गले की श्लेष्म कला तक पहुंचता है तथा वहां से श्लेष्म कला के नीचे की Submucous Lymphatics. के द्वारा आसपास के अवयवों में संक्रमण कर जाता है। परीक्षकों ने बढ़ते हुये पक्षी भ्रूण (Chicken Embryo) अथवा Allantois के द्रव में इसकी खेती करके मनुष्य सदृश (Anthropoid) बंदरों में इसे प्रविष्ट करके इसके द्वारा प्रतिश्याय रोग उत्पन्न होते हुये भी किया है। इसके अतिरिक्त इसे निर्बल प्रकृति के या (Susceptible) व्यक्तियों में प्रविष्ट करने पर इससे प्रतिश्याय रोग को उत्पन्न होते हुये भी देखा है। यह बात बहुत कुछ सत्य ही प्रतीत होती है कि बस्तियों में प्रसरण करने वाले प्रतिश्याय रोग का कारण एक Filterable Virus ही है। यह कितने प्रकार का है, कितने दिन तक यह रोगी में रहता है, इससे उत्पन्न प्रतिरोधक शक्ति कितने दिन रहती है, इन विषयों में निश्चित रूप से अभी तक कुछ कहा नहीं जा सकता। इतना तो कहा जा सकता है कि प्रतिश्याय रोग प्रारंभिक अवस्था में अधिक संक्रामक होता है तथा इसके कारण उत्पन्न प्रतिरोधक शक्ति थोड़े समय तक ही रहती है। इसके संक्रामक होने के कारण प्रतिश्याय रोग भीड़ भाड़ में या मेले आदि में एकत्रित होने वाले व्यक्तियों में अधिक होता है। बाहर से आया हुआ यह Virus भी तभी नासिका की श्लेष्मकला में रोपण कर सकता है, जब वहां उसके रोपण के लिये अनुकूल भूमि (Susecptibility) हो अर्थात् जब पहले से अजीर्ण हो, मलबंध हो, या शरीर की जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति किसी कारण से घटी हुई हो, या नासिका की श्लेष्म कला पहले से धूप, धूम आदि से विकृत हो या Tonsillitis, Adenoids, Sinusitis. हो, या नासामार्ग में किसी प्रकार की रचना संबंधी विकृति हो या युवक अथवा युवती में क्षय रोग के होने की प्रवृत्ति हो तो इस Virus का रोपण सुगमता से हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति गर्मी से सहसा सर्दी में प्रवेश करता है अर्थात् गरम जल से स्नान करके या गरम बंद कमरे में से खुली शीत हवा में आता है या गर्मी के बाद सहसा शीत ऋतु का आगमन होता है तो सहसा शीत के स्पर्श होने से नासिका की श्लेष्म कला की रक्त वाहिनियां संकुचित हो जाती हैं जिससे श्लेष्म कला की जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है। ऐसी अवस्था में Virus को वहां ००० पर रोपण करने का अवसर मिल जाता है। इसीलिये सर्दी लग जाने को भी इस रोग का कारण कहा जाता है। इस रोग में नासिका तथा नासा पश्चिम भाग से होने वाले स्राव में कुछ एक जीवाणु पाये जाते हैं। जैसे Meisseria Catarrhalis, Streptococcus Viridans, Pneumococcus, Diphtheroids. पर इन्हें रोग का कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये स्वस्थावस्था में भी पाये जाते हैं। इस रोग में होने वाले स्राव में ऐसे रोग जनक जीवाणु जैसे Haemophylus Influenzae, Streptococcus Pyogenes, Staphyloccus Pyogenes. भी कभी कभी पाये जाते हैं। पर इन्हें भी इस रोग का कारण

नहीं माना जाता। Virus के कारण इस रोग के हो जाने पर इनमें से किसी जीवाणु को वहां रोहण कर जाने का अवसर मिल जाता है। जिससे ये जीवाणु प्रतिश्याय के उपद्रवों का कारण तो हो जाते हैं। प्रतिश्याय रोग में Chemotherapy. से जो लाभ नहीं होता इससे भी पता लगता है कि यह रोग इन जीवाणुओं के कारण नहीं होता।

संप्राप्ति :-

का संक्रमण होने पर नासिका के Sub-Mucous Tissue में विद्यमान रक्त वाहिनियां शिथिल हो जाती हैं (इनमें Vasodilatation हो जाता है) जिससे नासा मार्ग में विशेषत: Turbinates पर श्लेष्म कला फूल जाती और रक्त वर्ण हो जाती है। इसमें से श्लैष्मिक द्रव (म्यूकस) का स्राव बहुत अधिक होने लगता है जो शीघ्र ही गाढ़ा हो जाता अर्थात् Mucopurulent हो जाता है। नासिका की श्लेष्म कला के सूज जाने से नासा मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। नासा मार्ग से यह शोथ (नासास्रोतों) Paranasal Sinuses में तथा Eustachian Tube में भी प्रसरण कर सकता है। इन मार्गों के द्वार के बंद हो जाने से तथा बंद द्वार के पीछे विद्यमान वायु के विलीन हो जाने पर वहां वायु रिक्त प्रदेश या अवकाश (Vacuum) के बन जाने से सिर दर्द होता है जिसे अवकाश (Vacuum) सिर दर्द कह सकते हैं। इसी प्रकार शोथ युक्त Sinus के द्वार के बंद हो जाने पर उसमें उत्पन्न स्राव के वहां तन कर भर जाने से भी सिर दर्द होता है जिसे दबाव के कारण होने वाला Distension सिर दर्द कह सकते हैं।

लक्षण :-

इस रोग के Virus का संक्रमण होने के १२ से ४८ घंटों के अंदर यह रोग आरंभ हो जाता है। यह रोग सहसा ही आरंभ हुआ करता है। रोगी को अपनी नाक का स्रोत कुछ, बंद हुआ तथा गला कुछ शुष्क सा हुआ प्रतीत होता है उसमें खुजली सी लगती है तथा छींके आने लगती हैं। इनके साथ ही पतला सा स्राव होने लगता है जो कुछ घंटों में ही गाढ़ा हो जाता है। इन स्थानिक लक्षणों के साथ शरीर में भारीपन (Malaise) प्रतीत होने लगता है शाखाओं, कटि आदि के मांस में वेदना (Aching) सी होने लगती है। ज्वर प्राय: नहीं होता या अति मृदु या गौण लक्षण के रूप में होता है। इन प्रारंभिक लक्षणों के बाद दूसरे दिन तक नाक से निकलने वाले गाढ़े स्राव की मात्रा पर्याप्त बढ़ जाती है। नासिका से श्वास लेना कठिन हो जाता है। गंध और स्वाद की संज्ञा बंद हो जाती है। गले (Pharynx) तथा (कंठ Larynx) में शोथ के होने के कारण क्रमश: शुष्क खांसी तथा आवाज बैठ जाने के लक्षण हो जाते हैं। बच्चों के Tonsils भी सूज जाते हैं। इस प्रकार युवकों में यह रोग प्राय:

स्थानिक रूप में ही होता है। ज्वर, शैथिल्य, आदि व्यापक लक्षण इस रोग में प्राय: नहीं होते। ये तो इन्फ्लुएंजा में पाये जाते हैं। यह रोग तीन चार दिन में ठीक हो जाता है और लगभग सात दिन तक खांसी का लक्षण भी शांत हो जाता है। जुकाम के बाद खांसी का लक्षण संभवत: संक्रमण (Infection) के नीचे फैलने से रोकने के लिये होता है। इस रोग में (Maxillary Sinus में शोथ प्रसरण कर जाया करता है जिससे भौंहों या चेहरे पर दर्द हुआ करता है।

नासा स्रोत: शोथ :-(Paranasal Sinusitis)

यह रोग तीव्र प्रतिश्याय तथा इन्फ्लुएन्जा के उपद्रव के रूप में हुआ करता है। इन रोगों के दौरान में किसी Sinus में संक्रमण (Infection) के हो जाने से यह उपद्रव होता है। Frontal Sinus मस्तक में भौंहों के पीछे होती है। उसका द्वार नासा मध्य मार्ग (Middle meatus) के अग्रभाग में नासिका के अंदर खुलता है। इस Sinus की श्लेष्म कला में शोथ के प्रसरण कर जाने पर तथा इसके द्वार के बंद हो जाने पर माथे में तीव्र वेदना प्रतीत होती है। Maxillary Sinus का छिद्र भी नासा मध्य मार्ग में खुलता है। इस Sinus की श्लेष्म कला में शोथ प्रसरण कर जाय तथा इसका द्वार बंद हो जाय तो तीव्र वेदना आंख के नीचे गाल में प्रतीत होती है। Eathmoidal-Sinuses अग्रिम मध्यम और पश्चिम (Anterior Middle तथा Posterior) तीनों समूहों में नासा गुहा के ऊपर के भाग तथा नेत्र गुहा (Orbit) के बीच के प्रदेश में होती हैं। इनमें से अग्रिम तथा मध्यम Sinuses तो Middle Meatus में खुलते हैं, तथा पश्चिम Sinus, Superior Meatus के अगले भाग में नाक में खुलते हैं। इनकी श्लेष्म कला में शोथ के प्रसरण कर जाने से इनके द्वार के बंद हो जाने पर, नेत्र के पीछे, वेदना प्रतीत होती है। Sphenoidal Sinus नासिका के ऊपर के भाग में Superior Turbinate के पीछे खुलती है। उसकी श्लेष्म कला में शोथ के प्रसरण कर जाने से तथा उसके द्वार के बंद हो जाने से सिर की गहराई में वेदना प्रतीत होती है। Maxillary Sinus में यह शोथ अधिकतर हुआ करता है। इससे दूसरे नंबर पर यह शोथ Ethmoidal Sinus --- में होता है।

वातिक प्रतिश्याय:- Allergic Rhinitis, Nervous Rhinitis.

कुछ एक व्यक्तियों में विशेषत: बालकों और नवयुवक लड़के लड़कियों, की नासिका की श्लेष्म कला में किसी एक विशेष प्रकार के प्रोटीन पदार्थ के लिये जो सर्व साधारण व्यक्तियों के लिये सर्वथा निरुपद्रव होता है न्यूनाधिक असहमता या असात्म्यता, (Allergy) होती है। यह प्रोटीन पदार्थ जब उनकी नासिका में प्रवेश करता है तब उनमें अकस्मात् प्रतिश्याय का वेग हो जाता है। कुछ एक

प्रोटीन पदार्थों के लिये इस प्रकार की असमता की प्रवृत्ति जन्म से ही चाली प्रतीत होती है क्योंकि जिस परिवार में यह रोग पाया जाता है उसके अनेक व्यक्तियों में भिन्न भिन्न रूप में यह विकार देखने में आती है। इन लोगों का नाड़ी मंडल (Nervous System) अधिक विशेष शील होता है। भिन्न भिन्न घासों तथा Fungi से उड़ने वाले पराग (Pollen) में विद्यमान प्रोटीन के लिये Allergy होने का रोग अधिक पाया जाता है। घर के अंदर झाड़ने बुहारने से उत्पन्न होने वाली धूल (House Dust) में भी कोई प्रोटीन पदार्थ होता है। इसके लिये भी कुछ एक व्यक्तियों की नासिका में असमता होती है। सरदी की ऋतु के बाद अप्रैल के महीने में तथा सरदी की ऋतु के पहले अक्तूबर के महीने में जब प्रबल हवायें चलने लगती हैं तो उनके द्वारा घासों तथा Fungi की पराग उड़कर इन सबकी नासिका में प्रवेश करती है। अतएव शील (Allergic) प्रकृति के व्यक्तियों की नासिका की श्लेष्म कला में निःक्षिप्त हुये ये प्रोटीन का विपरीत गुण होने के कारण इन पर विष का सा प्रभाव करते हैं अर्थात् उनके लिये ये Antigen या Allergen हो जाते हैं। जिससे उनकी नासिका की श्लेष्म कला में प्रवेश करने पर उसमें उनके विपरीत Antibodies उत्पन्न हो जाते हैं। जिन्हें Sensitizing Antibodies कहते हैं। नासिका की श्लेष्म कला के अतिरिक्त ये नेत्रों की श्लेष्म कला, रक्त के Plasma तथा त्वचा में भी उत्पन्न होसकते हैं। अगली मौसम में जब वही पराग हवा के साथ उड़कर फिर नासिका की श्लेष्म कला में प्रवेश करता है अर्थात् फिर जब Antigen वहां आता है तो वहां विद्यमान Sensitizing Antibody के साथ उसका संघर्ष होने से ऐसी विनाशक प्रतिक्रिया होती है कि वहां के आहत या नष्ट हुये Protein-Tissue में से एक विशेष प्रोटीन पदार्थ जो Histamine या तत्सदृश कोई द्रव्य होता है उत्पन्न हो जाता है। जिससे नासा श्लेष्म कला की रक्त वाहिनियां शिथिल हो जाती हैं। अर्थात् नासिका की सिराओं (Capillaries) में हुई Vasodilatation-- या Paralysis हो जाता है। इनमें से द्रव के रिसने की प्रवृत्ति या उनके सेलों की Permeability बढ़ जाती है जिससे नासा श्लेष्म कला में शोथ (aedema) हो जाता है। नासिका, तालु, गले आदि में खुजली होकर छींके आने लग जाती हैं और नाक से पतला सा श्लेष्म द्रव (Mucus) बहुत मात्रा में निकलने लगता है। नाक की परीक्षा करने पर उसकी श्लेष्म कला पानी से भरी हुई तथा फूली हुई पाई जाती है। पर वह रक्त वर्ण न होकर श्वेत वर्ण ही होती है। नासिका से निकले स्राव की परीक्षा करने पर उसमें Eosinophil-Leucocytes अधिक मिलते हैं। [illegible] जब हवा के द्वारा

पराग(Pollen) उड़कर नाक में प्रवेश करता है तभी यह प्रतिश्याय का दौरा हो जाता है, अन्यथा प्रतिश्याय नहीं होता। वर्षा हो जाने पर या किसी कारण से जब हवा में पराग नहीं रहता रोग नहीं होता। जब रोगी में असह्यता (Allergy) अधिक होती है अथवा विरोधी प्रोटीन द्रव्य (Antigen) अधिक मात्रा में शरीर में प्रविष्ट हो जाता है तो कास तथा श्वास (Asthma) के भी वेग हो जाते हैं।

जीर्ण प्रतिश्याय :- (Chronic Rhinitis):

यदि बाहर से धूल या धूम अधिकता से नाक में प्रवेश करता हो, या Aednoids, Tonsillitis हो या नासा मार्ग की रचना में किसी प्रकार की विकृति हो या किसी Sinus में शोथ रहता हो, या उर:क्षय रोग की प्रवृत्ति हो तो नासिका की श्लेष्म कला में शोथ चिरस्थायी रूप में रहता है या प्रतिश्याय शीघ्र शीघ्र होता रहता है। चिरस्थायी प्रतिश्याय के कारण जब Inferior Turbinate के अगले सिरे तथा पिछले सिरे पर की श्लेष्म कला में अति वृद्धि (Hyperplasia) हो जाती है तब उसे Chronic Hypertrophic Rhinitis कहते हैं। जीर्ण प्रतिश्याय रोग में नासा मार्ग कुछ कुछ बंद सा रहता है तथा उसमें से पतला या गाढ़ा श्लैष्मिक या श्लेष्म पूययुक्त (Mucous or Mucopurulent) स्राव लगातार बना रहता है। बालक में Eustachian Tube के द्वारा शोथ कान में संक्रमण कर जाता है जिससे कर्ण शोथ (Otitis Media) का रोग हो जाता है।

वातीक प्रतिश्याय :- Atrophic Rhinitis:

कुछ एक निर्बल प्रकृति की युवक युवतियों को जिन्हें सदा प्रतिश्याय रहता हो, नासिका में प्रतिरोधक शक्ति की न्यूनता के कारण श्लेष्म कला स्थूल न होकर क्षीण हो जाती है अर्थात् उसकी रोंगटों वाली बहि स्तर (Epithelium) जिसके द्वारा नासिका मल बाहर कर दिया जाता है नष्ट होने लग जाती है। इस क्षीणता (Atrophic Degenmation) की प्रक्रिया के कारण इस प्रकार के जीर्ण प्रतिश्याय को Atrophic Rhinitis कहते हैं। नासिका की श्लेष्म कला देखने में सुकड़ी हुई पतली, रक्त विहीन, फीके रंग की होती है। जिससे नाक का मार्ग बड़ा, खुला और पीछे ऊपर तक स्पष्ट दीखता है। श्लेष्म कला शुष्क तथा मल की पपड़ी (Crusts) से ढकी होती है जिनमें जीवाणु जनित विघटन (Decomposition) के परिणाम रूप में दुर्गंध उत्पन्न हो जाती है जो परीक्षक को ही प्रतीत होती है, रोगी को नहीं। क्योंकि नासा की श्लेष्म कला की क्षीणता के साथ उसकी गंध संज्ञा हीन हो जाती है। इस जीर्ण प्रतिश्याय के दुर्गन्ध जनक होने के कारण इसे पूति प्रति श्याय (Ozaena) भी कहते हैं।

तीव्र प्रतिश्याय की चिकित्सा :-

प्रतिश्याय रोग के होते ही रोगी २४ या ४८ घंटों के लिये सामान्य

हो जाय और पूरा विश्राम कर ले तो रोग न तो तीव्र रूप लेता है और न ही कोई उपद्रव होता है। यह विश्राम चिकित्सा इस रोग की उत्तम चिकित्सा है। यदि शरीर में क्षय रोग की प्रवृत्ति हो या आयु बड़ी हो या शरीर की किसी प्रकार की निर्बलता के कारण प्रतिश्याय रोग बार बार होता हो तो तीन चार दिन तक विश्राम को जारी रखना चाहिये। विश्राम के दौरान में किसी उष्ण पेय या गर्म जल, उष्ण, लघु, रुचिकर, सुपच आहार के सेवन से लाभ रहता है। गरम गरम जल में निम्बू, शहद तथा २,४ ड्राम ब्रांडी मिलाकर पीने से भी आराम प्रतीत होता है। प्रतिश्याय निवारक कोई औषधि नहीं है। रोगी के कष्ट को कम करने के लिये वेदना शामक (Analgesic) औषधियों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणत: (Aspirin, Phenacetin) प्रत्येक चार ग्रेन Codeine-Phosphate-- $\frac{1}{8}$ ग्रेन की गोलियां या केवल Aspirin-- $3\frac{1}{2}$ Phenacetin $2\frac{1}{2}$ ग्रेन की बनी गोलियां या Aspirin तथा Dover's Powder समान समान की बनी गोलियां ५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन चार बार दी जाती हैं। Pot:Acet:Pot:Cit:१४,१५ ग्रेन Liqu: Ammon:Acit:Dil: ६० बूंद तथा कपूर जल १ औंस मिला कर ६,६ घंटे पर देने से भी आराम प्रतीत होता है। नासिका और गले की शोथ युक्त श्लेष्म कला को संकुचित करने के लिये संकोचक (Vasoconstrictor) औषधियां नाक में डाली जाती हैं जैसे १ प्रतिशत Exxx Ephedrine Sulphate नार्मल सेलाइन में मिला कर या $\frac{1}{4}$ प्रतिशत Neosynephrin नार्मल सेलाइन में मिला कर नाक में डालने से नासा नाली खुल जाता है। Amphetamine(Benzedrine.) Inhalent. के सूंघने से भी यही लाभ होता है। इसके गरम नार्मल सेलाइन द्वारा कभी कभी नासिका को धो देने से भी कुछ आराम प्रतीत होता है। १ पाइंट उबलते हुये जल को ५,७ मिनट रख के इसमें एक छोटा चम्मच Tincture Benzoin Co. डालकर इसकी वाष्प के नाक में लेने से भी नासिका का शोथ शांत होता है। Eucalyptus Oil के वाष्प के भी इसी प्रकार लेने से आराम प्रतीत होता है। १ पाइंट उबले हुये जल में Menthol Spirit २५ प्रतिशत की १० बूंद डालकर भी वाष्प ले सकते हैं। Liquid Paraffine में आधा प्रतिशत की मात्रा में Chloretone, Menthol तथा Lemon Oil. मिलाकर नाक में डालने से या Endrine, या Privine के नाक में डालने से नासा शोथ शांत होता है। इन सबका Virus पर कोई प्रभाव नहीं होता केवल बाह्य संक्रमण (Secondary Infection) पर कुछ प्रभाव होता है।

<u>प्रतिषेधक चिकित्सा :-</u>

जब यह रोग फैला हुआ हो तो भीड़ भाड़ में नहीं जाना चाहिये। जाना पड़े तो मुंह बंद रखना चाहिये तथा वहां से आते ही नार्मल सेलाइन

से नाक को छींट लेना चाहिये। इस रोग के रोगी के संपर्क से बचना चाहिये। जिन्हें जुकाम शीघ्र शीघ्र हो जाता हो उन्हें सदा नाक से स्वास प्रस्वास लेना चाहिये। गर्मी के बाद सहसा सर्दी में जाने से बचना चाहिये। कुछ कुछ शीत जल द्वारा स्नान करके त्वचा को शीत सहने योग्य बनाने का यत्न करना चाहिये तथा Stock अथवा Autogenous Catarrhal Vaccine के स्वल्प मात्रा में सप्ताह के अंतर से कुछ इंजेक्शन ले लेने चाहिये।

Allergic Rhinitis: की चिकित्सा :-

रोगी के नाड़ी मंडल (Nervous System) की निर्बलता या विक्षोभ शीलता को कि जो इस रोग का एक कारण है हटाने के लिये यत्न करना चाहिये। इस उद्देश से Vitamin A.D.Calci Ostelin तथा मक्खन, घृत आदि दिये जा सकते हैं। नासिका की श्लेष्म कला के विक्षोभ शील प्रदेश की विक्षोभ शीलता को हटाने के लिये Argyrol १० प्रतिशतक लगा सकते हैं। Adrenyaline-in Paraffine (१००० -१) के नाक में डालने से भी लाभ होता है। आंखों पर काला चश्मा लगाये रखना चाहिये। सर्दी के अंत में चलने वाली हवा में विद्यमान परागों से बचने के लिये समुद्र के किनारे या पर्वत प्रदेश पर जा सकते हैं। अथवा इस मौसम के कि जिसमें इस रोग का वेग प्रतिवर्ष होता है २,३ मास पहले से ही बाजार में मिलने वाले Dilute Extract of Pollen (Pollaccine) के इंजेक्शन त्वचा द्वारा अति स्वल्प मात्रा में आरंभ करके क्रमश: बढ़ती हुई मात्रा में एक एक सप्ताह बाद ले लेने चाहिये। इसके ५०, १०० Units के ७,१२ इंजेक्शन एक एक दिन के अंतर से लेने से ऐसे Blocking Anti-Body उत्पन्न हो जाते हैं जो श्लेष्म कला तथा शरीर में उत्पन्न हुये Sensitizing Anti-Body के विपरीत कार्य करते हैं। इस इंजेक्शन के लेने से १ घंटे पहले Cal+Lact: ७ ग्रे. की मात्रा में लेने से इसका स्थानिक दुष्प्रभाव कोई नहीं होता। जब इस रोग का दौरा हो जाय तो उसके शांत करने के लिये Cortisone-(Corlin) २५ मिलिग्राम की मात्रा में आठ आठ घंटे पर देने से या Corticotropin (Ac+H) के १० Units की मात्रा में प्रतिदिन मांस द्वारा देने से तुरंत लाभ हो जाता है। लाभ हो जाने पर मात्रा आधी या चौथाई कर दी जाती है तथा औषधि एक सप्ताह तक ही दी जाती है अथवा ३ बूंद Adrenaline तथा १० Units of Pollen - के त्वचा द्वारा प्रतिदिन लेने से भी यह रोग शांत हो जाता है। Anti-Toxin: Histamine Drugs: के प्रयोग से यह रोग तुरंत शांत तो हो जाता है, नष्ट नहीं होता। इस प्रयोजन से Benadryl $\frac{3}{4}$ ग्रेन या Phenergan १० से २५ मिलिग्राम की या Antistin १$\frac{1}{2}$ ग्रेन की गोली दिन में दो तीन बार दे सकते हैं। Antistin, Privine की बूंदों के या Normal, Saline. में $\frac{1}{2}$ % Ephedrine मिला कर उसके नाक में ३ से ६ दिन तक

डालते रहने से भी लाभ होता है। Hydrocortisone Snuff भी नाक में ली जाय तो तुरंत लाभ हो जाता है।

चिर स्थायी प्रतिश्याय Chronic Rhinitis की चिकित्सा :-

जीर्ण प्रतिश्याय रोगी की जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति को बढ़ाने के लिये Vitamin A.D. तथा कैल्शियम (Calci Ostelin) देने चाहिये तथा उसे बाष्प देश से हटाकर शुष्क प्रदेश में रखना चाहिये। यदि नासा नाली में कोई विक्षोभक कारण हो Adenoids और Tonsillitis हो तो इनकी चिकित्सा करनी चाहिये। बाहर से आने वाले धूल, धुआं आदि विक्षोभों से बचना चाहिये। नासिका नाली के शोथ के हटाने के लिये Menthol या Eucelyptus-Oil. से युक्त गर्म वाष्प का नासिका में सेक पहुंचाना चाहिये। नासा नाली को नार्मल सेलाइन से या उसमें सोडा बाई कार्ब तथा Chloretone ½ प्रतिशतक और ग्लिसरीन ७ प्रतिशतक मात्रा में मिला कर उससे धोना चाहिये। अथवा Menthal, Eucalyptus-Oil, Chloretone प्रत्येक ½ प्रतिशतक मात्रा में Liquid Paraffine में मिला इसका आश्च्योतन नासिका में लेना चाहिये। Sinusitis भी इसी चिकित्सा से ठीक हो सकता है। पूति प्रतिश्याय (Ozaena) के लिये Borax, Sodium Chloride, Soda-Bicarb. समान समान मात्रा में मिलाकर इसकी १ ड्राम मात्रा को १ पांइन्ट हल्के गर्म जल में मिला, उससे या Borax, Soda-Bicarb. ६, ६ ग्रेन Acid Carb: २ बूंद, खांड ७० ग्रेन, शुद्ध जल १ औंस, मिला कर उससे नाक को धोना चाहिये। उसके बाद नासा छिद्र में सुगन्ध युक्त तेल की या Liqu: Paraffine: की एक दो बूंद डाल देनी चाहिये। या ग्लिसरीन में २५ प्रतिशतक ग्लूकोज का जलीय घोल मिला कर नाक में डालना चाहिये।

आयुर्वेद में प्रतिश्याय रोग :-

बाह्य विक्षोभक द्रव्य के प्रति जब नासिका चलने (। रेसह गती।) लगती है तब इस रोग को प्रतिश्याय कहते हैं।

कारण :-

साधारणतः तो नासिका गत वायु, पित्त, कफ बाहर से आये किंवा ले या विक्षोभक द्रव्य को बिना प्रकुपित हुये ही नष्ट कर देते हैं। परंतु जब ये दूषित होते हैं, तब वे प्रकुपित होकर आंगतु विक्षोभक द्रव्य को नष्ट कर पाते हैं। देहाग्नि के मंद हो जाने से शरीर में आम दोष या कफ दोष बढ़ता है। देहाग्नि के तीव्रतर हो जाने से अति पाक जनित दोष या पित्त दोष देह में बढ़ जाता है। शरीर की जीवनी शक्ति या प्राण शक्ति के घट जाने से शरीर में एक दोष जिसे वायु दोष कहा जाता है बढ़ता है। इनमें से कफ दोष बढ़ा हुआ हो तो नासिका में किसी या विक्षोभक द्रव्य के आने पर कफ प्रकुपित हो जाता है।

डालते रहने से भी लाभ होता है। Hydrocortisone Snuff का प्रयोग से भी लाभ
की सूंघने वाला भी लाभदा है।

चिर स्थायी प्रतिश्याय Chronic Rhinitis की चिकित्सा :-

पुराने प्रतिश्याय रोगी को पर्याप्त पौष्टिक भोजन के साथ Vitamin A.D. तथा कैल्शियम (Calci Ostelin) भी देना चाहिए तथा रोगी अधिक देर तक ठंडे पानी से बचना चाहिए। यदि नाक में कोई विकृति आदि या Adenoids या Tonsillitis हो तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। नासा के अन्दर ... चाहिए। नासिका मार्ग के बंद हो जाने पर Menthol या Eucalyptus-Oil. से युक्त भाप लेना या नासिका में तेल डालना चाहिए। अथवा नासा की श्लैष्मिक कला पर दवा लगाना चाहिए तथा Chloretone ½ प्रतिशत और ... प्रतिशत घोल से नासिका को साफ करना चाहिए। अथवा Menthal, Eucalyptus-Oil, Chloretone प्रत्येक ½ प्रतिशत घोल Liquid Paraffine में मिलाकर नासा नलिका में डालना चाहिए। Sinusitis में भी चिकित्सा करनी चाहिए। पूति प्रतिश्याय (Ozaena) के लिये Borax, Sodium Chloride, Soda-Bicarb. प्रत्येक समान भाग में मिलाकर ... १ छोटा चम्मच ... गरम पानी में मिलाकर Borax, Soda-Bicarb. ६.६ ग्रेन Acid Carb: २ ... से नाक को साफ करना चाहिए। उसके बाद ... Liqu: Paraffine: ... डालना चाहिए। ... २५ प्रतिशत ग्लूकोज ... डालना चाहिए।

नासिका के विवरशोथ रोग :-

नासिका विवरशोथ ... के "पुति" का ... (Sinusitis) ... का ... है।

कारण :-

[illegible]

नासिका से कफ द्रव का स्राव अति मात्रा में होने लगता है जिससे आगंतु विषाक्त द्रव्य नष्ट हो जाता है। शरीर में पित्त दोष बढ़ा हो तो नासिका में विषैले प्रतिश्याय जनक द्रव्य के आने पर वहां पित्त की पचन प्रक्रिया तीव्र हो जाती है जो आगंतु द्रव्य को नष्ट कर देती है। इसमें नाक की श्लेष्मकला में रक्त का संचय अधिक होता है। नाक से निकलने वाला वायु तथा स्राव अधिक गर्म होते हैं। शरीर में वायु दोष बढ़ा हुआ हो तो नाक की श्लेष्म कला में आगंतु विषैले द्रव्य को सहन करने और बाहिर फैंक देने की शक्ति कम होती है। विषैले विषात्मक द्रव्य के प्रभाव से नाक की रक्त वाहिनियां शिथिल हो जाती या फैल जाती हैं। जिससे इनमें से जलांश बहुत अधिक मात्रा में निकलता है। जलांश के वहां बहुत कम भर जाने से छींकें बहुत आती हैं तथा नाक से पतला स्राव बहुत होता है। वायु की इस प्रतिक्रिया या प्रकोप से अन्ततः आगंतु विषाक्त द्रव्य नष्ट हो जाता है। फिर भी प्रश्न होता है कि प्रतिश्याय होता क्यों है। शरीर में कफ दोष, पित्त दोष या वायु दोष किसी की वृद्धि होने पर जब अकस्मात सिर को सहसा शीत लग जाता है तो नासिका की रक्त वाहिनियां तथा श्लेष्म द्रव वाहिनियों में स्तंभ हो जाता है अर्थात् इनमें से स्राव की मात्रा घट जाती है। जिससे नाक की, जुकाम के कारण भूत आगंतु विषात्मक विष को, नष्ट करने की शक्ति कम हो जाती है। जिससे आगंतु विषाक्त द्रव्य प्रतिश्याय रोग को उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार कफ प्रतिश्याय (Catarrhal Rh) पित्त प्रतिश्याय (Suppurative Rhinitis) वात प्रतिश्याय (Nervous Rhinitis) प्रमुखतः तीन प्रकार का प्रतिश्याय होता है। ।। क०।चि०।२४। तथा सु० उ०।२४

जीर्ण प्रतिश्याय या पीनस :-

देहाग्नि की मंदता, अथवा तीव्रता, अथवा शरीर की प्राण शक्ति की हीनता, चिर स्थायी रूप में रहे और ऐसा व्यक्ति सदा धूल धूम या बाष्प मय प्रदेश में रहता हो तो प्रतिश्याय रोग जीर्ण रूप में रहता है। नासिका में कफ की प्रतिक्रिया, या प्रकोप विशेष हो तो नासा रोध तथा नासा स्राव फैल जाया रहते हैं। इसे श्लेष्माधिक जीर्ण प्रतिश्याय (Hypertrophic Rhinitis --- कहते हैं। नासिका में पाक युक्त प्रतिक्रिया हो अर्थात् किसी नासा संबंधी स्रोतस् में पूय भाव हो, नाक से पूय मिश्रित स्राव होता हो तो इसे जीर्ण पित्त प्रतिश्याय (Chronic Suppurative Rhinitis) कहते हैं। इसमें कफ तथा पित्त के प्रकोप के साथ वायु का प्रकोप अर्थात् दैहिक प्राण शक्ति की हीनता भी होती है। कभी कभी नासिका की श्लेष्म कला शुष्क हो जाती है। इसकी श्लेष्म ग्रन्थियों से स्राव कम हो जाता है तब इसे जीर्ण वात प्रतिश्याय (Rhinitis Sicca) कहते हैं।

दुष्ट प्रतिश्याय :- Ozaena, Atrophic Rhinitis:

जीर्ण प्रतिश्याय में कुछ का स्वाव नासिका की श्लेष्म कला में वातिक परीक्षित हो जाती है। इसके पतले हो जाने से नासा नाड़ी चौड़ा एवं कुला हो जाता है। श्लेष्म स्राव के वहाँ रुक जाने एवं विदग्ध हो जाने से नासा में से दुर्गन्ध आने लगती है। जो रोगी की घ्राण शक्ति के नष्ट हो जाने से उसे नहीं आती। ।। सु० उ० ।२४।।

उपद्रव :-

नासा नाड़ी से शीघ्र नासाक्षी स्रोत में और वहाँ से मध्य कर्ण में चला जाय तो बाधिर्य रोग, नासा नेत्र स्रोत में से नेत्र में चला जाय तो नेत्र रोग, नासा से नीचे गले कंठ तथा श्वास नाड़ी में फैल जाय तो कास रोग हो जाता है।

।। सु० उ० ।२४।।

प्रतिश्याय चिकित्सा :-

नव प्रतिश्याय में रोगी को सिर पर गरम कपड़ा लपेट कर एक दो दिन निवात गृह में लेटे रहने से और गर्म जल या मूंग, कुलथी, बैंगन परवल, आदि किसी के यूष या तुलसी पत्र ३ पाव, सौंफ १ पाव, बनफशा गावजवां, सौंठ, उन्नाव एक एक छटांक, मरिच, इलायची आधा आधा छटांक मिलाकर बनाई चाय पर रहने से आराम आ जाता है। औषधियों में से दशमूल, या दही में मरिच और गुड़ मिलाकर लेने से या पुराने गुड़ के साथ बनी व्योषादि घी की गोलियों के लेने से इस रोग में आराम आ जाता है। प्रारंभ में कपूर, वचा, जीरा, युकलिप्टस तेल आदि के सूंघने से तथा जब कफ गाढ़ा हो जाय तो कटफल, मरिच, वायविडंग आदि का नस्य लेने से सिर हलका होता है। पित्त प्रतिश्याय में रोगी को कोई तिक्त घृत लेना चाहिये। नाक को पंच क्षीरी, त्वक्कषाय से धोकर इसमें षड्बिन्दु तैल, या पाठादि तैल या वात्यादि घृत डालना चाहिये। वात प्रतिश्याय में रोगी को मक्खन या कोई वच्य घृत जैसे शतावरी घृत पीना चाहिये। दूध, मांस का रस आदि पौष्टिक आहार लेना चाहिये। षड् विन्दु घृत (भृंग, लौंग, कुष्ठ, मुलहठी, सौंठ, दूध से साधित) का नस्य लेना चाहिये। जीर्ण प्रतिश्याय में नाक को लवण जल से धोने षड्विन्दु घृत या षड् विन्दु तैल के नस्य से तथा पिप्पली, हरीतकी के अथवा त्रिफला ग्राम्यका लेह (त्रिफला ३, धनिया १ छटांक, मिश्री ८ छटांक, की चाशनी में मिला के, मधु ६ छटांक भी मिलायें) के तीन मासे की मात्रा में लेने से तथा उपर्युक्त तुलसी आदि के चाय के प्रयोग से लाभ होता है। दुष्ट प्रतिश्याय में व्याघ्रीदि द्वारा प्रधावन तथा व्याघ्री तैल के नस्य से लाभ होता है। क्षय प्रतिश्याय में मृगांक रस के प्रयोग से लाभ होता है।

श्वास रोग :- Asthma; Bronchial Asthma:

श्वास नालियों के नाड़ी सूत्र : (Nerves)

श्वास प्रणालियों तथा प्रणालिकाओं (Bronchi तथा Bronchioles) में दो प्रकार के नाड़ी सूत्र जाते हैं। एक तो Medulla में स्थित Dorsal Nucleus of the Vagus से निकले गति वाही सूत्र हैं जिन्हें Para Sympathetic कहते हैं तथा उत्तेजित होने पर इनके सिरों (Post Ganglionic Fibres) से Acetyl Choline की उत्पत्ति होती है। इसलिये इन्हें Cholinergic भी कहते हैं। इनके उत्तेजित होने पर एक तो श्वास प्रणालियों के वृत्ताकार मांस (Circular Muscules) में संकोच (Constriction) उत्पन्न हो जाता है। दूसरा इनकी श्लेष्म कला की रक्त वाहिनियां शिथिल होकर फैल जाती हैं जिससे श्लेष्म कला फूल जाती है। तीसरा श्लेष्म कला की श्लेष्म ग्रन्थियों (Mucous-Glands) से होने वाले स्राव की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार ये सूत्र श्वास प्रणालिकाओं के मार्ग को तंग कर देने (Bronchoconstriction) का कार्य करते हैं। Pilocarpine, Physostygmine, Acetylcholine, Histamine आदि इनके उत्तेजक होते हैं। एवं श्वास नालियों के संकोचक होते हैं। इन नाड़ी सूत्रों के अतिरिक्त Sympathetic नाड़ी सूत्र भी दो से चौथे Tharacic Spinal Roots से निकल कर श्वास प्रणालियों में फैले हुए हैं। इनके उत्तेजित होने पर श्वास प्रणालियों का मांस शिथिल हो जाता है। जिससे ये फैल जाती हैं। इनकी श्लेष्म कला में विद्यमान रक्त वाहिनियां संकुचित हो जाती हैं। इसलिये इन सूत्रों को Bronchodilators कहते हैं। इनके उत्तेजित होने पर इनके सिरों (Post Ganglionic Fibres) से Adrenaline की उत्पत्ति होती है। अतः इन्हें Adrenergic भी कहते हैं। Adrenaline, Ephedrine, Atropine आदि द्रव्य इन सूत्रों के उत्तेजक होते एवं श्वास नालियों को फैलाने का कार्य करते हैं। जब किसी व्यक्ति में श्वास प्रणालियों का मार्ग अधिक तंग हो जाता है तब श्वास रोग होता है। क्योंकि श्वास नालियों के तंग हो जाने से श्वास लेने तथा बाहिर फेंकने दोनों में कृच्छ्रता (Dyspnoea) का कारण हो जाता है। इस रोग के वेग के समय मृत हुए व्यक्ति के परीक्षण करने से पता लगता है कि इस रोग में श्वास नालियों की श्लेष्म कला फूल जाती है। उसकी Basement Membrane तथा Submucous Layer भी फूल जाती हैं। श्लेष्म ग्रन्थियां (Mucous Glands) फूल जाती हैं तथा इन में से निकलने वाले स्राव की मात्रा बहुत बढ़ जाती है तथा श्वास नालियों का मांस भी स्थूल (Hypertrophied) होता तथा बीच का मार्ग संकुचित हो जाता है। इस प्रकार Parasympathetic नाड़ियों की विक्षोभ या Vagotonicity का कारण इस रोग में पाया जाता है।

कारण :-

क्योंकि यह रोग वंश परंपरा से चलता है। इसलिये श्वास नालियों की

या उन के उपर्युक्त केन्द्र Broncho Constrictor Centre की निर्बलता जन्म से ही आती प्रतीत होती है। जिन परिवारों में नाड़ी मंडल की निर्बलता (Neuropathic Diathesis.) पाया जाता है उनमें किसी में शीत पित्त (Urticaria) किसी व्यक्ति में Hysteria किसी में अपस्मार (Epilepsy) और किसी में श्वास रोग होता है अर्थात् नाड़ी मंडल या मस्तिष्क संबंधी सहज (Nervous Instability) निर्बलता इस रोग का प्रधान कारण है। नाड़ी मंडल की इस सहज असामान्यता के कारण ही यह रोग बाल्यकाल या प्रारंभिक युवावस्था में ही प्रकट हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों में यदि जुकाम बारंबार होता है, Adenoids या Tonsillitis चिरस्थायी रूप में रहें, या उसे खांसी होती रहे, तो श्वास नालियों या Broncho-Constrictor. केन्द्र की विक्षोभ शीलता के बढ़ जाने से श्वास रोग प्रकट हो जाता है। इस प्रकार मेडुला में विद्यमान Vagus के Nucleus या श्वास नालियों की नाड़ियों के विक्षोभ शील होने के कारण ऐसे विक्षोभ जो अन्य साधारण जनों के लिये हानिकर नहीं होते, श्वास रोगी के लिये श्वास जनक हो जाते हैं। उदाहरणतः १. मानसिक विक्षोभ से जैसे किसी तीव्र गंध से या किसी प्रकार की चिन्ता, व्याकुलता या असफलता (Frustration, Fatigue) से Vagus Nucleus विक्षुब्ध हो उठता है। बहुधा बालक या युवक के मन में कोई स्पष्ट या अस्पष्ट विक्षोभ होता है जो इस Nucleus को विक्षुब्ध कर देने का कारण बन जाता है। मानसिक विक्षोभ या तो ऊपर मस्तिष्क के किसी केन्द्र से आता है। २. दूसरा नीचे से आये विक्षोभ Peripheral Irritation से भी Vagus का Nucleus जो पहले से निर्बल हो विक्षुब्ध हो सकता है। Vagus के संज्ञावाही सूत्रों (Afferent Fibres) के द्वारा प्रबल विक्षोभ नासिका, श्वास नालियों तथा आन्त्र आदि से भी आकर इस Nucleus को विक्षुब्ध कर सकते हैं। उदाहरणतः नासिका तथा श्वास नली में बाहर से आये विक्षोभक धूल, धूम, शीत हवा आदि के कारण या उनसे उत्पन्न शोथ के कारण या बाहर से आये किसी विरोधी प्रोटीन जैसे घासों के पराग या पर की धूल में विद्यमान प्रोटीन से विक्षोभ होकर वह ऊपर प्रक्षिप्त (Reflex) हो जाता है और उसे विक्षुब्ध कर देता है। इसी प्रकार आंत में विद्यमान नाना प्रकार के विक्षोभ भी Vagus के संज्ञावाही सूत्रों (Afferent Fibres.) द्वारा उसे विक्षुब्ध कर सकते हैं। अर्थात् आंत में अजीर्ण जनित विक्षोभ से या कृमियों के होने से भी यह रोग हो सकता है।

कई मानते हैं कि फुफ्फुसों में फुफ्फुसावरण में क्षयजनित स्थान (Sclerosed Patch) हो तो फुफ्फुसों में व्याप्त Vagus की शाखाओं के लिये उत्तेजक (विक्षोभक) हो जाने से (Vagotonia हो जाने से) यह रोग उत्पन्न हो जाता है इसलिये वे मानते हैं कि सुवर्ण (gold) के प्रयोग द्वारा इसमें लाभ होता है।

Allergy के कारण श्वास रोग :-

कभी कभी श्वास नली की श्लैष्मिक कला में किसी एक प्रोटीन के लिये सहज असात्म्यता या असहिष्णुता (Allergy) इतनी प्रबल होती है कि वह उस विरोधी द्रव्य की स्वल्प मात्रा में भी सहन नहीं कर सकती। यदि किसी

परिवार में शीत पित्त (Urticaria) अर्धावभेदक (Migraine) आदि रोग हों तो उसमें हुये श्वास रोग को भी Allergy के कारण से उत्पन्न होने वाला समझना चाहिये। इस प्रकार की Allergy को उत्पन्न करने वाले द्रव्य को जो कि रोगी में विष का सा कार्य करता है Allergen कहते हैं। हवा में उड़कर आने वाले घास के पराग, पालतू पशुओं की त्वचा से झड़ने वाले छिलके तथा घर की धूल में पाये जाने वाला प्रोटीन, मशीनों में उड़ने वाले आटे की धूल ये सब नासिका तथा श्वास नालियों की श्लेष्म कला में प्रविष्ट होकर Allergen या विरोधी प्रोटीन का कार्य करते हैं। कभी कभी गेहूं, अंडे, मछली आदि के अजीर्ण से उत्पन्न कोई प्रोटीन (संभवतः पेप्टोन या पेप्टाइड प्रकृति के) ~~पदार्थ~~ पदार्थ भी रक्त के द्वारा श्वास नालियों में या फेफड़ों में पहुंच कर विपरीत द्रव्य या विरोधी द्रव्य का सा कार्य करते हैं। यद्यपि कभी कभी Allergen रक्त के द्वारा श्वास या स्थान में पहुंचता है श्वास नालियों के लिये इसके विरोधी द्रव्य होने के कारण उनमें Anaphylactic Antibody उत्पन्न हो जाता है। श्लेष्म कला में ही नहीं, पर Serum और त्वचा में भी, यह Antibody उत्पन्न हो जाता है। फिर जब जब वह Allergen(Antigen) जिसके विपरीत यह Antibody उत्पन्न हुआ है/ श्वास नालियों में पहुंचता है तो उसके तथा इस Antibody की परस्पर प्रबल प्रतिक्रिया (Reaction) से श्लेष्म कला के अवयव टूटते हैं और इन टूटे (Necrosed) हुए अवयवों में विद्यमान Histidine नामक Amino Acid, CO_2 के निकल जाने पर, Histamine नामक द्रव्य में परिवर्तित हो जाता है अथवा वहां की Nerves और Ganglia में विद्यमान Choline Acetyl Choline में परिवर्तित हो जाता है। ये ~~नामक दो~~ द्रव्य श्वास नालियों के मार्ग को तंग कर देने वाले (Vagotonic या Broncho Constrictor.) होते हैं जिससे रोगी को श्वास का दौरा आरंभ हो जाता है। बाजार में ऐसे प्रोटीन Allergens के जो कि इस रोग के करने वाले कहे जाते हैं/ Solutions मिलते हैं। इनकी अति स्वल्प मात्रा या .01 सी सी की मात्रा अग्रबाहु के अग्रिम पृष्ठ की त्वचा में डालकर देखा जाता है कि इनमें से कौन सा प्रोटीन रोगी के लिये Positive है। जिसके इंजेक्शन से १०,१५ मिनट के अंदर ५ मिलि मीटर व्यास का हैल(वर्ड) उत्पन्न हो जाता है/ उसे रोगी के लिये Allergen समझा जाता है।

लक्षण :-

श्वास रोग वेगों में होता है। वेग के प्रारंभ होने से पहले कभी कभी कोई पूर्व रूप नहीं होता। कभी कभी मानसिक विक्षोभ शीतता या नाक में कुछ खुजली सी होने, छींकों के आने या पेट में कुछ अफारे या अजीर्ण के होने का पूर्वरूप होता है। इस रोग का वेग प्रायः रात के पिछले भाग में सोते हुये जब कि Sympathetic System स्वभावतः अति मंद (Depressed) हुआ करता

है/होता है। अकस्मात् श्वास प्रणालियों में संकोच हो जाने से श्वास वायु के आने जाने में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। रोगी को अपना दम घुटता प्रतीत होता है/ लेटे लेटे सांस नहीं आता/ अतः वह उठकर बैठ जाता है। बैठने से भी आराम नहीं आता। तो दोनों हाथों को टेक कर आगे की ओर झुक कर श्वास सहायक मांस पेशियों (Accessory Muscles of Respitation जैसे Sternomastoid,Scalenes,Pectorals) आदि की सहायता से बलपूर्वक श्वास लेने का यत्न करता है। श्वास लेने में भी उसे कठिनता होती है पर क्योंकि अन्तः श्वास एक बलशाली (Active) क्रिया है/ इसमें उसे इतनी कठिनता नहीं होती। जितनी श्वास वायु को बाहर फेंकने में होती है क्योंकि वह एक निर्बल (Passive) क्रिया होता है। इसलिये इसमें उसे विशेष बल लगाना पड़ता है। यत्न करने पर भी वह बहिः श्वास के द्वारा जितनी हवा बाहर फेंकनी चाहिये नहीं फेंक पाता। इतनी थोड़ी हवा बाहर जाती है कि बहिः श्वास के बाद भी छाती फूली ही रहती है और अन्तः श्वास के समय इतनी थोड़ी हवा अंदर जाती है कि छाती फूलती हुई प्रतीत नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि उस हवा की मात्रा जो श्वास प्रश्वास द्वारा अंदर बाहर होती है बहुत कम हो जाती है। अर्थात् छाती की (Vital Capacity) घट जाती है और जो हवा अन्तः तथा बहिः श्वासों दोनों के समय छाती में बनी रहती है (Residual Air) उसकी मात्रा बहुत बढ़ जाती है। यही कारण है कि एक ओर तो रोगी श्वास लेने और फेंकने के लिये व्याकुल रहता एवं थक जाता है/ दूसरी ओर आक्सिजन के कम मिलने से उसका चेहरा कुछ नीला सा पड़ जाता है। बलपूर्वक श्वास लेने से अन्तः तथा बहिः श्वास के साथ आवाज (Wheezing) उत्पन्न होती है जो समीप खड़े व्यक्ति को भी सुनाई पड़ती है। श्वास रोग का वेग आधा, एक या दो घंटे तक रहकर स्वयं शांत हो जाया करता है। यह श्वास कृच्छ्रता के साथ आरंभ होता है और खांसी के साथ समाप्त होता है। वेग के आरंभ होने के कुछ काल बाद खांसी आरंभ होती है जिसमें पहले थोड़ी तथा कुछ पतली बलगम निकलती है। उत्तरोत्तर खांसी बढ़ती जाती है और बलगम भी मात्रा में अधिक तथा गाढ़ी होती जाती है। खांसी द्वारा श्वास नालियों में संचित हुई बलगम के निकल जाने के साथ साथ श्वास का वेग कम होते होते शांत हो जाता है। रोगी की परीक्षा करने पर उसकी श्वास गति या, श्वास प्रश्वास की प्रति मिनट संख्या कम ही होती है। श्रवण यंत्र द्वारा सुनने से अंतः तथा बहिः श्वास के साथ सीटियों (Rhonchi). की आवाज (Sonoraus तथा Sibilent) सुनाई पड़ती है। बहिः श्वास अन्तः श्वास की अपेक्षा दीर्घतर सुनाई पड़ता है। फुफ्फुसों में हवा के अधिक मात्रा में भरे होने के कारण छाती पर टकोर की आवाज ऊंची होती है। नाड़ी छोटी तथा

गति में तीव्र होती है। रक्त भार कम होता है। रक्त में Eosinophils ५ या ७ प्रतिशत होते हैं।

भेदक लक्षण:-

हृदय जनित श्वास (Cardiac Asthma) का दौरा जो रात को होता है उससे इस रोग का संदेह हो सकता है। परंतु वह रोग पहली रात में होता है। ४५,५० वर्ष की आयु के बाद होता है। जब कि श्वास रोग बड़ी आयु में आरंभ नहीं होता, उसके वेग में श्वास कृच्छ्रता तथा खांसी के लक्षण प्रारंभ से ही साथ साथ रहते हैं। उसमें बलगम पतली निकलती है तथा फुफुस के निम्न भाग में द्रव के भर जाने (Oedema) के कारण उसमें Rales सुनाई पड़ते हैं। Rhonchi नहीं। उसमें रक्त भार भी बढ़ा हुआ होता है। नाड़ी भरी हुई, दीर्घ (Bounding) होती है। छाती में हवा के न भरे होने से वह फूली हुई (Emphysematous) नहीं होती प्रत्युत दबी हुई होती है, वहि: श्वास भी अंत: श्वास की अपेक्षा लंबा नहीं होता।

साध्यासाध्य तथा उपद्रव :-

२० वर्ष से पहले बाल्यावस्था में आरंभ हुआ श्वास रोग बहुधा स्वयमेव अच्छा हो जाता है परंतु २५ वर्ष की आयु के बाद आरंभ हुआ ठीक नहीं होता। रोग के वास्तविक कारण के निवारण करने पर इसे भी ठीक किया जा सकता है। जब श्वास रोग चिरस्थायी रूप में रहता है तब फुफुस में अधिकाधिक हवा के भरे रहने के कारण फुफ्फुसधमनियों Pulmonary Arteries के सामने रुकावट बढ़ जाती है जिससे दक्षिण हृदय पर अधिक कार्यभार आ पड़ता है। पहले इसमें शक्ति वृद्धि (Hypertrophy) हो जाती है और आयु के बढ़ने के साथ साथ या शरीर की प्राण शक्ति के घट जाने पर फिर इसमें शिथिलता (Dilatation या Failure) का उपद्रव होकर मृत्यु हो सकती है।

श्वास रोग की चिकित्सा :-

रोग प्रतिरोधक चिकित्सा :-

प्रथम तो सामान्य शारीरिक तथा नाड़ी संबंधी दुर्बलता को दूर करने के लिये रोगी को खुली हवा में दोनों समय कुछ व्यायाम, मालिश अथवा भ्रमण करना चाहिये। दूध, मक्खन, बादाम, रोगनकद्दू, सब्जी तथा Vitamin A और D (Adexolin Cap: Liq) का सेवन करना चाहिये। प्रति दिन आधा या एक औंस ग्लूकोज या गुड़ तथा कैल्शियम भी लेना चाहिये। मस्तिष्क तथा नाड़ी मंडल की निर्बलता के लिये Caffeine Citrate २ ग्रेन दिन में दो बार दी जा सकती है। दूसरा यदि कोई पारिवारिक, आर्थिक या परिश्रम संबंधी किसी प्रकार की चिन्ता हो या कोई मानसिक समस्या या कठिनाई रोगी के मस्तिष्क पटल पर छिपी हुई हो तो उसका पता लगा

कर उसे दूर करने का यत्न करना चाहिये। रोगी के मन पर पड़े हुये बोझ को दूर करने से Bronchoconstrictor Centre भी शांत हो जाता है। मन को बहलाने वाले हर्ष भाव इस रोग को शांत करने में सहायक होते हैं। Phenobarbitone ½ ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार लेने से मानसिक विक्षोभ शांत रहता है।

नासिका तथा श्वास नाली में शोथ रहे अथवा नासा नाली के विद्रुच्छा रहने से श्वास रोग होता हो तो धुआं, धूल आदि से सदा बचना चाहिये। जब घर में सफाई का काम हो रहा हो घर से बाहर निकल जाना चाहिये। इसी प्रकार शरीर को गर्म होने के बाद सर्दी होने से बचाना चाहिये अर्थात् धूप में आने गर्म जल से स्नान करने तथा व्यायाम के बाद शीत वायु शीत जल पान आदि से बचना चाहिये। नमी वाले तथा शीत प्रदेश में रहने से नासा नाली तथा श्वास नाली में शोथ हो सकता है। शुष्क तथा उष्ण प्रदेश तथा ऋतु में नासा नाली तथा श्वास नाली का शोथ शांत हो जाता है। नासिका को विक्षोभों से बचाने के लिये नार्मल सैलाइन से अथवा नार्मल सैलाइन १ औंस में १२ ग्रेन ग्लूकोज तथा ४ ग्रेन Ephedrine मिला के उससे नाक को प्रति दिन एक दो बार धोते रहना चाहिये। अथवा Liquid Paraffine में ½ आधा प्रतिशत Menthol, Eucalytptus Oil तथा Chloretone मिला इसे नाक में डालते रहना चाहिये। आंतों में अजीर्ण, मलबंध, अनैच्छिक प्रवाहिका के कारण विक्षोभ रहता हो तो पाचक दीपक तथा वायु भंजक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। श्वास नाली में कहीं पर चिरस्थायी शोथ रहता हो तो उसके दूर करने के लिये Penicillin का प्रयोग करना चाहिये। रोगी के फुफ्फुस के अंदर हवा अधिक मात्रा में भरी रहती है (उसे Emphysema रहता है) इसके दूर करने के लिये खुली हवा में प्राणायाम करना चाहिये जिसमें गहरा श्वास लेने पर बल न देकर, बहिः श्वास के समय बल पूर्वक या छाती के निम्न भाग को हाथों से दबाकर भी हवा को बाहर फेंकने पर बल देना चाहिये। फुफ्फुस को अधिक से अधिक शुद्ध हवा मिलती रहे इस बात का ध्यान रखना चाहिये। भीड़ भाड़ में तथा बंद कमरों में जैसे सिनेमा घरों में जाने से बचना चाहिये। रात को भी कमरे की खिड़कियां खोल कर सोना चाहिये। तथा दूसरों की चारपाई से सात आठ फुट की दूरी पर सोना चाहिये। सोते समय जब श्वास गति मंद हो जाती है और फुफ्फुसों के मिलने वाली शुद्ध हवा की मात्रा कम हो जाती है तभी यह रोग प्रारंभ होता है। अतः फुफ्फुसों को अधिक से अधिक शुद्ध हवा मिलती रहे। इस बात का ध्यान रखना चाहिये। सीधा बैठने तथा कसी हुई चारपाई या तख्त पर सोने से भी फुफ्फुसों में हवा का आवागमन ठीक होता रहता है। यदि कोई Allergen नाक के द्वारा प्रविष्ट होकर इस रोग को उत्पन्न करता हो अर्थात् ऋतु परिवर्तन के

समय हवा से आया पराग इस रोग का कारण हो या गृह धूल से इस रोग का वेग होता हो या किसी कारखाने में अनाज आदि की उड़ने वाली धूल से यह रोग होता हो तो उससे बचना चाहिये या इनके बने हुये Solutions के अति स्वल्प मात्रा में Intradermal Injections से देने चाहिये। भोजन द्रव्यों में से कोई Allergen का कारण हो तो उसका पता लगाने के लिये रोगी को विरेचन दे कर पहले केवल संतरे आदि किसी फल तथा दूध पर तीन दिन रखना चाहिये। यदि इस भोजन से रोग न हो तो दूध में चावल का आटा या गेहूं मिला के तीन चार दिन देना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन काम आने वाले भोजन द्रव्यों में से एक एक को बढ़ाते हुये पता लगाना चाहिये कि कौन सा पदार्थ Allergen का कारण है। उसका प्रयोग बंद कर देना चाहिये अथवा उसे अति स्वल्प मात्रा में सेवन करना चाहिये। Non-Specific-Desen-itization. से अर्थात् किसी प्रोटीन पदार्थ जैसे Peptone, Milk तथा Autohemotherapy के मांस द्वारा देने से इस रोग में थोड़ा ही लाभ होता है। विशेष स्थायी लाभ नहीं होता। कैल्शियम (Calci Ostelin) के सिरा द्वारा कुछ दिन देने से भी रोग के वेग के होने का भय नहीं रहता।

<u>श्वास वेग की शामक चिकित्सा :-</u>

वेग के आरंभ होते ही Adrenalin Hydrochloride १००० में १ की ताकत की १, २, ३ बूंद त्वचा के नीचे दे दी जाय और फिर २०, ३० मिनट के अंतर से ऐसी दो तीन मात्रा दे दी जायें या एक एक बूंद प्रति दो दो मिनट के पर में दी जाय तो तीन चार घंटों के लिये वेग शांत हो जाता है। इसके द्वारा Sympathetic नाड़ी मंडल के उसके उत्तेजित हो जाने से श्वास नाली प्रसार (Bronchodilatation) होकर रोग शांत होता है। वेग के समय रोगी को ग्लूकोज से मीठा किया हुआ गर्म जल पिलाते रहना चाहिये। पैरों पर गरम बोतलों के रखने से तथा एक प्याले गरम काफी के पीने से भी वेग शांत होता है। यदि Adrenaline in Oil को ३, ८ बूंद की अल्प मात्रा में मांस द्वारा दे दिया जाय तो रोग का वेग १२ घंटों के लिये शांत हो जाता है। बड़ी आयु के व्यक्ति में जब पहले ही रक्त भार बढ़ा हुआ हो हृदय आकार में बढ़ा हो गया हो तो इस औषधि का प्रयोग अधिक नहीं करना चाहिये। Riddobron या Rybarvin स्तंभ शामक औषधि के सूंघने से भी वेग शांत हो जाता है अथवा Ephedrine ३, ४ ग्रेन के मुख द्वारा देने से भी वेग शांत हो जाता है। Caffine Iodide Elixir के एक चम्मच की मात्रा में देने से भी आराम आ जाता है। Isoprenaline Sulphate (Neoepinine Isoprenal B.I.). या Aleudrin या Isupren (Isopre. Hyd:). के १०, २० मिलि ग्राम की मात्रा में जिह्वा के नीचे दिन में तीन बार रखने से भी इस रोग का वेग शांत हो जाता है। या

इसके १ प्रतिशतक जलीय घोल के चार चार घंटे के बाद नासिका में छिड़कना या सूंघने से या इसके १०, १५ प्रतिशतक घी के नस्य द्वारा देने से श्वास का वेग शांत हो जाता है। Aminophylline •२५ मिलिग्राम को १०, २० सी॰सी॰सेलाइन में या ५ प्रतिशतक ग्लूकोज में बहुत धीरे धीरे शिरा द्वारा दे देना पर इस रोग का वेग शांत हो जाता है। इसकी ७ $\frac{१}{२}$ ग्रेन की गुदावर्ति सपोजिटरी को १२, १२ घंटों बाद गुदा में प्रविष्ट कर देने से या इसके •५ ग्राम को २०, ३० सी सी जल में मिला के गुदा द्वारा अंदर डाल देने से या •५ ग्राम का बना हुआ सुची वेध मांस द्वारा दे देने से भी वेग शांत हो जाता है। Aminophylline •१ ग्राम या १$\frac{१}{२}$ ग्रेन Ephedrine $\frac{३}{४}$ या $\frac{१}{४}$ ग्रेन Phenobarbitone ∠½Gr: परस्पर मिला के दिन में ३, ४ बार देने से भी इस रोग का वेग शांत होता है अथवा Phenobarbitone को रात को मात्रा में ही मिलायें। Cortisone-Acetate(Corlin, Cortryl) के ५० मिलिग्राम की मात्रा में दिन में पहले ४ बार फिर दिन में ३ बार बाद फिर २ बार देने से श्वास रोग का प्रबल वेग शांत हो जाता है। इसके शांत हो जाने पर इसे १२$\frac{१}{२}$ या २५ मिलिग्राम की मात्रा में दिन में २, ३ बार ५, ७ दिन देना चाहिये। बड़ी आयु में इसका प्रयोग स्वल्प काल के लिये ही करना उचित है। Corticotropin (A.C.T.H). के १२•५ से २५ मिलिग्राम की मात्रा में दिन में २ बार दो तीन दिन तक मांस द्वारा देने से इस वेग में तुरंत लाभ हो जाता है। इसे भी एक दो दिन बाद फिर एक बार ही दिया जाता है। लाभ तो एक दो दिन में ही हो जाता है। इसे एक सप्ताह तक दे सकते हैं। श्वास नाड़ियों में संचित हुये गाढ़े श्लेष्म द्रव को निकालने के लिये कफ द्रावक (Expectorant) तथा स्तंभ शामक (Antispasmodic) औषधियां मिला कर देनी चाहिये। उदाहरणतः Potassium Iodide ३ ग्रेन अथवा इसके स्थान पर Ammonium Chloride ८ ग्रेन तथा Potassium Bi-Carbonate १५ ग्रेन Tincture Lobelia Aetheris १० बूंद Tincture Stramonium १० बूंद, Tincture Hyoscyamus २० बूंद Extract Grindelia Liquid ३० बूंद Syrup Tolu. १ ड्राम Aqua: १ औंस, ऐसी एक मात्रा दिन में ३ बार एक मास तक पिलानी चाहिये और फिर दिन में एक मात्रा ही देते रहना चाहिये। वेगों के बीच के काल में वेगों की रोकथाम के लिये Ephedrine $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{२}$ ग्रेन Aminophilline. १$\frac{१}{२}$ ग्रेन तथा नाड़ी विक्षोभ शामक Phenobarbitone $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{२}$ ग्रेन मिला कर प्रति दिन एक दो बार दे सकते हैं। रात को Calcibronate Calcium (Calciostelin, Callo.Cal) की गोली या एक दो गोली एस्पिरिन की का भी इस रोग का वेग रोकना के लिये ही जाता है। रोगी को रात्री का भोजन जल्दी ले लेना चाहिये तथा बहुत थोड़ी मात्रा में लेना चाहिये।

बच्चों में श्वास रोग :-

आयुर्वेदानुसार श्वास रोगी की श्वास नाड़ियों या श्वासनियामक केन्द्र में एक सहज वातिक दुर्बलता या प्राण शक्ति की हीनता रहती है जो शरीर को निर्बल कर देने वाले किसी कारण से या किसी विक्षोभक विजातीय द्रव्य के सेवन पर दुष्प्रभाव से प्रकट हो जाती है। इस प्रकार जब श्वास नाड़ियों विशेषतः सूक्ष्म श्वास नाड़ियों में वातिक दुर्बलता या असमता बढ़ती है तब उनमें स्तंभ का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। श्वास नाड़ियों के मार्ग के संकुचित हो जाने से श्वास कृच्छ्रता का वेग प्रारंभ हो जाता है जिसे श्वास रोग कहते हैं। कफ वर्धक या देहाग्नि को न्यून कर देने वाले नाना कारणों से जब शरीर में कफ दोष या आम दोष बढ़ जाता है तब इसके दुष्प्रभाव से भी श्वास नाड़ियों की यह वातिक दुर्बलता अभिव्यक्त हो जाती है। इस प्रकार धूल धूम तथा अन्य विजातीय पदार्थों के श्वास वायु द्वारा अंदर जाने या मानसिक विक्षोभों के द्वारा या शरीर की प्राण शक्ति को हीन करने वाले अन्य कारणों के द्वारा श्वास नाड़ियों में वायु प्रकोप हो कर यह रोग होता है तथा स्निग्ध गुरु, शीत अभिष्यन्दी कफ वर्धक आहार विहारों के द्वारा शरीर में आम दोष की वृद्धि हो जाने से भी श्वास नाड़ियों की यह वातिक निर्बलता प्रकट हो जाती है। इस प्रकार श्वास नाड़ियों में वात, कफ दो दोषों की वृद्धि हो जाने से यह रोग होता है। चरक ने श्वास तथा हिक्का के लिये कहा है "कफ वातात्मकावेतौ" ।। चि।१७।। तथा "कफ मिश्रित वायु के द्वारा श्वास नाड़ियों के भिंच जाने से यह रोग होता है" ।। चि।१७।।

इस प्रकार कफाधिक श्वास रोग तथा वाताधिक श्वास रोग प्रधानतः दो प्रकार का यह रोग होता है। कफाधिक रोगी बलवान् तथा वाताधिक दुर्बल होता है।

लक्षण :-

इस रोग का वेग बहुधा रात को होता है। इसलिये इसे आयुर्वेद में तमक रोग भी कहा है। सोये हुये रोगी को श्वास लेने के लिये उठकर बैठ जाना पड़ता है। पहले श्वास कृच्छ्रता का लक्षण होता है फिर जब कुछ कफ निकल जाता है। रोग का वेग मंद होने लगता है। ।। च।चि।१७।।

चिकित्सा :-

रोग कफ प्रधान हो रोगी बलवान हो तो रोगी की पहले मृदु शोधन चिकित्सा करके फिर संशमन चिकित्सा करनी चाहिये। यदि रोग वात प्रधान हो, रोगी निर्बल हो तो रोगी की पहले से ही संशमन चिकित्सा होनी चाहिये। साधारणतः इस रोग की कफ, वात शामक चिकित्सा होती है अर्थात् रोगी को ऐसी औषध्या देश, काल, आहार विहार आदि मिलने चाहिये जो वायु तथा कफ दोनों के शामक हों। दूसरे शब्दों में जो शरीर को

वर्धिष्ट करने वाले हों परंतु इतने गुरु शीत स्निग्ध न हों कि देहाग्नि को मन्द कर देवें। वे इतने लघु उष्ण और रूक्ष भी न हों कि शरीर के अपतर्पक हो जायें। इस रोग में तो कफ की शांति की अपेक्षा वायु की शांति पर अधिक बल देना चाहिये। ।। सु० उ० ।५१।।

इस प्रकार श्वास रोगी को प्रायः संतर्पक आहार मिलना चाहिये इसके लिये पुराने चावल, गेहूं, कुलथी, जौ, पक्षी मांस, जांगल मांस, घृत, दुग्ध, मट्ठा, परवल, टेंडा बैंगन, मूली, अंगूर, मुनक्के, हींग, लहसुन, त्रिकुट, तथा गर्म जल हितकर होते हैं। इसे लाल मिर्च तेल, खटाई, उड़द, गुड़, तले हुये पदार्थों, शीतल पेयों, दही, छाछ, जल तथा आनूप मांस के सेवन से बचना चाहिये। बल्य संतर्पक औषधियां जैसे स्वर्ण मुक्ता आदि के योग श्वास x चिन्तामणि रस, याकूती, पोटली आदि श्वास रोगी के लिये हितकर होती हैं। औषधियों में से वासा का प्रयोग हितकर होता है। वासा हरितकी, अवलेह आधा तोला की मात्रा में दो बार देवें या वासादि क्वाथ (वासा, मुनक्का, हल्दू समान समान शब्द सोंठ हाथका) पिलायें। पुष्कर मूल या कुष्ठ को भी इस रोग के लिये उपयोगी कहा गया है। इसके लिये शृंग्यादि चूर्ण । काकड़ासिंगी, सोंठ, पिप्पली, पुष्कर मूल, कूठ, मरिच, मोथा समान समान लेकर सब तुल्य। अगस्त्य, हरीतकी तथा दशमूलारिष्ट में से किसी का प्रयोग किया जाता है। काली मिर्च भी इस रोग के लिये ठीक है। इसे बराबर मिश्री से मिला थोड़ा थोड़ा दिन में कई बार लेना चाहिये। चित्रकूट की दवा की एक मात्रा में पीपल की आभ्यन्तर त्वक् का चूर्ण १½ माशा आभ्यन्तर त्वक की राख १½ माशा मिली हुई होती है। इस मात्रा को १२ बजे तक शरद पूर्णिमा की चांदनी में रखी हुई खीर में मिलाकर खिलाया जाता है। यह खीर गाय के एक सेर दूध में २½ तोला पुराना चावल २½ तोला मिश्री मिला कर ॐ२०४० लोहे की कड़ाई में बनाई जाती है। इस रोग में दूधी को ६ माशा की मात्रा में लेकर श्वेत जीरे ३ माशा के साथ पीस छान कर सप्ताह में दो दिन मंगल तथा एतवार को कुछ काल तक पिलाया भी जाता है। सोमल का प्रयोग नाना रूपों में इस रोग में होता है। मल्ल सिंदूर एक एक रत्ती दिन में ३ बार दिया जाता है। सोमल एक माशा को वंशलोचन तथा मिश्री एक एक तोला में भली प्रकार मिलाकर इस चूर्ण को एक रत्ती की मात्रा में मलाई के साथ दिन में दो बार दिया जाता है। श्वास कुठार रस से भी दो रत्ती की मात्रा में तीन बार प्रतिदिन दिया जाता है। यह भी सोमल का ही एक प्रयोग है।

हिक्का :- (Hiccough)

साधारणतः जब श्वास महा पेशी (Diaphragm) संकोच करती है तब कंठ कपाट (Glottis) खुला हुआ होता है जिससे श्वास अंदर आ जाता है। परंतु कभी कभी इस मांस में अचानक और असमय पर बार बार संकोच (Spasm) होने

जाता है और इस संकोच के समय Glottis का शब्द होता है। जिससे "हिक" जैसी आवाज उत्पन्न हो जाती है इसे हिक्का कहते हैं। इस मांसपेशी की नाड़ी (Phrenic Nerve) में विक्षोभ या तो आमाशय या आंत या यकृत या Diaphragm पर चढ़े Pleura में से आता है। अर्थात् पेट में या आंत में हवा हो या Pleura में क्षय रोग जनित शोथ हो या यकृत पर विद्रधि हो तो हिक्का हो सकती है। आंत में कृमि जनित विक्षोभ हो या मस्तिष्क में किसी प्रकार का विक्षोभ हो या वहां Meningitis जैसा शोथ हो तो भी Phrenic नाड़ी विकृत हो सकती है। चिरस्थायी वृक्क रोग में मूत्र विष संचार (Uraemia) हो तो भी उस विष के इस [illegible] नाड़ी पर कुप्रभाव से हिक्का हो सकती है। यह हिक्का कष्ट साध्य होती है।

चिकित्सा :-

कारण को दूर करना चाहिये। यद्यपि बहुधा इसके कारण का पता नहीं चलता। पेट और आंत में विक्षोभ के कारण हो तो पिपरमेन्ट जल में सोडा बाई कार्ब डालकर पिलाने तथा बस्ति कर देने से आराम आ जाता है। Ammonia के सुंघाने से भी श्वास महा पेशी का विक्षोभ शांत होता है। मस्तिष्क तथा नाड़ी मंडल के विक्षोभ को शांत करने के लिये Phenobarbitone १½ ग्रेन मात्रा में मुख से या Atropine Sulphate १/१००, १/२०० ग्रेन मात्रा में त्वचा द्वारा या Chlorpromazine (Thorazine, Largactil) ५० मिलि मात्रा में मुख द्वारा दिन में तीन बार या २५ मिलिग्राम मात्रा में मांस द्वारा तीन बार देना चाहिये।

आयुर्वेद में हिक्का :-

आयुर्वेदानुसार शरीर में वायु की वृद्धि या प्राण शक्ति की हीनता हो जाय और वह विशेषतः श्वास महापेशी (Diaphragm) में हो और ऐसी अवस्था में शरीरस्थ किसी विक्षोभक कारण से इसमें स्तंभ हो जाय तो हिक्का उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् प्रधानतः तो यह रोग शरीर में वायु की वृद्धि से होता है तथा गौण रूप में शरीर में विद्यमान आम दोष इसका व्यंजक कारण होता है। वृद्धावस्था में या किसी तीव्र रोग में शरीर में उत्पन्न विषों के कारण इस मांस पेशी में स्तंभ होकर जो हिक्का होती है वह असाध्य कही गई है। क्षय जनित हिक्का युवकों में होती है।

चिकित्सा :-

एक तोला गुड़ में थोड़ा लवण मिलाकर पिलाने या दशमूल क्वाथ में गुड़ मिला के पिलाने से तथा काली मिर्च [हींग] का धूम नाक में देने से हिक्का शांत हो जाती है। निरंतर रहने वाली हिक्का में मयूरपिच्छ भस्म, शंख भस्म, दो दो तोला पिप्पली तथा त्रिफला की ओषधियां प्रत्येक एक एक तोला मिलाकर एक माशे की मात्रा में गुड़ के साथ दिन में तीन बार देते रहने से या

कुछ रोग रस । पारा, गंधक, टंकण, वत्सनाभ, सुवर्णभस्म, ताम्रभस्म, त्रिकुट, धत्तूरबीज, कुचोलक, शंख भस्म, कूट, बिल्वगिरि समान समान को भृंगराज रस की अनेक भावना। के एक दो रत्ती की मात्रा में दिन में दो तीन बार देने से या ताम्र भस्म, सुवर्णभस्म, मुक्तापिष्टि समान समान को मिला कर मधु के साथ एक रत्ती मात्रा में दो बार प्रतिदिन देने से बहुधा लाभ हो जाता है। क्षय रोग जनित शिकायत एवं अंत, मालती तथा पौष्टिक औषधि पान से ठीक हो जाती है। रोगी की प्राण शक्ति को बढ़ाने के लिये उसे सुपच पौष्टिक भोजन तथा मधु, दुग्ध, दुग्ध, घृत, उष्णोदक, दही, लवण, पक्षी मांस, तथा कोई जिहाजनक औषधियाँ दी जाती है।

Pulmonary Eosinophilia:- फुप्फुसीय कास: —

यह रोग हमारे देश में सुलभ है परंतु पहले पहल Weingarten ने १९४३ में बंबई में इस रोग की ओर हमारा ध्यान खिंचाया। उन्होंने इसका नाम Tropical Eosinophilia रक्खा तथा यह घोषित किया कि संखिया के प्रयोग से यह रोग अच्छा हो जाता है। उसके बाद नाना गरम देशों में इस रोग के होने की सूचना मिली और अब इस रोग को Pulmonary Eosinophilia कहते हैं।

यह रोग अधिकतः २०,३० वर्ष की आयु के व्यक्तियों में खांसी के दौरों के रूप में होता है। ये खांसी की दौरे रात को विशेषतः उठते हैं और बहुधा श्वास कृच्छ्रता से युक्त होते हैं। परंतु श्वास रोग में श्वास को बाहिर फैंकने के समय जो कृच्छ्रता होती है वैसी इस रोग में नहीं होती। इस रोग में शुष्क खांसी का दौरा रात को होता है जिसमें बहुत खांसने के बाद चमकीला सा थोड़ा सा बलगम निकलता है। श्वास रोग के वेग में खांसी अंत में होती है। इस रोग के वेग में खांसी प्रारंभ से अंत तक रहती है। श्वास युक्त खांसी के अतिरिक्त सांयकालिक मृदु ज्वर ९९ या १०० डिग्री तक होजाता है। अन्नारुचि और वमन के लक्षण भी होते हैं जिनके कारण शरीर में कृशता के लक्षण हो जाता है। इस रोग का भ्रम उर:क्षय से हो जाता है। परंतु फुफ्फुस-शिखर की परीक्षा करने पर उसमें ठोसपन या (Consolidation) के लक्षण नहीं मिलते, ना ही X-Ray द्वारा परीक्षा करने पर उसमें कोई लक्षण पाया जाता है। इस रोग के X-Ray चित्र में Bronchial Markings या Bronchial Striations का लक्षण अर्थात् श्वास नालियों की छाया का लक्षण स्पष्ट होता है पर उसमें क्षयरोग सूचक बदलियां छाई हुई नहीं पाई जाती हैं। क्षय रोग के समान इसमें हृदयगति या नाड़ीगति तीव्र नहीं होती है। थूक में क्षय जीवाणु भी नहीं पाये जाते हैं। इस रोग में रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत कणों की अति वृद्धि (Leucocytosis) का लक्षण पाया जाता है। श्वेत कणों की वृद्धि Eosinophils की वृद्धि के कारण होती है। रक्त के प्रति घन मिलीमीटर में श्वेत कणों की संख्या ७,

२०,३० हजार या इससे भी अधिक होती है। जिनमें से चौथाई या आधा या इससे भी अधिक Eosinophila होते हैं। दूसरे श्वेत कण लगभग नार्मल संख्या में होते हैं तो भी Neutrophils की अपेक्षा Lymphocytes कुछ अधिक होते हैं।यदि प्रति क्यूबिक मिलीमीटर रक्त में Eosinophils २००० से अधिक हों और या २०,३०,४० या इससे अधिक प्रतिशतक हों तो इसी रोग का संदेह करना चाहिये। इस रोग में रक्त कणों का Sedimentation Rate भी बढ़ा हुआ होता है अर्थात् २०,३०,या ४० मिलिमीटर प्रतिघंटा होता है। फुफुस की परीक्षा करने पर उसमें Broncho Pneumonia के से चिन्ह होते हैं। वायु कोष्ठकों में विद्यमान स्राव में ७० %०% से अधिक Eosinophils होते हैं। वहां की रक्त वाहिनियां रक्त से भरी होती हैं। इस रोग का कारण कोई Allergen क होता है या किसी प्रकार का Virus या संक्रमण है/ इस विषय में अभी तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। Leucocytosis देखकर संक्रमण का संदेह होता है परंतु Antibiotics से इसमें लाभ नहीं होता/ संखिया से लाभ होता है। इसलिये कोई ऐसा जीवाणु इसका कारण है जो संखिया से नष्ट हो जाता है। Hetrazan से इसमें लाभ होता है इसलिये संभव है कि Animal Parasite के कारण यह रोग होता है। इसीलिये Amaebiz या Malarial संक्रमण/(Infection) से भी संभव है। यह रोग हो सकता है। तो भी इसे Allergy से उत्पन्न होने वाला रोग माना जाता है।

चिकित्सा :-

Arsenic के किसी योग जैसे Acetylarsan के पहले २ सी•सी• फिर ३ सी•सी•के प्रति सप्ताह में एक बार मांस द्वारा देने से ६,७ इंजेक्शन में पूर्ण लाभ हो जाता है। Leucocytes की संख्या नार्मल हो जाती है। यद्यपि Eosinophils की प्रतिशतक संख्या कुछ अधिक रह जाती है। इस औषधि की प्रति सी•सी• में २० मिलिग्राम या •०५ ग्राम Arsenic होता है। कभी कभी प्रथम एक दो इंजेक्शन के बाद रोगी का कष्ट बढ़ जाता है पर बाद में लाभ प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार Leucarsone (M.& B) की गोलियों के मुख द्वारा देने से भी लाभ प्रतीत होता है। अथवा Acetarsol या Carbarsone को •२५ ग्राम या ३ ग्रेन की मात्रा में कैप्सूल के अंदर बंद करके दिन में दो बार,एक सप्ताह तक के समय के लिये दिया जाता है। औषधि छोड़ने पर कुछ काल बाद फिर भी यह रोग हो सकता है परंतु फिर Arsenie के प्रयोग से ठीक हो जाता है परंतु इस रोग की एक और नवीन औषधि Herogen-Citrazan,Hetrazan(Diethyle-Carbamazine,Citrate) है। इसकी ४०० या ६०० मिलिग्राम की दैनिक मात्रा को तीन चार समान भागों में विभक्त करके एक सप्ताह तक दिया जाता है। परंतु लाभ ~~००००~~ तो पहिले दिन ही प्रतीत होता है। रक्त

में Eosinophils की मात्रा भी नार्मल हो जाती है। Arsenic से भूख के नष्ट हो जाने तथा Dermatitis होने तथा वृक्कों पर दुष्प्रभाव पड़ने का भय रहता है पर यह औषधि निरुपद्रव है। इसी प्रकार (Banacide(P.D.)Diethyl Carbomazine) की दो गोलियाँ के दिन में तीन बार १० दिन तक देने से भी यह रोग अच्छा होता ~~हुआ देखा गया~~ है। इसके कोई उपद्रव नहीं होते हैं। इसी प्रकार Uni-Carbarzan (Unichem) ४००,४०० मिलि के दो दिन मांस द्वारा देने से यह रोग अच्छा हो जाता है।

आयुर्वेद में भी इस प्रकार के श्वास रोग के लिये सोमल का प्रयोग होता है। अर्थात् मल्ल सिंदूर को एक रत्ती की मात्रा में या (सोमल, त्रिकुट को (६० में १) दो रत्ती की मात्रा में या श्वास कुठार को दो रत्ती की मात्रा में दिन में २,३ बार घृत के साथ दिया जाता है।

कास रोग :- Bronchitis:

तीव्र कास रोग :- Acute Bronchitis:

श्वास मार्ग का कार्य :-

बाहर से आने वाली श्वास वायु के साथ धूल के कण तथा जीवाणु भी श्वास मार्ग में प्रवेश करते हैं। परंतु नासिका, गले आदि का मार्ग ऐसा तिरछा बना हुआ है तथा उसमें श्लेष्म स्राव इतना होता है कि ये सब ऊपर ऊपर ही पकड़ लिये जाते हैं और कंठ (Larynx) के नीचे के श्वास मार्ग में नहीं पहुंच पाते गले (Pharynx) के ऊपर के भाग में चारों ओर इतना अधिक जो Lymphoid-Tissue रहता है वह भी द्वारपाल के समान बाहर से आये जीवाणुओं आदि को पकड़ कर नष्ट करने का कार्य करता है। तथापि यदि कोई जीवाणु या कण श्वास नलियों में प्रवेश करते हैं तो वहाँ की श्लेष्म कला की श्लेष्म ग्रन्थियाँ (Mucous Glands) से होने वाला श्लेष्म स्राव उनको नष्ट कर देता है। श्लेष्म कला के अन्तस्तल (Epithelium) के Cilia वाले सेल ऊपर की ओर गति करते रहते हैं। उनकी इस गति के द्वारा जीवाणु तथा कण जो श्लेष्म स्राव के साथ मिश्रित होते हैं ऊपर गले की ओर धकेल दिये जाते हैं। इसी प्रकार श्वास नालियों में स्वभावतः एक ऊर्ध्व मुख गति थोड़ी थोड़ी देर के लिये उठती रहती है। जिसे Bronchial Peristalisis कहते हैं। यह बाह्य पदार्थों को ऊपर गले की ओर फेंकती रहती है। श्वास नालियों के अन्तःस्तर (Epithelium) में रक्त वाहिनियां भी अधिक मात्रा में बिछी रहती हैं जब बाहर से कोई विजातीय जीवाणु वहाँ पहुंचता है तो इन रक्त वाहिनियों के द्वारा श्वेत कण (Leucocytes) भी वहाँ पर्याप्त मात्रा में पहुंच जाते हैं और Phagocytosis के द्वारा इन्हें नष्ट कर देते हैं। जो जीवाणु बचते हैं वे भी श्वास नालियों की दीवार में विद्यमान लसीका वाहिनियों (Lymphatics)

के द्वारा पकड़ लिये जाते हैं। इस प्रकार जब तक श्वास नालियां स्वस्थ अवस्था में रहती हैं कोई जीवाणु वहां रोपण नहीं कर पाता।

कारण :-

प्रायः जुकाम (Cold) के Virus या श्लेष्म ज्वर (Influenza के Virus का संक्रमण होकर खांसी का रोग हुआ करता है अर्थात् श्वास नालियों में Viral Infection होकर यह रोग आरंभ होता है। परंतु बाद में नासिका कंठ गले आदि में विद्यमान जीवाणुओं, विशेषतः Haemophilus Influenzae, Pheumococys Streptococci. का और कभी कभी Neisseria Catarrhalis Staphylococcus आदि का संक्रमण हो जाता है। श्वास नालियों की साधारण जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति के कम हो जाने पर ही Virus या उपर्युक्त जीवाणुओं का संक्रमण हो सकता है। इसीलिये शिशुओं और वृद्ध व्यक्तियों में जिनमें स्वभावतः प्रतिरोधक शक्ति कम होती है खांसी का रोग बहुत पाया जाता है। शिशुओं और बड़ी आयु के व्यक्तियों में विशेषतः हृदय रोग से युक्त वृद्धों में थोड़ी सरदी लगकर ही खांसी का रोग हो जाता है।

विकृति :-

ऊपर ऊपर की बड़ी श्वास नालियों की श्लेष्म कला में जीवाणु या Virus का संक्रमण होने पर अति मात्रा में रक्त संचित हो जाता है। श्लेष्म ग्रन्थियों (Mucous Glands) की प्रणालिकाओं (Ducts) के सूज जाने के कारण पहले उनसे होने वाला श्लेष्म स्राव बंद हो जाता है जिससे श्वास नालियां शुष्क हो जाती हैं। इसे इस रोग की प्रथम अवस्था शुष्क अवस्था (Dry Stage) कहते हैं। फिर शीघ्र ही श्लेष्म ग्रन्थियों में से श्लेष्म स्राव या म्यूकस की मात्रा अत्यधिक हो जाती है क्योंकि ये सूजकर बड़ी बड़ी हो जाती हैं। पहले पतला श्लेष्म स्राव (Mucoid Exudation) होता है फिर वहां श्वेत कणों या (Leucocytes) के अधिक मात्रा में संचित हो जाने से यह गाढ़ा (Mucopurulent) हो जाता है। इसे श्लेष्म स्राव की अवस्था को (Mucoid Stage) कह सकते हैं। इस निकलने वाले स्राव में, श्वास नालियों के अंतस्तर (Epithelium) के संक्रमण के कारण मरे हुये सेल, जीवाणु तथा श्वेत कण मिले हुये होते हैं। श्वास नालियों में जीवाणु संक्रमण होने पर Vagus के संज्ञावाही सूत्रों (Afferent Fibres) के द्वारा, इसकी प्रतीति Medulla को होती है और वहां से इस संक्रमण के निराकरण के उद्देश्य से खांसी की प्रतिक्रिया (Cough Reflex) होती है अर्थात् जब श्लेष्म कला के रोंगटे (Cilia) अपना कार्य पूर्णतया नहीं कर पाते तो उनकी सहायता के लिये खांसी उत्पन्न होती है।

लक्षण :-

खाँसी का रोग प्रायः जुकाम का ही एक भाग होता है। इसके Virus के रक्त में संचार कर जाने (Toxaemia) के कारण शरीर में भारीपन, जकड़न या (malasie) ९९ या १०० डिग्री तक का ज्वर, हृदय गति, नाड़ी गति तथा श्वास गति की कुछ तीव्रता और श्वेत कणों की कुछ वृद्धि हो जाने के लक्षण हो जाते हैं। जुकाम के इन लक्षणों के प्रकट होने के थोड़े समय बाद अर्थात दूसरे दिन खाँसी उठने लगती है जो पहले एक दिन के लिये खुश्क और तंग करने वाली होती है। खाँसने से गले तथा छाती के ऊपर के भाग में दुखन (Soreness) की प्रतीति होती है पर एक दिन के बाद पहले पतली और चिपकीली बलगम कठिनता से निकलती है। जो शीघ्र ही मात्रा में अधिक अधिक होती जाती, गाढ़ी होती जाती, तथा सुगमता से निकलने लगती है।

इस प्रकार तीसरे दिन के लगभग जब बलगम निकलने लगती है तो इस रोग के प्रारंभिक विष संचार (Toxaemia) के लक्षण जैसे जकड़न (Malaise) तापमान की वृद्धि आदि शांत हो जाते हैं फिर खाँसी तथा बलगम के लक्षण भी ८, १० दिन तक ठीक हो जाते हैं। यदि किसी शिशु या वृद्ध व्यक्ति में ज्वर तीसरे, चौथे दिन भी बना रहे और खाँसी खुश्क ही रहे तो छोटी श्वास नालियों में शोथ के प्रसरण कर जाने अर्थात् Bronchiolitis की आशंका करनी चाहिये। इसी प्रकार यदि किसी युवक में खाँसी १५ दिन से अधिक चले तो इसमें उरःक्षय की आशंका करनी चाहिये।

जीर्ण कास रोग :- Chronic Catarrhal, Bronchitis-- या Winter-Cough:-पुरानी खाँसी का रोग प्रायः ४५ वर्ष से ऊपर की आयु के व्यक्तियों में जब इनकी श्वास नालियों की श्लैष्मिक कला की स्वाभाविक प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है होता है। वाम हृदय के निर्बल हो जाने से या Mitral Value के रुग्ण हो जाने से जब फुफुसों में रक्त संचय अधिकाधिक होने लगता है तब श्वास नालियों की भी वायु प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है। इसी प्रकार शरीर की धमनियों के कठोर (Arteriosclerosis) हो जाने से जब श्वास नालियों की श्लैष्मिक कला का पोषण कम हो जाता है तब भी इनकी जीवाणु रोधक शक्ति घट जाती है अथवा जीर्ण प्रतिश्याय Sinusitis, Tonsillitis, आदि ऊपर के श्वास मार्ग के रोगों के कारण Pneumococcus, Streptococcus और Haemophilus Influenzae का संक्रमण श्वास नालियों में बार बार होता रहे तो भी खाँसी बार बार हो जाती है। अथवा नीचे फुफुस में कोई पुराना रोग हो जैसे उरःक्षय, श्वास रोग, या उरःकाठिन्य (Pulmonary Fibrosis) या उरःशैथिल्य (Emphysema) का रोग रहता हो तो भी खाँसी का रोग जीर्ण रूप में रहता है। अर्थात् गले (Pharynx) से लेकर Pluera तक के श्वास

मार्ग में कहीं पर भी विक्षोभक कारण उपस्थित हो तो उससे Vagus तथा Glossopharyngeal नाड़ियों के संज्ञा वाही (Afferent) सूत्रों द्वारा Medulla में विष्णाम (कासकेन्द्र) (Cough Centre) उत्तेजित होता है और फिर चेष्टा वाही सूत्रों के द्वारा श्वास प्रश्वास की मांस पेशियों के उत्तेजित हो जाने से खाँसी उठती है।

विकृति :-

श्वास नालिकाओं के अंदर चिर स्थायी संक्रमण जनित विक्षोभ के रहने से श्लेष्म कला, श्लेष्म ग्रन्थियों (Glands, Submucous Layer). तथा मांस मय स्तर (Muscular Layer) में अति वृद्धि हो जाती है। सूजी हुई श्लेष्म ग्रन्थियों में से श्लेष्म स्राव भी अधिक मात्रा में होता है। अतः Submucous Layer में स्नायु तंतु की वृद्धि होती जाती है जिससे श्वास नालिकाओं की मृदुता या लचकी लापन कम हो जाता है अर्थात् चिर रुग्ण श्वास नालिकाओं के मांस में Elastic Tissue तो कम होता जाता है और (स्नायु तन्तु) (Fibrous Tissue) बढ़ता जाता है। श्वास नालिकाओं के लचकीले पन के कारण ही श्रम करने पर सुगमता से अधिक हवा फेफड़ों तक पहुंच जाती है। इनके कुछ कठोर हो जाने पर फिर श्रम करने से शीघ्र श्वास काठिन्य (कटेजाने) या साँस चढ़ जाने का लक्षण होने लग जाता है। खाँसी का रोग और भी पुराना हो जाय तो धीरे धीरे स्नायुभाव (Fibrosis) की यह प्रक्रिया बढ़ती जाती है अर्थात् श्वास नालिकाओं की श्लेष्म कला, श्लेष्म ग्रन्थियाँ, अंतः स्तर तथा मांसमय स्तर सब में लघुता (Atrophy) की प्रक्रिया होने लगती है।

लक्षण :-

श्वास नालिकाओं की जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति के कम हो जाने से थोड़ी सरदी लग जाने पर भी खाँसी का रोग हो जाता है। तथा खाँसने और श्लेष्म स्राव होने के लक्षण हो जाते हैं। श्वास नालिकाओं में अधिक मात्रा में संचित हुये कई जीवाणुओं, श्लेष्म स्राव, अन्तस्तर (Epithelium) के मृत हुये सेलों और श्वेत कणों (Leucocytes) को बाहर फेंकने के लिये ही खाँसी उठती है। नालिकाओं की श्लेष्म कला के सूजे हुये रहने, इन के मार्ग में श्लेष्म स्राव के भरे हुये रहने, तथा इन की दीवार में न्यूनाधिक कठोरता के हो जाने से श्रम करने पर या ऊपर चढ़ने पर श्वास कृच्छ्रता का लक्षण हो जाता है तथा श्वास नालियों में शोथ या जीवाणु संक्रमण के चिरस्थायी रूप में रहने से रक्त में कुछ विष संचार भी होता रहता है। रक्त की आक्सिजन भी कुछ कम मिलती है जिससे रोगी की कार्य करने की शक्ति कम हो जाती है। श्वास नालिकाओं में चिर स्थायी शोथ के रहने से अर्थात् इनके मार्ग के तंग हो जाने पर वायु कोष्ठकों (Air Vesicles) की

दीवारों पर दबाव बढ़ जाता है और वायु कोष्ठकों में वायु अधिक रुक जाती है जिसे फुफुस वृद्धि (Emphysema) कहते हैं। फुफुसों में हवा के अधिक मात्रा में रुकने से भी श्रम करने पर श्वास बढ़ जाने का उपर्युक्त लक्षण होने लगता है। इस उपद्रव के होने पर रोगी की अपनी छाती को फुला सकने (Expansion) की शक्ति कम होती है। इसीलिये जीर्ण कास रोग में छाती अधिक फूली हुई दीखती है जब कि उर: क्षय रोग में सदा छाती दबी हुई होती है। जीर्ण कास रोग सर्दी की ऋतु में बढ़ता है। जब कि उर: क्षय से होने वाला कास रोग गर्मी की ऋतु में अधिक बढ़ता है।

तीव्र कास या Acute Bronchitis की चिकित्सा :-

तीव्र कास का रोग जुकाम के समान Virus के विष संचार से होता है। इसके लिये रोगी को एक गरम कमरे में जिसका तापमान ६५ डिग्री फारनहाइट के लगभग हो गरम कपड़ा लेकर एक दो दिन के लिये लेट जाना चाहिये। पूर्ण विश्राम से ज्वर, बदन टूटना (Malaise) आदि विष संचार के लक्षण शांत हो जाते हैं। कष्ट अधिक हो तो Aspirin Phenacetin ४,४ ग्रेन Codeine $\frac{1}{8}$ ग्रेन की एक मात्रा दे सकते हैं। गले और छाती की दुखन को दूर करने के लिये १०० डिग्री से कुछ कम गरम किये १ पाइंट जल में १ ड्राम Tr.Benzoin Co: अथवा Eucalyplus Oil की कुछ बूंद या Menthol के एक दो दाने डालकर उसकी वाष्प कमरे में देनी चाहिये। इस औषधि युक्त गर्म वाष्प से श्वास नालियों की विक्षोभ शीलता शुष्कता और दुखन दूर होती है। छाती पर गरम बोतल रखने या Liniment Terebenth. या Liniment Camphorae. मलने से भी खांसी को आराम आता है। Alkaline Diaphoretic Mixture जैसे Potassium Citrate १५ ग्रेन Liquor Ammonium Acetate १ ड्राम Tincture Camphor Co. १५ बूंद Syrup Tolu १ ड्राम जल १ औंस मिला कर ऐसी तीन मात्रा या Pot:Acet: १५ ग्रेन Tinct: Ipecac; १० बूंद, Vin,andium ५ बूंद, १ औंस जल में मिला कर तीन मात्रा दिन में देवें। खांसी तथा ज्वर अधिक हो तो Procaine Penicillin ४ लाख Units का मांस द्वारा दो तीन दिन प्रतिदिन या Sulpha Mezathine का दो तीन दिन प्रयोग करना चाहिये। रोग आरंभ होने के तीन चार दिन बाद जब बलगम गिरने लगती है १० ग्रेन Soda Bicarb; को दिन में दो तीन बार एक एक गिलास गरम जल के साथ पिलावें या Ammonium Carbonate ५ ग्रेन, Potassium Iodide २,३ ग्रेन, Potassium Bi-Carbonate १५ ग्रेन, Spirit Chloroform ५ बूंद जल १ औंस मिला कर ऐसी तीन मात्रा दिन में गर्म जल के अनुपान के साथ देने से बलगम भली प्रकार गिरने लगती है। साथ ही रोगी को प्रतिदिन प्रात: कोई विरेचक जैसे १,२ ड्राम Mag: Sulph: दे देना चाहिये। भोजन के लिये हलकी गरम

चाय, गर्म जल में किसी फल के रस तथा ग्लूकोज को मिला कर या किसी सब्जी का यूष दे सकते हैं।

जीर्ण कास रोग की चिकित्सा :- Chronic Bronchitis:

प्रथम तो जीर्ण प्रति श्याय, Sinusitis, Tonsillitis, हृदय नैर्बल्य या धूल धूम आदि जिस किसी कारण से चिर स्थायी कास रोग हो उसके दूर करने का उपाय करना चाहिये। दूसरा श्वास नालियों का जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति को बढ़ाने के लिये यदि वो रोगी निर्बल हो तो उसे घृत, दूध, Cod Liver Oil, Vitamin A.D. तथा कैल्शियम तथा VitaminB, आदि पर्याप्त मात्रा में देने चाहिये। यदि रोगी शरीर में भारी हो तो उसके भोजन की मात्रा कम करनी चाहिये। खुली हवा में कुछ व्यायाम करने, प्राणायाम करने से भी स्वास्थ्य अच्छा होता है। श्वास नालियों में संचित हुये श्लेष्म द्रव को निकालने के लिये निम्बु या किसी फल रस से मिश्रित गरम गरम जल को ग्लूकोज डालकर दिन में दो बार पिलाना चाहिये अथवा ५ ग्रेन लवण और १० ग्रेन सोडा बाई कार्ब और Spirit Chlorof: १० बूंद के गरम गरम जल के एक गिलास में प्रातः काल पीते रहने से भी बलगम सुगमता के साथ निकलती रहती है। Pot:Bi-Carb: १० ग्रेन, तथा ५ ग्रेन Ammon:Bi-Carb. ५ ग्रेन Spirit Ammon: २० बूंद, जल १ औंस को एक गरम गरम जल के प्याले में मिलाकर दिन में दो तीन बार दे सकते हैं। इससे बलगम सुगमता से निकल जाती है। निकलने वाली बलगम में कुछ दुर्गन्धता हो तो Eucalyptus Oil, Menthol, आदि से युक्त गरम वाष्प का सेवन कुछ देर के लिये प्रति दिन करना चाहिये। श्वास नालियों में विद्यमान जीवाणुओं के नष्ट करने के लिये Penicillin (Ambistryn) या इसके तथा Streptomycin १ ग्राम के मिश्रित इंजेक्शन दिन में एक, दो बार मुंह द्वारा देते रहने से या Achromycin (Tetra-cycline Hyd.) २५० मिलि कैप्सूल के दिन में चार पांच बार देने से लाभ होता है। एक सप्ताह बाद फिर इसकी मात्रा कम कर सकते हैं।

आयुर्वेद में कास रोग :-

आयुर्वेद में कहा है कि श्वासनालियों में विद्यमान वह प्राणवायु जो बाहिर की हवा को अंदर लाने का कार्य करता है इन नालियों के रुक जाने से जब प्रतिहत होकर ऊर्ध्व गति करने लगता या उदान भाव को प्राप्त करता है तब उसके द्वारा कंठ में जो टूटे हुये कांसी के बरतन के समान शब्द उत्पन्न होता है उसे कास या खांसी (कास्तृ कुशब्दे) कहते हैं।

॥ च० चि० १८।, ॥ सु० उ० ५२

श्लैष्मिक कास :-(Catarrhal Bronchitis)

देहाग्नि को मंद करके शरीर में आम दोष या कफ दोष को बढ़ा देने वाले कारणों से जब श्वास नालियों का कफ धातु बाहिर से आये जीवाणु या विष द्रव्य का भलीप्रकार निराकरण नहीं कर पाता तब वह जीवाणु या विष द्रव्य वहाँ बढ़ने लगता है फिर उसके निराकरण के लिये वहाँ कफ धातु का जो कफ शोथ (Catarrh) के रूप में प्रकोप होता है उसे कफ कास कहते हैं। इसमें खांसी के साथ कफ स्राव होने तथा शरीर में आम दोष की वृद्धि के लक्षण होते हैं। ।। च।चि।१८।।,।सु०उ०।५२।।

वातिक कास :-(Chronic Bronchitis)

श्वास नालियों की सहज प्राण शक्ति की हीनता के कारण प्रधानतया जो खांसी होती है उसे वातिक कास कहा जाता है। बड़ी आयु के व्यक्तियों में स्वभावतः वायु की वृद्धि होती है। श्वास नालियों में यह वायु वृद्धि या प्रधानता विशेष हो तो शीत आदि स्वल्प वायुवर्धक कारण से यह और बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में ऊपर से जीवाणु संक्रमण सुगमता से हो जाता है। वातिक कास एक चिरस्थायी रोग है जो शीत से बढ़ता है जिसमें खांसी शुष्क होती या बहुत खांसने से थोड़ी बलगम निकलती है तथा शरीर में निर्बलता विशेष रहती है।

पैत्तिक कास :- (Purulert Bronchitis)

देहाग्नि को तीव्र कर देने वाले कारणों से जब देह में पित्त दोष बढ़ जाता है तो श्वास नालियों की पित्त धातु में ऊपर से आये जीवाणुओं को पचाकर नष्ट कर देने की प्रक्रिया मंद हो जाती है जिससे जीवाणु वहां रोपण करने लगता है फिर उसके विपरीत वहां जो पाकात्मक शोथ होता है (अर्थात् Purulent Bronchitis की प्रक्रिया होती है) उसे पित्त कास कहते हैं। इस रोग में बलगम के पूय मिश्रित होने से उसमें दुर्गन्ध होता है।

।। च।चि।१८।।,।सु०उ०।५२।।

कास रोग चिकित्सा :-

कफ प्रधान कास में रोगी को स्वल्प लंघन के बाद लघ्वाहार रखना चाहिये तथा आम दोष के पाचन के लिये उसे आर्द्रक रस और मधु देवें अथवा उसे त्रिकुट, पंचकोल, चूर्ण, व्योषादि चूर्ण, तालीसादि चूर्ण, लवंगादि चूर्ण, उपर्युक्त तुलसी पत्रादि की चाय, लघुपंचमूल या दशमूल क्वाथ आदि किसी का सेवन करायें। जब बलगम निकलने लग जाय उसके निकालने के लिये यवक्षार अपामार्ग क्षार, शृंग भस्म, टंकण खील, नवसादर आदि किसी का दो दो रत्ती की मात्रा में प्रयोग कर सकते हैं। कफ कास के लिये कफामृत रस (त्रिकुट, त्रिफला, चव्य, धनिया, जीरा, सैंधव, रस गंधक, लौह, अभ्रक एक एक भाग, टंकण ८ भाग,

वासा स्वरस की तीन भावना। तीन तीन रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार देने से लाभदायक होता है।

वातिक कास :-

वात प्रधान कास में रोगी को दूध, मांस रस, गेहूं आदि पथ्य आहार पर रखना चाहिये। औषधियों में से अगस्त्य, हरीतकी, च्यवन प्राश, द्राक्षारिष्ट, दशमूलारिष्ट, वसन्त विलास रस, वासा हरीतकी अवलेह, वासाखंड, मिश्री का भी प्रयोग हितकर होता है। वासा मधुयष्टी पाक । वासा एक पाव, मुलहठी कंटकारी आधा आधा पाव, आर्द्रक रस एक छटांक, चीनी ३ पाव। नई पुरानी दोनों प्रकार की खांसी के लिये बहुत उपयोगी होता है। बलगम को निकालने के लिये यवक्षार ५ रत्ती एक प्याले गरम जल में मिलाकर दिन में तीन बार पिलाना चाहिये। पित्त प्रधान कास में वासा द्राक्षा, अभया क्वाथ में मिश्री मधु मिलाकर बनाया अवलेह, वासा खंड, कुष्मांड, सितोपलादि तथा मधुयष्टी चूर्ण, लाभदायक होते हैं। गले में विक्षोभ होने के कारण शुष्क खांसी तंग करती हो तो लवंगादि वटी, (लौंग, मरिच, बहेड़े की बकल, समान समान, कत्था सबै तुल्य बबूल, त्वक्कषाय से भावना), या खदिरादि वटी, (पुष्कर मूल, कर्कट शृंगी, कटफल, मुलहठी, हरड़, लवंग, त्रिकुट, बहेड़ा समान समान, कत्था सबै तुल्य अनार के छिलके, बबूल त्वक कषाय से ७ भावना) दिन में कई बार चूसनी चाहिये।

फुफुस ज्वर । - (Pneumococcal Pneumonia)

कारण :-

किसी फुफुस ज्वर से ग्रस्त रोगी की थूक में विद्यमान Capsule वाले Pneumococci के फुफुस के वायु कोष्ठकों में संक्रमण कर जाने से यह रोग होता है। स्वभावतः गले में विद्यमान Pneumococci के जो कि Non-Capsulated एवं निरुपद्रव होते हैं संक्रमण से यह रोग नहीं होता। फुफुस ज्वर से मुक्त हुये व्यक्ति ३ मास तक इस जीवाणु के वाहक हो सकते हैं। फुफुस ज्वर रोगी के संपर्क में रहने वाले व्यक्ति भी २३ दिन तक इस कैप्सूल वाले रोग जनक Pneumococcus के वाहक हो सकते हैं तथा जिस कमरे में फुफुस ज्वर का रोगी रहा हो उसकी धूल में भी यह जीवाणु बहुधा पाया जाता है। इनमें से किसी कारण से भी वायु द्वारा आया हुआ जीवाणु नाक में या गले में पकड़ा जाता है एवं फुफुस के वायु कोष्ठकों तक पहुंच ही नहीं सकता परंतु सरदी की ऋतु में या बसंत ऋतु के प्रारंभ में जब जुकाम या श्लेष्म ज्वर (Influenza) Virus के संक्रमण से नासा पश्चिम देश (Nasopharynx) की प्रतिरोधक शक्ति घटी होती है तब यह

जीवाणु संक्रमण कर जाय तो नासिका के पिछले और गले के ऊर्ध्व भाग में वृद्धि करने लगता है। फिर वहां से कफ के कणदार श्लेष्म द्रव अंतःश्वास के द्वारा खिंचा हुआ जब फुफ्फुस के वायु कोष्ठ कों में पहुंचता है तब यह रोग आरंभ होता है।

साधारणतः फुफ्फुस के वायु कोष्ठक शुष्क होते हैं। इसलिये वहां पहुंचे हुये Pneumococcus को वृद्धि करने के लिये अनुकूल भूमि नहीं मिलती। पर यदि वाम हृदय की निर्बलता के कारण फुफ्फुस के वायु कोष्ठकों में स्वयथु (Oedema) उठ हुआ हो या जीर्ण कास, श्वास आदि के कारण इनमें श्लेष्म द्रव का संचय हो या किसी कारण इनमें श्लेष्म द्रव पहले उत्पन्न हो गया हो तो Pneumococcus को वहां वृद्धि करने का अवसर मिल जाता है। वृद्धावस्था में जब हृदय वैकल्य या (वृक्क रोग) (Nephritis) का रोग होता है Pneumonia अधिक होता है। गले के ऊर्ध्व भाग में से यह जीवाणु श्वास नलियों में से होता हुआ बहुधा दायें फुफ्फुस के निम्न खंड (Base) में विद्यमान वायु कोष्ठकों में संक्रमण करता है। इस जीवाणु के विषैलेपन के कारण इनकी सूक्ष्म सिराओं (Capillaries) में अति रक्त संचय (Hyperaemia) होकर इनके अंदर शोथ जनित श्लेष्म द्रव (Inflammatory Fluid) भर जाता है। इस श्लेष्म द्रव के द्वारा वहां पर Fibrinogen रक्त कण तथा Polymorphonuclear Leucocytes. अत्यधिक मात्रा में पहुंचते हैं। इनसे युक्त श्लेष्म द्रव के वायु कोष्ठकों में भर जाने से फुफ्फुस का एक खंड (Lobe) ठोस (Consolidated) हो जाता है। फुफ्फुस के यकृत के समान ठोस हो जाने से इस प्रक्रिया को Red Hepatisation. कहा जाता है। संचित हुये श्लेष्म द्रव में विद्यमान रक्तकणों के कारण यह खंड रक्त वर्ण होता है। इसमें विद्यमान Fibrinogen एक दो दिन के अंदर Fibrin में परिवर्तित होकर जीवाणुओं को फैलने से रोक देता है तथा इस द्रव में विद्यमान श्वेतकण इन जीवाणुओं को नष्ट करने का कार्य करते हैं। वे जीवाणुओं को Fibrin के जाल या वायु कोष्ठक की दीवार के पृष्ठ पर चिपका कर या दबाकर इन्हें हजम कर लेते हैं। इसे Surbace Phogocytosis. की प्रक्रिया कह सकते हैं। इससे पहले कि इन Pneumococci के विरोधी Opposmizing Immune Bodies उत्पन्न होकर इन्हें नष्ट करें, श्वेतकण (Leucocytes) अपने Phagocytosis के द्वारा इन्हें नष्ट करना आरंभ कर देते हैं। यदि रोगी को Antibiotic मिल जाय तो इससे भी जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और जो बच जाते हैं वे Phagocytosis से नष्ट हो जाते हैं। यदि Antibiotic न मिले तो Phagocytosis और इसके प्रारंभ होने के तीन चार दिन बाद उत्पन्न होने वाले Immune Bodies इन दोनों के द्वारा ये नष्ट कर दिये जाते हैं। जब वायु कोष्ठकों में बाये हुये जीवाणु श्वेत कणों के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं तब इन मरे हुये श्वेत कणों तथा वायु कोष्ठकों में बचे हुये मलबे को साफ करने के लिये वहां पर Macrophages आ जाते हैं जो इन्हें Phagocytosis की प्रक्रिया के द्वारा अपने में पचा लेते हैं। ये Macrophages या तो रक्त के Monocytes अर्थात् Largemononuclear Leueocytes होते हैं या वायु कोष्ठकों की दीवार में विद्यमान सेलों से ही परिणत होकर बनते हैं। संभव है कि मरे हुये श्वेत कण अपने Cytolitic Ferment के द्वारा भी पच जाते हैं। इस प्रकार शुष्क व ठोस हुआ फुफ्फुस खंड फिर शीघ्र ही पूर्ववत् साफ स्वच्छ, तथा स्वस्थ हो जाता है। प्रायः इस रोग ग्रस्त फुफ्फुस खंड में न तो स्नायुभाव

श्वेत कण अपने Cytolitic Ferment के द्वारा भी पच जाते हैं। इस प्रकार कुछ का ठोस हुआ फुफुस खंड फिर शीघ्र ही पूर्ववत् साफ हो जाता है, तथा स्वस्थ हो जाता है। प्राय: इस रोग ग्रस्त फुफुस खंड में न तो स्नायु भाव होता है (Scar Tissue बनता है), ना ही कहीं पर पूय भाव (Suppuration) होता है। वायु कोष्ठकों में संचित हुआ श्लेष्म द्रव भी पूर्णतया विलीन हो जाता है। इस प्रकार आश्चर्यकारी रूप से रुग्ण फुफुस खंड के पुन: स्वस्थ हो जाने की इस प्रक्रिया को Resolution कहते हैं। इस रोग में रोग ग्रस्त फुफुस खंड के Pleura पर भी फुफुस ज्वर जीवाणु या तो लसिका वाहिनियों द्वारा या Sub-Pleural Alveoli के द्वारा सीधा पहुंच जाते हैं और उसमें Pneumococcal Fibrinous Pleurisy के रोग को उत्पन्न कर देते हैं। रोग तीव्र रूप में हो तो प्रतिरोधक शक्ति हीन हो, तो ये जीवाणु रक्त में भी संचार कर जाते हैं अर्थात् Bacteraemia भी हो जाता है। संभवत: लसीकावाहिनियों के द्वारा फुफुस में से यह संक्रमण होता है।

लक्षण :-

फुफुस में जीवाणु प्रवेश होने पर उसके विपरीत जब प्रतिक्रिया होती है तब सहसा सर्दी लगकर ज्वर चढ़ जाता है और उसी दिन १०३ या १०४ डिग्री तक पहुंच जाता है। तथा इसी प्रकार ऊंचा बना रहता है। ज्वर के साथ सर्वाङ्ग शैथिल्य (Prostration) का लक्षण भी बहुत अधिक होता है। रोगी शीघ्र शीघ्र उथले श्वास ले रहा होता है यद्यपि उसे कुछ श्वास कृच्छ्रता का लक्षण होता है। श्वास प्रश्वास की कठिनता के कारण उसके नथने हिल रहे होते हैं। ये सब लक्षण विष संचार (Pneumococcal Toxaemia) के कारण होते हैं। रोग के प्रारंभ से ही रोगी को अपने एक पार्श्व में चुभने वाला (Stabbing) दर्द होता है जो श्वास लेने तथा खांसने पर विशेष होता है। यह दर्द Pleura में शोथ के उत्पन्न हो जाने के कारण होता है। रोगी इस शोथ युक्त Pleura के भार लेटता है क्योंकि ऐसा करने से उसे दर्द में कमी लगती है। उसे छोटी छोटी सूखी खांसी भी होती रहती है पर क्योंकि खांसने से छाती में दर्द होता है, इसलिये वह खांसी को कुछ दबा के खांसता है। एक दो दिन बाद फिर गुलाबी से रंग का बलगम निकलने लगता है। वायु कोष्ठकों (Alveoli) की सिराओं (Capillaries में से निकले रक्त कणों के कारण यह बलगम गुलाबी रंग का होता है। ज्यों २ इस बलगम की मात्रा बढ़ती है, छाती का दर्द कम हो जाता है। इस रोग में निकलने वाला बलगम बड़ा चमकीला होता है। इस चमकीले पन का कारण इन जीवाणुओं के Capsule में से अत्यधिक मात्रा में निकलने वाला एक Polysaccharide पदार्थ है। रोगी निर्बल नाड़ी कंपन का हो तो

यह न्यूनाधिक प्रभाव भी करने लगता है। यदि Antibiotic या Sulpha Drugs -- का प्रयोग न किया जाय और रोग साध्य हो तो ज्वर सातवें दिन के लगभग सहसा ही Crisis से उतर जाता है।

परीक्षा :-

इस रोग में रोगी की परीक्षा करने पर उसकी नाड़ी गति ९० या १२० प्रति मिनट तथा श्वास गति ३०,४० प्रति मिनट के लगभग होती है तथा इन दोनों का अनुपात परस्पर ३ और १ होता है। जिह्वा मैली, श्वेत तथा शुष्क होती है। त्वचा शुष्क और गर्म होती है। वायु कोष्ठकों में किञ्चित् द्रव के उत्पन्न हो जाने पर श्रवण यंत्र द्वारा सुनने से बालों के रगड़ने की आवाज Fine-Rales या Crepitations सुनाई पड़ती है। फुफ्फुस के ठोस हो जाने पर श्वास प्रश्वास की आवाज Tubular या Bronchial हो जाती है तथा Bronchophony और Pectoriloquy के चिन्ह स्पष्ट होते हैं। रोग के अच्छा (Resolution) होने पर श्रवण करने से तो बुलबुलों के फटने की सी आवाज (Coarse Crepitations) अंत: तथा बहि: दोनों श्वासों के साथ सुनाई पड़ती है। रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत कणों की १५ से ३० हजार तक वृद्धि पाई जाती है।

उपद्रव :-

पार्श्व शूल (Dry Pleurisy) तो इस रोग का एक लक्षण ही है। परंतु कभी कभी द्रवयुक्त पार्श्वशूल (Pleurisy with effusion) का उपद्रव भी हो जाता है। तथापि यह द्रव का संचय इतना अधिक नहीं होता कि उससे श्वास प्रश्वास में कठिनता होने लगे। प्राय: यह द्रव जीवाणु रहित होने के कारण उपद्रव कारी नहीं होता। यदि इसमें Pneumococci का संक्रमण हो जाय तो इसमें पूय भाव होकर पूय युक्त पार्श्व शूल (Empyema) का उपद्रव हो जाता है। यदि ७ दिन के बाद भी निरंतर ज्वर (Remittent Continuous Fever) जारी रहे, प्रति दिन स्वेद आने का लक्षण हो, श्वेत कणों की वृद्धि बनी रहे तो इस उपद्रव के हो जाने की आशंका करनी चाहिये।

फुफ्फुस ज्वर चिकित्सा :-(Pneumonia की चिकित्सा)

प्रथम तो इस रोग के लिये प्राण वर्धक (Supportive) चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को एक गर्म कमरे में जिसका तापमान ६५ डिग्री फा.(F) के लगभग हो, आराम से लिटाये रखना चाहिये। थोड़ा उठने बैठने से भी शरीर की शक्ति का अपव्यय होता है। अत: पूर्ण विश्राम इस रोग के लिये आवश्यक है। खुली हवा या आक्सिजन भी रोगी को पर्याप्त मिलनी चाहिये ताकि उसके अंदर हुई आक्सिजन की कमी और अ न बढ़े। अन्य ज्वरों के समान इस तीव्र ज्वर में भी शरीर के अंदर जल की मात्रा घट जाती है। अत: रोगी को

द्रवाहार पर्याप्त मात्रा में मिलना चाहिये। तीव्र ज्वर में साधारण आहार हाजमे में नहीं आता अतः रोगी को दूध, चाय, तथा फल रस का आहार देना चाहिये। १ पाइन्ट गर्म जल में ४ औंस Dextrose १ संतरे का रस मिला कर पिलाते रहना चाहिये। दिन रात में कम से कम ३ पाइंट द्रव आहार दे देना चाहिये। ताकि मूत्र में कोई न्यूनता न हो। मूत्र की स्पेसिफिक ग्रेविटि देखने से पता लगे कि वह १०,२० से अधिक है तो समझना चाहिये कि इसे जल न्यून मात्रा में मिल रहा है। जल के न्यून मात्रा में मिलने से रक्त वाहिनियों की स्वाभाविक रक्त प्रेरक शक्ति (Vasomotor शक्ति) कम हो जाती है। इस शक्ति के कम हो जाने से रक्त संचार में कमी या Circulatory Failure हो जाने का भय रहता है। अतः जल की मात्रा पर्याप्त देनी चाहिये। रोगी को रात को नींद न आये और आराम न मिले तो भी इसकी प्राण शक्ति कम होती है। अतः सोने से पहले इसे गर्म गर्म जल का प्याला जिसमें निंबू का रस तथा ग्लूकोज हो पिला देना चाहिये। इससे भी नींद न आवे तो इसमें ३,४ ड्राम Brandy मिला सकते हैं। अथवा Chloral Hydrate की १०,१५ ग्रेन की मात्रा या Phenoborbitone $1\frac{1}{2}$ ग्रेन की एक मात्रा दे सकते हैं। हृदय को बल देने के लिये Coramine या Strycmine किसी एक का बड़ी मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। दूसरे नंबर पर इस रोग की जीवाणु प्रतिरोधक चिकित्सा (Antimicrobial Theraphy) की जाती है। इस प्रयोजन के लिये Penicillin सर्वोत्तम औषधि है। यों तो १० में से ७ रोगी बिना जीवाणु प्रतिरोधक चिकित्सा के भी सात आठ दिन में स्वयमेव ठीक हो जाते हैं। अर्थात् फुफ्फुस में संक्रान्त हुये जीवाणु Phagocytes. तथा Antibodies के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। तो भी वृद्ध और निर्बल व्यक्तियों के लिये जीवाणु प्रतिरोधक औषधि देनी अत्यावश्यक होती है। Procaine Penicillin के ४ लाख Units की मात्रा में प्रति दिन दो बार देने से एक दो दिन में ही ज्वर उतर जाता है। ज्वर उतर जाने के बाद भी दो दिन इस औषधि का प्रयोग जारी रखना चाहिये। दूसरे Antibiotic द्रव्यों के जैसे Aureomycin .२५ की मात्रा में Terramycin के .५ ग्राम की मात्रा में Chloromphenicol. के .५ ग्राम की मात्रा में तथा Ilotycin(Erythromycin) के .२ ग्राम की मात्रा में प्रति ६ घंटे बाद देने से भी यह ज्वर शीघ्र उतर जाता है। इसी प्रकार Sulfadiazine तथा Sulfamerzine दोनों के २.० ग्राम की प्रथम मात्रा में मिला कर देने तथा इसके बाद इन्हीं के आधा आधा ग्राम की मात्रा मिला कर प्रति ४ घंटे बाद देने से भी यह ज्वर शीघ्र ठीक हो जाता है। इस औषधि को दो गुना Soda Bi-CarbP के साथ

मिलाकर दिया जाता है। तथा जल का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता है।

आयुर्वेद में :—— आयुर्वेद में निमोनिया या श्वसनक ज्वर को रक्तष्ठीवी ज्वर कहा गया प्रतीत होता है। इसकी गणना सन्निपात ज्वरों में हुई है तथा इसकी ८,१० दिन की अवधि कही गई है। यह फुफ्फुस के रुग्ण होने से उत्पन्न होने वाला ज्वर है। फुफ्फुस गत वायु के दूषित होने पर अर्थात् फुफ्फुस की प्राण शक्ति के हीन हो जाने पर तथा फुफ्फुस में कफ दोष या आम दोष के बढ़ जाने पर इसकी जीवाणु या उनकी विषों को नष्ट करने की शक्ति घट जाती है। ऐसी अवस्था में जब किसी दूसरे से इस रोग के विष का संक्रमण हो जाता है तब यह विष वहां पोषण करने लग जाता है। जिससे विपरीत फुफ्फुस गत वायु, कफ, पित्त तीनों धातुओं की प्रतिक्रिया या प्रकोप होता है। वायु के कारण उदान गति के बढ़ जाने से खांसी उठती है। कफ के कारण फुफ्फुस में परिस्त्राव की मात्रा बढ़ जाती है। पित्त के प्रकुपित होने से ज्वर उत्पन्न होता है। इनके प्रकुपित होने से ८,१० दिन में जीवाणु का प्रतिकार हो जाने पर यह रोग शांत हो जाता है।

निमोनिया श्वासनक या रक्तष्ठीवी ज्वर की चिकित्सा :-

रोगी को वायु दोष की शांति के लिये उसे पूर्ण विश्राम मिलना चाहिये तथा प्राण वायु, जल, दूध, ग्लूकोज, फलों का रस आदि पोषक द्रव्य पर्याप्त मात्रा में मिलने चाहिये। कफ दोष की शांति के लिये रोगी का स्थान गर्म होना चाहिये। उसका पेय जल आहार आदि भी गर्म होने चाहिये। औषधियां भी वायु, पाचक, दीपन, उष्ण गुण होनी चाहिये। पहले बढ़े ज्वर में २,३ दिन कस्तूरी भैरव दो रत्ती और फिर लक्ष्मी विलास या कफकेतु वटी दो दो रत्ती की मात्रा में दिन में तीन चार बार देने चाहिये। बलगम को निकालने के लिये लक्ष्मी विलास दो रत्ती में श्रृंग भस्म दो रत्ती, टंकण ४ रत्ती, मिलाकर देना लाभदायक है। वात, कफ दोनों की शांति के लिये दशमूल कषाय में यवक्षार डालकर या दशमूलासव का दिन में दो तीन बार प्रयोग किया जाता है।

रक्त रोग :-

रक्त रचना :-

शरीर में रक्त शरीर का दसवाँ भाग या औसतन ६ सेर के लगभग होता है। १.. फुफुसों में से यह आक्सिजन को अवयवों तक पहुँचाता है तथा वहाँ से कार्बोनिक एसिड गैस को लेकर फुफुसों तक पहुँचाता है। २.. आँतों में से आहार रस को लेकर उसे अवयवों तक पहुँचाता है। अवयवों में उत्पन्न मलों को लेकर त्वचा तथा वृक्कों तक पहुँचाता है। ३.. निःस्रोतस ग्रन्थियों (Ductless Glands) के रसों (Harmones) को शरीर के अवयवों तक पहुँचाता है। रक्त में आधे के लगभग Plasma और आधे के लगभग दाने (Corpuscles). होते हैं जो रक्त के गतिशील रहने के कारण उसमें घुले मिले रहते हैं। इन दानों में से अधिकतर रक्त कण (Redcells) होते हैं। इनके अतिरिक्त श्वेत कण (Leucocytes) तथा चक्रिका (Thrombocytes या Platelets) भी होते हैं।

प्लाज्मा :- Plasma:- क्षारीय प्रतिक्रिया का हल्के से पीले रंग का ७.५ के लगभग भार का द्रव है जिसके १०० सी॰सी॰ में ६१/२ ग्राम प्रोटीन्स होते हैं। जिनमें से Albumin ४ ग्राम होता है। यह पदार्थ सिराओं या (Capillaries) में से बाहर नहीं होता। अतः इसके कारण रक्त में एक दबाव (Colloid Osmotic Pressure) रहता है। एवं रक्त के इस भार के कारण अवयवों में संचित हुआ द्रव सिराओं (Veins) की तरफ खिंचकर रक्त में आ जाता है। प्लाज्मा में Globulin २ ग्राम % होता है। इसमें Anti Bodies रहते हैं जिनके कारण रक्त में प्रतिरोधक शक्ति (Immunity) रहती है। Fibrinogen नामक प्रोटीन जो Globulin है, आधे ग्राम से कुछ कम मात्रा में होता है। जब कोई सिरा फट जाती है तब रक्त का Thrombin नामक Enzyme इसको Fibrin में बदल देता है जिससे सिरा में उत्पन्न हुआ छिद्र भर दिया जाता है। इस प्रकार यह प्रोटीन सिराओं की मरम्मत का कार्य करता है। जब शरीर में कहीं पर शोथ Inflammation होता है तब वहाँ रक्त में से ये प्रोटीन बाहर निकल कर उस अवयव की रक्षा तथा रोपण का कार्य भी करते हैं।

रक्त कण :- (Red Cells)

एक रक्त कण चक्रिकाकार होता है तथा स्वाइड पर देखने पर ७.२ माईक्रोन व्यास का होता है। इसका खोल या स्पंज Cholesterol, Decithin तथा Nucleoprotein का बना हुआ होता तथा इसके अंदर एक गाढ़ी द्रव पदार्थ Haemoglobin भरा होता है। जिसके कारण यह कण लाल रंग का दीखता है। एक घन मिलीमीटर रक्त में ५, ५१/२ लाख (५, ५१/२ मिलियन) रक्त कण होते हैं।

Cell Volume (C.V.) तथा Mean Corpuscular Volume (M.S.V.):-

एक रक्त कण का ठोस फल कितना है, यह Haematocrit नामक एक ११ सेन्टीमीटर लंबी २१/२ मिलीमीटर चौड़ी शीशे की नली के द्वारा नापा जाता है। इसमें इसके १०० नंबर के चिन्ह तक Potassium और

Ammonium Oxalate के साथ या Heparin के साथ मिश्रित किया हुआ रक्त भर दिया जाता है। फिर इसे उतनी देर तक Centrifuge किया जाता है कि जिसके बाद लाल दानों (Red Cells) का लेवल आगे गिरना बंद हो जाता है। सामान्यतः रक्त कणों का यह लेवल या सेलों के ढेर का लेवल ४६ सी०सी० के चिन्ह तक होता है। इस संख्या को Cell Volume कहते हैं। अब इस हिसाब से १००० सी०सी० रक्त में जितने सी०सी० रक्त कण हों उनको उसे प्रति क्यूबिक मिलीमीटर रक्त में जितने मिलियन रक्त कण हों उस संख्या के द्वारा भाग दे देने से एक सेल का घनफल आ जाता है अर्थात्
Volume of packed cells in C.C.per 1000c.c. of Blood/Red cells in millions per cu.m.m.=mean corpuscular Volume --

अर्थात् ४६ सी सी (Cell Volume) X १० / ५ १/२ = ८४ इस प्रकार प्रत्येक रक्त कण का घनफल ८४ Cubic Micron होता है। जब शरीर में रक्त कणों का घनफल इससे बढ़ जाता है। उदाहरणतः ९०, ९४ हो जाता है तब उसे बड़ा कण (Macrocyte) कहा जाता है। यदि उसका घनफल ७८ Cubic Micron से कम हो जाता है तब उसे छोटा कण (Microcyte) कहते हैं। साधारण घनफल के रक्त कण को साधारण कण (Normocyte) कहते हैं। रक्त कण के घनफल के बढ़ जाने पर भी उसमें हीमोग्लोबिन की मात्रा साधारण ही रहती है। इसलिये उसे Macrocytic Hypochromic या Narochromic Anaemia कहते हैं। Haemoglobin एक Lipoprotein. है जो एक रंग से युक्त द्रव्य Haem तथा Globin नामक प्रोटीन के मिलने से बना है। इसमें १/२ प्रतिशतक लोह रहता है अर्थात् १ ग्राम हीमोग्लोबिन में ३.३ मिलीग्राम लोह होता है। शरीर में कुल मिलाकर ३,४ ग्राम लोहा होता है जिसमें से तीन चौथाई हीमोग्लोबिन में तथा एक चौथाई मृत हुये रक्त कणों से मुक्त हुआ Reticuloendothelial Cells में मिलता है जहां से यह एक Organic Iron(Ferratin) के रूप में रक्त के द्वारा मज्जा (Marrow) यकृत तथा प्लीहा में संचित होता तथा नये रक्त कणों की उत्पत्ति में खर्च होता है। स्पष्ट है कि यदि फल, शाक, कण, गेहूं के आटे तथा दालों के द्वारा लोहा शरीर में न आये तथा प्रोटीन्स भी शरीर को कम मिलें तो हीमोग्लोबिन की मात्रा शरीर में कम हो जाती है। इसके आक्सिजन का वाहक होने से पांडुरोग में अवयवों को आक्सिजन कम मिलती है।

<u>हीमोग्लोबिन की मात्रा :-</u>

Haldane के तरीके से जब रक्त के १०० सी०सी० में १३ १/२ ग्राम हीमोग्लोबिन होता है तब उसे १०० प्रतिशतक कहा जाता है। Sahli के तरीके से जब वह १०० सी०सी० में १७.३ ग्राम होता है तब उसे, १०० प्रतिशतक कहा जाता है। इन दोनों की औसत निकालते हुये १४ १/२ ग्राम को १०० प्रतिशतक

कर दिया जाता है। इस प्रकार का १०० सी०सी० रक्त १९.४ सी०सी० आक्सिजन का वाहक होता है। इसलिये जितना जितना हीमोग्लोबिन की मात्रा कम होती है उतना उतना ही शरीर को आक्सिजन कम मिलती है।

Colour Index:-

हीमोग्लोबिन तथा रक्त कणों की प्रतिशतकता के अनुपात को Colour Index कहते हैं। अर्थात् साधारणतः जब १०० सी०सी० रक्त में १४½ ग्राम हीमोग्लोबिन हो और रक्त के प्रति क्यूबिक मिली मीटर में ५ मिलियन रक्त कण हों तो Colour Index = हीमोग्लोबिन प्रतिशतक/रक्त कण प्रतिशतक = १०० ।१०० = १. होता है। जब रक्त क्षय होकर हीमोग्लोबिन तो विशेष घट जाय और रक्त कण विशेष न घटें तो यह १ संख्या से कम हो जाता है। जब तीव्र पांडु (Pernicious Anaemia) या मज्जा के रुग्ण होने के कारण रक्त कणों की मात्रा तो विशेष कम हो जाय हीमोग्लोबिन उतना न घटे तो यह संख्या १ से अधिक होती है। उदाहरणतया यदि हीमोग्लोबिन २५ प्रतिशतक रह गया है और रक्त कण घट कर २० प्रतिशतक रह गये हैं तो Colour Index = २५।२०= १.२५ समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह भी है कि औसतन प्रत्येक सैल का व्यास ७.२ माइक्रोन से अधिक हो गया है। इसलिये ऐसे पांडु रोग को Macrocytic Anaemia कहते हैं। यदि Haemoglobinometer से पता लगे कि रक्त में हीमोग्लोबिन ५० प्रतिशतक रह गया है/ रक्त कणों में कोई विशेष न्यूनता नहीं हुई तो Colour Index ५०/१०० =½ है। अब यदि रक्त कण सामान्य आकार के हों तो उसे Normocytic Hypochromic Anaemia कहते हैं। यदि रक्त कण ~~यदि~~ छोटे आकार के हों तो उसे Microcytic Hypochromic Anaemia कहते हैं। साधारणतः जब हीमोग्लोबिन ७५ प्रतिशतक से कम हो जाता है/ पांडु रोग के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं।

Mean Corpuscular Haemoglobin (M.C.H.):-

प्रत्येक रक्त कण में औसतन कितनी मात्रा हीमोग्लोबिन की है यह जानने के लिये १०० सी०सी० रक्त में विद्यमान हीमोग्लोबिन की मात्रा के हिसाब से १००० सी०सी० में जो मात्रा निकले उसे रक्त के एक क्यूबिक मिलिमीटर में विद्यमान रक्त कणों की संख्या से भाग दे दिया जाता है अर्थात् उतने माइक्रो माइक्रो ग्राम हीमोग्लोबिन प्रत्येक रक्त कण में होता है। इस प्रकार स्वस्थ्य अवस्था में यह संख्या १०० सी०सी० रक्त में हीमोग्लोबिन x १० । रक्त कणों की संख्या मिलियन में = १४½ १०/५ =२९ ~~माइक्रो~~ माइक्रो माइक्रो ग्राम हीमोग्लोबिन प्रत्येक रक्त कण में होता है। यह संख्या रक्त कण के रंग (Chromicity) का मापक है। अर्थात् इस संख्या के अनुसार पांडु (Anaemia) को Hypochromic या Hyperchromic कहा जाता है।

Mean Corpuscular Haemoglobin Concentration:-(M.C.H.C.);-

प्रत्येक रक्त कण में हीमोग्लोबिन की औसतन प्रतिशतक मात्रा कितनी है यह जानने के लिये १०० सी॰सी॰ रक्त में जितने ग्राम हीमोग्लोबिन की मात्रा को १०० की संख्या से गुणा करके प्राप्त संख्या को Cell Volume की संख्या अर्थात् १०० सी॰सी॰ रक्त में ठोस हो गये रक्त कणों के कुल फल की कुल संख्या से भाग दे देना चाहिये। साधारणतः यह संख्या = हीमोग्लोबिन प्रति १०० सी॰सी॰ $\times$ १०० । Cell Volume = १४ $\frac{१}{२}$ $\times$ १०० / ४६ = लगभग ३२ अर्थात् साधारणतः रक्त कण के का ३२ प्रतिशतक भाग हीमोग्लोबिन का से बना हुआ है। लोहे की अथवा हीमोग्लोबिन की कमी से उत्पन्न पांडुरोग में यह संख्या घटी हुई होती है। ज्यों ज्यों रोगी अच्छा होता जाता है यह संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है। पांडु रोग में कभी कभी M.C.H. की संख्या नार्मल से अधिक भी हो सकती है परंतु M.C.H.C. की संख्या कभी भी नार्मल से अधिक नहीं हो सकती। क्योंकि यह रक्त कण के हीमोग्लोबिन के द्वारा पूर्ण रूप (Saturated) होने को सूचित करती है और पांडुरोग में रक्त कण रंग से पूर्ण (Normosaturated) होते सकते हैं। अधिक रंग वाले (Overstandard) Saturated) हो ही नहीं सकते। इस संख्या के कम होने को Hyposaturation कहा जाता है। यह Saturation की कमी लोहे से पूर्ण होती है। रक्त कणों का नाश तथा उत्पत्ति:- रक्त कण की आयु लगभग चार मास होती है। अतएव प्रतिदिन लगभग ०.८३ प्रतिशतक रक्त कण तथा लगभग ७ ग्राम हीमोग्लोबिन प्रतिदिन नष्ट होते रहते हैं तथा इतने ही कणों और हीमोग्लोबिन की प्रतिदिन उत्पत्ति भी होती है। जिस कार्य के लिये भोजन में प्रोटीन तथा स्वल्प लोह युक्त भोजन जैसे पत्र शाक, गेहूं के आटे, फल आदि की आवश्यकता रहती है। साधारणतः तो रक्त कणों के टूटने से जो लोह मुक्त होता है वही नये रक्त कणों के निर्माण के लिये पर्याप्त होता है। पर यदि आर्तव अधिक हो अर्शरोग आदि से रक्त स्राव होता हो तो बाह्य लोह की भी आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार बालक को भी लोहे की आवश्यकता रहती है। रक्त की मज्जा (Red Marrow) के अंदर विद्यमान रक्त वाहिनियों की आभ्यन्तर कला के जिन जालकार सेलों (Reticulo Endothelial Cells) से रक्त के रक्त कण विकसित होते हैं, इन्हें Haemocytoblasts या Proerythroblasts कहा जाता है क्योंकि ये आकार में रक्त कणों से बड़े होते हैं, इन्हें Megaloblasts भी कहा जाता है। इस प्रारंभिक अवस्था में इनका Cytoplasm भी Basophil या इसका नीला होता है, Acidophil या गुलाबी नहीं होता। जब ये सेल विकसित होते होते रक्त कण के आकार के हो जाते हैं, तब इन्हें Normoblast कहते हैं। मज्जा में यहां तक इनका विकास तभी ठीक ठीक होता है जब तक यकृत तथा आमाशय की आभ्यन्तर कला में एक विशेष रक्तोत्पादक तत्व (Haemopoietic-Factor) की उत्पत्ति ठीक ठीक होती रहे। क्योंकि Magaloblastic Anaemia

से Liver Extract, Stomach Extract, Folic Acid तथा Vit.B_{12}.
के देने से पूरा लाभ हो जाता है। धीरे धीरे मज्जा के इन सेलों की मींगी या Nuclei लुप्त हो जाती हैं और इनमें हीमोग्लोबिन उत्पन्न होता जाता है इनका आकार भी रक्त कण जितना हो जाता है और ये Acidophil या गुलाबी रंग के हो जाते हैं और असली रक्त कण बन जाते हैं। इस अवस्था में इन्हें Erythrocyte कहा जाता है। Normocyte से Erythrocyte तक के इनके परिवर्तन के लिये इन्हें Iron, Copper, Vitamin "C". तथा Thyroxine की आवश्यकता रहती है। जब मज्जा में रक्त कणों की वृद्धि यथोचित रूप में नहीं होती तब रक्त के अंदर कुछ बड़े आकार के रक्त कण भी दिखाई पड़ते हैं। रक्त में विभिन्न आकृति के अर्थात् कुछ बड़े कुछ छोटे रक्तकण हों तो इस अवस्था को Anisocytosis कहते हैं। जब मींगी का कुछ अंश किसी किसी कण में दीखता हो तो उसे Reticulocytosis कहते हैं। जब अपूर्ण परिपक्व रक्त कणों में इसके नीले रंग के दाने दिखाई देते हैं या रक्त कण नीले रंग के दीखते हैं तब उन्हें Stippled Cells या Basophilic-cells. कहते हैं।

<u>पांडु रोग :- Anaemia.</u>

<u>धातु पांडु: या रक्तोत्पत्ति वैषम्य :- Dyshaemopoietic Anaemias.</u>

विटामिन बी12 तथा फोलिक एसिड की न्यूनता से होने वाला पाण्डु
। क। Dyshaemopoietic Anaemia Due to Vit.B_{12} तथा Folic Acid-Deficiency:- रक्तमयी मज्जा के अंदर होने वाली रक्त कणों की उत्पत्ति में कमी हो जाने से जो पांडु रोग उत्पन्न होता है उसे धातु पांडु या Dyshaemopoietic Anaemia कहा जाता है। रक्त कणों के निर्माण के लिये एक तो Castle का बाह्य तत्व (Extrinosic Factor) या Vitamin B_{12}. से आवश्यक होता है। यह जान्तव प्रोटीन्स से प्राप्त होता है। तथा मज्जा में Megaloblasts को Normoblasts में परिवर्तित करने तथा सुषुम्ना कांड के नाड़ी सूत्रों (Neurones) और हाथ पैर की नाड़ियों (Peripheral Nerves) के पोषण के लिये अत्यावश्यक होता है। रक्त कणों की उत्पत्ति के लिये Castle का आभ्यन्तर तत्व (Intrinosic-Factor) जो आमाशय रस (Gastric Juice) में विद्यमान एक Ferment के सदृश तत्व होता है आवश्यक होता है। यह बाहर से भोजन द्वारा आये बाह्य तत्व (Extrinsic Factor) को बांधने तथा शरीर में विलीन होने योग्य बनाने का कार्य करता है। इन दोनों के संयोग से ही Vitamin B_{12} एक Haematinic Principle के रूप में आंत्र से विलीन होकर यकृत में पहुंचता और वहां संचित होता रहता है, तथा वहां से रक्त द्वारा रक्त

की मज्जा की सुदाम रक्त वाहिनियों में पहुंच कर रक्त कणों के निकास में सहायक होता है। इन दोनों में से जब किसी एक की भी न्यूनता हो जाती है तो मज्जा में Megoblastic Anaemia तथा रक्त में बड़े रक्त कणों वाला पांडु Macrocytic Anaemia हो जाता है। हमारे भोजन में विशेषतः पत्र शाकों में तथा यकृत में एक Vitamin,Folic Acid. होता है जो आमाशय में से यकृत में जाकर संचित होता रहता है तथा वहां से रक्त के द्वारा मज्जा में पहुंच कर रक्त कणों के विकास में सहायक होता है। जब यह भोजन में कम होता या यह Ascorbic Acid के अभाव में अपने क्रिया शील रूप Folinic Acid (Citrovarum Factor) में परिवर्तित नहीं हो पाता तब भी मज्जा में Megaloblasts अतिशीघ्र Normoblasts में विकसित नहीं हो पाते जिससे Megaloblastic या Macrocytic Anaemia हो जाता है। हीन भोजन जनित पांडु (Nutritiitional Megaloblastic-Anaemia) ग्रहणी पांडु (Megloblastic Anaemia of ~~Spmr~~ Sprue). तथा गर्भिणी पांडु (Megaloblastic Anaemia of Pregnancy) . तथा बच्चों के दूध पर अथवा हीन भोजन पर पलने वाले बालकों में होने वाला बाल पांडु (Megaloblastic Anaemia of ~~Efancy~~ Infancy) ये सभी विशेषतः Folic Acid की कमी तथा Vitamin B_{12}. की कमी से होते हैं। एवं Macrocytic Type के होते हैं। यकृद्वृद्धि (Cirrhosis) के कारण भी Megaloblastic Anaemia होता है परंतु वह भी बहुत संभवतः हीन भोजन जनित (Nutritional Anaemia) ही होता है। हीन भोजन जनित पांडु साधारणतः तो अस्पष्ट रूप में रहता है परंतु जब कोई ज्वर हो जाता अर्थात् विषम ज्वर होता या अमीबिक प्रवाहिका होती या कोई दूसरा जीवाणु जनित रोग होता है तब यह स्पष्ट हो जाता है अर्थात् हीन भोजन करने वाले व्यक्ति गर्भिणी या शिशु में रोग क्षमता नहीं होती।

परीक्षा करने पर अधिकतर रक्त कणों का व्यास ७.७ माइक्रोन से अधिक होता तथा Colour Index १ से अधिक होता अर्थात् यह पांडु Macrocytic तथा Hyperchromic किस्म का होता है।

। ख।.. लोहे की न्यूनता से होने वाला पांडु:-

Dyshae+mopoietic Anaemia due to Iron Deficiency:-

। १। स्त्री पांडु :- Hypochromic Anaemia of Women.

२० से ४५ वर्ष की अर्थात् मध्यम आयु की स्त्रियों में आर्तव के द्वारा तथा गर्भ के द्वारा लोहांश के बाहिर जाते रहने से भोजन में लोहे की आवश्यकता विशेष रहती है। साधारणतः ३०० मिलिग्राम लोहा स्त्री के शरीर में से प्रति वर्ष बाहिर जाता है। अब यदि

इस आयु में स्त्री को प्रदर रोग रहे या मलेरिया आदि कोई जीवाणु जनित रोग हो जाय तो स्त्री को पांडु हो जाता है जिसे लोह की न्यूनता से उत्पन्न पांडु (Iron deficiency anaemia या Hypochromic Anaemia of women) कहते हैं। ऐसी पांडुर स्त्री की परीक्षा की जाय तो रक्त कणों का औसतन व्यास ६.२ से ६.७ माइक्रोन, Mean corpuscular volume ७८ Cubic Microns से कम, Meancropuscular Haemoglobin Concentration ३२ प्रतिशत से कम होता है। इसलिये इसे Microcytic Hypochromic Anaemia कहते हैं। इस पांडु में हीमोग्लोबिन ४० या ५० प्रतिशत रह जाता तथा Colour Index-१ Unit से कम होता है।

२.. लोह की न्यूनता से होने वाला बाल पांडु :- Infantile Anaemia due to Iron Deficiency:-

।क। सहज बाल पांडु बालक से शिशु को गर्भ के पिछले तीन महीनों में लगभग ३७५ मिलिग्राम लोहा प्राप्त होता है। परंतु यदि माता पांडुर हो या शिशु ७,८ वें मास में समय से पहले हो जाय तो उस उसे लोहा कम मिलता है। जिससे दूसरे महीने के अंदर अंदर ही उसे पांडु हो जाता है। इसे सहज बाल पांडु कहते हैं।

।ख। पोषण की न्यूनता से होने वाला बाल पांडु :- (Nutritional-Infantile Anaemia) है। केवल डब्बे के दूध पर पाले गये या इसकी भी गाय के दूध पर पाले गये बालकों में ८ वें से ११ वें मास के बीच में होता है। इन दूधों में लोहे के न होने या Ascorbic Acid के कि जो लोहे की शरीर में विलयन के लिये आवश्यक होता है, न होने से यह होता है अर्थात् यह बाल पांडु Normocytic Hypochromic-Anaemia होता है। विशेषतः यदि ऐसे बालक में कोई ज्वर रहे तो लोहे के शरीर में विलयन के और भी कम हो जाने से यह पांडु होता है।

।ग। विष जनित पांडु या Dyshaemopoietic Anaemia due to some-Toxin or Secondary Hypoplastic Anaemia.

कभी कभी किसी जीवाणु विष के मज्जा पर दुष्प्रभाव (Degenerative) प्रभाव से अथवा किसी तीव्र औषधि से जैसे Arsenic, Lead, Gold, Chloramphenicol, Mepacrine, Tridione, आदि किसी के मज्जा पर दुष्प्रभाव से रक्त कणों का निर्माण कम ही मंद हो जाता है। शरीर के अंदर उत्पन्न होने वाले किसी विषैले द्रव्य जैसे जीर्ण वृक्क रोग (Chronic Nephritis) में मूत्र विष संचार (Uraemia) के कारण भी मज्जा में दुर्बलता (Hypoplasia) होकर पांडु हो जाता है। यह पांडु धीरे धीरे अज्ञात रूप में होता

[illegible]

[illegible] (Iron deficiency anaemia या Hypochromic Anaemia of women) [illegible]

[illegible] Mean corpuscular volume या Cubic Microns [illegible] Meancorpuscular Haemoglobin Concentration [illegible] Microcytic Hypochromic Anaemia [illegible] Colour Index-Unit [illegible]

२. [illegible] :- Infantile Anaemia due to Iron Deficiency:-

(क) [illegible]

१०० है।

(ख) [illegible] :- (Nutritional-Infantile Anaemia) [illegible] Ascorbic Acid [illegible] Normocytic Hypochromic-Anaemia [illegible]

(ग) [illegible] Dyshaemopoietic Anaemia due to some-Toxin or Secondary Hypoplastic Anaemia.

[illegible] (Degenerative) [illegible] Arsenic, Lead, Gold, Chloramphenicol, Mepacrine, Tridione, [illegible] (Chronic Nephritis) [illegible] (Uraemia) [illegible] (Hypoplasia) [illegible]

और इस अवस्था में Thrombocytoienia के होने के कारण रक्त स्राव होने का लक्षण भी होता है। इस अवस्था में पांडु Normocytic तथा Normochromic होता है तथा पांडु के साथ साथ Polymorphic-Leuopenia होने का लक्षण भी होता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का पांडु एक कष्ट साध्य रोग है।

।घ। क्रियोत्थ पांडु या Dyshaemopaietic Anaemia Due to Lack of Intrinsie Factor. Pernicious Anaemia. Addison's Anaemia.

जब ४० से ७० वर्ष की आयु में आमाशय की श्लेष्म कला के क्षीण (Atrophied) हो जाने से हाइड्रो,पेप्सिन तथा आभ्यंतर तत्व (Intrisic Factor) सभी लुप्त हो जाते हैं तब इसे Achylia-Gastrica कहते हैं। संभवत: इन व्यक्तियों में आमाशय की यह निर्बलता सहज होती है। इस आभ्यंतर तत्व की कमी या अभाव के कारण भोजन के द्वारा आये हुये बाह्य तत्व (Extrinsic Factor या Vitamin B_{12} से बनने वाला Haemathnic Principle बन नहीं पाता जिससे रक्त की मज्जा के अंदर उत्पन्न होने वाले Megaloblasts भली प्रकार विकसित नहीं हो पाते। एवं बड़े बड़े रक्त कण रक्त में प्रवाह कर जाते हैं। मज्जा की परीक्षा करने से उसमें Megaloblasts तथा Normoblasts अधिक संख्या में पाये जाते हैं। रक्त की परीक्षा करने से रक्त कणों का व्यास ८.५ माइक्रोन के लगभग पाया जाता है। जिससे इस पांडु को Macrocytic या Megoloblastic Anaemia --- कहते हैं। रक्त कणों के निर्माण में ह्रास हो जाने से ३,२ या १ मिलियन रक्त कण एक क्यूबिक मिलीमीटर में पाये जाते हैं। हीमोग्लोबिन भी घट जाता है पर उतना नहीं जितना रक्त कण। यह ३० या ४० प्रतिशत होता है। इसलिये Colour Index १ यूनिट से ऊपर होता है। Mean corpuscular Haemoglobin ~~Fraction~~ ५० माइक्रो माइक्रो ग्राम Mean Corpuscular Hae moglobin Concentration. ३५ के लगभग होता है। बहुत से रक्त कणों के आकार में बड़ा होने के कारण Mean Corpuscular Volume ११५,१३० क्यूबिक माइक्रोन के लगभग होता है। Poikilocytosis, Anisocytosis, Megalocytosis, Polychromasia तथा Stippled Basophilic Cells.-- के होने के लक्षण होते हैं। अपूर्ण विकसित रक्त कणों के Reticuloendothelial Cells के अंदर अधिक मात्रा में टूटने से Bilirubin की मात्रा रक्त में अधिक होती है यद्यपि Icterus Index 4 Unit

से अधिक होता है। मूत्र तथा मल में Urobilinogen अधिक मात्रा में होता है। इसीलिये त्वचा में पांडुता के साथ पीलापन भी होता है। इस रोग में आमाशय श्लेष्म कला में दुर्बलता सी होती है। कभी कभी सुषुम्नाकांड में भी दुर्बलता हो जाती है।

वात पांडु या Dyshaemopoietic Anaemias के लक्षण :-

१। शरीर में रक्त कणों तथा हीमोग्लोबिन के कम हो जाने से कोषों को आक्सिजन की मात्रा कम प्राप्त होती है जिससे उनकी कार्य शक्ति घट जाती है। इसकारण तः आक्सिजन के कम मिलने से हृदय और मांस शिथिल (Dilated) हो जाता है। श्रम करने पर धड़कने लग जाता है तथा रोगी को श्वास चढ़ने लग जाता है। इसकी निर्बलता से रक्त भार गिर जाता है। इसकी निर्बलता से ही रोगी के पावों में श्वयथु हो जाता है। आमाशय को आक्सिजन कम मिलने से पाचक अग्नि मंद हो जाती है। क्षुधा कम लगती है। भोजन के बाद पेट कुछ भारी लगने लगता है। मस्तिष्क को रक्त कम मिलने से मानसिक श्रम नहीं होता, सहन शक्ति कम हो जाती है। तथा निद्रा कम आती है। इस रोग में बहुधा जिव्हा सूज जाती है अर्थात् रक्त कमी हो जाती है। (Glossitis हो जाता है) तथा मुख आ जाता है। (Stomatitis हो जाता है।) देखने में रोगी का शरीर पांडुर दीखता है। विशेषतः अंगुलियों के सिरे, नख, नाक, कान, तालु, नेत्र, जिव्हा ये अंग पांडुर दिखाई पड़ते हैं। पांडु रोग तीव्र हो विशेषतः त्रिदोषज पांडु (Pernicious Anaemia) हो तो सुषुम्ना कांड को आक्सिजन न मिलने से इसमें दुर्बलता हो जाती है जिससे पावों में नाड़ी रोग (Neuritis) के लक्षण भी हो जाते हैं।

२. रंजक द्रव्य की कमी जब विशेष होती है अर्थात् (Microcytic Hypochromic पांडु में शरीर में फीकापन अधिक स्पष्ट होता है। चेहरा देखने में पांडुर तथा कुछ फूला हुआ दीखता है। हृदय शैथिल्य भी अधिक होता है जिससे स्वल्प श्रम से भी श्वास चढ़ जाता तथा Haemic Murmur भी सुनाई पड़ता है। पावों में भी शोथ दीखता है तथा नख दुर्बल होकर नतोदर से हो जाते हैं। (जिसे Koilonychia कहते हैं।)

पित्त पांडु :- Haemolytic Anaemias:-

रक्त में रक्त कणों के अधिक मात्रा में नष्ट हो जाने से जो पांडु रोग उत्पन्न होता है उसे पित्त पांडु Haemolytic Anaemia कहते हैं।

१। रोग जनित कामला :- Acquired Haemolytic Jaundice:-

विषमज्वर तथा Black Water Fever तथा Streptococcal, Staphylococcal Septicaemia के कारण कामला युक्त पांडु हुआ करता है। यद्यपि बहुतों का मत यह है कि कामला का पूयविष (Sepsis) का मुख्य

भाव होकर इसमें रक्त कणों का निर्माण मंद पड़ जाने से यह पांडु होता है। पर कृमि का रक्त कणों पर विनाशक (Haemolytic) प्रभाव भी अवश्य होता है। मलेरिया में तो पित्त पांडु (Haemolytic Anaemia) ही होता है।

औषधि जनित पांडु अर्थात् (Lead, Arsenic Quinine आदि के कारण भी कभी कभी रक्त कणों का विनाश होकर कामला का रोग (Toxic Haemolytic-Janndice) हो जाता है। इस रक्त नाश जनित पांडु में Bilirubinaemia Urobilinuria, मल में Stercobilin की अधिकता, Icterus Index की अधिकता, त्वचा में पांडुता के साथ कुछ पीलेपन का मिश्रित होना, ये लक्षण होते हैं। यह Normoblastic या Normocytic Hypochromic Anaemia है। जब यह तीव्र रूप में होता है तब श्वेत कण वृद्धि Leucocytosis भी होती है। और जब यह चिरस्थायी रूप में होता है तब श्वेत कण नार्मल संख्या में ही रहते हैं। रक्त कणों के अधिक संख्या में टूटने के कारण प्लीहा वृद्धि और कुछ कुछ यकृत वृद्धि के लक्षण भी होते हैं। Vanden Bergh Test Indirect Positive होता है।

(ख)- सहज पांडु- या सहज कामला :- Congenital Haemolytic Jaundice Congenital Haemolytic Anaemia.

कुछ एक परिवारों में एक से अधिक व्यक्तियों में बालकपन से ही पांडुता तथा हलकी कामला के लक्षण होते हैं। रक्त की परीक्षा करने पर पता लगता है कि रक्त कण चक्रिका कार (Biconcave) न होकर गोलाकार (Spheroid होते हैं। इस प्रकार असाधारण होने के कारण ये अधिक भंगुर होते हैं जिससे प्लीहा में ये अधिक मात्रा में टूटते रहते हैं। इसी कारण एक तो इनमें प्लीहा वृद्धि और दूसरा पांडुता का लक्षण रहता है। रक्त कणों के अधिक संख्या में टूटने से Bilirubin की उत्पत्ति अधिक होती है। जिसके कारण इनमें हलकी सी कामला होने का लक्षण भी रहता है। अति शारीरिक श्रम करने तथा ज्वर आदि होने पर इसमें पांडुता तथा कामला के लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। बहुधा यह रोग मृदु रूप में ही रहता है। ~~...~~ परंतु इसके कारण इनमें पित्ताशय के अंदर Calcium Bilirubinate की पथरियों के बन जाने का उपद्रव हो जाता है।

रक्त की परीक्षा करने पर इस रोग का निश्चय हो जाता है। साधारण व्यक्ति के रक्त कण .४५ प्रतिशतक Hypotonic Saline Solution में टूटने लगते हैं। परंतु इस रोगी के रक्त कण .६ प्रतिशतक के Saline Solution में ही टूटने लग जाते हैं। और .४ प्रतिशतक Saline Solution में सर्वथा टूट जाते हैं। रक्तकणों का व्यास तो छोटा होता है परंतु इनके गोलाकार होने से अर्थात् इनमें Spherocytosis. होने से Meancorpuscular Volume तथा Meancorpuscular Haemoglobin. नार्मल होते हैं। Colour Index भी नार्मल होता है। रक्तकणों के

अधिक संख्या में टूटते रहते हैं Reticulocytes अधिक मिलते हैं। Vanden Bergh Test Indirect Positive होता है। रक्त में Bilirubin अधिक होता है। पर वह मूत्र में नहीं आता। इसीलिये इसे Acholuric Jaundice भी कहते हैं। मूत्र में Urobilin की अधिकता से गहरा पीत होता है। मल भी Sterocobilin की अधिकता से गहरे रंग का होता है।

बाल पांडु या रक्तोत्पत्ति वैजन्य Deficiency Dyshaemopoietic Anaemia. की चिकित्सा :-

१. Nutritional Megaloblastic Anaemia:- के लिये Folic Acid ५-२० मिलिग्राम दैनिक मात्रा में कुछ सप्ताह देने से तथा दूध, अंडा, रोटी, घृत आदि के साथ साथ Vitamin B Complex या Marmite के ½ औंस की मात्रा में देने से शीघ्र लाभ प्रतीत होता है फिर इसकी ५ मिलिग्राम की थोड़ी मात्रा कुछ काल दी जानी चाहिये। B_{12}. के साथ मिलाकर इसके योग (Rubrafolin Tab:) भी दिये जाते हैं

२. गर्भिणी पांडु, बाल पांडु तथा ग्रहणी पांडु : Megaloblastic Anaemia of Pregnancy of Infancy तथा of Sprue के लिये भी Folicacid इसी मात्रा में कुछ काल देना चाहिये। Folic Acid से युक्त भोजन जैसे Yeast(१०० ग्राम में ०.७ मिलिग्राम, गेहूं का आटा(१०० ग्राम में ०.०५ मिलि०,) पत्र शाक(१०० ग्राम में ०.१ मिलि०) दाल(१०० ग्राम में ०.०७ मिलिग्राम),तथा प्रोटीन भोजनों आदि के प्रयोग से भी लाभ होता है। गर्भिणी में Hypochromia हो M.C.H.C. भी कम हो Colour Index भी कम हो तो Ferrous Gluconate ४ ग्रेन के दिन में तीन बार देवें या Ferrous Sulphate के तीन ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देने से भी इस रोग में लाभ होता है।

Pernicious Anaemia:- के लिये Vitamin B_{12}. (Anacobin Macrabin) १०० माइक्रो ग्राम की मात्रा में मांस द्वारा कुछ दिन तक दिया जाता है। रोगी की अवस्था के सुधर जाने पर फिर ५०,१०० माइक्रो ग्राम मात्रा में इसका महीने में एक या दो बार प्रयोग जारी रखा जाता है। इस औषधि के साथ लोह का प्रयोग भी भोजन बाद कुछ काल तक किया जाता है। Vitamin B_{12}. के भोजन जैसे दूध (१०० ग्राम में १० माइक्रो०) आटा (१०० ग्राम में ०.७ माइक्रो०), अंडा (१०० ग्राम में ०.५ माइक्रो०) आदि भी देने चाहियें।

लोहे की न्यूनता से उत्पन्न पांडु :- Dyshaemopoietic Anaemia Due-To Iron Deficiency:- की चिकित्सा

इस पांडु रोग में Ferri et ammonium Citras १० से ३० ग्रेन की मात्रा में Aqua Choroform १ औंस में मिलाकर दिन में तीन बार भोजन बाद दे देना चाहिये। या Ferrous Sulphate ३ ग्रेन की गोली के रूप में तीन बार भोजन बाद, या Ferrous Gluconate ५ ग्रेन Ferrous Succinate

२ $\frac{१}{२}$ ग्रेन की बनी गोली दिन में तीन बार भोजन बाद दी जाती हैं। या केवल Ferrous Gluconate (Fergon) ५ ग्रेन की १,२ गोलियाँ या Fersolate (Ferrous Sulph: ३/७ ग्रेन, Copper Sulph: १।१०० ग्रेन Managanese Sulphate १।१०० ग्रेन Glaxo) ३ ग्रेन की गोलियाँ तीन बार भोजन बाद दी जाती हैं। लोहे के शरीर में विलयन के लिये Ascorbic Adic १००,१५० मिलिग्राम मात्रा में प्रतिदिन देना चाहिये।

१,१ $\frac{१}{२}$ वर्ष की आयु के,हब्बे के दूध या माता के दूध पर ही पोसे गये बालकों में लोह की न्यूनता से जो पांडु रोग होता है उसके लिये Ferri et Ammonium Citras १$\frac{१}{२}$ ग्रेन की मात्रा में Aqua Chloroform मिलाकर दूध के साथ दिन में तीन बार देना चाहिये या Ferrous Sulphate १ ग्रेन की मात्रा में Dilute Hypophosphorus Acid. $\frac{१}{२}$ कं, Dextrose १५ ग्रेन Acqua Chloroform १ ड्राम में मिलाकर दिन में तीन बार दिया जा सकता है या Fersolate को पानी में मिला कर बालक के दूध में दे सकते हैं।

लोह युक्त आहार द्रव्य जैसे मसूर की दाल, १ औंस में २.१७ मिलिग्राम, पत्र गोभी,(१ औंस .२५ मिलि०) गाजर,(१ औं० .१६ मिलि०) सेब (१ औंस .०८ मिलि०) शलगम(१ औं० .११ मिलि०) आलू(१ औं० .२१ मिलि०) आटा(१ औं० .४५ मिलि०) अंडा (१ औं० .७२ मिलि०) संतरा (१ औं० .०७ मिलि०) प्याज(१ औं०.०६ मिलि०) आदि में से किन्हीं द्रव्यों का प्रयोग करने से भी पांडु रोग ठीक होता है।

Hemolytic Anaemia: रक्त नाश जनित पांडु चिकित्सा :-

Acquired Haemolytic Jaundice. के लिये जीवाणु नाशक (Antibiotic या Anti Infective) औषधियों के प्रयोग से तथा बलवर्धक (Supportive) चिकित्सा से लाभ होता है। जिन औषधियों या विषों के कारण रक्त कण नष्ट हो रहे हों उनका प्रतिकार करना चाहिये। इस पांडु में Cortisone के प्रयोग से भी सामयिक लाभ होता है।

Chronic Haemolytic Jaundice:- के लिये अधिक गर्मी,तेज धूप,अति शारीरिक श्रम,तीक्ष्ण उष्ण गुण औषधियों और उन आहार द्रव्यों से सदा बचना चाहिये।

आयुर्वेद में पांडु रोग

आयुर्वेद में पांडु रोग चार प्रकार का कहा गया है।

वातिक पांडु :-

शरीर को दुर्बल कर देने वाले कारणों से उत्पन्न हुई रक्त की न्यूनता

१ १/२ ग्रेन की आधी गोली दिन में तीन बार भोजन बाद दी जाती है। यह फेरस Ferrous Gluconate (Fergon) ५ ग्रेन की १-२ गोलियाँ या Fersolate (Ferrous Sulph: ३ ग्रेन, Copper Sulph: १/१०० ग्रेन Manganese Sulphate १/१०० ग्रेन Glaxo) ३ ग्रेन की दो गोलियाँ तीन बार, भोजन बाद दी जाती है। साथ में खून के निर्माण के लिये Ascorbic Acid ५०-७५ मिलीग्राम मात्रा में प्रतिदिन देना चाहिये।

१.५ १/२ ड्राम की मात्रा बच्चों के एक वर्ष तक की मात्रा में दी जाती है। बच्चों में दांत की अधिकता में भी प्रयोग होती है। Ferri et Ammonium Citras १ १/२ ग्रेन की मात्रा में Aqua Chloroform मिलाकर बच्चों के दिन में तीन बार देना चाहिये या Ferrous Sulphate १ ग्रेन की मात्रा में Dilute Hypophosphorus Acid. १/२ ड्राम, Dextrose २५ ग्रेन Aqua Chloroform १ ड्राम में मिलाकर दिन में तीन बार पिलाया जा सकता है या Fersolate की गोली भी बच्चों को दी जा सकती है।

लोह युक्त आहार द्रव्य जैसे कलेजी (१ औंस में ०.७ मिलीग्राम), अंडे (१ औंस ०.२५ मिग्रा०) बादाम (१ औंस ०.११ मिग्रा०) सेब (१ औंस ०.०८ मिग्रा०) खजूर (१ औंस ०.११ मिग्रा०) अंगूर (१ औंस ०.२८ मिग्रा०) टमाटर (१ औंस ०.१५ मिग्रा०) पालक (१ औंस ०.७२ मिग्रा०) मटर (१ औंस ०.०७ मिग्रा०) आलू (१ औंस ०.०८ मिग्रा०) आदि में से किसी एक या अधिक को पांडु में लाभ के लिए दिया जाता है।

Hemolytic Anaemia: रक्त नाश जनित पांडु चिकित्सा :-

Acquired Haemolytic Jaundice में रोग के कारण (Antibiotic या Anti Infective) औषधियों के प्रयोग से उपचार (Supportive) चिकित्सा की जाती है। जिन औषधियों का रक्तकणों के नाश से सम्बन्ध हो उन्हें तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। इस रोग में Cortisone के प्रयोग से भी लाभ होता है।

Chronic Haemolytic Jaundice:- में तिल्ली निकाल देने से, अस्थिमज्जा आदि की चिकित्सा इत्यादि उपचारों द्वारा रक्त की कमी पूरी करनी चाहिये।

बच्चों में पांडु रोग

बच्चों में पांडु रोग बहुत प्रायः पाया जाता है।

कारण पांडु :-

भोजन की कमी या लोह तत्व वाले भोजन की अधिकता से रक्त की कमी हो जाती

को जिसमें शरीर के अंदर बल क्षय के सूचक लक्षण विशेष होते हैं तथा निर्बलता के कारण ही जिसमें त्वचा का रंग कुछ काला हो जाता है वातिक पांडु कहा जाता है। ॥ च। चि। १६॥

पैत्तिक पांडु :-

शरीर में रक्त आदि धातुओं के पचन करने को बढ़ाने वाले कारणों से उत्पन्न हुई रक्त की न्यूनता को जिसमें पित्त (Bilirubin) की उत्पत्ति की अधिकता के कारण त्वचा, मूत्र, पुरीष आदि में पीत वर्ण झलकता है पैत्तिक पांडु कहते हैं।

श्लैष्मिक पांडु :-

नाना विध कारणों से शरीराग्नि के मंद हो जाने पर जो रक्त की न्यूनता होती है जिसमें अन्नारुचि, छर्दि, गुरुता (पेट में भारीपन) आदि लक्षण विशेष होते हैं तथा जिसमें xxx त्वचा, नेत्र, मूत्र पुरीष आदि का रंग श्वेत वर्ण होता है उसे xxx श्लैष्मिक पांडु कहा जाता है।

त्रिदोषज पांडु :-

एक तो शरीर को दुर्बल कर देने वाले कारणों दूसरा उस की रक्त आदि धातुओं का अधिक मात्रा में पचन करने वाले कारणों तथा तीसरा पाचक अग्नि को मंद कर देने वाले कारणों से जो रक्त की न्यूनता होती है जिसमें बल क्षय, पीत वर्णता, तथा अन्नारुचि तथा त्वचा में कृष्णता, पीतता और श्वेतता आदि तीनों दोषों के प्रकोप के लक्षण मिश्रित होते हैं उसे त्रिदोषज पांडु कहा गया है। इस प्रकार आयुर्वेद के वातिक पांडु से Dyshaemopaietic. पित्त पांडु से Haemolytic तथा कफ पांडु में यकृत्रोग वृक्क रोग आदि से उत्पन्न पांडु से और त्रिदोषज से Pernicious पांडु का xxx अभिप्राय प्रतीत होता है।

बहुपित्ता कामला :-

पित्त पांडु जनित कामला (Haemolytic Jaundice)

पित्त पांडु में तीक्ष्ण उष्ण गुण आहार विहार औषधि आदि का सेवन किया जाय तो रक्त के पचन की अधिकता से पांडुता के साथ त्वचा में पीलापन भी झलकने लगता है। इसे बहुपित्ता कामला (Haemolytic Jaundice) कहा जाता है। इसमें यकृत् रुग्ण नहीं होता। प्लीहा वृद्धि बढ़ी हुई हो सकती है। मूत्र में Urobilin अधिक होता एवं वह पीला होता है। ॥ च। चि। १६॥ ३४

पांडु रोग चिकित्सा :-

वातिक पांडु चिकित्सा :- वात प्रधान पांडु रोगों में जिनमें रक्त निर्माण भी मंद होता है पहले घृत पान कराकर शोधन करना चाहिये।

जिससे रक्त निरोध को बंद कर देने वाले विष द्रव्य या दोष का शोधन हो जाय तथा रोगी निर्बल भी न हो। इसलिये दूध या घृत के साथ हरीतकी चूर्ण का या आरग्वधादि क्वाथ या किसी मृदु रेचक औषधि का प्रयोग कुछ काल करना चाहिये। रोगी निर्बल न हो इसके लिये दूध, चावल या किसी दाल के यूष या मांस रस के साथ रोटी या चावल का आहार देना चाहिये। शरीर शोधन के बाद उसकी शक्ति को बढ़ाने के लिये दूध, तक्र, घृत आदि उत्तम आहार दशमूलारिष्ट तथा बहुत बार गो मूत्र से भावित किये हुये ~~ब~~ या गोमूत्र में पकाये हुये मंडूर या लौहभस्म का कुछ महीनों तक प्रयोग जारी रखना चाहिये।

पित्त पांडु की चिकित्सा :-

पित्त पांडु तथा शाखाश्रित कामला में त्रिवृत तथा खांड के सेवन के द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिये या त्रिफला या कुटकी का ३ से ६ मासे की मात्रा में कुछ काल प्रयोग करके शरीर का शोधन करना चाहिये। अथवा फल त्रिकादि क्वाथ (त्रिफला, गुडुची, वासा, कुटकी, चिरायता, नीम) मधु के साथ पिलाते रहना चाहिये।

शरीर शोधन के साथ गोमूत्र भावित मंडूर का मधु से या लौह भस्म या लौहासव, त्रिफलासव, उशीरासव, ~~xxxx~~ आमलक्यासव आदि किसी पित्त शामक औषधि का प्रयोग करना चाहिये।

श्लैष्मिक पांडु :-

श्लैष्मिक पांडु में भी पांडु कारक विष या दोष का शोधन करने के लिये शरीर का कुटकी क्वाथ से शोधन करना चाहिये तथा पाचक अग्नि को बढ़ाना चाहिये। यकृद्रोग की निवृत्ति के लिये गोमूत्र से भावित हरीतकी द्वारा शोधन करना ठीक है। इस के साथ साथ गोमूत्र भावित मंडूर ~~का~~ या पंचामृत लौह मंडूर या पुनर्नवा मंडूर का कुछ काल निरंतर प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार वात प्रधान पांडु रोगी को स्निग्ध तथा पौष्टिक चिकित्सा से, पित्त प्रधान पांडु रोगी को शीत चिकित्सा से तथा कफ पांडु रोगी को रूक्ष तथा उष्ण चिकित्सा से लाभ होता है। ॥ सु० उ० ४४॥

रक्त स्राव :- Purpura:

रक्त के जम जाने, स्कन्दित होने (Coagulation) की प्रक्रिया :-

१... प्लाज्मा में कैल्शियम होता है। जो रक्त के जमने के लिये आवश्यक है। इसे Oxalate या Citrate के द्वारा पृथक कर सकते हैं।

२... प्लाज्मा में Prothrombin तथा Fibrinogen दोनों Globulins परस्पर मिले हुये रहते हैं जिनमें से Prothrombin को पहले प्लाज्मा में Oxalate और फिर Acetone डालकर पृथक किया

जा सकता है। इसी प्रकार रक्त में Oxalate डालकर और फिर Centrifuge के द्वारा रक्त कणों के दूर हो जाने पर उसमें Ammonium Sulphate डाल देवें तो उसमें से Fibrinogen Globulin पृथक हो जाता है।

३.. रक्त के जम जाने के बाद बचे हुये Serum में से एक पदार्थ Thrombin पृथक किया जा सकता है।

४.. इस Thrombin को यदि Fibrinogen में मिलाया जाय तो वह Fibrin या एक स्कंध या रक्त खंड (Thrombus) बन जाता है।

५.. Oxalate मिश्रित प्लाज्मा को Centrifuge करने पर नीचे प्राप्त हुये Precipitate में एक पदार्थ होता है जिसे Thromboplastin कहते हैं। इसे Prothrombin में मिलाया जाय तो वह Thrombin में परिवर्तित हो जाता है। शरीर के किसी बचाव से मिले विशेषतः Platelets से उत्पन्न Extract को रक्त में मिलाया जाय तो उसका Prothrombin शीघ्र Thrombin में परिवर्तित हो जाता है और वह फिर रक्त के Fibrinogen को Fibrin में परिवर्तित करने का कार्य करता है।

जब क्षत या आघात के कारण से शरीर की एक रक्त वाहिनी हत हो जाती है अर्थात् उसकी दीवार में छिद्र हो जाता है तो रक्त के अंदर ही इसे भरने की एक प्रक्रिया होने लगती है। पहले तो वहां के पृष्ठ के विषम हो जाने तथा वहां पर रक्त गति के कुछ मंद हो जाने से Platelets बहुत अधिक मात्रा में जमा होने लगते हैं। इनमें से कोई Vasotonic द्रव्य निकलता है। जिससे रक्त वाहिनि की Smooth Muscle संकुचित हो जाती हैं एवं उसका छिद्र छोटा हो जाता है। दूसरे वहां पर भारी संख्या में एकत्रित हुए Platelets के Cytoplasm में से Pseudopodia निकल कर छिद्र के किनारों से चिपक जाते हैं तथा प्लेट लेट परस्पर एक दूसरे से भी चिपक जाते हैं। इनमें से निकले हुये Thromboplastin के द्वारा वहां एकत्रित हुए रक्त के Prothrombin के Molecules में ऐसा परिवर्तन होता है कि उनसे एक सक्रिय नया पदार्थ Thrombin उत्पन्न हो जाता है। इसके उत्पन्न हो जाने पर Platelets में से और अधिक Thromboplasting उत्पन्न होता है और इसके परिणाम स्वरुप और अधिक Thrombin उत्पन्न होता है। जो रक्त में घुले हुये Fibrinogen Globulin को Fibrin नामक अघुलनशील जाल के ढेर में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार Platelets और Fibrin इन दो के द्वारा एक डाट सा बन जाता है जो रक्त वाहिनी में हुये छिद्र को भर देता है। फिर यह डाट (Clot) संकुचित (Contracted) होने लगता है अर्थात् इनमें से Serum पृथक हो जाता है और इसके संकुचित होने से छिद्र के

किनारे समीप समीपतर जाते हैं और फिर यह डाट रक्तवाहिनी की दीवार का ही एक भाग बन जाता है। रक्त के ठीक ठीक जमने के लिये रक्त में जिन जिन द्रव्यों का होना आवश्यक है उनमें से एक तो Calcium है जिसके विषय में १८६० में पता लग चुका था। इसके बाद १९०५ में Morawitz ने रक्त के जमने की प्रक्रिया पर बहुत प्रकाश डाला। उसने बताया कि Thromboplastin रक्त के अंदर विद्यमान Prothrombin को Thrombin में परिवर्तित कर देता है। तथा इस परिवर्तन के लिये रक्त में Calcium का होना आवश्यक है। फिर यह Thrombin, Fibrinogen को Fibrin में बदलने का काम करता है।

१९४७ में Quick तथा Brink House ने Thromboplastin की उत्पत्ति पर विशेष प्रकाश डालते हुये बताया कि रक्त में एक और Globulin है जिसे उन्होंने Antihaemophilic Globulin का नाम दिया। इस पर Platelets से निकले किसी द्रव्य का प्रभाव होने से Thromboplastin उत्पन्न होता है। अर्थात् रक्त के जमने के लिये Platelets के अतिरिक्त रक्त में एक Antihaemophilic Globulin का होना अत्यावश्यक है।

इसके बाद Plasma में और Serum में विद्यमान कुछ और तत्वों का भी पता लगा कि जो रक्त के जमने में सहायक होते हैं। इनमें से एक को जो प्लाज्मा में रहता है और इसके जम जाने के बाद नष्ट हो जाता है Plasma Prothrombin Accelerator Factor V कहते हैं। यह नश्वर या Labile है और बाद में बचे Serum में नहीं रहता। इसकी अनुपस्थिति में भी Prothrombin का Thrombin में परिवर्तन विलम्ब से होता है। दूसरा एक पदार्थ जो प्लाज्मा के जम जाने के बाद भी रस में रहता है तथा प्लाज्मा में विद्यमान अपने किसी पूर्व रूप (Precursor) से उत्पन्न होता है तथा शरीर के बहुत काल तक र खने पर भी नष्ट नहीं होता अर्थात् स्थिर (Stable) होता है। इसे Serum Prothrombin ~~and~~ Accelerator Factor VII कहा जाता है। ये दोनों फैक्टर Thromboplastin की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

१९५३ में Biggs, Dougls तथा Macfurlane ने बताया कि रक्त में Thromboplastin की ठीक ठीक उत्पत्ति के लिये तथा उसके द्वारा इसके जमने के लिये Platelets, Antihaemophilic Globulin, Factor V, Factor VII तथा Calicum के अतिरिक्त एक और आवश्यक तत्व भी होता है जिसे उसने Christmas Factor का नाम दिया। यह रचना में तो Factor VII के सदृश तथा कार्य में Antihaemophilic Globulin की तरह का होता है। इसकी उत्पत्ति क्योंकि कुछ देर में होती है अर्थात् २ से ८

पिण्ड में होती है इसीलिये नार्मल रक्त का जमने का समय कुछ देर होता है। जब कि प्लाज्मा में Stock Tissue Thromboplastin मिलने से वह इस समय से पहले ही जम जाता है।। Vitamin K के देने से Prothrombin और संभवत: Serum Prothrombin Accelerator Factor VII की वृद्धि होकर रक्त जमने (Coagulation) की प्रक्रिया तीव्र तर हो जाती है। इसके विपरीत Decoumarin किस्म की औषधियों के देने से Factor VII की क्रिया मंद हो जाती है जिससे Thromboplastin की उत्पत्ति कम होती एवं रक्त में Thrombus की उत्पत्ति मंदता से होती है।

२.. Vitamin "K" या Prothrombin की न्यूनता से होने वाला रक्त स्राव Haemorrhagic Dis+ease due to Hypoprothrombinaemia.

(क) नवजात शिशु रक्त पित्त :- Purpura Neonatorum Melaena Neonatorum, Haemorrhagic Disease of the new born Primary Hypoprothrombinaemia.

२००, ३०० नवजात शिशुओं में से एक में अर्थात् कभी कभी जन्म के दूसरे तीसरे दिन रक्तातिसार हो जाता है अथवा उसकी नाभि में से रक्त स्राव हो जाता है। माता का दूध पीने के बाद अर्थात् जन्म के तीन चार दिन बाद फिर यह रोग नहीं होता। माता में Vitamin "K" की न्यूनता के कारण उसके शिशु के यकृत में Prothrombin की अति न्यूनता हो जाती है। आंत में विद्यमान Saprophyted के द्वारा Vitamin "K" उत्पन्न होता है। नव जात शिशु की आंत में ये जीवाणु भी उत्पन्न नहीं हुये होते। इसे यह रोग न हो इस उद्देश से प्रसव के आरंभ में माता को २५ मिलिग्राम के लगभग Vit:"K"(Manaphthone) मुख द्वारा दे दिया जाता है।

(ख) Vitamin "K" या Prothrombin की न्यूनता से होने वाला रक्त स्राव, Acquired Hypoprothrombinaemia:- जीर्ण ग्रहणी रोग, जीर्ण व्रणोत्पत्ति अतिसार (Ulcerative Colitis) में Vitamin "K" की न्यूनता का हो जाना स्वाभाविक है जिससे यकृत में Prothro-mbin की उत्पत्ति कम होती है। इसी प्रकार पीलिया (Infective Hepatitis) तथा जीर्ण यकृद्रोग (Hepatic-Cirrhosis) में जब यकृत के सेल रुग्ण होते हैं Prothrombin का निर्माण कम ही कम होता है। Vitamin "K" स्नेह में घुलने वाला पदार्थ है और स्नेह के पूर्ण विलयन के लिये आंत में पित्त का उचित मात्रा में होना आवश्यक है। इसीलिये यकृद्रोग में जब पित्त आंत में कम पहुंचता है Vitamin "K" का विलयन भी कम हो जाता है। इसी प्रकार

Decoum-qrol: इस Anticoagulant औषधियों के अति प्रयोग से भी शरीर में Prothrombin की न्यूनता होकर रक्त स्राव हो सकता है। इन औषधियों के कारण पहले पहल मूत्र में रक्त आता है। अतः इनके प्रयोग के समय मूत्र परीक्षा करनी आवश्यक होती है। जब शरीर में Vitamin "K" की न्यूनता हो यकृत में Prothrombin कम बनता हो तब Coagulation Time तथा Prothrombin Time दोनों ही बढ़ जाते हैं। Coagulation Time:- जानने के लिये रक्त वाहिनी में से सीधे रक्त को एक Watch Glass में ले लिया जाता है। पहले तो यह रक्त तरल रहता अर्थात् हिलता डुलता है। ३ से १० मिनट में यह जम जाता है और फिर हिलना डुलना बंद कर देता है। Vitamin "K" की न्यूनता में यह समय दीर्घ हो जाता है। Prothrombin Time:- रक्त लेकर उसे ३७ सेन्टीग्रेट पर रखकर उसमें Standard Solution of Oxalate. मिलाया जाता है, जिससे रक्त का Calcium पृथक हो जाता है। अब पहले इसमें Tissue Extract अर्थात् Thrembo Plastin मिलाया जाता है और उसके बाद इसमें Calcium के मिलाने के बारह सेकिन्ड में रक्त जम जाता है। जब रक्त में Prothrombin कम होता है अर्थात् Vitamin "K" या यकृत के सैलों में निर्बलता होती है तो यह Prot-hrombin Time १२ सेकिन्ड से लंबा हो जाता है।

२.. Platelets की न्यूनता से होने वाला रक्त स्राव :-

Platelets की सहज न्यूनता से होने वाला रक्त स्राव, Primary Thrombocytopenic Purpura:-

किसी किसी बाल्यावस्था तथा युवावस्था के व्यक्ति में Platelets की सहज न्यूनता के कारण त्वचा में या नाक, मुख, आमाशय पेट गर्भाशय आदि किसी द्वार से रक्त स्राव हो जाता है अथवा उसके क्षत हुये प्रदेश से रक्त स्राव देर तक होता रहता है अर्थात् Bleeding Time जो साधारणतः २,४ मिनट का होता है इनमें अधिक लंबा होता है। रक्त की परीक्षा करने पर इनके रक्त में Platelets एक क्यूबिक मिलीमीटर में २ लाख के स्थान पर ६० हजार के लगभग या इससे भी कम पाये जाते हैं जिससे इनमें रक्त वाहिनियों में उत्पन्न हुये छिद्र को भरने की शक्ति कम होती है। प्लेटलेट्स में से इनमें Thromboplastin की उत्पत्ति होकर रक्त में जमने की प्रक्रिया तो होती है पर Platelets की संख्या के कम हो जाने पर वह छिद्र भली प्रकार से बंद नहीं हो पाता जिससे इस रोगी में यद्यपि जमने का समय (Coagulation Time) तो नार्मल अर्थात् ३ से १० मिनट का होता है पर Bleeding Time लंबा होता है। टांगों पर जहाँ रक्त वाहिनियों के अंदर उनका रक्त का दबाव अधिक रहता

या जहाँ पर वाह्य आघातों के लगने का अवसर अधिक रहता है। लाल चकते Petechiae या Ecchymoses निकलते रहते हैं अथवा किसी एक द्वार से समय समय पर रक्त स्राव होता रहता है।

इस रोग के विषय का पता पहले पहल १६१० में Duke ने लगाया कारण के विषय में एक मत तो यह है कि मज्जा में Platelets का विकास ठीक ठीक नहीं होता जिससे अपूर्ण विकसित Platelets रक्त में संचार कर जाते हैं और जैसे प्लीहा यकृत मज्जा आदि के Reticuloendothelial-Cells. के द्वारा अपूर्ण परिणत रक्त कणों (Megalocytes) के अधिक अति मात्रा में नष्ट होने से Macrocytic Anaemia होता है वैसे ही शरीर में Platelets के अधिक मात्रा में नष्ट होते रहने से Thrombocytopenic Purpura का रोग हो जाता है। देखा गया है कि पूर्ण परिणत हुये छोटे Platelets से जैसा Thrombus बनता है वैसा वह आकार में बड़े दीखने वाले Platelets के द्वारा नहीं बनता।

दूसरा मत यह है कि इस रोग से युक्त रोगी के प्लाज्मा में कोई ऐसे Antibodies या Platelet Agglutinins रहते हैं जो Platelets को अति मात्रा में नष्ट करते रहते हैं। रोगी के प्लाज्मा को स्वस्थ व्यक्ति में प्रविष्ट किया जाय तो उसके रक्त में भी Platelets की न्यूनता हो जाती है। यह प्लेट्लेट का तोड़ने वाला Thrombocytolytic पदार्थ प्लाज्मा के (Globulin) भाग में रहता प्रतीत होता है।

३. प्लाज्मा में Antihaemophilic Globulin की न्यूनता से उत्पन्न होने वाला रक्त स्राव :-

पैतृक रक्त पित्त : - Haemophilia:

सहज रक्त स्राव का रोग किसी किसी परिवार में माता के द्वारा पैतृक परंपरा से आता है अर्थात् उन परिवारों के व्यक्तियों के रक्त में स्वभावतः Antihaemophilic Globulin की न्यूनता होती है। जिससे Platelets के उचित मात्रा में होने पर भी उनके रक्त में Thromboplastin की उत्पत्ति उचित मात्रा में नहीं होती।

सौभाग्य से यह रोग बहुत कम होता है। जब होता है तो बालक में दूसरे वर्ष के अंदर ही इसके लक्षण प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उसके किसी अंग पर स्वल्प आघात लगने पर भी त्वचा के अंदर रक्त स्राव होकर Haematoma बन जाता या लाल रंग का चकत्ता बन जाता है। बालक के रिड़ने पर उसके घोड़े भीतर में रक्त स्राव हो जाने के कारण सूज जाते हैं। त्वचा में क्षत होने पर भी वहाँ से अधिक रक्त स्राव होता है।

रोगी के रक्त में जमने की प्रक्रिया अति मंद रूप में होती है अर्थात् इसके रक्त का Coagulation Time ६, ५० मिनट लंबा होता है परंतु यदि इसे सुई चुभोई जाय तो Platelets के साधारण मात्रा में होने के कारण वहाँ का छिद्र तो बंद हो जाता है अर्थात् Bleeding Time तो लगभग साधारण या कुछ लंबा होता है पर Coagulation Time असाधारण तौर से लंबा होता है। इस परिवार के बालकों में पहले भी इस रोग के होने का इतिवृत्त होता है।

४.. <u>सिरा भित्ति जनित रक्त स्राव :—</u> Vascular Purpura, Capillary Purpura, Haemorrhagic Capillary Toxicosis, Anaphylactoid Purpura.

बालकों और नवयुवकों में एक रक्त स्राव पाया जाता है जो उनकी सूक्ष्म सिराओं (Capillaries) के Callagen Tissue की असहनशीलता (Hypersensitivity एवं Permeability) के बढ़ जाने के कारण होता है। सिराओं के Collagen Tissue को विकृत करने वाला पदार्थ कोई विष (Toxin) होता है अर्थात् Streptococcal, Malarial Meningococcal, Enteric या Eruptive Fever संबंधी विष इस रोग का कारण हो जाते हैं। भोजन संबंधी कोई तीक्ष्ण पदार्थ या कोई तीक्ष्ण औषधि किसी व्यक्ति की सिराओं पर विष का सा प्रभाव करके रक्त स्राव का कारण हो सकती है। यह रोग निम्नलिखित रूपों में देखा जाता है।

१.. <u>Purpura Simplex:-</u>

बालक या नवयुवक को विष संचार (Toxaemia) के लक्षणों अर्थात् सिर दर्द और कुछ ज्वर के साथ शाखाओं की त्वचा में रोम कूपों के चारों ओर के प्रदेश में शीत पित्त सदृश रक्त वर्ण चकते निकल आते हैं। कोहनी के आसपास निचली टाँगों के अगले पृष्ठ पर पिंडों पर पैरों पर दबाव पड़ने के स्थान की त्वचा में ये लाल चकते विशेषतः दीखते हैं। सिराओं में से निकले रक्त कणों के कारण ये चकते लाल होते हैं। तथा इनमें से निकले (Plasma) के कारण ये उभरे हुये भी होते हैं। इस प्रकार यह रोग एक प्रकार का शीत पित्त सदृश (Urticarial) Purpura है। कभी कभी इस रोग के कारण हाथ, पैर, निचली टाँग या चेहरे पर दर्द का उभार या (Angioneurotic Oedema) भी हो जाता है।

<u>Abdominal Purpura, Henoch's Purpura:- आन्त्रिक रक्तस्राव:-</u>

बालक या नवयुवक के कभी कभी त्वचा में रक्त स्राव होने के साथ साथ आमाशय तथा आंत की दीवार के किसी भाग की सिराओं

[illegible]

[illegible] Coagulation Time [illegible]

[illegible] Platelets [illegible]

[illegible] Bleeding Time [illegible]

[illegible] Coagulation Time [illegible]

[illegible]

[illegible]

४. [illegible] :- Vascular Purpura, Capillary Purpura, Haemorrhagic Capillary Toxicosis, Anaphylactoid Purpura.

[illegible] (Capillaries) [illegible] Collagen Tissue [illegible] (Hypersensitivi-ty Permeability) [illegible] Collagen Tissue [illegible] (Toxin) [illegible] Streptococcal, Malaria Malarial Meningococcal, Enteric [illegible] Eruptive Fever [illegible]

५. Purpura Simplex:-

[illegible] (Toxaemia) [illegible] (Plasma) [illegible] (Urticarial) Purpura- [illegible] (Angioneurotic Oedema) [illegible]

Abdominal Purpura, Henoch's Purpura:-

[illegible]

से Serem तथा रक्त के पर्याप्त मात्रा में परिस्रुत हो जाने से इनका एक भाग मोटा और कठोर हो जाता है जिससे रोगी को पेट में भारी दर्द होती या कै वमन होती है या अवरोध या अतिसार के लक्षण हो जाते हैं। परीक्षा करने पर पेट कठोर दीखता तथा रोगी को हलका ज्वर भी होता है। यदि त्वचा पर Purpura Simplex का लक्षण हो तो इस रोग के निश्चय करने में कठिनता नहीं होती। आमाशय या आंत में हुआ रक्त स्राव जनित यह शोथ एक आधा दिन में ठीक हो जाता है परंतु इसके दुबारा होने की आशंका करनी चाहिये।

संधि में रक्त स्राव :- Rheumatic Purpura, Schonalein's Purpura:-

नवयुवक व्यक्ति में Purpura Simpleex. के लक्षणों के साथ साथ किसी संधि की जैसे कोहनी या गोड़े की सिरायों में से परिस्रवण होकर संधि में या तो केवल Plasma या रक्त कणों से युक्त Plasma एकत्रित हो जाता है जिससे इसमें दर्द होने लगता है। परीक्षा करने पर संधि कुछ कुछ फूली हुई होती है पर रक्त की नहीं होती। त्वचा में कहीं पर लाल चकत्ते भी हों तो आम वातिक संधि शोथ (Rheumatic Arthritis) से इस का भेद सुगम हो जाता है, ~~किया जा सकता है~~।

५.. शारीरिक विष के कारण रक्त स्राव :-

जीर्ण वृक्क रोग में (Uraemia) के उपद्रव के रूप में रक्त वाहिनियों पर दुष्प्रभाव होकर आमाशय, आंत, मस्तिष्क आदि में रक्त स्राव हो सकता है। पहले नाक से रक्त स्राव (Epistaxis) का लक्षण होता है। इसी प्रकार (Infective Hepatitis) में Cholaemia का रक्त वाहिनियों पर दुष्प्रभाव होकर आमाशय, आंत, आदि से रक्त स्राव हो सकता है तथा त्वचा पर चकत्ते (Petechiae) निकल सकते हैं।

रक्त स्राव की चिकित्सा :-

Hypoprothrombinaemia ~~xxxxxx~~ में विटामिन K के अभाव या Vitamin K_1 (2-Mehthyyl 3 Phytyl-4-Nephthoquinone) के स्थान पर Water Soluble Synthetic Vitamin.K. कैप्सूल में १० मिलिग्राम मात्रा में मिलता है। उदाहरणतः Synkavit (Roche) या Kapilin(Glaxo) Menadione Prokayvit.) १० से २० मिलिग्राम की दैनिक मात्रा में त्वचा या मांस द्वारा दिये जाते हैं। गुल्मी कामला आदि से उत्पन्न Prothrombin की न्यूनता इसके ३,४ दिन के प्रयोग से ठीक हो जाती है। यकृत रोग जनित रक्त स्राव में इससे अधिक लाभ नहीं होता। नवजात शिशु के रक्त स्राव के लिये Synkavit १ मिलिग्राम की मात्रा में मांस द्वारा या ५ मिलिग्राम मुख द्वारा ८ घंटे के अंतर से दो तीन बार देने से लाभ हो जाता है। यह रक्त स्राव न हो इस उद्देश्य

[illegible] Serum [illegible]

[illegible] Purpura Simplex [illegible]

[illegible] :- Rheumatic Purpura, Schonalein's Purpura:-

[illegible] Purpura Simplex. [illegible]

[illegible] Plasma [illegible] Plasma [illegible]

[illegible] (Rheumatic Arthritis) [illegible]

[illegible]

[illegible] :-

[illegible] (Uraemia) [illegible]

[illegible] (Epistaxis) [illegible]

[illegible] (Infective Hepatitis) [illegible] Cholaemia [illegible]

[illegible] (Petechiae) [illegible]

[illegible] :-

Hypoprothrombinaemia [illegible] K [illegible] Vitamin K_1 (2-Methyl 3 Phytyl-4-Naphthoquinone) [illegible] Water Soluble Synthetic Vitamin K. [illegible] Synkavit (Roche) [illegible] Kapilin (Glaxo) [illegible] Menadione Prokavit.) [illegible] Prothrombin [illegible] Synkavit [illegible]

३ Menaphthone १५ मिलिग्राम मात्रा में प्रातः के प्रसव से पहिले दे दिया जाता है।

अज्ञात कारण जनित रक्त स्राव अर्थात् Idiopathic Thrombocytopenic Purpura:-

कोर्टिसोन Cortisone (Corlin) के २००, ३०० मिलिग्राम या Corticotrophin के ८०, १०० मिलिग्राम या Prednisone/ Deletacorlintab: Deltacortone के ६० मिलिग्राम दैनिक मात्रा में १५, २० दिन तक देने से बहुधा लाभ हो जाता है। इनके प्रयोग से यदि तो Platelets की मात्रा बढ़ जाती है तो स्थायी लाभ हो जाता है परंतु यदि इनके द्वारा केवल शिराओं की दुर्बलता (Fragility) ही शांत हो तो लाभ अस्थायी होता है। Anaphylactoid Purpura में Allergy कारण हो तो Antihistamine Drugs- (Benadryl आदि) २० मिलि दिन में तीन बार देने से और यदि संक्रमण Infection कारण हो तो Penicillin की चिकित्सा से लाभ हो सकता है। पैतृक रक्त पित्त के लिये Thrombin को उस स्थान पर लगा देना चाहिये।

रक्त स्राव की शिरा द्वारा चिकित्सा :- Blood Transfusion:-

Haemophilla, Thrombocytopenia:- तथा Marrow Hypoplasia के कारण रक्त स्राव हो तो रोगी को शिरा द्वारा रक्त देने से लाभ हो जाता है। रक्त ऐसे व्यक्ति का लिया जाता है जिसमें फिरंग, विषम ज्वर तथा Infective Hepatitis में से कोई रोग सर्वथा न हो।

रक्त वर्गीकरण :- Blood Grouping:-

१९०० में Land Steiner ने पहले पहल बताया कि प्रत्येक व्यक्ति का रक्त दूसरे व्यक्ति को शिरा द्वारा नहीं दिया जा सकता। इसका कारण यह है कि कुछ एक के रक्त कणों में Agglutinogens पाये जाते हैं जो A तथा B भेद से दो प्रकार के हैं। Agglutinogen A तो ४२ प्रतिशतक व्यक्तियों के रक्त कणों में पाया जाता है। Agglutinogen B ९ प्रतिशतक के, Agglutinogen A.B. दोनों ४ प्रतिशतक के रक्त कणों में पाये जाते हैं। तथा ४५ प्रतिशतक व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके रक्त कणों में Agglutinogen A, अथवा B. कोई सा भी नहीं होता। इन चारों को क्रमशः A ग्रुप, B ग्रुप, A.B. ग्रुप, तथा जीरो (o) ग्रुप, कहते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन ४२ प्रतिशतक व्यक्तियों के रक्त कणों में Agglutinogen A. होता है उनके Serum में केवल Anti B Agglutinin या Beta Agglutinin (b) ही रह सकता है।

जिन ६ प्रतिशतक व्यक्तियों के रक्त कणों में Agglutinin "B" होता है उनके Serum में Anti "A"Agglutinin या (Alpha Agglutinin (a) ही रह सकता है। जिन ४ प्रतिशतक व्यक्तियों के रक्त कणों में Agglutinogen A तथा B. दोनों होते हैं उनके Serum में Anti A Agglutinin या (Alpha Agglutinin) तथा Anti B Agglutinin या (Beta Agglutinin) कोई भी नहीं रह सकता।

Groups के नाम,	Agglutinogen. जो रक्तकणों में है,	Agglutinin जो Serum में है	प्रतिशतक Groups.
A B (१)	A तथा B	कोई भी नहीं	४
A (२)	A	Beta (Anti:B)	४२
B (३)	B	Alpha(Anti:A)	६
o जीरो (४)	कोई भी नहीं	Alpha, Beta.	४५

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि यदि Agglutiongen A वाले रक्त को किसी ऐसे व्यक्ति को दिये जायें जिसके Serum में Alpha Agglutinin या Anti A हो, तो दिये गये रक्त कण उसके सब Clump या Agglutinate होकर नष्ट हो जायेंगे। इसी प्रकार Agglutinogen B वाले रक्त कण ऐसे व्यक्तियों में जिसके Serum में Anti या Betaagglutinin हो दिये जाने पर नष्ट हो जाते हैं।

इसलिये A B वर्ग का रक्त A B वर्ग के लोगों को निःशय रूप से दिया जा सकता है। A वर्ग का रक्त अर्थात् A Agglutinogen वाला रक्त A वर्ग तथा A B वर्ग के व्यक्तियों को दिया जा सकता है। B वर्ग का अर्थात् Agglutinogen B वाला रक्त B वर्ग के तथा A B वर्ग के व्यक्तियों को दिया जा सकता है। यह ठीक है कि दिये जाने वाले A वर्ग के Serum में Anti या Beta Agglutinin तथा दिये जाने वाले B वर्ग के Serum में Anti A या Alpha Agglutinin है। तथापि रक्त लेने वाले व्यक्ति के अंदर ये इतने हल्के हो जाते हैं कि उसके रक्त कणों को ये कोई हानि नहीं पहुंचा पाते। जीरो वर्ग (O)Group) के व्यक्तियों का रक्त कि जिनमें कोई भी Agglutinogen नहीं है सभी व्यक्तियों को दिया जा सकता है। इनके रक्त के Serum में यद्यपि Anti A तथा Anti B Agglutinin होते हैं। पर ये लेने वाले के रक्त में पहुंचकर इतने हल्के हो जाते हैं कि उसके रक्त कणों को हानि नहीं पहुंचाते।

<u>देने वाले :- Donors:</u> इस प्रकार AB वर्ग का रक्त A B वर्ग को।
A वर्ग का रक्त A तथा A B वर्ग को।
B वर्ग का रक्त B तथा A B वर्ग को।
0 वर्ग का रक्त -- सबको दिया जा सकता है।

लेने वाले :- Recipients:- AB वर्ग के व्यक्ति को सबका ।
A वर्ग के व्यक्ति को A तथा o वर्ग का।
B वर्ग के व्यक्ति को B तथा o वर्ग का।
o वर्ग के व्यक्ति को o वर्ग का रक्त दिया जा सकता है

Grouping: जानने की विधि :-

कोई क्या व्यक्ति किस ग्रुप का है यह जानने के लिये हमारे पास Anti A तथा Anti B. Agglutinins के पृथक पृथक नमूने होने चाहिये जो Refrigerator. में रक्खे जाते हैं। जिस व्यक्ति का ग्रुप जानना हो उसके एक बूंद रक्त को २,३ सी.सी. नार्मल सेलाइन में मिलाकर उसका ३ प्रतिशतक के लगभग का घोल बना लेना चाहिये। फिर एक स्लाइड पर A लिख कर उस पर १ बूंद Anti A Agglutinin की तथा दूसरी पर B लिखकर उस पर एक बूंद Anti B Agglutinin की पृथक पृथक पिप्पट से डाल देनी चाहिये। अब पृथक पिप्पट से इन पर एक एक बूंद उपर्युक्त रक्त घोल की डाल के इन्हें हिला के १०,१५ मिनट रख देना चाहिये। अब जो रक्त का घोल ईंट के चूरे के सदृश हो जाय उस के रक्त वर्गों को Agglulinated हुआ समझना चाहिये।

स्पष्ट है कि यदि दोनों स्लाइडों पर Agglutination हुआ हो तो व्यक्ति को A B वर्ग का समझना चाहिये। B स्लाइड या Anti B Serum --- में Agglutination हो तो व्यक्ति को B Group का समझना चाहिये। A स्लाइड या Anti B Serum में Agglulination हो तो व्यक्ति को A Group का समझना चाहिये। यदि किसी स्लाइड पर भी Agglutination नहीं हुआ तो व्यक्ति को o (जीरो) ग्रुप का समझना चाहिये।

रक्त वर्गों के Agglutinale करता है		व्यक्ति किस वर्ग का है।
Angi B Serum	Anti A Serum	
+	+	A B वर्ग
-	+	A वर्ग
+	-	B वर्ग
-	-	o वर्ग

+ Agglutination का सूचक चिन्ह ।

आयुर्वेद में रक्त स्राव रोग :-

किसी छिद्र अथवा त्वचा से रक्त स्राव हो जाने को आयुर्वेद में रक्त पित्त रोग कहा गया है। क्योंकि रक्त में पक्व की की अधिकता (Haemolysis) से

सर्वग्राही :- Recipients:-AB वर्ग के व्यक्ति सब वर्गों का रक्त ले सकता है।

A वर्ग के व्यक्ति को A तथा O वर्ग का।

B वर्ग के व्यक्ति को B तथा O वर्ग का।

O वर्ग के व्यक्ति को केवल O वर्ग का रक्त दिया जा सकता है।

Grouping: वर्गों का निर्णय :-

दो वर्ग ज्ञात व्यक्ति जिनमें शुद्ध रूप से एक सीरम में रखे हुए Anti A Refrigerator.

तथा Anti B Agglutinins के शुद्ध शुद्ध सुई रख कर रक्खे जाते हैं

रखते हैं। जिस व्यक्ति का शुद्ध वर्गीकरण करना होता है उसकी रक्त की १, २ बूंद लेकर

नार्मल सैलाइन में मिलाकर सस्पेन्शन तैयार कर लेते हैं उसको एक काँच

पट्टिका पर A सीरम के ऊपर एक बूंद Anti A Agglutinin

की तथा दूसरी पर B सीरम के ऊपर एक बूंद Anti B Agglutinin की

डाल देते हैं। उस पट्टिका को कुछ देर के लिए रख देते हैं

इस प्रकार करने से कुछ मिनट में यदि रक्त कण इकट्ठे हो जाते हैं

रक्त कणों का Agglutinated हो जाना समझा जाता है।

इसके बाद उन दोनों पट्टिकाओं पर Agglutination हुआ

या नहीं यह देखा जाता है। यदि दोनों में हुआ हो तो वह व्यक्ति A B वर्ग का समझा जाता है। B पट्टिका पर Anti B Serum

से Agglutination हो तो व्यक्ति B Group का समझा

जाता है। A पट्टिका पर Anti B Serum से Agglutination हो तो व्यक्ति

A Group का समझा जाता है। यदि किसी पट्टिका पर भी

Agglutination नहीं हुआ तो व्यक्ति को O (शून्य) ग्रुप का समझा

जाता है।

व्यक्ति जिस वर्ग का है।	रक्त कणों का Agglutinate होना	
	Anti A Serum	Anti B Serum
A B वर्ग	+	+
A वर्ग	+	–
B वर्ग	–	+
O वर्ग	–	–

+ Agglutination का होना दिखाता है।

रक्तपूर्ति में होने वाले उपद्रव :-

विभिन्न वर्ग के रक्त के मिलने से जो परिणाम होते हैं वे रक्तपूर्ति में होने वाले

उपद्रव हैं। इनमें रक्त कणों का टूटना या विनाश (Haemolysis) है

या किसी तीक्ष्ण उष्ण गुण विष के दुष्प्रभाव रक्त वाहिनियों पर तीक्ष्ण प्रभाव से रक्त स्राव होता है। इसलिये आयुर्वेद में इस रोग को रक्त पित्त कहा गया है।

श्लैष्मिक रक्त पित्त :-

जब देहाग्नि की मंदता के कारण कोई आम विष(Metabolic Toxin) उत्पन्न हो जाता है और रक्त स्राव का कारण बन जाता है तो इसे श्लैष्मिक रक्त पित्त कहा जाता है।

पैत्तिक रक्त पित्त :-

देहाग्नि की तीक्ष्णता के कारण रक्त आदि के अति पक्व से यदि कोई तीक्ष्ण उष्ण गुण द्रव्य (Ketabolic Toxin) उत्पन्न हो जाता है और उसके कारण रक्त स्राव होने लगे तो इसे पैत्तिक रक्त पित्त कहा जाता है।

वातिक रक्त पित्त :-

शरीर को निर्बल कर देने वाले कारणों से जब रक्त अथवा रक्त वाहिनियों की स्वाभाविक प्राण शक्ति क्षीण हो जाय और इस कारण रक्त स्राव होने लगे तो ऐसे रक्त पित्त को वातिक रक्त पित्त कहा जाता है।

।। सु० उ० ।४५।।,तथा ।। च०।चि०।४।।,

रक्त पित्त रोग की चिकित्सा :-

बहुधा यह रोग रक्त में किसी बाह्याभ्यन्तर या कफ पित्त प्रकोप जनित विष द्रव्य के कारण होता है। अतः इस रोग के लिये दोष शोधन चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् एक तो प्रारंभ में रक्त स्राव की उपेक्षा करते हुये दोष को निकलने देना चाहिये। दूसरे निम्न छिद्रों में रक्त जाता हो तो वमन द्वारा तथा ऊर्ध्व छिद्रों में से रक्त जाता हो तो विरेचन चिकित्सा द्वारा शरीर से दोष का निर्हरण करना चाहिये। वासा रस से भावित हरीत की चूर्ण शोधन के लिये उत्तम औषधि या हरड़ और मुनक्कों का क्वाथ जिस में वासा भी मिलाया हो, मिश्री मिला कर दिन में दो,तीन बार देना चाहिये। परंतु यदि रोगी निर्बल हो अथवा रक्त स्राव वात प्रकोप जनित हो तो शीतल गुण तर्पण चिकित्सा करनी चाहिये अर्थात् वात प्रधान रक्त पित्त रोगी को ~~मुलहठीका~~ मुलहठी,अंजीर,मुनक्का,खजूर,शतावरी,गोखरू, या लघु पंचमूल आदि किसी से पकाया हुआ दूध मिश्री मिलाकर दिन में कई बार पिलाना चाहिये तथा रक्त पित्त शामक औषधियों का ही प्रयोग करना चाहिये। वातिक रक्त पित्त के लिये शतावरी घृत,दूध,खजूर, मुनक्के आदि द्वारा शरीर का तर्पण करना चाहिये। क्षय जनित रक्त पित्त में इलायची तथा वंश लोचन आधा आधा माशा मिश्री,आधा तोला के

साथ दिन में चार, छः बार देना चाहिये।

पैत्तिक तथा श्लैष्मिक रक्त पित्त के लिये शोधन के अनुसार रक्त पित्त शामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। जैसे प्रारंभ में तो त्रिफला और अमलतास का क्वाथ, गुड़ डालकर पिलाना चाहिये और फिर दूर्वादि घृत, (दूर्वा रस उत्पल, १६ भाग, घृत ४ भाग, तंडुलोदक, अजाक्षीर १६, १६ भाग, नीलोफर, उशीर, उत्पल, श्वेत चन्दन, चन्दन लाल, मुलहटी, पद्माख, मंजिष्ठा, द्राक्षा, महुवा, मिलोल, १ भाग) या वासा घृत, या वासा खंड कूष्माण्ड, या उशीरासव, दो तो०, या पीपल की लाख को धो साफ कर बराबर मिश्री के साथ मिला बनाया चूर्ण ६ माशा की मात्रा में या मुलहठी ३ माशा, मुनक्का १२ दाने, का एक पाव जल में बना क्वाथ मिश्री डालकर, या स्वर्ण गैरिक, वंशलोचन, इलायची छोटी, नाग केसर, कहरवा, संग जराहत, समान समान मिला कर ६ माशे की मात्रा में या बोल पर्पटी १ तोला, शुक्ति, शंख, प्रवाल, मुक्ता भस्म, दो दो माशे, गैरिक ६ माशे, कहरवा ६ माशे मिला कर इसकी दो माशे की मात्रा, या केवल बोल पर्पटी की १, २ रत्ती की मात्रा में वासा, द्राक्षा और हरीतकी के क्वाथ के साथ या दूर्वा स्वरस के साथ जब तक रक्त बंद न हो तीन तीन घंटे पर देते रहना चाहिये। रक्त स्राव के लिये अजायफल के रस या उसके चूर्ण खिलाने का भी विधान किया गया है।

।। सु० उ० ४५।।, ।। चा। चि ४।।, ।। चक्रदत्त, यो० र०।।,

हृदय रोग
(Diseases of the Heart).

हृदय की रचना :-

गोलाकार रक्त प्रणाली के एक भाग के, आमने सामने, एक दूसरे पर दोहरा हो जाने से, दो कोष्ठकों वाले, हृदय की, उत्पत्ति हो गई प्रतीत होती है। गर्भावस्था में ये दोनों कोष्ठक Foramen Ovale के द्वारा मिले रहते हैं। गर्भावस्था के बाद जब दोनों कोष्ठकों के बीच की दीवार में विद्यमान यह छिद्र बंद हो जाता है तब दोनों, फुफुस के द्वारा परस्पर एक हो जाते हैं अर्थात् दायें कोष्ठक का रक्त Pulmonary Artery के द्वारा फुफुस में और वहाँ से रक्त Pulmonary Veins के द्वारा बांये कोष्ठक में जाने लगता है। अभिप्राय यह है कि गोलाकार रक्त प्रणाली के ही, एक भाग के, दोहरा हो जाने से हृदय रूपी पंप उत्पन्न हो गया है, जो रक्त की चक्राकार गति का कारण है। इन दोनों कोष्ठकों में से प्रत्येक कोष्ठक एक कपाटी (Valve) के द्वारा दो दो कोष्ठकों में विभक्त हो गया है। प्रत्येक के ऊपर के कोष्ठक को Auricle या ग्राहक कोष्ठ और निचले को Ventricle या क्षेपक कोष्ठ कहते हैं। शिराओं या Veins में जैसे कपाटियां (Valves) रहती हैं वैसे ही ये भी नीचे की तरफ अर्थात् Ventricle की तरफ तो खुलती हैं और इसके संकोच के समय जब रक्त वापिस Auricles में जाने लगता है तो ये बंद हो जाती हैं। दाहिने कोष्ठक में विद्यमान कपाटी को Tricuspid Valve तथा छिद्र को Tricuspid ring कहा जाता है। बांये कोष्ठक के बीच की कपाटी को Bicuspid या Mitral-Valve तथा छिद्र को Bicuspid या Mitral ring कहा जाता है। हृदय अपनी स्वाभाविक संकोच शक्ति के द्वारा रक्त को फुफुस धमनी (Pulmonary-artery) से फुफुस में और Aorta या महाधमनी द्वारा शरीर में फेंकता है। जहाँ पहले वह सूक्ष्म धमनियों (Arterioles) और फिर सिराओं या (Capillaries) के द्वारा फुफुस और शरीर के अवयवों में प्रवेश करता है। फिर अवयवों में से यह पहले सूक्ष्म शिराओं (Venules) और फिर स्थूल शिराओं (Veins) के द्वारा वापिस होकर बांये हृदय में 4 Pulmonary Veins के द्वारा तथा दक्षिण हृदय में Superior और Inferior Venacava के द्वारा वापिस आता है। रक्त वाहिनियों में विद्यमान शक्ति Vascular Tone रक्त की इस वापसी का एक कारण प्रतीत होती है। इस प्रकार हृदय तथा रक्त वाहिनियों के मांस में विद्यमान रक्त प्रेरक शक्ति के द्वारा, रक्त, शरीर में चक्राकार गति करता हुआ अवयवों को आक्सिजन ग्लूकोज आदि आहार द्रव्य, Hormones, Immune-Bodies. आदि आवश्यक तत्व पहुंचाता तथा इनमें उत्पन्न होने वाले विजातीय द्रव्यों

(Metabolic Malproducts) तथा CO_2. को वृक्क त्वचा तथा फुफ्फुस आदि में पहुंचा कर शरीर से बाहर करता रहता है।

हृदय में उत्पन्न होने वाला संकोच जो एक मिनट में लगभग ७२ या ७५ बार होता है Sinoauricular Node से आरंभ होता है। यह नाड़ी तथा मांस का बना हुआ (Neuromuscular Tissue) की बनी एक ग्रन्थि है जो Superior Vena Cava के Right Auricle में प्रवेश स्थान के समीप होती है। इसमें प्रत्येक हृदय संकोच गति (Impulse) को नियम पूर्वक आरंभ करने का गुण होता है। इसलिये इसे Pace Maker भी कहा जाता है। Right-Auricle में Coronary Sinus के सामने एक और ग्रन्थि होती है जिसे Auriculoventricular Node कहा जाता है। इसमें से Auriculoventricular Bundle निकल कर नीचे दोनों Ventricles के बीच की दीवार में नीचे उतरता है और वहां दांई और बांई दो शाखाओं (Right तथा Left Branches) में विभक्त हो जाता है। इनमें से प्रत्येक शाखा Purkinje Fibres के रूप में हृदय मांस में फैल जाती है। हृदय संकोच गति को ले जाने वाले इन सूत्रों को विशिष्ट हृदय धमनियों के द्वारा रक्त पहुंचता है।

जो संकोच गति (Impulse) पहले पहल Sinoauricular Node में आरंभ होती है। वह दोनों Auricles के परस्पर मिल कर एक हुए सूत्रों में प्रसरण कर जाती है। जिससे उनमें संकोच उत्पन्न हो जाता है। इन सूत्रों के द्वारा यह संकोच गति Auriculoventricular Node में आ जाती है और वहां से Bundle के द्वारा दोनों Ventricles के मिलकर एक हुये मांस सूत्रों में प्रसरण कर जाती है जिससे Auricles के संकोच के बाद ही तुरंत दोनों Ventricles में संकोच हो जाता है। Electrocardiogram में दिखलाई "P" Wave Auricles के संकोच तथा Q.R.S.T.Wave दोनों Ventricles के संकोच को सूचित करती है। हृदय के इस संकोच या Systole के बाद पहले हृदय के ग्राहक कोष्ठ और फिर उसके क्षेपक कोष्ठ (Auricles) तथा (Ventricles) दोनों स्वल्प विश्राम करते हैं। इसे हृदय का विश्राम काल Diastole कहते हैं। हृदय के इस एक संकोच तथा विश्राम के काल को हृदय चक्र या Cardiac-Cycle कहते हैं। यदि हृदय एक मिनट में ७५ स्पन्दन करे जैसे कि साधारणतः वह करता है तब एक एक चक्र में .८ सेकन्ड का समय लगता है जिसमें से Auricles तथा Ventricles के संकोच में .३ तथा विश्राम में .५ सेकन्ड के लगभग समय लगता है। Electrocardiogram में देखने से इस बात का ठीक ठीक पता चलता है जब एक मिनट में ७५ के स्थान पर हृदय स्पंदन ८० या ९० हो जाते हैं।

तब प्रत्येक चक्र का समय मैं होने लगता है। पर क्योंकि संकोच काल तो उतना ही रहता है इसलिये विश्राम काल (Diastole) के समय में कमी हो जाती है।

संकोच काल में हृदय मांस के संकुचित (Contracted) होने से तथा साथ ही Auriculoventricular Valves के बंद होने से हृदय का प्रथम शब्द उत्पन्न होता है। यह दूसरे शब्द की अपेक्षा कुछ देर तक होता है परन्तु ऊंचाई में नीचा होता है। इसकी ध्वनि ऐसी होती है जैसे लब (Lube) शब्द के बोलने में होती है। हृदय संकोच काल में रक्त, महा धमनी (Aorta) तथा फुफ्फुसीय धमनी (Pulmonary Artery) में प्रवेश करता है क्योंकि इनमें पहले दबाव कम होता है। अब जब प्रत्येक हृदय संकोच में ७५ सि०सी० के लगभग रक्त इनमें और जाता है तो धमनियों में दबाव और बढ़ जाता है। इस बढ़ने वाले दबाव को नाड़ी भार (Pulse Pressure) कहते हैं। जो दबाव धमनियों में हर समय रहता है अर्थात् हृदय संकोच से पहले रहता है। उसे विश्राम कालिक भार (Diastolic Pressure) कहते हैं। तथा हृदय संकोच के समय धमनियों में जो दबाव होता है उसे संकोच कालिक भार (Systolic Pressure) कहते हैं क्योंकि दक्षिण हृदय के सामने हर समय रहने वाला दबाव भार (Peripheral Resistance) कम होती है अतः उस पर कम कार्य भार पड़ने से इसकी दीवार पतली होती है अर्थात् ५ मिलिमीटर मोटी होती है। पर क्योंकि वाम हृदय के सामने रुकावट (Peripheral resistance) अधिक रहती है अर्थात् धमनियों में हर समय रहने वाला दबाव अधिक होता है अतः इसकी दीवार स्थूल और दृढ़ होती है अर्थात् १०,१५ मिलिमीटर मोटी होती है।

हृदय संकोच के बाद जब हृदय का विश्राम काल आरंभ होता है तब वहां दबाव के कम हो जाने से जब रक्त Aorta तथा Pulmonary Artery में से वापिस लौटने लगता है तब इन धमनियों के मुख में त्रिकपाट कपाटियां (Semiunar Valves) सहसा बंद हो जाती हैं एवं तन जाती हैं जिससे हृदय का दूसरा शब्द जिसकी ध्वनि डप (Dup) जैसी होती है उत्पन्न होता है यह प्रथम शब्द की अपेक्षा ऊंचाई में ऊंचा लंबाई में छोटा होता है। प्रथम शब्द लगभग .२ सेकन्ड का दूसरा शब्द .१ सेकन्ड का होता है। दोनों के बीच का अंतर .१ सेकन्ड का होता है। इस प्रकार दोनों शब्द .४ सेकन्ड लेते हैं। इसके बाद सेकन्ड का अंतर होता है। जिसके बाद फिर क्रमशः दोनों शब्द होते हैं। इस प्रकार प्रथम शब्द से द्वितीय शब्द तक हृदय का संकोच काल और द्वितीय शब्द के बाद xxxहृदयxxxx अगले प्रथम शब्द तक हृदय का विश्राम काल होता है। हृदय संकोच काल में रक्त हृदय में से शरीर तथा फुफ्फुस में जाता है तथा हृदय विश्राम काल में रक्त शरीर तथा फुफ्फुस में से शिराओं के द्वारा वापिस हृदय में आता है। स्पष्ट है कि सीधा खड़े होने की अपेक्षा जब मनुष्य बिस्तरे पर लेटता है

तब शिराओं के द्वारा रक्त अधिक मात्रा में हृदय में लौटता है और जब हृदय को रक्त अधिक लौटता है तो उसे आगे भी अधिक फेंकना पड़ता है। इसीलिये निर्बल हृदय वाले व्यक्ति को लेटने की अपेक्षा बैठने में अधिक आराम लगता है तथा व्यायाम भी कि जिसमें हृदय को प्रत्येक मिनट में ५,६ लिटर के स्थान पर ८,९ लिटर रक्त शरीर को देना पड़ता है,सहन नहीं होती।

हृदय का प्रथम शब्द शिखर (Apex) पर जो बाईं ओर के ५ वें Inter Space में मध्य रेखा से ३½ इंच बाहिर की ओर होता है अच्छा सुनाई पड़ता है। हृदय का द्वितीय शब्द मध्योरस्थिपक्ष दाईं तथा बाईं दूसरी पर्शुकाओं (Costal Cartilages) पर अच्छा सुनाई पड़ता है।

हृदय की दीवार मांस सूत्रों (Myocardium) से बनी हुई है जिनमें नियमित संकोच (Rhythmic Contraction) करने का स्वाभाविक गुण है। हृदय अंदर की ओर अंतस्तर Endocardium से ढका हुआ है जो कि एक पतली पारदर्शक चिकनी तह है तथा स्नायु तंतु (Connective Tissue) और लचकीले सूत्रों (Elastic Fibres) की तह पर पड़े हुए Endothelial-Cells से बनी हुई है। हृदय बाहर की ओर हृदयावरण (Pericardium) -- से जो अंदर (Serous Pericardium) की एक थैली से तथा बाहिर (Fibrous Pericardium) से बना हुआ है, ढका हुआ है। इन दोनों के बीच में थोड़ा अवकाश होता है जिसमें ½ औंस के लगभग Pericardial Fluid भी रहता है।

हृदय रात दिन कार्य करता है तथा आयु भर इतना कार्य करता है कि जितना कोई बढ़िया मशीन नहीं कर सकती। इसलिये शरीर में सबसे अधिक रक्त पहुंचाया जाता है। प्रति स्पंदन या प्रति मिनट जितना रक्त संपूर्ण शरीर को जाता है उसका २०वां भाग हृदय को मिलता है। Aortic Cusps के ठीक ऊपर Anterior Sinus में से Right Coronary Artery निकलती है। जो Right Auricle, Right Ventricle की पिछली दीवार तथा Left Ventricle के कुछ भाग को रक्त पहुंचाती है। Posterior Sinus से Left Coronary Artery निकलती है जो Left Auricle Left Ventricle. दोनों Ventricles के बीच की दीवार तथा Right Ventricle की अगली दीवार को रक्त पहुंचाती है। ये हृदय धमनियां हृदय के पृष्ठ पर फैलती हैं तथा शाखाओं के द्वारा परस्पर संबंधित होती हैं। जैसे मस्तिष्क के Cortex पर धमनियों का जाल बिछा होता है, वैसे ही हृदय के पृष्ठ पर भी धमनी जाल बिछा हुआ है। इसका कारण यही है कि हृदय मांस को पहुंचने वाली रक्त की मात्रा कभी भी कम न होने पाये। हृदय विश्राम काल में इन धमनियों में रक्त भरा रहता तथा

संकोच काल में धमनों से रक्त मिलता का Coronary Sinus के द्वारा वापिस दक्षिण हृदय Right Auricle में जाता है। इसीलिये हृत्कंप (Palpitation) के समय जब हृदय का विश्राम काल छोटा हो जाता है हृदय को रक्त की मात्रा कम मिलती है।

हृदय की नाड़ियां (Nerves) Cardiac Plexus से जो Sympathetic और दोनों Vagus की शाखाओं से बना हुआ है आती हैं। इनमें से Sympathetic नाड़ियां हृदय के लिये उत्तेजक (Accelerator) होती हैं तथा Vagus की नाड़ियां हृदय के लिये शामक (Cardiac Inhibitor) होती हैं। ये हृदय मांस में, Bundle of His में तथा हृदय धमनियों में व्याप्त हुई हैं। शारीरिक मानसिक श्रम के समय Sympathetic नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। इस उत्तेजना से हृदय से प्रति मिनट रक्त की मात्रा अधिकाधिक बाहर जाने लगती है। हृदय पोषक धमनियां (Coronary Arteries) चौड़ी हो जाती हैं। Vagus नाड़ियों की उत्तेजना से (इनके Cholinergic प्रभाव से) हृदय गति मंद होती है। Bundle of His की शक्ति या Conductivity घटती है।

चिर स्थायी हृदय दौर्बल्य :- Chronic Cardiac Failure

१. वाम हृदय दौर्बल्य :-

अति शारीरिक श्रम करने पर मांस पेशियों को, क्रोध आदि मानसिक आवेशों के समय मस्तिष्क को, तथा अति मात्रा में आहार पान करने पर पेट को जितने भी रुधिर की आवश्यकता होती है उतना ही उन्हें मिल जाता है। क्योंकि इन अवस्थाओं में हृदय प्रबलतर संकोच Contraction करके अधिक रक्त फेंकने लगता है अर्थात् शरीर के किसी अंग के जितने रक्त की आवश्यकता होती है उतना ही उसे हृदय से मिल जाता है। हृदय अपनी क्षमता (Reserve Power) से अधिक से अधिक कार्य भी कर सकता है। जब हृदय की यह अतिरिक्त कार्य कर लेने की शक्ति कम होने लगती है तब इसे चिर हृदय दौर्बल्य कहते हैं। बहुधा यह दुर्बलता पहले वाम हृदय में प्रारंभ होती है और बाद में दक्षिण हृदय में होती है। ४५.५० वर्ष की आयु में जैसे केश, नख, त्वचा आदि पहले के समान मृदु न रहकर कुछ कठोर होने लगते हैं उसी प्रकार धमनियों की मृदुता भी स्वभावतः कुछ कम होने लगती है अर्थात् उनमें धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis) की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। इससे वाम हृदय के सामने अवरोध की वृद्धि हो जाने से वह आकार में कुछ स्थूल होने लगता है। अर्थात् उसकी दीवारें मोटी हो जाती हैं। इसे Hypertrophy of the left Ventricle

करते हैं। कभी कभी इस आयु में Syphilitic Aortitis होकर Aortic Valve में Regurgitation का रोग हो जाता है। जिससे हृदय के प्रति स्पंदन में कुछ रक्त वापिस वामक्षेपक में आ जाता है। इससे भी वाम हृदय में अति वृद्धि (Hypertrophy) हो जाती है। कभी कभी वृक्क रोग पहले होता है और उसके कारण धमनियों में रक्त भार हो जाता तथा वाम हृदय में अति वृद्धि हो जाती है। वाम हृदयके स्थूल हो जाने से धमनियों में उत्पन्न हुई कठोरता का प्रतिकार हो जाता है। अर्थात् शरीर के अंगों को जितने रक्त की भी आवश्यकता होती है उतना ही प्राप्त होता रहता है। इसलिये हृदय की इस अति वृद्धि को क्षति पूरक वृद्धि (Compensatory Hypertrophy) कहते हैं। इस अवस्था में हृदय दौर्बल्य संबंधी कोई लक्षण नहीं होता। यदि हृदय का पोषण ठीक ठीक होता रहे तो वर्षों तक यह अति वृद्धि काम देती है। यद्यपि देखने में रोगी का रक्त भार बढ़ा हुआ होता है। तथा नाड़ी प्रबल और कठोर होती है।

अब आयु के बढ़ने के साथ साथ जब वाम हृदय के मांस की शक्ति घटने लगती है। विशेषतः Influenza, Malaria आदि के [illegible] विष या किसी शारीरिक विष से उत्पन्न विषसंचार (Toxaemia) से अथवा Coronary Arteries के अंदर फिरंग रोग के कारण या Cholesterolaemia के कारण उत्पन्न Atherome. से जब हृदय को रक्त कम मिलने लगता है अर्थात् उसमें Anoxaemia हो जाता है तब वाम हृदय में शिथिलता (Dilatattion) का लक्षण प्रकट होने लगता है। अर्थात् उसमें संकोच (Contract) करने की शक्ति कम होने लगती है। अर्थात् उसके प्रत्येक स्पंदन अथवा प्रति मिनट में रक्त की आगे जाने वाली मात्रा कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में वाम हृदय की निकासी (Out Put) घट जाती है। स्पष्ट है कि इससे शरीर के अंगों अर्थात् वृक्कों, मस्तिष्क, मांस पेशियों आदि को रक्त की मात्रा नार्मल से कम मिलने लगती है। विषसंचार (Toxaemia) और Coronary Artery के रोग के अतिरिक्त पांडु रोग हो [illegible] जाय या शरीर का पोषण ठीक ठीक न हो या Thyrotoxicosis हो तो भी वाम हृदय में दुर्बलता की प्रक्रिया हो जाती है। इसे वाम हृदय दौर्बल्य कहते हैं।

<u>विकृति :-</u>

यद्यपि हृदय में अति वृद्धि होने पर उसका प्रत्येक मांस सूत्र लंबा तथा मोटा हो जाता है जिससे उसकी दीवार मोटी तो हो जाती है पर उसको रक्त पहुंचाने वाली पोषकधमनी Coronary Artery की शाखाओं में कोई वृद्धि नहीं होती प्रत्युत आयु के बढ़ने के साथ साथ उनकी दीवारों में कठोरता (Salerosis) की प्रक्रिया होती जाती है जिससे वाम हृदय में आक्सिजन कम पहुंचने से उसमें शिथिल हो जाने की प्रवृत्ति रहती है। उसमें शैथिल्य (Dilatation) प्रारंभ

होने पर वृक्कों को प्रति मिनट रक्त की मात्रा कम मिलती है जिससे मूत्र कम बनता है अर्थात् रक्त में से जल और लवण की निकासी कम हो जाती है। वृक्कों के गुच्छों या Glomeruli में जो जल या लवण निकलता भी है उसका कुछ अंश प्रणालियों (Tubules) के अंदर फिर विलीन हो जाता है। इस प्रकार रक्त में जल तथा लवण की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है (दूसरे शब्दों में Hypervolaemia, Hypernatraemia और Hyperchloraemia के लक्षण हो जाते हैं) अब जब कभी शरीर पर अति कार्य भार आ पड़ता है या मन पर भारी विक्षोभ आ पड़ता है या जब कभी भोजन अति मात्रा में खाया जाता है अर्थात् वाम हृदय पर कार्य भार आ पड़ता है तो उसकी असमर्थता से उसके पीछे की ओर फुफुस या Pulmonary Capillaries में रक्त की कुछ अधिक मात्रा रुक जाती है। फुफुस की सिराओं तथा सूक्ष्म सिराओं (Capillaries) में रक्त भार के बढ़ जाने से और फुफुस के अवकाशों में भार खिंचाव (Tension) के कम होने से रक्तस्थ जल तथा लवण का कुछ अंश उनमें प्रस्रवण (Transude) कर जाता है। प्रारंभ में तो ये सूक्ष्म सिराओं (Capillaries) के आसपास के अवकाशों में प्रस्रवण करते हैं जिससे श्वास कोष्ठकों की दीवार में श्वयथु (Perivascular Oed-ema) होता है। फिर श्वास कोष्ठकों (Alveoli) में भी कुछ कुछ जल भर जाता है अर्थात् Intraalveor-Oedema) भी हो जाता है। इस फुफुस श्वयथु से फुफुस का अपना स्वाभाविक लचीलापन कम हो जाता है। वह कुछ कठोर हो जाता है। फुफुस के कठोर हो जाने से फुफुस में जो ५०० सी॰सी॰के लगभग आने जाने वाली हवा (Tidalair) को ही नहीं परंतु उसके अतिरिक्त १८०० सी॰सी॰ के लगभग और ली गई हवा (Reserve Air) को भी आराम से फेंक देने की जो शक्ति (Vital Activity) है वह घट जाती है।

लक्षण :-

१.. Dyspnoea- श्वास कृच्छता :-

वाम हृदय दौर्बल्य के प्रकट होने के बाद शीघ्रता से चलने पर, ऊंचा बोलने पर, मानसिक आवेश के होने पर, श्वास उथला तथा तीव्र हो जाता है। दूसरे शब्दों में श्वास चढ़ जाता है जिसे श्वास कृच्छता कहते हैं। अर्थात् जब फुफुस की Vital Capacity घट जाती है तब सहायक श्वास मांस पेशियों (Accessory Muscles of Respiration) की सहायता से श्वास कोष्ठकों में भरी हुई हवा को बाहिर फेंकना पड़ता है। जितना जितना वाम हृदय निर्बल होता जाता है उतना उतना ही स्वल्प श्रम से श्वास चढ़ने लगता है।

२.. हृदय जनित रात्रि श्वास :

(Cardiac Asthma या Paroxysmal Nocturnal Dyspnoea):-

दिन में या रात्रि को सीधा लेट जाने पर शिराओं द्वारा रक्त अधिक मात्रा में दक्षिण हृदय में लौटने लगता है। दक्षिण हृदय स्वस्थ हो तो वह इसे आगे फुफुस में फेंकने लगता है। स्पष्ट है कि रात को लेटने पर फुफुस के अंदर रक्त की मात्रा बढ़ जाती है। एवं खड़े होने की अवस्था की अपेक्षा लेटी हुई अवस्था में इसकी Vital Capacity घट जाती है। यह भी स्पष्ट है कि गाढ़ निद्रा में सोते समय हृदय गति तथा इसमें से होने वाली रक्त की निकासी भी कम हो जाती है। अब यदि वाम हृदय अति निर्बल हो गया हो जैसा कि दिन में अति शारीरिक श्रम करने या किसी प्रबल मानसिक विक्षोभ में ग्रस्त होने से होता है तो वह फुफुस में भी रक्त को आगे नहीं फेंक पाता जिससे फुफुस में रक्त अधिक मात्रा में रुक जाता है। और वहां स्राव (Oedema) इतना हो जाता है कि इससे या तो श्वास नालियां तंग हो जाती हैं या इनमें कोई स्तंभ (Spasm) उत्पन्न हो जाता है। इससे अंदर की हवा को बाहिर फेंकना और बाहिर की हवा को अंदर लेना कठिन हो जाता है। अब यदि सोये हुये रोगी में खांसी का वेग उठे या कोई भय युक्त स्वप्न आये जिससे हृदय धड़कने लगे तो दक्षिण हृदय से और अधिक रक्त फुफुस में आने लगता है। जबकि वाम हृदय इसे रक्त को आगे फेंक नहीं सकता। इससे फुफुस की Vital Capacity के अत्यधिक गिर जाने से रक्त में आक्सिजन की मात्रा तो बहुत घट जाती तथा Co_2. की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। जिसके द्वारा Medulla में विद्यमान श्वास केन्द्र (Respiratory Centre) के विक्षुब्ध हो जाने से श्वास का वेग उठ खड़ा होता है। Vital Capacity के अत्यधिक कम हो जाने तथा रक्त में आक्सिजन के कम (Anoxaemia) हो जाने से वाम हृदय रोगी को ऐसा पता लगता है कि उसका दम घुट गया है। और उसके प्राण निकलने वाले हैं। वह हड़बड़ा कर उठ बैठता है, बाहर की हवा लेने के लिये व्याकुल हो उठता है, उसका चेहरा फीका होता तथा ठंडा पसीना आ जाने से गीला होता है। अंदर की हवा के बाहिर न जाने तथा बाहिर की हवा के अंदर न आ सकने से उसकी छाती अन्तः श्वास (Inspiration) की अवस्था में होती अर्थात् फूली हुई होती है। फुफुस के निचले भाग में Rales की ध्वनि सुनने में आती है। श्वास नालियों में स्तंभ होने से सीटियों (Wheezes या Rhonchi) की ध्वनि सुनती है। परंतु यदि रोगी की आयु ५० के ऊपर हो, हृदय गति तथा नाड़ी गति तीव्र हो, रक्त भार विशेषतः विश्राम कालिक (Diaslolic) ऊंचा हो, हृदय का दूसरा शब्द विशेषतः बाईं ओर की दूसरी पसली पर सुनने से ऊंचा हो तो हृदय जनित श्वास का ही संदेह करना चाहिये। रोगी की

व्याकुलता तो शीघ्र शांत हो जाती है, श्वास कृच्छ्रता कुछ देर बाद शांत होती है।

विषम श्वास :-(Cheyne Stokes Breathing-Periodic Breathing):-

स्वस्थ व्यक्ति में भी रात को सोते समय जब वाम हृदय गति मंद हो जाती है और श्वास केन्द्र (Respiratory Centre) को रक्त कम मिलता है तो श्वास गति मंद हो जाती है। वाम् हृदय की दुर्बलता में रात के समय निद्रा में इस केन्द्र को जब रक्त की मात्रा और भी कम मिलती है तो यह अधिक विक्षोभ शील हो जाता है। रात को फुफुस में रक्त के अति मात्रा में संचित हो जाने पर यह केन्द्र शीघ्र विक्षुब्ध हो उठता है। जिससे कुछ एक श्वास अधिक गहरे गहरे आते हैं। इन गहरे श्वासों के कारण रक्त में CO_2. की मात्रा कम हो जाती है। उत्तेजना का कारण न रहने से यह केन्द्र फिर बहुत ~~xxxxxxxxxx~~ कम उत्तेजित होता है। जिससे कुछ एक श्वास बहुत हल्के हल्के होते हैं। ऐसे श्वासों के कारण रक्त में फिर CO_2. की मात्रा जब बढ़ती है तो उसके कारण इस केन्द्र के अधिक उत्तेजित हो जाने से फिर कुछ अधिक गहरे श्वास होते हैं। इस प्रकार गहरे श्वासों (Hyperpnoea) और उथले श्वासों (Apnoea) के क्रमशः होने को विषम् श्वास (Heyne Stokes Breathing) कहते हैं। कभी कभी उथले श्वासों (Apnoea) के दौरान में कुछ एक सेकन्ड के लिये सर्वथा श्वास की गति बंद भी हो जाती है।

शैया श्वास :- (Orthopnoea):-

जब वाम हृदय दौर्बल्य और अधिक बढ़ जाता है तो रोगी के लिये सीधा पड़ कर सोना भी कठिन हो जाता है। अर्थात् वह जब लेटता है और शाखाओं से रक्त शिराओं द्वारा दक्षिण हृदय में अधिक मात्रा में आने लगता है तो क्योंकि दक्षिण हृदय तो स्वस्थ है/ वह रक्त का पूरा कोटा फुफुस में फेंकता है। उधर वाम् हृदय अति निर्बल होने से रक्त को आगे फेंक नहीं पाता, इसलिये फुफुस में रक्त संचय अत्यधिक बढ़ जाता है। इससे वहां जो विक्षोभ (Hering Breuer's Reflex उत्पन्न होता है उसके कारण मस्तिष्क गत श्वास केन्द्र उत्तेजित हो उठता है और रोगी को श्वास कृच्छ्रता का वेग होने लगता है। उसके उठकर बैठ जाने से या आराम कुर्सी पर सोने से यह कष्ट शांत हो जाता है। कास/ वाम हृदय दौर्बल्य में ~~xxxxxxxxxxxxxx~~ न्यून या अधिक रूप में खांसी भी होती है तथा कुछ बलगम भी गिरती है।

परीक्षा :-

वाम हृदय अति वृद्धि में स्पंदन (Apex Beat) कुछ नीचे की ओर अर्थात् छटे Inter Space में खिसक जाती है। Mitral Area पर प्रथम शब्द ऊंचा सुनता है। द्वितीय शब्द भी ऊंचा होता है। नाड़ी बलवती तथा

कुछ भरी हुई कठोर होती है। रक्त भार Systolic तथा Diastolic दोनों बढ़े हुये होते हैं।

वाम हृदय शैथिल्य (Dilatation of the Left Ventricles) में स्पंदन (Apex Beat) कुछ बाहर की ओर खिसक जाती है। तथा कुछ निर्बल होता है। हृदय मांस के निर्बल हो जाने से प्रथम शब्द कुछ छोटा (Sharp) तथा कुछ मन्द (Faint) सुनता है। हृदय के फैलने (Dilatation) के कारण यदि Mitral Ring भी चौड़ा हो गया हो और संकोच के समय कुछ रक्त वापिस चला जाता हो तो प्रथम शब्द अस्पष्ट या Murmured हो जाता है। नाड़ी निर्बल तथा शीघ्र गामी होती है। फुफुस में रक्त के अधिक संचित हो जाने से द्वितीय शब्द बाईं ओर की दूसरी पसली पर ऊंचा सुनाई पड़ता है। रक्त भार संकोचकालिक (Systolic) कुछ कम हो जाता है। पर विश्रामकालिक (Diastolic) बढ़ा हुआ ही रहता है। मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। इसमें लवण की मात्रा भी कम होती है। फुफुस के निचले भाग में सुनने से, पहले तो Fine Crepitations और बाद में Coarse Crepitations सुनाई पड़ते हैं।

२.. दक्षिण हृदय दौर्बल्य :-(Right Heart Failure)

जब वाम हृदय फेल होने लगता है और इस कारण फुफुस की रक्त वाहिनियों में रक्त अधिक मात्रा में संचित होने लगता अर्थात् Pulmonary Artery में रक्त भार बढ़ जाता है/ तब सामने अवरोध के रहने के कारण दक्षिण हृदय आकार में बड़ा तथा स्थूल हो जाता है। कभी कभी फुफुस में पुरानी खांसी, श्वास, Emphysema आदि पुराने रोगों के कारण जो स्नायु भाव (Fibrosis) हो जाता है उसके कारण भी दक्षिण Ventricle में अति वृद्धि का रोग हो जाता है। परंतु इसके बाद न्यूनाधिक समय बाद किसी शारीरिक विष के दुष्प्रभाव से या उचित मात्रा में जब आक्सिजन न मिले (Anoxaemia) से जब दक्षिण क्षेपक में भी स्नायुभाव (Fibrosis या Fatty Degeneration) की प्रक्रिया होने लगती है तो वह शिथिल या निर्बल हो जाता है।

लक्षण :-

शोथ (Cardiac Oedema या Congstive Oedema) रक्त में लवण तथा जलांश के अधिक रुक जाने से तथा दक्षिण हृदय की रक्त को फेंकने की शक्ति के क्षीण हो जाने पर शिराओं में रक्त अधिक संचित हो जाता है जिससे अवकाशों में जल और लवण अधिक अधिक जाने लगते हैं। एवं शोथ रोग हो

जाता है। दिन के समय टाँगों की शिराओं में रक्त भार ~~होता है~~ अधिक होता है/अत: इन स्थानों में स्वयथु दीखता है। रात को लेटने पर पीठ में तथा फुफ्फुस में स्वयथु हो जाता है। रोगी के पैर भारी हो जाते हैं। इसके अधिक बढ़ने पर देहकोषों, पेट Peritoneum, Pleura (विशेषत: दायें) में भी जल भर जाता है।

<u>हृदय रोग जनित यकृत् वृद्धि :-(Cardiac Cirrhosis):-</u>

Hepatic Vein में रक्त के अधिक रुक जाने पर यकृत् के Lobules की Centralveins तथा इनके आसपास की Lobular Sinusoids में भी रक्त अधिक मात्रा में रुक जाता है। यकृत् में रक्त के अधिक रुक जाने तथा उसमें स्वयथु के हो जाने से यकृत् आकार में बड़ा हो जाता है। यकृत् के खोल (Capsule) के तन जाने से यकृत् में दर्द भी हो सकता है। उस पर दबाने से भी रोगी को दर्द होता है। Lobules के सेलों को आक्सिजन नहीं मिलती जिससे इनमें क्षीणता (Fatty Degenerationतथा Necrosis) की प्रक्रिया होने लगती है। अतएव देखने में प्रत्येक Lobule बीच में Central-Vein के आसपास तो लाल रंग का और किनारों पर फैट के बैठ जाने के कारण श्वेत रंग का दीखता है।

<u>श्वास कृच्छ्रता :-</u>

क्योंकि वाम हृदय वैफल्य के कारण फुफ्फुस में रक्त संचय अधिक होता है। अत: इस रोग में श्वास कृच्छ्रता का लक्षण भी होता है परंतु दक्षिण हृदय के निर्बल हो जाने के बाद रात्रि श्वास (Cardiac Asthma या Orthopnaea) का लक्षण लुप्त हो जाता है।

<u>अजीर्ण :- (Dyspepsia):-</u>

आमाशय श्लेष्मकला की शिराओं में रक्त के अति मात्रा में संचित रहने से अन्नारुचि तथा वमन के लक्षण रहते हैं।

<u>परीक्षा :-</u>

दक्षिण हृदय में अति वृद्धि होने पर हृदय की धड़कन आमाशय प्रदेश (Epigastrium) में दीखती है तथा कुछ प्रबल होती है। Tricuspid area (Sterum के निचले सिरे) पर प्रथम शब्द ऊंचा सुनता है तथा Pulmonary Area (दूसरी बाईं पसली) पर द्वितीय शब्द ऊंचा होता है।

दक्षिण हृदय शैथिल्य (Dilatation) या Failure) हो जाने पर शिराओं में रक्त के भर जाने से ग्रीवा की शिरायें भरी हुई दीखती हैं। कभी कभी दक्षिण कपाटी (Tricuspid Valve) में से रक्त के वापिस हो जाने से इनमें कम्पन भी होता हुआ दीखता है। हृदय के प्रति स्पंदन में रक्त की निकासी के कम हो जाने से नाड़ी व निर्बल होती है तथा हृदय

की निर्बलता से उसकी प्रति मिनट गति तीव्र होती है। प्रथम शब्द छोटा होता है। दूसरा शब्द Pulmonary Area पर ऊँचा होता है। रक्त भार प्रायः घटा हुआ होता है।

__हृदय दौर्बल्य की चिकित्सा :-__

वाम हृदय अति वृद्धि की अवस्था में शरीर के अंगों को उचित मात्रा में रक्त मिलता रहता है। इसलिये केवल हृदय को निर्बल कर देने वाले भावों से बचना ही इसकी चिकित्सा है। जब कोई संक्रामक रोग हो जाय या जब अधिक शारीरिक श्रम किया गया हो तो अधिक काल के लिये विश्राम कर लेना चाहिये। क्रोध से या हर प्रकार के वाद विवाद से या मोटर कार आदि को चलाने की जिम्मेवारी से बचना चाहिये। हृदय तथा शरीर को पुष्ट करने वाला सुपच पौष्टिक आहार तथा लघु व्यायाम करना चाहिये। परंतु अधिक स्निग्धता युक्त आहार और अति व्यायाम से बचना चाहिये। भोजन करके दूर तक चलने या सीढ़ियों पर चढ़ने या अधिक मात्रा में चाय, मद्य, तंबाकू आदि के सेवन से बचना चाहिये। मल बंधता के न होने देने के लिये कभी कभी कोई मृदु रेचक औषधि लेनी चाहिये। रात को ७ घंटे की नींद लेने, दिन में भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम करने, पेट का गहरे प्राणायाम करने अर्थात् Diaphragm को नीचे ऊपर करने से हृदय को रक्त अधिक मिलता है और उसका पोषण होता है।

__वाम तथा दक्षिण हृदय दौर्बल्य (Congestive Cardiac Failure) की चिकित्सा :-__

__विश्राम चिकित्सा :-__

हृदय दौर्बल्य के लिये लगभग एक मास तक शैय्याशायी होकर पूर्ण विश्राम लेना चाहिये। सीधा लेटने में श्वास कृच्छ्रता हो तो सिर और कंधों के पीछे बड़े बड़े तकियों के सहारे से लेटना चाहिये। शैय्य श्वास (Orthopnoea) हो तो आराम कुर्सी पर टांगों को कुछ नीचे लटका कर बैठना चाहिये ताकि हृदय की बड़ी शिराओं में रक्त कम मात्रा में लौटे। केवल मल त्याग या भोजन या मुख आदि धोने के लिये उठना चाहिये। विश्राम करने से भोजन की मात्रा स्वभावतः कम हो जाती है। जिससे हृदय का कार्य भार और कम हो जाता है। दो सप्ताह बाद प्रतिदिन आधा घंटे के लिये शाखाओं का मृदु मर्दन करना चाहिये।

निद्रा भी हृदय की निर्बलता को दूर करती है। अतः रात को ६, ७ घंटे तक निद्रा लेनी चाहिये। जिसमें से ६ घंटे की गहरी निद्रा होनी चाहिये। हाथ पैरों तथा सिर को मलने से नींद अच्छी आती है। निद्रा कम होती हो तो Phenobarbitone १/२, १/२ ग्रेन दिन में तीन बार दे सकते हैं या

इसके Soluble Sodium Salt के २० प्रतिशतक Solution की एक सी॰सी॰ मात्रा जिसमें ३ ग्रेन साल्ट होता है, मांस द्वारा रात को दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त Chloral Hydrate २० ग्रेन की मात्रा मिक्सचर के रूप में एक बार रात को दी जा सकती है। व्यवहार में व्याकुलता या अशांति का परित्याग कर शांत तथा प्रसन्न रहने का यत्न करना चाहिये। रोग अधिक न हो तो खुली हवा में भ्रमण करने से हृदय का बल बढ़ता है।

<u>लघु भोजन चिकित्सा :-</u>

शरीर में जितना Oxidation अधिक होता है उतना ही हृदय पर कार्यभार बढ़ता है। भोजन शरीर के Oxidation को बढ़ाता है। अतः इसकी मात्रा कम कर देनी चाहिये। प्रारंभ में तो रोगी को केवल कुछ फल रस तथा ग्लूकोज पर ही रहना चाहिये। इससे कुछ लाभ हो जाने पर सब्जी, फल, रोटी, खांड आदि कार्बोहाइड्रेट प्रधान लघु भोजन पर ही रहना चाहिये। प्रोटीन भोजन शरीर के Metabolism के लिये कुछ उत्तेजक होता है। अतः ५०,६० ग्राम मात्रा से अधिक इसका दैनिक प्रयोग नहीं करना चाहिये। स्नेह या फैट भी हृदय रोगी को अनुकूल नहीं होता। उसे कार्बोहाइड्रेट भोजन कम ही थोड़ी थोड़ी मात्रा में दिन में कई बार लेना चाहिये। घी दिन भर में आधी छटांक से अधिक तथा दूध दिन भर में ८ छटांक से अधिक नहीं लेना चाहिये। जल भी दिन भर में ८ छटांक से अधिक नहीं लेना चाहिये। भोजन में लवण का तो सर्वथा परित्याग कर देना कुछ ही ठीक है। दूध तथा सब्जियों में १$\frac{१}{२}$ ग्राम के लगभग जो नमक स्वभावतः होता है उतना ही शरीर के लिये पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त जो लवण लिया जाता है उसके प्रत्येक ०६ ग्राम के पीछे ६० सी॰सी॰ के लगभग जल रुक जाता है। Karell के अनुसार हृदय दौर्बल्य के रोगी को दो चार दिन केवल ८०० सी॰सी॰ अर्थात् एक सेर के लगभग दूध पर ही रहना चाहिये। जिसे दिन में ५,६ बार करके लिया जाय। इससे रोगी को लगभग ६०० कैलोरीज मिलती हैं। इसमें पड़ी $\frac{१}{२}$ छटांक ००० खांड से ४०० कैलोरीज और मिल जाती हैं। इस पर दो तीन दिन रहने के बाद फिर ३ पाव दूध ४५० कैलोरीज ४ औंस रोटी या टोस्ट (३०० कैलोरीज), कुछ हल्की सब्जी, कुछ घृत तथा कुछ फल पर रहना चाहिये। इस प्रकार का भोजन १००० कैलोरीज देता है जो विश्राम करने वालों के लिये पर्याप्त है।

अथवा प्रातः काल एक कप चाय जिसमें आधी छटांक दूध तथा दो चम्मच खांड हो, लेनी चाहिये। फिर नाश्ते में १ पाव दूध, दो टोस्ट, १ तोला मक्खन, १ तोला गुड़ ली जा सकती है। फिर भोजन में एक छोटी रोटी, १ छटांक सब्जी, १ छटांक दही, १ तोला घी, लिया जा सकता है। फिर एक कप चाय जिसमें आधी छटांक दूध, दो चम्मच

छोड़ दी भी जा सकती है। तथा रात को १ छोटी रोटी, १ तोला घी, १ तोला मट्ठा तथा १ कप दूध लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जल २ पाव के लगभग ले सकते हैं। सब्जी में नमक का प्रयोग नहीं या न्यूनतम मात्रा में करना चाहिये।

Digitalis चिकित्सा :-

Digitalis का प्रयोग करने से हृदय की संकोच करने की शक्ति प्रबल हो जाती है। जिससे उसके प्रति स्पंदन में रक्त अधिक मात्रा में धमनी जाने लगता है। अर्थात् हृदय की निकासी बढ़ जाती है। इससे हृदय के पीछे की ओर फुफुस में तथा बड़ी बड़ी शिराओं में रक्त संचय भी घट जाता है। इस प्रकार वाम हृदय तथा दक्षिण हृदय दोनों की निर्बलता से उत्पन्न लक्षण शांत हो जाते हैं। धमनियों में रक्त के अधिक मात्रा में जाने से Vagus पर Reflex प्रभाव होता है जिसके द्वारा हृदय गति मंद हो जाती है अर्थात् हृदय द्रव या धड़कन (Tachyeardia) का लक्षण शांत हो जाता है। धमनियों में रक्त के अधिक जाने से वृक्कों को तथा सभी मांस पेशियों और मस्तिष्क को रक्त अधिक मिलने लगता है जिससे मूत्र अधिक बनने लगता तथा उसके द्वारा लवण और जल शरीर में से अधिक निकलने लगते हैं। बनने पर धकाप्ट कम होती तथा फुफुस में रक्त संचय के कम हो जाने से श्वयथु (Odema) तथा यकृत् वृद्धि शांत होते हैं तथा श्वास कृच्छ्रता, रात्रि श्वास (Cardiac Asthma आदि लक्षण शांत होते हैं। स्पष्ट है कि (Digitalis) के देने से हृदय तथा नाड़ी में फिर से बल आ जाता है।

Digitalis की भरपूर मात्रा या Digitalization :-

Digitalis Purpurea के पत्र चूर्ण के देने पर शरीर में से प्रति दिन $1\frac{1}{2}$ ग्रेन मात्रा बाहर निकलती है। इससे अधिक जितनी मात्रा दी जाती है वह शरीर में संचित होती जाती है। इस अधिक मात्रा के शरीर में संचित होते जाने से एक दिन शरीर में इसकी भरपूर मात्रा पहुंच जाती है। जिससे अधिक और देने पर शरीर में इसकी मात्रा बढ़ जाती है। भरपूर मात्रा के पहुंचने की अवस्था को Digitalization या Saturation की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में वाम तथा दक्षिण हृदय की निर्बलता से उत्पन्न लक्षण शांत हो जाते हैं। इससे अधिक मात्रा में इसके पहुंचने पर फिर शरीर में Digitalis के विषैले लक्षण जैसे सिर दर्द, अन्नारुचि, तथा वमन की प्रवृत्ति के लक्षण होने लगते हैं। इस अवस्था को Digitalis Intoxication की अवस्था कहते हैं। Digitalis पत्र चूर्ण की Digitalization करने वाली मात्रा १५ से $22\frac{1}{2}$ ग्रेन की होती है। यदि प्रथम दिन पत्र चूर्ण ३,३ ग्रेन की दूसरे दिन २,२ ग्रेन की तथा तीसरे दिन १,१ ग्रेन की तीन मात्रा में दे दी

जाय तो तीन दिन बाद शरीर में Digitalization अर्थात् इस औषधि का पूर्ण प्रभाव हो जाता है। इसके बाद इसे १ से ३ ग्रेन की दैनिक चालू मात्रा में देने से रोगी में इसकी भरपूर मात्रा कायम रहती है। पत्र चूर्ण की $\frac{१}{२}$, १ तथा $१\frac{१}{२}$ ग्रेन की गोलियां बनी बनाई मिलती हैं।

Digoxin:-Digitalis Lanata के पत्तों से तैयार किया हुआ Glucoside है जिसकी ०.२५ मिलिग्राम की गोलियां मिलती हैं। इसकी २,३ मिलिग्राम मात्रा के शरीर में पहुंच जाने से शरीर का Digitalization हो जाता है। इसलिये यदि इसकी एक एक गोली चार दिन तक दिन में ३ बार दे दी जाय तो चौथे दिन शरीर का Digitalization हो जाता है अथवा इसकी दो दो गोलियां के दो दिन तक तीन तीन बार देने से दो दिन में शरीर का Digitalization हो जाता है अथवा प्रथम दिन ५ गोली, दूसरे दिन ४, तीसरे दिन ३ गोली, देने से ३ दिन में Digitalization हो जाता है। अर्थात् हृदय गति कम होकर ७०,८० प्रति मिनट हो जाती है। मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। उठने बैठने में प्रतीत होने वाली थकावट जाती रहती है। श्वास कष्ट घट जाता है। यकृत वृद्धि घट जाती है। इस पूर्ण मात्रा के पहुंच जाने के बाद इसकी चालू मात्रा दैनिक $१\frac{१}{२}$ या २ गोली की होती है। जब Digitalis-Intoxication का कोई लक्षण प्रतीत हो अर्थात् अन्नारुचि या शिर दर्द, मिचली आदि हो तो ४ दिन के लिये औषधि का प्रयोग बंद कर देना चाहिये। और फिर इसकी चालू मात्रा का प्रयोग आरंभ कर देना चाहिये। Acetyldigitoxin (Acylanid-Sandoz) ०.२ मिलिग्राम मात्रा में Digoxin की तरह ही प्रयुक्त होता है।

मूत्रकारी या Mercurial Diuretics के द्वारा चिकित्सा :-

Organic Mercurial Diuretics जैसे Mersalyl (Salyrgan Merchloran, Mercuzanthin Neptal) ~~आदि~~ का वृक्कों के Tubules के सेलों पर अवसादक प्रभाव होता है। जिससे उनकी मूत्र में से लवण तथा जल को फिर से विलीन कर लेने की शक्ति थोड़ी देर के लिये लुप्त हो जाती है। वृक्कों के Glomeruli में मूत्र अधिक नहीं बनता। केवल इसके जलांश तथा लवणांश का विसर्जन अधिक हो जाता है। जिससे रक्त में इनकी मात्रा कम हो जाती है [अर्थात् Hypochloraemia. --- और Hyponatraemia हो जाते हैं) ये Salts १० प्रतिशतक Solution की १ या २ सी.सी. की Ampoules में मिलते हैं। ~~५ प्रतिशतक~~ २ सी.सी. की Ampoule में ३ ग्रेन Mersalyl तथा लगभग $१\frac{१}{२}$ Theophylline होता है। मांस द्वारा इसके इंजेक्शन देने के दो घंटे बाद पतला मूत्र आना शुरू होता है और १२ घंटे तक आता रहता है। एक इंजेक्शन के बाद लगभग १०० औंस मूत्र निकल जाता है। यदि ३० ग्रेन Ammonium--

Chloride दिन में ३ बार एक दिन पहले और इंजेक्शन वाले दिन दे दिया जाय तो मूत्र खुलकर आता है तथा Chloride के शरीर में से अधिक निकल जाने अर्थात् Hypochloraemia हो जाने पर भी रक्त में अम्लीयता (Acidity) बनी रहती है। मूत्र द्वारा लवण तथा जल के पर्याप्त मात्रा में निकल जाने से फुफुस तथा शाखाओं में विद्यमान स्यन्द शांत होता है तथा वाम हृदय और दक्षिण हृदय दौर्बल्य से उत्पन्न होने वाले लक्षण शांत हो जाते हैं। सप्ताह में २ बार इनका प्रयोग किया जा सकता है।

<u>रात्रि श्वास (Cardiac Asthma) की चिकित्सा ।-</u>

तीव्र रात्रि श्वास की अवस्था में चौथाई ग्रेन Morphine के त्वचा द्वारा देने से या Whisky $\frac{1}{2}$ औंस के मुख द्वारा रोगी को देने से आराम आ जाता है। किसी शिरा में से ३०० सी.सी. के लगभग रुधिर के शिरावेध (Venesection) के द्वारा अर्थात् बड़े चौड़े छेद की नीडल द्वारा निकाल देने से भी रोगी को आराम आ जाता है। अथवा चारों शाखाओं के मूल में रबर की नालियां या तौलिये कसकर बांध दिये जायें जिससे लगभग ७०० सी.सी. रक्त शाखाओं की शिराओं में रुक जाय (Bloodless Phlebotomy) और दक्षिण हृदय में न आने पाय तो फुफुस में बढ़ा हुआ रक्त संचय घटने लगता है। इनके कस कर बांधने से कुछ कष्ट होता है। इसलिये १५,१५ मिनट बाद इनमें से क्रमशः एक एक को कुछ ढीला करके फिर कस दिया जाता है। एक घंटा इनके बांधने से श्वास कृच्छ्रता का वेग शांत हो जाता है। अथवा Aminophylline .२५ ग्राम को १० सी.सी. Distilled Water में मिला कर धीरे धीरे ३,४ मिनट में शिरा द्वारा देने से भी श्वास कृच्छ्रता शांत हो जाती है। इसके .५ ग्राम की मात्रा में मांस द्वारा देने से भी यही लाभ होता है अथवा Digoxin का IntraVenous Injection भी मिलता है जिसमें १ मिलिग्राम Digoxin होता है। इसे १० सी.सी. Sterile Water में मिलाकर शिरा द्वारा देने से तुरंत Digilalization होकर वेग शांत हो जाता है। इससे १४ दिन पहले तक Digitalis लिया गया हो तो यह इंजेक्शन नहीं देना चाहिये। रात्रि श्वास के दौरे हो जाने के बाद रोगी को एक मास के लिये शैया शायी होकर पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। जिससे हृदय और फिर यथावत मात्रा में रक्त को आगे फेंकने में समर्थ हो जाय। रोगी को रात को सिर तथा कंधे ऊंचा रख कर अर्थात् बड़े बड़े तकियों के लगाने से सोना चाहिये। तथा रात्रि को भोजन अति स्वल्प मात्रा में करना चाहिये। भोजन में लवण का प्रयोग न हो तो भी फुफुस में होने वाला स्यन्द शांत हो जाता है।

<u>हृदय शूल का रोग :-</u> Ischaemic Disease of the Heart:-

<u>कारण :</u>

वृद्धावस्था में शरीर की धमनियों के कुछ कठोर तर हो जाने यद्यपि धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis) के रोग के कारण हृदय आकार में बड़ा हो जाता है। परंतु उसकी पोषक धमनियों में कोई वृद्धि नहीं होती। भारी श्रम के समय या किसी तीव्र मानसिक आवेश के समय शरीर एवं मस्तिष्क को अधिक रक्त पहुंचाने का काम हृदय पर आ पड़ता है। परंतु उसे रक्त की या आक्सिजन की उचित मात्रा मिल नहीं पाती। इसलिये इसमें दर्द होने लगता है। इसे हृदय शूल कहा जाता है। परंतु इस अवस्था में हृदय पोषक धमनियों में कोई रोग नहीं होता। वास्तविक हृदय शूल का रोग तो इन हृदय पोषक धमनियों में धमनी रोग (Atherosclerosis)या Atheroma के हो जाने के कारण होता है। यद्यपि इन धमनियों के आभ्यंतर स्तर (Endothelium) में स्थान स्थान पर कठोर से उभार हो जाते हैं। जिनके कारण इनके अंदर का स्रोत तंग हो जाता है एवं हृदय मांस को रक्त कम पहुंचता है।

हृदय पोषक धमनियों की दीवारों का पोषण कम हो जाने से इनमें ये उभार होते प्रतीत होते हैं। इनकी दीवारों को रक्त पहुंचाने वाली सूक्ष्म धमनियों (Vasavasorum) की दीवारों में मांस स्तर (Muscular Layer नहीं होती। Aorta के लचकीलेपन (Contractility) के ही कारण इन्हें रक्त ठीक ठीक मात्रा में पहुंचता रहता है। वृद्धावस्था में जब Aorta का लचकीला पन कम हो जाता है तब इन सूक्ष्म धमनियों के द्वारा हृदय पोषक धमनियों की दीवारों को रक्त कम मिलने लगता है। इन्हें आक्सिजन के कम मिलने (Anoxia) के कारण इनके अंदर क्षार (Cholesterol) के ढेर स्थान स्थान पर बैठने लग जाते हैं। जहां जहां यह क्षार का ढेर बैठता है इसके विक्षोभक होने के कारण वहां वहां की आभ्यंतर स्तर (Endothelium) में स्नायुतंतु की मात्रा बढ़ने लगती है जिससे वहां वहां का आभ्यंतर स्तर बटन की तरह कठोर सा हो जाता है। एवं हृदय पोषक धमनियों की आभ्यंतर स्तर में क्षार के कारण पीले से रंग के उभार (Yellow Nodules) से हो जाते हैं। अब इन छोटे छोटे उभारों के पोषण के लिये यद्यपि इन्हें रक्त पहुंचाने के लिये जो सूक्ष्म धमनियां (Capillaries) उत्पन्न होती हैं और जो अंदर के स्रोत से ही वहां रक्त पहुंचाती हैं अधिक भंगुर होती हैं। जिससे रक्त भार के थोड़ा बढ़ने से भी शीघ्र फट जाती हैं। इन सूक्ष्म धमनियों (Vasavasorum) के इन उभारों (Nodules) के अंदर फट जाने से इन उभारों में रक्त स्राव हो जाता है एवं इन Haematoma के कारण ये उभार हृदय पोषक धमनी (Coron:Artery) के स्रोत के अंदर और भी उभर जाते हैं और नाली को और भी अधिक तंग कर देते हैं। उभार के अंदर रक्त के

जमा हो जाने से वहां कफ की मात्रा और बढ़ती है। एवं Atherosclerosis की प्रक्रिया और अधिक तेज हो जाती है। इन उभारों के अंदर एक पीला सा पदार्थ होता है, जो दलिये (Athera) की तरह लुचलुचा होता है। इसलिये इस उभार को Atheroma कहते हैं। हृदय पोषक धमनियों को तंग कर देने का यह प्रधान कारण होता है। इसके कारण हृदय मांस को रक्त कम पहुंचता है। विशेषतः श्रम के समय हृदय मांस को रक्त कम मिलने से (हृच्छूल) Angina का रोग हो जाता है। बाद में इसके अंदर के लुचलुचे पदार्थ के इसके पृष्ठ पर आ जाने से वहां पर Thrombocytes इकट्ठे हो जाते हैं। जिससे वहां Thrombus बनकर धमनी का स्रोत पूर्णतया बंद हो सकता है। इसी को हृदय धमनी रोध (Cornnary Thrombosis.) कहते हैं।

हृदय शूल का रोग ७०, ८० वर्ष पहले बहुत कम पाया जाता था। वर्तमान समय में उत्तरोत्तर यह रोग अधिकाधिक पाया जा रहा है। वर्तमान समय में भी देहात के निश्चिन्त श्रमियों की अपेक्षा शारीरिक श्रम सर्वथा न करने वाले चिन्ता शील दिमागी काम करने वाले, ७०, ६५ वर्ष की आयु के शहरियों में अधिक होता हुआ देखा जाता है। शांत प्रकृति के स्थूल व्यक्तियों की अपेक्षा विक्षोभ शील प्रकृति के स्थूल व्यक्तियों में अधिक होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शारीरिक श्रम सर्वथा न करने पर स्निग्ध गुरु गुण भोजन के अधिक मात्रा में करते रहने से अर्थात् शरीर के अंदर पचन (Combustion या Basic Metabolism) के मंद हो जाने से हृदय पोषक धमनियों में रोध (Atherosclerosis) होने की आशंका अधिक रहती है। अर्थात् जो अवस्थायें शरीर में मधुमेह या Myxoedema जैसे लक्षणों को उत्पन्न करती हैं वे इस रोग के बढ़ाने वाली होती हैं। इसीलिये इस रोग में प्रायः मेदोवृद्धि (Obesity) तथा Hyperchalesteroiaemia. के लक्षण भी हुआ करते हैं। देहाग्नि की न्यूनता के अतिरिक्त मानसिक चिन्ता शीलता एवं व्याकुलता भी रक्त भार तथा हृदय धमनी काठिन्य (Coronary-Atherosclerosis) का वर्धक प्रतीत होती है और क्योंकि वर्तमान समय में लोगों की आर्थिक चिन्ताओं और व्याकुलताओं को बढ़ाने वाले कारण बढ़ गये हैं। इसलिये यह रोग भी पहले के शांत युगों की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है। बहुधा तो हृदय धमनियों में Antherosclerosis होने के कारण ही हृदय शूल का रोग होता है। कभी कभी Syphilitic Aortitis के कारण Aotric-Valve में Regurgitation का रोग हो गया हो या Aorta में विद्यमान हृदय पोषक धमनियों के मुख तंग हो गये हों तो इन दोनों अवस्थाओं में हृदय मांस को रक्त के कम मात्रा में मिलने से भी हृदय शूल का रोग हो सकता है।

हृदय शूल के व्यंजक (Exciting) कारण :-

शाखाओं की मांस पेशियों पर जब कार्य भार अधिक आ पड़ता है और उतनी मात्रा में उन्हें रक्त मिलता नहीं तब उनमें दर्द होने लगता है। इसी प्रकार जब हृदय पर कार्य भार तो अधिक आ पड़े और उसे उचित मात्रा में रक्त न मिल सके तब उसमें भी दर्द हो जाता है। जैसे तीव्र आवेश के साथ बोलने या वाद विवाद करने से तथा घबराकर शीघ्रता में चलने से शरीर की अन्य सूक्ष्म धमनियों में संकोच (Vasoconstriction) हो जाता है। वैसे ही हृदय पोषक धमनियों में भी संकोच हो जाता है। इस प्रकार जब जब भी ऐसे व्यक्ति को जिसकी हृदय पोषक धमनियों में Atherosclerosis हो घबराहट में तथा अधिक शीत में किसी प्रकार का तीव्र श्रम करना पड़ता है और इनमें धमनी संकोच होकर हृदय को उचित मात्रा में रक्त नहीं मिल पाता तब तब हृदय में शूल हो जाता है। श्रम के समय हृदय मांस में विद्यमान Glycogen का पचन होकर Lactic Acid की उत्पत्ती होती है। वहां रक्त की मात्रा पर्याप्त हो तो यह वहां से हट जाता है। परंतु रक्त की न्यूनता में जब इसकी मात्रा नार्मल से अधिक हो जाती है तो यह दर्द का कारण बन जाता है। धमनियों की दीवार में विद्यमान Sympathetic नाड़ियों के द्वारा इस दर्द की प्रतीति प्रथम चार Dorsal Segments में से होकर मस्तिष्क में जाती है। इन Segments से संबंधित Sensory तथा Motor Nerves पर भी इसका Reflex प्रभाव पड़ता है। इसीलिये वाम अग्रबाहु के अन्तः पृष्ठ पर भी यह शूल प्रतीत होता है। क्योंकि यह प्रथम Dorsal Segment का क्षेत्र है। वाम ऊर्ध्व बाहु के अन्तः पृष्ठ पर भी यह शूल प्रतीत होता है। क्योंकि यह दूसरे तथा तीसरे Dorsal Segment का क्षेत्र है। उरोस्थि (Sternum) के मध्य से बायें कंधे तक के प्रदेश में भी यह शूल हो सकता है, क्योंकि यह द्वितीय, तृतीय, तथा चतुर्थ Dorsal Segments का क्षेत्र है। कभी कभी बांये हाथ के पांच के अंदर के पृष्ठ तथा अंदर की दोनों अंगुलियों में भी दर्द होता है, क्योंकि यह आठवें Cervical Segment का क्षेत्र है। कभी कभी यह दर्द वाम ग्रीवा और कंधे के पीछे Trapezius के प्रदेश तथा Sternomastoid के प्रदेश में भी होता है। क्योंकि हृदय के दर्द की प्रतीति ऊपर Vagus के Nucleus में आ जाती है और Vagus तथा Spinal Accesory Nerve के Jugular Foramen में इकट्ठे हो जाने से यह दर्द इस Nerve के प्रदेश में भी प्रतीत हो सकता है। हृदय शूल के समय रोगी को अपनी छाती एक शिकंजे में कसी जा रही प्रतीत होती है, क्योंकि इन्हीं Segments

में से निकली Motor Nerves पसलियों की Inter Costal Muscles में तीव्र संकोच उत्पन्न करने का कारण हो जाती हैं। बहुत से व्यक्तियों में शूल के दौरान में तथा उसके बाद दाहिने बाहु या उसकी अंदर की एक दो अंगुलियों में झनझनाहट या शिथिलता या सुप्ति का लक्षण भी प्रतीत होता है।

अस्थायी हृदय शूल Angine Pectoris(ग्रीवा शूल तथा छाती)

Angina of Effort:- ५० वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों में विशेषतः पुरुषों में घबराहट या व्याकुलता के साथ किसी प्रकार का श्रम करते समय या खाना खाकर जल्दी में कहीं जाते समय या सीढ़ी चढ़ते समय उरोस्थि के पीछे सहसा ही एक तीव्र शूल उत्पन्न होता है। जो कुछ सेकंड से १,२ मिनट ही रहता है। यह कभी मंद, कभी तीव्र और कभी तीव्र तर होता है। इसके होते ही रोगी चुपचाप और निश्चल होकर जैसे का तैसा खड़ा रह जाता है। उसका श्वास प्रश्वास भी उथला और हल्का पड़ जाता है। उसका चेहरा चिन्ता ग्रस्त फीका और शीत स्वेद से युक्त हो जाता है। रोगी को कभी कभी ऐसा लगता है जैसे उसका अंत होने ही वाला है। कभी तो यह दर्द छाती में एक स्थान पर ही सीमित रहता है। कभी कभी बांये कंधे, बांई भुजा के अंत पृष्ठ पर अंदर की अंगुलियों तक या ऊपर कंठ के पीछे तक प्रसरण करता है। इसमें छाती भिंची सी जा रही प्रतीत होती है। शूल के वेग के बाद रोगी की परीक्षा करने पर उसके हृदय में अति वृद्धि तथा बढ़े हुये रक्त भार के लक्षण पाये जाते हैं। ५० वर्ष से ऊपर के व्यक्ति में पेट से ऊपर ग्रीवा तक के प्रदेश में ऐसा सहसा होने वाला दर्द हो जो आराम से ठीक हो जाता हो तो उसे अस्थायी हृदय शूल ही समझना चाहिये। यद्यपि Coronary Atherosclerosis होकर धीरे धीरे बढ़ता ही जाता है तथापि यदि शरीर में मेदा को तथा रक्त भार को न बढ़ने दिया जाय तथा, व्याकुलता के साथ श्रम न किया जाय तो रोगी ८,१० वर्ष तक सुख से रह सकता है। हृदय मांस के जिस भाग को रक्त कम पहुंचता है धीरे धीरे उत्पन्न हुई नई रक्त वाहिनियों (Collateral Channels) से उसे रक्त पहुंचने लग जाता है।

दीर्घ हृदय शूल :- Coronary Thrombosis, Cardiac Infarction:

हृदय पोषक धमनियों की किसी बड़ी शाखा में अवरोध होकर हृदय मांस के एक भाग को रक्त का मिलना सहसा बंद हो जाय तो उस भाग के मांस कणों में मृत्यु की प्रक्रिया आरम्भ (Coogulation Necrosis) हो जाती है। इसे Infarct कहते हैं। यदि यह भाग छोटा सा ही हो तो तीन चार सप्ताह तक Macrophages इन मरे हुये मांस सेलों को हटा देते हैं तथा नई रक्त वाहिनियों और Fibroblasts के आस पास से इस में आ जाने से इस मृत हुये मांस के स्थान पर सौत्रिक तन्तु (Fibrous Tissu

[illegible] Motor Nerves [illegible] Inter Costal Muscles

[illegible]

हृदय शूल Angina Pectoris (अंगाइना पैक्टोरिस)

Angina of Effort:- [illegible]

[illegible]

[illegible] Coronary Atherosclerosis

[illegible]

(Collateral Channels) [illegible]

हृद् शूल :- Coronary Thrombosis, Cardiac Infarction:

[illegible]

[illegible] (Coagulation Necrosis) [illegible]

[illegible] Infarct [illegible]

[illegible] Macrophages [illegible]

[illegible] Fibroblasts [illegible]

[illegible] (Fibrous Tissue

घेर (Scar Tissue) बन जाता है। दो महीने तक प्राय: हृदय मांस मांस में उत्पन्न हुआ Infarct फूला सा भर जाता है। यदि सहसा अवरोध न होकर धीरे धीरे अवरोध हो और धीरे धीरे ही मांस तन्तुओं की मृत्यु होती जाय और उनके स्थान पर स्नायु तंतु भी बनता जाय तो उसे Cardiac Infarct नहीं कहते। तब उसे Myocardial-Fibrosis कहा जाता है। प्राय: बांई Coronary Artery की Anterior Discending Branch के प्रारंभ से २ सेन्टीमीटर नीचे अवरोध पर (Coronary Occlusion) हुआ करता है जिससे Infarct बांये Ventricle के तथा दोपक कोष्ठों के बीच की दीवार (Interventricular Septum) के अगले भाग में होता है। जब अवरोध दांई Coronary Artery में होता है तो बांये Ventricle के तथा दोपक कोष्ठों के बीच की दीवार के कुछ पिछले भाग में Infarct होता है।

लक्षण :-

५०,६० वर्ष की आयु के व्यक्तियों में जिनका रक्त भार बढ़ा हुआ होता तथा जिन्हें बहुधा पहले हृदय शूल के वेग होते रहे हैं आराम से पड़े हुये या सोते हुये जब हृदय गति के मंद हो जाने से Coronary Atherosc-Lerosis. से ग्रस्त हृदय को रक्त मिलना सर्वथा ही बंद हो जाता है तब हृदय मांस में Infarct होकर सहसा तीव्र हृदय शूल होता है जो (Sternum) के मध्य या निम्न भाग पर होता तथा बाम बाहु या दोनों बाहुओं में अंगुलियों तक या ऊपर कंधों और ग्रीवा तक प्रसरण करता है। यह क्रमश: बढ़कर निरंतर घंटों तक बना रहता है। और अत्यन्त वेदना जनक होता है। रोगी को अपनी छाती एक शिकंजे में कसी जा रही, भींची जा रही, दबाई जा रही, कुचली जा रही, अथवा पीसी जा रही, प्रतीत होती है। इस शूल में रोगी शांत एवं निश्चल न होकर अत्यन्त बैचेन होता है। इस दर्द के होने के साथ ही रोगी का चेहरा चिन्ता या भय ग्रस्त हो जाता तथा पीला और शीत स्वेद से युक्त हो जाता है। रोगी अपने को अत्यन्त निर्बल अनुभव करने लगता है। उसकी नाड़ी अति निर्बल होती है जिसकी प्रति मिनट गति १०० के लगभग होती है। रक्त भार गिर कर १०० M.M.,Hg., तक या इससे भी नीचे आ जाता है। तापमान नार्मल से कम होता है। हृदय का प्रथम शब्द निर्बल होता है। हृदय के दोनों शब्द एक से सुनने तथा बीच के दोनों अंतर भी एक जितने हो जाते हैं। (Embryocardia) रोगी के हाथ पैर भी तीव्र

[illegible] (Scar Tissue) का बनता है। [illegible] Infarct [illegible] कहलाता है। [illegible] Cardiac Infarct [illegible] Myocardial-Fibrosis [illegible] Coronary Artery [illegible] Anterior Discending Branch [illegible] (Coronary Occlusion) [illegible] Infarct [illegible] Ventricle [illegible] (Interventricular Septum) [illegible] Coronary Artery [illegible] Ventricle [illegible] Infarct [illegible]

लक्षण :-

[illegible] Coronary Atheroscerosis. [illegible] Infarct [illegible] (Sternum) [illegible] M.M.Hg. [illegible] (Embryocardia) [illegible]

सिरा संकोच (Vasoconstriction) के कारण फीके दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार रोगी इस समय आघात जनित (Shock) की अवस्था में होता है। Cardiac Infarct के कारण हृदय शूल तथा आघात (Shock) के लक्षण होते हैं। वाम हृदय अतिक्रिया (Left Heart Failure) का लक्षण भी हो सकता है। कभी कभी तो उपर्युक्त लक्षण गौण होते यही प्रधान रूप में होता है। इसके कारण श्वास कृच्छ्रता या रात्रि श्वास का लक्षण होता है जिससे Orthopnoea का लक्षण भी हो जाता है। इस अवस्था में छाती की परीक्षा करने से Medium Moist Rales सुने जा सकते हैं। तथा कभी कभी श्वास रोग के समान सीटियाँ (Rhonchi) के साथ लंबे बहिश्वास (Expiration) भी सुनाई पड़ते हैं। फुफ्फुस में रक्त संचय और स्वयथु के कारण बाँई ओर की दूसरी पसली पर हृदय का दूसरा शब्द ऊँचा सुनाई पड़ता है। शूल के वेग को शांत हो जाने पर भी छाती में हल्के दर्द की प्रतीति कुछ घंटों तक बनी रहती है। Infarct के कारण कुछ मांस के मृत हो जाने से कोई प्रोटीन विष रक्त में संक्रमण कर जाता है। जिससे १०० डिग्री के लगभग ज्वर भी हो जाता है, जो १,२ दिन में शांत हो जाता है। जितना Infarct बड़ा होता उतना यह ज्वर देर तक रहता है। Infarct बहुत छोटा हो तो ज्वर नहीं होता। ज्वर के साथ Leucocytosis तथा B.S.R. भी बढ़े हुये पाये जाते हैं।

उपद्रव :-

१.. Hypostatic Pneumonia:- हृदय की निर्बलता के कारण फुफ्फुस में स्वयथु होकर हो सकता है। इसके कारण ज्वर, शीघ्र श्वास, हृदय गति की तीव्रता, खांसी, बलगम तथा फुफ्फुस के निम्न भाग में ठोसपन (Consolidation) हो जाने के लक्षण होते हैं।

२.. Congestive Heart Failure:- हो तो सिराओं तथा शाखाओं में स्वयथु का लक्षण होता है।

३.. हृदय गति वैषम्य (Arrhythmia):- दोनों हृदयों के बीच की दीवार में विद्यमान Bundle of His भी इससे ग्रस्त हो तो ~~Rex~~ Premature Contraction, Paroxysmal Tachycardia, Auricular Fibrillation, Heart Black. आदि किसी प्रकार का हृदय गति वैषम्य हो सकता है।

४.. हृदय के आभ्यंतर स्तर में हुये Thrombosis से Emboli पृथक होकर मस्तिष्क की सूक्ष्म धमनियों में या शाखाओं की धमनियों में अवरोध का कारण बन सकते हैं। इस रोग के होने के दो सप्ताह तक उपद्रवों के होने का भय रहता है।

साध्यासाध्य : Prognosis:-

यदि हृदय शूल का तीव्र वेग पहला ही हो तथा दीर्घ न हो, दर्द के दौरे के साथ श्वास कृच्छ्रता और Shock के लक्षण विशेष न हों, ज्वर न हो या मंद हो, Leucocytosis अधिक न हो, हृदय शब्द निर्बल न हों, नाड़ी वैगन्य देर तक न रहे, वेग के बाद तीन सप्ताह बिना किसी उपद्रव के व्यतीत हो जायें तो हृदय के इस मृत हुये प्रदेश (Infarct) के अंदर चारों ओर से नई रक्त वाहिनियों के आ जाने (Arterial Anastomosis) के द्वारा नये स्नायु तंतु के बन जाने से क्षति की पूर्ति हो जाती है।

अस्थायी हृदय शूल Angina Pectoris की चिकित्सा :-

वेग के समय की चिकित्सा :-

शांत एवं निश्चल होकर खड़े रहने या बैठ जाने या लेट जाने से दर्द शांत हो जाया करता है। दर्द के शांत हो जाने के बाद भी कुछ मिनटों तक आराम जारी रखना चाहिये। वेग तीव्र हो या शीघ्र शीघ्र हो जाते हों तो वेग के शांत हो जाने के बाद ३,४ सप्ताह तक शैया शायी होकर विश्राम कर लेने से फिर वेग नहीं होते। हृदय शूल शामक औषधियों में से प्रमुख औषधि Trinitrin, Trinitroglycerin, Nitroglycerine या Glyceryl-Trinitrate है। इसकी .३ मिलिग्राम या १।२०० ग्रेन की दुग्ध की खांड के साथ बनी, चोकोलेट बड़ी, गोलियां मिलती हैं। एक गोली को मुख में रखकर चूसने और इसे कुछ देर मुख में ही रखने से १,२ मिनट के अंदर अंदर इसका प्रभाव हो जाता है तथा आधा घंटे के लगभग कायम रहता है। इससे हृदय पोषक धमनियों में उत्पन्न हुआ स्तंभ (Constriction) दूर होता है। उनके शिथिल होकर फैल जाने से हृदय मांस को रक्त अधिक पहुंचने लगता है। इसका प्रभाव शरीर धमनियों पर भी होता है। उनके फैल जाने अर्थात् उनके अंदर रक्त भार के गिर जाने से हृदय के सामने की रुकावट (Resistance) भी घट जाती है। एक गोली से आराम प्रतीत न हो तो ५ मिनट बाद दूसरी गोली भी ली जा सकती है तथा यदि १ गोली के लेने से रक्त वाहिनियों में अधिक शिथिलता होकर मुख लाल हो जाता हो या सिर में दर्द हो जाता हो तो इसकी आधी मात्रा लेनी चाहिये। इस औषधि को १।२०० से १।१५० या १।१०० ग्रेन तक की मात्रा में दिया जा सकता है। ये गोलियां Paraffine Wax के द्वारा सील करके रखी जाती हैं क्योंकि देर तक हवा के लगने से निष्क्रिय हो जाती हैं। अतः बहुत देर तक बाहिर रखी गई गोलियों पर विश्वास नहीं करना चाहिये। Amylnitrate ३,५ बूंद कैप्सूल में मिलता है। इसे रूमाल में तोड़कर सुंघने से तुरंत यह शूल शांत हो जाता है। यदि ये औषधियां उस समय न मिल सकें तो Alcohol या Brandy या Whiksy १ औंस के पिला देने से भी यही लाभ होता है। Morphine—

Shock

Leucocytosis

(Infarct)

(Arterial Anastomosis)

अनजाइना पेक्टोरिस Angina Pectoris की चिकित्सा :-

दौरे के समय की चिकित्सा :-

Trinitrin, Trinitroglycerin, Nitroglycerine या Glyceryl-Trinitrate

(Constriction)

(Resistance)

Paraffine Wax

Amylnitrate

Alcohol Brandy Whisky

Morphine

Sulph: $\frac{1}{4}$ ग्रेन के त्वचा द्वारा देने से भी यही लाभ होता है।

रोग के बाद की चिकित्सा :-

अति शारीरिक श्रम से बचना चाहिये। विशेषतः भोजन करने के बाद जब हृदय पर पहले ही कार्य भार होता है शीघ्र शीघ्र चलने या शीघ्रता से सीढ़ियों पर चढ़ने का श्रम नहीं करना चाहिये। श्रम की अपेक्षा भी व्याकुलता से हृदय पर कार्य भार अधिक आ पड़ता है। अतः मानसिक व्याकुलता उत्पन्न करने वाले कार्यों से सदा बचना चाहिये। इसके लिये अपने काम धंधे के उत्तरदायित्व से मुक्त होना पड़े तो मुक्त हो जाना चाहिये। खुली हवा में भ्रमण या कुछ व्यायाम करने से हृदय का पोषण बढ़ता है। अतः साधारण शारीरिक श्रम से कोई हानि नहीं प्रत्युत लाभ ही होता है। रात्रि को नियम से ८ घंटे विश्राम करना चाहिये तथा रविवार को भी नियम से बहुत सा समय शैया शायी होकर विश्राम में व्यतीत करना चाहिये। मस्तिष्क को विक्षुब्ध कर देने वाले सभी भावों से अर्थात् हर प्रकार के वाद विवाद से बचना चाहिये। इससे हृदय पर अत्यधिक कार्य भार पड़ता है। यदि व्यक्ति का स्वभाव विक्षोभ शील हो तो Phenobarbitone $\frac{1}{4}$ ग्रेन का दिन में तीन बार प्रयोग कर लेना चाहिये। आयु तथा ऊंचाई के अनुसार जितना भार होना चाहिये उससे अधिक हो तो उसे कम करना चाहिये। अर्थात् भोजन की मात्रा कम कर देनी चाहिये तथा भोजन में घी, तेल, खांड, मांस आदि की मात्रा विशेष घटा देनी चाहिये। जितनी मेदा अधिक होती है उतना ही हृदय पर कार्य भार बढ़ता है। अतः शरीर की मेदा को कम करना चाहिये। प्रारंभिक विश्राम काल में दैनिक १००० कैलोरी का भोजन ही लेना पर्याप्त होता है तथा लवण आठ ग्राम से अधिक नहीं लेना चाहिये। फिर बाद में भोजन बढ़ाया जा सकता है। पर पेट भरके भोजन करने की आदत छोड़ देनी चाहिये। दिन में छोटे नाश्ते की की तरह के चार भोजन ही लेने चाहिये। जिनमें जल या कोई द्रव नहीं लेना चाहिये। इनमें फैट की मात्रा बहुत कम होनी चाहिये। तंबाकू या सिगरेट आदि से रक्त भार बढ़ता है तथा हृदय गति तीव्र होती है। अतः इसका परित्याग करना चाहिये। हृदय शूल के रोगों से बचने के लिये उन Nitrites का जिनका सिरा प्रसारक (Vesodilator) प्रभाव रक्त वाहिनियों पर देर तक रहता है करना चाहिये। इनमें से Penta Erythritol Tetranitrate(Peritrate) का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। इसके १५ मिलिग्राम या $\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा में २,३ बार भोजन से पहले तथा सोते समय लेने से हृदय शूल होने का भय नहीं रहता। इसकी एक मात्रा का प्रभाव ४,६ घंटे तक रहता है। अतः किसी आवश्यक श्रम करने से पहले इसकी एक मात्रा ले ली जाती है। Menthol-Hexanitrate की १५ मिलिग्राम या $\frac{1}{4}$ ग्रेन की गोलियां भी इसी प्रकार

४,६ घंटे तक अपना Vasodilator प्रभाव करती है। Aminophylline (Thephylline तथा Ethylene Diamine का मिश्रण) की १½ ग्रेन से ३ ग्रेन तक की गोलियाँ के दिन में तीन बार लेने से भी हृदय सिरा द्वारा Coronary Dilatation होता है तथा हृदय शूल के होने की आशंका नहीं रहती। इसे .२ ग्राम ३ ग्रेन की मात्रा में .२५ ग्राम Alluminium Hydroxide Gel के साथ मिला कर (Theodrox, Aludrox) (के रूप में) लेने से इसका पेट

प्रतिदिन ५० मि०लि० मात्रा में Khellin भी धमनी संकोच को दूर करता है

पर विक्षोभक प्रभाव नहीं होता। रोगी को सरदी में जाने से बचना चाहिये। तथा सरदी में गरम कपड़ों में रहना चाहिये। छाती पर गरम कपड़ा रखने से भी हृदय धमनियों में संकोच (Vasoconstriction) नहीं होता।

स्थायी हृदय शूल की चिकित्सा : Cardiac Infarction या Cardiac Thrombosis. की चिकित्सा :-

विश्राम चिकित्सा :-

तीव्र हृदय शूल के वेग के समय हृदय को पूर्ण विश्राम देना चाहिये। ताकि इसमें उत्पन्न हुआ Infarct और न बढ़े। इस प्रयोजन से रोगी को आराम से लिटा देना चाहिये। लेटना कठिन हो तो तकियों के सहारे से बैठा देना चाहिये। इसे पूर्ण विश्राम देने के लिये शूल थोड़ा हो तो Codeine-Sulphate. ३० मिलिग्राम तथा Phenobarbitone ३० मिलिग्राम मिला कर दो बार दे सकते हैं। शूल अधिक हो तो Morphine Sulphate १५ मिलिग्राम (¼ ग्रेन) की मात्रा में Atropine Sulphate 1/100 ग्रेन के साथ त्वचा द्वारा देना चाहिये। इस में [illegible] होने की आशंका रहती है। इसलिये इसके स्थान पर Pethidine Hydrochloride का ५० मिलिग्राम की मात्रा में त्वचा द्वारा प्रयोग किया जाता है। इन्जेक्शन के बाद भी दर्द बना रहे तो १ घंटा बाद ¼ ग्रेन मार्फिया त्वचा द्वारा फिर भी दे देना चाहिये। शूल के अतिरिक्त रोगी में आघात (Shock) के भी लक्षण होते हैं जैसे रक्त भार की न्यूनता, सर्वांग शैत्य तथा कभी कभी मूर्छा (Syncope) भी रोगी में होती है। इसकी शांति के लिये रोगी के आसपास गर्म बोतलें रख देनी चाहिये। गर्मी के अतिरिक्त मार्फिया तथा विश्राम के देने से ये लक्षण भी शांत हो जाते हैं। Shock के लक्षण तीव्र हों तो Nosal Catheter या B.L.B.Mask द्वारा आक्सिजन कई घंटों तक देनी चाहिये। इससे श्वास कृच्छ्रता तथा दर्द दोनों लक्षण भी शांत होते हैं। प्रारंभ में भोजन बहुत ही थोड़ा देना चाहिये। जल की मात्रा भी दिन में थोड़ी होनी चाहिये। रोगी को बस्ति तथा रेचक एक सप्ताह तक नहीं देने चाहिये। एक सप्ताह तक भोजन स्वल्प मात्रा में ही देना चाहिये। अर्थात् रोगी को कुछ फल रस या दुग्ध पर ही रहना चाहिये। द्रव भोजन भी दिन भर में एक या सवा सेर से अधिक नहीं देना

चाहिये। एक सप्ताह के बाद भी महीनों तक रोगी को पेट भर के भोजन न लेकर दिन भर नाश्ते की तरह के चार भोजनों पर ही रहना चाहिये। जिससे शरीर का भार घटे। ऐसा भोजन लेना उचित है। भोजन में लवण की मात्रा १, २ माशे से अधिक नहीं होना चाहिये। हृदय शूल के इस तीव्र वेग के होने के एक मास तक रोगी को शैया शायी होकर विश्राम करना चाहिये। प्रारंभिक दिनों में तो उसे करवट भी दूसरे के सहारे से लेनी चाहिये। मल, मूत्र आदि का परित्याग भी पड़े पड़े ही करना चाहिये। भोजन पान भी पड़े पड़े ही मिलना चाहिये। उसके पास दो सेवक नियुक्त होकर सदा रहने चाहिये ताकि वह अपने आप किसी प्रकार का शारीरिक श्रम न करे। एक मास के बाद एक मास के लिये फिर भी उसे शैया पर ही रहना चाहिये। परंतु शैया पर उठ बैठने की छूट दे देनी चाहिये। दो मास बाद एक मास के लिये शैया पर से उतरने की छूट मिल जानी चाहिये। पर कमरे के अंदर ही रहते हुये बहुत सा समय विश्राम में बिताना चाहिये। इस प्रकार तीन मास तक विश्राम करने से हृदय की दीवार में उत्पन्न क्षति पूर्ति हो जाती है। इसकाल में मल बंध की शिकायत प्रायः रहती है। इसके लिये तीव्र विरेचन कोई नहीं देना चाहिये। वेग के तीन चार दिन बाद बस्ति तथा Liquid Peraffine का प्रयोग किया जा सकता है।

हृदय शूल के वेग के दो सप्ताह बाद हृदय के पोषण को बढ़ाने के लिये Aminophylline का $1\frac{1}{2}$ से ३ ग्रेन की मात्रा में अकेले या Phenobarbitone. $\frac{1}{4}$ ग्रेन के साथ दिन में ३, ४ बार प्रयोग किया जा सकता है। इसके हृदय सिरा प्रसारक (Coronary Vasodilator) होने से हृदय का पोषण बढ़ जाता है। इसके द्वारा हृदय निर्बलता दूर होती है तथा फुफुस में रक्त संचय का दबाव शांत होता है।

<u>रक्त भार वृद्धि, या धमनी जरा रोग :-</u> Hypertension, Bolood Pressure, Arteriolosclerosis:

रक्त वाहिनियों पर रक्त का एक भार या दबाव सदा रहता है। इसीलिये जब कोई धमनी फटती है तो वहां से रक्त की धार कई फुट दूर तक जाती है। हृदय का मांस जिस बल से रक्त को आगे की ओर फेंकता है तथा लचकीली अर्थात् Elastic Tissue प्रधान बड़ी बड़ी धमनियां विश्राम काल (Diastole) के समय जिस बल के साथ पीछे को फिरती (Recoil) करती हैं उसके कारण रक्त का भार उत्पन्न होता है। बड़ी बड़ी धमनियों में से फूटने वाली छोटी छोटी धमनियों (Arterioles.) में लचकीला अवयव नहीं होता प्रत्युत उनमें मांस मय स्तर ~~(Arterioles)~~ (Muscular Layer) विशेष तौर से विकसित होता है तथा उनका यह मांस मय स्तर सदा ही न्यूनाधिक रूप में संकोच (Constriction) की अवस्था में रहता है। इसलिये इनके अंदर

जब रक्त पहुंचता है तो रक्त और इनकी दीवार के बीच का संघर्ष (Friction) और भी बढ़ जाता है अर्थात् इनके संकोच के कारण जब इनके बीच का मार्ग तंग हो जाता है तो रक्त का भार और भी बढ़ जाता है। शरीर की छोटी छोटी धमनियों का तंत्र इस स्तर उपर Medulla में विद्यमान Vasomotor-Centre. के नियंत्रण में रहता है। यह केन्द्र उपर के Hypothalamus तथा Frontal Lobe के निम्न पृष्ठ पर विद्यमान केन्द्रों से बहुत अधिक प्रभावित रहता है। अर्थात् नाना प्रकार के मानसिक आवेगों और विरोधों से विक्षुब्ध रहता है। इस केन्द्र में से इतर संकोचक (Vasoconstrictor) नाड़ी सूत्र सुषुम्ना में से निकल कर (Sympathetic Ganglia में आते हैं। और वहां से निकले संकोचक (Vasoconstrictor) नाड़ी सूत्र (Spinal-Nerves) के साथ साथ धमनियों (Arterioles) में पहुंचते और इन्हें संकुचित रखने का कार्य करते हैं। इसी लिये आवेश प्रधान विक्षोभ शील प्रकृति के व्यक्तियों में स्वभावतः ही रक्त भार बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है। Sympathetic नाड़ी मंडल के उत्तेजना से उत्पन्न होने वाले संकोच (Vasc Constriction) को कम करने का कार्य Parasympathetic नाड़ियां विशेषतः Vagus की नाड़ियां करती हैं। परंतु जो व्यक्ति व्यायामशील नहीं होते या अत्यधिक चिन्ताशील एवं आवेश प्रधान होते हैं उनमें Parasympathetic की अपेक्षा Sympathetic नाड़ियों की प्रबलता रहती है जिससे उनमें रक्त भार बढ़ जाता है। इसीलिये वायु प्रकृति (Neuropathic) के व्यक्तियों में धमनी संकोच की अधिकता के कारण रक्त भार बढ़ जाता है।

दूसरी ओर जब रक्त की मात्रा बढ़ जाती है जैसे अति मात्रा में आहार पान करते रहने तथा शारीरिक श्रम सर्वथा न करने वालों में होता है तब भी रक्त भार बढ़ जाता है। रक्त में किसी भार कारक (Pressor) पदार्थ के बने रहने से भी रक्त भार बढ़ जाता है। इस प्रकार मधुमेह, मेदो वृद्धि (Obesity)Myxaedema आदि रोगों में रक्त भार बढ़ जाया करता है। तथा तंबाकू, मद्य, चाय, काफी आदि पदार्थों के अति मात्रा में चिर काल तक सेवन करते रहने से भी रक्त भार बढ़ जाता है। बहुत से दांतों की जड़ों में पूय हो या शरीर के किसी अन्य अंग में पूय रहता हो तो उसके दुष्प्रभाव से भी रक्त भार बढ़ सकता है। बड़ी आयु में वृक्क रोग हो, वृक्क शोथ (Chronic Nephritis) का रोग हो और रोगी अधिक लवण का सेवन करता हो जिससे रक्त में Urea की मात्रा बढ़ गई हो। साधारण २०,४० मिलिग्राम १०० सी.सी. में तो भी रक्त भार बढ़ जाता है। रक्त में किसी प्रकार के विष द्रव्य (Metabolic, Bacterial या Chemical)

के देर तक खड़े रहने से भी रक्त भार बढ़ता है। गर्भावस्था में छठे, सातवें मास में भी रक्त के अंदर कभी कभी एक विष द्रव्य बढ़ जाता है। (Pregenancy Toxaemia) जिससे गर्भिणी स्त्री का रक्त भार बढ़ सकता है। ये विष द्रव्य धमनी संकोच (Vasoconstriction) का कारण हो जाते हैं। जो कि रक्त
वृद्धि का प्रधान कारण है इसके कारण जो रक्त भार
भार उत्पन्न होता है उसे विश्राम कालिक (Diostolic) भार कहते हैं। यह जितना बढ़ता है उतना ही हृदय को अपना संकोच प्रबलतर करना पड़ता है। जिससे हृदय संकोच कालिक भार भी बढ़ जाता है। ५० से ६० या ७० वर्ष की आयु में रक्त भार वृद्धि का रोग पाया जाता है। धमनियों में जीर्णता (Sclerosis) का रोग भी इसी आयु में होता है। संभवतः यदि वृक्क की धमनियों में जीर्णता का रोग विशेष रूप से आरंभ हो जाय तो वृक्क रोग के उपद्रव के रूप में रक्त भार वृद्धि का रोग होता है।

इस प्रकार वृक्क रोग, मानसिक विक्षोभ, रक्त में किसी विष द्रव्य का संचार (Toxaemia) प्रधानतः इस रोग के कारण माने जाते हैं। वस्तुतः तो इस रोग के कारणों का अभी तक ठीक ठीक पता नहीं चला। निरुपद्रव (Benign) तथा सोपद्रव (Malignant) रक्त भार (Arteriolo-sclerosis) दो प्रकार का होता है।

विकृति :-

निरुपद्रव रक्त भार रोग में शरीर की सूक्ष्म धमनियों (Arterioles) में अधिक अधिक संकोच होते रहने से पहले स्थान स्थान पर इनके मध्य तथा आभ्यंतर स्तर क्रमशः स्थूल होते जाते हैं जिससे इनकी दिवारें स्थूल होती जाती हैं। फिर इन दिवारों की सूक्ष्म पोषक धमनियों (Vasovasoram) -- में भी रुग्णता के हो जाने से इनका पोषण ठीक ठीक नहीं होता। जिससे क्रमशः इनके मांस मय स्तर में स्नायु तंतु की वृद्धि (Fibrosis) होने लगती है जिससे ये धमनियां कुछ कठोर हो जाती हैं। अर्थात् इन में धमनी काठिन्य (Arteriolosclerosis) की प्रक्रिया हो जाती है। हृदय पोषक धमनियों, मस्तिष्क धमनियों तथा वृक्क की धमनियों और (Retina) की धमनियों में इस धमनी काठिन्य की प्रक्रिया होने से इनके पोषण में न्यूनता आ जाती है, (Ischaemia) हो जाता है परंतु वर्षों तक इस अवस्था के रहने से भी कोई उपद्रव नहीं होता था क्योंकि हृदय को शरीर की धमनियों के कठिन हो जाने से संकोच के समय एक बढ़े हुये प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है जिससे उसका वाम रेपक कोष्ठ आकार में बड़ा हो जाता है। इसे क्षति पूर्ति कारक हृदय की शक्ति वृद्धि कह सकते हैं। इस प्रकार धमनियों के मांस मय स्तर में जितनी जितनी रुग्णता की प्रक्रिया बढ़ती जाती है उतना ही रक्त भार बढ़ता जाता है।

सोपद्रव रक्त भार (Malignant Hypertension) अथवा Aterosclerosis)

उपर्युक्त धमनी काठिन्य रोग के उपद्रव रूप में सूक्ष्म धमनियों की आभ्यंतर स्तर के नीचे स्थान स्थान पर वसा (Lipoid) के संचित हो जाने से धमनी रोध (Atheroma या Endartiritis) के लक्षण हो जायें तो इससे उपद्रव हो सकते हैं। इसलिये इसे सोपद्रव रक्त भार कहते हैं। वृक्क की सूक्ष्म धमनियों में अवरोध हो जाय तो जीर्ण वृक्क रोग (Nephrosclerosis) हो जाता है। मस्तिष्क हृदय तथा Mesentery (उदर) की धमनियों के आभ्यंतर स्तर के नीचे वसा के संचित हो जाने या अवरोध के कारण इन अंगों को रक्त ठीक ठीक मात्रा में नहीं मिल पाता। इस अवस्था को Atherosclerosis की अवस्था कहते हैं। इसमें विश्राम कालिक रक्त भार १२० M.M. Hg: से भी ऊपर रहता है।

लक्षण :-

धमनियों पर जो रक्त भार हर समय रहता है उसे विश्राम कालिक भार (Diastolic Pressure) कहते हैं तथा हृदय के संकोच के समय उनमें जो रक्त भार होता है उसे संकोच कालिक भार (Systolic Pressure) कहते हैं। जन्म के समय जब धमनियां मृदु होती हैं तब विश्राम कालिक भार ४० तथा संकोच कालिक भार ७५ होता है (नाड़ी भार ३५) नवयुवावस्था में विश्राम कालिक ६०, संकोच कालिक १०० (नाड़ी भार ४०) होता है। मध्यम आयु में विश्राम कालिक भार ८० तथा संकोच कालिक भार १२० होता है। (नाड़ी भार ४०) ५०,६० वर्ष की आयु में विश्राम कालिक भार ९० तथा संकोच कालिक भार १४० होता है (नाड़ी भार ५०) इसके बाद इनमें थोड़ी वृद्धि होती है तथा फिर बड़ी आयु में विश्राम कालिक भार ९५ तथा संकोच कालिक भार १४५ नार्मल समझे जाते हैं। जब विश्राम कालिक भार निरंतर ९० और संकोच कालिक भार १५० M.M. of Mercury से ऊपर रहे तब इसे मृदु रूप में रक्त भार बढ़ा हुआ कहा जाता है। जब विश्राम कालिक रक्त भार १०० M. M. Hg: तथा संकोच कालिक रक्त भार १८० के लगभग हो तब मध्यम रूप में रक्त भार बढ़ा हुआ कहा जाता है। जब विश्राम कालिक रक्त भार १२० तथा संकोच कालिक रक्त भार २०० से ऊपर होता है तब इसे तीव्र रूप में रक्त भार वृद्धि का रोग कहा जाता है।

प्रारंभ में जब तक सूक्ष्म धमनियों (Arterioles) तथा हृदय के मांस में अति वृद्धि का लक्षण रहता है तथा इससे जब तक शरीर के अवयवों को उचित मात्रा में रक्त मिलता रहता है कोई विशेष लक्षण नहीं होता। जब सूक्ष्म धमनियों तथा हृदय के मांस में ह्रासिता (Degen) के लक्षण हो जाते हैं एवं अवयवों को उचित मात्रा में रक्त नहीं पहुंच पाता तब लक्षण उत्पन्न होने

जाते हैं। किन्तु बहुधा तो रक्त भार के बढ़े हुये रहने पर भी कोई विशेष लक्षण नहीं होता। जब होते हैं तब निम्नलिखित लक्षण होते हैं।

१.. जब मस्तिष्क धमनियाँ के कठोर हो जाने अथवा संकुचित हो जाने पर मस्तिष्क का पोषण घट जाता है तब बुद्धि, धृति, स्मृति, एकाग्रता, आदि की शक्तियां घट जाती हैं। चिड़चिड़ा शीलता तथा चिन्ता शीलता के लक्षण बढ़ जाते हैं जिससे व्यक्ति स्वल्प कार्यों से भी व्याकुल और अशांत हो जाता है। मानसिक दौर्बल्य तथा अनिद्रता के लक्षण प्रबल रूप में हो सकते हैं। किसी किसी में भाषण शक्ति शिथिल हो जाती है (Aphasia) किसी में अदित रोग, किसी में एकांग घात का लक्षण हो जाता है। किसी किसी में थोड़ी देर के लिये मूर्छा या गहरी निद्रा का लक्षण होता रहता है। किसी किसी में उसके किसी अंग में आक्षेप (Convulsion) होने का लक्षण होता रहता है। अर्थात् मस्तिष्क के एक भाग को थोड़ी देर के लिये रक्त के न मिलने से ये लक्षण होते हैं। कुछ एक को शिरः शूल रहता है। जो सिर के एक देश में विशेषतः उसके पश्चिम प्रदेश में रहता है। सबेरे उठने पर विशेष रूप में प्रतीत होता है जो मस्तिष्क के स्वयथु (Oedema) से होता है पर बहुधा तो यह चिन्ता शीलता या चिड़चिड़ा शीलता के कारण होता है। किसी किसी में शिरोभ्रम या कर्ण घोष (Tinnitus) के लक्षण होते हैं जो मस्तिष्क के पोषण की न्यूनता के कारण या मस्तिष्क में स्वयथु (Oedema) के कारण होता है। अंत में किसी मस्तिष्क धमनी में अवरोध होकर या धमनी की जीर्णता के कारण रक्त स्राव होकर मूर्छा तथा पक्षाघात के उपद्रव हो जाते हैं।

२.. हृदय मांस के पोषण के कम हो जाने से अर्थात् उसमें रक्तिता के हो जाने के कारण व्यायाम करने पर या ऊपर चढ़ने पर हृदय स्पंदन तथा स्वास काठिन्य के लक्षण होने लगते हैं। या फुफुसों में स्वयथु भी हो जाय तो रात्रि स्वास के वेग का उपद्रव होने लगता है। हृदय का पोषण कम होने से तीव्र श्रम करने पर मृदु हृदय शूल के होने का लक्षण भी हो जाता है।

३.. वृक्कों की धमनियों के कठोर होने एवं उनका पोषण कम हो जाने पर उनकी मूत्र को गाढ़ा करने की शक्ति घट जाती है जिससे रात्रि मेह अर्थात् मूत्र के रात को अधिक मात्रा में आने का लक्षण होता है। (Polyuria) इससे पिपासा भी अधिक लगती है। मूत्र में अलब्यूमिन आने लगता है। रोग के बढ़ जाने पर जब उनकी Urea निकालने की शक्ति घट जाती है तब रक्त में उसकी मात्रा बढ़ जाती है।

४.. नेत्रों के पश्चिम पटल Retina की धमनियों के कठोर हो जाने पर

प्राय: एक आंख में दृष्टि धुंधली हो जाती है।

५. जंघाओं की मांस गत सूक्ष्म धमनियों के कठोर हो जाने से प्रान्त भागों की मांस पेशियों का पोषण कम हो जाने पर उनमें रात को Cramps या उद्वेष्टन की वेदना होने लगती है या दूर तक चलने पर इन में वेदना होने लगती है। (Claudication) स्वभावत: चलने पर मांस में जो कोई विष द्रव्य उत्पन्न होता है वह वहां की रक्त वाहिनियों द्वारा शीघ्र वापिस हो जाता है। पर धमनियों के कठोर हो जाने पर मांस को पर्याप्त रक्त न मिलने से तथा वहां के विष द्रव्य के वापस न हो सकने से मांस में यह वेदना का लक्षण होता है। पैरों को धमनी काठिन्य के कारण रक्त कम मिले तो उनकी वसा शुष्क होती जाती है और वे कृश होते जाते हैं। पैरों तथा हाथों को रक्त कम पहुंचने से नल शुष्क एवं कठोर से दीखने लगते हैं। इन लक्षणों के होने के ४,५ वर्ष तक हृदय की पोषक धमनियों में भी अवरोध होने का भय रहता है।

६. आमाशय की धमनियों की दृढ़ता से अजीर्ण संबंधी लक्षण होते हैं। आंत में तथा पित्ताशय में धमनी काठिन्य होकर उनके अधिक संकुचित (Constricted) हो जाने से उनमें भी तीव्र वेदना हो सकती है।

परीक्षा :-

नाड़ी स्पर्श करने में कठोर प्रतीत होती है। प्रति मिनट नाड़ी संख्या अधिक होती है। हृदय के आकार में बड़ा होने से उसका स्पंदन प्रबल होता है। प्रथम शब्द कुछ दीर्घित होता है। द्वितीय शब्द महाधमनी प्रदेश पर ऊंचा होता है। हृदय निर्बल हो तो फुफ्फुस में स्नायु के चिन्ह भी होते हैं। १०,१२ घंटे जल न पीने के बाद भी लिये मूत्र की स्पेसिफिक ग्रेविटी १०१० या १०१२ के लगभग ही होती है। उसमें स्वल्प सा एलब्युमिन भी हो सकता है। नेत्र के Retina की परीक्षा करने पर उसकी धमनियां फीके रंग की तथा संकुचित दीखती हैं। उसकी शिरायें रक्त से अधिक भरी होती हैं।

साध्यासाध्य :-

धमनी संकोच के बढ़ने से विश्राम कालिक रक्त भार बढ़ता है तथा इसी से सूक्ष्म धमनियों में कठोरता और जीर्णता के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं और ज्यों ज्यों उनमें कठोरता और जीर्णता बढ़ती है त्यों त्यों उनमें विश्राम कालिक रक्त भार ६६० भी बढ़ता है। अतएव विश्राम कालिक रक्त भार की वृद्धि को अधिक हानिकारक समझना चाहिये। क्योंकि यह भार धमनियों की जीर्णता का जो इस रोग के उपद्रवों का कारण है, सूचक होता है। यदि यह भार १०० या १२० के लगभग रहे तो भी रोगी ८,१० वर्षों तक भला

चंगा रह सकता है। यदि यह १२० या १३० से ऊपर रहे, स्वल्प व्यायाम से या ऊपर चढ़ने से श्वास फूलने लगे, या हल्का सा हृदय शूल हो जाय, या रात्रि मेह का लक्षण अधिक रहे, मूत्र की 'स्पेसिफिक ग्रेविटी' कम रहे, मूत्र में अल्ब्युमिन आता रहे, रक्त में Urea बढ़ जाये, Retina की धमनियाँ कठोर और फटी ठीक दिखाई पड़े, दृष्टि मंद हो जाये, सिर: शूल बना रहे तो इस रोग के उपद्रव कारी लक्षण २, ३ वर्षों तक प्रकट हो जाया करते हैं। इस रोग से मृत्यु लगभग ६० प्रतिशतक में हृदय के फेल होने से ३० प्रतिशतक के लगभग अर्धांग पक्षाघात होने से तथा १० प्रतिशतक के लगभग वृक्कों के फेल होने से होती है। किन्तु जब बढ़ा हुआ रक्त भार ७ दिन के पूर्ण विश्राम करने से तथा निद्राजनक औषधियों के लेने से कम हो जाय तो इसे भी निरुपद्रव ही समझना चाहिये।

चिकित्सा :-

१.. रक्त भार वृद्धि से बचने के लिये रोगी को सदा काम, क्रोध, चिन्ता, व्याकुलता, आदि मानसिक आवेशों से बचना चाहिये। अपने भाषण तथा व्यवहार में कभी गर्मी न आने देनी चाहिये। क्योंकि मानसिक आवेशों से Sympathetic नाड़ियाँ विक्षुब्ध होती हैं तथा धमनी संकोच प्रबलता से होता है। रक्त भार वृद्धि रोग की चिन्ता भी सर्वथा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इस रोग के प्रारंभ हो जाने के बाद भी वह १०, १५ वर्षों तक भला चंगा रह सकता है। रोगी को कठिन शारीरिक परिश्रम से तथा शीघ्र शीघ्र सीढ़ियों पर चढ़ने से बचना चाहिये। मानसिक श्रम भी देर तक नहीं करना चाहिये।

२.. रोगी को चाहिये कि वह रात्रि में ६ घंटे की निद्रा ले तथा दिन में भी दोपहर को एक घंटा पूर्ण विश्राम करे। उसे अपनी शक्ति के अंदर ही शारीरिक परिश्रम करना चाहिये। इस रोग के रोगी को सर्दी से तथा शीत स्नान से बचना चाहिये। क्योंकि धमनी रोग में सर्दी शीघ्र लग जाती है। तथा इससे उसमें जीवाणु संक्रमण शीघ्र हो जाता है। जीवाणु संक्रमण से रक्त भार में वृद्धि होती है। दांत आदि किसी स्थान पर पूय हो तो इसे हटा देना चाहिये। भोजन के स्वल्प मात्रा में तथा भूख से कम लें तथा उसमें प्रोटीन और सोडियम की मात्रा के कम कर देने से रक्त भार घट जाता है। रात का भोजन हल्का होना चाहिये। चावल, दूध, केला, सेब, अंगूर, संतरा आदि फलों में सोडियम की मात्रा कम होती है। जबकि गेहूं के आटे, मांस, सूखे मेवों तथा कुछ पत्र शाकों में, सोडियम की मात्रा अधिक होती है (१ छटांक चावल में १३ मिलिग्राम जब कि एक छटांक आटे में ८०० मिलिग्राम है) रक्त भार को

कम करने के लिये दिन भर में लवण एक माशे से अधिक नहीं लेना चाहिये। हृदय की निर्बलता, सिर दर्द आदि के लक्षण हों तो इसकी मात्रा आठ माशे तक ही रखनी चाहिये। प्रोटीन भोजन भी स्वल्प मात्रा में ही लेना चाहिये। Vitamin B तथा C का प्रयोग भी इस रोग में लाभदायक है। सप्ताह में एक दिन दुग्ध आहार पर ही रहना चाहिये। दिन भर में जल अधिक मात्रा में पीना चाहिये। जिससे मूत्र दिन भर में दो सेर तक आ जाये। भारी भोजन तथा अधिक मात्रा में भोजन लेने से हृदय और रक्त वाहिनियों पर बोझ पड़ता है। मद्य, चाय, तंबाकू आदि का सेवन नहीं करना चाहिये। वनस्पति घी भी नहीं लेना चाहिये।

औषध चिकित्सा :-

Rauwolfia, सर्प गंधा, इस रोग की मृदु तथा निरुपद्रव औषधि है। यह धमनी संकोच के लिये तथा मन के लिये शामक औषधि है। इसके मूल का चूर्ण (Raudixin-Squibble). दिन में २००, ३०० मिलिग्राम की मात्रा में बांटकर दो तीन बार में दिया जाता है। इसके साथ ~~शामक के रूप में~~ Phenoberabitone आदि किसी शामक औषधि को $\frac{१}{४}$ से $\frac{१}{२}$ ग्रेन की मात्रा में मिला सकते हैं। सायंकाल की मात्रा में इसके $\frac{१}{२}$ ग्रेन से १ ग्रेन की मात्रा मिलाने से निद्रा भी ठीक आती है। इस औषधि के Total Alkaloids की गोलियां (Rauwiloid-Serpirutin, Serpex) भी बाजार में मिलती हैं। पहले इन्हें २,४ मिलिग्राम मात्रा में दिन में दो बार और बाद में दो मिलिग्राम की मात्रा में दिन में एक बार जारी रखना चाहिये। इसका क्रियाशील (Alkaloid Reserpine(Sarpasil Raudixoid Reserpex). है। जिसे पहले .२५ मिलिग्राम मात्रा में दिन में तीन बार दो तीन सप्ताह तक देना चाहिये। इसके बाद .१,.४ मिलिग्राम मात्रा में कुछ दिन लेना चाहिये। Ranwolfia से संकोच कालिक भार विशेषतः कम होता है। विस्तार कालिक भार भी स्वल्प मात्रा में कम होता है। Apresoline(Hydralazine Lyd:) $१२\frac{१}{२}$ से ४० मिलिग्राम की मात्रा में दिन में दो बार देने से रक्त भार घटता है। उपर्युक्त औषधि से मिला कर इसे भोजन बाद Adelphane आदि के रूप में दिया जाता है। इस रोग की तीव्र औषधियां Sympathetic-Parasympathatic Ganglion Blocking Drugs, Hexamethonium, Bromide (Vegolysen) तथा Pentolinium Tartrate (Ansolysen) हैं। प्रथम औषधि को पहले १२५ मिलिग्राम मात्रा में दिन में तीन बार भोजन से $\frac{१}{२}$ घंटा पहले तथा दूसरी औषधि को २० मिलिग्राम मात्रा में दिन में दो बार मुख द्वारा भोजन से पहले दिया जाता है। फिर धीरे धीरे २० मिलिग्राम दैनिक मात्रा बढ़ाई जाती है। पहली को ५०० मिलिग्राम तक दिन में चार बार तथा दूसरी को ५० मिलिग्राम तक दिन में दो बार

दिया जाता है। इससे रक्त भार शीघ्र गिरता तथा प्रान्त भागों को रक्त अधिक मात्रा में मिलने लग जाता है। इसका अधिक मात्रा में सेवन करने से (Parasympathetic Ganglia) के भी बंद हो जाने से) मुख सूखता है। मल बंधा रहता है, तथा मूत्र रोध होने लगता है। त्वचा द्वारा Vegolysen को पहले ५,१५ मिलिग्राम की मात्रा में ६,६ घंटे बाद दिया जाता है। पुनः क्रमशः बढ़ाते हुये ५० मिलिग्राम के लगभग मात्रा में ४,४ या ६,६ घंटे पर देते हैं। Ansolysen को त्वचा द्वारा पहले $2\frac{1}{2}$ मिलिग्राम मात्रा में दिन में दो बार फिर थोड़ा मिलिग्राम मात्रा में बढ़ाते हुये १५,२० मिलिग्राम मात्रा में दिन में दो बार दिया जाता है। उपर्युक्त औषधियों के अतिरिक्त Ergatomine-Tartrate(Bellagal Femergen). तथा Priscol(Tolazoline) भी एच्छिक नाड़ी मंडल के लिये शामक औषधियां हैं जिनके इस रोग में प्रयोग करने से कुछ लाभ हो सकता है। Mecamylamine(Mevasine)Inversine. २.५ मिलीग्राम मात्रा में १२,१२ घंटे बाद देने से भी रक्त भार कम हो जाता है। तीसरे चौथे दिन इसकी मात्रा २.५ मिलिग्राम बढ़ाई जाती है।

लाक्षणिक चिकित्सा :-

मानसिक लक्षण विशेष हों तो Barbitone का चौथाई ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार प्रयोग करना चाहिये। सिर दर्द विशेष हो तो किसी निद्राजनक औषधि के देने तथा बिस्तरे के सिर को ऊंचा करने से लाभ होता है। शिरोभ्रम आक्षेप तथा कर्ण घोष के लक्षण हों तो भी शामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

आयुर्वेद में रक्त भार रोग तथा "धमनी जरा" रोग :-

शरीर में दोषों की विशेषतः वायु,कफ दोषों की वृद्धि रहने से धमनियों में वात,कफ जनित शोथ Sclerosis तथा Hypertrophy) हो जाता है जिससे जरा के लक्षण समय से पहले हो जाते हैं। धमनी जरा के कारण जरा रोग होता है अर्थात् जब मस्तिष्क आदि सर्व अंगों का यथावत् पोषण नहीं होता तो चित्त चिड़चिड़ा और [illegible] रहता है। उत्साह नहीं रहता, व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक श्रम के लिये असमर्थ हो जाता है,थोड़े श्रम से उसे श्वास चढ़ने लगता है। उसकी सर्व मानसिक तथा शारीरिक शक्तियां हीन हो जाती हैं। वह समय से पहले ही जीर्ण शीर्ण होकर और रोगों से ग्रस्त हो कर मृत्यु का ग्रास हो जाता है।

कारण :-

दोषों की वृद्धि के मुख्य कारण इस प्रकार हैं।

१.. हीन गुण आहार,

२.. अधिक खटाई,लवण,मरिच,मसाले,मांस,मद्य,भारी भोजन,रूखा भोजन,

अभिष्यन्दि भोजन, मात्रा में अधिक भोजन तथा बासी भोजन।

३.. शरीर की शक्ति से अधिक शारीरिक श्रम।

४.. काम, क्रोध, भय, शोक आदि आवेशों में ग्रस्त रहना।

।। च। चि। १।।

रक्त भार वृद्धि तथा धामनी जरा रोग की चिकित्सा :-

रक्त भार वृद्धि तथा धामनी जरा रोग के लिये रसायन चिकित्सा अर्थात् आयु वर्धक चिकित्सा की जाती है। चरक ने कहा है कि भूख लगने पर भोजन करने से मल मूत्र, स्वेद आदि को देह में से यथोचित रूप में प्रवृत्त करते रहने से, उचित मात्रा में निद्रा और आराम लेते रहने से, अति शारीरिक श्रम से बचते हुये नित्य मृदु व्यायाम करने से, काम, क्रोध, हिंसा आदि मानसिक आवेशों से बचने से, सदा शांत रहने से, तथा घृत, दधि, प्रधान आहार लेने से आयु बढ़ती है। प्रातः काल उषा पान करने या प्रातः घृत, मधु मिला कर चाटने से भी आयु बढ़ती है। प्रातः काल नित्य अभ्यंग करने और खुली हवा में व्यायाम करने से भी जरा का वेग मंद हो जाता है।

सुश्रुत ने कहा है :-

आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते,
न च व्यायामिनं शीघ्रं जरा समधिरोहति ।। ।। सु० । चि० ४० ।।

औषधियों में से हरीतकी, आमलकी, ब्राह्मी, शंख पुष्पी, भृंगराज, गुडूची, शिलाजतु, लशुन, सुवर्ण आदि रसायन मानी जाती है।

१.. रसायन रूप से हरीतकी का प्रयोग किया जाता है। २, ३ माशे की मात्रा में वर्षा शरद् ऋतु में खांड, हेमंत में सोंठ, शिशिर में पीपल, बसंत में मधु, गर्मी में गुड़ तथा वर्षा में सेन्धा नमक के साथ प्रतिदिन लिया जाता है।

२.. आमलकी को च्यवन प्राश के रूप में या आमलकी रसायन (आमला हरा $2\frac{1}{2}$ सेर पका कर कपड़े में से छान कर ७ तोला गोघृत में भून कर ५ सेर चीनी की चाशनी में डालकर बाद में छोटी इलायची, तगर, नागकेशर, बंशलोचन, गुलाब, धनिया, काला जीरा, १, १ तोला मिलायें) अथवा मुरब्बे के रूप में प्रातः दूध के साथ लिया जाता है।

३.. समान समान आमला, गिलोय, और गोखरू का बना चूर्ण दो, तीन माशे की मात्रा में घृत और मिश्री के साथ लिया जाता है। ।। वैद्य जीवन ।।

४.. आमला ४ भाग, भृंगराज २ भाग, हरड़, शंख पुष्पी, विडंग, १, १ भाग मिश्री सबके तुल्य मिलाकर बना चूर्ण १, २ माशा मात्रा में प्रतिदिन इसी उद्देश्य से लिया जाता है।

५.. ब्राह्मी का प्रयोग भी रसायन है। इसका स्वरस $\frac{1}{2}$ तोला या ब्राह्मी चूर्ण

२ माशा की मात्रा में प्रति दिन लेने से रसायन गुण होते हैं। ब्राह्मी घृत (स्वरस १½ सेर, घृत ३ पाव, विडंग १६ तोला, वचा, त्रिवृत ८, ८ तोला, हरड़, आमला, बहेड़ा १६, १६ तोला) छः माशे की मात्रा में रसायन गुण होता है। ब्राह्मी, शंख पुष्पी समान समान का चूर्ण भी २, ३ माशे की मात्रा में रसायन है।

६.. त्रिफला चूर्ण २, ३ माशे की मात्रा में मधु, घृत, के साथ प्रति दिन चाटने से रसायन गुण होता है। त्रिफला रसायन (त्रिफला, पिप्पली, वंशलोचन, मुलहठी प्रत्येक १, १ भाग) मधु, घृत के साथ लेने से रसायन गुण है।

७.. शिलाजीत या चन्द्र प्रभा प्रतिदिन लेने से भी रसायन गुण होते हैं।

रक्त भार को शीघ्र कम करने के लिये इनमें से किसी रसायन औषधि का सर्पगंधा के साथ प्रयोग करना चाहिये। उदाहरणतः १.. त्रिफला, सर्पगंधा, प्रत्येक को समान मात्रा में मिला बिल्व पत्र रस से मर्दन कर चूर्ण कर ½ माशे की मात्रा में दिन में दो बार लिया जाता है अथवा २.. शिलाजीत को ६ गुणा सर्पगंधा चूर्ण में मिला कर २, २ रत्ती की गोलियां बना कर दिन में ३, ४ बार दिया जाता है या ३.. सर्पगंधा के घन सत्व में ब्राह्मी, शंख पुष्पी, वचा, नागदमनी, जटामांसी, समान समान का चूर्ण मिला गोलियां बना कर दिन में तीन बार दी जाती हैं। केवल सर्पगंधा चूर्ण को ½ माशा की मात्रा में घृत, मधु के साथ प्रतिदिन दो तीन बार देने से रक्त भार घटता है।

प्रमाण :- टिप्पणी में ।—

<u>हरीतकी :-</u>

हरीतकीं पंचरसामुष्णामलवणां शिवाम्।
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम् ॥
सर्व रोग प्रशमनीं बुद्धीन्द्रिय बल प्रदाम्।
स्मृति बुद्धि प्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ॥ ॥ च०।चि०।१॥

<u>त्रिफला :-</u>

त्रिफला मधु सर्पिभ्यां युक्ता सिद्धा रसायनम् । ॥ च०।चि०।१॥

<u>शिलाजतु :-</u>

जराव्याधि प्रशमनं देह दार्ढ्य करं परम् ।
मेधास्मृति करं धन्यं क्षीराशी तत्प्रयोजयेत् ॥ ॥ च०।चि०।१॥

<u>ब्राह्मी :-</u>

ब्राह्म्यायुष्या : ॥ ॥ भा०।नि०॥

<u>शंख पुष्पी :-</u>

शंख पुष्पी हिमा तिक्ता मेधाकृत स्वरकारिणी ।
[illegible] ॥ ॥ भा०।नि०॥

लशुन :-

लशुनोभृश तीक्ष्णोष्ण: कटु पाक रस: सर:

हृद्य: केश्योगुरुर्वृष्य: स्निग्धो रोचक दीपन: ।

सचिध्य पीनस श्वास कासान्हन्ति रसायनम् ।।   ।। भा०प्र०पू० ।५।।

जरा रोग :- Senility:

कारण :-

प्राणि में पहले वृद्धि की प्रक्रिया प्रबल होती है। फिर एक समय आता है कि उसमें ह्रास (Involution) की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। इसलिये जरा का आना तो स्वाभाविक है परंतु जब जरा समय से पहले आ जाती है या अति कष्ट दायक रूप में आती है तो उसे जरा रोग (Sensecence) कहते हैं।

जरा का आगमन पहले पहल रक्त वाहिनियों में होता है और वहां से यह शरीर में प्रसरण करती है। ४० वर्ष की आयु के लगभग के समय में हमारी रक्त वाहिनियों के मांस मय स्तर तथा लचीले अवकाश में वसा मय रुग्णता (Fatty Deg:) होने लगती है। फिर धीरे धीरे इनमें लाइम के साल्ट बैठने लग जाते हैं। जिससे हमारी धमनियां तार की तरह कठोर सी प्रतीत होने लगती हैं। कुछ काल बाद इनके आभ्यंतर स्तर के नीचे वसा (Cholesterol) बैठने लगती है जिससे जहां जहां वसा बैठती है वहां वहां आभ्यंतर स्तर उभर जाता है। आभ्यंतर स्तर के इस प्रकार वहां वहां उभर जाने से छोटी छोटी धमनियों के स्रोत अंदर से तंग भी हो जाते हैं। इस प्रकार इनके xxxxx कठोर तथा तंग हो जाने से शरीर के अंगों को रक्त तथा आक्सिजन उचित मात्रा में नहीं मिल पाते। इसी से अंगों में ह्रास और जीर्णता की प्रक्रिया आरंभ होती है।

धमनी काठिन्य से होने वाले लक्षणों का वर्णन ऊपर किया गया है। धमनियों में यह जरा की प्रक्रिया xxxxx क्यों आरंभ होती है। इसका ठीक ठीक समाधान अभी तक नहीं मिला। कोई कहते हैं कि रक्त में आवश्यक तत्वों की न्यूनता से उदाहरणत: विटामिन बी काम्प्लेक्स की विशेष न्यूनता से, ऐसा होता है। कोई अनुमान करते हैं कि बाल्यावस्था की प्रसन्नता और निश्चिन्तता के स्थान पर तरुणावस्था में चिन्ता, भय, क्रोध, शोक, द्वेष, विग्रह आदि के बढ़ते जाने और इनके कारण अनैच्छिक नाड़ी मंडल के उद्विग्न रहने से इसमें जरा की प्रक्रिया आरंभ होती है। कोई कहते हैं कि तरुणावस्था में लोग प्राय: शारीरिक श्रम करना तो बंद कर देते हैं और गुरुतर कृत्रिम आहार की मात्रा को बढ़ा देते हैं। इससे शरीर में कुछ आम द्रव्य (Products of Incomplete Combustion) बढ़कर धमनियों पर अपना दुष्प्रभाव डालने लगते हैं। कोई

करते हैं कि लवण, मरिच, तम्बाकू, खटाई आदि अति मात्रा में शरीर के लिये विष का सा कार्य करते हैं। ।। च। चि। ३।।

जरा रोग की प्रतिरोधक चिकित्सा :-

भोजन संबंधी, वृद्ध आयु में रक्त के अंदर खांड के बढ़ जाने की प्रवृत्ति रहती है। इसलिये खांड का सेवन इस आयु में कम कर देना चाहिये। लवण भी वृक्कों द्वारा शरीर से निकलता है। और इससे उनका कार्य भार बढ़ता है। अत: इसका सेवन भी परिमित मात्रा में ही रखना चाहिये। प्रोटीन भोजन भी Urea के रूप में वृक्कों से निकलते हैं। अत: इनके शरीर के लिये आवश्यक होने पर भी इनका सेवन अधिक नहीं करना चाहिये। आमाशय में एसिड की उत्पत्ती इस आयु में कम हो जाती है। अत: घृत तैल आदि में तले हुये द्रव्यों का या साधारण भोजन का भी एक बार में अति मात्रा में प्रयोग नहीं करना चाहिये। संक्षेपत: दूध, फल, सब्जी प्रधान ऐसा आहार जिसमें अन्न तथा घृत की मात्रा अधिक न हो, थोड़ा थोड़ा करके दिन में तीन चार बार करना चाहिये। रात्रि को आहार के अधिक मात्रा में करने या दूध के लेने से मूत्र के लिये उठना पड़ता है। अत: कोई सा थोड़ा कार्बोहाइड्रेट भोजन लेना चाहिये। वृद्ध आयु में जल प्रभूत मात्रा में $२\frac{१}{२}$, ३ सेर तक पीना चाहिये। इससे न केवल मल, मूत्र, स्वेद आदि शुद्ध कर होते हैं साथ ही इससे Vasomotor शक्ति बढ़ती है जिससे शिरोभ्रम, पैरों में दर्द (Cramps) आदि कष्ट भी शांत होते हैं। शहद ग्लूकोज या शहद भी इस आयु में शरीर की शक्ति को बढ़ाने के लिये उत्तम आहार है।

श्रम तथा विश्राम संबंधी :-

वृद्ध आयु के व्यक्तियों को रात ८,९ घंटे तथा दिन में १,२ घंटे का पूर्ण विश्राम तो करना ही चाहिये। क्योंकि इससे शरीर के पोषण में सहायता मिलती है। शेष दिन में बहुत से समय में उन्हें किसी रुचि अनुकूल शारीरिक या मानसिक कार्य में लगे रहना चाहिये। इस आयु में दिन भर शैया शायी और उदासीन रहने वालों की अपेक्षा किसी कार्य में व्याप्त रहने वाले प्रसन्न वदन व्यक्ति अधिक चिरायु होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रात: सांय खुली हवा में भ्रमण करने, यथा शक्ति मृदु व्यायाम करने से शरीर की मांस पेशियों तथा हृदय आदि को रक्त अधिक मात्रा में मिलता है। और उनका पोषण अच्छा होता है। इससे भूख भी अच्छी लगती है। व्यायाम के अतिरिक्त तैल अभ्यंग करने से सिर, पांव, नासिका आदि में तैल, घृत, बादाम रोगन आदि का प्रयोग करने से भी शरीर का पोषण बढ़ता है।

निवास संबंधी :-

इस आयु के व्यक्ति को परिवार में प्रसन्नता और निश्चिन्तता का वातावरण मिले तो वहां ही रहना ठीक है। परंतु यदि वहां कुछ भी कलह या चिन्ता का वातावरण हो तो उसे अपने स्वतंत्र स्थान में रहते हुये अपना कार्य अपने आप कर लेने का यत्न करना चाहिये।

औषध संबंधी :-

विज्ञान द्वारा अभी तक कोई औषधि आयु वर्धक सिद्ध नहीं हुई तथापि कुछ एक औषधियों को आयु वर्धक कहा जाता है जैसे शिलाजीत (चन्द्रप्रभा की गोली दिन में दो बार) को धात्वीय पचन (Metabolism) का तथा रक्त भार का कम करने वाला होने से आयुष्य वर्धक माना जाता है। आमलकी को वृष्य होने तथा हरितकी को मृदु, मल शोधक होने से आयु वर्धक कहा जाता है। अतः च्यवन प्राश, आमलकी रसायन, त्रिफला पाक आदि के सेवन से शरीर स्वस्थ रहता है। ब्राह्मी तथा शंख पुष्पी को मध्य होने से आयुष्य कहा गया है। इसीलिये ब्राह्मी घृत या ब्राह्मी, शंख पुष्पी, भांगरा, १,१ भाग आंवला, हरड़, ४,४ भाग, इलायची छोटी आधा भाग, मिश्री एवं तुल्य मिला कर बनाये चूर्ण को दो माशे की मात्रा में दिन में दो बार मधु घृत के साथ लिया जा सकता है।

इसी प्रकार स्वर्ण, लोह, अभ्रक, मुक्ता आदि को भी आयुवर्धक कहा जाता है। इसीलिये वसंतकुसुमाकर को १ रत्ती की मात्रा में या अभ्रक भस्म, मुक्ता भस्म, प्रत्येक १½ माशा स्वर्ण भस्म आधा माशा को सबै तुल्य अजवायन के चूर्ण में मिला कर ३० मात्राओं में विभक्त करके एक एक मात्रा सुबह से प्रति दिन ली जा सकती है। इसी प्रकार विटामिन बी कंप्लेक्स (Becozym Vitaplex Beplex, Degeplex, Vibelan) को भी धात्वीय पचन का नियामक होने के कारण स्वास्थ्य वर्धक एवं आयुष्य कहा जाता है। विटामिन सी (Sorvicintabi, Redoxon) को भी ५० मिलिग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार स्वास्थ्य वृद्धि के लिये दिया जाता है। हाथ, पैर, सिर आदि को रक्त कम मिलने से जो लक्षण होते हैं उनकी शांति के लिये Nicotinic Acid- Nicotinamide. ५० मिलिग्राम की मात्रा में दो तीन बार दे सकते हैं। Priscol- (Priscophen) के २५ से ५० मिलिग्राम की मात्रा में दिन में ३,४ बार देने से हाथ, पैरों, पिंडलियों को रक्त पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जिससे उनमें होने वाला उद्वेष्टन (Spasm) शांत हो जाता है। मस्तिष्क आदि की छोटी धमनियों के अंदर अवरोध (Thrombosis) के रोकने के लिये Iodine(Pot:Iod:) २ ग्रेन दो बार या Collossol Iodine का भोजन के १ घंटे बाद का भी प्रयोग होता है। Atherolysin Fluid (Albert D.) का भी प्रयोग होता है।

चिरस्थायी कपाटी रोग :- Chronic Valvular Disease

तीव्र आम वातिक ज्वर में हृदय के अन्तरावरण विशेषतः कपाटियों

पर न्यूनाधिक शोथ अवश्य ही होता है। यदि आम वातिक ज्वर के वेग बारंबार होते रहें तो चिरस्थायी कपाटी रोग हो जाता है। अर्थात् कपाटियों की पंखड़ियां सूज जाने के कारण परस्पर जुड़ जाती हैं तथा इनमें स्नायु तंतु की वृद्धि के कारण वे छोटी, मोटी एवं सुकड़ी हुई कठोर हो जाती हैं। इनके सिरों को दीवार के साथ बांधने वाले डोरा सूत्र (Chordae Tendinae) भी स्नायु तंतु की वृद्धि के कारण छोटे पड़ जाते हैं। इसी प्रकार कपाटी छिद्र भी स्नायु तंतु की वृद्धि से सुकड़ कर तंग हो जाते हैं। यह चिरस्थायी कपाटी रोग सबसे अधिक वाम कपाटी (Mitral Valve) में होता है। संभवतः इस पर सबसे अधिक रक्त का भार पड़ने के कारण ऐसा होता है। वाम छिद्र तथा वाम कपाटी के रोग ग्रस्त हो जाने से यह छिद्र बहुधा तंग हो जाता है अर्थात् इसके रक्त के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इसे वाम छिद्रावरोध (Mitral Stensis) कहते हैं। जब पंखड़ियों (Cusps) में ही रोग विशेष हो अर्थात् वे सुकड़ कर छोटी हो गई हों छिद्र में रोग विशेष न हो तो क्योंकि कपाटी पूरी तरह से छिद्र को बंद नहीं कर सकती। इसलिये रक्त का कुछ अंश वापस पिछले कोष्टक में चला जाता है। इसे वाम छिद्र प्रत्यावर्तन (Mitral Regurgitation) या वाम कपाटी की असमर्थता का रोग (Mitral Incompetence) कहते हैं। वाम कपाटी से इतर का चिरस्थायी कपाटी रोग महाधमनी कपाटी (Aortic Valve) में होता है। अन्य कपाटियों में यह रोग बहुत कम पाया जाता है।

वाम कपाटि रोध :- (Mitral Stenosis)

कपाटी रोगों में यह सबसे अधिक सुलभ रोग तथा आम वातिक प्रकृति के २० से ४० वर्ष तक के व्यक्तियों में पाया जाता है। साधारणतः वाम छिद्र ३ अंगुली चौड़ा होता है। किन्तु इस रोग में सुकड़ कर २ या १ अंगुली का रह जाता है। जिससे इसके वाम ग्राहक कोष्ठ से वाम प्रेषक कोष्ठ में जाने में बाधा पड़ जाती है। स्वभावतः इस क्षति को पूर्ण करने के लिये वाम ग्राहक कोष्ठ स्थूल हो जाता है तथा आकार में भी बड़ा हो जाता है। जिससे रोगी को जब तक वह विशेष श्रम न करे। कोई कष्ट नहीं होता। वाम ग्राहक कोष्ठ के बलवान हो जाने से इस रोग के रोगी को कोई कष्ट नहीं होता। परंतु ऐसे श्रम से जिससे हृदय की गति अति तीव्र हो जाय तो इस अवरोध के कारण फुफ्फुस की शिराओं (Pulmonery Veins) में जिनके द्वारा वह हृदय में आता है अधिक भर जाता है और फिर फुफ्फुस की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों (Capillaries) में भी अधिक भर जाता है। इससे श्वास कृच्छ्रता का लक्षण होने लगता है। आयु के कुछ बढ़ने पर या हृदय मांस में ही स्नायु तंतु की वृद्धि हो जाने एवं इसके निर्बल हो जाने पर जब

[illegible] (Chordae Tendinae)

[illegible] (Mitral Valve) [illegible]

[illegible] (Mitral Stenosis) [illegible] (Cusps) [illegible]

[illegible] (Mitral Regurgitation) [illegible]

[illegible] (Mitral Incompetence) [illegible]

(Aortic Valve) [illegible]

[illegible] (Mitral Stenosis) [illegible]

[illegible] (Pulmonary Veins) [illegible]

[illegible] (Capillaries) [illegible]

वाम ग्राहक कोष्ठ का बर्धन होने लगता है तब इस रोग के वे ही लक्षण उत्पन्न होते हैं जो ऊपर वाम हृदय के फेल होने के कहे गये हैं।

श्रवण परीक्षा :-

रोगी के कुछ व्यायाम करने के बाद उसे वाम पार्श्व पर लिटाकर श्रवण यन्त्र द्वारा सुनने से विश्राम काल (Diastole) के समय अर्थात् द्वितीय शब्द के बाद प्रथम शब्द से पहले जब रक्त वाम ग्राहक से वाम क्षेपक में आ रहा होता है तो हृदय के निचले सिरे (Apex) के कंपन प्रदेश के अंदर की ओर थोड़े से स्थान पर ही सीमित एक ऊंचा सा फुत्कार (Murmur) सुनाई पड़ता है। वाम क्षेपक के छोटा होने के कारण प्रथम शब्द भी दूसरे शब्द के समान छोटा और ऊंचा होता है। महा धमनी में रक्त के कम मात्रा में जाने से द्वितीय शब्द भी द्वितीय दक्षिण पसली पर सुनने से नीचा सुनाई पड़ता है। नाड़ी में रक्त के कम जाने से संकोच कालिक रक्त भार कम होता है। अर्थात् नाड़ी भार (Pulse Pressure) भी कम होता है। रोगी देखने में कृश तथा कुछ पांडुर दीखता है।

वाम कपाटी प्रत्यावर्तन :-(Mitral Regurgitation)

वाम कपाटी में यह रोग कम होता है। स्थायी रूप में यह रोग आमवात रोग जनित कपाटी रोग से होता है या अस्थायी रूप में किसी ज्वर में हृदय के शिथिल (Dilated) हो जाने पर वाम छिद्र के बड़ा हो जाने से होता है। तब इसे Functional Regurgitation कहते हैं। इस रोग के होने पर वाम ग्राहक में फुफ्फुस से तो रक्त आता ही है साथ ही कुछ रक्त वाम क्षेपक से उसमें वापस होने लगता है। जिससे वह कोष्ठ आकार में बड़ा हो जाता है। ऐसा होने पर विश्राम काल में वाम क्षेपक में भी रक्त अधिक मात्रा में आता है। जिससे वह भी आकार में बड़ा हो जाता है। दोनों वाम कोष्ठकों में अति वृद्धि ठीक ठीक बनी रहे तो इस रोग के होने पर भी बहुत काल तक रोगी को कोई कष्ट नहीं होता। इस रोग में वाम क्षेपक का निचला सिरा वाम पार्श्व की ओर खिसक जाता है। श्रवण यंत्र द्वारा सुनने से प्रथम शब्द के साथ साथ एक संकोच कालिक फुत्कार (Systolic Murmur) सुनाई पड़ता है। क्योंकि वाम कपाटी में उत्पन्न कंपन हृदय के निचले सिरे तक जाता है/ इसलिये यह फुत्कार शब्द भी कक्षा की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है। अंत में बड़ी आयु में जब हृदय मांस में ही दुर्बलता होने लगती है। तब वाम हृदय के फेल होने से होने वाले उपर्युक्त लक्षण होने लगते हैं।

महा धमनी कपाटी प्रत्यावर्तन :- (Aortic Regurgitation)

चिर स्थायी आम वात रोग के कारण कभी कभी महा धमनी कपाटी में चिर स्थायी शोथ हो जाता है। और फिर स्नायु तंतु की वृद्धि

होकर इस कपाटी की पैसड़ियां कुछ सुकड़ कर छोटी हो जाती हैं और इस छिद्र को पूरी तरह बंद नहीं कर पाती जिससे इस कपाटी के बंद होते समय अर्थात् द्वितीय शब्द के होने के साथ ही महा धमनी में से कुछ रक्त वापस वाम क्षेपक में वापिस चला जाता है। जिससे इसे आम वातिक महा धमनी कपाटी प्रत्यावर्तन (Rheumatic Aortic Regurgitation) कहते हैं। यह रोग मध्य आयु में अर्थात् २० से ४० वर्षों के काल में होता है।

कभी कभी चिर स्थायी फिरंग रोग के विशेष प्रभाव से महाधमनी के प्रारंभिक भाग के मांस सूत्रों तथा Elastic Tissue के स्थान पर स्नायु तंतु उत्पन्न हो जाता है जिससे उसका यह प्रारंभिक भाग चौड़ा हो जाता है। तथा फिरंग रोग के कारण ही कपाटी की पैसड़ियां कठोर और आकार में छोटी हो जाती हैं जिससे इस कपाटी के बंद होते समय महा धमनी में से कुछ रक्त वापस वाम क्षेपक में चला जाता है। इसे फिरंग जनित महाधमनी रक्त प्रत्यावर्तन (Syphilitic Aortic Regurgitation) कहते हैं। यह रोग ४० से ६० वर्षों की आयु के व्यक्तियों में मिलता है।

विश्राम काल में महाधमनी की ओर से कुछ रक्त के वाम क्षेपक में आ जाने से वाम क्षेपक आकार में बड़ा तथा स्थूल हो जाता है। उसका निचला शिखर (Apex) छटे पर्शु का मध्य तथा बाहिर की ओर अग्रिम कक्षा रेखा (Anterior Axillary Line) तक खिसक जाता है।

श्रवण यंत्र द्वारा सुनने से हृदय के इस निचले सिरे पर दोनों शब्द सुनाई पड़ते हैं परंतु दाहिनी द्वितीय पर्शुका के अंदर के सिरे पर सुनने से द्वितीय शब्द के साथ उरोस्थि के निचले सिरे तक जाता हुआ, या उरोस्थि के बाईं ओर तीसरे पर्शुका के मध्य पर सुनने से द्वितीय शब्द के साथ या उसके स्थान पर हृदय के निचले सिरे तक जाता हुआ एक फुत्कार (Diastolic Murmur) सुनाई पड़ता है।

इस रोग में वाम क्षेपक के आकार में बड़ा हो जाने के कारण प्रत्येक संकोच काल में बहुत सा रक्त महा धमनी में जाता है। जिससे नाड़ी बहुत अधिक उठती है परंतु शीघ्र ही इसमें से कुछ रक्त के वापस वाम क्षेपक में चले जाने से विश्राम काल में नाड़ी के अंदर रक्त का भार अधिक गिर जाता है। इसलिये परीक्षा करने पर रोगी का संकोच कालिक रक्त भार १६० M. M. Hg: हो सकता है। जब कि विश्राम कालिक रक्त भार ६० तक होता है। अर्थात् नाड़ी भार अधिक बढ़ा होता है। छोटी छोटी रक्त वाहिनियों (Capillaries) में भी स्पन्दन होने लगती है। शीशे की स्लाइड से ओष्ट को दबाने पर बारी बारी ओष्ट पहले लाल फिर सफेद होता हुआ देखा जाता है।

जब तक वाम क्षेपक कोष्ठ स्थूल तथा स्वस्थ रहता है। हृदय की धड़कन के कुछ प्रबल होने के सिवाय और कोई दुर्लक्षण नहीं होता। पर अंत में वाम क्षेपक कोष्ठक के मांस में स्नायु तंतु के बढ़ जाने पर, या फिरंग रोग जनित कपाटी प्रत्यावर्तन में जो कि ५० वर्ष की आयु के लगभग काल में होता है। सहसा खड़ा होने पर सिर को रक्त के कम मिलने से सिर में चक्कर आने की शिकायत होने लगती है। आम वातिक महाधमनी कपाटी रोग में चिरकाल तक कोई विशेष दुर्लक्षण नहीं होता किन्तु फिरंग जनित महा धमनी कपाटी रोग में हृदय शूल का लक्षण हो जाया करता है।

महा धमनी कपाटी रोध- (Aortic Stenosis)

कभी कभी आम वातिक शोथ के बने रहने तथा स्नायु तंतु की वृद्धि के कारण महाधमनी छिद्र तंग हो जाता है। महाधमनी कपाटी की पंखड़ियाँ परस्पर जुड़ जाती हैं तथा मृदु न रहकर कठोर हो जाती हैं। इससे महाधमनी कपाटी में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। यह रोग बहुत कम पाया जाता है। किन्तु जब होता है तो इससे भी वाम क्षेपक कोष्ठ आकार में बड़ा तथा स्थूल हो जाता है तथा श्रवण यंत्र द्वारा दाईं ओर की दूसरी पर्शुका के अंदर के सिरे (Aortic Base) पर सुनने से एक संकोच कालिक कर्कश फुत्कार (Diostolic Rough Murmur) दक्षिण ग्रीवा में ऊपर जाता हुआ तथा नीचे (Apex) की ओर जाता हुआ सुनाई पड़ता है। स्पष्ट है कि इस स्थान पर द्वितीय शब्द मंद सुनाई पड़ता है। महाधमनी में रक्त के कम मात्रा में जाने से नाड़ी का उठाव (Lift) कम होता पर वाम क्षेपक के आकार में जाने से नाड़ी का उठाव (Lift) कम होता पर वाम क्षेपक के आकार में बड़ा होने से नाड़ी का टिकाव (नाड़ी की स्थिरता) लंबा होता है। अर्थात् वह एक दम न गिर कर क्रमशः गिरती है। नाड़ी का संकोच कालिक भार तो कम होता है, ९० हो सकता है, पर विश्राम कालिक भार कुछ अधिक होता है, ९०० हो सकता है। जब तक वाम क्षेपक बलवान रहता है। रोगी को कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु बड़ी आयु में जब वाम हृदय मांस में शिथिलता या स्नायु तंतु की वृद्धि होती है तब वाम हृदय के फेल होने के जो लक्षण ऊपर कहे गये हैं, होने लगते हैं। अथवा हृदय की पोषक धमनियों में रक्त के कम जाने से श्रम करने पर हृदय शूल का लक्षण होने लगता है।

चिकित्सा :-

आम वातिक प्रकृति के बालक व युवक को Strepto Coccal संक्रमण से बचाना चाहिये जिसके लिये उसे Penicillin का तथा साथ ही Salicylate of Sodium का प्रयोग कुछ काल तक करते रहना चाहिये।

जब तक हृदय में किसी कसौटी पर इस रोग का दुष्प्रभाव प्रतीत हो रोगी को सदा अति श्रम से बचाना चाहिये। अंत में जब हृदय के फेल होने के लक्षण होने लगें तब हृदय को बल देने वाली औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

हृदय गति वैषम्य:_ (Cardiac Arrhythmia)

१.. **हृत्कंप- हृद्द्रव :-Tachycardia:**

जब हृदय या नाड़ी की गति प्रति मिनट ९० से १२० तक होती है तो इसे हृत्कंप कहते हैं। रजोनिवृत्ति से पहले प्राय: अनैच्छिक(Sympathetic) नाड़ी मंडल की उत्तेजना से, शरीर में कहीं पूय (Sepsis) होने से, पांडुता से, तथा ऐसे ज्वर से जिसके विष का दुष्प्रभाव हृदय पर भी हो, नाड़ी तीव्र हो जाती है। रजोनिवृत्ति के बाद हृदय मांस में न्यूनाधिक विकृति के हो जाने से नाड़ी गति तीव्र होती है।

२.. **असामयिक संकोच या असामयिक नाड़ी Premature Contraction अथवा Premature Systole:-**

साधारणत: ग्राहक कोष्ठ में विद्यमान Sino Auricular Node हृदय का सबसे अधिक विक्षोभ शील स्थान है परंतु कभी कभी ग्राहक कोष्ठका कोई भाग या Auriculoventricular Node या क्षेपक कोष्ठों का कोई भाग अधिक विक्षोभ शील हो जाता है, जिससे हृदय की कोई कोई गति Sino Auricular Node से आरंभ होने के स्थान पर वहां से आरंभ होती है। ऐसी अवस्था में ग्राहक कोष्ठ के प्रारंभिक भाग से उत्पन्न होने वाले अगले वेग (Impulse) के आने से पहले ही, इस स्थान में उत्पन्न वेग के कारण क्षेपक में एक असामयिक संकोच उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि क्षेपक कोष्ठों का यह संकोच ठ8ठ8ठ समय से पहले ही उनके विश्राम काल में होता है। ॠ8 इसलिये अन्य संकोचों की अपेक्षा जहां यह समय से पहले होता है वहां निर्बल भी होता है। उनके इस निर्बल संकोच से8ठठठठ के द्वारा रक्त की थोड़ी मात्रा ही नाड़ी में आती है। इसलिये इस संकोच से नाड़ी भी छोटी होती है। ८०% प्रा. रोगियों में यह असामयिक उत्पन्न असामयिक वेग (Impulse) क्षेपक कोष्ठों के किसी विक्षोभ शील भाग से उठा करता है। इस असामयिक छोटे संकोच के बाद Sino Auricular Node: से आने वाला सामयिक वेग, क्षेपक कोष्ठों में तब पहुंचता है, जब वे विश्राम काल में (Relaxation) में होते हैं। इसलिये उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं होता, अर्थात् उससे उनमें संकोच नहीं होता। इसीलिये असामयिक छोटे संकोच के बाद या असामयिक नाड़ी के बाद एक लंबा अंतर (Pause) अनुभव होता है। इस लंबे अंतर के बाद होने वाला क्षेपक कोष्ठों का सामयिक संकोच स्वभावत: कुछ प्रबल होता है। इस प्रकार

हृदय गति वैषम्य :- (Cardiac Arrhythmia)

१. द्रुत- हृदय :- Tachycardia:

[illegible] सिम्पैथेटिक (Sympathetic) [illegible] (Sepsis) [illegible]

२. अकालिक संकोच या अकालिक नाड़ी Premature Contraction अथवा Premature Systole:-

[illegible] Sino Auricular Node [illegible] Auriculoventricular Node [illegible] Sino Auricular Node [illegible] (Impulse) [illegible] (Impulse) [illegible] Sino Auricular Node: [illegible] (Relaxation) [illegible] (Pause) [illegible]

नाड़ी में प्रतीत होने वाला एक अंतर विराम प्राय: करके इसी रोग का अथवा अकालिक संकोच (Premature Systole) का द्योतक होता है। यह नाड़ी वैषम्य हृदय मांस के विक्षोभ को सूचित करता है। किसी रोग की विष (Toxaemia) से जैसे विषम ज्वर से श्लेष्म ज्वर से (Influ:) धूम्र विष से या तंबाकू आदि विष से ऐसा हो सकता है। आम वात ज्वर के कारण भी यह रोग हो सकता है। मध्यम आयु के पहले बहुधा यह लक्षण किसी प्रकार के विक्षोभ का ही सूचक होता है। ५ वर्ष की आयु के बाद यह रोग हृदय मांस तथा उसकी रक्त वाहिनियों में क्षीणता (Degn:) का सूचक होता है। व्यायाम से यह वैषम्य लुप्त हो जाता है।

अलिंद नाड़ी वैषम्य :- (Auricular Fibrillation):-

अलिंद नाड़ी वैषम्य का रोग बहुत सुलभ रोग है। इसमें नाड़ियां भी परस्पर विषम और उनके बीच का अंतर भी परस्पर विषम हो जाता है। इस रोग में दक्षिण ग्राहक कोष्ठ के प्रारंभिक भाग में विद्यमान हृदय गति नियामक शक्ति विलुप्त हो जाती है अर्थात् Sino Auricular Node से हृदय गति का संचालन बंद हो जाता है। इसके स्थान पर ग्राहक कोष्ठों के कुछ एक मांस सूत्र जो विक्षुब्ध हुये होते हैं स्वतंत्र रूप से तथा शीघ्र शीघ्र हृदय गति उत्पन्न करने लगते हैं। जिससे ग्राहक कोष्ठों के मांस सूत्रों का व्यवस्थित रूप से स्पंदन (Contraction) तो बंद हो जाता है। इसके स्थान पर उसके सूत्र परस्पर निरपेक्ष होकर स्वतंत्र रूप से तथा अव्यवस्थित रूप से शीघ्र शीघ्र स्पंदन करने लगते हैं। साधारणत: वह एक मिनट में ७२ बार स्पंदन करते हैं और उनसे आरंभ हुये वेग के क्षेपक कोष्ठों में पहुंचने से वे भी प्रति मिनट ७२ बार संकोच करते हैं किन्तु इस रोग में ग्राहक कोष्ठों के बहुत से वेग तो इतने निर्बल होते हैं कि वे Auriculoventricular बंडल द्वारा क्षेपक कोष्ठों तक पहुंचते ही नहीं। इसलिये इस रोग में जब कि ग्राहक कोष्ठों में कंपन प्रति मिनट ४०० के लगभग होते हैं क्षेपक कोष्ठों में केवल ८० से १७ ही स्पंदन पहुंच पाते हैं। इनमें से भी क्षेपक कोष्ठों का कोई स्पंदन प्रबल होता है और कोई निर्बल होता है। उनके बीच का अंतर भी परस्पर विषम होता है। क्षेपक कोष्ठों का कोई कोई स्पंदन इतना निर्बल होता है कि उनके कारण महा धमनी में रक्त पहुंचता ही नहीं। इसी कारण प्रति मिनट हृदय गति या क्षेपक कोष्ठों के स्पंदन की अपेक्षा नाड़ी की प्रति मिनट संख्या कम होती है। वह ८० के लगभग रहती है। मध्यम आयु से पहले ग्राहक कोष्ठों में आम वातिक शोथ (Rheumatic Carditis) के होने या आमवातिक वाम कपाटी रोध (Stenosis) के होने से यह

रोग होता है। मध्यम आयु के बाद यह रोग ग्राहक कोष्ठों को उचित मात्रा में रक्त न मिलने एवं उनमें स्नायु तंतु और वसा की वृद्धि हो जाने (Arterio-Sclerosis, Hypertension) से होता है। हृदय मांस का यथावत् पोषण न होने से वह विक्षोभ शील हो जाता है जिससे स्वल्प मानसिक विक्षोभ से भी यह वैषम्य प्रारंभ हो जाता है।

लक्षण :-

नाड़ी के अति विषम होने पर भी रोगी को कोई विशेष कष्ट नहीं होता। मस्तिष्क को रक्त कम पहुंचने के कारण कभी कभी रोगी में कुछ भय तथा विक्षोभ शीलता के लक्षण होते हैं। श्रम करने पर श्वास चढ़ जाने या सहसा खड़ा होने पर सिर में चक्कर आ जाने का लक्षण भी हो सकता है। हृदय मांस में दुर्बलता को न बढ़ने दिया जाय, मानसिक विक्षोभ न होने दिया जाय तो रोगी वर्षों तक सुख से जी सकता है। ग्राहक कोष्ठों के स्पंदन की प्रति मिनट संख्या या नाड़ी संख्या जितनी अधिक होती जाती है, उतना ही मांस में दुर्बलता बढ़ती जाती है, ऐसा समझना चाहिये।

रोग विनिश्चय :-

जब दो नाड़ियों और उनके बीच के अंतर में विषमता पाई जाय, नाड़ी संख्या प्रति मिनट कुछ अधिक हो तो इसी रोग का संदेह करना चाहिये।

नाड़ी लोप, नाड़ी भ्रंश :-(Heart Block)

हृदय गति वाहक मार्ग जो १.. Sino Auricular Node, २.. Auri Culoventricular Node ३.. Bundle of His. तथा ४..उससे निकली दांई, बांई दो शाखाओं से बना है, कभी कभी रुग्ण हो जाता है। मध्यम आयु से पहले आम वातिक हृद्रोग के कारण यह मार्ग रुग्ण होता है। मध्यमायु के बाद जब धमनी काठिन्य तथा रक्त भार वृद्धि के रोग हो जाते हैं तब हृदय पोषक धमनियों में Atherosclerosis. या धमनी काठिन्य के रोग हो जाने से कौशिक गति मार्ग को रक्त पूर्ण मात्रा में नहीं मिल पाता उसमें स्नायु तंतु की वृद्धि (Fibrosis) हो जाती है जिससे कोई कोई हृदय गति वहां रुक जाती है और ग्राहक कोष्ठों तक नहीं पहुंचती। परिणाम रूप में हृदय का कोई कोई स्पंदन या नाड़ी की कोई कोई गति लुप्त हुई प्रतीत होती है। इसे नाड़ी लोप या Heart Block का रोग कहते हैं। इस रोग में बहुधा तो कुछ कुछ अंतरों के बाद कोई कोई नाड़ी लुप्त होती है। कभी कभी आठवीं, सातवीं या छठी इस क्रम से नाड़ी लुप्त होती है। इस वैषम्य के होने पर भी रोगी को कोई विशेष

[illegible] (Arterio-Sclerosis, Hypertension) [illegible]

[illegible]

[illegible] :-

[illegible]

[illegible] :-

[illegible]

[illegible] :-(Heart Block)

[illegible] १. Sino Auricular Node, २. Auriculoventricular Node ३. Bundle of [illegible]

[illegible] Atherosclerosis [illegible]

[illegible] (Fibrosis) [illegible]

[illegible] Heart Block [illegible]

कष्ट नहीं होता। हृदय मांस की दृढ़िलता को न बढ़ने दें तो रोगी कई वर्षों तक जी सकता है। Pot: Iodide के देने से भी इसमें लाभ हो सकता है।

नाड़ी वैषम्य की चिकित्सा :-

वात वास आदि कारणों को दूर करने के अतिरिक्त हृत्कंप (Tachycardia) का लक्षण Ammonium Bromide के ५,१० ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देने से या Papaverine के १,५ ग्रेन की मात्रा में प्रति दिन तीन बार देने से शांत हो जाता है। असामयिक हृत्संकोच(Premature Systole) के लिये ग्राहक कोष्ठों की विक्षोभ शीलता को शांत करने के लिये Quinidine ३ ग्रेन कैप्सूल में दिन में तीन बार दिया जाता है। Phenobarbitone $\frac{1}{2}$ ग्रेन के दिन में तीन बार देने या Ammonium Bromide के ५,१० ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देने से हृदय मांस की विक्षोभ शीलता शांत हो जाती है। Auricular Fibrillation या अति नाड़ी वैषम्य के लिये Digoxin को पहले १ मिलिग्राम की मात्रा में देकर फिर आधा मिलिग्राम की मात्रा में प्रति ६,६ घंटे बाद देना चाहिये। इससे जब हृदय की प्रति मिनट गति ८० तक आ जाय तो .२५ मिलिग्राम की मात्रा में इसे दिन में दो बार देते रहें। इसे औषधि से ग्राहक कोष्ठों का संकोच प्रबल भी हो जाता है। नाड़ी लोप (Heart Block) के लिये रोगी को विश्राम अधिक करना चाहिये।

आयुर्वेद में हृदय रोग।

कारण :-

आयुर्वेद ग्रन्थों में अति शारीरिक श्रम, चिन्ता, भय आदि तीव्र मानसिक भाव, अति उष्ण अति अम्ल रूक्षा गुरु तथा अति गुरु गुरु भोजन मल मूत्रादि का शरीर से भलि प्रकार न निकलना, ये हृदय रोग के कारण कहे गये हैं।

श्लैष्मिक हृदय रोग :- (Rheumatic Carditis)

अत्याहार आदि से शरीर में आम दोष की वृद्धि के परिणाम रूप में हृदय के अन्तरावरण, मांस का भाग, या बाह्यावरण में श्लैष्मिक शोथ हो जाने से उत्पन्न होने वाले हृद्रोग को श्लैष्मिक हृद्रोग कहते है।

वातिक हृद्रोग :- (Asthenic or Degenerative Heart Disease)

पौष्टाहार के कम हो जाने से हृदय की सहज प्राण शक्ति हीन हो जाय तथा इसके मांस में दृढ़िलता आ जाय तो इससे उत्पन्न हृद्रोग को वातिक हृद्रोग कहते हैं। ।।च।चि।२६।। सुश्रुत के अनुसार जब हृदय

मे शूल का लक्षण विशेष हो तो इसे वातिक हृद्रोग कहते हैं।

पैत्तिक हृदय रोग :- Subacute Bacterial Endocarcpitis:-

हृदय में पहले आम वातिक शोथ हो चुका हो तो कभी कभी इसमें शरीर की किसी अन्य भाग से पूय जनक जीवाणु (Streptococcas) का संक्रमण होकर शोथ और अधिक बढ़ जाता है। जिससे रोगी में नाड़ी की तीव्रता, मंद ज्वर, पाण्डुता, पीत भाव, स्वेद आदि के लक्षण होते हैं। इसे पैत्तिक हृद्रोग कहते हैं। ।। च।चि।२६।।

चिकित्सा :-

श्लेष्मिक या आम वातिक हृद्रोग के लिये लंघन, पुष्करमूल, दश मूल, हरीतकी या अगस्त्य हरीतकी, शिलाजीत, आदि का कुछ काल प्रयोग करना चाहिये।

वातिक हृद्रोग अर्थात् हृदय की हर प्रकार की निर्बलता के लिये मुक्ता पंचामृत २ रत्ती, प्रति दिन ३ बार देवें या मुक्ता $१\frac{१}{२}$ रत्ती अकीक प्रवाल १,१ रत्ती को सितोपलादि २ माशा में मिला कर देना चाहिये। इसी भस्म, मुक्ता, प्रवाल, रजत, अकीक, संगेयशब, शृंग, समान समान को अर्जुन क्वाथ से भावना देकर १,२ रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार देने से भी हृदय की प्राण शक्ति बढ़ती है। चतुर्मुख चिन्तामणि/नवरत्न मृगांक/वृहद्वात चिन्तामणि योगेन्द्र रस भी १,१ रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार लेने से हृदय बल वर्धक होते हैं। इसी प्रकार जवाहर मोहरा माणिक्य, पन्ना, मुक्ता, प्रवाल, संगेयशब, कहरवा, वर्क चांदी, वर्क सोना १,१ तोला, शृंग भस्म दो तोला, कस्तूरी ६ माशा, अंबर १ तोला मिला अर्क गुलाब से १५ दिन घुटाई करें। यह १ रत्ती दिन में दो बार लेने से हृद्य होता है। हृदय को बल देने के लिये आमलकी रसायन ($२\frac{१}{२}$ सेर आमलों को पकाकर छाने कल्क को $१\frac{१}{२}$ सेर घी में तल ५ सेर चीनी की चाश में डाल कर इला वंशलोचन २,२ तोला मिलाकर) तथा च्यवन प्राश, अर्जुनारिष्ट, त्रिफलारिष्ट का सेवन किया जाता है। हृदय में शूल के लिये शृंग भस्म को २ रत्ती की मात्रा में ६ माशा घृत के साथ दिन में ३ बार दिया जाता है।

हृदय निर्बलता के कारण हृदय गति विषम या तीव्र हो तो मुक्ता के अतिरिक्त इलायची, मुलहठी, अर्जुन तथा बला का क्वाथ दुग्ध के साथ दिया जाता है। अर्क गावजवां, अर्क गुलाब, अर्क बेदमुश्क, श्वेत अनार आदि का प्रयोग भी लाभ करता है। त्रिफला, दारमिया, समान समान मिला कर इसकी २,३ माशे की मात्रा को बादाम रोगन तथा शहद के साथ देने से भी हृदय का विक्षोभ शांत होता है।

हृदय गति शिथिल हो तो मृग शृंग भस्म या मकरध्वज वटी, कुचलादि वटी का प्रयोग करना चाहिये। हृदय रोगी को गाजर, चिकड़ा, आमला, केला, पेठा, द्राक्षा, अनार, लहसुन, मूली आदि का सेवन करना चाहिये। पैत्तिक हृद्रोग (Bact.Endoc:) के लिये ६ लाख यूनिट Procaine Penicillin दिन में दो बार मांस द्वारा देते रहने से लाभ हो जाता है।

वृक्क रोग :-
(Diseases of the Kidney)

तीव्र वृक्क शोथ :- Acute Nephritis, Glomerulonephritis:

१८२७ में पहले पहल Richard Bright ने यह बताया कि यदि मूत्र गर्म करने पर जम जाय अर्थात् उसमें अल्बूमिन हो तथा सारे शरीर में श्वयथु दिखाई पड़े तो वृक्कों के रुग्ण होने की आशंका करनी चाहिये।

तीव्र रूप में यह रोग बाल्यावस्था में होता है। जिन बालकों में इस रोग के होने के प्रवृत्ति पहले से ही होती है उनमें Tonsillitis का रोग होकर वहां से Haemolytic Streptococcus का संक्रमण वृक्कों में हो जाता है। परंतु एक तो यह रोग टान्सिलों के रुग्ण होने के १५,२० दिन बाद होता है दूसरा रुग्ण वृक्कों में यह जीवाणु पाया भी नहीं जाता। अतः वृक्कों में इस जीवाणु के लिये अत्यधिक असात्म्यता होने के कारण अर्थात् उस जीवाणु या उसकी विष के विपरीत उसमें Antibodies उत्पन्न हो जाने या दूसरे शब्दों में Allergy उत्पन्न हो जाने के कारण यह शोथ उत्पन्न होता है। यह भी संभव है कि कुछ प्रोटीन पदार्थों के अवशोषण होने से उनके विपरीत वृक्कों में Immune Bodies उत्पन्न हो जाते हैं जो वृक्कों के लिये विषैले (Nephrotoxic) सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से यह रोग भोजन में अधिक प्रोटीन भोजन के लेने से होता प्रतीत होता है। Streptococcus के अतिरिक्त मलेरिया जीवाणु, Staphylococcus आदि की असात्म्यता Allergy से भी यह शोथ हो सकता है। अर्थात् इस रोग के कारण का ठीक ठीक पता नहीं।

विकृति :-

रुग्ण वृक्कों की परीक्षा करने पर पता चलता है जैसे किसी विष ने उनकी धामनी गुच्छों पर दुष्प्रभाव करके उन्हें सुजा दिया या फुला दिया हो। इन धामनी गुच्छों के फूल जाने से कैप्सूल्स के अंदर का खाली अवकाश स्थान भर आ जाता है। प्रत्येक धामनी गुच्छ (Glomerulus) अनेकानेक मोड़ों (Capillary Loops) से बना होता है। इनमें से एक मोड़ (Loop) की जांच करें तो पता लगता है कि उसके अंदर का अंतः स्तर (Endothelium) फूल कर मोटा हो गया है। दूसरे शब्दों में उसके सेलों में अति वृद्धि के हो जाने से उसके अंदर का स्रोत या रास्ता बंद सा हो गया है। जिससे उसमें रक्त स्वल्प मात्रा में ही आ पाता है। यह तक कि धामनी गुच्छों के अनेक मोड़ों में तो रक्त बहना ही बंद हो जाता है। प्रत्येक धामनी गुच्छ में रक्त एक आने वाली धमनिका (Afferent Arteriole) से आता है। और एक बाहर जाने वाली धमनिका (Afferent Arteriole) से बाहर जाता है। धामनी गुच्छ से निकलने वाली मूत्र प्रणाली (Tubule) की दीवार को क्योंकि रक्त इसी बाहर जाने वाली

अपवाहिका (Effe:Arte) के द्वारा पहुंचता है। अतः जब अभिवाही गुच्छ में रक्त थोड़ा ही पहुंचता है तब उसकी मूत्र प्रणालिका (Tubule) को भी रक्त थोड़ा मिलता है। इसलिये इसमें भी रक्तहीनता की प्रक्रिया होने लगती है।

अभिवाही गुच्छ के मोड़ों (Loops) का बाह्य स्तर (Epithelium भी फूल कर मोटा हो जाता है। अर्थात् दो मोड़ों के बीच का प्रदेश भर सा जाता है। इन सूजे हुये बाह्य स्तर के अनेकानेक सेल नष्ट होकर फड़ जाते एवं कैप्सूल के अंदर के रिक्त स्थान में बह जाते हैं। इन सूजे हुये मोड़ों पर तल पर से श्लैष्म स्राव (Exudate) भी अधिक मात्रा में निकलता है। इस श्लैष्म स्राव के द्वारा मोड़ों में से रक्त कण, श्वेत कण, भी कैप्सूल के अंदर के खाली स्थान में जाते रहते तथा मूत्र द्वारा बाहर निकलते रहते हैं।

लक्षण :-

तीव्र वृक्क शोथ का रोग प्रायः सहसा आरंभ होता है। बालक या नवयुवक के आंखों के आस पास के अवकाश में श्वयथु उत्पन्न हो जाता है जो कुछ दिन में पांव, टांगों, अंडकोष तथा पीठ पर की त्वचा में भी प्रसरण कर जाता है। इस श्वयथु का कारण या तो गुच्छों या (Glomeruli) के सूज जाने से वृक्कों में मूत्रोत्पत्ति का घट जाना है या Tubules में से लवण और जल का अधिक मात्रा में पुन विलीन (Reabsorb) हो जाना है। या अभिवाही गुच्छों में से अलव्युमिन के अधिक मात्रा में निकल जाने से शरीर के (Plasma) में अलव्युमिन का मात्रा में न्यून होजाना है। क्योंकि इससे रक्त का Colloid Osmotic Pressure घट जाता है। एवं इसमें अवयवों से द्रव को खींचने की शक्ति न्यून हो जाती है। जब जब रक्त में प्रोटीन की मात्रा ५ प्रतिशतक से गिर जाती है तब तब शरीर में न्यूनाधिक श्वयथु का लक्षण हो जाता है।

इस रोग के प्रारंभ में रोगी बालक को चार पांच दिन लगभग १०० डिग्री तक मंद ज्वर भी होता है। उसकी नाड़ी गति भी कुछ तीव्र होती है। उसका रंग भी कुछ फीका सा हो जाता है। उसका B.S.R. बढ़ा हुआ होता है। मूत्र मात्रा में कम होता है। दिन भर में ५,१० छटांक तक होता तथा धुंए के रंग का या काला होता है। अपने अंदर विद्यमान रक्त कणों तथा Urates के कारण यह धुंए के रंग का होता है। परीक्षा करने पर इसमें अलव्युमिन बहुत अधिक पाया जाता है जो ·४ से २· प्रतिशतक तक होता है। जब अभिवाही गुच्छों को पूर्ण मात्रा में रक्त नहीं मिलता अर्थात् उनको आक्सिजन पर्याप्त प्राप्त नहीं होता तब रक्त का अल्व्युमिन मूत्र में निकलने लगता है। इस प्रकार मूत्र गत अलव्युमिन अभिवाही गुच्छों की

उन्नता का सूचक होता है। इसी कारण मूत्र की स्पैसिफिक ग्रैविटी बढ़ी हुई लगभग १०२५ या १०३० तक होती है। मूत्र में Leucocytes, (रक्तकण), तथा Epithelial Casts पाये जाते हैं जो कि छाननी गुच्छों के उग्र हो जाने के सूचक होते हैं।

तीव्र वृक्क शोथ होने पर रक्त भार भी कुछ बढ़ जाता है। संभवत: जिस विष से छाननी गुच्छों में शोथ होता है उसी से सूक्ष्म धमनियों में स्तंभ (Spasm) होकर रक्त भार बढ़ता है। रक्त भार के बढ़ जाने पर वाम हृदय उ०० के सन्मुख अवरोध के बढ़ जाने से उसमें अति वृद्धि का उपद्रव हो जाता है। जो रोग के आरंभ होने के एक डेढ़ मास के बाद प्रकट होता है। हृदय में अति वृद्धि होने के स्थान पर कुछ ठेठि० शैथिल्य (Dilatation) भी हो सकता है। इस अवस्था में अर्थात् हृदय की शिथिलता में हृत्कंप (Tachycardia) तथा श्वास कृच्छ्रता के लक्षण प्रकट हो जाते हैं जो रात को विशेष होते हैं।

रक्त भार की अधिकता से मस्तिष्क में (शोथ) Oedema होकर या Encephalitis होकर या उसकी रक्त वाहिनियों में (स्तंभ) Spasm होकर सिर दर्द, तन्द्रा रोग तथा आक्षेप (Convulsion) के उपद्रव हो सकते हैं। इस रोग में कभी कभी मूत्र की मात्रा के न्यून हो जाने से मूत्र विष संचार (Uraemia) होकर उसके भी उपद्रव भी हो सकते हैं। साधारणत: रक्त के १०० सी०सी० में ३० मिलिग्राम के लगभग यूरिया होता है। इस रोग में यह बढ़कर २००, ३०० मिलिग्राम तक हो जाता तो उसके विशेष लक्षण होते हैं। अर्थात् यूरिया-विष-संचार के कारण नाड़ियों और मांस पेशियों में कंप (Twitchings, Cramps) हो सकते हैं। आमाशय तथा आंतों पर इस विष का दुष्प्रभाव होने से क्रमश: वमन और अतिसार के लक्षण भी हो सकते हैं।

साध्यता :-

८५ प्रतिशत लगभग बालकों में यह रोग १½, २ मास तक ठीक हो जाता है। जब यह रोग दो मास तक भी ठीक न हो तो इसके जीर्ण रूप में हो जाने का भय रहता है। जितनी ही आयु अधिक होती है उतना ही यह रोग अधिक कष्ट साध्य होता है क्योंकि उतना ही इस रोग में रक्त भार के उपद्रव के होने का भय रहता है।

शोथ युक्त जीर्ण वृक्क शोथ :- मंद वृक्क शोथ :-
Subacute Nephritis, Hydraemic Nephritis, Subacute Glomerulonephritis.

तीव्र वृक्क शोथ अथवा अस्पष्ट (Latent) रूप में हुआ वृक्क शोथ २,३ मास तक ठीक न हो, इस रोग के कारण का निवारण न हो, तो शोथ युक्त जीर्ण वृक्क शोथ का रोग हो जाता है। अर्थात् यह रोग अपनी द्वितीय अवस्था में पहुंच जाता है। देखने में वृक्क अधिक स्थूल हो जाते हैं तथा कुछ

कुछ श्वेत सी दीखते हैं। जिसे इसे Large white Kidepy कहते हैं। वृक्कों की श्वेतिमा का कारण Convoluled Tubules के सेलों में वसामय हीनता का हो जाना तथा बहुत से धामनीय गुच्छों में रक्त संचार का बंद हो जाना है।

धामनी गुच्छों की दीवारों में इस रोग की विष के दुष्प्रभाव से काच सदृश हीनता (Hyalinigation) की प्रक्रिया हो जाती है अर्थात् गुच्छों की कुशाग्र सिराओं की दीवारों में Hyaline Fibres छा जाती है। इनकी उपस्थिति इन गुच्छों के पोषण के न्यून हो जाने की सूचक होती है। गुच्छों में विद्यमान मोड़ों (Capillary Loops) की अंतस्तर (Endothelium) इतनी मोटी हो जाती है कि उनमें रक्त संचार ही बंद हो जाता है। इन जुड़े हुये गुच्छों में से उनके अंतस्तर (Epithelium) में से झड़े हुये सेल तथा इनके अंदर से स्रावित हुये रक्त कण, Albumin और इनसे उत्पन्न द्रव्य का बना Fibrin ये सब Capsule के खाली स्थान में जमा हो जाते हैं।

धामनी गुच्छों के चारों ओर के कैप्सूलों के अंदर का अंतस्तर (Epithelium) विशेष स्थूल हो जाता है अर्थात् इसके सेलों में अति वृद्धि हो जाती है। कैप्सूल के एक भाग का अंतस्तर (Epithelium) ही मोटा होता है। और फूल कर कैप्सूल के रिक्त स्थान को घेर लेता है। कैप्सूल के अंदर के इन उभरे हुये भागों की अर्ध चंद्राकार होने से Epithelial Crescents कहते हैं। इनकी उपस्थिति इस रोग का एक विशेष लक्षण है। कैप्सूल में मूत्र के साथ आये रक्त कणों के विक्षोभ के होने के कारण ही अंतस्तर के सेलों में यह वृद्धि होती प्रतीत होती है। बाद में Capsular Epithelium कैप्सूल के ये फूले हुये भाग स्नायु तंतु की वृद्धि (~~Exim~~ Fibrosis) की प्रक्रिया के हो जाने से कठोर हो जाते और Glomerulus की (Epithelium) के साथ जुड़ जाते हैं।

धामनी गुच्छों में रक्त संचार के कम हो जाने से Tubules को भी रुधिर की मात्रा बहुत कम मिलती है। जिससे उनके मुड़े हुये (Convoluted) भागों में विद्यमान सेलों में वसामय (Fatty) हीनता हो जाती है अर्थात् इन सेलों में फैट की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। Neutral Fat के अतिरिक्त इनमें Cholesterol की मात्रा भी अत्यधिक हो जाती है। Tubules की हीनता के होने से उनके सेलों की परतें झड़ झड़ कर मूत्र के साथ निकलने लगती हैं, जिन्हें हम Casts कहते हैं।

वृक्कों के स्नायु तंतु (Interstitial Tissue) से बने भाग में भी स्नायुभाग (Fibrosis) की प्रक्रिया हो जाती है जैसे Tubules

के सेलों में फैट (Lipoid) बैठ जाता है। वैसे ही वह (Interstitial Tissue) में भी बैठता जाता है। इसी से वृक्क देखने में श्वेत सी दीखते हैं।

लक्षण :-

तीव्र वृक्क शोथ दो मास में ठीक नहीं होता तो यह मंद या चिर स्थायी वृक्क शोथ हो जाता है। परंतु बहुधा यह रोग इतने मंद एवं अज्ञात रूप से प्रारंभ होता है कि रोगी को शारीरिक निर्बलता के अतिरिक्त महीनों तक इस रोग का पता ही नहीं चलता। फिर पैरों पर या बहुधा निम्न शाखाओं में स्वयथु होने का लक्षण होता है। टांगों पर से क्रमश: स्वयथु सारे शरीर पर प्रसरण कर जाता है। कई महीनों तक यह स्वयथु न्यून या अधिक रूप में रहता है। त्वचा के नीचे जल भरने के साथ साथ मंद जलोदर भी होता है।

स्वयथु के साथ साथ मूत्र में अलब्युमिन बहुत जाता है। लगभग ५, १०, १५ या २० ग्राम तक प्रति दिन शरीर में से निकल जाता है। मूत्र की दैनिक मात्रा थोड़ी होती है तथा रक्त कणों और Urates के कारण उसका रंग गहरा सा या कुछ काला सा होता है। उसकी स्पेसिफिक ग्रेविटी १०२०, १०२५ तक होती है। उसमें जल तथा लवण (Sodium Chloride) की मात्रा साधारण से कम होती है। परीक्षा करने पर उसमें Epithelial, Heyaline तथा Granular Casts इत्यादि विशेषत: तथा रक्त कण और श्वेत कण भी स्वल्प मात्रा में पाये जाते हैं।

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि या तो जल और लवण के शरीर में से कम निकलने से अथवा मूत्र द्वारा अलब्युमिन के अति मात्रा में निकल जाने से स्वयथु होता है। रक्त में Colloid Osmotic Pressure के न्यून हो जाने पर रक्त वाहिकाओं में संचित हुये द्रव को अपनी ओर खींचने में असमर्थ हो जाता है (दूसरे शब्दों में वृक्कों के रुग्ण होने से उससे उत्पन्न Hypoalbuminaemia या Hypoproteinaemia स्वयथु को उत्पन्न करता है) साधारणत: रक्त में Albumin ४ ग्राम, Globulin २.५ ग्राम प्रति सौ सी० सी० में होता है अर्थात् मिलकर कुल प्रोटीन ६.५ ग्राम प्रति सौ सी० सी० में होता है। अर्थात् इन दोनों प्रोटीनों का रेशियो १.६ और १ होता है। इस रोग में अलब्युमिन इतना निकल जाता है कि रक्त में इन दोनों का रेशियो १ और २ का हो जाता है। क्योंकि अलब्युमिन इस रोग में रक्त के १०० सी०सी० में २ ग्राम के लगभग रह जाता है। इस प्रकार रक्त में अलब्युमिन और ग्लोबुलिन का परस्पर रेशियो बदल जाता है। जब जब रक्त का प्रोटीन ५ प्रतिशत से कम हो जाता है तब तब शरीर में स्वयथु हो जाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरी ओर रक्त में Urea, लवण,

[illegible] (Lipoid) [illegible] (Interstitial Tissue) [illegible]

[illegible] :-

[illegible]

[illegible] Urates [illegible]

[illegible] (Sodium Chloride) [illegible] Epithelial, Heyaline [illegible] Granular Casts [illegible]

[illegible] Colloid Osmotic Pressure [illegible]

[illegible] Hypoalbuminaemia [illegible] Hypoproteinaemia [illegible] Albumin [illegible] Globulin [illegible]

[illegible] Urea, [illegible]

तथा Cholesterol की मात्रा स्वाभाविक से अधिक हो जाती है। रक्त में स्निग्ध तत्व बढ़ जाता है अर्थात् Lipaemia का लक्षण होता है। रक्त के १०० सी॰सी॰ में ३०० मिलिग्राम से अधिक Cholesterol हो जाता है। इसी कारण रोगी का रक्त भार कुछ कुछ बढ़ा हुआ होता है।

हृदय रोग जनित शोथ बूढ़ों में होता है। इसमें रक्त के अंदर Cholesterol की वृद्धि नहीं होती। इसलिये उससे इसका भेद करना सुगम है।

<u>जीर्ण वृक्क शोथ :-</u>Chronic, Nephritis, Small White Kidney:-

यह रोग तीव्र वृक्क शोथ या शोथ युक्त मंद वृक्क शोथ के चिरकाल तक लगभग दो वर्षों तक बने रहने से होता है। अथवा कभी पहले बिना तीव्र रूप में होने के प्रारंभ से ही अति मंद रूप में यह रोग होता है और पहले पहल इसका पता मूत्र विष संचार या रक्त भार वृद्धि के लक्षणों को देखकर [illegible] लगता है। जिन तीव्र या मंद विषों के कारण उपर्युक्त वृक्क शोथ होते हैं उन्हीं से ही यह होता है।

वृक्कों की परीक्षा करने से पता लगता है कि उनके आवश्यक अवयव (Parenchyma) के स्थान पर स्नायु तंतु (Cone: Tissue) बढ़ गया है अर्थात् वृक्कों में स्नायुभाव (Fibrosis) की वृद्धि [illegible] पाई जाती है। अतएव वृक्क देखने में छोटे तथा सुकड़े हुये दीखते हैं।

धमनी गुच्छों में जिनका Capillary Loops की दीवारों में [illegible] काच सदृश अपजनता (Hyaline Degeneration) बहुत अधिक स्पष्ट रूप से हो जाती है जिससे कुछ एक धमनी गुच्छ स्नायु भाव की वृद्धि के द्वारा सर्वथा बंद एवं रक्त विहीन हो जाते हैं। वृक्कों के कुछ एक धमनी गुच्छों में थोड़ा थोड़ा रक्त प्रवाहित होता रहता है। जिससे थोड़ा थोड़ा मूत्र बनता रहता है। कुछ एक धमनी गुच्छ आकार में बड़े बड़े (Hypertrophied) हो जाते हैं जो अधिक मात्रा में मूत्र बना कर रोगी को जीवित रखने का कार्य करते हैं।

इस रोग में मूत्र प्रणालियों (Tubules) के अंदर लघुता (Atrophy) की प्रक्रिया विशेष रूप से होती है। उनके अन्तस्तल (Epithelium) के सेलों में, स्निग्ध तत्व (Lipoid) पदार्थ जो उनकी अपजनता का सूचक होता है विशेष रूप से संचित हो जाता है।

नष्ट हुये धमनी गुच्छों और मूत्र प्रणालियों (Tubules) के आस पास का संयोजक तंतु (Interstitial Tiss) मात्रा में अधिक बढ़ जाता है।

वृक्कों के क्षीण हुये धमनी गुच्छों और मूत्र प्रणालियों में वाले

[illegible] Cholesterol [illegible]

[illegible] Lipoids [illegible]

[illegible] १०० [illegible] ३०० [illegible] Cholesterol [illegible]

[illegible]

[illegible]

Cholesterol [illegible]

है।

जीर्ण वृक्क शोथ :- Chronic, Nephritis, Small White Kidney:-

[illegible]

[illegible] (Parenchyma) [illegible] (Cone: Tissue) [illegible] (Fibrosis) [illegible]

[illegible] Capillary Loops [illegible] (Hyaline Degeneration) [illegible] (Hypertrophied [illegible]

[illegible] (Tubules) [illegible] (Atrophy) [illegible] (Epithelium) [illegible] (Lipoid) [illegible]

[illegible] (Tubules) [illegible] (Interstitial Tiss[illegible]) [illegible]

[illegible]

वाली धमनियों की दीवार में भी दृढ़िता (Fibrosis) की प्रक्रिया हो जाती है। जिससे ये कठोर हो जाती हैं और इनमें रक्त भार बढ़ जाता है। अर्थात् इनमें धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis) हो जाता है। धमनियों की दृढ़िता से वृक्कों को रक्त की मात्रा कम मिलती है। जब वृक्कों को रक्त कम मिलता है, इनमें से मूत्र पदार्थ कम निकलते हैं तब शरीर में रक्त भार का रोग हो जाता है।

जीर्ण वृक्क रोग के लक्षण :-

वृक्क रोग हो अर्थात् वृक्क के धमनी गुच्छ रुग्ण हों तो रक्त में विद्यमान अलब्यूमिन इनमें से निकलने लगता और मूत्र में आने लगता है। इसलिये इस रोग में अलब्यूमिन तो मूत्र में आता है परंतु क्योंकि बहुत से रुग्ण हुए धमनी गुच्छ स्नायु तंतु में परिवर्तित (Fibrosed) होकर बंद हो जाते हैं। बचे हुये स्वस्थ धमनी गुच्छ आकार में बड़े होकर रुग्ण हुये धमनी गुच्छों की न्यूनता को पूर्ण कर लेते हैं अर्थात् बचे हुये धमनी गुच्छों में अति वृद्धि के हो जाने से वृक्कों में हुई क्षति पूर्ण हो जाती है। इसलिये पुराने वृक्क रोग में मूत्र में निकलने वाले अलब्यूमिन की मात्रा घट जाती है। इस प्रकार रुधिर के अंदर अलब्यूमिन की मात्रा लगभग साधारण हो जाती है। इसीलिये वृक्क रोग के कारण उत्पन्न होने वाला स्वयथु का लक्षण भी शांत हो जाता है। जिससे जीर्ण वृक्क रोग में स्वयथु का लक्षण नहीं पाया जाता।

इसी प्रकार अनेकानेक मूत्र प्रणालियों (Tubules) के दृढ़ हो जाने से और उनके मूत्र बनाने के कार्य में भाग न लेने से उनकी अन्तस्तल (Epithelium) से झड़ने वाले Fatty Casts की मात्रा भी मूत्र में बहुत थोड़ी होती है। क्योंकि इस रोग में वृक्क के धमनी गुच्छ तथा मूत्र प्रणालियां बहुत अधिक संख्या में दृढ़ हो जाती हैं। अतः वृक्कों का स्वाभाविक मूत्र निर्माण की या उनकी स्वल्प मूत्र में अधिक से अधिक मल द्रव्यों को बाहर फैंकने की सामर्थ्य कम हो जाती है। अर्थात् मूत्र प्रणालियों की मूत्र को गाढ़ा (Concentrate) करने की शक्ति घट जाती है। जिससे मूत्र मात्रा में तो अधिक होता है, परंतु उसमें गाढ़ापन नहीं रहता। इसीलिये उसकी स्पेसिफिक ग्रैविटि घटकर १०१० या १०१२ तक आ जाती है। यदि भोजन लेने के बाद २०,२२ घंटे तक जल या किसी प्रकार का द्रव न पिया जाय और इस पर भी मूत्र की स्पेसिफिक ग्रैविटी १०२२ से कम हो तो समझना चाहिये कि वृक्कों की बहुत सी मूत्र प्रणालियां दृढ़ हो चुकी हैं। इसीलिये जीर्ण वृक्क रोग में मूत्र मात्रा में अधिक होता है अर्थात् उसे कुछ कुछ बहुमूत्र (Polyurea) की शिकायत रहती है। विशेषतः रात को बहुमेह

(Nocturea) होता है। पर उसके मूत्र की स्पेसिफिक ग्रेविटी कम होती है। वृक्कों को स्वस्थ से Urea, Uric Acid, Creatinine. आदि मलों के निकालने के लिये बहुत से जल की आवश्यकता रहती है। इसलिये पतला और हल्का बहु मूत्र, जीर्ण वृक्क रोग का सूचक लक्षण होता है।

वृक्कों की मूत्र ग्रन्थियों के रुग्ण या नष्ट हो जाने के कारण जब मूत्र से निकलने वाले मल द्रव्य रक्त में अधिक रुक जाते हैं तो संभवतः रक्त वाहिनियों पर उनका विक्षोभ पड़ने से उनमें रक्त भार वृद्धि का लक्षण या उपद्रव हो जाता है। रक्त भार के बढ़ने पर वाम हृदय में अतिवृद्धि हो जाती है। परंतु इससे कोई उपद्रव नहीं होता। जब ऐसा अति श्रम करने पर वाम हृदय में कुछ निर्बलता (Failure) हो जाती है। दूसरे शब्दों में जब रक्त भार गिर जाता है, तब श्वास काठिन्य या दुर्बलता या हृदय को रक्त के कम मिलने से हृदय शूल का लक्षण हो जाता है।

रक्त भार वृद्धि होकर सिर संबंधी लक्षण शिरोभ्रम (Vertigo) मानसिक विक्षोभ शीलता, Albuminuric Retinitis या तिमिर रोग या दृष्टि नाश के रोग हो जाते हैं।

वृक्कों में से मूत्र के द्वारा प्रोटीन पदार्थों से उत्पन्न होने वाले मल द्रव्य (End Products) जैसे Urea, Uric Acid, Creatinine तथा Ammonia शरीर से बाहर निकलते हैं। इस रोग में जब इन द्रव्यों की विशेषतः Urea की शरीर में से ~~निकलते हैं। इस रोग में जब इन द्रव्यों की विशेषतः की शरीर में~~ से निकासी कम हो जाती है (२.५ या २ प्रतिशत से कम हो जाती है) एवं रक्त में इनकी वृद्धि हो जाती है तो इस (Uraemia या Azotaemia) के कारण एक तो शरीर तथा मस्तिष्क थोड़े श्रम से भी थकने लगते हैं। दूसरा पांडु रोग Aplastic Anemia या शरीर में फीकापन ऐसा होता है। जिसे पांडु की औषधियों से लाभ नहीं होता। नाड़ियों पर विक्षोभक प्रभाव होकर हाथ पांव की मांस पेशियों में स्तंभ (Cramps) के लक्षण होते हैं। नाड़ी मंडल के विक्षोभक के कारण ही त्वचा पर कंडू होने का लक्षण होता है। आमाशय तथा आंतों पर इसका दुष्प्रभाव होने से अन्नारुचि, वमन या अतिसार के लक्षण जो चिकित्सा से ठीक नहीं होते, हो जाते हैं। मस्तिष्क पर इस रोग के दुष्प्रभाव से दिन में निद्राधिक्य (Drowsiness) तथा रात को अनिद्रता (Insomnia) के लक्षण रहते हैं। रक्त भार वृद्धि तथा मूत्र विष संचार (Uraemia) इन दोनों के उपद्रव स्पष्ट रूप से होने लगे तो कुछ एक महीनों में यह रोग घातक हो जाता है।

तीव्र वृक्क शोथ (Acute Glomerulonephritis) की चिकित्सा

शैया विश्राम चिकित्सा :-

जब तक वृक्कों में शोथ रहे तब तक रोगी को श्रम से तथा शीत से बचना चाहिये। गर्म कमरे में, गर्म ऊनी कपड़ों में, एक मास तक पूर्ण विश्राम में रहने से रोग के लक्षण शांत हो जाते हैं। अर्थात् मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। स्थायु शांत हो जाता है। मूत्र में अलब्यूमिन तथा रक्त की मात्रा बहुत घट जाती है। रक्त का B.S.R. तथा रक्त भार घट जाते हैं। इसलिये प्रति दूसरे तीसरे दिन मूत्र की मात्रा, रोगी का रक्त भार, रोगी के शरीर का भार, मूत्र में अलब्यूमिन तथा रक्त की मात्रा की जांच करते रहना चाहिये। जब मूत्र में अलब्यूमिन की मात्रा ·२ ग्राम दैनिक आ जाय तब रोगी को उठने बैठने की अनुमति दे देनी चाहिये। एक मास की विश्राम चिकित्सा से अपूर्ण लाभ हो तो दो या तीन मास तक भी विश्राम चिकित्सा को जारी रखना चाहिये। विश्राम के साथ वृक्क प्रदेश पर Kaolin पोल्टिस बांधे रखें अथवा इन पर स्वेदन करने या इन पर Cupping करने से भी इनका शोथ उतरता है।

भोजन संबंधी चिकित्सा :-

हमारे वृक्क आहार द्वारा लिये गये प्रोटीन के परिपाक (Metabolism) से उत्पन्न मलों (Urea, Uric Acid, Creatinine, Ammonia.) आदि को रक्त में से पृथक करके मूत्र द्वारा बाहर फेंकते, तथा सब्जियों, फलों आदि में पाये जाने वाले लवणों को भी बाहर फेंकने का कार्य करते हैं तथा पिये गये जल को भी वे ही आवश्यकतानुसार बाहर करने का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें जल भाग को फिर से चूस कर मूत्र को गाढ़ा भी करना पड़ता है। जितना ही मूत्र में ठोस पदार्थ अधिक होते हैं उतना ही उसका Osmotic Pressure भी अधिक होता है। जितना मूत्र में यह प्रेशर अधिक होता है उतना ही वृक्कों को उसके जल भाग को पृथक करने में अधिक श्रम करना पड़ता है। अतः वृक्कों के रुग्ण हो जाने पर यह आवश्यक हो जाता है कि उनके कार्यभार को घटाया जाय। वृक्कों के कार्यभार को घटाने के लिये आहार तथा पेय द्रव्यों की मात्रा कम कर देनी चाहिये।

प्रथम तीन चार दिन तक यदि पूर्ण लंघन कराया जा सके तो वृक्कों पर कार्यभार के हट जाने से बड़ा लाभ प्रतीत होता है। मुख को गीला रखें या संतरे की फांकों के कभी कभी चूस लेने से तीन दिन बिना आहार तथा जल के रहा जा सकता है। यदि रोगी न रह सके तो दिन में दो बार आधा गिलास जल या लेमोनेड जिसमें थोड़ा ग्लूकोज और आधा निंबू या आधे संतरे का रस पड़ा हो पीकर तीन चार दिन गुजारे जा सकते हैं। यदि एक गिलास जल से निर्वाह न हो सकता हो तो दिन भर में कुल एक सेर द्रव भोजन जल, या यवोदक, लेमनेड, Imperial Drink (Acid Potassium)--

Tartrate. ६० ग्रेन आधा, निंबु जल, १ पाइंट तथा टमाटर के रस या अंगूर के रस आदि के रूप में ४, ५ औंस ग्लूकोज के साथ मिला कर दे सकते हैं। इसके बाद दूध और सोडा वाटर ५, ५ छटांक की मात्रा में दिन भर में दो बार विभक्त करके एक दो दिन देवें। इसके बाद दो तीन दिन प्रतिदिन १० छटांक दूध, ५ प्रतिशत ग्लूकोज के साथ १, १ छटांक की मात्रा में प्रति दो घंटे के बाद देवें अथवा दिन भर में कुल द्रव भोजन $1\frac{1}{4}$ सेर या $1\frac{1}{2}$ सेर तक देवें जिसमें से दूध ५ छटांक हो, इसे चाय के रूप में भी दे सकते हैं। शेष द्रव भोजन को यवोदक, ग्लूकोज मिश्रित लेमोनेड, Imperial Drink संतरे, टमाटर, अंगूर आदि के रस के रूप में दे सकते हैं। दो तीन पतले टोस्ट, शहद और घी या क्रीम लगा कर भी दे सकते हैं। कुछ अंश द्रव के स्थान पर हल्के भार का कोई फल दिया जा सकता है। दस बारह दिन इस भोजन पर रखने से रोगी को और अधिक लाभ प्रतीत होता है।

इसके बाद रोगी के दैनिक द्रव की मात्रा २ सेर तक की जा सकती है जिसमें से १० छटांक दूध स्वतंत्र या चाय के रूप में हो सकता है या Cornflour-आदि किसी प्रकार की खीर के रूप में दिया जा सकता है। शेष द्रवाहार लेमोनेड, Imperial Drink संतरे, टमाटर, अंगूर या किसी फल के रस के रूप में दिया जा सकता है। इस द्रव के अतिरिक्त पतले चार पांच टोस्ट शहद और घृत के साथ दिये जा सकते हैं।

दाल, मांस, अंडा, पनीर आदि प्रोटीन प्रधान आहार, लवण, काफी, मद्य, मसाले, सिरका आदि विक्षोभक पदार्थ तथा लवण प्रधान होने के कारण वृक्कियों के दुष्कर्म पूर्ण, इस रोग में अपथ्य होते हैं। प्रोटीन प्रधान द्रव्यों में से दूध तथा रोटी या लवण से बिना बना हुआ डबल रोटी का टोस्ट स्वल्प मात्रा में रोगी को दिया जा सकता है। दूध १ औंस में ·९ ग्राम तथा टोस्ट १ औंस में २·३ ग्राम प्रोटीन होती है। इस प्रकार १० छटांक दूध एक दिन में रोगी को दिया जाय तो इसमें १८ ग्राम प्रोटीन शरीर में जाता है। यह वृक्कों के लिये हानिकारक नहीं हो सकता। रोटी भी $1\frac{1}{2}$ या ३ औंस तक वृक्कों के लिये हानिकारक नहीं। लवण इस रोग में अपथ्य है। यद्यपि १० छटांक दूध में · ७ ग्राम लवण होता है तथा १ औंस रोटी में भी कुछ नमक होता है। तथापि १ ग्राम नमक के जाने से कोई हानि नहीं होती।

औषध चिकित्सा :-

जितना ही मूत्र अधिक अम्लीय प्रतिक्रिया का होता है। उतना ही वह मूत्र प्रणालियों के अंतस्तर (Epithelium) के सेलों के लिये हानिकारक होता है। अतः मूत्र की अम्लीयता कम करने के लिये Potassium Citrate, Acetate तथा Potassium Bi-Carbonate १०, २० ग्रेन की

मात्रा में दिन में ३ बार देने चाहिये।

इसके अतिरिक्त वृक्कों के कार्य भार को हलका करने के लिये त्वचा और आंतों से अधिक कार्य लेना चाहिये अर्थात् कभी कभी त्वचा पर १०, १५ मिनट तक वाष्प स्नान या Hot Air Bath देकर स्वेदन लाया जाय तथा Magnesium Sulphate या Albamix एक या दो ड्राम प्रति दिन देकर आंतों को साफ रखा जाय तो वृक्कों का कार्य हलका पड़ जाता है।

यदि गले में पाये जाना पूय भावक रोग का कारण हो तो Penicillin के प्रयोग से लाभ हो सकता है।

शोथ युक्त वृक्क शोथ Sub-Acute Nephritis. की चिकित्सा :-

इस अवस्था में भी वृक्कों में शोथ के कारण रोगी को विश्राम करना चाहिये। इस अवस्था में एक ओर जहाँ रक्त में प्रोटीन के न्यून हो जाने से स्नायु का लक्षण होता है वहाँ दूसरी ओर वृक्कों में प्रोटीन, भोजन से उत्पन्न यूरिया आदि नाईट्रोजन मय वर्गों को शरीर से बाहर करने की असमर्थता भी बढ़ी हुई होती है। जिससे प्रोटीन मय भोजन बहुत स्वल्प मात्रा में ही दिया जा सकता है। सब्जियों तथा फलों में लवण अधिक मात्रा में होने से इनका प्रयोग अधिक नहीं किया जा सकता।

साधारणतः इस रोग में शरीर के प्रति सेर किलोग्राम भार के पीछे आधा ग्राम प्रोटीन तथा जितना मूत्र द्वारा निकलता हो उतना और मिला कर प्रतिदिन दे देना चाहिये। उदाहरणतः यदि भार ५० सेर हो और प्रति दिन मूत्र में १० ग्राम अल्ब्यूमिन जाता हो तो कुल ५०/२ + १० = ३५ ग्राम प्रोटीन भोजन द्वारा दे देना चाहिये तथा नमक सब मिला कर दो ग्राम से अधिक नहीं देना चाहिये। जल की दैनिक मात्रा इतनी होनी चाहिये जितनी की मूत्र की मात्रा हो तथा जितना जल मल स्वेद आदि के द्वारा शरीर से बाहिर होता हो अर्थात् इसकी दैनिक मात्रा दो या तीन पांइन्ट से अधिक नहीं होनी चाहिये। उदाहरणतः रोगी को प्रतिदिन १ पाइंट दूध दे देवें जिससे १८ ग्राम प्रोटीन तथा .७ ग्राम नमक तथा ३४० कैलोरी गर्मी की रोगी को मिल जाती है। दूध के अतिरिक्त १५, २० औंस द्वारा दूसरा द्रव भोजन जैसे संतरा अंगूर टमाटर आदि किसी का रस ५ औंस ग्लूकोज ४ ड्राम, (जिससे गर्मी की कैलोरी ७४ मिलती है) फल ७ औंस (७८ कैलोरी), कोई मौसमी सब्जी बिना नमक के ४ औंस (८४ कैलोरी) चाय ४, ५ औंस दे सकते हैं। चावल १ औंस ३३० (प्रोटीन २.८ ग्राम कैलोरी १५) को थोड़े दूध में मिला खीर के रूप में दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त खांड, गुड़, मुरब्बा आदि (१ औंस खांड से ११२ कैलोरी मिलती है) स्वल्प मात्रा में दे सकते हैं। रोटी या टोस्ट ६ औंस (१ औंस रोटी में २.३ ग्राम प्रोटीन होता तथा रोगी को ७० कैलोरी गर्मी मिलती है) दे सकते हैं। इस भोजन से रोगी को लगभग ३५ ग्राम प्रोटीन

तथा दो ग्राम तक नमक और २,२½ पांइट तक द्रव मिलता है।

अथवा रोगी को केरल के भोजन (Carell Diet) पर रख सकते हैं। केरल के अनुसार सात दिन रोगी को ७,७ औंस दूध चार चार घंटे बाद दिन में चार बार दिया जाता है जिससे रोगी को उचित मात्रा में प्रोटीन मिल जाता है। इसमें नमक १. ३ ग्राम तक दूध के द्वारा पहुंच जाता है। ८ वें दिन इसी भोजन के दो समयों के बीच में एक बार एक अंडा और १ टुकड़ा टोस्ट का दे दिया जाता है। इस प्रकार उस दिन नमक की कुल मात्रा ६.७८ तक उसके शरीर में पहुंचती है। ६ वें दिन दोपहर के दूध में एक छोटा चम्मच Cornflour का डालकर उसकी खीर बना कर देते हैं। तथा साथ ही १ छटांक कोई मौसमी सब्जी दे दी जाती है तथा सांयकाल के दूध के साथ १ टोस्ट दे दिया जाता है। इस दिन कुल लवण रोगी को १.८६ ग्राम मिलता है। १०,१२ वें दिन १ अंडा, १ औंस चावल (कच्चा), २ औंस सब्जी, इसी भोजन में और मिलाकर दे सकते हैं। इस प्रकार अब रोगी को २.४१ ग्राम नमक मिलने लगता है।

प्रतिदिन मूत्र की मात्रा का नाप तथा सप्ताह या १० दिन बाद Plasma में अलब्यूमिन तथा Urea की मात्रा की जांच करते रहना चाहिये तथा मूत्र में भी Urea की मात्रा को देखते रहना चाहिये।
औषधियों में से मूत्रल औषधियों जैसे Potassium Cirtrate १५ ग्रेन तथा Potassium Bi-Carbonate ३० ग्रेन की मात्रा में दिन में २,३ बार दी जाती हैं। ~~Theopp~~ Theophylline Et Sodium Acetate २,४ ग्रेन की मात्रा में मूत्रल होने के कारण इस रोग में उपयोगी है। Mersalyl १,२ सीसी की मात्रा में मांस द्वारा दूसरे तीसरे दिन देने से या Diamox के मुख द्वारा कभी कभी देने से मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है तथा शोथ उतर जाता है। ~~या Dimox की ५०० गोलियां मुख से दी जा सकती हैं।~~

Cortisone तथा Corticotrophin (AcTH) जैसी औषधि के एक सप्ताह या दस बारह दिन तक देने से मूत्र में अलब्यूमिन लुप्त हो जाता है। या बहुत घट जाता है। मूत्र अधिक आने लगता है तथा रक्त में अलब्यूमिन की मात्रा साधारण लेवल तक आ जाती है। Cartisone को २५ से १०० मिलिग्राम मात्रा में तीन बार मुख द्वारा तथा Carticotrophin को ४० से १०० मिलिग्राम की एक दैनिक मात्रा में मांस द्वारा दिया जाता है।

जीर्ण वृक्क रोग (Chronic Nephritis) की चिकित्सा :-

प्रोटीन भोजनों से उत्पन्न होने वाले मलों, विशेषतः यूरिया को वृक्क भली प्रकार बाहर नहीं निकाल सकते। थोड़े मूत्र में अधिक यूरिया को निकालने की उसकी स्वाभाविक शक्ति घट जाती है जिससे मूत्र पतला, मात्रा में अधिक होता परंतु उसमें निकलने वाले ठोस द्रव्यों की मात्रा कम होती है

[illegible] (Carell Diet) [illegible]

[illegible] Cornflour [illegible]

[illegible]

Plasma [illegible] Urea [illegible]

[illegible] Urea [illegible]

[illegible] Potassium Citrate [illegible]

[illegible] Potassium Bi-Carbonate [illegible]

[illegible] Theophylline Et Sodium Acetate [illegible]

[illegible] Mersalyl [illegible]

[illegible] Diamox [illegible]

[illegible]

Cortisone [illegible] Corticotrophin (ACTH) [illegible]

[illegible] Cortisone [illegible]

[illegible] Corticotrophin [illegible]

[illegible] (Chronic Nephritis) [illegible]

[illegible]

जिससे मूत्र की स्पेसिफिक ग्रेविटी कम होती है। वृक्कों की इस असमर्थता के कारण रक्त में यूरिया बढ़ जाता है। रोगी के चेहरे पर पांडुता आने लगती है उसे सिर दर्द रहने लगता है। शरीर में उत्पन्न होने वाले मलों के अम्लीय प्रकृति का होने से रक्त में अम्लीयता का रोग (Acidaemia) हो जाता है।

ऐसी अवस्था में जब तक Urea १०० सी॰सी॰रक्त में ६० मिलिग्राम से ऊपर हो तब तक प्रोटीन भोजन अति स्वल्प मात्रा में देना चाहिये। शरीर के एक सेर भार के पीछे आधा ग्राम तथा जितनी उसकी मात्रा मूत्र में प्रतिदिन निकलती हो उतनी मात्रा प्रोटीन की रोगी को देनी चाहिये। अर्थात् लगभग ३५ ग्राम प्रोटीन उसे देना चाहिये। Low Protein Diet) परंतु इसके देने से पहले ३,४ दिन तक रोगी को कुछ कुछ निराहार रखकर केवल $2\frac{1}{2}$ पाइन्ट द्रवाहार पर ही रखा जाय तो लाभ अधिक होता है। अर्थात् इस द्रव आहार का कुछ अंश तो टमाटर या अंगूर आदि के फल रस का होता है। शेष अंश पतली चाय, लेमोनेड, Imperial Drink आदि के द्वारा जिसमें दैनिक ४,६ औंस ग्लूकोज मिला हुआ हो पूर्ण किया जाता है। इस प्रकार के प्रोटीन रहित आहार से रक्त के अंदर विद्यमान यूरिया की मात्रा न्यून हो जाती है। जब रक्त में यूरिया की मात्रा १०० सी॰ सी॰ में ८० मिलिग्राम के लगभग हो तब उसे ऐसा भोजन जिसमें प्रोटीन ३५,४० ग्राम के लगभग हो देना चाहिये। (Low Protein Diet) इसमें कुल जल की मात्रा $2\frac{1}{2}$ से ३ पाइंट तक की होती है। जिसमें दुग्ध आधा पाइंट तथा चाय, लेमोनेड आदि भी ली जा सकते हैं। ठोस पदार्थों में से रोटी या टोस्ट ५ औंस, चावल (कच्चा) २ औंस, आलू ५ औंस, अंडा १, घृत २ औंस, मठा $\frac{1}{2}$ औंस, खांड २ औंस, क्रीम १ औंस, हरी सब्जी स्वल्प मात्रा में दे सकते हैं। इस भोजन में दुग्ध से ६, रोटी से ११.५, चावल से ३.६ अंडे से ७. आलू से २ ग्राम अर्थात् कुल ३०,३२ ग्राम के लगभग प्रोटीन शरीर में जाता है। इस भोजन में फैट ६६ ग्राम, कार्बोहाईड्रेट २१२ ग्राम के लगभग है तथा इसके द्वारा शरीर को १६०० कैलोरी गर्मी भी प्राप्त होती है। इस भोजन में रोगी को फल, मठा, सलाद, आदि अधिक मात्रा में भी दिये जा सकते हैं।

इस आहार से रक्त में यूरिया की मात्रा घटकर ४०, ५० या ६० मिलिग्राम प्रतिशतक हो जाय तो जल की मात्रा साधारण अर्थात् ३, $3\frac{1}{2}$ पाइंट दी जा सकती है। सब्जी, आलू, फल, मठा Wheat Flakes, Flaked Rice. अधिक मात्रा में दिये जा सकते हैं तथा घृत और या मक्खन की मात्रा भी बढ़ाई जा सकती है तथा प्रोटीन भोजन की मात्रा भी थोड़ी बढ़ाई जा सकती है। परंतु मांस, मछली, [illegible] तथा अपथ्य होते हैं।

इस प्रकार के न्यून प्रोटीन वाले भोजन पर रहते समय रोगी को विश्राम करना चाहिये। मूत्रल औषधियों Diamox आदि के देने पर भी मूत्र द्वारा जो शारीरिक जल नहीं निकल पाते उन्हें आंतों द्वारा अर्थात् Mag: Sulph: १,२ ड्राम दूसरे तीसरे दिन देकर निकालना चाहिये। रक्त के अंदर उत्पन्न अम्लीयता की वृद्धि के घटाने के लिये Soda-Bi-Carb: २०,३० ग्रेन दिन में दो तीन बार देते रहना चाहिये। अम्लीयता (Acidosis) से श्वास काठिन्य भी होता है। वह भी क्षार चिकित्सा से शांत हो जाता है। रोगी को जल,या ग्लूकोज मिश्रित जल,पर्याप्त मात्रा में,मुख द्वारा,त्वचा द्वारा या शिरा द्वारा मिलते रहना चाहिये।

आशुकारी (?) में श्लैष्मिक वृक्क शोथ :- (Acute Glomerulonephritis):-

बालकों,युवकों में पाये जाने वाले शोथ का कारण बहुधा श्लैष्मिक वृक्क शोथ होता है। शोथ का अर्थ उभार है जो रक्त वाहिनियों में से रक्त के प्लाज़्मा में विद्यमान द्रव के अधिक मात्रा में बाहिर निकलने से अथवा दूसरे शब्दों में सेलों के बीच बीच के भाग में विद्यमान द्रव के मात्रा में बढ़ जाने से उत्पन्न होता है। साधारणतः तो रक्त वाहिनियां,ये अपने अंदर से,ग्लूकोज एमीनोएसिड्स आदि पोषकद्रव्यों को बाहिर जाने देती हैं और अवयवों के अंदर विद्यमान यूरिया आदि विजातीय द्रव्यों को बाहिर से अपने अंदर खींच लेती हैं परंतु कभी कभी शरीर की रक्त वाहिनियों की परिस्रवण शीलता (Permeability) बढ़ जाती है। शरीर में उत्पन्न या बाहिर से अन्दर आये किसी विष द्रव्य के संपर्क से इनकी दीवारें शिथिल,विस्तृत (Dilated) हो जाती हैं जिससे इनके अंदर का जलांश अधिक मात्रा में बाहर परिस्रवित होने लगता है। इससे उत्पन्न होने वाले उभार को शोथ रोग कहते हैं।

श्लैष्मिक शोथ :-

देहाग्नि की निर्बलता के कारण शरीर में आम दोष या कफ दोष के बढ़ जाने अर्थात् रक्त में स्नेह आदि (Cholesterol) आदि के बढ़ जाने पर बहुत संभवतः पहले श्लैष्मिक वृक्क शोथ होता है अर्थात् पहले वृक्क की रक्त वाहिनियों (Glomeruli) में शोथ होता है। उनके सूज जाने से मूत्र कम बनता है जिससे रक्त में जलांश तथा लवण की मात्रा बढ़ जाती है। इसी आम दोष का संभवतः शरीर की सर्व रक्त वाहिनियों पर दुष्प्रभाव पड़ता है जिससे उनकी परिस्रवण शीलता बढ़ जाती है उनमें से जल तथा लवण अधिक मात्रा में बाहिर परिस्रुत होने लगते हैं। जिससे सारा शरीर फूल सा जाता है। बालक या युवक देखने में श्वेत,फूला हुआ दीखता है। शोथ सारे शरीर पर होता है। पर मुख तथा आंखों पर अधिक स्पष्ट दीखता है। गुर्दों के सूज जाने के कारण मूत्र की मात्रा घट जाती है। आम दोष या कफ दोष की वृद्धि के कारण

तंद्रा, निद्रा, गौरव, अन्नारुचि, आदि लक्षण भी होते हैं। श्लैष्मिक स्वयथु सारे शरीर पर होता है। धीरे धीरे बढ़ता है। रात दिन रहता है।

।। क।चि।१२।।, ।।क।सु०।१८।।, तथा ।। सु०। चि।२३।।,

वातिक वृक्क शोथ :- (Chronic Nephritis)

वातिक शोथ :- (Asthenic Oedema)

जब वृक्कों, हृदय तथा रक्त वाहिनियों की सम्पूर्ण प्राण शक्ति निर्बल हो जाती है, अर्थात् इनकी मूत्र बनाने या रक्त को प्रेरित करने की अपनी शक्ति कम हो जाती है तब रक्त वाहिनियों में रक्त अधिक अधिक रुक जाता है। अर्थात् इनमें रक्त भार बढ़ जाता है। इससे भी रक्त का जलांश अधिक मात्रा में बाहिर परिस्रुत होने लगता है। इस अवस्था में अर्थात् वृक्क, हृदय, तथा रक्त वाहिनियों की प्राण शक्ति की न्यूनता से उत्पन्न होने वाले शोथ रोग को वातिक स्वयथु कहा जाता है। वृक्कों, हृदय तथा रक्त वाहिनियों की प्राण शक्ति को कम करने वाला भी कोई विष द्रव्य शरीर में विद्यमान होता है। किस विष द्रव्य से यह वातिक स्वयथु उत्पन्न होता है, यह निश्चय से कहा नहीं जा सकता। वृद्धावस्था में शरीर के अंदर उत्पन्न होकर बढ़ने वाले किसी विष द्रव्य के रक्त वाहिनियों पर हुये दुष्प्रभाव से यह रोग होता है। जिस व्यक्ति के वृक्कों में पहले निर्बलता होती है, उसमें वृक्कों में पहले वातिक वृक्क शोथ (Nephritis) होता है, फिर शरीर में शोथ प्रकट होता है। वातिक शोथ बड़ी आयु में होता है। आराम करने से घट जाता है। श्रम करने से बढ़ता है। शरीर का पोषण कम होने अर्थात् रक्त में उसकी प्रोटीन अंश के कम होने से भी यह बढ़ता है। अतः अन्न संकट काल या अकाल के समय भी वातिक शोथ का रोग होता देखा जाता है। वातिक स्वयथु स्थिर न होकर घटता बढ़ता रहता है।

।। क।सु०।१८।।, ।। क।चि।१२।।,

श्लैष्मिक वृक्क शोथ चिकित्सा :-

कफ दोष जनित वृक्क शोथ के लिये लंघन, पाचन, दीपन, तथा रूक्षण चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को तीन चार दिन केवल जल मात्र पर रखकर फिर बकरी या गाय के दुग्ध पर ही रखना चाहिये। गो मूत्र इस रोग के लिये एक उपयोगी औषधि है। आठ गुणा गोमूत्र से पकाया हुआ मंडूर अपने से आधी मात्रा में पाचन, दीपन औषधियों से मिश्रित करके देना चाहिये। पुनर्नवा मंडूर इसी प्रकार का एक उपयोगी योग है जिसे ४ रत्ती की मात्रा में दिन में दो तीन बार दिया जाता है अथवा आठ गुणा गोमूत्र से पकाया हुआ मंडूर पुनर्नवाष्टक कषाय (पुनर्नवा, कुटकी, हरीतकी, नीम, पटोल,

गुडूची,सोंठ,दारु हल्दी,गोखरू) के साथ दिया जाता है। दीपन पाचक औषधियों मे क्षार के साथ मिला कर देने से भी यह शोथ शांत होता है। इसके लिये क्षार गुटिका (मूली सुखी हुई मूली, ८४ तोला का क्षार,यवक्षार,सर्जीक्षार, पांच लवण,सोहगा,त्रिफला,त्रिकुट,अतिविषा,अजवायन,चाय चिंत,पिप्पलीमूल, चित्रक मूल,गोखरू,४,४ तोला,हींग १ तोला) दो दो रत्ती की मात्रा मे चार बार दी जाती है। पुनर्नवा के योग शोथ के लिये बहुत प्रयुक्त होते हैं। पुनर्नवाष्टक क्वाथ के अतिरिक्त पुनर्नवासव,पुनर्नवादि (पुनर्नवा, गिलोय,दशमूल, देवदारु समान समान का क्वाथ २५६ तोला, अदरक रस ६४ तोला, गुड़ ४०० तोला,त्रिकुट,त्रिजातक प्रत्येक १ तोला) एक तोला की मात्रा मे दिन मे तीन चार बार दिये जा सकते है। मण्डूर,बेर चूर्ण २ रत्ती की मात्रा मे तीन बार देने से मूत्र होता है। इन औषधियों के साथ रोगी को केवल बकरी या गाय के दुग्ध,जौ (बार्ली) या मूंग,कुल्थी आदि के उष्ण हित पथ्य पर रहना चाहिये। रोगी को तीन चार सप्ताह तक केवल शतावरी तथा गोखरू से साधित गाय के दुग्ध तथा दुग्ध वटी (हिंगुल, अफीम,धतूर बीज समान समान) $\frac{1}{2}$ रत्ती की तीन गोली दिन मे देने से भी लाभ होता है। रोगी को घृत,तेल,दधि आदि गुरु भोजन अपथ्य होता है।

॥ च० चि० १२॥

वात स्तम्भ चिकित्सा :-

वातिक मूत्र शोथ मे वृक्कों मे वातिक रूक्षता के होने से वे रक्तस्थ मल द्रव्यों को भली प्रकार बाहिर नहीं कर सकते। अतः इन मलों को औरों के मार्ग से बाहिर करना चाहिये। परंतु रोगी की प्राण शक्ति को कम नहीं होने देना चाहिये। रोगी को कभी कभी त्रिवृत चूर्ण दुग्ध के साथ या एरंड तैल देकर मृदु शोधन करना चाहिये या दुग्ध के साथ त्रिफला का प्रयोग करना चाहिये। तथा उसे दुग्ध,चावल,बार्ली,मूंग,मांस रस पर रखना चाहिये। जिससे बल निर्बल न हो। वात स्तम्भ मे कंस हरीतकी (दशमूल क्वाथ २५६ तोला, बड़ी हरड़ १०० अदद,गुड़ ४०० तोला,यवक्षार त्रिकुट,त्रिजातक १,१ तोला, मधु ३२ तोला) की एक हरड़ तथा १ तोला लेह दिन मे दो बार देना हितकर होता है। त्रिफला के साथ शिलाजतु या चन्द्र प्रभा का प्रयोग करने से भी वातिक मूत्र शोथ मे रोगी को आराम रहता है। विरेचन द्वारा मूत्र संबंधी मल निकालने मे रोगी निर्बल हो जाता हो तो बस्तियों द्वारा इस मल को निकालना चाहिये। रोगी को क्षार गुटी के देने से भी मूत्र ठीक ठीक (आता) रहता है। ॥ च० चि० १२॥, ॥ सु० चि० २३॥,

मूत्र विष संचार :- Uraemia:-

यद्यपि शरीर की धातुओं मे पाक के परिणाम के कारण फास्फोरिक

अम्ल (H_2PO_4) सल्फ्यूरिक अम्ल (H_2SO_4), लवणाम्ल (Hcl) तथा अनेक दूसरे Organic Acids उत्पन्न होते रहते हैं, तथापि रक्त तथा शरीर के सभी द्रव मंद मंद क्षारीय प्रतिक्रिया के होते हैं। कारण यह है कि भोजन से प्राप्त होने वाले Sodium, Potassium, Calcium, Magnesium आदि Cations या Base रक्त आदि द्रवों को क्षारीय प्रकृति का बनाये रखते हैं। वृक्कों का यह कार्य है कि वे शरीर में बढ़े हुये अम्लों (Acid Radicals) को मूत्र द्वारा बाहर करते रहें। इस प्रकार जब तक वृक्क स्वस्थ रहते हैं रक्त में अम्ल द्रव्यों की वृद्धि नहीं हो सकती। वृक्कों के सिरा गुच्छों में से जो मूत्र छनता है वह क्षारीय प्रकृति का होता है। परंतु वृक्कों की मूत्र प्रणालियाँ (Tubules) के सेल शरीर में से CO_2 को लेकर इससे कार्बोनिकाम्ल (H_2CO_3) बना लेते हैं। जिससे मूत्र अम्लीय प्रतिक्रिया का हो जाता है। वृक्कों के इस कार्य को अम्लीयकरण (Acidification) का कर्म कहा जाता है। इसके कारण रक्त में विद्यमान हल्के अम्ल जैसे Uric Acid, Citric Acid, Beta Hydroxybutiric Acid. आदि स्वतंत्र रूप अर्थात् अम्लों के रूप में ही शरीर से निकल जाते हैं। मूत्र अम्लीय न होता तो ये अम्ल भी रक्त में से Cations को लेकर साल्टों के रूप में निकलते जिससे रक्त में Sodium आदि की न्यूनता हो जाती है।

यह ठीक है कि रक्त में से निकलने वाले फास्फोरिक तथा सल्फ्युरिक अम्ल (H_2PO_4, H_2SO_4) रक्त में से सोडियम आदि Cations या Base को लेकर ही मूत्र में जाते हैं परंतु वृक्कों की मूत्र प्रणालियों के सेल प्रोटीन के Amino Acids तथा Urea में से प्रतिदिन ·३ से १·२ ग्राम Ammonia (NH_4) बना लेते हैं जो इन साल्टों के Acid Radicals को पकड़ लेता है और उनके साथ मिले सोडियम आदि Base को शरीर के लिये मुक्त कर देता है। इन मूत्र प्रणालियों के सेल इन मुक्त हुए Base. को फिर से विलीन कर लेते और रक्त में पहुंचा देते हैं। इसी से रक्त में Sodium आदि Cations की न्यूनता नहीं हो पाती एवं रक्त की क्षारियता बनी रहती है। Adrenal Cortex का Salt Harmone वृक्कों के इस पुनर्विलयन कर्म में बड़ा सहायक होता है।

वृक्क अपने अंदर Acid Sodium Phosphate को भी तैयार करते हैं जिसके कारण मूत्र की अम्लीयता बनी रहती है। रक्त में यही साल्ट क्षारीय प्रकृति का होता है। स्पष्ट है कि वृक्कों के इस अम्लीकरण के कर्म से तथा साथ ही अमोनिया के उत्पादक होने के कारण रक्त में अम्ल द्रव्यों की वृद्धि नहीं हो पाती तथा इसमें Cations भी उचित मात्रा में सुरक्षित रहते हैं।

[illegible] (H_2PO_4) [illegible] (H_2SO_4) [illegible] (Hcl) [illegible]

[illegible] Organic Acids [illegible]

[illegible]

[illegible] Sodium, Potassium, Calcium,

Magnesium [illegible] Cations [illegible] Base [illegible]

[illegible]

[illegible] (Acid Radicals) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] (Tubules) [illegible] CO_2

[illegible] (H_2CO_3) [illegible]

[illegible] (Acidification)

[illegible] Uric Acid, Citric Acid, Beta Hydroxybutiric Acid.

[illegible]

[illegible] Cations [illegible]

[illegible] Sodium [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] (H_2PO_4, H_2SO_4) [illegible] Cations [illegible] Base [illegible]

[illegible] Amino Acids [illegible] Urea [illegible]

Ammonia (NH_4) [illegible] Acid Radicals

[illegible] Base [illegible]

[illegible] Base. Sodium [illegible]

[illegible] Sodium

[illegible] Cations [illegible]

[illegible] Adrenal Cortex [illegible] Salt Hormone [illegible]

[illegible]

[illegible] Acid Sodium Phosphate [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] Cations [illegible]

[illegible]

वृक्कों की मूत्र प्रणालिकायें मूत्र को गाढ़ा करने तथा अधिक मल द्रव्यों को थोड़े से थोड़े जल के द्वारा बाहर करने का यत्न करती हैं। सामान्य गुच्छों से जो जल भाग छन कर उनमें आता है उसके ९९ प्रतिशतक भाग को इन नालियों के सेल फिर विलीन कर लेते हैं। इसी प्रकार इन सामान्य गुच्छों से जितना लवण छनकर आता है उसमें से भी ९९ प्रतिशतक भाग को इन नालियों के सेल फिर चूस लेते हैं। अर्थात् स्वस्थ वृक्क रक्त में जल तथा Sodium की मात्रा को कम नहीं होने देते। यदि लवण अधिक लिया जाय, जल कम मात्रा में पिया जाय तो वृक्क की मूत्र प्रणालियां जल भाग को अधिक और लवण को कम मात्रा में चूस में लाती हैं। अर्थात् वृक्क मूत्र को अधिक घना (Concentrated) कर देते हैं। इससे विपरीत यदि जल अधिक लिया जाय और लवण कम तो वृक्क की नालियां लवण को अधिक चूस लेती और जल को कम चूसती हैं। अर्थात् मूत्र पतला आता है। वृक्क रोग में वृक्कों की यह मूत्र गाढा या पतला कर देने की शक्ति घट जाती है। वृक्क लगभग १.३२ स्पेसिफिक ग्रेविटी तक मूत्र को गाढ़ा कर सकते हैं। रोग में उनकी यह शक्ति घट जाती है। तब वे अधिक से अधिक जल में थोड़ा ही मल फेंक सकते हैं। इसलिये मूत्र मात्रा में अधिक, पर न्यून स्पेसिफिक ग्रेविटी का, हो जाता है जिसे वृक्क रोग जनित बहुमूत्र (Hyposthenuria या Hyposthenuric Polyuria) कह सकते हैं।

वृक्कों का एक प्रधान कार्य भोजन तथा धातुओं के प्रोटीन पदार्थों के पचन से उत्पन्न Non Protein Nitrogen (N.P.N.) पदार्थ जो रक्त में संचित होता रहता है, बाहिर निकालना है। मूत्र से निकलने वाले नाईट्रोजन की दैनिक मात्रा १८ ग्राम होती है जिसमें से १५.४ ग्राम तो केवल यूरिया द्वारा शरीर से निकलता है। मूत्र द्वारा प्रति दिन ३३ ग्राम यूरिया रक्त में से निकलता है। इसमें से बहुत सा यूरिया तो भोजन में विद्यमान प्रोटीन्स से आता है।

यूरिया के अतिरिक्त Uric Acid, Creatinine. के द्वारा भी रक्त में से नाईट्रोजन बाहर निकलता है। वृक्कों के रुग्ण होने पर रक्त में नाईट्रोजन वृद्धि (Azotaemia) भी हो जाती है।

साधारणतः रुधिर में ३० मिलिग्राम प्रतिशतक या बूंदों में ७ मिलिग्राम प्रतिशतक भी यूरिया होता है। यदि यह बढ़ जाय ७० (मिलि.) प्रतिशतक हो जाय तो यह वृक्क के रुग्ण होने का लक्षण है।

इस प्रकार रुधिर में नाईट्रोजन वाले पदार्थों के (Non-Protein Nitrogen N.P.N.) के बढ़ जाने से, दूसरा रक्त में क्षारीय प्रतिक्रिया के कम हो जाने से अर्थात् उसमें Soda-Bi-Carb: के लेवल के गिर जाने से, उसमें सोडियम तथा कैल्शियम

दोनों Cations के कम हो जाने से, सोडियम की न्यूनता के साथ साथ जलीय के अधिकाधिक बाहिर निकलने से अर्थात् Dehydration से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें Uraemia इस नाम से पुकारा जाता है। यह मूत्र विष संचार (Urinary Intoxication) का रोग किस विष विशेष से होता है, यह नहीं कहा जा सकता।

इस रोग के प्रारंभिक लक्षण तो जीर्ण वृक्क रोग (Chronic Nephritis.) से उत्पन्न रक्त भार के कारण होते हैं। पहले तो रक्त वाहिनियों की मांस मय दीवार (Muscular Coat) स्थूल हो जाती है फिर कुछ काल बाद धमनियों की दीवार में अति वृद्धि के स्थान पर अपक्षितता (Fibrous -Degeneration). हो जाती है। इससे मूत्र विष संचार के रक्त भार जनित लक्षण (Hypetensive Symptoms of Uraemia) उत्पन्न होते हैं।

१.. मस्तिष्क के पोषण में न्यूनता के आ जाने से स्मृतिनाश तथा क्रोधादि मानसिक दुर्बलता के लक्षण होते हैं।

२.. अपूर्ण मस्तिष्क नाड़ी का पोषण न होने से शिरोभ्रम (Vertigo) तथा कर्ण घोष (Tinnitus) के लक्षण होते हैं।

३.. रक्त भार की वृद्धि होने पर सिर दर्द रहने का लक्षण रहता है।

४.. वृक्कों के रुग्ण होने पर रोगी को निद्रा प्रबलता से दबा लेती है जिससे वह पहले ही अपराह्न ऊँघ जाता है। परंतु शीघ्र ही निद्रा टूट भी जाती है। इस प्रकार रात में कई बार निद्रा आती और टूटती है। यह मस्तिष्क के पोषण की न्यूनता को सूचित करती है।

५.. वाम हृदय में अति वृद्धि होने के बाद जब कभी शक्ति से अधिक श्रम किया जाता है हृदय नैर्बल्य का लक्षण हो जाता है। अर्थात् वाम हृदय की दुर्बलता के कारण नाड़ी शिथिल तथा तीव्र गामी होती है एवं हृदय नैर्बल्य जनित श्वास रोग (Renal Asthma) का वेग हो जाता है।

६.. परिस्थित वृक्क दृष्टि पटल (Retina) की रक्त वाहिनियों में अपक्षितता के हो जाने से दृष्टि मंदता का लक्षण भी हो जाता है।

७.. शरीर की समस्त रक्त वाहिनियों के कठोर होते जाने से मांस और मेदा दोनों क्षीण हो जाते हैं जिससे शरीर कृश होता जाता है। मस्तिष्क तथा शरीर दोनों की कार्य करने की शक्ति क्षीण होती जाती है।

जब मूत्र विष संचार (Uraemia) का रोग अधिक बढ़ जाता है अर्थात् जब १०० सी॰सी॰ रक्त में ३० मिलिग्राम से अधिक मात्रा में यूरिया हो जाता है तब वास्तविक मूत्र विष संचार के विशेष लक्षण बहुधा रोग की अत्यावस्था या कष्ट साध्यता का सूचक होते हैं।

१.. ऐसे ... मूत्र विष संचार का प्रारंभिक लक्षण बहुधा अन्नारुचि होता

है। इसके साथ साथ शरीर और मस्तिष्क थोड़ा श्रम करने से भी थक जाते हैं।

२.. रक्त में कैल्शियम के न्यून हो जाने से अथवा किसी मूत्र विष के नाड़ी मंडल (N.System) पर दुष्प्रभाव से हाथ पांव की मांस पेशियों में स्तंभ (Cramp) कंप (Twitchings) तथा तल्ली (Tetqny) के लक्षण हो जाते हैं।

३.. मस्तिष्क पर मूत्र विष का दुष्प्रभाव होने से तन्द्रालुता या तन्द्रा का लक्षण रहता है। अथवा रोगी दिन में तन्द्रालु तथा रात को अ इन्निद्रा रहता है। मृत्यु से पहले इस विष के कारण मोह निद्रा (Stuper और Coma) के लक्षण होते हैं।

४.. श्वास केन्द्र पर इस विष का दुष्प्रभाव होकर श्वास काठिन्य (Dysponea या Orthopnoea) अर्थात् लेटे लेटे श्वास न आने का लक्षण होता है। या इस विष के कारण हिक्का रोग हो जाता है। या Cheyne Stoke(s-Respiratation) विषम् श्वास कई सप्ताहों तक रहता है।

५.. इस विष का अन्न मार्ग पर दुष्प्रभाव होने से पहले अजीर्ण, अरुचि, वमन, मलबंध आदि लक्षण रहते हैं। और अंत में तीव्र पतले और असाध्य अतिसार का दौरा होकर मृत्यु हो जाती है।

६.. त्वचा की नाड़ियों के विक्षोभ से खुजली का लक्षण रहता है और फिर पामा या कोठ (Papules) या विस्फोट (Vesicles) आदि निकल आते हैं जो साधारण औषधियों से ठीक नहीं होते। ये रोगों पर विशेष दीखते हैं।

७.. इस विष के अस्थि मज्जा पर दुष्प्रभाव होकर तीव्र पांडु रोग भी हो जाता है।

८.. मूत्र विष के कारण नासिका, दंत मांस, अन्न मार्ग, श्वास मार्ग, मूत्र मार्ग त्वचा आदि से रक्त स्राव भी हो जाता है। जीर्ण वृक्क रोग के उपद्रव रूप में हुआ यह मूत्र विष संचार का रोग प्रायः असाध्य होता है।

<u>मूत्र विष संचार Uraemia की चिकित्सा :-</u>

वृक्कों की बढ़ी हुई असमर्थता में प्रोटीन भोजन स्वल्प मात्रा में ही दिया जा सकता है। अर्थात् उपर्युक्त कम प्रोटीन वाला भोजन (Low Protein Diet) देना चाहिये। इस भोजन के १, १$\frac{1}{2}$ मास तक देने के बाद फिर प्रोटीन भोजन की मात्रा कुछ बढ़ा सकते हैं। इसके लिये मध्यम प्रोटीन भोजन (Moderate Protein-food) जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है, दिया जा सकता है। प्रातराश: अंडा एक, रोटी या टोस्ट २ औंस, मक्खन या घी आधा औंस, दूध ४ औंस शक्कर आधा औंस, चाय ५ औंस, मध्याह्न:- मांस ४ औंस, रोटी ३ औंस, हरी सब्जी २ औंस, फल २ औंस, मक्खन या घी आधा औंस, चाय २ औंस, तीसरे पहर का

भोजन आलू ४ औंस, हरी सब्जी २ औंस, रोटी या टोस्ट ३ औंस, मक्खन आधा औंस, फल ४ औंस, खांड दिन भर में कुल २ औंस। इस प्रकार के भोजन में प्रोटीन ५० ग्राम के लगभग होनी चाहिये।

इसके बाद रोगी के भोजन में घृत, खांड तथा कार्बोज भोजन कुछ और बढ़ा सकते हैं। परंतु प्रोटीन भोजन अधिक नहीं दिया जा सकता। रोगी को जल की मात्रा इतनी कम न दी जाय कि वृक्क शरीर के मलों को ही निकाल न पाय। साधारणतः जितना मूत्र प्रति दिन आता हो उससे १ सेर अधिक जल देना चाहिये। ताकि स्वेद पुरीष आदि के द्वारा निकलने वाले जल की भी पूर्ति हो जाय। दिन भर में लगभग २$\frac{1}{2}$ सेर जल पर्याप्त होता है। रोगी को लवण स्वल्प मात्रा में ही देना चाहिये। क्योंकि रक्त भार अधिक हो तो वह इसे और बढ़ाता है। जब वृक्क मूत्र संबंधी मलों के निकालने में असमर्थ हो गये हों तब इन मलों को मृदु विरेचक औषधियों द्वारा अथवा बस्तियों द्वारा आंतों के रास्ते से निकालने का यत्न करना चाहिये। मूत्र की मात्रा को बढ़ाने के लिये जहां वृक्कों पर कार्य भार कम करना चाहिये वहां Sodium Bi-Carbonate या Potassium Citrate को २०, ३० ग्रेन की मात्रा में दिन में दो बार देते रहना चाहिये अथवा Almunium Hydroxide-Gel: या Colloidal Aluminium Hydroxide. १ ड्राम की मात्रा में दो तीन बार देना चाहिये।

इस रोग के प्रारंभिक लक्षणों (Hypertensive Uraemia) के लिये Rhubarb, Alces, Coscara, Magnisium का प्रयोग करते रहना चाहिये या प्रति सप्ताह एक बार रात को Mercury Pill लेकर प्रातः Mag:Sulph: की एक मात्रा दे देनी चाहिये तथा सप्ताह में एक बार वाष्पस्नान / Turkist Bath दे देना चाहिये। रक्त भार शामक किसी औषधि का प्रयोग भी करना चाहिये।

रोग तीव्र रूप में हो तो रोगी को जल दिन भर में १$\frac{1}{4}$, १$\frac{1}{2}$ सेर तक ही देना चाहिये। इसके साथ ग्लूकोज पर्याप्त मात्रा में देते रहना चाहिये। कुछ मक्खन भी देते रहना चाहिये। प्रोटीन की मात्रा बहुत कम कर देनी चाहिये। Diamox (Acetazoleamide.) की गोलियां देनी चाहिये।

लक्षणानुसार चिकित्सा :-

१. अन्नारुचि या वमन के लिये मुख से पानी न देकर ५ प्रतिशतक Dextrose वाले Normal Saline को ४, ८ औंस की मात्रा में चार चार घंटे बाद गुदा में डालते रहना चाहिये। मुख के द्वारा केवल घूंट घूंट ग्लूकोज मिश्रित जल दिया जाय तो वमन नहीं होती। ५ प्रतिशतक से १० प्रतिशतक ग्लूकोज के नार्मल सेलाइन में घोल के शिरा द्वारा

देने से भी अरुचि और वमन के लक्षण शांत होते हैं। या १ पाइंट जल में ६० ग्रेन लवण ३,४ प्र०श० ग्लूकोज मिला के त्वचा द्वारा भी दे सकते हैं। अथवा Chlorpromazine Hydrochloride(Thorazine Largactis) के २५ से ५० मिलिग्राम की मात्रा में ६,६ घंटे बाद मांस द्वारा देने या ७० से ५० मिलिग्राम मात्रा में ४,६ घंटे बाद मुख द्वारा देने से अरुचि और वमन के लक्षण शांत हो जाते हैं। ~~Largactil २५,५० मिलिग्राम की मात्रा में इस प्रयोजन से दिया जाता है।~~ १ औंस जल में १ ड्राम ग्लूकोज मिला कर ऐसे ऐसे २ औंस जल के पिलाने से भी वमन शांत हो जाता है।

२.. त्वचा पर होने वाली खुजली को Ergotamine(Femergin Bellergal) $\frac{1}{2}$ मिलिग्राम मात्रा में मुख द्वारा देने से लाभ होता है।

३.. मूत्र विष संचार जनित अजीर्ण (Uraemic Dyspepsia) के लिये Potassium Bromide १५ ग्रेन तथा Sodium Bi-Carbonate २० ग्रेन दिन में ३ बार दे सकते हैं। मूत्र विष जनित तीव्र अतिसार के लिये Streptomycin १ ग्राम दिन में दो बार मुख द्वारा देना चाहिये। अतिसार से होने वाली शरीर में जल की न्यूनता को दूर करने के लिये मुख द्वारा या शिरा द्वारा ग्लूकोज युक्त लवण जल देना चाहिये।

४.. सिर दर्द, उन्निद्रता, व्याकुलता, आदि के लिये Chloral Hydrate २० ग्रेन Potassium Bromide २० ग्रेन के दो तीन बार दिन में देने से लाभ न हो तो Heroin ५,८ मिलिग्राम $\frac{1}{12}$-$\frac{1}{8}$ ग्रेन की मात्रा में त्वचा द्वारा देने से लाभ हो जाता है। Nembutal(Pentobarbitone Soda.) $1\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में कैप्सूल में दिन में १,२ बार दिया जा सकता है।

५.. मूत्र विष संचारजनित स्तंभ (Cramp) अथवा Tetany सदृश रोग के लिये Calcium Chloride का ५ प्रतिशत घोल ५ या २० सी॰सी॰की मात्रा में अथवा Caldium Gluconate का १० प्रतिशत घोल १० सी॰सी॰की मात्रा में शिरा द्वारा दिया जाता है।

६.. पांडुता Anaemia के लिये Vitamin B_{12} के प्रयोग से लाभ हो सकता है।

७.. मूत्र विष संचार जनित हिक्का, आक्सिजन देने से ठीक होती है तथा Morphia $\frac{1}{6}$ ग्रेन के सुची वेध से भी शांत हो जाती है।

८.. मूत्र विष संचार के कारण होने वाले रक्त स्राव के लिये Vita "C" २०० मिलिग्राम प्रति दिन देवें।

मधुमेह :- Diabetes Mellitus:-

शरीर में कार्बोहाइड्रेट का परिपाक (Metabolism) :

भोजन में लिया हुआ संपूर्ण कार्बोहाइड्रेट जो शरीर रूपी मशीन में कोयले का सा कार्य करता है आंत में तीन 6 Carbon Sugars. अर्थात् Glucose, Fructose, Galactose में परिवर्तित हो जाता है। आंतों के संकोच के समय उनमें उत्पन्न होने वाले Adenosine Triphosphate में से फोसफोरस या Phosphoric Acie को लेकर (Phosphorylated होकर) ये खांड आंतों की झिल्ली में से रक्त में प्रवेश कर सकती हैं। इस प्रकार Phosphoric Acid के साथ मिलकर ये खांड 6 Carbon-Sugar (Hexose 6- Phosphate) के रूप में रक्त में विलीन होती हैं। रक्त में आई इस ग्लूकोज में से ३ प्रतिशत के लगभग अंश तो यकृत तथा मांस पेशियों आदि में शरीर जन या Glycogen के जो एक Animal Starch है उसके रूप में परिवर्तित होकर जमा हो जाते हैं ताकि समय पड़ने पर मांस पेशियों को खर्च करने के लिये खांड तुरंत मिल सके। शेष ग्लूकोज परिवर्तित होता हुआ 3 Carbon Sugars (Triose) Lactic Acid, (Ch_3 , Ch Oh,-Cooh) तथा Pyruvic Acid (CH_3 CO COOH) में परिवर्तित हो जाता है जो फिर उनमें से Co_2 मोलिक्यूल के निकल जाने पर (अर्थात् Decarboxylation के बाद) 2 Carbon Units या 2 Carbon Sugar. अर्थात् Acetic Acid (CH_3 COOH) में बदल जाते हैं। तथा जो उनमें Co_2 के मोलिक्यूल के मिल जाने से Oxa-locetic Acid में बदल जाते हैं। फिर इन Acids का बड़ा भाग Tricarboxylic Acid तथा Succinic Acid की Cycle या चक्र में से गुजर कर अंत में Co_2 तथा H_2O में परिवर्तित होकर शरीर से निकल जाता है। ६७ प्र०श० में ७० प्रतिशत ग्लूकोज इसी प्रकार शरीर को शक्ति प्रदान करने में खर्च हो जाता है। शेष ३० प्रतिशत के लगभग ग्लूकोज 2 Carbon Sugar या Acetic Acid के बाद यदि वह शरीर में खर्च नहीं हो पाता तो वह Acetoacetic Acid (CH_3 CO CH_2 COOH) में परिवर्तित हो जाता है अर्थात् 2 Carbon, Sugar, 4 Carbon Sugar में परिवर्तित हो जाता है। और फिर इससे Fatty Acids की एक लंबी श्रेणी (C_3 H_7 COOH) अर्थात् Butyric Acid, C_4 H_9 COOH अर्थात् Valeric Acid आदि आदि) उत्पन्न हो जाती है। जो अंत में Stearic Acid (C_{17} H_{35} COOH) अर्थात् शरीर की चर्बी धातु बनकर शरीर में जमा हो जाती है। अभिप्राय यह है कि जो खांड शरीर में ईंधन रूप में खप नहीं पाती वह शरीर के अवयवों में Glycogen तथा फैट के रूप में संचित हो जाती है ताकि उपवास के समय या अति कार्यभार

आ पहुंचे पर इनके द्वारा शरीर का अग्नि की (Oxidation) चलाया जा सके।

रक्त में विद्यमान ग्लूकोज की अधिकतर मात्रा तो भोजन द्वारा ही आती है। परंतु कुछ एक (Amino Acids) अर्थात् प्रोटीन से जैसे xxx Alanine, Glycine आदि के परिपाक से, भी Pyruvic Acid बन जाता है और फिर आगे इसका पाक ग्लूकोज की तरह शरीर को शक्ति प्रदान करने में सहायक होता है। इसी तरह भोजन में खाये गये स्निग्ध तत्व के परिपाक से शरीर में जो कुछ Glycerol (CH_2 OH, CH_2 OH, CHOH) उत्पन्न होता है इसका कुछ अंश भी Pyruvic Acid में परिवर्तित होकर आगे ग्लूकोज की तरह ही शरीर में खर्च होता है। इसी प्रकार फैट के परिपाक से जो Fatty Acids उत्पन्न होते हैं उनका कुछ अंश भी Acetic Acid में परिवर्तित होकर आगे ग्लूकोज के समान ही शरीर में खपता है। शरीर को Glycogen से जितनी खांड खर्च के लिये मिलती है उससे कहीं अधिक मात्रा में खाये हुये स्निग्ध तत्व या फैट से तथा प्रोटीन्स के परिपाक से मिलती है। इसे Gluconeogenesis की प्रक्रिया कहा जाता है।

शरीर में वसा या फैट का परिपाक :- (Metabolism):-

शरीर में विद्यमान वसा भोजन में लिये गये स्निग्ध तत्व से तथा कार्बोहाइड्रेट के परिपाक से उत्पन्न होती है। रक्त में वसा की मात्रा लगभग एक ही रहती है वह आठ प्रतिशतक से कम नहीं होती तथा यद्यपि भोजन के बाद रक्त में मात्रा बढ़ जाती है पर २ प्रतिशतक से अधिक नहीं होती। खांड (Glucose) के समान शरीर की वसा भी धातुओं को शक्ति प्रदान करने में खर्च होती है। धातुओं में खर्च होने समय पहले तो वसा से लंबी शृंखलाओं (Long Chain) वाले Fatty Acids उत्पन्न होते हैं। परंतु आक्सिजन से मिलते मिलते ये फिर छोटी छोटी शृंखलाओं वाले Fatty Acids बनते जाते हैं। उदाहरणत: Caproic Acid नामक Fatty Acids (CH_3 CH_2 CH_2 CH_2 CH_2 COOH) जब O_2 के साथ मिलता है तो Butyric Acid (CH_3 CH_2 CH_2 COOH) --- रह जाता है। फिर जब दूसरे और $3O_2$ मिल जाता है और इसके मिलने से $2CO_2$ और $2H_2O$ बन जाते हैं तो वह Fatty Acid, Acetic Acid (CH_3 COOH) ही रह जाता है। यह Acid फिर Tricarboxylic Acid Cycle में से गुजर कर (अर्थात् इसमें $2O_2$ के और मिलने से) यह $2CO_2$ तथा $2H_2O$ में परिवर्तित होकर पूरा खर्च हो जाता है। इस प्रकार वसा (Stearic Acid)

धातुओं में खपे (Oxidised) होकर उन्हें शक्ति प्रदान करने का कार्य करती है।

वसा के परिपाक में 4 Carbon Units के बाद आगे परिपाक होने के लिये यह आवश्यक है कि शरीर में खांड का परिपाक यथोचित हो। इसके विपरीत यदि खांड का परिपाक धातुओं में न हो रहा हो तो Fatty Acids का परिपाक भी आगे भलि प्रकार नहीं हो पाता तो एक 4 Carbon Unit का Fatty Acid जिसे A ceto Acetic Acid(CH_3 CO CH_3 COOH) कहते हैं* उत्पन्न हो जाता है। तथा इसमें स्वल्प परिवर्तन से बनने वाला Beta Hydroxybutyric Acid (CH_3 CH OH CH_2 COOH) भी बन जाता है। ये दोनों एसिड कुछ विषैले होते हैं तो भी स्वस्थ व्यक्ति में इनका भी पूर्ण परिपाक हो जाता है। इन Acids को Ketone Bodies कहा जाता है।

मधुमेह में कार्बोहाइड्रेट तथा फैट का परिपाक :-

मधुमेह रोग में रक्त के अंदर पहुँचे ग्लूकोज का धातुओं में परिपाक कठिनता से होता है। एक तो Puruvic Acid के रूप में उसका परिवर्तन भलि प्रकार नहीं होता दूसरा उससे आगे Fatty Acids के रूप में उसका परिवर्तन ठीक नहीं हो पाता अर्थात् धातुओं में उसका खपे ठीक प्रकार नहीं हो पाता। Fatty Acids के भलि प्रकार न बनने से वसा के रूप में उसका परिवर्तन भी कम होता है। यकृत तथा मांस पेशियों में Glycogen के रूप में उसका संचय भी कम होता है। इस प्रकार जब ग्लूकोज की खपत शरीर में घट जाती है तो रक्त में उसकी मात्रा बढ़ जाती है। साधारणतः रक्त में खांड प्रति १०० सी॰ सी॰ में ८० से १२० मिलिग्राम मात्रा में रहती है और भोजन बाद १४० या १७० मिलिग्राम तक भी हो जाती है। तथापि शीघ्र ही फिर यह साधारण हो जाती है। इस प्रकार उसकी रक्त में मात्रा ·१ या ·१८ से ऊपर कभी नहीं जाती। इस रोग में खांड रक्त के अंदर इससे अधिक बढ़ जाती है एवं वृक्कों द्वारा मूत्र में निकलने लगती है।

शरीर की धातुएँ को खपे करने के लिये जब खांड नहीं मिलती तो उसके स्थान पर वे वसा को खपे करने लगती हैं। और उसके Oxidation के द्वारा शक्ति उत्पन्न करने लगती है। इस अवस्था में जब शरीर वसा के खपे पर शक्ति प्राप्त करता है रक्त के अंदर वसा की मात्रा बढ़ जाती है। बाद में वसा या Fatty Acids के अति मात्रा में पचने से Acetic-Acid या २ Carbon Units की मात्रा भी बढ़ जाती है। जिसका ग्लूकोज के अभाव में आगे ठीक ठीक परिपाक नहीं होता एवं २ Carbon

Units के २ Molecules के संघटित हो जाते हैं ४ Carbon Units के Fatty Acids जैसे Aceto Acetic Acid (CH_3 CO CH_2 COOH) तथा Betahydroxybutyric Acid (CH_3 CH OH CH_2 COOH) जिन्हें उपर Ketone Bodies कहते हैं अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं। और बढ़कर १०० सी०सी० रक्त में ३००,९५ मिलिग्राम तक हो जाते हैं। इसीलिये मधुमेह में कभी मेह (Ketosis या Ketonuria) होने का भी भय रहता है।

रक्त में खांड की मात्रा को समता में रखने का प्रबन्ध :-

रक्त में खांड की मात्रा ·०८ प्रतिशतक से कम हो जाय तो शर्करा क्षय (Hypoglycaemia) का रोग हो जाता है। यदि रक्त में शर्करा की मात्रा ·१८ से अधिक हो जाय तो उसे मधु मेह या शर्करा वृद्धि (Hyperglycaemia) का रोग कहते हैं। इन दोनों में से भी शर्करा क्षय की अवस्था अधिक घातक है। इसलिये इन दोनों रोगों को रोकने के लिये शरीर में उचित प्रबन्ध है। एक तरफ तो Adrenal Cortex से उत्पन्न होने वाले Adrenosteroids रक्त में शर्करा की मात्रा को कम नहीं होने देते। वे संभवतः प्रोटीन,फैट आदि से उत्पन्न होने वाले ग्लूकोज (Gluconeogensis) की गति को तीव्र कर देते हैं। Adrenal Medulla से उत्पन्न होने वाला Adrenaline भी यकृत और मांस में विद्यमान Glycogen से उत्पन्न होने वाली शर्करा की गति को और अधिक तीव्र कर देता है। इसीलिये जब जब शरीर में Sympathetic नाड़ी मंडल उत्तेजित होता है रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। इसी प्रकार Pituitary-Gland. के Anterior Lobe के सार (Extract) के देने से विशेषतः उसके Growth Hormone (Somatotropin Hormone) के देने से रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ती है। Anterior Pituitary, Insulin के विपरीत कार्य करता है। इसका Adrenocorticotrophic Hormone भी मधुमेही में रक्त के अंदर शर्करा की मात्रा को बढ़ाता है।

Thyroid Gland भी यदि अधिक सक्रिय हो (Hyperthyroidism) तो भी रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ती है।

इस प्रकार इन तीन निस्त्रोतस ग्रन्थियों (Duct Less Glands) के अंतः स्राव रक्त में शर्करा की मात्रा को घटने नहीं देते हैं। अतः उपवास में भी रक्त के अंदर खांड साधारण मात्रा में रहती है। दूसरी ओर Pancreas के साधारण (Glandular) सेलों के बीच बीच में जो Epithelial Cells पाये जाते हैं जिन्हें Islets of Langer Hand कहा जाता है एक प्रकार के अंतः स्राव (Hormone) को उत्पन्न करते हैं जिसे Insulin कहते

जाते हैं जो रक्त में विद्यमान शांड की धातुओं में शमन होने की प्रक्रिया को, बढ़ाता है तथा शांड को Glycogen के रूप में परिवर्तित करके उसे यकृत तथा मांस पेशियों में जमा करने का कार्य करता है। रक्त में बढ़ी हुई शांड की मात्रा को शरीर में जमा कर यह फिर साधारण कर देता है। इस प्रकार Insulin के द्वारा रक्त में विद्यमान शांड की मात्रा घटती है। जब कि उपर्युक्त तीन ग्रन्थियों के स्रावों के द्वारा रक्त में इसकी मात्रा बढ़ती है। रक्त में शांड को संतुलित रखने का यह प्रबन्ध जब ठीक नहीं रहता तब मधुमेह रोग होता है। अर्थात् या तो Pancreas में किसी प्रकार की शिथिलता उत्पन्न हो जाती है या Adrenal और Pituitary Glands के कार्य में तीव्रता आ जाती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि Parasympathetic System के तीव्र होने से Pancreas तथा Sympathetic System के उत्तेजित होने से Adrenal Gland अधिक सक्रिय होता है।

कारण :-

मधुमेह का रोग बहुधा ४०,६० वर्ष के बीच के स्थूल व्यक्तियों में होता हुआ देखा जाता है जिससे पता लगता है कि शरीर को जितने कैलोरी वाले भोजन की आवश्यकता होती है उससे अधिक कैलोरी वाला भोजन निरंतर चिरकाल तक लेते रहने से विशेषतः कार्बोहाइड्रेट के अधिक मात्रा में लेते रहने से Pancreas पर इतना कार्य भार पड़ता रहता है कि वह कुछ काल बाद इस कार्य भार को उठा नहीं पाता। उससे उत्पन्न होने वाले Insulin की मात्रा जितना अधिक भोजन किया जाता है उसके पाचन के लिये पर्याप्त नहीं रहती।

इस रोग की निर्बलता पैतृक परंपरा से भी आती प्रतीत होती है। क्योंकि यदि माता पिता दोनों में मधुमेह रोग हो तो ६०% संतान में भी मधुमेह होता हुआ देखा जाता है। संभव है कि यदि इस रोग की निर्बलता जन्म से हो और उस पर अति मात्रा में कार्बोहाइड्रेट का भोजन किया जाय तो यह रोग या तो शांड को नियंत्रित रखने वाले अंतःस्रावों के असंतुलन से या ग्लूकोज को पचाने वाले Glucokinase आदि Enzymes की न्यूनता के कारण हो जाता है। कई प्रकार के ज्वर तथा संक्रामक रोगों के कारण भी रक्त में शांड की मात्रा बढ़ जाती है। संभवतः जीवाणु जनित विष के कारण Adrena-l तथा Pituitary Glands के उत्तेजित हो जाने से ऐसा होता है। इसीलिये मधुमेह रोग की प्रकृति हो तो जीवाणु विष (Infections) भी इस रोग का कारण हो जाते हैं।

मधुमेह के लक्षण :

मधुमेह का रोग धीरे धीरे अज्ञात रूप में होता है। रोगी को सबसे पहले बहुमूत्र (Polyuria) की शिकायत होती है। दिन रात में बार बार तथा मात्रा में अधिक मूत्र आता है। २४ घंटे में वह १½ सेर से बढ़कर तीन सेर या इससे भी अधिक हो सकता है। रक्त में बढ़ी हुई खांड को निकालने के लिये जल को भी शरीर से अधिक मात्रा में निकलना पड़ता है। इसी से बहुमूत्र होता है। जल के अधिक निकल जाने से पिपासा अधिक लगती है। (Polydipsia) । शरीर में से खांड के अधिक मात्रा में निकल जाने से भूख अधिक लगती है। (Polyphagia) परंतु अधिक आहार लेने पर भी शरीर में अशक्ति बढ़ती जाती है। एवं स्वल्प श्रम से शरीर थक जाता है।

शरीर में से खांड तथा जल इन दो मूल्यवान द्रव्यों के अति मात्रा में निकलते रहने से धातुओं पर अनेक दुष्प्रभाव पड़ते हैं। खांड के निकलते रहने से शिथिलता तथा Ketosis के लक्षण होते हैं। जल के अधिक निकलते रहने से धातुओं में जल हीनता (Desiccation, Dehydration) या शुष्कता कठोरता के लक्षण होते हैं। इसीलिये धमनियों की मृदु दीवारें कुछ कुछ कठोर होती जाती है। हृदय, मस्तिष्क तथा टांगों की रक्त वाहिनियों में कठोरता विशेषतः होती है। त्वचा में शुष्कता के कारण तथा उसका पोषण भली प्रकार न होने से उसमें मृदुता की न्यूनता या शुष्कता, रूक्षता का लक्षण तो होता ही है पर उसमें Staphylococci का संक्रमण शीघ्रता से हो जाता है। जिससे पिडिकायें (Boils) तथा मधुमेह पिडिकायें निकल आती हैं। आंतों की श्लेष्म कला के शुष्क रहने से मल बंध की शिकायत रहती है। क्योंकि यह रोग धमनियों को हानि कर देता है तथा शरीर को जीवाणु संक्रमण के लिये योग्य सुरक्षित भूमि बना देता है, अतएव यह घातक हो जाता है।

मूत्रगत खांड के मूत्र स्थान पर लगे रहने से वहां Monilia Albicane की वृद्धि होकर स्त्रियों में भग कंडु (Pruritus) तथा पुरुषों में मुंड शोथ (Balanitis) का लक्षण हो सकता है।

मधुमेही का मूत्र :-

देखने में फीके रंग का मात्रा में अधिक, १०२० या १०२५ से अधिक स्पेसिफिक ग्रेविटी का ५ सी॰सी॰ (Benedict's Reagent में ८ बूंद डाल कर उबालने से हरा, पीला या लाल रंग का निक्षेप देने वाला अर्थात खांड से युक्त होता है।

रोग अधिक हो तो मूत्र में Ketone Bodies अलब्यूमिन तथा Hyaline और Granular Tube Casts भी होते हैं।

रक्त परीक्षा करने से उसमें भी खांड की मात्रा ·१ प्रतिशतक से अधिक होती है।

[illegible]

[illegible] (Polyuria) [illegible]

[illegible]

[illegible] (Polydipsia) [illegible]

[illegible] (Polyphagia) [illegible]

[illegible]

[illegible] Ketosis [illegible]

[illegible] (Desiccation, Dehydration) [illegible]

[illegible] Staphylococci [illegible] (Boils) [illegible]

[illegible] (Pruritus) [illegible]

(Balanitis) [illegible]

[illegible] :-

[illegible] Benedict's Reagent [illegible]

[illegible] Ketone Bodies [illegible] Hyaline [illegible] Granular Tube Casts [illegible]

उपद्रव :-

मधुमेही को क्षय रोग अन्य लोगों की अपेक्षा सुगमता से हो जाता है। अत: यदि मधुमेही का शरीर कृश निर्बल एवं ज्वर युक्त रहने लगे, भूख घट जाय, तो शीघ्र ही फुफुस की X-Ray परीक्षा करनी चाहिये।

मधुमेही में धमनी काठिन्य रोग (Arteriosclerosis) अन्यों की अपेक्षा सुगमता से होता है। विशेषत: मस्तिष्क हृदय तथा टांगों की धमनियाँ कठोर हो जाती हैं। पैरों को रक्त के कम मिलने से उनमें सुगमता से व्रण हो जाते हैं जो शीत व्रण, वातिक व्रण (Trophic Ulcers, Gangrene) का रूप ले लेते हैं। इसी प्रकार हृदय शूल (Angina) तथा हृदय घात (Cardiac Infarction) के रोग भी मधुमेही में अधिक होते हैं।

उपद्रव:-

रक्त में वसा वृद्धि (Ketosis या Acetoacetic Acid) की वृद्धि का हो जाना इस रोग का एक बड़ा उपद्रव है। यह मस्तिष्क के लिये अवसादक होता है। इसके बढ़ने पर पहले तो अरुचि तथा वमन के लक्षण होते हैं। फिर व्याकुलता रहने लगती है और फिर मधुमेह मूर्छा का उपद्रव हो जाता है जिसमें रोगी धीरे धीरे अधिक गहरे लंबे लंबे श्वास ले रहा होता है। जिसमें मीठी सी Acetone की दुर्गन्धा आती है। आंख कुछ धंसी हुई होती हैं एवं उसके पीछे जलांश की न्यूनता हो जाने से, दबाने से दब जाने वाली होती है। अर्थात् (Intraocular Tension कम होती है।) रोगी के हाथ पैर ठंडे होते हैं। शरीर का तापमान नार्मल से कम होता है। नाड़ी गति तीव्र होती है। रक्त भार गिरा हुआ होता है। जीभ तथा त्वचा देखने में शुष्क होती हैं। दोनों ओर की शाखायें शिथिल होती हैं। मधुमेही में नेत्र काच रोग (Catract) आयु से पहले होने लगता है। नेत्र पश्चिम पटल (Retina) की धमनियों में दुष्टिता के कारण दृष्टि मंदता का लक्षण भी हो जाता है।

नाड़ी शोथ :-Peripheral Neuritis):-

जंघाओं की वात नाड़ियों में दुष्टिता के होने से पांव में दर्द या सुप्ति की प्रतीति, पिंडलियों में स्तंभ (Cramps) तथा पैरों में निर्बलता और अशक्ति के लक्षण होते हैं। ये लक्षण पैरों में ही नहीं, जंघाओं में भी हो सकते हैं। संभवत: ये नाड़ियां रक्त के यथावत् मात्रा में न पहुंचने से दूषित होती हैं।

मधुमेही रोग की भोजन चिकित्सा :-

मधुमेही का भार प्राय: अधिक होता है अर्थात् ऊंचाई की दृष्टि से उसका जितना आदर्श भार होना चाहिये उससे वास्तविक भार अधिक

हृदय :-

मधुमेहियों की रक्त: एक लम्बे काल तक धमनियों में कोलेस्टेरोल जमा हो जाता है। अत: धमनी कठोर और कड़ी हो जाती है तथा उनका लचीलापन कम हो जाता है। यह सब यदि बढ़ जाय तो धमनियों की स्थिति को X-Ray से देखा जा सकता है। धमनियों में कोलेस्टेरोल जमने का रोग (Arteriosclerosis) कहते हैं, जो धमनियों को संकुचित करने में सहायक होता है। फलस्वरूप: हृदय, मस्तिष्क तथा पैरों की रक्त वाहिनियों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। पैरों में रक्त की कमी से पैरों में घाव हो जाते हैं या पैर सड़ जाते हैं (Trophic Ulcers, Gangrene) तथा हृदय का दौरा भी होता है। हृदय शूल (Angina) तथा हृदय घात (Cardiac Infarction) के रोग भी मधुमेहियों में अधिक होते हैं।

नेत्र:-

रक्त में अधिक वृद्धि (Ketosis या Acetoacetic Acid) की वृद्धि का भी आँखों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण दृष्टि में धुंधलापन हो जाता है। इसके अलावा भी मधुमेही व्यक्ति की आँख के लेन्स में परिवर्तन होता है। जिससे दृष्टि कमजोर हो जाती है तथा चश्मे का नम्बर बार-बार बदलना पड़ता है। रक्त में शर्करा की अधिक मात्रा होने से Acetone की उत्पत्ति हो जाती है। आँख के अन्दर के द्रव में भी शर्करा की मात्रा बढ़ जाने से आँख के अन्दर का दबाव बढ़ जाता है (Intraocular Tension) जिससे आँखों में दर्द हो जाता है। आँख का लेन्स धुंधला हो जाता है। इसके कारण मोतियाबिन्द हो जाता है। मधुमेहियों में यह रोग (Cataract) जल्दी हो जाता है। आँख के पर्दे (Retina) की रक्तवाहिनियों में परिवर्तन से भी दृष्टि कमजोर हो जाती है।

नाड़ी शोथ :-Peripheral Neuritis):-

मधुमेह की वजह से नाड़ियों में परिवर्तन होने से हाथ व पैरों में सुन्नपन, झनझनाहट व ऐंठन (Cramps) तथा पैरों में जलन आदि लक्षण देखे जाते हैं। ये लक्षण रात्रि में अधिक होते हैं। अत: मधुमेहियों में नाड़ियों की विकृति रोकने के लिए रक्त में शर्करा की मात्रा नियंत्रित रखना आवश्यक होता है।

मधुमेह रोग की अन्य विकृतियाँ :-

मधुमेहियों का मूत्र रोग: अधिकतर मूत्र मार्ग में संक्रमण के रूप में होता है।
मूत्र में शर्करा अधिक होने से मूत्र मार्ग में जीवाणु आसानी से बढ़ते हैं।

होता है। इसके आदर्श भार के अनुसार ही उसे भोजन लेना चाहिये।

ऊंचाई के अनुसार मध्यम् ढाँचे के शरीर का ३००० भार पुरुषों में यह होता है।..

कपड़ों का २½ सेरभार कम करके आदर्श भार होता है।

५ फुट २ इंच	---	१२४, १३३ पौंड ।
५ फुट ३ इंच	---	१२७, १३६ पौंड ।
५ फुट ४ इंच	---	१३०, १४० पौंड ।
५ फुट ५ इंच	---	१३४, १४४ पौंड ।
५ फुट ६ इंच	---	१३७, १४७ पौंड ।
५ फुट ७ इंच	---	१४१, १५१ पौंड ।
५ फुट ८ इंच	---	१४५, १५६ पौंड ।

ऊंचाई के अनुसार मध्यम ढाँचे के शरीर का भार स्त्री में यह होता है।..

इस भार में से २½ सेर कपड़ों का भार निकाल देवें।

५ फुट	---	११२, १२० पौंड।
५ फुट १ इंच	---	११४, १२२ पौंड ।
५ फुट २ इंच	---	११७, १२५ पौंड।
५ फुट ३ इंच	---	१२०, १२८ पौंड।
५ फुट ४ इंच	---	१२४, १३२ पौंड।

मधुमेह रोगी को प्रति सेर आदर्श भार के पीछे २५, ३० कैलोरी का दैनिक भोजन लेना चाहिये। उदाहरणतः यदि उसका आदर्श भार ६५ सेर हो तो उसे १५०० से २००० कैलोरी का भोजन पर्याप्त होता है। यद्यपि उसका वास्तविक भार इससे अधिक भी हो। प्रारंभ में उसके मूत्र को खांड से सर्वथा मुक्त करने का यत्न करना चाहिये। मूत्र खांड से सर्वथा मुक्त हो जाय तो क्रमशः फिर रोगी को १५०० से २००० तक की कैलोरीज के इस भोजन पर ले आना चाहिये। इतने भोजन से प्रायः फिर मूत्र में खांड नहीं आती।

रोगी के मूत्र को खांड से मुक्त करने के लिये उसे दो दिन मृदु विरेचन ओलाइडि देतेहुये उपवास मात्र भोजन पर रखना चाहिये। अथवा या तो वह जल मात्र पर रहे या तीन तीन घंटे बाद दिन में ६,७ बार वह एक एक कप चाय का जिसमें स्वल्प दूध ही हो, खांड सर्वथा न हो, पीवे। इस प्रकार के २,३ दिन के मृदु विरेचन तथा उपवास से प्रायः तीसरे दिन मूत्र खांड से मुक्त हो जाता है।

जब रोगी के मूत्र में खांड न रहे तब तीसरे दिन निम्नलिखित भोजन दे सकते हैं।

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
७ बजे एक प्याला चाय : ...				
८ बजे एक अंडा	६.३	५.७	—	८२
११ बजे ५ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट वाली सब्जियां दो २½, २½ औंस दही २ औंस	—	—	७•	३०
२ बजे दूध ४ औंस ...	४०	४०	६०	७६
४ बजे एक प्याला चाय ...				
७ बजे एक अंडा ...	६.३	५.७	—	८२
दो सब्जी २ , २ औंस ५ प्र०श०।	—	—	७•	३०
८ बजे दूध २ औंस ...	२•	२•	३•	३८
कुल ...	१८•६	१७•४	२३•	३३८

मूत्र परीक्षा करने पर यदि मूत्र में खांड न रहे चौथे दिन भी यह भोजन देवें।

उपर्युक्त भोजन के अतिरिक्त ४ बजे एक अंडा और दे सकते हैं। ४६०

मूत्र परीक्षा करने पर यदि मूत्र में खांड न मिले तब ५ वें दिन निम्नलिखित भोजन देवें।

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
७ बजे एक प्याला चाय				
८ बजे दूध ४ औंस —	४•	४•	६•	७६
११ बजे एक अंडा, [illegible]	६•३	५•७		८२
४ सब्जी २½, २½ औंस —			१५•	६०
रोटी २ औंस —	६•		४०•	२००
मांस का सूप १ औंस —	३	२		३०
अथवा दाल का सूप (१५ कैलोरी के लगभग) अथवा मट्ठा ४ औंस (४० कैलोरी)				
२ बजे चाय				
५ बजे एक अंडा —	६•३	५•७		८२
२ औंस टोस्ट	६		३२•	[illegible]
७ बजे ३ सब्जियां २½, २½ औंस			१२•५	५०
मीट सूप १ औंस या मटर आदि का सूप।	३	२		३०
			७५•५	७७०

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
६ टे दिन निम्नलिखित भोजन देवें।				
७ बजे एक प्याला चाय				
९ बजे दूध ४ औंस —	४.	४.	६.	७६
११ बजे एक अंडा —	६.३	५.७		८२
सब्जी चार $२\frac{१}{२}$, $२\frac{१}{२}$ औंस —			१५.	६०
चिकन सूप २ औंस —	६	४		६०
अथवा पटला ४ औंस —				
रोटी २ औंस —	६.		४०.	२००
२ बजे चाय				
५ बजे एक अंडा —	६.३	५.७		८२
टोस्ट २ औंस —	६.		३२.	१६०
७ बजे ४ सब्जियां $२\frac{१}{२}$, $२\frac{१}{२}$ औंस			१५.	
मूंग दाल २ औंस —	१०		२८.	१८०
९ बजे दूध ३ औंस —	३	३	४.५	५७
	४७.	२२.		
			१९०.	९५७

अब भी मूत्र परीक्षा करने पर मूत्र में खांड न मिले तब ७ वें दिन यह भोजन दें।

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
७ बजे चाय एक प्याला				
९ बजे एक अंडा —	६.३	५.७	—	८२
११ बजे मांस का सूप २ औंस या दही २ औंस —	६	४		६०
रोटी २ औंस —	६.		४०	२००
चार सब्जियां $२\frac{१}{२}$, $२\frac{१}{२}$ औंस			१५	६०
२ बजे चाय का प्याला				
५ बजे २ अंडे —	१२.४	११.४		१६४
७ बजे सब्जियां $२\frac{१}{२}$, $२\frac{१}{२}$ औंस			१५	६०
रोटी २ औंस —			४०	२००
९ बजे दूध ४ औंस —	४.	४.	६.	७६
	३४.७	२५.	११६	९०२

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
८ आठवें दिन यह भोजन देवें :				
उपर्युक्त भोजन ही देते हुये ५ बजे दो अंडों के साथ दो टोस्ट या एक रोटी और देवें। ...क्रमशः..			३०	१६०
			१४६	१०६२

अब मूत्र परीक्षा करने पर उसमें खांड न हो तो ६ वें दिन यह भोजन देवें।

उपर्युक्त ११ बजे के भोजन में यह और जोड़ दें।

	प्रोटीन ग्राम	फेट ग्राम	कार्बो ग्राम	के०
१ अंडा ---	६·३	५·७	---	८२
रोटी २ औंस ---	६	---	४०	२००
दही २ औंस ---	२	२	३	४०
			९८६	१३८४

अब मूत्र शर्करा से रहित मिले तो १० वें दिन निम्नलिखित भोजन दे सकते हैं।

७ बजे चाय का प्याला				
९ बजे दूध ४ औंस ---	४·	४·	६·	७६
११ बजे २ अंडे ---	१२·४	११·४	---	१६४
रोटी २ औंस ---	६	---	४०	२००
मूंग दाल २ औंस ---	१०	---	३२	१८५
मांस २ औंस ---	१४	१०		१४६
४ सब्जियां प्रत्येक $2\frac{1}{2}$, $2\frac{1}{2}$ औंस			१५	६०
२ बजे चाय एक नमकीन बिस्कुट			२०	१००
५ बजे एक अंडा ---	६·३	५·७		८२
टोस्ट २ औंस ---	६	---	३२	१६०
७ बजे एक अंडा ---	६·३	५·७	---	८२
१ रोटी २ औंस ---	४	---	४०	२००
२ सब्जी प्रत्येक २ औंस	---	---	७	२८
९ बजे दूध ४ औंस ---	४	४	६	७६
कुल	७३	४०	१६८	१५३६

मूत्र परीक्षा करने पर उसमें खांड न हो तो ११ वें दिन यह भोजन देवें।

उपर्युक्त भोजन के दोपहर ११ बजे के आहार में यह और मिला दें।

११ बजे दोपहर घृत १ औंस --	---	२५	---	२२०
७ बजे सांय आलू २ औंस --			१०	४४
			२०८	१८०३

१२ वें दिन मूत्र परीक्षा करने पर यदि वह शर्करा रहित हो तब यह भोजन देवे

प्रातः चाय १ प्याला				
९ बजे अंडा एक ---	६ ३	५ ७		८२
११ बजे मीट सूप ३ औंस	६	६		६०
सब्जियां चार २ $\frac{1}{2}$, $2\frac{1}{2}$ औंस			१५	६०
मटर $2\frac{1}{2}$ औंस ---	२		४	२५

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
रोटी २ औंस —	४•		५०	२००
२ बजे चाय एक नमकीन बिस्कुट			२०	८०
५ बजे २ अंडे —	१२•	१२•		१६४
टोस्ट २ औंस —	४		३२	१६०
७ बजे सब्जी का सूप $2\frac{1}{2}$ औंस	२		४	२५
चार सब्जियां $2\frac{1}{2}$, $2\frac{1}{2}$ औंस			१५	६०
दही ३ औंस —	३	३	५	६०
चावल ३ औंस —	४		६०	३००
६ बजे दूध ६ औंस —	६	६	९	११४
	३८	३२	२०४	१४२०

१३ वें दिन भी मूत्र शक्कर से युक्त हो तो उपर्युक्त भोजन में यह और मिला दें।

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
– ११ बजे के भोजन में घृत १ औंस		२५		२२०
आलू २ औंस			१०	४४
			२१४	१६८४

१४ वें दिन भी मूत्र में शक्कर न मिले तो निम्नलिखित भोजन देवें।

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	कैलोरी
७ बजे चाय —				
९ बजे अंडा —	६.३	५.७		८२
११ बजे सब्जी का सूप ४ औंस —	३		६	४५
मांस २ औंस —	१४	१०		१४६
चार सब्जियां $2\frac{1}{2}$, $2\frac{1}{2}$ औंस —			१५	६०
दही २ औंस —	२	२	३	५०
रोटी २ औंस —	६		४०	२००
घी १ औंस —		२५		२००
२ बजे चाय				
५ बजे २ अंडे —	१२.६	११		१६४
टोस्ट २ औंस —	४		३२	१६०
७ बजे सब्जी का सूप ४ औंस	३		६	४५
तीन सब्जियां $2\frac{1}{2}$, $2\frac{1}{2}$ औंस			१२	४५
रोटी ३ औंस —	९		६०	३००
मटर २ औंस —	८		२४	१३०
दही २ औंस —	२•	२• २	३	३८
घी १ औंस —				
९ बजे दूध ६ औंस —	६	६	९	११४
	७६	६१	२१७	१९८९

१५ वें दिन मूत्र शर्करा विहीन पाया जाय तो निम्नलिखित भोजन देवें।

	प्रोटीन ग्राम	फैट ग्राम	कार्बोहाईड्रेट ग्राम	कैलोरी
प्रातः ७ बजे चाय				
८ बजे १ अंडा —	६.३	५.७		८२
११ बजे सब्जी सूप ४ औंस —	३		६	४५
रोटी २ औंस —	४		४०	२००
६ सब्जियां २½, २½ औंस			२२	९०
हरे ताजे मटर २ औंस	२		४	३०
मांस २ औंस —	१४	१०		१४६
दही २ औंस —	२	२	३	४०
घृत २ औंस —		५०		४५०
२ बजे चाय एक बिस्कुट —			२०	८०
५ बजे २ अंडे —	१२.५	१०.५		१६४
टोस्ट २ औंस —	६		३२	१६०
७ बजे सब्जी सूप ४ औंस —	३		६	४५
चार सब्जियां २ औंस प्रत्येक			१५	६०
हरे ताजे मटर २ औंस —	२		४	३०
चावल २ औंस —	३		४०	२००
दही २ औंस —	२	२	३	४०
* ६ बजे दूध ८ औंस —	८	८	१२	१५२
	६८	७८	२०७	२०१४

*डा० विजयकर की भोजन सूची के आधार पर (Antiseptic-January 1956)

मधुमेही में Pancreas के अंतः स्राव Insulin की निकासी कम होती है। इसलिये उसे कार्बोहाईड्रेट भोजन अति स्वल्प मात्रा में ही लेना चाहिये। केवल फैट तथा प्रोटीन आहार पर भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि फैट भोजन के परिपाक के लिये उससे कुछ अधिक कार्बोहाईड्रेट आहार लेना आवश्यक है। मधुमेही के आदर्श भार को जान कर प्रति सेर भार के पीछे १, १½ ग्राम प्रोटीन उससे कुछ अधिक फैट तथा उससे कुछ अधिक कार्बोहाईड्रेट ग्राम देना चाहिये। आदर्श भार ६५ सेर का हो तो प्रोटीन प्रति सेर के पीछे १, १½ ग्राम देने से ७५ ग्राम के लगभग हो जाती है। फैट भोजन ८० से १०० ग्राम तक तथा कार्बोहाईड्रेट उससे डेढ़ गुना या प्रति सेर के पीछे २ ग्राम होना चाहिये। इस प्रकार वह १२५, १५० ग्राम तक हो जाता है। इस भोजन से रोगी को ७५×४= ३००, १००×९= ९००, १२५×४ = ५००, कुल १७०० कैलोरिज प्राप्त होती हैं। अधिक कार्बोहाईड्रेट वाले भोजन जैसे खांड या उसके बने

पकवान या १५,२० प्रतिशतक से अधिक कार्बोहाइड्रेट वाले भोजन नहीं देने चाहिये। चावल में ७८ ,गेहूं में ६८,दालों में ६० प्रतिशतक के लगभग कार्बोहाइड्रेट होता है। इसलिये इनका प्रयोग अति परिमित मात्रा में ही करना चाहिये। कम कार्बोहाइड्रेट वाले भोजन जैसे,पत्र शाक,गोभी, टमाटर,निम्बू,आदि जिनमें ३ प्रतिशतक के लगभग कार्बोहाइड्रेट होता है तथा प्याज,गाजर,शलजम,कद्दू आदि जिनमें कार्बोहाइड्रेट ५ प्रतिशतक के लगभग होता है तथा हरी फलियां,मटर,हरे चने, आदि तथा अनार,संतरा खरबूजा,रसभरी,स्ट्राबेरी,आदि जिनमें कार्बोहाइड्रेट १० प्रतिशतक के लगभग होता है तथा सेब,नासपाती,अंगूर,खुबानी,आदि जिनमें १५ प्रतिशतक के लगभग कार्बोहाइड्रेट होता है// कुछ कुछ स्वतंत्रता से दिये जा सकते हैं। आलू,केला,सूखे हुये मीठे मेवों में कार्बोहाइड्रेट २० प्रतिशतक के लगभग होता है। इनका प्रयोग अति परिमित मात्रा में ही ठीक रहता है। रोगी के अंदर उत्पन्न होने वाले Insulin की मात्रा न्यून होती है। अतः दैनिक भोजन को दो तीन भागों के स्थान पर ६,७ भागों में बांट कर उसे देना चाहिये। जिनमें से २,३ खाने बड़े,तथा २,३ खाने छोटे होने चाहिये। प्रति भोजन में इतना कार्बोहाइड्रेट होना चाहिये कि वह शरीर में खप सके। मूत्र में न निकले। इसके लिये मूत्र की दैनिक परीक्षा होनी चाहिये। जब कभी मूत्र में शर्करा प्रकट हो आहार की मात्रा को तुरंत घटा देना चाहिये।

उपवास तथा भोजन के अति नियंत्रण के समय तो रोगी को विश्राम में ही रखना चाहिये परंतु १०,१५ दिन बाद जब रोगी दो हजार कैलोरी के लगभग के आहार पर आ जाय तब उसे भ्रमण,आसन,या मृदु व्यायाम का सेवन नित्य प्रति करना चाहिये क्योंकि व्यायाम से शरीर में कार्बोहाइड्रेट की खपत बढ़ती है।

मधुमेही रोगी को ज्वरों से प्रतिश्याय आदि छोटे छोटे जीवाणु संक्रमण जनित विकारों से बचना चाहिये। क्योंकि संक्रमण के होने पर उसकी कार्बोहाइड्रेट को अपने में खपाने की शक्ति और भी घट जाती है। मानसिक दुःख,या व्याकुलता,या अशांति से भी शरीर की कार्बोहाइड्रेट को अपने में खपा लेने की शक्ति घट जाती है।

जिन घरों में मधुमेह रोग हो उनकी सन्तान को चाहिये कि वे अपने शरीर को भारी न होने दें। यदि शरीर भारी न हो तो इस रोग के होने का भय नहीं रहता।

<u>मधुमेह की इंसुलिन Insulin चिकित्सा :-</u>

Mammalian Pancreas के Islets of Langerhans के

क्रियाशील तत्व को Insulin कहा जाता है। इसके घुलन शील इंजेक्शन को Injetto Insuline या Shortacting या Soluble या Clear Insuline. कहा जाता है। यह एक सी.सी. द्रव में २०, ४०, ८०, यूनिट की मात्रा में अर्थात् तीन ताकतों का मिलता है। इसकी साधारण मात्रा १० यूनिट होती है तथा दिन में ऐसी २ मात्रा प्रात राश तथा रात के भोजन से $\frac{१}{२}$ घंटा पहले त्वचा द्वारा दी जाती है। Insulin का १ यूनिट २ ग्राम ग्लूकोज का परिपाक कर देता है। अत: दिन भर के मूत्र में जितने ग्राम ग्लूकोज हो उससे आधी मात्रा Insulin के यूनिट की प्रति दिन पर्याप्त होती है। घुलन शील होने के कारण यह देने के आधा घंटे के अंदर अपना कार्य प्रारंभ कर देती है। तथा इसका शर्करा परिपाक का कार्य लगभग ८ घंटे तक जारी रहता है। यदि ३० यूनिट प्रति दिन देने आवश्यक हों तो प्रात: १५, २० तथा रात्रि के भोजन से आधा घंटा पहले १० यूनिट दे दिये जाते हैं। इस अवस्था में दिन भर के कार्बोहाइड्रेट भोजन का अधिक भाग प्रातराश के भोजन तथा रात के भोजन में होना चाहिये। इस अवस्था में रक्त में खांड की कमी (Hypoglycaemia) की आशंका दोपहर के भोजन से पहले या चार बजे तक के समय में या रात के पहले भाग में हो सकती है।

तथापि साधारण रोगियों में Soluble Insulin का प्रयोग नहीं किया जाता क्योंकि इसे दिन में दो बार देना पड़ता है। इसका प्रयोग विशेषत: तीव्र रोग में, उपद्रव युक्त मधुमेह रोग में जैसे दाय युक्त मधुमेह में तथा रोगी के अंदर Ketosis या मधुमेह मूर्छा के हो जाने पर किया जाता है।

२.. इसका दूसरा भेद Protamine Zine Insulin, Long-Acting या Cloudy Insulin है। इसके एक सी सी द्रव में ४० या ८० Units Insulin के होते हैं। Insulin Hydrochloride में एक प्रोटीन (Protomine) तथा Zine के मिश्रण से इसे तैयार किया जाता है। इनके मिश्रण से Insulin की घुलन शीलता मंद हो जाती है। इसका प्रभाव शीघ्र ६, ८ घंटों में समाप्त न होकर लगभग २४ घंटे तक या अगले दिन प्रात:काल तक रहता है। परंतु इंजेक्शन के ३ घंटे तक इसका प्रभाव नहीं होता। इसलिये इसके सेवन में रोगी के प्रात राश में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अति स्वल्प ही होनी चाहिये। इस औषधि की मात्रा यदि कुछ अधिक दी गई हो तो रात्रि के पिछले भाग में जब सोये

सुये देर हो जाती है या प्रातः काल रक्त में खांड के कम हो जाने (Hypoglycaemia) की आशंका करनी चाहिये।

साधारण मधुमेह रोग में १२, १४ यूनिट की एक मात्रा इसकी प्रातराश से पहले दी जाती है अथवा यदि मूत्र को शर्करामुक्त करने के लिये सवेरे शाम मिलाकर कुल ४४ यूनिट घुलन शील (Soluble Insulin) की आवश्यकता होती है। तो इसका $\frac{2}{3}$ भाग तो Protamine Zinc Insulin--- के रूप में तथा $\frac{1}{3}$ भाग Soluble Insulin के रूप में एक ही इंजेक्शन प्रातराश से पहले दे सकते हैं। अर्थात् पहले एक सीरिंज में १६ Units Soluble Insulin के भर कर त्वचा में डाल देवें फिर सुई को वहीं लगा हुआ छोड़ कर दूसरी सुई से इसी सीरिंज में २८ Units Protomine Zinc Insulin को लेकर त्वचा में लगी हुई सुई के द्वारा ही प्रविष्ट कर देवें। इस प्रकार आशुकारी तथा दीर्घकारी दोनों प्रकार की Insulin के देने पर प्रातराश में लिया हुआ कार्बोहाइड्रेट का भी पूर्णतया परिपक्व हो जाता है। यद्यपि Protamine Zinc Insulin को Soluble Insulin में मिलाने से यह भी कुछ कुछ दीर्घकारी हो जाती है तथापि यदि एक ही सीरिंज और सुई से दोनों मिलाकर देने हों तो जितनी प्रोटामीन जिंक Insulin लेनी हो उतनी हवा उसमें भर के बिना दवाई लिये सुई वापिस कर लेनी चाहिये। और फिर Soluble Insulin जितनी लेनी हो उतनी ले लेनी चाहिये और फिर इसी सीरिंज में प्रोटामीन जिंक इंसुलीन जितनी लेनी हो, ले लेनी चाहिये। दोनों को परस्पर मिक्स किये बिना ही इसी तरह त्वचा में डाल दिया जाय तो दोनों प्रकार की Insulins का प्रभाव बना रहता है।

३.. Insulin Zinc Suspension Amorphous (Insulin Semi Lente)
यह बिना किसी प्रोटीन कर (Protomine) के होता है परंतु जिसका प्रभाव लगभग १६ घंटों तक रहता है। यह Insulin का एक अन्य योग है जो १ सी.सी. द्रव में ४० Units की ताकत का मिलता है।

४.. Insulin Zinc Suspension Crystalline (Insulin Ultra-Lente) है। इसमें इंसुलिन के १०० Units से .२ जिंक होता है। जिसका प्रभाव लगभग ३० घंटे तक रहता है। यह १ सी.सी. द्रव में ४० Units की मात्रा में मिलता है।

५.. उपर्युक्त दोनों का मिश्रण जिसमें ३ भाग Amorphous तथा ७ भाग Crystalline Insulin होता है। Danish —

Lente Insulin कहलाता है। इसका प्रभाव २४ घंटे तक रहता है। इस समय यही सर्व प्रिय Insulin प्रतीत होता है। इसका प्रभाव भी Soluble तथा Protamine Zinc Insulin के मिश्रण के समान ही होता है। परंतु इसमें रात के पिछले भाग में Hypoglycaemia के होने की आशंका नहीं रहती। इसके प्रयोग के समय कार्बोहाइड्रेट की दैनिक मात्रा को तीनों प्रधान भोजनों में बांट कर देना चाहिये। इस Danish Lente या Insulin Zinc Suspension के प्रभाव को दीर्घ करना हो तो इसमें Insulin Zinc-Suspension Crystalline (Ultra-Lenta) का योग कर सकते हैं। यदि इसी के प्रभाव को शीघ्र करना हो तो इसमें Insulin Zinc Suspension Amorphous (Semi Lenk) का योग कर सकते हैं। रोगी की अनुकूलता को देखते हुये Insulin Zinc Sus-pension Crystalline को Insulin Zinc Suspension-Amorphous के साथ किसी भी अनुपात में मिला के दे सकते हैं।

६.. Globin Insulin With Zinc:- रक्त के Globin, Insulin तथा Zinc के योग से बना हुआ यह Insulin भी उपयुक्त होता है। इसका प्रभाव देने के २ घंटे के अंदर आरंभ हो जाता तथा लगभग १८ घंटे तक रहता है। मृदु रोग हो तो शर्करा को नियमित रखने के लिये उत्तम Insulin है।

मधुमेही की मूत्र परीक्षा करने के लिये रोगी को एक दिन मधुमेह योग्य भोजन पर रखने के बाद अगले दिन प्रातः प्रातराश से पहले मूत्र कराकर वह तो फेंक दिया जाता है। १.. फिर प्रातराश के बाद से लेकर दोपहर के खाने से ठीक पहले तक का मूत्र एक पात्र में एकत्रित किया जाता है। २.. मध्याह्न के भोजन से लेकर रात्रि के भोजन के ठीक पहले तक का मूत्र दूसरे पात्र में जमा किया जाता है। ३.. रात के भोजन से सोते समय तक का मूत्र एक पृथक पात्र में इकट्ठा किया जाता है। ४.. सोने के बाद से अगले दिन प्रातराश से पहले तक का सारा मूत्र एक पृथक पात्र में जमा किया जाता है।

इनमें से प्रत्येक की कुछ बूंदें लेकर यह देखना चाहिये कि इनमें से कौन कौन सा मूत्र खांड के लिये Positive Test देता है। जिससे यह भी पता लगता है कि रोगी के रक्त में दिन के किस भाग में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ती है। तदनुसार शीघ्रकारी (Short Acting) या दीर्घकारी (Long Acting) Insulin की मात्रा का निर्णय किया जा सकता है।

इन चारों मूत्रों के अंदर कुल कितनी खांड है इसके लिये Quantitative.Sugar. परीक्षा भी करनी चाहिये। २४ घंटे में जितनी कुल खांड हो उसको २ की संख्या से भाग देने पर जो संख्या आती हो उतने Units

Insulin के दैनिक रोगी को देने चाहिये। प्रारंभ में मूत्र की यह परीक्षा प्रतिदिन होनी चाहिये। यदि सभी अर्थात् चारों के नमूनों में खांड मिलती हो तो Insulin की दैनिक मात्रा कुछ बढ़ा दी जाती है। यदि दिन में लिये नमूनों में खांड का Test Positive हो तो शीघ्रकारी Acting Insulin की मात्रा बढ़ाई जाती है। यदि रात के भोजन के बाद लिये गये नमूनों में खांड का Test Positive हो तो दीर्घ प्रभाव करने वाली Long Acting Insulin की मात्रा बढ़ानी चाहिये।

इस प्रकार किसी रोगी की चिकित्सा प्रारंभ करने के तीन चार दिन तक उसको कितनी Insulin देनी चाहिये तथा प्रातः काल के इंजेक्शन में Short Acting Insulins तथा Long Acting Insulins कितने कितने होने चाहिये इसका निश्चय कर लिया जाता है। रोगी के दिन भर के मूत्र में कुल खांड कितनी है अर्थात् उसकी Quantitative परीक्षा तो केवल एक दिन करनी पर्याप्त है। Qualitative परीक्षा कुछ दिन तक की जाती है। दिन या रात का मूत्र का नमूना यदि पीला सा रंग (Yellow Reduction) दिखावे तो तदनुसार Short या Long Acting Insulin में ५ Units की वृद्धि कर दी जाती है। यदि दिन या रात का नमूना संतरी रंग (Orange Reduction) देवे तो १० Units की तथा यदि ईंट के चूरे का सा रंग (Brick red Reduction ---) देवे तो १२,१३,१४ Units की वृद्धि करनी चाहिये। यदि मूत्र का रंग हरा ही रहे तो यह ध्यान करनी चाहिये कि कहीं Hypogly-Caemia का कोई लक्षण तो नहीं होता।

Hypogly Caemia: के लक्षण अर्थात् कंप, अस्थिरता, क्षुधा, हृत्कंप, आदि होने लगें तो थोड़ी खांड या मिश्री खा लेनी चाहिये। इसीलिये Insulin लेने वाले को हर समय अपने पास कुछ मिश्री रखनी चाहिये।

<u>मधुमेह की मुख द्वारा औषधि :-</u>

Tolbutamide(Orianse,Rastinon,Nadisan Carbutamide) के भोजन के बाद प्रयोग से भी रक्त में खांड की मात्रा घट जाती है। संभवतः इससे शरीर में उत्पन्न होने वाले Insulin की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसके आधे ग्राम की गोलियां पहले दो दिन तक ३,६, फिर दो दिन तक २,४, और फिर कुछ काल तक १,१ की संख्या में देने से शीघ्र रक्त में खांड की मात्रा नार्मल हो जाती है। इस औषधि के सेवन काल में भी भोजन संबंधी नियम कायम रखना चाहिये।

<u>आयुर्वेद में मधुमेह रोग :-</u>

आयुर्वेदानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि अन्याशय के शरीर पाचक

अवस्था में यदि जन्म से ही प्राण शक्ति की न्यूनता हो या वातिक दुर्बलता हो और ऐसा व्यक्ति गुरु आहार द्रव्य अधिक मात्रा में लेता रहे जिससे वह खांड में पूर्णतया परिवर्तित होने के स्थान में वसा में परिवर्तित होकर शरीर में संचित होने लगे एवं शरीर भारी होता जाय तब प्रायः मूत्र में खांड निकलने लगती है। इस प्रकार एक तो अति संतर्पण इसका कारणप्रतीत होता है जिसके दुष्परिणाम के रूप में अग्न्याशय की सहज निर्बलता प्रकट हो जाती है। संभव है अति संतर्पण के साथ अति चिन्ता, भय, तथा मानसिक श्रम आदि वात प्रकोपक कारणों के दुष्परिणाम के रूप में भी अग्न्याशय से शर्करा पाचक रस Insulin की उत्पत्ती कम होती है। इसीलिये इस रोग को वात प्रकोप जनित मेह या प्राण शक्ति की हीनता से उत्पन्न होने वाला मूत्र रोग कहा है।

इसीलिये इस रोग के लिये रसायन तथा अपतर्पण चिकित्सा की जाती है। साथ ही प्राण शक्ति वर्धक स्वर्ण, मुक्ता, लोह, अभ्रक, शिलाजतु, आदि का प्रयोग भी किया जाता है। अपतर्पण के लिये रोगी को स्वल्प तथा रूखा आहार पर रखा जाता है। रूक्ष, शोधक, गुरु औषधियाँ जैसे त्रिफला, निम्ब, लोध्र, शालसारादि की, न्यग्रोधादिगण की औषधियों का इस रोग में प्रयोग ठीक रहता है। रोगी को जामुन फल, मज्जा ४, निम्बू पत्र ४, आंवला ४, गुड़मार पत्र २, करेला सूखा ८ भाग, मिलाकर चूर्ण १$\frac{1}{2}$ माशा की मात्रा में दिन में दो बार देने से एक दो मास में बड़ा लाभ प्रतीत होता है। इस चूर्ण के साथ प्राण शक्ति की वृद्धि के लिये रोगी को लोह, त्रिवंग, अभ्रक, प्रवाल, शुक्ति, रजत भस्म, एक एक भाग, शिलाजतु २ भाग अहिफेन $\frac{1}{2}$ भाग की एक एक रत्ती की बनी गोली दिन में दो बार देनी चाहिये। स्वर्ण भस्म मुक्ता आदि के बने प्रयोग जैसे वसंत कुसुमाकर (जिसमें इक्षुरस के स्थान जामुन की भावना दी हो) चन्द्र कांति रस आदि में से किसी का प्रयोग दिन में एक बार करने से भी रोगी की प्राण शक्ति बढ़ती है। शिलाजीत के चन्द्रप्रभा के रूप में या स्वतंत्र रूप में ४ रत्ती की मात्रा दिन में दो बार त्रिफला के साथ प्रयोग करने से भी मूत्र में शर्करा की मात्रा कम होने लगती है। करेला शुष्क ४, जामुन २, त्रिवंग २, अभ्रक १, लोह १, शिलाजीत २, अफीम $\frac{1}{2}$ भाग, की बनी दो दो रत्ती गोलियां दिन में ४ बार दे सकते हैं। रोगी को गेहूं की बनी रोटी केवल २ छटांक की मात्रा में करेले के साथ लेनी चाहिये तथा दो तीन मील के लगभग प्रति दिन भ्रमण करना चाहिये। ।।च।चि।६।।

सिकता मेह--वृक्काश्मरी :-- Renal Calculus, Urolithiasis:-

३० से ५० वर्ष की आयु के ऐसे व्यक्तियों में जिनके मूत्र में

Oxalates अधिक खाते हों जिनका मूत्र अधिक अम्लीय हो, जो अन्न अधिक लेते हों, दूध कम पीते हों अर्थात् जिनके भोजन में विटामिन " ए" की न्यूनता हो, मूत्र में सिकता आने की शिकायत होती है। मूत्र में विद्यमान Calcium Oxalate, Urie Acid, Urates, आदि के मूत्र के अंदर बैठ जाने से ये बनती हैं। वृक्कों के आशय (Pelvis) में संभवत: पहले किसी जीवाणु जैसे Staphylococcus, B, Boli, B.Proteus. -- आदि किसी का संक्रमण होता है। इसके कारण वहाँ उत्पन्न श्लेष्म द्रव या जीवाणु के या सेलों के ढेर या Mucopus पर मूत्रगत उपर्युक्त द्रव्यों के निक्षिप्त हो जाने से ये अश्मरियाँ बनती हैं। जल कम पिया जाय जिससे मूत्र गाढ़ा हो जाय। तब भी इनके बनने की प्रवृत्ति अधिक होती है जो मूत्र गत द्रव्य औरों के मूत्राशय (Pelvis) में नहीं बैठते वे किसी किसी में क्यों बैठ जाते हैं इसका ठीक ठीक पता अब तक भी नहीं चला।

कईयों में सिकता या शर्करा के रूप में मूत्र द्वारा कुछ दाने बिना किसी विशेष कष्ट के निकलते रहते हैं। परंतु कभी कभी जब यह पथरी वृक्क वाहिनी (Ureter) में अड़ जाती है तब इसकी दीवार में स्तंभ (Spasm) के उत्पन्न होने से रोगी को तीव्र वृक्क शूल (Renal Colic) उठता है। जो सहसा ही प्रारंभ होता है। रोगी बेचैन हो कर लोट पोट हो जाता है। वेदना कटि प्रदेश से उतर कर नीचे Genitocrural Nerve की दिशा में अंड या जंघा के आभ्यंतर पृष्ठ तक जाती प्रतीत होती है। रोगी को थोड़ा थोड़ा गाढ़े रंग का मूत्र बार बार होता है। रोगी का रंग फीका सा हो जाता है। वमन भी होती है। तथा इसके माथे पर ठंडा पसीना आया दीखता है। इसका तापमान नार्मल से कम, नाड़ी निर्बल, पर तीव्र होती है। वृक्क शूल का यह वेग कुछ थोड़ी देर रहकर पथरी के फिसल कर मूत्राशय में चले जाने से सहसा शांत हो जाया करता है।

चिकित्सा :-

रोगी को चाहिये कि वह प्रतिदिन २½, ३ सेर जल पिये। जिससे मूत्र खुल कर आता रहे। अन्न की मात्रा कम करके सब्जी, फल आदि का सेवन विशेष करना चाहिये। क्षारीय मूत्रल औषधियाँ जैसे Potassium-Citrate. ३० ग्रेन, Potassium Bi-Carbonate २० ग्रेन, Spirit-Chloroform ७ बूंद, जल एक औंस मिलाकर दिन में ऐसी तीन मात्राओं का सेवन करने से या केवल Potassium Citrate के ४० ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार लेने से या Sodium Bi-Carbonate ६० ग्रेन Citric Acid ४० ग्रेन के ४ औंस जल में मिला कर दिन में

Oxalates [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] Calcium Oxalate, Uric Acid, Urates, [illegible]

[illegible] (Pelvis) [illegible]

[illegible] Staphylococcus, B. Coli, B. Proteus.

[illegible]

[illegible] Mucopus [illegible]

[illegible]

[illegible] (Pelvis) [illegible]

[illegible]

[illegible] (Ureter) [illegible]

(Spasm) [illegible] (Renal Colic)

[illegible] Genitocrural Nerve

[illegible]

[illegible] Potassium

Citrate. [illegible] Potassium Bi-Carbonate [illegible] Spirit

Chloroform [illegible]

[illegible] Potassium Citrate [illegible]

[illegible] Sodium Bi-Carbonate

[illegible] Citric Acid [illegible]

[illegible]

तीन बार पीने से मूत्र खुलकर आता है, तथा पथरी निकल जाती है। दर्द के समय में Morphine $\frac{1}{3}$ ग्रेन Atropine Sulphate $\frac{1}{100}$ ग्रेन का सम्मिलित सूची वेध देना पड़ता है। Tincture Belladenna १० बूंद, Potassium Bromide १५ ग्रेन तथा Potassium Citrate ३० ग्रेन की मात्रा के देने से भी लाभ हो सकता है। रोगी के वृक्क प्रदेश पर गर्म बोतल रखने या उसे गर्म जल में बिठाने से भी यूरिटर का स्तंभ (Spasm) ढीला पड़ सकता है।

आयुर्वेद में सिकतामेह को पाचकाग्नि की मंदता एवं श्लैष्मिक अजीर्ण के कारण मूत्र में दोष के बढ़ जाने से उत्पन्न होने वाला रोग कहा है जिससे इसकी गणना कफ मेहों में की गई है। वृक्कों के आशय (Plevis) में कफ दोष की वृद्धि होने पर वहां जीवाणु संक्रमण हो जाता है। फिर इसके विपरीत वहां जो श्लैष्मिक प्रतिक्रिया होती है उसी के कारण वहां मूत्र गत द्रव्यों के बैठने से पथरियां बनने लगती हैं। इसीलिये रोगी में कफ दोष की शांति करनी चाहिये। त्रिफलादि चूर्ण के भोजन के पहले दो बार देने, अन्न की मात्रा कम कर देने तथा साधारण व्यायाम करने से इसे लाभ होता है। मूत्र प्रवर्तक औषधियों, जैसे सुकुमार कुमार घृत, (पुनर्नवा ४००, दशमूल, शतावरी, बला, असगंधा, पंच तृणमूल, गोखुरू, शालिपर्णी, गिलोय, अतिबला, ४०, ४० तोला, जल आठ गुणा में पका कषाय, घृत १२८ तोला, एरंड तेल ६४ तोला, सोंठ, मुनक्का, पिप्पली, मुलहठी, सैंधव ८, ८ तोला, अजवायन १६ तोला, गुड़ १२० तोला) एक तोला दिन में दो बार, या यवक्षार, सज्जीक्षार, नवसार, गोखरू, कुल्थी, हजरलयहूद, समान समान का चूर्ण तीन माशे की मात्रा में दो बार देने से मूत्र खुलकर आता है। अन्य क्षारों जैसे क्षार गुटिका, या अभया लवण दो माशा, के दिन में दो बार देने से भी मूत्र खुलकर आता है। इस रोग में शिलाजतु का यवक्षार के साथ प्रयोग भी हितकर है। कुल्थी के दाने तथा मक्की के बालों की चाय के चार औंस मात्रा में पीते रहने से पथरी निकलती है।

त्वचा के रोग :-
(Diseases of the Skin)

त्वचा की रचना :-

त्वचा, बहिश्चर्म (Epidermis) तथा अंतश्चर्म (Dermis या Corium) इन दो स्तरों से बनी हुई है। इनमें से बहिश्चर्म केवल सेलों से बना है, तथा इसमें रक्त वाहिनियां नहीं होती। करतल तथा पादतल में यह स्तर अति स्थूल और कठोर होता है। बहिश्चर्म के सबसे अंदर की तरफ स्तंभाकृति सेलों की स्तर को भी जनक स्तर (Germinal Layer) कहते हैं + क्योंकि इस स्तर के सेलों के विभाजन (Mitosis) से बहिश्चर्म उत्पन्न होता है। इस स्तर के कुछ एक शाखाओं वाले सेलों के जिन्हें Melanoblasts कहते हैं Cytoplasm में त्वचा के रंग (Melanin) के दाने उत्पन्न होते हैं। Tyrosine नामक अमीनो एसिड से Tyrosinase की उपस्थिति में इस रंग की उत्पत्ति होती है। Ultra Violet किरणों से Tyrosinase अधिक क्रियाशील हो जाता है।

इस उत्पादक स्तर के बाहिर गोलाकृति या बहु पार्श्विय सेलों से बना बहिश्चर्म का प्रधान स्तर होता है जिसे श्लैष्मिक स्तर (Mucous Layer) कहते हैं। इसके सेल परस्पर कंटकाकृति प्रवर्धों से जुड़े रहते हैं। इसलिये इसे कण्टकी सेलों की तह (Prickle Cell Layer) भी कहते हैं।

इस श्लैष्मिक स्तर के बाहिर लट्टू के आकार के सेलों की एक तह होती है जिनके अंदर प्रोटो प्लाज्म दानों के रूप में होता है जिससे इसे Cranular Layer कहते हैं। इसके बाहिर एक श्वेत वर्ण स्तर होता है जिसे Stratum Lucidum कहते हैं। करतल, पादतल, में यह स्तर स्थूल होता है। इसके बाहिर की ओर तथा त्वचा के पृष्ठ पर चपटे कठोर सेलों का स्तर है जिसे शुष्क स्तर (Horny Layer) कहते हैं। इसके सेलों का प्रोटोप्लाज्म कठोर होता अर्थात् जलाटिन या केराटीन नामक पदार्थ में परिवर्तित हुआ होता है। इस शुष्क स्तर के कारण बाह्य विषैले एवं विद्रावक पदार्थों का कोई दुष्प्रभाव शरीर पर नहीं हो पाता।

अंतश्चर्म (Dermis) सेलों से बना हुआ न होकर स्नायु तंतु (Connective Tissue) से बना हुआ है। इसमें लचकीला अवयव (Elastic Fibres) भी होता है जिससे यह रबड़ की तरह लचकीला परंतु पर्याप्त दृढ़ भी होता है। अंतश्चर्म स्थान स्थान पर स्तंभों के रूप में बहिश्चर्म के अंदर उभरा होता है। इन उभारों को Papillae कहते हैं। इन उभारों में से प्रत्येक में सूक्ष्म रक्त वाहिनि का एक मोड़ पाया जाता है तथा बहुत सों से स्पर्श वाहिनी वात नाड़ियों के सिरे (Tactile Corpuscle) भी पाये जाते हैं।

त्वचा के रोग :-

(Diseases of the Skin)

त्वचा की रचना :-

त्वचा, बाह्यत्वचा (Epidermis) तथा अन्तस्त्वचा (Dermis या Corium) इन दो स्तरों से बनी हुई है। [illegible] (Germinal Layer) [illegible] (Mitosis) [illegible] Melanoblasts [illegible] Cytoplasm [illegible] (Melanin) [illegible] Tyrosine [illegible] Tyrosinase [illegible] Ultra Violet [illegible] Tyrosinase [illegible]

[illegible] (Mucous Layer) [illegible] (Prickle Cell Layer) [illegible]

[illegible] Granular Layer [illegible] Stratum Lucidum [illegible] (Horny Layer) [illegible]

अन्तस्त्वचा (Dermis) [illegible] (Connective Tissue) [illegible] (Elastic Fibres) [illegible] Papillae [illegible] (Tactile Corpuscle) [illegible]

इस प्रकार अन्तस्त्वचा के बाहिर के भाग को इन उभारों के कारण Papillary Layer कहते हैं। अन्तस्त्वचा के गहरे भाग को स्नायु तन्तुओं की प्रधानता के कारण ~~Rsk~~ Reticular Layer कहते हैं। इसमें रक्त वाहिनियों तथा लसीका वाहिनियों के जाल (Sub-Papillary Vascular, and Lymphatic Plexuses) रहते हैं। जिनमें से सूक्ष्म शाखायें उभारों (Papillae) के सिरों तक तथा रोम कूपों में विद्यमान रोम मूलों तक जाती हैं। इस स्तर में स्पर्श वाहिनी नाड़ियाँ (Cutaneous Nerves) के जाल भी रहते हैं। जिनके सिरे Papillae में समाप्त होते हैं। Non Medullated Nerve कुछ, बाहिर बहिस्त्वचा में रोमकूपों में तथा स्वेद ग्रन्थियों में जाते हैं।

रोम तथा केश (Short and Long hair) भी त्वचा का ही एक भाग है जो त्वचा के अंदर एक गढ़े, रोम कूप (Hair Follicle) में उगते हुये रहते हैं। रोम कूप के दीवार का बाहर का स्तर अंतस्त्वचा तथा अन्दर का स्तर बहिस्त्वचा से बना हुआ है। ~~क्योंकि~~ बहिस्त्वचा के स्थान स्थान पर अंतस्त्वचा में धंस जाने से ये रोम ~~कूप~~ कूप बने हुये हैं। रोम कूप के मुख के समीप इसमें एक दो स्नेह ग्रन्थियाँ (Sebaceous Glands) की प्रणालियाँ खुलती हैं। जिनका स्नेह स्राव (Sebum) रोम कूप में होकर बाहिर त्वचा पर आ जाता और इसे स्निग्ध रखता है। प्रत्येक रोम मूल का एक सूक्ष्म रक्त वाहिनी द्वारा पोषण होता है, यह ऊपर कहा ही जा चुका है।

<u>स्वेद ग्रन्थियां :- (Sweat Glands)-</u>

अंतस्त्वचा के अंदर के मेदोमय स्तर (Sub cutaneous Tissue) में रहती हैं। जिनकी प्रणालियां बाहिर बहिस्त्वचा पर खुलती हैं। ये बहिस्त्वचा को आर्द्र रखने का कार्य करती हैं।

<u>नख :- (Nails)-</u>

नख भी त्वचा की स्वच्छ स्तर Stratum ~~Ks~~ Lucidum जिसके सेल, Keratin या केराटीन से मिलते जुलते Eleidin नामक स्वच्छ पदार्थ से बने हुये हैं यों कहें कि नख इसी स्वच्छ स्तर के मोटे हो जाने से बन गये हैं। नख भी नख भूमि (Nail matrix) में से जो जैविक स्तर ही है, उत्पन्न होते हैं।

ऊपर कहा गया है कि त्वचा का वर्ण, बीजक स्तर (Germinal Layer) के अंदर विद्यमान वर्णजनक सेलों (Melanocytes या Melanoblasts) में बनने वाले Melanin नामक द्रव्य के ऊपर निर्भर रहता है। यह सूर्य की Ultra Violet किरणों के दुष्प्रभाव से हमारे शरीर को बचाने का काम करता है।

<u>त्वचा का कार्य :-</u>

त्वचा की बाह्य शुष्क स्तर बाह्य विघ्नों से शरीर को बचाने का कार्य

करती है।

२.. त्वचा में बहुत अधिक रक्त वाहिनियां रहती हैं जिनमें लगभग एक सेर रक्त हर समय रहता है। जो बाहिर से प्रविष्ट विषैले द्रव्यों को नष्ट करने का तथा जब जब अन्य किसी अंग को अधिक रक्त की आवश्यकता होती है तब तब उन्हें रक्त प्रदान करने का कार्य करता है। स्वेद के द्वारा शरीरस्थ विष द्रव्य शरीर से बाहिर हो जाते हैं। पारा सोमल आदि अनेक विष द्रव्य स्वेद द्वारा शरीर से निकलते हैं। साधारणत: प्रतिदिन १ सेर के लगभग स्वेद त्वचा में से निकलता है। श्रम करने पर यह कई सेर तक निकलता है। जब जब शरीर में अग्नि की या पचन की (Metabolism) बढ़ता है, स्वेद की मात्रा भी बढ़ जाती है। Sympathetic नाड़ी मंडल की Cholinergic Fibres स्वेद ग्रन्थियों में आती हैं। इनकी उत्तेजना से स्वेद में वृद्धि हो जाती है।

जब बाहिर शीत अधिक होता है तब त्वचा की रक्तवाहिनियां संकुचित हो जाती हैं। जिससे शरीर की उष्मा नष्ट हो जाने से बच जाती है। जब शरीर के अन्दर उष्मा की वृद्धि हो जाती है तब त्वचा की रक्त वाहिनियां शिथिल हो जाती हैं जिससे शरीर में से उष्मा के विनाश की मात्रा बढ़ जाती है एवं शरीर उससे होने वाली हानियों से बच जाता है।

पामा :- Eczema:

शरीर के कुछ प्रदेशों की जैसे पैरों शाखाओं के निम्न भाग, ग्रीवा के पिछले पृष्ठ आदि की त्वचा के बहिस्तर (Epidermis) के सेलों में या उनके नीचे की रक्त वाहिनियों में जब बाह्य विक्षोभक द्रव्यों को सहन करने की स्वाभाविक शक्ति कम हो जाती है तब उन में एक त्वक् शोथ (Dermatitis) की प्रतिक्रिया होती है जिसे पामा (Eczema) कहते हैं। साधारण त्वचा रासायनिक विक्षोभक द्रव्यों जैसे साबुन, क्षार, गंधक आदि या कठोर ऊनी वस्त्र, धूप आदि से विक्षुब्ध नहीं होती। परंतु इस रोग में ये द्रव्य त्वचा के लिये विक्षोभक हो जाते हैं। बहुत संभवत: अजीर्ण या मल बंध आदि के कारण उत्पन्न हुआ कोई विष द्रव्य पहले त्वचा में पहुंचता है। जिसे हम (Allergen कह सकते हैं। इसके कारण त्वचा के सेल पहले ही विक्षुब्ध होते हैं। ऐसी अवस्था में सामान्य बाह्य विक्षोभक द्रव्य का संपर्क होने पर उनमें शोथ होकर यह रोग प्रकट हो जाता है। शरीर के किसी देश में विद्यमान पूय भाव (xxx Septic Focus) से भी यह विष त्वचा में पहुंच सकता है। क्रोध आदि तीव्र मानसिक आवेशों से त्वचा की नाड़ियों (Nerves) में उत्पन्न होने वाले Acetylcholine

नाशक द्रव्य के दुष्प्रभाव से भी त्वचा के सेल विमुक्त हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में साधारणतः से बाह्य विदाहक द्रव्य के द्वारा भी यह रोग प्रकट हो जाता है। बहुधा भोजन में उचित परिवर्तन करने और रेचक देने से इस रोग में लाभ हो जाता है जिससे पता लगता है कि आंतों से ही बहुधा त्वचा में कोई विदाहक द्रव्य पहुंचता है और उसे विदाह शील करने का कारण होता है।

विकृति विज्ञान :-

इस विदाह शील प्रदेश के अंतस्त्वचा (Dermis) में विद्यमान रक्त वाहिनियाँ शिथिल होकर फैल जाती हैं जिससे उनमें से रक्त द्रव का परिस्रवण अधिक मात्रा में होने लगता है। इस बढ़े हुये रक्त द्रव के बहिस्त्वचा के माल्पीजियन सेलों के बीच बीच के प्रदेश तथा सेलों के अंदर अधिक भर जाने से बहिस्त्वचा फूल जाता तथा देखने में रक्त वर्ण हो जाता है अर्थात् उस प्रदेश में रक्त संचय (Congestion) और शोथ (Oedema) के लक्षण होते हैं। दूसरे शब्दों में वहाँ की त्वचा कुछ रक्त वर्ण एवं उभरी हुई दीखती है। पामा की इस प्रथम रक्त वर्ण की अवस्था को (Erythematous Stage) कहते हैं।

बहिस्त्वचा की श्लैष्मिक स्तर या माल्पीजियन स्तर में द्रव के अधिक भर जाने से सेल एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। अर्थात् उनके परस्पर जोड़ने वाले सूत्र टूट जाते हैं। कुछ द्रव के भर जाने से भी द्रव रूप (Lequefied) हो जाते हैं। इस द्रव के भर जाने से यह स्तर स्पंज की तरह हो जाती है। इसलिये इसे Spongiosis की प्रक्रिया कहते हैं। इस दुर्घटना से द्रव के वहाँ अधिक भर जाने पर उस प्रदेश पर छोटी छोटी पिड़िकायें दीखने लगती हैं जिनकी छत केवल बाह्य स्तर (Horny Layer) से बनी होती है। इसे इस रोग की (पिड़िकावस्था (Vesicular Stage) कहते हैं।

बहिस्त्वचा के इस द्रव के क्षुब्धकारक अर्थात् विदाहक होने से शीघ्र ही इन पिड़िकाओं की छत छिल जाती है जिससे फिर उस पृष्ठ पर से यह द्रव अतिमात्रा में बहने लगता है। इसलिये इस अवस्था को स्रावी पामा (Weeping Eczema.) कहते हैं।

फिर यह स्रावमात्रा में कम हो जाता है तथा निकल कर वहीं पृष्ठ पर सूख कर हल्के पीले से रंग के छिलकों के रूप में जमने लगता है। जब तक बहिस्त्वचा में उत्पन्न शोथ शांत नहीं होता तब तक ये छिलके वहीं बनते रहते हैं। क्योंकि, वहाँ शोथ के रहने से माल्पीजियन सेलों का प्रोटोप्लाज्म केराटीन या केराटीन में जैसे साधारणतः परिवर्तित हो जाना चाहिये, वैसा परिवर्तित नहीं होता। इन सेलों के न्यूक्लियाई भी बने रहते हैं। अर्थात् बहिस्त्वचा (Horny Layer)

[illegible]

विकृति विज्ञान :-

[illegible] (Dermis) [illegible]

[illegible] (Congestion) [illegible] (Oedema) [illegible]

[illegible] (Erythematous Stage) [illegible]

[illegible] (Lequefied) [illegible]

[illegible] Spongiosis [illegible]

[illegible] (Horny Layer) [illegible]

[illegible] (Vesicular Stage) [illegible]

[illegible] (Weeping Eczema) [illegible]

[illegible] (Horny La... [illegible]

के सेलों में Keratosis की प्रक्रिया ठीक नहीं होती इसलिये इसे अनुचित केराटोसिस (Para Keratosis) की प्रक्रिया कहते हैं। इन अनुचित सेलों से बनी बहिस्त्वचा में बाहिर की गर्मी को तथा हवा को सहन करने की शक्ति नहीं होती। इस अवस्था को जिसमें बहिस्त्वचा के सेल गीले और अपूर्ण परिणत होने के कारण परस्पर एक दूसरे से चिपके रहते हैं एवं एक एक कर के फटने के स्थान पर चूर्णों या छिलकों के रूप में फड़ते हैं, Scaly या Squamous eczema कहते हैं। यदि रोग का कारण [illegible] शांत न हो खुजली बनी रहे तो खुजलाते रहने से बहिस्त्वचा की बाह्य शुष्क स्तर तथा मैलपिजियन स्तर (Prickle Cell की तह) के सेलों में अति वृद्धि हो जाने से वह अधिक स्थूल हो जाती है। साधारणतः इन सेलों में फिर वृद्धि (Mitosis) नहीं हुआ करती परंतु त्वक् शोथ की अवस्था में इनमें अति वृद्धि होती है। इसे Acanthosis की प्रक्रिया कहते हैं। इस अवस्था को जिसमें बहिस्त्वचा स्थूल, शुष्क, कुछ श्याम वर्ण, तथा फड़ने वाले छिलकों से युक्त होता है चिरस्थायी पामा Chronic Eczema कहते हैं। इस अवस्था में भी अन्तस्त्वचा (Dermis) में विद्यमान रक्त वाहिनियां शिथिल एवं अधिक फैली हुई होती हैं।

लक्षण :-(Eczema of the ~~Rka~~ Palms and soles)

अत्यधिक कंडु दाह या स्रावी पिडिकाओं से युक्त विषम आकृति के रक्त वर्ण, स्पर्श में किंचित कर्कश, चकत्तों को देखकर पामा रोग का संदेह करना चाहिये। चिरस्थायी रोग हो तो खुजली और छिलके के उतरने के लक्षणों से इस रोग का संदेह होता है। ये चकत्ते शरीर के बाह्य संघर्ष में आने वाले पृष्ठों, अग्रबाहुओं के बाह्य पृष्ठ, ग्रीवा के पश्चिम पृष्ठ, मुख आदि पर विशेषतः देखे जाते हैं। पर सर्व शरीर की त्वचा पर भी यह रोग होता है तब कुछ सारी त्वचा कुछ रक्त वर्ण, खरदरी, कंडु और दाह से युक्त होती है। खुजलाने से या गर्म जल द्वारा साबुन आदि बाह्य विक्षोभों से ये लक्षण और बढ़ जाते हैं। रोग पुराना हो तो चकत्ते पर खरदरापन और शुष्कता के लक्षण विशेष होते हैं।

करतल पामा :- (Eczema of the Palms and Soles)

बड़ी आयु के व्यक्तियों की करतल की त्वचा में भी यह रोग होता है। जिससे करतल का बाह्य शुष्क स्तर अधिक शुष्क हो जाता है। करतल की लकीरें अधिक स्पष्ट दीखती हैं। करतल में स्वेद भी नहीं आता तथा रोगी को करतल में कंडु विशेष रहती है।

शिशु पामा :-

एक दो वर्ष के शिशुओं के गाल, मस्तक या ठोढी पर पामा का रोग होकर वहां की त्वचा रक्त वर्ण, फटी हुई, खरदरा तथा कर्कश हो जाती है। बालक इसे खुजलाता भी है। इसके कारण शिशु रात को बेचैन सा

रहता है। बहुत संभवत: दूध खांड या घृत की अधिक मात्रा में अंदर जाने से इस रोग का कोई विष अंदर उत्पन्न होता है जो विक्षोभक साबुन, धूप, गर्म जल या ऊनी कपड़े की रगड़ से प्रकट हो जाता है।

चिकित्सा :-

आभ्यंतर चिकित्सा :-

आभ्यंतर विक्षोभक द्रव्य के निवारण के लिये दो दिन का लंघन करा लिया जाय या Saline का एक विरेचन दे दिया जाय या तीन दिन केवल उबले हुये चावल और कम नमक वाले किसी सब्जी के रसे पर या कम नमक वाले ठंडा दलिये पर ही रह लिया जाय तो रोग शांत होने लगता है। किसी अवस्था में भी भोजन में विद्यमान तीक्ष्ण द्रव्यों जैसे चाय, मद्य, गर्म मसाले, खटाई, गुड़, मिठाई, आदि का परहेज करना चाहिये। Saline के अतिरिक्त Vinum Antimony १० बूंद दिन में तीन बार देने से रोगी को अवश्य कुछ आराम प्रतीत होता है। रात को निद्रा के लिये १, १½ ग्रेन Phenobarbilone दे सकते हैं। Cortisone २५ मिलिग्राम की मात्रा में ६, ६ घंटे बाद दो तीन बार देने से भी तीव्र रोग का वेग दो तीन दिन में शांत होता है। फिर इस औषधि की मात्रा क्रमश: कम कर दी जाती है। चिरस्थायी रोग में इस औषधि का प्रभाव स्थायी नहीं होता। पुनर्वेगों को रोकने के लिये Autoha-emotherapy. ~~xxxxxxxx~~ अर्थात् अपना ही रक्त ५ सी.सी. मात्रा में मांस द्वारा प्रति सप्ताह दे दिया जाता है। Calcium(Calciostelin, ostocalcium) या Vitamin "B" complex-(Becorzym, Vibelan Plebex) से त्वचा की सहन शीलता बढ़ने पर भी यह रोग शांत हो जाता है।

बाह्य चिकित्सा :-

रगड़ के कारण त्वचा पर लालचकत्ता हो गया हो तो उस पर शीतल चूर्ण Dusting Powder जैसे Boric Acid १०, Salicylic Acid २ भाग, Talc Powder ८८ भाग मिलाकर बनाया पाउडर या और २, Zinc Oxide १६, Starch ८२, भाग मिलाकर बनाया पाउडर लगाना चाहिये।

चकत्ते में से कुछ स्राव भी होता हो तो शीतल द्रव लगाने चाहिये। जिनमें चिकनाई अधिक न हो। चिकनाई से मल का उड़ना बंद हो जाता है। इसके लिये Lead Lotion अर्थात् ~~xxxxx~~ उबाल कर ठंडे किये Distilled वाटर में सवा प्रतिशत Strong Solution of Lead Subacetate मिला कर बनाया जल लगाना चाहिये। या कैलामीन लोशन (Boric Acid ५, कैलामीन जिंक ऑक्साइड १५, १५ ग्लिसरीन, १० जल १५५ भाग मिलाकर बनाया लोशन) या Lead Calamine Lotion अर्थात् Lime Water १ औंस में Liquor Plumbi Subacetatis dil. -१ ड्राम, Prepared calamine १ ड्राम मिलाने

१ ड्राम मिलाकर बनाया ०७०७ लोशन या Calamine Liniment अर्थात् Lime Water १ औंस जैतून तैल १ औंस मिलाकर उसमें Lanolin ५ ग्रेन Acid Oleic ३ बूंद, Calamine २ ड्राम मिलाकर बनाया लेप या Zinc Cream अर्थात् Zinc Oxide १ ड्राम, Lanolin १ ड्राम, को Lime Water तथा जैतून के तैल १ औंस के मिश्रण में मिलाकर बनाई क्रीम या Zinc Paste अर्थात् Zinc Oxide २ ड्राम, Starch २ ड्राम, Lanolin २ ड्राम, Soft Paraffin १ औंस से मिलाकर बनाया लेप लगा सकते हैं।

जब पामा के चकत्ते में खुजली विशेष हो तो उसके हटाने के लिये उपर्युक्त लोशन, क्रीम तथा पेस्ट में Lizuor Carbonis Detergens १ औंस में ३० बूंद, (५,६ प्रतिशत) या Acid Carbolic या Menthol या Cl.Menth:Pip: या Chloretone १ प्रतिशत के हिसाब से मिला दिये जाते हैं। चिर स्थायी पामा रोग में चर्म इ चर्म मोटा हुआ होता है। उसमें हुये छिलकों की मात्रा अधिक होती है। इसलिये उस पर केवल शीतल लेप के लगाने से लाभ नहीं होता। उस पर कुछ गर्म और तीव्र लेप (Stimulant) तथा छिलके उतार उतारने वाले (Keratolytic) द्रव्यों की आवश्यकता होती है। इस प्रयोजन से Sulfur का २,३ प्रतिशत मात्रा में Salicylic Acid का ४,५ प्रतिशत मात्रा में Coal Tar Solution का ४,५ प्रतिशत मात्रा में Ammoniated Mercury का २,३ प्रतिशत मात्रा में विशेष प्रयोग होता है। उदाहरणत: Soft Paraffin ७ भाग में Zinc Oxide २४ भाग, Starch २४ भाग, Salicylic Acid २ भाग मिलाकर या उपर्युक्त Zinc Paste के १ औंस में १५,३० बूंद Liquor Carbonis Detergens. या Camphor या Menthol में से किसी को ५ ग्रेन की मात्रा में मिला कर लगा सकते हैं या Soft Paraffin १ औंस में Liquor Carbonis Detergens ३० बूंद, Ammoniated Mercury ८ ग्रेन Liquor Plumbi Subacetatis Fortis ३० बूंद मिलाकर लगा सकते हैं।

शिशु पामा के लिये शिशु को मांड देना बंद कर देना चाहिये। स्तन्य दूध के स्थान पर बकरी का दूध या ऊंटनी का दूध देना चाहिये ताकि उसमें स्नेह की मात्रा कम हो जाय। अजीर्ण अजीर्ण की चिकित्सा से यह रोग शांत होने लगता है। उपर्युक्त Zinc Paste के एक औंस में Liquor Carbonis Detergens. ५,१० बूंद मिला कर लगाने से लाभ होने लगता है। बालक को रात के समय निद्रा लाने के लिये Pot:Bromide या Elixir Benadryl ३०,४० बूंद दे देनी चाहिये। आयुर्वेद में पामा (Eczema) को पर्याय कहा गया प्रतीत होता है जैसे कि सुश्रुत ने कहा है कि 'स्राव कंडु और दाह से युक्त छुद्रा २

पिडिकायें हो जायें तो उसे पामा रोग समझना चाहिये।

॥ सु० । नि० ॥

देहाग्नि की मंदता या अति तीव्रता से अर्थात् कफ वृद्धि या पित्त वृद्धि से शरीर में जो विष उत्पन्न होते हैं अर्थात् कफ दोष या पित्त दोष की वृद्धि होती है, उसे जब वहिस्त्वचा सहन नहीं कर सकता अर्थात् उससे वह विक्षुब्ध हुआ होता है तब स्वल्प से बाह्य विक्षोभक पदार्थ से भी उस त्वचा में शोथ हो जाता है। इसे पामा कहा जाता है। स्पष्ट है, बहुधा शरीर में कफ की वृद्धि या पित्त की वृद्धि से यह रोग होता है। इसलिये रोगी को कफ पित्त वर्धक भावों से बचना चाहिये। पाचकाग्नि की मंदता को दूर करना चाहिये। तथा धूप, अग्नि आदि बाह्य अन्तर सभी तीव्र विक्षोभक भावों से बचना चाहिये। ॥ च० । चि० ७ । ~~चिकित्सा~~ ॥ 25/30

चिकित्सा :-

शरीर में कफ, पित्त दोषों की शांति के लिये रोगी को लघु सुपच आहार पर रख कर मंजिष्ठादिक्वाथ या उसमें उशावा गोरख मुंडी भी मिला के कुछ दिन पिलाना चाहिये। रोग की प्रथम अवस्था में शीत रूप लेप अधिक लाभ करते हैं। पंच वल्कल क्वाथ या नाजुकल के क्वाथ में भीगे वस्त्र के बांधने से शांति पड़ती है। या मुरदासंग, राजू, सिंदूर, सफेदा, काशगरी, समान समान मिलाकर इसे दुगने घृत से मिला कर लगायें या मुरदासंग, छोटी इलायची, शीतल चीनी, सफेदा काशगरी, समान समान मिला के ३, ४ गुणा घृत में मिला कर लगाने से लाभ होता है। शास्त्रोक्त जीरक तैल (जीरा, ४ तो० सिंदूर २ तोला, तैल ३२ तोला यथाविधि पाक करें) या जात्यादि तैल (जाती पत्र निम्बपत्र, मेंहदी पत्र, बबूल पत्र, करंज पत्र के रस एक एक भाग तैल, ८ भाग मोम १ भाग) के लगाने से भी शोथ शांत होता है। चिरस्थायी पामारोग में त्वचा की स्थायी कफ शोथ की शांति के लिये उसमें कुछ उग्र द्रव्यों का भी प्रयोग करना आवश्यक होता है। इसलिये ऐसे पुराने फिर्को वाली शुष्क पामा में सिंदूरादि लेप, (सिंदूर, दोनों जीरे, दोनों हल्दी, मनसिल, गंधक, मरिच, पारा, समान समान के चूर्ण को ४ गुणा घृत में मिला कर बनाया) लगाने से या मुर्दासंग, सिंदूर, गंधक, सुहागा या बोरिक एसिड एक एक भाग
कपूर २, गीली कातैल तथा मोम १०-१० भाग, केवल लेप के लगाने से, गंधक १ भाग)
बोरिक एसिड दो भाग, कपूर, फिटकरी प्रत्येक $\frac{1}{8}$ भाग मोम ४, तिल तैल ८ भाग, से बनाया लेप, लगाने से बहुधा लाभ हो जाता है।

शीत पित्त :-(Urticaria):-

त्वचा, गरमी, आघात तथा कीट पतंग आदि के दंश के लगने पर रक्त वर्ण हो जाया करती है परंतु यदि उतनी गरमी आघात आदि लगते ही रहें तो फिर त्वचा रक्त वर्ण नहीं होती। इसी प्रकार यदि किसी पदार्थ

के खाने से त्वचा पर रक्त की चकत्ते निकल आयें तो कुछ काल स्वल्प मात्रा में उस द्रव्य का प्रयोग करने से चकत्ते निकलने बंद हो जाते हैं। इसी प्रकार रोग जीवाणु के स्वल्प मात्रा में शरीर में प्रवेश करने पर पहले तो रोग होता है फिर उसी जीवाणु के प्रवेश करने पर भी रोग होना बंद हो जाता है अर्थात् सभी नये द्रव्य शरीर के लिये विष के समान होते एवं असात्म्य होते हैं। परंतु कुछ काल के प्रयोग के बाद ये ही ०० शरीर के लिये निरुपद्रव एवं सात्म्य हो जाते हैं। संभवतः शरीर ०० इनके विपरीत द्रव्य उत्पन्न करके इनको उदासीन कर देता है। इस प्रकार शरीर में जीवाणुओं के विपरीत Bacteriolysin दूसरे के रक्त के विपरीत Haemolysin, Cytolysin. तथा जीवाणुओं के विपरीत Anti Bodies उत्पन्न कर लेने का एक स्वाभाविक गुण है। जिससे वह सभी विपरीत एवं असात्म्य द्रव्यों के दुष्प्रभाव से अपने को बचा लेता है। इसे शरीर की स्वाभाविक रक्षक शक्ति Phylaxis या Energy कहते है।

परंतु कभी कभी इसके विपरीत यह भी पाया जाता है कि किसी किसी व्यक्ति में विपरीत द्रव्य के प्रथम बार शरीर में प्रवेश करने पर शरीर की उसको सहन करने की शक्ति और भी घट जाती है। अर्थात् उसके बाद शरीर उस विपरीत द्रव्य के लिये अधिक Sensitized या असमर्थ हो जाता है। वह विपरीत द्रव्य वहां Sens-itizing Antibodies उत्पन्न करने के कारण हो जाता है। इसलिये फिर दुबारा जब वह द्रव्य शरीर में प्रवेश करता है तो वह शरीर के असमर्थ (Sensitized) हुये सेलों के लिये विनाशक हो जाता है। इस प्रकार शरीर में Phylaxis के स्थान पर Anaphy-laxis. या शक्ति (Energy) के स्थान अशक्ति (Allergy) या (Hyper Sensitivity) उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार जब बहिश्चर्म के सेलों पर एक विपरीत द्रव्य का विनाशक प्रभाव होता है तो पामा रोग उत्पन्न होता है। जब अंतश्चर्म के अवयवों पर किसी विपरीत द्रव्य का विनाशक प्रभाव होता है तब शीत पित्त रोग होता है। अंतश्चर्म के अवयवों के इस विपरीत द्रव्य के द्वारा विनष्ट होने पर Histamine उत्पन्न होता है। जिसके विशिष्ट प्रभाव से उसकी सूक्ष्म रक्त वाहिनियां शिथिल होकर फैल जाती हैं तथा इन फैली हुई रक्त वाहिनियों में से रक्त का द्रव भाग अधिक मात्रा में परिस्रुत (Transude) होने लगता है। इसीलिये त्वचा पर उभरे हुये ऐसे चकत्ते निकल आते हैं जो किनारे पर रक्त की बीच में फीके रंग के होते हैं। द्रव के अधिक संचित हो जाने पर रक्त वाहिनियों के दब जाने से ये चकत्ते बीच में फीके पड़ते जाते हैं। यह विष द्रव्य (Allergen) जो अंतश्चर्म के अवयवों के लिये घातक होता है बहुधा आंतों में से आता है। यह अजीर्ण जनित कोई विष द्रव्य होता है जो त्वचा में विद्यमान Sensitizing Antibody के साथ प्रबल प्रतिक्रिया

[illegible] Bacteriolysin, [illegible] Haemolysin, Cytolysin. [illegible] Anti Bodies [illegible] Phylaxis [illegible] Energy [illegible]

[illegible] Sensitized [illegible] Sensitizing Antibodies [illegible] (Sensitized) [illegible] Phylaxis [illegible] Anaphylaxis. [illegible] (Energy) [illegible] (Allergy) [illegible] (Hyper Sensitivity) [illegible]

[illegible] Histamine [illegible] (Trauma) [illegible] (Allergen) [illegible] Sensitizing Antibody [illegible]

क्रिया करके वहां Histamine को उत्पन्न करता है। एवं इस रोग का कारण हो जाता है। शरीर के किसी प्रदेश में विद्यमान पूय जीवाणु या B.Coli: के रक्त में संचार कर जाने से भी शीत पित्त रोग हो सकता है।

बालकों में यह तीव्र रूप में होता तथा बड़ी आयु में यह चिरस्थायी रूप में होता है। इस रोग का कारण भूत, विष द्रव्य या तो बासी भोजन से या किसी आन्त्र कृमि से या पूय युक्त दांत तथा गले से या मूत्रगत B.Coli: से आता है या मानस विक्षोभ के कारण उत्पन्न Acetylcholine भी इसका कारण होता है। इस रोग में सहसा ही शरीर के किसी प्रदेश पर गोलाकार अंडाकृति या विषमाकृति के हल्के लाल से कुछ उभरे हुये चकत्ते निकल आते हैं जो बीच में फीके किनारों पर रक्त वर्ण होते हैं जिनमें खुजली विशेष होती है। निकलने के कुछ घंटों में ही ये छिप जाते हैं।

उददं :- Giant Urticaria:

कभी कभी शरीर के किसी प्रदेश की अन्तस्त्वचा में परिस्रवण (Exudation) अत्यधिक हो जाता है जिससे बहिस्त्वचा के उठ जाने से त्वचा पर १, २ इंच व्यास का एक उभार कुछ घंटों के लिये प्रकट हो जाता है। कभी कभी चेहरे, कण्ठ, ओष्ठ या जिह्वा की श्लेष्म कला (Mucous Membrane) में भी ऐसा उभार हो जाता है जिसे उददं कहते हैं। वात प्रकृति के (Neurotic) नवयुवकों या नवयुवतियों में अजीर्ण से, शीत से, अथवा किसी प्रकार की चिन्ता करने से प्रकट होता है। शोथ युक्त त्वचा प्राय: साधारण रंग की होती है अथवा कुछ फीके रंग की या कुछ रक्त वर्ण की भी हो सकती है। स्पर्श में यह स्थान शीतल ही होता है। पर कुछ गर्म भी हो सकता है।

शीत पित्त चिकित्सा :-

जब यह रोग तीव्र रूप में होता है तब एक तीव्र विरेचक जैसे Caster Oil १ औंस या Calomel १ ग्रेन या Saline देने से और रोगी को केवल दूध पर एक दो दिन रखने से शरीर के अंदर उत्पन्न विष द्रव्य (Antigen) नष्ट हो जाता है।

परंतु जब यह रोग बार बार (Chronic रूप में) होता है तब इस रोग के कारण का निकालना आवश्यक हो जाता है। तब एक दो दिन अधिक मात्रा में जल लेना चाहिये तथा भोजन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। फिर पहले केवल दूध देना चाहिये। वह अनुकूल प्रतीत हो तो गेहूं का दलिया और इस भोजन में मिला देना चाहिये। इस प्रकार दो दो दिन के अंतर से दूसरे भोजन मिला कर देखना चाहिये कि कौन से भोजन का अजीर्ण इसमें शीत पित्त को उत्पन्न करता है। सादे भोजन से प्राय: यह रोग शांत हो जाता है। लवण का प्रयोग कम कर देने से भी इसमें लाभ होता है।

शीत पित्त तीव्र रूप में हो तो इसे दबाने के लिये कोई Antihistamine औषधि जैसे Anthisan (M.B.) ·१ ग्राम या १$\frac{१}{२}$ ग्रेन २, ३ बार Phenergan (MB) २५ मिलिग्राम या $\frac{२}{५}$ ग्रेन की मात्रा में एक बार सोते समय Benadryl २५, ३० मिलिग्राम की मात्रा में दिन में दो, तीन बार Antistin ·१ ग्राम या १$\frac{१}{२}$ ग्रेन दो तीन बार दी जा सकती है। बालक को इससे आधी मात्रा पर्याप्त होती है। Antihistamine तथा कैल्शियम दोनों (Sandosten) को शिरा द्वारा भी दिया जा सकता है। १००० में १ Adrenaline की ५, १० बूंद त्वचा द्वारा देने या Ephedrine Hydrochloride $\frac{१}{२}$ ग्रेन के मुख द्वारा देने से या Malaria का Antigen हो तो क्वीनीन आदि मलेरिया नाशक औषधि के देने से वेग तुरंत शांत हो जाता है। जिसमें रक्त भार अधिक हो उन्हें एड्रीनेलीन नहीं देना चाहिये। Cortsone - तथा Corticotrophin Cortyye, Hydrocortistale) भी इस रोग में तुरंत लाभ दिखाते हैं।

चिर स्थायी रोग में भोजन बिल्कुल सादा लेने से जल के अधिक मात्रा में पीने से अर्थात् मूत्र की मात्रा बढ़ा देने से Autohaemotherapy या Milk-Injection से Calcium Lactate के १५, २० ग्रेन मात्रा में २, ३ बार लेने या Calcium Gluconate १० प्रतिशतक के मांस या शिरा द्वारा कुछ दिन लेने से लाभ हो जाता है।

खुजली की शान्ति के लिये Lead Lotion या Calamine Lotion में २ प्रतिशतक Phenol या १० प्रतिशतक Liquor Carbonis Detergens या २० औंस गर्म जल में १ ड्राम सोडा डालकर लगाना चाहिये।

आयुर्वेदानुसार शीत पित्त रोग :-

आयुर्वेद में इसे वात कफ जनित अन्तस्त्वचा शोथ कहते हैं। अंतस्त्वचा में विद्यमान रक्त वाहिनियों में कफ एवं वात के प्रकुपित होने अर्थात् उनमें अजीर्ण के कारण आम दोष की उपस्थिति तथा शीत आदि के कारण उनकी प्राण शक्ति के न्यून हो जाने के कारण उनके शिथिल हो जाने या फैल जाने से शीत पित्त रोग की उत्पत्ति होती है। क्योंकि इसमें त्वचा पर रक्त की बरटीदष्ट स्थान के तुल्य चकत्ते निकलते हैं तथा कभी कभी इसके साथ कुछ ज्वर भी होता है। इसलिये इस रोग को शीत के कारण होने वाला पित्त रोग या शीत पित्त रोग कहा है। परंतु साथ ही कहा है कि "वाताधिकं शीत पित्तम्" अर्थात् त्वचा की रक्त वाहिनियों में वातिक दुर्बलता के कारण प्रधानतः यह रोग होता है। बाह्य शीत इस वातिक दुर्बलता का तात्कालिक कारण हो जाता है। साथ ही आयुर्वेद में कहा है। कि उदर्द श्लेष्माधिक: अर्थात् जब अंतस्त्वचा की रक्त वाहिनियों में आम दोष की उपस्थिति विशेष होती है तब परिस्रवण (Transudation) विशेष होता है जिससे एक बड़ा उभार उत्पन्न हो जाता है।

इसीलिये इस रोग में कफ दोष की शांति के लिये रोगी को नीम के जल में लवण मिला कर उसका एक आधा गिलास पिला कर वमन करा देने से लाभ हो जाता है। विरेचन कराने अर्थात् त्रिफला या त्रिवृत या हरीत की छाल या ६ माशा हरीत की चूर्ण पिला देने से भी यह रोग शांत हो जाता है। पाचक दीपन औषधि अर्थात् अजवायन २ माशा को बराबर गुड़ के साथ मिला कर एक दो बार दे देने से भी यह रोग शांत हो जाता है।

यह रोग बार बार होता हो तो रोगी को केवल दूध और पीपल के चूर्ण पर कुछ दिन रखना चाहिये। या बहुत सादे भोजन पर जैसे मूंग की खिचड़ी या उबले दलिये आदि पर रखते हुये तिक्त घृत का या २ तोले मंजिष्ठादि क्वाथ का या नीम, कुटकी, गिलोय, हरड़, सोंठ, पुनर्नवा समान समान मिले क्वाथ का २ तोला की मात्रा में दिन में एक बार सेवन करना चाहिये।

सरसों के तेल में अपामार्ग क्षार, यवक्षार या कोई क्षार मिलाकर मलने से कंडू शांत हो जाती है।

मंडल :-

लक्षण :-

बालकों व नवयुवकों में पाये जाने वाला यह एक सुलभ रोग है जिसमें बहिःस्थ (Extensor) संधियों में आने वाली त्वचा पर जैसे कोहनी, जानु शाखाओं के बाह्य पृष्ठों तथा बाहु और पीठ पर, उठा हुआ स्पष्ट किनारे वाला, छोटा सा (Papule) पिन के नोक जितना या मूंग के दाने जितना, रक्त वर्ण, शुष्क सा कोठ निकलता है जिस पर श्वेत सी छिलका चिपका हुआ रहता है। यह गोलाकृति होता है/ इसलिये इसे मंडल कहते हैं। यह क्रमशः आकार में बढ़ा होकर आधा या एक इंच व्यास का हो जाता है। ऐसे अनेक मंडल समीप समीप निकल कर एक दूसरे से मिल जाते हैं। इस प्रकार शरीर के एक देश या सारे शरीर पर यह रोग हो सकता है। ये मंडल शरीर के दोनों ओर आमने, सामने निकला करते हैं तथा प्रारंभ से ही उठे हुये तथा एक श्वेत सी परत से ढके हुये होते हैं। कभी कभी ये बीच में ठीक होने लगते हैं तो ये मंडल मुद्रिकाकृति (Gyrate, Ring) दीखने लगते हैं। इस रोग में कंडू दाह, ताप, आदि कोई कष्ट नहीं होता पर यह बड़ा चिर स्थायी रोग है तथा कुरूपता का कारण होता है। तो भी चेहरे तथा हाथों पर यह रोग प्रायः नहीं होता।

कारण तथा संप्राप्ति अर्थात् विकृति :-

इस रोग का कारण त्वचा में इस रोग की सहज पैतृक प्रवृत्ति का होना तथा उस पर किसी आभ्यंतर या बाह्य विक्षोभ का आ पड़ना ही लगता है। आभ्यंतर विक्षोभक कारणों में से Tonsillitis में से रक्त द्वारा उसके जीवाणु का संक्रमण कहा जाता है। अन्यथा इस रोग के कारण के विषय में

अभी तक कुछ पता नहीं चला।

इस रोग में अंतस्त्वचा (Papillae) में विद्यमान रक्त वाहिनियां शिथिल होकर फैल जाती हैं। अर्थात् इनमें शोथ (Oedema) होता है। रक्त वाहिनियों के बाहर Polymorphonuclear तथा Mononuclear नामक सेल अधिक संख्या में संचित होते हैं। अन्तस्त्वचा में इस प्रकार लैस्मिक शोथ (Oedema) के रहने से बहिस्त्वचा की श्लैष्मिक स्तर (Prickle Cells की तह) भी मोटी हो जाती है। अर्थात् इसमें अति वृद्धि (Acanthosis) की प्रक्रिया हो जाती है। इसलिये इस रोग से युक्त प्रदेश का बहिस्त्वचा स्थूल होता है। और निरोग स्थान का बहिस्त्वचा साधारण पतला ही रहता है। इस स्तर के सेलों में उचित परिवर्तन नहीं होता। अर्थात् इनमें न्युक्लियाई या गींगियां के बने रहने तथा इनमें आर्द्रता और स्निग्धता के बने रहने से इससे बाहिर के दानेदार तथा स्वच्छ स्तर (Granular तथा Lucid Layers) तो बनते ही नहीं। बाह्य स्तर या शुष्क स्तर के सेल भी ठीक ठीक नहीं बनते। अर्थात् इनमें जेलाटीन की जैसी उत्पत्ति होनी चाहिये, वह नहीं होती। जिससे बाहर की स्तर के सेल परस्पर एक दूसरे से चिपके रहते हैं। इसी से त्वचा पर छिलके छाये हुये दीखते हैं। दूसरे शब्दों में बहिस्त्वचा में Parakeratosis की विकृति होती है। इस बाह्य स्तर के सेल बाहर की गर्मी से सूखकर सुकड़ जाते हैं पर इनमें जो हवा बंद हुई होती है। उसके कारण ये छिलके श्वेत वर्ण दीखते हैं।

नख मेहल,

यह रोग त्वचा के साथ साथ नखों में भी हो सकता है तथा केवल नखों में ही हो सकता है। नख में यह रोग दो तीन रूपों में होता है। १. नख क्रमशः रूखा जैसे मोटे पीतवर्ण तथा भंगुर होते जाते हैं। २. अग्र नख अपने सिरों पर नख भूमि से पृथक होकर उठते जाते हैं। ३. अग्र इनमें छोटे छोटे अनेक गढ़े पड़ते जाते हैं। यह रोग एक दो या सभी नखों में हो सकता है। नख दद्रु एक दो नखों में होता है। इसके कारण नख कुछ श्याम वर्ण हुए खुरदरा, धुंधला और भंगुर सा हो जाता है। Proriasis दोनों हाथों के नखों में आमने सामने एक सा होता है। नख दद्रु में ऐसा नहीं होता।

चिकित्सा :-

बहुत कम चिकनाई वाले सादे भोजन पर रहने से इसमें लाभ होता प्रतीत होता है। Liquor Arsenicalis ३-१५ बूंद की मात्रा में दिन में दो बार कुछ काल देने से या Vitamin B_{12} 1000 माइक्रो ग्राम की मात्रा में सप्ताह में दो बार देने से, या ५ सी.सी. Milk Injection या Autohaemotheraphy को चार, पांच बार देने से इस रोग

[illegible]

[illegible] (Papillae) [illegible]

[illegible] (Oedema) [illegible]

[illegible] Polymorphonuclear [illegible] Mononuclear

[illegible]

[illegible] (Oedema) [illegible] (Prickle Cells

[illegible] (Acanthosis) [illegible]

[illegible]

[illegible] (Granular [illegible] Lucid Layers) [illegible]

[illegible] Parakeratosis [illegible]

[illegible]

[illegible] Psoriasis [illegible]

चिकित्सा :-

[illegible] Liquor Arsenicalis [illegible]

[illegible] Vitamin B_{12} 1000 [illegible]

[illegible] Milk Injection

[illegible] Autohaemotherapy [illegible]

में लाभ होता देखा जाता है। इस रोग की चिन्ता न करने से तथा प्रसन्न रहने से भी यह ठीक होने लगता है।

स्थानिक प्रयोग के लिये उपयोगी प्रलेप ये हैं। १.. Ammoniated Mercury Ointment:-Paraffin Ointment(BP) १ औंस में Ammoniated Mercury १० ग्रेन Liquor Picis Carb: १ ड्राम है। २.. Benzoinated Lard ६½ ड्राम, Ammoniated Mercury १० ग्रेन, Acid Salicylic २० ग्रेन, Liquor Picis Carbonis १ ड्राम। ३.. Chrysophanic Acid २० ग्रेन, Liquid Paraffin २ ड्राम, Lenolin ६ ड्राम, । यह कपड़े पर दाग लगा देती है।, ४.. Anthralin Ointment ¼ प्रतिशतक, ५.. xxxxx Sulphur and Salicylic Ointment प्रत्येक २ प्रतिशतक। ६.. Dithranol Ointme-nt ¼ या ½ प्रतिशतक Soft Paraffin में, (इससे आंख को बचाना चाहिये), उसके बाद भी Salicylic Ointment या किसी दूसरे उपर्युक्त प्रलेप का लेप लगाना चाहिये।

आयुर्वेद में मंडल कुष्ठ :-

त्वचा पर उठे हुये, श्वेत रक्त से छाये हुये, गाढ़े, चिकने, चिर स्थायी, एक दूसरे के साथ जुड़े हुये, कुछ कष्ट साध्य मंडलाकृति चकत्तों को चरक ने मंडल कुष्ठ कहा है तथा शरीर में विशेषत: कफ दोष या वात दोष की अधिकता से उत्पन्न होने वाला यह रोग कहा है। ।। चि ७।।१५।।

आयुर्वेद में रस माणिक्य १,२ रत्ती की मात्रा में घृत, मधु के साथ अथवा ताल के स्वर रस अर्थात् पलाश क्षार के मध्य में २४ या १२ घंटे तक पकाये हरताल का ½, १ रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार कुछ काल प्रयोग इस रोग के लिये लाभ दायक कहा गया है।

चर्म दल ।- Impetigo Contagiosa:-

बालकों के मुख पर सिर पर और कभी कभी शाखाओं पर समीप समीप छोटे छोटे मटर के दाने जितने विस्फोट (Pox) निकलते हैं जिनका द्रव एक दो दिन के अंदर अंदर ही जम कर (Coagulate) होकर) एक पीले से रंग के छिलके के रूप में परिणत हो जाता है। जिसे देखा जाता है कि वहां का चर्म दलित हो गया या गल गया है इसीलिये इस विस्फोट को चर्म दल कहा गया है। इस छिलके को रूई से हटायें तो नीचे से और द्रव Serum निकलने लगता है और शीघ्र ही फिर वहां छिलका (Crust) बन जाता है। निकलने वाले द्रव का जमकर छिलका सा बन जाना इस रोग का विशेष लक्षण xxxxx है। एक विस्फोट होने पर समीप समीप अनेक विस्फोट निकलते जाते हैं। इसलिये इसे Contagiosa कहा जाता है।

जब बच्चियों में स्वच्छता xxxxx अथवा लगकर ... हो जाता है

सब कान, नाक, आदि के स्राव में विद्यमान Staphylococcus Pyogenes Aureus. या कभी कभी Streptococcus Pyogenes के बाह्य शुष्क स्तर (Horny Layer) और दानेदार स्तर Stratum Granulosum के बीच में प्रवेश कर जाने से यह छाला सा विस्फोट उत्पन्न होता है। फिर विस्फोट के समीप थोड़ा सा घात होने पर जीवाणु संक्रमण होकर वहां भी विस्फोट बन जाता है। इन विस्फोटों के समीप की त्वचा में लालिमा, शोथ, दाह आदि कोई लक्षण नहीं होते।

भेद :-

श्मश्रु पिडिका, श्मश्रु विस्फोट या Sycosis:- बड़ी आयु के व्यक्तियों के चेहरे पर चर्म दल का रोग होने पर इसमें विद्यमान Staphylococcus का संक्रमण दाढ़ी के बालों की जड़ों (Follicles) में होजाता है एवं दूर तक हो जाता है। इस लिये जब यह रोग युवक के मुख पर हो तो इसकी रोक थाम जल्दी करनी चाहिये। क्योंकि नाई के उस्तरे के द्वारा यह रोग दाढ़ी के बालों में फैलता है। इसलिये इसे Barber's rash भी कहते हैं। यह श्मश्रु पिडिका का रोग नाक और मुख के बीच के प्रदेश या ठोढ़ी पर आरंभ होकर सारे दाढ़ी के प्रदेश में फैल सकता है। इसमें Staphylococcus. प्रायः नासिका में से आता है। पहले तो कुछ एक बालों की जड़ों में पीले से छिलकों से ढके हुये विस्फोट दीखते हैं। फिर नाई के उस्तरे के द्वारा इस रोग का संक्रमण पास पास के बालों में भी होता जाता है।

चर्म दल Impetigo Contagiosa की चिकित्सा :-

विस्फोटों पर जमे हुये छिलकों को २ प्रतिशत Sodium Bi-Carbonate. लोशन से या Normal Saline से या गर्म Boric Lotion से हटाकर निम्नलिखित जीवाणु नाशक कोई लेप लगाना चाहिये। १.. Calamine Lotion या Calamine Liniment या Zinc Cream में Ammoniated Mercury. १,२ प्रतिशत मात्रा में मिलाकर लगाने से लाभ हो जाता है। २.. जल में Proflavine १००० में १ मिलाकर इसमें Tannic Acid ४ प्रतिशत मिला सकते हैं। ३.. Proflavine ½ ग्रेन, Zinc Oxide २० ग्रेन, Liquor Plumbi Subacet. Dil ड्राम, जल ७ ड्राम। ४.. जल में Gention Violet २ प्रतिशत। ५.. उबले हुये Distilled जल में Copper Sulph: तथा Zinc Sulphate ४, ५ प्रतिशत। ६.. Zinc Cream में ५ प्रतिशत Suophadiazine ४, ५ दिन ही लगावें। ७.. २ प्रतिशत Chlortetracycline Ointment या, Chloramphemicol Ointment कोई Antibiotic Cream । ८.. Vioform Cream । ९.. Penicillin १००० Unit प्रति सी.सी. जल में या प्रति ग्राम क्रीम में । १०.. Aureomycin ३ प्रतिशत लेप।

तब नाक, गाल, बगलें, आदि के ऊपर में स्थित Staphylococcus Pyogenes Aur-eus. अथवा भी Streptococcus Pyogenes के द्वारा शृंग स्तर (Horny Layer) तथा दानेदार स्तर Stratum Granulosum के बीच में पूयस्य का आते है यह इन्फेक्शन का विकार इम्पेटिगो कहलाता है। फिर विकार के फफोले फूटकर का रूप लेते हैं वह आगे चलकर पीले पपड़ी का रूप ले लेते हैं। ये विकार के फफोले की त्वचा में नाक, मुख, आस पास आदि अधिक होता।

सू :-

दाढ़ी की सूजन, दाढ़ी विकार या Sycosis:- यह रोग के मनुष्यों के चेहरे पर होता है, जहाँ पर बाल होते हैं, वहाँ पर Staphylococcus का संक्रमण त्वचा के बालों की जड़ों (Follicles) में होता है। ... Barber's rash भी कहते हैं। ... Staphylococcus. अतः ... है। ... Impetigo Contagiosa की चिकित्सा :-

चिकित्सा पर सब से पहले २ प्रतिशत Sodium Bi-Carbonate. का घोल या Normal Saline है या फिर Boric Lotion से ... धोना चाहिये। १. Calamine Lotion या Calamine Liniment या Zinc Cream में Ammoniated Mercury. ६.२ प्रतिशत ... २. जल में Proflavine १००० में १ ... Tannic Acid ४ प्रतिशत ... ३. Proflavine ½ भाग, Zinc Oxide ३ भाग, Liquor Plumbi Subacet. Dil ६ भाग, जल ७ भाग। ४. जल में Gention Violet २ प्रतिशत। ५. ... Distilled जल में Copper Sulph: तथा Zinc Sulphate, १ प्रतिशत। ६. Zinc Cream में ५ प्रतिशत Suophadiazine ४.५ ... ७. २ प्रतिशत Chlortetracycline Ointment या, Chloramphenicol Ointment और Antibiotic Cream । ८. Vioform Cream । ९. Penicillin ५०० unit प्रति ... । १०. Aureomycin ... ३ प्रतिशत ...

तथा स्नानु किफोट के लिये दाढ़ी को कैंची से ही बनाना चाहिये तथा उपर्युक्त औषधियों का ही प्रयोग करना चाहिये।

आयुर्वेद में चर्म दल रोग :-

आयुर्वेद में बहिस्त्वची के बहिस्तल भाग में कफ दोष तथा पित्त दोष के बढ़ जाने से अर्थात् पाचकाग्नि की न्यूनता के कारण कफदोष तथा धात्वाग्नि की तीव्रता के कारण उत्पन्न पित्त दोष की वृद्धि हो जाने से पूय जीवाणु का संक्रमण होकर जो उभरे से स्फोट होते हैं उन्हें चर्म दल कहा है। इस किफोट का चर्म शीघ्र ही गल जाता है या दलित हो जाता है। इसलिये इसे चर्म दल कहा जाता है। बालकों के मुख तथा सिर पर ये चर्म दल स्फोट विशेषत: होते हैं। च/चि/७/२४/३०

कफ तथा पित्त दोष की शांति के लिये इस रोग में मंजिष्ठादि १ तोला का क्वाथ प्रात: पीना चाहिये तथा निंब क्वाथ या त्रिफला क्वाथ से धोकर उन पर जात्यादि तैल,जात्यादि घृत,का या अन्य किसी व्रण नाशक तैल का लेप लगाना चाहिये।

मुखदूषिका पिडिका :- Acne Vulgaris:-

१५ से २०,२२ वर्ष की आयु के लड़के लड़कियों के चेहरे के लोम कूपों (Lenugohair follicles) के मुख पर पिन के नोक जितनी छोटी छोटी पिडिकायें दीख जाती हैं जिन्हें मुखदूषिका पिडिका कहते हैं। यों तो युवावस्था में साधारणत: ही लोम कूपों से स्नेह स्राव (Sebum) अधिक मात्रा में होता है अर्थात् उन्हें Seborrhoea की शिकायत रहती है बहुत संभवत: जो भोजन मात्रा में अधिक लेते ,व्यायाम कम करते हैं। विशेषत: जो खांड,मिठाई,अन्न,चिकनाई अधिक लेते हैं एवं जिनके मूत्र में अम्लीयता (Acidity) अधिक होती है। जिनके रक्त में खांड की मात्रा कुछ अधिक होती है। साधारणत: जिनके शरीर में पचन (Oxidation) की मात्रा कम होती है उनमें यह रोग होता है।

लोम कूप में से स्नेह स्राव के अधिक अधिक होते रहने से लोम कूप की दीवार के सेलों में अति वृद्धि (Hypertrophy) हो जाती है। लोम कूप बहिस्त्वचा के अंदर धंस जाने से बना होता है। इसके सेलों में अति वृद्धि होने से उनमें उचित परिवर्तन जो होना चाहिये नहीं हो पाता। दूसरे शब्दों में उनमें Parakeratosis या केराटीन की निर्माण संबंधी विकृति रहती है। लोम कूप के मुख,शुष्क स्तर Horny Layer के विकृत सेलों के बहुत अधिक मात्रा में जमा हो जाने से बंद हो जाते हैं जिससे लोम कूप में स्नेह द्रव (Sebum) अधिक मात्रा में जमा हो जाता है। इस प्रकार लोम कूप के मुख पर एक दाना सा (Comedo)

बन जाता है। इसके अंदर भरा हुआ स्नेह द्रव कीकि एक विलोमक या फोरेटिन मेटर होता है इसके कारण लोम कूप में शोथ या सूजन हो जाती है जिससे लोम कूप में एक कोठ (Papule) बन जाता है। इसी को युवान पिड़िका कहते हैं। इसके अंदर Acne Bacillus भी पर्याप्त संख्या में रहते हैं। कभी कभी इसी जीवाणु के समान Staphylococcus Albus का भी इसके मुख में संक्रमण हो जाता है जिससे इस पिड़िका में पूय भाव (Suppuration) भी हो जाता है। तो भी ये जीवाणु इस रोग के कारण प्रतीत नहीं होते। कारण तो स्नेह स्राव (Sebum) के अंदर किसी विकृति का होना या Seborr-hoea. प्रतीत होता है। रोगी के हाथों के द्वारा इस युवान पिड़िका के खुल जाने पर वह स्थान स्नायु तंतु (Scar:Tissue) के द्वारा पूरा कर दिया जाता है। जिससे वहाँ एक गड्ढे का सा निशान पड़ जाता है पर इसके बहिस्थी भाग में होने से यह निशान कुछ काल बाद मिट जाता है।

साधारणत: ये पिड़िकायें चेहरे पर नाक के पास गाल पर, ठोडी पर ठो नाक पर, मस्तक पर हुआ करती हैं। कभी कभी छाती तथा पीठ पर भी निकल आती हैं। देखों में रोगी का चेहरा अधिक चिकना, इसके चेहरे की बहिस्थी अधिक मोटी, रंग में कुछ भद्दी होती है। चेहरे पर देखों से अनेक लोम कूपों के मुख बाहिर की ओर उभरे दीखते हैं। इसके चेहरे पर स्वेद भी अधिक होता है।

युवान पिड़िका की चिकित्सा :-

Seborrhoea या स्नेह स्राव की अधिकता को रोकने के लिये रोगी के भोजन में खांड, अन्न, मिठाई, की मात्रा कम करनी चाहिये। प्रोटीन, की मात्रा बढ़ानी चाहिये। खुली हवा में व्यायाम करने का आदेश देना चाहिये। अजीर्ण तथा कब्ज को दूर करना चाहिये। रोगी यदि जल में निम्बू का सेवन करे या किसी क्षार औषधि का सेवन करे या लोह का सेवन करे तो भी लाभ होता है। Tetracycline (Achromycin) के २५ मिलिग्राम की मात्रा में प्रतिदिन या प्रति दूसरे दिन कुछ सप्ताह देने से भी इस रोग में लाभ होता है। विटामिन ए, तथा डी, का १,२ मास प्रयोग करने से इस रोग में लाभ होता है।

मुख पर से Seborrhoea को कम करने के लिये मुख को गर्म जल तथा साबुन से दिन में दो बार मल को धोना चाहिये। रात को सोने के बाद कोई ऐसा लेप जो लोम कूपों के मुखों पर चिपचाप चिपुत सेलों का छेदन करे (Keratolytic) तथा लोम कूपों के लिये (Antiseptic) हो मल का लगाना चाहिये। जैसे १.. Zinc Sulphate १ ड्राम, Sulphurated Potash. १ ड्राम, Aqua Rosae ३० ड्राम, २.. या Annelotion:-Sulphur Precipitated १ ड्राम, Zinc Sulphate १

ड्राम, Oxide Zinc १½ ड्राम, Sodium Borate १½ ड्राम, Acetone १ औंस, Camphor Water तथा Rose Water ४,४ औंस, मुख पर मल कर लगाये तथा इसके चूर्ण को रात भर मुख पर रहने देना चाहिये। अथवा Calamine ३० ग्रेन, Sulphur ३० ग्रेन, Zinc Ox: ३० ग्रेन, ग्लिसरीन ३० बूंद, Soft Paraffine १ औंस मिला कर मुख पर मलना चाहिये।

आयुर्वेद में युवान पिडिका :-

आयुर्वेद के अनुसार चेहरे के रोम कूपों में विशेषतः कफ दोष या वात दोष की वृद्धि हो जाने, अर्थात् इनमें विद्यमान स्नेह द्रव के कफ दोष से दूषित हो जाने तथा रोम कूपों की प्राण शक्ति या प्रति रोधात्म शक्ति के गिर जाने अर्थात् इनकी वायु के दूषित हो जाने से इनमें पिडिकायें निकल आती हैं। विशेषतः युवावस्था में इस रोग के होने से इसे युवान पिडिका कहा गया है। ॥ सु० । नि० १३ ॥ 34

चिकित्सा :-

कफ दोष की शांति के लिये रोगी को एक गिलास गर्म नीम जल में कुछ लवण मिला कर पीकर वमन ले लेनी चाहिये। कफ वर्धक आहार की मात्रा कम कर देनी चाहिये। नीम के क्वाथ का या मंजिष्ठादि का सेवन कुछ दिन करना चाहिये। इनके सेवन काल में थोड़ा घृत भी लेते रहना चाहिये। मुख को प्रातः सांय नीम के जल से तथा साबुन से भली प्रकार मल कर धोना चाहिये। तथा रात को धोने के बाद उस पर लोध्र, धनिया, वचा का या जाती फल और श्वेत चन्दन का या धनिया, लोध्र, वचा, कुष्ठ का, या सेमल के कांटों को १½ तोला की मात्रा में पीस दूध में रगड़ कर उसका लेप १,२ सप्ताह तक लगाना चाहिये।

कक्षा विस्फोट :- Herpes Zoster

युवान आयु तथा बड़ी आयु के व्यक्तियों में एक ओर की कक्षा की यज्ञोपवीत की दिशा में छोटे छोटे पिडिका समूह निकल आया करते हैं। कक्षा के नीचे होने से इन्हें कक्षा विस्फोट कहते हैं। इस रोग का कारण एक सूक्ष्म विष (Virus) है जो या तो Chicken Pox या Pox Virus ही है। या इससे बहुत कुछ मिलता जुलता विष है। बहुधा देखा जाता है कि कक्षा विस्फोट रोग के संपर्क में आये बालकों को संपर्क में आने के १४ दिन बाद विस्फोटिका रोग (Chicken Pox) हो जाता है। यह भी कभी कभी देखने में आता है। कि जब बालकों में विस्फोटिका फैल रहा हो तब इसकी विष के संक्रमण से बड़ी आयु के किसी व्यक्ति में कक्षा विस्फोट रोग हो जाता है। यह भी देखा गया है कि विस्फोटिका रोग में बचे हुये रोगी के रक्त का Serum

कच्चा विस्फोट रोगी के रक्त में विद्यमान Virus विष को Agglutinate कर देता है। जिससे दोनों की विष में एकता या अति सदृशता स्पष्ट हो जाती है। विस्फोटिका का सूक्ष्म विष विस्फोट के अंदर विद्यमान द्रव में होता है तथा यह विष आकार का १४५,२७ मिलि माईक्रोन्स व्यास का होता है। इसी तरह कच्चा विस्फोट का सूक्ष्म विष भी विस्फोटों के सेलों की भीतरी तथा प्रोटोप्लाज्म में होता है तथा उतना ही सूक्ष्म होता है।

इसलिये दोनों रोगों का एक ही Virus कारण प्रतीत होता है। बालकों में जब इसका संक्रमण होता है तब उनमें इसके विपरीत प्रतिरोधक शक्ति के न होने से यह विष उनके संपूर्ण रक्त में संचार कर जाता है। एवं विस्फोट सारे शरीर पर निकलते हैं। परंतु जब इसी विष का संक्रमण एक बड़ी आयु के व्यक्ति में होता है तब क्योंकि उसमें इसके विपरीत प्रतिरोधक शक्ति होती है। उसके रक्त में तो यह संचार कर नहीं पाता परंतु कभी कभी श्वास मार्ग या अन्न मार्ग की श्लेष्म दीवार में विद्यमान Sympathetic नाड़ी के द्वारा सुषुम्ना में पहुंच जाता है और वहां से किसी सौषुम्न नाड़ी विशेषतः किसी Thoracic या ऊपर की दो तीन Lumber Spinal Nerves में पहुंच कर उसके Posterior Root Ganglion में रोकथ कर जाता है। पहले पीठ पर किसी प्रकार की चोट लगने से जिस Posterior Spinal Root में विशेष चोट पहुंचती है या किसी पिछली बीमारी के सेक से जिस पर विशेष दुष्प्रभाव पड़ा होता है। उसी सौषुम्न नाड़ी के Ganglion में इस विष को रोकथ करने का अवसर मिल जाता है।

इस विष के कारण उसमें तीव्र शोथ हो जाता है और बाद में उसके सेलों में क्षीणता Degeneration या Necrosis या Sclerosis की प्रक्रिया हो जाती है। फिर इसमें से निकल कर ऊपर को जाने वाले अर्थात् Posterior Column में जाने वाले तथा नीचे की तरफ जाने वाले संज्ञा वाही नाड़ी सूत्रों (Peripheral Afferent Nerves) में भी क्षीणता की प्रक्रिया हो जाती है। ठीक जैसे बाल पक्षाघात (Poliomyelitis) में सौषुम्न नाड़ी (Spinal Nerve) के अग्रिम श्रृंग के सेलों में अर्थात् (Anterior Horn Cells में क्षीणता होकर उसके परिणाम रूप उनसे निकलने वाले चेष्टा वाही सूत्रों में क्षीणता हो जाती एवं उनसे संबंधित मांस पेशियों में घात (Paralysis) हो जाता है वैसे ही इस रोग में Posterior Root से संबंधित संज्ञावाही सूत्रों में क्षीणता के हो जाने से तत्संबंधित त्वचा में वेदना का बढ़ाव हो जाता है। इस रोग का विष भी उन्हीं संज्ञा वाही सूत्रों द्वारा त्वचा तक पहुंचता है। जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में त्वचा में शोथ हो जाता है। और फिर बहिस्त्वचा के कण्टकित स्तर (Prikle Cell Layer) के

सेल दूषित हो जाने तथा दूषित होकर अपने अंदर द्रव के भर जाने से फूल जाते हैं जिन्हें Balloon Cells कहते हैं। इन्हीं के कारण वहिस्त्वचा में बने हुये द्रव से भरे हुये छाले स्फोट (Vesicles) दीखते हैं।

लक्षण :-

पहले रोगी को कक्षा के नीचे की त्वचा में किसी नाड़ी (Inter Costal Nerve) की शाखाओं की दिशा में अर्थात् Anterior तथा Lateral cutoneous शाखाओं पर भारी दर्द प्रतीत होता है। दो तीन दिन की दर्द और हलके ज्वर के बाद वहां एक लाल रंग का चकत्ता निकल आता है जिस पर शीघ्र ही एक विस्फोटों का समूह प्रकट हो जाता है। जिन्हें देख कर इस रोग का निश्चय हो जाता है। देखने में ये स्फोट दो मिलीमीटर व्यास के छोटे छोटे बने हुये जल सदृश द्रव से भरे होते हैं। इनके निकलने पर रोगी की वेदना कुछ कम हो जाती है। एक सप्ताह तक इनके टूट जाने से ये एक हो जाते हैं और इन पर छिलके आ जाते हैं। विस्फोटि का रोग के समाप्त २ सप्ताह में ये भी सूख कर झड़ जाते हैं। परंतु बड़ी आयु के व्यक्तियों में इनके सूखने के बाद भी वेदना (Neuralgia) का कष्ट कई दिनों तक बना रहता है। यज्ञोपवीत के आकार में एक ओर की छाती एवं पीठ पर छोटे छोटे समूहों में होने वाले विस्फोटों को देखकर इस रोग का निश्चय हो जाता है। ये विस्फोट आगे या पीछे की ओर मध्य रेखा का उल्लंघन कभी नहीं करते।

मस्तक विस्फोट:- Ophthalmic Herpes, Supra Orbital Zoster:-

पंचम मस्तिष्क नाड़ी (Trigemenal) के Semilunar Ganglion में भी कभी कभी इस रोग के सूक्ष्म विष का संक्रमण हो जाता है जहां से इस नाड़ी की प्रथम नेत्र संबंधी शाखा (Ophthalmic) में इसका संक्रमण होकर Supra-orbital Nerve के क्षेत्र में त्वचा पर अर्थात् एक ओर की आंख के ऊपर से मस्तक से लेकर पीछे कपाल के प्रदेश तक विस्फोट समूह निकल आते हैं। यह रोग प्राय: मध्यआयु के बाद होता है तथा इसमें शूल विशेष होता है। विस्फोटों के सूख जाने के बाद भी बहुत समय तक शूल बना रहता है। यदि इसमें नाक की बगल में भी विस्फोट निकल आये तो पहले से ही Cornea पर विस्फोट निकलने की आशंका करनी चाहिये। जिससे नेत्र को हानि पहुंच सकती है। साधारणतया यह मस्तक विस्फोट का रोग डेढ मास में ठीक हो जाता है।

इसी प्रकार बाहुओं पर भी जो विस्फोट समूह एक रेखा में अर्थात् नाड़ी की दिशा में निकलते हैं वे भी Herpes ही होते हैं।

सामान्य विस्फोट :- Herpes Simplex:

न्यूमोनिया आदि ज्वरों के बाद कभी कभी मुख के छिद्र के आसपास या नासिका द्वार के समीप विस्फोट समूह निकलते हैं। इनका ना तो किसी

के साथ संबंध होता था हीड में वेदना का लक्षण होता है। इन्हें सामान्य विस्फोट कहते हैं।

कक्षा विस्फोट Herpes की चिकित्सा :-

Pituitrin ½, १ सी॰सी॰ के दो दिन तक प्रति दिन एक दो बार दे देने से वेदना तथा रोग की दीर्घता कम हो जाती है। Aureomycin अथवा Chloromycetin १, २ ग्राम दैनिक मात्रा में देने से भी लाभ होता है। Cortisone या Cortico Tropingel के ४०, ८० Units की मात्रा में मांस द्वारा देने से भी वेदना शांत होती है। Autohaemotherapy अर्थात् ५, १० सी॰सी॰ मात्रा में अपने रक्त के मांस द्वारा एक एक दिन छोड़ कर तीन बार देने से भी दर्द शांत हो जाता है। Vitamin B_{12} के १००० माइक्रो ग्राम की मात्रा में सप्ताह में तीन बार देने से भी इस रोग में लाभ होता देखा जाता है। विस्फोटों के हट जाने पर भी होने वाली दर्द के लिये Vitamin B_1 को ५० मिलिग्राम की मात्रा में शिरा द्वारा दे देना चाहिये।

विस्फोटों पर Zinc Oxide २० ग्रेन, Boric Acid २० ग्रेन स्टार्च, २०० ग्रेन मिला कर लगा कर बांधें या स्फोटों पर Zinc Oxide तथा Talc Powder मिलाकर लगायें। Calamine Lotion या Burrow's Solution २० में १ लगा सकते हैं। Tetracycline Ointment भी लगाई जाती है।

आयुर्वेद में कक्षा विस्फोट रोग :-

आयुर्वेदानुसार किसी स्रोतस्य नाड़ी के परिधि मूल में वात पित्त प्रकोप जनित शोथ के हो जाने तथा उससे संज्ञा वाहिनी द्वारा संबंधित त्वचा में निकले विस्फोटों को कक्षा विस्फोट कहा जाता है। सर्व शरीर में पित्त प्रकोप होकर विस्फोट हों तो उसे विस्फोट रोग या विस्फोट ज्वर कहते हैं। कक्षा वाहु कंधे मस्तक आदि के किसी एक देश पर हुये वात पित्त जनित विस्फोटों को जिनके कारण वहां की त्वचा कृष्ण वर्ण की हो जाती है तथा जिनके कारण उस प्रदेश में वेदना भी विशेष होती है, कक्षा विस्फोट कहा जाता है। ॥ सु० । नि० १३ ॥ ॥ मा० नि० में वात विस्फोट

इस रोग के लिये वात पित्त शामक कषाय जैसे द्विपंच मूलादि कषाय, (दशमूल, रास्ना, दारूहल्दी, उशीर, ६ भाग, धन्वियाँ, गिलोय, मोथा) पिलाना चाहिये तथा विस्फोटों पर दशांगलेप, (सिरीष, मुलहठी, चन्दन, इलायची, दोनों हल्दी, नेत्र बाला, कुष्ठ, जटामांसी, तगर), घृत के साथ या पंच वल्कल और दूर्वा स्वरस में सोधा हुआ घृत लगाना चाहिये।

कच्छू :- Scabies:

कच्छू रोग दूसरे रोगी के निकटतम संपर्क से अर्थात् छूत से होने वाला

रोग है जिसका कारण एक चर्मयूका (Acarus Scabiei) नाम का एक सुई के नक्के जितना कृमि है। मादा कृमि (Female Acarus) •३ मिलीमीटर लंबा अंडाकृति का चार टांगोंवाला होता है। नर कृमि इससे कुछ छोटा होता है। गर्भिणी मादा रोम कूपों में प्रवेश करके बहिस्त्वचा की बहिस्तर (Horny Layer) के नीचे नीचे चौथाई इंच के लगभग लंबी तिरछी सी गुफा बनाकर इसमें प्रतिदिन दो तीन अंडे देती रहती है और लगभग दो मास तक जीवित रहती है। इन अंडों से तीन चार दिन में kkxx Larvae निकल आते हैं जो त्वचा पर घूमते हुये निकट के रोम कूपों में प्रवेश कर जाते हैं तथा इनमें जो मादा कृमि होते हैं वे वहां अंडे देने लगते हैं। अंडे से पूर्ण कृमि बनने में १०,१२ दिन लगते हैं। रात को बिस्तरे में पड़े हुये रोगी की त्वचा जब गर्म होती है तब ये कृमि गुफाओं में से त्वचा पर घूमते हैं। इस समय संपर्क में आये हुये दूसरे व्यक्ति की त्वचा में गुफा बना लेते हैं। और इसमें धंस जाते हैं। त्वचा में प्रविष्ठ होने के एक मास बाद इनकी गुफाओं के चारों ओर रक्त की चकत्ते प्रकट होते हैं। जिनमें कोठ (Papules) प्रकट हो जाते हैं। गुफाओं में इन की पुरीषों (Itchmites) के मल के संचित हो जाने से वहां कोठ और फिर द्रव स्फोट (Vesicles) बन जाते हैं। जिनमें कंडु [illegible] का कष्ट रहता है। रात को बिस्तरे की गर्मी में कंडु विशेष होती है। खुजलाने से ये स्फोट पक कर पूय स्फोट (Pustules) बन जाते हैं।

शरीर के जिन प्रदेशों की त्वचा मृदु तथा पतली होती है और संघर्ष में अधिक नहीं आती, उसमें यह कृमि प्रवेश करता है। इसीलिये कलाई के अग्रिम पृष्ठ तथा आभ्यंतर पृष्ठ पर, अंगुलियों के बीच के आमने सामने के पृष्ठ पर, दोनों स्फिकों के बीच आमने सामने के पृष्ठों पर, दोनों ऊर्ध्व जंघाओं के बीच आमने सामने के पृष्ठों पर, शिश्न पर अंड कोष पर, यह कृमि विशेष तौर से अपनी गुफा बनाता है। इसलिये इन्हीं प्रदेशों पर इस रोग के कंडु युक्त स्फोट विशेष होते हैं। इन प्रदेशों पर कंडु युक्त स्फोट हों, एक घर में कईयों को यह रोग हो, स्फोटों में से स्राव न हो, पामा रोग होने का इतिवृत्त न हो, तो इसी रोग का निश्चय करना चाहिये।

कच्छू Scabies की चिकित्सा :-

गर्म जल, साबुन, तथा मोटे कपड़े की सहायता से रोग ग्रस्त प्रदेश को भलीप्रकार साफ करके पूंछकर गंधक प्रलेप (५% - १०%) का लेप करने और इस प्रकार फिर तीन दिन बिना स्नान के ही इस प्रलेप के रात को लगाते रहने से कच्छू कृमि या Acarus Scabéiei मर जाते हैं। १ औंस, इस गंधक प्रलेप में ६० ग्रेन Balsam of Peru मिलाकर लगाने से भी यही लाभ होता है।

Benzyl Benzoate को २५ ग्राम की मात्रा में २ ग्राम Emulsifying or- Lanette Wax और १०० सी•सी•जल में मिलाकर या इसके १ भाग को

१ भाग के Soft Soap और १ भाग Rectified Spirit में मिलाकर बनाये घोल को चौड़े ब्रुश के द्वारा लगाकर सूखने देना चाहिये और फिर कपड़ा पहन लेना चाहिये। तथा २४ घंटे बाद साबुन से स्नान कर लेना चाहिये। इसके लगाने पर थोड़ी देर के लिये जलन होती है जो शीघ्र हट जाती है। इस औषधि के एक दो लेपों से यह रोग निर्मूल हो जाता है।

<u>आयुर्वेद में कच्छू :-</u>

सुश्रुत ने स्फिक् प्रदेश तथा हाथ पांव की अंगुलियों के बीच की मृदु त्वचा पर होने वाले स्फोटों को कच्छू कहा है तथा इस पर कड़वे तेल में मिश्रित गंधक के लगाने का ही विधान किया है। ॥ सु० । नि० । ५ । [92]

रूसी तथा दारुणक Seborrhoeic Dermatitis तथा Pityriasis Capitis (Dandruff).

त्वचा में विद्यमान स्नेह ग्रन्थियां कपाल, भौंहों, नाक के समीप के प्रदेश छाती तथा पीठ के ऊपर के मध्य प्रदेश में अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। साधारणतया इनसे होने वाला स्नेह स्राव इतना स्वल्प होता है कि वह दृष्टिगोचर नहीं होता। परंतु कुछ एक शिशुओं के सिर में स्नेह स्राव की अधिकता से ~~उनका~~ सिर अधिक चिकना रहता है। युवावस्था में फिर स्नेह स्राव की अधिकता के कारण कुछ एक युवकों का चेहरा अधिक चिकना रहता है। सिर में स्नेह स्राव की अधिकता से केश कुछ चिकने और भीगे हुये से रहते हैं। मुख पर स्नेह स्राव की अधिकता से मुख की त्वचा खुरदरी तथा मैली सी दीखती है। ऐसा प्रतीत होता है जो शिशु अधिक दूध पीते हैं या जो युवक स्नेह द्रव्य का सेवन तो अधिक करते हैं पर व्यायाम सर्वथा नहीं करते, उनकी स्नेह ~~ग्रन्थियों~~ ग्रन्थियों से स्नेह स्राव अधिक होने लगता है। यह स्नेह स्राव सामान्य स्नेह स्राव से विभिन्न प्रकार का होता है क्योंकि सामान्य स्नेह स्राव त्वचा पर विदग्ध नहीं होता परंतु अस्वाभाविक होने वाला स्नेह स्राव विदग्ध हो जाता है। त्वचा पर पाये जाने वाले यीस्ट सदृश जीवाणु जिन्हें Pityrosporon कहते हैं इस दूषित हुये स्नेह स्राव में अति मात्रा में बढ़ने लगते हैं। रोम कूप, केश कूप, (Pilosebaceous Follicle) इन कीटाणुओं के बढ़ने पर एक श्लैष्मिक या (Catarrhal) प्रतिक्रिया होती है। जिसके परिणाम स्वरूप केश कूप सूज जाता है। कुछ एक केशों की जड़ के चारों ओर रक्त वर्ण सूक्ष्म कोठ (Papules) निकल आते हैं। एवं आठ या एक इंच व्यास के रक्त वर्ण चकत्ते सिर पर निकल आते हैं। जिनके फैलने वाले किनारे रक्त वर्ण होते हैं और जिनके केन्द्र प्रदेश पर पीले से रंग के छिलके चिपके रहते हैं। ये छिलके बहिस्त्वचा की ~~ऊपरी~~ बहिःस्तर के मृत हो जाने तथा इनमें होने वाले स्नेह स्राव के सूख जाने से बनते हैं। ~~शिशुओं~~ युवावस्था में कभी कभी

केश भूमि शोथ का यह रोग प्रबल रूप में होता है जिससे केश भूमि रक्त वर्ण हो जाती है। केश कूपों से स्नेह स्राव अधिक होता है। सिर पर छिलके भी अधिक बने होते हैं तथा सिर पर न्यूनाधिक खुजली भी रहती है। इस प्रबल रूप को पामा कुष्ठ स्रावः (Seborrhoeic Dermatitis) कहते हैं। सिर पर से केश भूमि शोथ कानों के पीछे के गढे में भी उतर आता है। जिससे वहाँ की त्वचा रक्त वर्ण तथा शुष्क छिलकों से युक्त दिखाई पड़ती है। दारुणक या Pityriasis Capitis का रोग केश भूमि शोथ का ही एक उपद्रव है। अर्थात् उपर्युक्त रोग के चिर स्थायी रूप में रहने पर शरीर की या सिर के बहिस्त्वचा की प्राण शक्ति क्षीण हो जाय तो Pityriasis Sporon तथा Staphylococcus Albus के संक्रमण का प्रतिकार ठीक ठीक नहीं होता। सिर के बहिस्त्वचा की प्राण शक्ति के न्यून हो जाने से बहिस्त्वचा में रूक्षता आ जाती है। सिर की बहिःस्तर शुष्क होकर झड़ने लगती है। परीक्षा करने पर पता लगता है कि बालों की जड़ों के पास पास शुष्क छिलके अधिक बने ~~[illegible]~~ होते हैं। अर्थात् यह केश भूमि शोथ केश कूपों के आसपास विशेष होता है (अर्थात् Perifollicular होता है) तथा केश कूपों में उपर्युक्त जीवाणुओं के संक्रमण का परिणाम होता है। ३० वर्ष की आयु में ही केश पतले पड़ते जाते हैं। ये कुछ रूखे और कांति हीन होने लगते हैं और अधिकाधिक मात्रा में गिरने लगते हैं। सिर की त्वचा में ~~[illegible]~~ न्यूनाधिक लालिमा तथा कंडु के लक्षण भी होते हैं। खालित्य रोग, इसी रोग का एक परिणाम है जो पहले चोटी के प्रदेश से आरंभ होता है। भोजन में Vitamin A. तथा (सी) की न्यूनता से भी सिर के बाल गिर सकते हैं।

[illegible] Seborrhoeic Dermatitis की चिकित्सा :-

सिर को Acid Salicylic १,२, प्रतिशत घोल से या साबुन के जल में थोड़ी स्पिरिट डाल कर उससे धोना चाहिये। Soft Paraffine १ औंस में ५ ग्रेन गंधक और २ बूंद Acid Carbolic मिला कर लगाना चाहिये अथवा नारियल तेल ६ ड्राम Soft Paraffine २ ड्राम में १५ ग्रेन Acid Salicylic तथा १५ ग्रेन गंधक मिला कर लगाना चाहिये अथवा Soft Paraffine १ औंस में Ammoniated Mercury २० ग्रेन Liquor Carbonis Deterg-ens./ १ ड्राम मिला कर लगायें तो भी लाभ होता है। दारुणक रोग (~~Bad~~ Dandruff) के लिये स्पिरिट १ औंस में एरंड तैल ५ बूंद, Mercury Perchloride $\frac{1}{2}$ ग्रेन Acid Salicylic २० ग्रेन, मिलाकर केश भूमि पर लगाना चाहिये और फिर सिर को अच्छी तरह धोकर ~~[illegible]~~ ऐसा नारियल का तेल जिसमें दो प्रतिशत Acid Salicylic -- तथा Sulphur मिलाया हो, लगाना चाहिये।

3

खंड लुप्त :- Baldness:

Baldness के लिये Liquor Epispasticus (जिसमें ½ प्र० श० Cantharadin होता है। १२० बूंद लेकर इसमें Oil of Rosemary २४० बूंद, Oil Amygdal (बादाम तैल) १½ औंस, Spirit Comphor २ औंस, Tincture Jaborand १ औंस, Oil Rosae ८ बूंद, मिला कर यह तैल लगाना चाहिये। अथवा Lactic Acid ६ ड्राम, Castor Oil ३ ड्राम, Methylated Spirit ६ औंस मिलाकर खालित्य युक्त प्रदेश पर लगाना चाहिये। Multivitamin Pills के द्वारा शरीर का पोषण ठीक होने से भी खालित्य को लाभ हो सकता है।

आयुर्वेद में शतारु: Seborrhoeic Dermatitis तथा दारुणक Pityriasis-Capitals:-

रोम कूपों तथा केश भूमि में कफ दोष की विशेष वृद्धि होने पर न केवल केश चिकने से रहते हैं पर केश भूमि में कृमियों (Pityriosporon) की वृद्धि होकर उनके विपरीत इसमें स्नैग्धिक प्रतिक्रिया होती है जिसके परिणाम रूप स्नैग्धिक केश भूमि शोथ हो जाता है। इसमें Staphylococci का संक्रमण हो जाने पर रोम कूपों तथा केश भूमि में पित्त धातु की भी प्रतिक्रिया होती है जिससे सिर में छोटे छोटे से अनेक [illegible] निकल आते हैं जिन्हें "शतारु" Seborrhoeic Dermatitis या Eczema कहते हैं।

२६ तथा ३०
।। का० चि० ७।।, ।। सु० नि० १३।।
30/31,22

दारुणक:-

केश भूमि में कफ प्रकोप जनित शोथ चिरस्थायी रूप में रहे तो कालांतर में केश भूमि की प्राण शक्ति के कम हो जाने से उसके रोम मृत होकर झड़ने लगते हैं जिसे दारुणक कहते हैं यह चिरस्थायी केश भूमि शोथ रोग का एक उपद्रव है। यह रोग देर तक रहे तो सिर के केश झड़ने लग जाते हैं। जिसे खंड लुप्त रोग कहा जाता है। सुश्रुत ने खंड लुप्त रोग को त्रिदोष जनित रोग कहा है। अर्थात् रोम कूपों में श्लेष्म प्रकोप जनित अति वृद्धि, पित्त प्रकोप जनित पाक तथा वात वृद्धि जनित रुक्षता की प्रक्रिया के हो जाने से रोम कूप बंद से हो जाते हैं जिससे नये रोम नहीं होते।

शतारु: की चिकित्सा :-

शतारु: रोग कफ दोष प्रधान रोग है। इसलिये इसमें खांड मिठाई आदि की मात्रा कम करके रोगी को शारीरिक व्यायाम करना चाहिये। सिर को लवण युक्त निम्ब जल से धोकर या सरसों की खली के जल से धोकर कुष्ठ चो को दुगुने घृत में मिलाकर सिर पर लगाना चाहिये। इसी प्रकार द्वि हरिद्रादि तैल, (दो हल्दी, नीम, त्रिफला, चंदन, चिरायता का तैल)

के लगाने से भी रोग शांत होता है।

दारुणक तथा इंद्रलुप्त के लिये, सिर को क्षारीय गर्म जल से भली प्रकार धोने तथा तीक्ष्ण गुण (Karatolytic) तेल के लगाने से जैसे करवीराद्य, या मालत्यादि तैल, (कैली पत्र रस, रक्त करवीर रस, चित्रक पत्र रस, अंध पत्र रस, समान समान तैल सबसे चार गुणा, जल तैल से ४ गुणा) स्नुही दुग्धादितैल, (स्नुही दुग्ध, अर्क दुग्ध, भांगरा, लांगली, वत्सनाभ, रत्ती, इंद्रवारुणी, सरसों, गोमूत्र, अजामूत्र, सरसों का तैल) के कुछ काल लगाने से बालों का गिरना बंद हो जाता है।

श्वित्र रोग :-

वहिस्त्वचा की अंतःस्तर में विद्यमान Melanoblast सेलों में त्वचा के रंग (Melanin) को बनाने की स्वाभाविक शक्ति कभी कभी नष्ट हो जाती है जिससे वहां वहां की त्वचा श्वेत वर्ण हो जाती है। यह रोग बाल्यावस्था या नव युवावस्था में ही प्रारंभ हो जाता है। सूर्य की Ultra Violet किरणों तथा गर्मी से Zxy Tyrosinase को सक्रिय किया जाय तो त्वचा में रंग बनने लगता है। इसके लिये बावची का तैल, जैतून के तैल में (७ में १) मिलाकर लगाया जाता है। इसी तैल की ७ बूंद प्रतिदिन बताशों में या दूध में डालकर मुख द्वारा कुछ काल तक देते रहने से रोग में आराम आने लगता है। आयुर्वेद में बावची का प्रयोग सोमराजी घृत, वाकुच्यादिवटी, (बावची, नीम बीज, त्रिफला समान समान की गोली) आदि के रूप में होता है।

आयुर्वेद में श्वेत दागों पर वाकुच्यादिवर्ति, (वाकुची ४, चित्र मूल २, हरड़, कासीस, हरिताल प्रत्येक १ भाग मिलाकर बनाई वर्ति), का जल में लगा लेप लगाया जाता है। बावची बीज, कुष्ठ, चित्र मूल, हरड़, मनशिल, विडंग, समान २ के कल्क से ४ गुणा तैल और ८ गुणा गोमूत्र में बना तैल भी लगाने से श्वेत दागों को कुछ काल बाद साफ कर देता है।

दद्रु मंडल :- Ring Worm, Tinea:

दद्रु की वह फुंई जो सिर की बालों वाली त्वचा में फैलती है Microsporon श्रेणी की होती है और बहुधा Microsproum-audouni. होती है। यह फुंई बालकों के सिरों दद्रु में पाई जाती है। दूसरी श्रेणी की फुंई Trichophyton बड़े व्यक्तियों के सिर, श्मश्रु, त्वचा, नख आदि में पाई जाती है। तीसरी श्रेणी की फुंई Epidermophyton बालों वाले प्रदेश में न होकर केवल त्वचा में पाई जाती है। दद्रु की यह फुंई छूत के द्वारा रोगी से दूसरे व्यक्तियों में संक्रमण कर जाती है तथा नमी और गर्मी की उपस्थिति में रोपण करती है। इसीलिये यह सिर में, जांघों के प्रदेश में या हाथ पैर की अंगुलियों के बीच २

के प्रदेश में अधिकतः संक्रमण करती हैं। ~~इसलिये यह सिर में, जांघों के प्रदेश में या हाथ पैर की अंगुलियों के बीच बीच के प्रदेश में अधिकतः संक्रमण करती है।~~ जब Trichophyton नामक फुई, ग्रस्त हुये केश के अंदर पाई जाय तो इसे Endothrix Trichophyton कहते हैं। जब यह ग्रस्त केश के अंदर बाहर दोनों स्थानों पर पाई जाय तो इसे Ectohrix Trichophyton --- कहते हैं।

शिरोदद्रु :-Tinea Tonsurans, Ring Worm of the Scalp:

बालकों में Microsporon Audouni के शिर के बहिस्त्वचा के बाह्य कठोर स्तर (Horny Layer) में तथा इसके केशों में फैल जाने से और इसकी विषा के विपरीत बहिस्त्वचा में प्रतिक्रिया के होने से उत्पन्न होता है। शिर की श्लैष्मिक स्तर (Prickle Cell Layer) में शोथ होने से बहिस्त्वचा का बहिस्तर शुष्क होकर छिलकों में परिवर्तित हो जाता है और बालों पर फुई लग जाने से वे पतले, कठोर एवं भंगुर होकर टूट जाते हैं जिससे सिर पर श्वेत छिलकों वाले तथा छोटे छोटे टूटे हुये बालों के ठुन्ठ वाले गोलाकार खंडयुक्त मंडल दिखाई पड़ते हैं जिन्हें शिरोदद्रु कहते हैं। शिरो दद्रु बालकों में फैलने वाला रोग है। अतः रोगी बालक से दूसरे बालकों को बचाना चाहिये।

वंक्षण दद्रु :-Tinea Cruris, Dhobie Itch:

जांघों के प्रदेश की त्वचा विशेषतः ऊर्ध्व जंघाओं के अंदर के पृष्ठों की त्वचा पर जो अंडकोष के संपर्क में रहती है Epidermophyton-Inguinale नामक फुई के संक्रमण से भूरे लाल से रंग के गोलाकार चकत्ते निकल आते हैं जिनके किनारे अधिक लाल, उभरे हुये होते तथा कोठों, द्रव स्फोटों, या पूय स्फोटों से युक्त होते हैं। इन मंडलाकृति चकत्तों में जो किनारों से बढ़ते जाते हैं कंडू प्रबल होती है। ये दद्रु सीवन प्रदेश पर, स्फिकों के बीच गुदा के समीप समीप, तथा अंडकोष पर भी हो जाते हैं। दोनों ओर वंक्षण प्रदेश में फैलकर ऊपर नाभि तक की त्वचा में फैल जाते हैं। इन मंडलों के किनारे स्पष्ट होते हैं जिससे इनकी पहचान सुगमता से हो जाती है।

त्वग्दद्रु, व वलयाकारदद्रु :- Tinea Circinata

कभी कभी छोटे छोटे मुद्राकृति दद्रु एक दो की संख्या में ग्रीवा के पश्चिम पृष्ठ, चेहरे या हाथ पांव पर निकल आते हैं। यह केन्द्र में अच्छा होता जाता है। अपितु इसके उठे हुये तथा उग्र कोठों या स्फोटों से युक्त किनारे फैलते जाते हैं। यह त्वग्दद्रु Trichophyton या Epidermophyton. या Microsporon. किसी फुई से हो सकता है।

श्मश्रु दद्रु :-Tinea Barbae Tinea Sycosis, Ring Worm of the Beard.

दाढ़ी के बालों में शुष्क छिलकों से आवृत हुआ कुण्डाकृति मंडल होता है जिसमें टूटे हुये बालों के ठूंठ होते हैं। इसे शुष्क श्मश्रु दद्रु कह सकते हैं। यह Endothrix Trichophyton के दि डलतों के द्वारा संक्रमण करने से होता है। दाढ़ी या श्मश्रुप्रदेश में पूय युक्त श्मश्रु दद्रु भी होता है। जिसमें दद्रु मंडल के किनारों पर पूय युक्त स्फोट होते हैं। यह दद्रु Ectohrix-Trichophyton के संक्रमण से होता है जो फूई की अधिकतः पशुओं में पाई जाती है।

नख दद्रु, कुनख रोग :-Tinea Unguium, Ring Worm of the nails.

Trichophyton या Epidermophyton जिसी फूई के नख भूमि में संक्रमण कर जाने और फिर उसके नख में फैल जाने से पहले तो नख भूमि मोटी हो जाती है फिर नख कुछ श्वेत, भूरे रंग का होकर भूमि से ऊपर उठ जाता है। देखने में नख छोटाकि से रंग का खुरदरा तथा भंगुर हो जाता है। इस प्रकार एक या अनेक नखों में यह रोग हो सकता है। यदि नख रोग अग्र भाग से प्रारंभ होकर पीछे की ओर बढ़ा हो तो इसे नख दद्रु ही समझना चाहिये।

दद्रु मंडल की चिकित्सा :-

शिरो दद्रु Tinea Capitis की चिकित्सा :-

दो दो सप्ताह बाद कैंची से बाल कटाते हुये सिर को गर्म जल साबुन से धोकर साफ रखना चाहिये। इस प्रकार प्रातः सांय दो बार धोने और सुखाने के बाद गंधक प्रलेप ५, १० प्रतिशत ताकत का सिर पर मल कर लगाना चाहिये। अथवा १ औंस Soft Paraffine में Acid Salicylic २० ग्रेन, Benzoic Acid ४० ग्रेन, मिला के मलना चाहिये। या Ammoniated Mercury का ५ प्रतिशत की ताकत का प्रलेप मलना चाहिये या मलहम के स्थान Iodine २ से ५ प्रतिशत सप्ताह में दो बार लगायें। या Sulphur १५ ग्रेन, Salicylic Acid १५ ग्रेन, Paraffin Soft २५ ड्राम मिला के लगायें। लगभग दो मास इनका प्रयोग करने से लाभ हो जाता है।

वंक्षण दद्रु Tinea Cruris या Inguinal Ring Work की चिकित्सा:-

स्नान करने के बाद जांघिये के प्रदेश को गीला नहीं रहने देना चाहिये। व्यायाम या धूप में चलने के बाद स्वेद आने पर भी इस स्वेद को भलि प्रकार पोंछ देना चाहिये तथा इस प्रदेश पर स्पर्श करने वाला वस्त्र कठोर न होकर मृदु होना चाहिये।

इन पर Acid Salicylic १ प्रतिशत गंधक 3 प्रतिशत

की ताकत से बना प्रलेप लगाना चाहिये। या Acid Salicylic ३ प्रतिशत, Acid Benzoic ५ प्रतिशत का Soft Paraffine में बना प्रलेप लगाते रहने से भी लाभ होता है। Dithranol का २ प्रतिशत मात्रा में Soft Paraffine में बना प्रलेप बहुत उपयोगी है पर कपड़े पर लगा इसका दाग मिटता नहीं।

हस्त पाद दद्रु :-

Acid Salicylic तथा Benzoie Acid दोनों की ३,४ प्रतिशत मात्रा में बना प्रलेप अथवा Acetone और Spirit प्रत्येक ४,४ ड्राम मिला उसमें Acid Salicylic तथा Acid Benzoic १,१ ड्राम मिला कर बनाया लेप दिन में दो बार लगाना चाहिये। Dithranol का ७ प्रतिशत ताकत का प्रलेप भी शीघ्र लाभदायक होता है।

श्मश्रु दद्रु Tinea Barbae या Tinea Sycosis की चिकित्सा :-

दाढ़ी के बालों में छाये छिलकों को साबुन तथा गर्म जल से अथवा स्टार्च पोल्टिस बांधकर साफ करना चाहिये। बालों को कैंची से काटकर छोटा कर देना चाहिये। इस पर Acid Salicylic तथा Benzoic Acid की ३,४ प्रतिशत ताकत का बना प्रलेप लाभदायक है अथवा Ammoniated-Mercury. का १ प्रतिशत ताकत का मलहम लगाना चाहिये।

नख दद्रु : Tinea Unguium की चिकित्सा :-

Acid Salicylic तथा Acid Benzoic दोनों के ६,६ प्रतिशत ताकत का प्रलेप नखों पर लगाकर ऊपर बांध देना चाहिये। ताकि प्रलेप का प्रभाव बना रहे अथवा इन दोनों का Acetone और Spirit में बना घोल दिन में दो बार लगाकर ऊपर Soft Paraffine लगा देना चाहिये अथवा Chy Chrysarobin का २,४ प्रतिशत ताकत का प्रलेप लगाकर बांध देना चाहिये। बहुधा नख को उतार कर नख भूमि पर ५,५ प्रतिशत Iodine लगाते रहने से इसका बीज नष्ट हो जाता है। तथा नया नख स्वस्थ रूप में निकल आता है।

आयुर्वेद में दद्रु :-

आयुर्वेदानुसार त्वचा में कफ दोष या पित्त दोष की वृद्धि हो तो वहां पर दद्रु के बीज या फुई को पोषण करने का अवसर मिल जाता है। इस फुई के विपरीत वृत्तियों में कफ धातु या पित्त धातु की प्रतिक्रिया होकर दद्रु मंडल बन जाता है।

सिर पर दद्रु मंडल व्यापक रूप में हो तो कपूर की बीजों में कुछ तुत्थ मिला सिरके में पीस कर सिर पर बांधना चाहिये। दद्रु मात्र पर लगाने के लिये कुछ उपयोगी योग ये हैं । १.. गंधक,सुहागा,एक एक तोला,

रस कपूर, ~~[illegible]~~ ३ माशा मिलाकर बनाया चूर्ण। २.. गंधक, सुहागा, कपूर, चन्दन, समान समान का चूर्ण। ३.. गंधक, सुहागा, तुत्थ का चूर्ण। ४.. सिंदुरादि प्रलेप (सिंदूर, दोनों जीरे, दोनों हरिद्रा, मनसिल, मरिच, गंधक, पारद) आदि किसी चूर्ण को सौ गुणा धोये हुये घृत में मिला कर लगाने से दद्रु नष्ट हो जाता है।

।। च० चि० ७।।, ।। सु० चि० ५।।,

किटिभ :- Chronic Lichen Planus:

संभवतः अजीर्ण जनित किन्हीं विष द्रव्यों (Intestinal Toxaemia) या किसी Virus के अंतस्त्वची की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में अधिक मात्रा आ जाने से वे शिथिल होकर फैल जाती हैं। जिससे कहीं कहीं पर अन्तस्त्वची में शोथ हो जाता है। क्योंकि देखा जाता है कि अंतस्त्वची के इस प्रदेश में Lymphocytes तथा Round Cells बहुत अधिक मात्रा में संचित हुये होते हैं। इस शोथ युक्त अंतस्त्वची (Irregular Acanthosis) के बाहर की श्लैष्मिक स्तर (Mucous Layer) तथा दानेदार स्तर (Granular-Layer) स्थान स्थान पर अधिक मोटी हो जाती हैं। व० इस प्रदेश की बहिस्तर (Horny Layer) भी मोटी हो जाती है अर्थात् इसमें जेलाटीन की मात्रा बढ़ जाती है। (Hyper Keratosis से युक्त होती है।) विष के दुष्प्रभाव से ही अंतस्त्वची का लचकीला अवयव (Elastic Tissue) नष्ट हो जाता है व कुछ कठोर हो जाता है। बहिस्त्वची के बहिस्तर के अंदर अतिवृद्धि हो जाने से अग्रबाहु के अग्रिम पृष्ठ, कलाई, अधो जंघा के अग्रिम पृष्ठ पर दोनों ओर की त्वचा पर पिन के नोक के बराबर के १ मिलिमीटर व्यास के श्याम वर्ण अर्थात् नीले से, लाल रंग के, चपटे सिरे वाले, अनेक कोण वाले, न अधिक मृदु न अधिक कड़े त्वचा पर उठे हुये पृथक पृथक दीखने वाले अनेक शुष्क कोठ (Papules) दीखते हैं। इनमें से कुछ एक कोठ परस्पर सम्मिलित भी हो जाते हैं। इनमें साधारण कंडू होती है और कभी कभी वह भी नहीं होती। ये कोठ एक हाथ पर हों तो दूसरे हाथ पर भी अवश्य होते हैं अर्थात् शरीर में दोनों ओर होने वाला यह रोग है। ३०, ३५ वर्ष की आयु के बाद ६० वर्ष की आयु के बीच में जब त्वचा की प्राण शक्ति कुछ हीन होनी आरंभ होती है तब यह रोग होता हुआ देखा जाता है। स्वेद प्रणालियों तथा स्नेह ग्रन्थियों की प्रणालियों के मुखों पर के बहिस्तर में यह अति वृद्धि विशेषतया पाई जाती है। अग्रबाहु और कलाई के अतिरिक्त कभी कभी ये किटिभ या श्याम रक्त वर्ण कठोर कोठ टांगों पर हथेलियों और तलुओं पर भी निकलते हैं जहां ये अधिक कठोर एवं परुष होते हैं।

किटिभ Lichen Planus की चिकित्सा :-

जीवन के अंतिम मोड़ पर

[श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक]

मेरा सारा जीवन संघर्ष का रहा है। बड़ा बलिष्ट शरीर था मेरा—नित्य प्रति व्यायाम का अभ्यास। उस शरीर से मैंने बड़े-बड़े समुद्र लाँघे, हज़ारों मील की पैदल यात्राएं की, देश-विदेश घूमा और सब प्रकार के अनुभव प्राप्त किए। आज सत्य-ज्ञान-निकेतन की अपनी कुटिया में बैठा हुआ मैं जीवन के अंतिम मोड़ पर खड़ा हुआ सोच रहा हूँ—मुझे क्या करना चाहिए?

उस दिन श्री सत्यदेव विद्यालंकार दिल्ली से मेरे यहां भेंट करने आए थे। वे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और पत्रकार हैं। वे भी मेरी तरह सूरदास हो चुके हैं किन्तु उनकी सहायता करने वाली, देख-रेख रखने वाली और आशा-निराशा में धैर्य बन्धाने वाली पत्नी मौजूद है, जो उनका सच्चा साथी है। उनकी आयु ६० वर्ष की होगी और वे मुझ से २२ वर्ष छोटे हैं। सन् १९३८ में मैं भी ६० वर्ष का था और अल्मोड़ा पहाड़ की चढ़ाइयां चढ़ता था—साधारण-सा देखता भी था। लेकिन आज मैं बिल्कुल दृष्टिहीन हो गया हूँ। मेरी कोई देख-रेख करने वाला नहीं। यद्यपि मुझे आर्थिक स्वतन्त्रता है और मेरी पुस्तकें कामधेनु बनकर मुझे दूध पिलाती रहती हैं, लेकिन तिस पर भी मैं कायर-सा बनता जा रहा हूँ और निर्भरता मुझे जीवन से उदासीन बना रही है। अब जीने की क्या आवश्यकता है? हाथ से खाना बनाना, ज़रा अख़बार सुन लेना, चिट्ठी-पत्री लिखवा देना, पुस्तकों के वी. पी. भेज देना और अपने लेखक से थोड़ा-बहुत इधर-उधर का काम करा लेना बस यही तो मेरा प्रोग्राम है। कहीं आना-जाना नहीं, सभा-सोसाइटियों से दूर रहना और संध्या को आठ बजे से बिस्तरे पर लेट जाना—यह जीवन मुझे सन्तोष नहीं देता।

यह सच है कि मैं व्यायाम कर लेता हूँ, ईश्वर के भजन गाता हूँ, रात को "ओम्" का जाप करता हूँ, आधी रात के समय अकेले में वार्तालाप भी करता हूँ—किन्तु इतने से मेरी तसल्ली नहीं होती। जीवन में अरुचि होने लगी है। मन के ऊपर बड़ा बोझ-सा रहने लगा है। मुझे अब क्या करना चाहिए?

यदि मैं नेत्र-हीन न होता, तो मेरे लिए चारों दिशाएँ खुली थीं। मैं भी विनोबा भावे जी की तरह पैदल यात्रा कर राष्ट्र-भक्ति का सन्देश अपने देश-वासियों को सुनाता और सच्चा नागरिक बनने का मार्ग सुझाता। राष्ट्र-निर्माण का यह कार्य मैं बड़े सुन्दर ढंग से कर सकता था, किन्तु नेत्र-हीनता ने मुझे कायर बना दिया है। विचार-सागर में पड़ा हुआ मैं गोते-खाने लग गया हूं।

मैं स्वर्गीय स्वामी रामतीर्थ जी की तरह श्री गंगाजी में जाकर समाधि लेना नहीं चाहता। मुझे वह रास्ता पसन्द नहीं। मुझे तो महात्मा गांधी जी का आमरण अनशन का तरीका अपील करता है। जब तक शरीर में शक्ति रहे जनता को उपदेश करता रहूँ और जब मृत्यु का समय आए तो उसका सहर्ष आलिङ्गन कर लूं। यह सच है कि मेरा बलवान् शरीर जल्दी आत्मा को निकलने नहीं देगा और मुझे शरीर से मुक्ति पाने के लिए ३०-४० दिन तक विकट संग्राम करना पड़ेगा, लेकिन मैंने अपने जीवन में जो पाप किए हैं, उनका प्रायश्चित्त भी तो करना चाहिए—उनका बोझा साथ लेकर मरना उचित नहीं। आचार्य कुमारिल भट्ट ने भी अपने पापों का प्रायश्चित्त किया था और शरीर को जलाकर मिथ्या भाषण के पाप को धोया था। मेरे प्यारे श्री धर्मानन्द कोशाम्बी जी ने भी अपने इच्छानुसार शरीर को त्याग दिया था। मैंने अपने इस संकल्प के सम्बन्ध में अपने परम हितैषी राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद जी, परम प्यारे राजर्षि पुरुषोत्तम-दास जी टण्डन, परमस्नेही श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा दो अपने अन्य सच्चे हितैषियों को अपने संकल्प के विषय में पत्र लिखे हैं। इस मेरे पूज्य भारत में लाखों स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जिन्होंने मेरे ग्रन्थ पढ़े हैं व्याख्यान सुने हैं और मुझ में श्रद्धा रखते हैं। उन सब के सामने मैंने अपने जीवन के अंतिम मोड़ के विषय में अपने विचार बतलाने के लिए ही विश्व-ज्योति में यह लेख प्रकाशनार्थ भेजा है। मुझे आशा है कि मेरे प्रेमी इस लेख को पढ़ कर मुझे अपनी सम्मतियां तथा सत्परामर्श खूब सोच-विचार कर भेजेंगे।

रोगी की प्राण शक्ति को बढ़ाने के लिये उसे Liver Ex: तथा Vitamin B_1
१०० मिलिग्राम सप्ताह में दो बार देना चाहिये। Arsenic से इस रोग में

मैंने ऊपर इस लेख में श्री सत्यदेव विद्यालंकार की चर्चा की है। वे दृष्टिहीन हैं, लेकिन उत्साह से भरे हुए हैं और खूब काम करने की इच्छा रखते हैं। वे मुझ से मेरी जीवनी—'स्वतन्त्रता की खोज में'—पढ़ने के लिए ले गए हैं। सम्भव है कि उनकी छोटी उम्र उनके इस उत्साह का कारण हो। क्योंकि सन् १९३९ में मैं हिटलर को देखने जर्मनी गया था। मेरे अन्दर उस समय निराशा का कोई चिह्न नहीं था। हो सकता है कि बाईस वर्ष बीतने पर विद्यालंकार जी में भी मेरी तरह निराशा की भावना आ जाए। मैं समझता हूँ कि यदि उनकी पत्नी उस समय तक जीवित रहीं तो वे दोनों जीवन-पथ पर मस्ती से चलते जाएँगे। जीवन में कोई साथी चाहिए, इसीलिए यूरोप में सत्तर वर्ष की आयु के लोग भी अपना साथी तलाश करते हैं परन्तु यह देश बड़ा अभागा है और यहां नारी को केवल भोग की वस्तु समझा जाता है। आज यदि मैं यूरोप में होता तो अपनी देख-रेख करने वाला साथी तलाश कर लेता, किन्तु यहां तो इसका अर्थ अनर्थ हो जाता है।

संक्षेप में मेरा निवेदन यह है कि मेरी देख-रेख करने वाला कोई न होने के कारण मुझे निराशा पकड़ रही है। खाद्य पदार्थों में मिलावट रहने के कारण मुझे शुद्ध चीजें नहीं मिलती। जो आटा, घी, दूध आदि मैं मंगाता हूँ उन्हें कोई देखने वाला चाहिए। अज्ञानी लोग मेरी कुटिया के इर्द-गिर्द कभी-कभी पेशाब-पाखाना कर जाते हैं, उन्हें हटाने वाला कोई चाहिए। मैं ऐसे देश में पैदा हुआ हूँ, जहां दृष्टि-हीन व्यक्ति के साथ किसी की सहानुभूति नहीं, इस लिए मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि अब किसी-न-किसी तरह इस शरीर को त्याग कर नया जन्म धारण करना चाहिए, जिससे अपने इच्छानुकूल अनन्त की ओर बढ़ा जा सके। देखें भगवान् कब इस घिसे-पिटे दृष्टि-हीन शरीर से मेरा पिंड छुड़ाते हैं।

कंडू Pruritus-Neurodermatosis तथा गज की अर्थात् Lichenification:-

व्यापक या नवीन कन्डु रोग को पिडिका युक्त कन्डू रोग Papular-Pruritus) कह सकते हैं। शाखाओं के संघर्ष में आने वाले बहि: (Extensor) पृष्ठों, पेट के निम्न पृष्ठ तथा बस्ते के प्रदेश पर कन्डू युक्त सूक्ष्म पिडिकायें निकल आती हैं। त्वचा के संज्ञावाही नाड़ी सूत्रों में चिन्ता, मानसिक कारणों से निर्बलता हो, और ऐसी अवस्था में रक्त के अंदर कोई विक्षोभक द्रव्य बढ़ जाय अर्थात् (Toxaemia) हो) अथवा बाहिर से त्वचा पर कोई विक्षोभ आ पड़े तो नाड़ी सूत्रों की विक्षोभ शीलता के बढ़ जाने से कन्डू होने लगती है। अजीर्ण के कारण किसी प्रोटीन विष के रक्त में बढ़ जाने या मधुमेह के कारण रक्त में ग्लूकोज के बढ़ जाने या [illegible] यकृद्रोग के कारण रक्त में Bile Salts के बढ़ जाने या वृक्क रोग के कारण रक्त में मूत्र जनित किसी विष द्रव्य के बढ़ जाने से अथवा स्वेद के त्वचा पर सूख जाने और फिर उसमें किसी जीवाणु के रोहण कर जाने से या कठोर ऊनी वस्त्र के त्वचा पर अधिक संघर्ष से भी कन्डू हो सकती है। ये कन्डू पिडिकायें (Papules) बाजरे के बीज के आकार की सवर्ण या कुछ रक्त वर्ण, एक दूसरे से पृथक पृथक होती एवं नि:स्राव होती है। खुजलाने से बहिस्तर में अति वृद्धि (Acanthosis) हो जाने से ये उत्पन्न हो जाती हैं। स्थानिक कन्डु ग्रीवा के पिछले पृष्ठ, उसके सन्मुख या बहि: पृष्ठ, कोहनी पर, गोडों के पिछले गढ़े में, अंडकोष पर, गुदा के आसपास, योनि द्वार पर हुआ करती है।

उस दिन श्री सत्यदेव विद्यालंकार दिल्ली से मेरे यहां भेंट करने आए थे। वे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और पत्रकार हैं। वे भी मेरी तरह सूरदास हो चुके हैं किन्तु उनकी सहायता करने वाली, देख-रेख रखने वाली और आशा-निराशा में धैर्य बन्धाने वाली पत्नी मौजूद है, जो उनका सच्चा साथी है। उनकी आयु ६० वर्ष की होगी और वे मुझ से २२ वर्ष छोटे हैं। सन् १९३८ में मैं भी ६० वर्ष का था और अल्मोड़ा पहाड़ की चढ़ाइयां चढ़ता था—साधारण-सा देखता भी था। लेकिन आज मैं बिल्कुल दृष्टिहीन हो गया हूँ। मेरी कोई देख-रेख करने वाला नहीं। यद्यपि मुझे आर्थिक स्वतन्त्रता है और मेरी पुस्तकें कामधेनु बनकर मुझे दूध पिलाती रहती हैं, लेकिन तिस पर भी मैं कायर-सा बनता जा रहा हूँ और निर्भरता मुझे जीवन से उदासीन बना रही है। अब जीने की क्या आवश्यकता है? हाथ से खाना बनाना, ज़रा अख़बार सुन लेना, चिट्ठी-पत्री लिखवा देना, पुस्तकों के वी. पी.

मैं स्वर्गीय स्वामी रामतीर्थ जी की तरह श्री गंगाजी में जाकर समाधि लेना नहीं चाहता। मुझे वह रास्ता पसन्द नहीं। मुझे तो महात्मा गांधी जी का आमरण अनशन का तरीका अपील करता है। जब तक शरीर में शक्ति रहे जनता को उपदेश करता रहूँ और जब मृत्यु का समय आए तो उसका सहर्ष आलिङ्गन कर लूं। यह सच है कि मेरा बलवान् शरीर जल्दी आत्मा को निकलने नहीं देगा और मुझे शरीर से मुक्ति पाने के लिए ३०-४० दिन तक विकट संग्राम करना पड़ेगा, लेकिन मैंने अपने जीवन में जो पाप किए हैं, उनका प्रायश्चित्त भी तो करना चाहिए—उनका बोझा साथ लेकर मरना उचित नहीं। आचार्य कुमारिल भट्ट ने भी अपने पापों का प्रायश्चित्त किया था और शरीर को जलाकर मिथ्या भाषण के पाप को धोया था। मेरे प्यारे श्री धर्मानन्द कोशाम्बी जी ने भी अपने इच्छानुसार शरीर को त्याग दिया था। मैंने अपने इस संकल्प के सम्बन्ध में अपने परम हितैषी

रोगी की प्राण शक्ति को बढ़ाने के लिये इसे Liver Ex: तथा Vitamin B_1 १०० मिलिग्राम सप्ताह में दो बार देना चाहिये। Arsenic से इस रोग में लाभ होता प्रतीत होता है। Liquor Arsenicalis Hydrochlor ५ बूंद, Liquor Hydrargperchlor $\frac{1}{2}$ ड्राम, जल १ औंस में मिला कर दिन में तीन बार दे सकते हैं। Enesol (Mercury Salicyl Arsonate .०६ ग्राम जल २ सी॰सी॰) के मांस द्वारा सप्ताह में दो बार कुछ मास तक देने से इस रोग में आराम आता है। पारद के प्रयोग से जैसे Calomel $\frac{1}{10}$ ग्रेन या Hydrargyri Cum Creata १ ग्रेन के दिन में दो बार एक मास तक देने से भी लाभ होता है। Corticortopin भी इसमें शीघ्र लाभ दिखाता है।

आयुर्वेद में किटिभ रोग :-

आयुर्वेदानुसार बहिस्त्वचा के कोष्ठकों में वात कफ प्रकोप जनित जो कुछ श्याम वर्ण रूक्ष, कठोर सर्पिष सदृश निकल आते हैं उन्हें किटिभ कहा गया है। बहिस्त्वचा के सेलों में कफ प्रकोप से तो अति वृद्धि होती है। तथा शरीर में वायु दोष की वृद्धि से इन सेलों में रुक्षता कठोरता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। रस माणिक्य या मल्ल सिंदूर का एक रत्ती की मात्रा में कुछ काल तक दिन में दो बार मधु घृत के साथ प्रयोग किया जाता है। ।। च॰।चि॰ ७।१।।, ।। सु॰।नि॰ ५।१।२२।।

Pruritus-Neurodermatosis तथा गज चर्म अर्थात् Lichenification:-

व्यापक या नवीन कन्डू रोग को पिड़िका युक्त कन्डू रोग Papular-Pruritus) कह सकते हैं। शाखाओं के संधर्ष में आने वाले बहि: (Extensor) पृष्ठों, पेट के निम्न पृष्ठ तथा कमर के प्रदेश पर कन्डू युक्त सूक्ष्म पिड़िकायें निकल आती हैं। त्वचा के संज्ञावाही नाड़ी सूत्रों में चिन्ता, मानसिक कारणों से निर्बलता हो, और ऐसी अवस्था में रक्त के अंदर कोई विषाक्त द्रव्य बढ़ जाय अर्थात् (Toxaemia हो) अथवा बाहिर से त्वचा पर कोई विषाक्त आ पड़े तो नाड़ी सूत्रों की विषाक्त शीलता के बढ़ जाने से कन्डू होने लगती है। अजीर्ण के कारण किसी प्रोटीन विष के रक्त में बढ़ जाने या मधुमेह के कारण रक्त में ग्लूकोज के बढ़ जाने या यकृत्रोग के कारण रक्त में Bile Salts के बढ़ जाने या वृक्क रोग के कारण रक्त में मूत्र जनित किसी विष द्रव्य के बढ़ जाने से अथवा स्वेद के त्वचा पर सूख जाने और फिर उसमें किसी जीवाणु के रोहण कर जाने से या कठोर ऊनी वस्त्र के त्वचा पर अधिक संघर्ष से भी कन्डू हो सकती है। ये कन्डू पिड़िकायें (Papules) बाजरे के बीज के आकार की सवर्ण या कुछ रक्त वर्ण, एक दूसरे से पृथक् पृथक् होती एवं निःस्राव होती है। खुजलाने से बहिस्त्वचा में अति वृद्धि (Acanthosis) हो जाने से ये उत्पन्न हो जाती हैं। स्थानिक कन्डू ग्रीवा के पिछले पृष्ठ, उसके सन्मुख या बहि:पृष्ठ, कोहनी पर, घोड़ों के पिछले गढ़े में, वंक्षणोत्र पर, सिर के आसपास, योनि द्वार पर हुआ करती है।

तथा किसी बाह्याभ्यंतर विक्षोभक कारण से होती है। गुदा के आसपास मल संबंधी किसी विक्षोभक द्रव्य से योनि के पास मूत्र संबंधी किसी विक्षोभक द्रव्य के कारण होती है।

जीर्ण कंडू, गज चर्म अथवा Lichenification:-

जब स्थानिक कण्डू रोग पुराना हो जाता है तब वहां की त्वचा स्थूल, कठोर तथा कुछ कृष्ण वर्ण हो जाती है। इसे गज चर्म, हस्तिचर्म या Lichenification. कहते हैं। खुजलाते रहने से वहां का बहिस्त्वचा विशेषतः उसका बहिःस्तर अधिक स्थूल एवं रूखा हो जाता है। गज चर्म के ऐसे कंडू युक्त चकत्ते ग्रीवा के पीछे, उसके बहिः पृष्ठ या अंगुष्ठ पृष्ठ पर या चोटी के प्रदेश पर विशेष होते हैं। गुदा के आगे सीवन प्रदेश तथा अंडकोषों पर भी कण्डू से त्वचा मोटी हो जाया करती है। परंतु वहां त्वचा रूखा न होकर आर्द्र होती है। इस प्रकार अंडकोषों पर कण्डू तथा पामा दोनों रोगों के लक्षण चिरकाल तक रह सकते हैं। प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों में इसे वृषण कच्छू के नाम से पुकारा जाता है। है। अधिक खुजलाते रहने से त्वचा की रक्त वाहिनियां फैल जाती हैं। जिससे बहिस्त्वचा को लसीका द्रव अधिक मिलता है और उससे वह स्थूल हो जाता है। संभवतः Basal Laye-r में Melanin की उत्पत्ति के अधिक होने से ही वहां बहिस्त्वचा का रंग अधिक काला हो जाता है।

कण्डू तथा गज चर्म की चिकित्सा:-

कण्डू रोग में रक्त गत विष द्रव्य को दूर करने के लिये विरेचक तथा शामक मृदु औषधियां देनी चाहिये। स्नायु मंडल (Nervous System) की दुर्बलता को दूर करने के लिये रोगी को मुख द्वारा Vitamin B Complex तथा Calcium के इंजेक्शन देने चाहिये। Syrup Calci Lactophosphatis १ ड्राम, Pot:Bromide १५ ग्रेन की एक मात्रा रात सोने से पहले देने से रोगी की बेचैनी जाती रहती है। अधिक बेचैनी हो तो रात को Phenobarbitone --- ३ ग्रेन दें या Promethazine Hydrochloride (Phenergan) २५ मिलिग्राम मात्रा में या Benadryl ५० मिलिग्राम की मात्रा में दी जा सकती है। भोजन में तीक्ष्ण मसाले तथा उष्ण पेय नहीं देने चाहिये।

कण्डू की स्थानिक चिकित्सा के लिये स्थान को स्वच्छ रखने के अतिरिक्त निम्नलिखित किसी योग का प्रयोग किया जा सकता है। १.. Calamine Prep: १ ड्राम, Zinc Oxide १ ड्राम, Liquor Plumbisub-acet:Dil: १ ड्राम, Liquor Carbons Detergens १ ड्राम, Glycerine, १ ड्राम, Aquacalcis मिला कर कुल १ औंस, । अर्थात् पांचों द्रव्य १२,१२ भाग, Aquacalcis ४० भाग।, २.. Zinc Oxide १ ड्राम Lanolin १ ड्राम, Acid Carbolic ५ बूंद, Menthol ५ ग्रेन,

तथा Olive Oil और Aqua Calcis बराबर बराबर मिला कर ७$\frac{1}{2}$ ड्राम मिलायें, ३.. Chloral Hydrate तथा Camphor ६० ग्रेन प्रत्येक Starch १ औंस में मिलायें।,४.. ६ गैलन हलके से गर्म जल में १ औंस Soda-Bi-Carb. मिलाकर उससे धो देने से भी कंडू शांत होती है।,५..एक प्रतिशतक Hydrocortisone Acetate Ointment के कुछएक बार लाने से कन्डू शांत हो जाती है।

गुद कन्डू तथा योनि कन्डू पर Talc Powder में ५० प्रतिशतक, Boric Acid मिला कर या Zinc Cream में १ प्रतिशतक Phenol मिला कर लगाने से खुजली शांत होती है। या Paraffin १ औंस में Liquor Carbonis Detergens. १ ड्राम तथा Ammoniated Mercury ५० ग्रेन मिलाकर लगायें या उपर्युक्त २ नंबर का योग लगायें।

आयुर्वेद में कन्डू तथा गज चर्म :-

आयुर्वेदानुसार बहिस्त्वची के वात नाड़ी सूत्रों में वायु दोष की अधिकता हो अथवा इन नाड़ियों की प्राण शक्ति कुछ मंद हो तथा कायाग्नि की मंदता के कारण बहिस्त्वची में आम दोष या कफ दोष की भी अधिकता हो तो कंडू होने लगती है। कन्डू रोग किसी स्थान विशेष पर बना ही रहे तो वहां के बहिस्त्वची में कफ धातु की प्रतिक्रिया होने से अथवा कफ के प्रकोप से स्थूलता हो जाती है। वायु की अधिकता के कारण उसमें रुक्षता तथा खरता के लक्षण हो जाते हैं। इस प्रकार वहां एक गज चर्म का कत्ता सा बन जाता है। इसीलिये चरक ने गज चर्म को वात कफ जनित स्वीकार करता है। साधारणतः आयुर्वेद में कन्डू को कफ जनित तथा गज चर्म को वात कफ जनित रोग माना जाता है।

इस रोग में कफ दोष की शांति के लिये रोगी को मंजिष्ठादि क्वाथ का तथा वात कफ दोषों की शांति के लिये तिक्त घृत का सेवन कराना चाहिये।

कन्डू सारे शरीर पर हो तो कमर्द बीजों के १ छटांक चूर्ण को १ सेर तक्र में दो तीन दिन भिगोकर तीन दिन तक शरीर पर मलकर प्रतिदिन गर्म जल से स्नान करना चाहिये।

सरसों के तेल ८ भाग,में ४ भाग नोन मिलाकर उसमें $\frac{1}{4}$ भाग कूट तथा १ भाग गंधक मिला कर उसकी मालिश करके गर्म जल से स्नान कर लेना चाहिये।

अथवा उपर्युक्त सिन्दूरादि चूर्ण को घृत के साथ मिला लेप करने से भी कन्डू शांत होती है।

गज चर्म के लिये भी कन्डू शामक योग उचित हैं क्योंकि यदि

सर्वथा खुजलाया न जाय तो गज भी रोग स्वयं ठीक हो जाता है।

पिड़िका रोग Furunculosis, Boils (Furuncle कील)

त्वचा की स्नेह ग्रन्थियों से स्नेह स्राव अधिक होता हो, खांड अन्न आदि आहार अधिक मात्रा में लिया जाता हो तथा व्यायाम न की जाती हो जिससे रक्त में खांड की मात्रा अधिक हो गई हो तो ऐसी अवस्था में त्वचा पर प्रबल संघर्ष हो जाने या खुजलाने से रोम कूप का मुख क्षत हो जाने पर त्वचा पर विद्यमान Staphylococcus Pyogenes Aureus या Albus का इसमें संक्रमण हो जाता है। और इसकी वहां वृद्धि हो जाती है। रोम कूप के मुख से यह जीवाणु रोम मूल में अर्थात् रोम कूप के गहरे भाग में भी संक्रमण कर जाता है। रोम कूप में इसकी वृद्धि होने पर इसकी विष के दुष्प्रभाव से रोम कूप की प्राण शक्ति नष्ट हो जाती है। वह निर्जीव या मृत हो जाता है (अर्थात् Follicular Necrosis हो जाता है) इस मृत हुये रोम कूप (Furuncle) के चारों ओर के अंतस्थों में आसपास के अवयवों से श्वेत कण (Leucocytes और Small Round Cells) बहुत अधिक मात्रा में जमा हो जाते हैं। जिससे रोम कूप के चारों ओर के प्रदेश में न्यूनाधिक पूय भाव हो जाता है एवं वह प्रदेश पूय युक्त हो जाता है (Perifollicular-Suppuration हो जाता है) अब यह मृत हुआ रोम कूप कुछ कुछ आसपास के गले हुये अवयव के साथ मिल कर एक कील (Core, Slough) के रूप में बाहर निकल जाता है फिर इससे खाली हुआ स्थान स्नायु तंतु (Granulation-या Scar Tissue) के द्वारा भर दिया जाता है। एवं यह पिड़िका या रोम-कूप-शोथ शांत हो जाता है।

देखने में शरीर की किसी मोटी त्वचा पर पहले एक छोटा सा रक्त वर्ण वेदना युक्त कठोर उभार निकलता है। जो बहुधा एक इंच व्यास का हो जाता है। फिर यह मुख का लेता है जो नरम होकर खुल जाता है। इसमें पूय स्राव आरंभ होने पर वेदना कम हो जाती है और अंत में कील (Core) के निकल जाने पर सर्वथा शांत हो जाती है, और यह पिड़िका ७ से १५ दिन तक रहती है। कभी कभी एक के बाद दूसरी पिड़िका निकलती रहती है। नितंब प्रदेश, कक्ष प्रदेश, अग्र बाहु, ग्रीवा के पश्चिम पृष्ठ पर पिड़िकायें विशेषतः निकलती हैं। कान में यह रोग, रोम कूप (Pilosebaceous-Follicle) में नहीं पर स्वेद ग्रन्थियों में होता है।

कान के अंदर जब यह पिड़िका निकलती है बड़ी कष्ट प्रद होती है। नाक पर या ऊपर के ओष्ठ पर पिड़िका हो तो इसके विष का संक्रमण Angular Vein के द्वारा Meninges या मस्तिष्क का में भी हो सकता है और जिससे मृत्यु भी हो सकती है।

पिडिका रोग Furunculosis, Boils की चिकित्सा :-

Sulpha Mezathine या Sulphathiazole चार चार घंटे बाद १ ग्राम मात्रा में दो तीन दिन देने या Procaine Penicillin के दो तीन दिन मांस द्वारा देने से पिडिकाओं की वृद्धि रुक जाती है। Multivitamin. गोलियों से रोगी की प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है।

पिडिका को बाह्य संघर्ष से बचाना चाहिये। बार बार पिडिका निकलती हों तो उस स्थान को संघर्ष से बचाके वहां पर Gention Violet लगाना चाहिये। पिडिका पर Iodine के Alcohol में बने १ प्रतिशतक घोल के लगाने या जल में बने २ प्रतिशतक Gentian Violet या Crystal Violet के लगाने या Ichthyol के ग्लिसरीन में १० प्रतिशतक घोल के दो दो घंटे पर लगाने और हल्का गर्म बोतल द्वारा सेक देने से वह बैठती हैं और बढ़ती नहीं या शीघ्र पक जाती हैं। Vaseline ३० ४ ड्राम में Phenol १० बूंद Zinc Oxide तथा Starch २,२ ड्राम मिला कर बना लेप भी लगाना ठीक है।

फुट हो जाने पर उस पर Magnesium Sulphate Paste (शुष्क Magnesium Sulphate ४५ ग्राम ग्लिसरीन ५५ ग्राम Acid Carbolic. ½ ग्राम मिला कर बनाया लेप) किसी कपड़े में लगाकर लगाना चाहिये। इससे पिडिका का पूय द्रावित होने लगता है। पिडिका को चाकू से नहीं खोलना चाहिये। नाक के पास पास की पिडिका को खोलना या दबाना उचित नहीं। ऐसा करना कभी कभी घातक हो जाता है। इस लेप से उसे बहकर स्वयं साफ होने देना चाहिये।

कान में Carbolic Glycerin (१ औंस ग्लिसरीन में २ ड्राम Acid Carbolic) डालें, कान पर सेक देने, तथा गर्म रुई बांधने से कान में निकली पिडिका दो तीन दिन में बह जाती है।

आयुर्वेद में पिडिका रोग :-

त्वचा में वात दोष या कफ दोष की वृद्धि हो साथ ही उसकी प्राण शक्ति भी हीन हुई हो तो Staphylococddi का रोम कूपों में संक्रमण सुगमता से हो जाता है। रोम कूप में उसके विपरीत स्थानिक प्रतिक्रिया होकर जो रोम कूप शोथ होता है उसे पिडिका कहते हैं। इस जीवाणु की विष से रोम कूप मृत होकर एक कील (Slough) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस कील के चारों ओर के प्रभाव में पित्त जनित मृदु पाक या पूय भाव भी कुछ कुछ हो जाता है जिससे यह कील त्वचा से पृथक होकर बाहिर निकल जाता है। इस प्रकार यह पिडिका रोग वात कफ दोष जनित या कभी कभी वात पित्त दोष जनित होता है।

यह पिडिका रोग बार बार होता हो तो खांड आदि कफ दोष वर्धक आहार बंद करके मंजिष्ठादि क्वाथ, या किसी तिक्त घृत का कुछ काल सेवन करना चाहिये। शरीर की प्रतिरोधक शक्ति बढ़ाने के लिये दो चार दिन का पूर्ण विश्राम करना चाहिये, या ब्राह्मी, शंख पुष्पी, और सर्प गंधा से बना चूर्ण लेना चाहिये।

कुष्ठ और हल्दी के चूर्ण को थोड़े घृत में मिलाकर पिडिका पर लगाते रहने से तथा स्वेदन करते रहने से वह बैठ जाती है या शीघ्र पक कर बह जाती है।

सिध्म :- Pityriasis Versicolor:

छाती के प्रदेश, कंधों तथा ऊपर की पीठ पर कभी कभी फीके से श्वेत वर्ण के चकत्ते दीखने लगते हैं जो बहिस्त्वचा के कठोर स्तर (Horny Layer) में एक प्रकार की फुई Malassezia Furfur या Microsporon Furur. --- के लग जाने से और इस स्तर के परतों के रूप में झड़ने से बनते हैं। पसीने के अधिक आने और उसके क्लिन्न हो जाने से यह फुई वहाँ लगती प्रतीत होती है। इसके प्रभाव से कठोर स्तर के सैल मृत होकर झड़ जाते हैं। इसके विपरीत बहिस्त्वचा में कोई प्रतिक्रिया (Inflammation) नहीं होती जिससे त्वचा में कोई लालिमा आदि लक्षण नहीं होते।

सिध्म Pityriasis Versicorकी चिकित्सा :-

गंधक तथा Acid Salicylic १५,१५ ग्रेन की मात्रा में १ औंस Soft Paraffine में मिला कर मलें या १ औंस जल में १ ड्राम Sodium-Thiosulphate मिलाकर लगाने से इस रोग की फुई नष्ट होती है।

आयुर्वेद में सिध्म रोग को बहिस्त्वचा में कफ वात जनित रोग कहा है। अर्थात् बहिस्त्वचा में कफ दोष या वात दोष की अधिकता से एक प्रकार की फुई का संक्रमण हो जाता है तथा बहिस्त्वचा की प्राण शक्ति की हीनता से बाह्य शुष्क स्तर नष्ट हो जाती है। इस रोग पर तैल या घृत में गंधक मिला कर मर्दन किया जाता है। ।। च।चि।७।।, ।। सु०।नि।५।।,

कुष्ठ रोग :- Leprosy:

त्वचा की प्राण शक्ति हीन हुई हो और ऐसी अवस्था में कुष्ठ रोगी के साथ अति निकट संपर्क में आने से उसमें से कुष्ठ जीवाणु (Micobacterium-Leprae) का संक्रमण या तो सीधा त्वचा में संघर्ष जनित क्षत के द्वारा हो जाय या रोगी के कुष्ठ जीवाणु युक्त नासा स्राव के द्वारा नासा की श्लेष्म कला में हो जाय तो कुष्ठ रोग हो जाता है। जिन प्रदेशों में कुष्ठ रोग होता है उनकी गंदी बस्तियों में गंदे तरीके से भीड़ भाड़ में रहने वाले ऐसे लोगों में जो एक साथ सोते, एक ही साथ बर्तन में खाते तथा एक ही

हुक्के से तंबाकू पीते हैं एवं रोगियों के साथ अति निकट संपर्क में आते हैं।

१०से ३० वर्ष की आयु के व्यक्तियों में यह रोग होता है। संभवतः जिनमें इस रोग के होने की प्रवृत्ति होती है उनमें यह रोग आयु के प्रारंभिक भाग में ही प्रवेश कर जाता है। कुष्ठ रोगी की संतान में जन्म से इस रोग के होने की प्रवृत्ति रहती है। यह विश्वास मिथ्या प्रतीत होता है। क्योंकि देखा गया है कि यदि कुष्ठ रोगी की संतान को जन्म के बाद शीघ्र रुग्ण माता पिता से पृथक करके पाला जाय तो उनमें यह रोग नहीं होता। जन्म के बाद रुग्ण माता या पिता के अति संपर्क में रहने से उनसे उनमें यह रोग संक्रमण द्वारा आता है। हमारे देश में हिमालय की तराई के प्रदेशों, पश्चिमीय बंगाल, दक्षिणी बिहार, उड़ीसा, मद्रास, केरल आदि प्रदेशों में पाया जाता है।

कुष्ठ जीवाणु (Micobacterium Leprae) जिसका पहले पता Hansen ने १८७३ में लगाया था क्षय जीवाणु (Tubercle Bacellus) के सदृश एक जीवाणु है। इसी के समान Grampositive है तथा Ziehl-Neelsen तरीके से रंगा जाता है। यह रोगी के रोग युक्त प्रदेश में तथा उसकी नासिका से होने वाले स्राव में पाया जाता है। रोगी के यकृत प्लीहा तथा रक्त में भी यह देखा जाता है।

इसके शरीर में प्रविष्ट होने के तीन चार वर्ष बाद यह रोग त्वचा पर प्रकट होता है। अतः इस रोग का परिपाक काल (Incubation Period) दीर्घ होता है।

इस रोग के दो भेद हैं। १.. सुप्ति कुष्ठ, २.. ग्रन्थिल कुष्ठ, (Nodular-Leprosy.)

<u>सुप्ति कुष्ठ : Anaesthetic Leprosy, Neural Leprosy,</u> Maculoanaesthetic Leprosy:-

त्वचा निर्दोष हो एवं उसकी प्रतिरोधक शक्ति पर्याप्त हो तो त्वचा में प्रविष्ट होते ही त्वचा के श्लेष्म द्रव तथा रक्षक सेलों के द्वारा ये जीवाणु नष्ट कर दिये जाते हैं। परंतु यदि त्वचा की प्रतिरोधक शक्ति कुछ कम हो तो जीवाणु पूर्ण तया नष्ट नहीं हो पाता और इस पर उसका कुछ दुष्प्रभाव हो जाता है। त्वचा के सब से सुकुमार अवयव वात नाड़ी सूत्रों पर उसका दुष्प्रभाव विशेष होता है। शेष त्वचा पर कोई दुष्प्रभाव विशेष नहीं होता। त्वचा में विद्यमान स्पर्श वाही या ज्ञान वाही नाड़ी सूत्रों में जीवाणु प्रवेश करके बढ़ने लगता है जिसके विपरीत वहां पर रक्षक सेल विशेषतः Large Mononuclear या Histiocytes या Reticuloendothelial. प्रदेशों से उत्पन्न होने वाले सेल जिन्हें Epithelioid या Macrophages कहते हैं अति मात्रा में एकत्रित हो जाते हैं। जब ये सेल भी इस जीवाणु का पूर्ण प्रतिकार नहीं कर पाते तो ऐसे कई सेल मिलकर एक बड़ा सेल बना लेते हैं जिसे अनेक मींगियों वाला बड़ा सेल Multinucleated gian-

cell. कहते हैं। इस रोग में इस प्रकार का जो बड़ा सेल बनता है उसे Lepracell कहते हैं। इसके अंदर कुष्ठ जीवाणु बहुत अधिक संख्या में घिरे हुये देखे जा सकते हैं। संज्ञावाही नाड़ी सूत्रों के अंदर इस जीवाणु के प्रविष्ट हो जाने से सूत्रों के बीच के प्रदेश में इस प्रकार जो अंकुर बनते हैं उन्हें Granuloma कहते हैं। इनके कारण तथा सूत्रों के चारों ओर के स्नायु तंतु (Endoneurium तथा Ferbous Sheath) के मोटे हो जाने से नाड़ी सूत्र मोटे हो जाते हैं। सुदाय नाड़ी सूत्रों में से प्रायः जीवाणु संक्रमण बड़ी वातनाड़ियों में जैसे Ulnar, radial, Superficial Pereneal, Tibial Nerves आदि में हो जाता है और इनमें Granuloma के हो जाने से नाड़ी सूत्रों के दूषित हो जाने तथा इनमें स्नायु तंतु के बढ़ जाने अर्थात् (Interstitial Fibrosis के हो जाने) से वे भी मोटी हो जाती हैं। Ulnar को कोहनी से ऊपर के प्रदेश में, Superfivial, Peroneal को गोड़े के पीछे Fibula के Head पर Radia l को Humerus के Sulcus, Nerviradialis पर Posterior tibial को अन्दर के गिट्टे के नीचे, स्पर्श द्वारा अनुभव किया जा सकता है। इस जीवाणु के द्वारा त्वचा की वात नाड़ियों में दूषितता के आ जाने से त्वचा में दूषितता होने लगती है जिससे त्वचा पर विवर्णता तथा स्पर्श शून्यता से युक्त चकत्ते (Macules) दीखने लगते हैं, जिनके किनारे कुछ उठे हुये होते हैं। इन चकत्तों के फैलते जाने से त्वचा के बड़े प्रदेश में सुप्ति या स्पर्श शून्यता का लक्षण दीखने लगता है। इन चकत्तों पर शीत उष्ण के भेद करने की शक्ति भी कुंठित सी हो जाती है। इनमें स्वेद भी नहीं आता है तथा देखने में त्वचा कुछ रूखी और चमकदार दीखती है। संज्ञा नाश से पहले यह भी संभव है कि रोगी को रोग ग्रस्त प्रदेश की नाड़ियों में कुष्ठ रोग जनित शोथ के कारण नाड़ी शूल (Neuralgia या Hyperaesthesia) की शिकायत भी रहे। कुष्ठ रोग से ग्रस्त प्रदेश की त्वचा का पोषण कम हो जाने से उसकी कठोर स्तर Horny Layer का निर्माण ठीक नहीं होता। इसी से उसमें चमक सी आ जाती है तथा उसमें रोम भी नष्ट होते जाते हैं। क्योंकि नख भी बहिस्त्वचा का एक अंग है। इसलिये वे भी रूखा, कठोर एवं दूषित हो जाते हैं। इसीलिये यदि हाथ पांव के Ulnar तथा ~~Xxxxxx~~ Peroneal Nerves के प्रदेशों में शूल या सुप्ति हो अथवा नाक, भौंहों, कानों, ठोड़ी, गालों, चूतड़, त्रिक प्रदेश पर और शाखाओं के बाहर के संघर्ष में आने वाले पृष्ठों पर कहीं कहीं पर भी शूल या सुप्ति की प्रतीति हो तो इस रोग की आशंका करनी चाहिये। भौंहों के बाहिर के भाग के बाल उड़ गये हों तो भी इस रोग की आशंका होनी चाहिये।

Ulnar, Peroneal Nerves आदि के रोग ग्रस्त होने के कारण हाथ पांव की छोटी छोटी मांस पेशियों में लुप्तता (Atrophy) तथा ज्ञातृ

(Paralysis) के लक्षण हो जाते हैं। जिससे अंगूठे के उभार (Thenar, Hypothenareminences) लुप्त हो जाते हैं। दोनों ओर के हाथों पांवों में स्पर्श शक्ति की न्यूनता तथा दुर्बलता के लक्षण होते हैं। रोग के बढ़ जाने पर हथेली और अंगुलियों के बीच की संधियों के फैल जाने (Corcpohalangeal Joints के Extended हो जाने से तथा अंगुलियों के बीच बीच की संधियाँ (Interphalangeal Joints) के संकुचित हो जाने से हाथ पक्षियों के पंजों की तरह (Mainen Griffe) हो जाते हैं। इसके बाद अस्थियों का पोषण बंद हो जाने से वे भी अत्यन्त क्षीण होती जाती हैं।

काकणक कुष्ठ त्वक् कुष्ठ :- Nodular Leprosy, Lepromatous Leprosy, Cutaneous Leprosy.

जब त्वचा अधिक सदोष होती है एवं जब उसमें जीवाणु शीघ्र रोक न जाता है तो अंतस्त्वचा तथा अंतस्त्वचा के नीचे के मेदो स्तर (Sub Cutaneous-Layer) में जीवाणु के अधिक बढ़ जाने से Large Mononuclears, या Epithelioid Cells या Macrophages अधिक संख्या में एकत्रित हो जाते हैं। इनके साथ Lymphocytes और Fibroblasts नामक सेल भी जीवाणुओं का प्रतिरोध करने के लिये एकत्रित हो जाते हैं। जब पृथक् २ ये सेल जीवाणुओं का प्रतिकार नहीं कर पाते तो जैसे ऊपर कहा गया है ये परस्पर मिलकर अनेक बड़ी गिरियों वाले सेलों को जिन्हें Giant cells या इस रोग में Lepra Cells कहते हैं बना देते हैं। इनके अंदर कुष्ठ जीवाणु अत्यधिक मात्रा में घिरे हुये होते हैं। जीवाणु प्रतिरोधक इन Macrophages के परस्पर मिलकर एक हो जाने से जो (स्नायुतन्तु) (Scar Tissue) के अंकुर या दाने बनते हैं उन्हें Granuloma कहते हैं। ये Granuloma अंतस्त्वचा के अंदर बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं। सुप्तिकुष्ठ में ये Granuloma वात नाड़ियों के अंदर बनते हैं परंतु इस त्वक् कुष्ठ में ये विशेषतः अंतस्त्वचा के अंदर फैले हुये रहते हैं। स्वल्प मात्रा में वात नाड़ियों में भी उत्पन्न हो जाते हैं। अंतस्त्वचा के अंदर Granuloma के अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाने से चेहरे, नितम्ब प्रदेश, पृष्ठ प्रदेश, शाखाओं के संघर्ष में आने वाले पृष्ठों पर एक तिहाई इंच व्यास के कुछ उभरे हुये हल्के लाल रंग के चकत्ते निकल आते हैं जिनमें स्पर्श ज्ञान और स्वेद दोनों नहीं होते हैं। ज्वर के साथ ऐसे चकत्ते समय समय पर निकलते रहते हैं और फिर बड़े फीके पड़कर छिप जाते हैं। इन्हीं प्रदेशों में फिर छोटे छोटे उभार (Nodules) जो त्वचा में विद्यमान Granuloma के कारण होते हैं दृष्टिगत होने लगते हैं। नाक, भौंहों, कान आदि पर इन उभारों के हो जाने से चेहरा विकृत हो जाता है। त्वचा का पोषण न होने से भौंहों के बाल तथा आंखों के बाल झड़ने लग जाते हैं। ये दाने या उभार नाक, मुख, गले, कंठ (Larynx) के अंदर की श्लेष्मकला में भी हो जाते हैं जिससे नाक,

गले/कंठ संबंधी लक्षण हो जाते हैं। यह नहा कुष्ठ रोग एक दीर्घ तथा कष्ट साध्य रोग है।

कुष्ठ रोग की चिकित्सा :- Treatment of Leprosy:-

वर्तमान समय में कुष्ठ रोग की चिकित्सा Sulphone औषधियों द्वारा की जाती है। पहले १९३८ में यह पता चला कि Diamino Diphenyl Sulphone. नामक Compound उत्तम जीवाणु नाशक है परंतु इसके विषैले होने से इसके कुछ यौग (Derivative) बनाये गये जो कुष्ठ जीवाणु को नष्ट करने के लिये दिये जाने लगे। बाद में इस प्रारंभिक कम्पौंड का भी स्वल्प मात्रा में प्रयोग कुष्ठ रोग के लिये बहुत लाभदायक पाया गया। Diamenodiphenyl Sulphone(D.D.S. Dapsone) का प्रयोग Awlosulphone- Siosulphone (A.D.) (I.C.I.) तथा Novophone (Bengal Chem:/ के रूप में होता है। यह औषधि २५ से ५० मिलिग्राम की मात्रा में प्रतिदिन एक मास तक दी जाती है। परंतु सप्ताह में ६ दिन देकर एक दिन इसका नागा रखा जाता है। दूसरे मास में इसकी दैनिक मात्रा ५० से १०० मिलिग्राम कर दी जाती है। यदि इसकी साप्ताहिक मात्रा ५०० मिलिग्राम से न बढ़ाई जाय तो इसका कोई विषैला प्रभाव नहीं होता। तीसरे मास से इसकी दैनिक मात्रा ४०० मिलिग्राम कर दी जाय और सप्ताह में ५,६ दिन ही इसका प्रयोग किया जाय तो जब तक रोगी Bacteria Negative नहीं हो जाता अर्थात् दो तीन वर्ष तक इसका प्रयोग बेखटके किया जा सकता है। यह कंपौंड जहां सस्ता है वहां कार्यकारी भी है तथा आंतों में पूर्णतया विलीन भी हो जाता है।

उपर्युक्त प्रारंभिक कंपौन्ड D.D.S. से बनाये गये प्रयोगों में से Diasone (Abbot Labo) अर्थात् जो Diaminodiphenyl Sulphone -- का Disodium Formaldehyde Sulphoxylate --- है मुख द्वारा $\frac{१}{३}$ ग्राम की दैनिक मात्रा में दिया जाता है। अर्थात् $\frac{१}{३}$ ग्राम की इसकी एक गोली प्रतिदिन दी जाती है और फिर कुछ सप्ताह बाद इस मात्रा को बढ़ाते हुये १ ग्राम दैनिक मात्रा तक पहुंचा कर उसी को कायम रखा जाता है।

Diamidin (P.D.Co.) भी इसी प्रकार मुख द्वारा दी जाती है। Sulphetrone (B.W.) तथा Novotrone (Bengal Chemical) मांस द्वारा देने के लिये उत्तम Sulphone हैं। इनमें से प्रथम औषधि Tetrasodium Phenylpropylamino Diphenyl Sulphone Tetrasulphonate: है। इसका Distilled Water में ५० प्रतिशत ताकत का बना हुआ घोल १ सी.सी. की मात्रा में सप्ताह में दो बार मांस द्वारा दिया जाता है। दूसरे सप्ताह में यही दो दो सी.सी. की मात्रा में दो बार दिया जाता है। इस

प्रकार प्रति सप्ताह एक सी.सी.की मात्रा बढ़ाते हुये इस औषधि को ४ सी.सी. की मात्रा तक पहुंचा कर सप्ताह में दो बार दे दिया जाता है और इसी मात्रा को जब तक रोगी Bacteria से मुक्त न हो जाय, कायम रक्खा जाता है। अर्थात् १ ग्राम साप्ताहिक मात्रा से ४ ग्राम साप्ताहिक मात्रा तक इसे दिया जाता है।

Novotrone का प्रयोग भी इसी प्रकार किया जाता है। इन औषधियों की ½ ग्राम की गोलियाँ भी मिलती हैं। सप्ताह में ६ दिन प्रतिदिन ३,३ गोली सोडा बाई कार्ब १० ग्रेन के साथ दी जाती है। फिर दैनिक मात्रा क्रमश: बढ़ाते हुये दिन में ६ गोली तक मात्रा कर दी जाती है। दो मास बाद औषधि देने के बाद १५ दिन नागा रक्खा जाता है। इस प्रकार मुख द्वारा लेने से भी लाभ होता है। परंतु औषधि का ८० प्रतिशत अंश मल द्वारा निकल जाता है। अत: इस औषधि को सुचि वेध द्वारा लेना ही ठीक है।

एक नवीन रसायन रोगहर औषधि Thiosemicarbazone जिसका रासायनिक नाम Acetyl Aminobenzaldehyde Thiosemicarbazone ($C_{10}H_{12}ON_4S$) है तथा जो Conteben (Bayer) Tibione Thiaceta--zone, Siocarbazone, Myrizone-- आदि नामों से बाजार में मिलती है। कुष्ठ रोग के लिये Sulphone के समान ही उपयोगी पाई गई है। ५० मिलिग्राम दैनिक मात्रा से आरंभ करके दो मास में १५० मिलिग्राम दैनिक तक मात्रा में उन रोगियों को जिन्हें Sulphone औषधि अनुकूल नहीं है, दी जाती है।

कुष्ठ रोग के नासा नेत्र तथा कंठ संबंधी सभी उपद्रव इनके प्रयोग से कुछ सप्ताहों में ठीक होने लगते हैं। त्वचा पर के उभार व्रण आदि भी शांत होने लगते हैं। ६ मास की चिकित्सा के बाद रोगी अपने को अधिक स्वस्थ और हलका अनुभव करने लगता है। तो भी इस रोगी को कुष्ठ जीवाणु शून्य होने के लिये दो तीन वर्ष तक इन औषधियों का सेवन करना चाहिये। और उसके बाद भी शरीर में कहीं पर जीवाणुओं का कुछ अंश रह ही जाता है इसलिये इसकी चालू मात्रा या इसके बाद भी जारी रखनी पड़ती है। इन औषधियों के शरीर में पहुंचने पर कुष्ठ जीवाणु बढ़ नहीं सकता जिससे पता लगता है कि ये औषधियाँ Bacteriostatic हैं और फिर धीरे धीरे जीवाणु नष्ट होने लगता है। व्रणों पर तो इनका प्रभाव शीघ्र होता है। जीवाणु पर इसका प्रभाव मंदता और विलंब से होता है तो भी कुष्ठ रोग के लिये यह इस समय तक सर्वोत्तम औषधियाँ हैं। इनके सेवन काल में दो दो मास बाद रक्त की परीक्षा करके देखते रहना चाहिये। ताकि उसमें Haemolysis तो नहीं हो रहा है तथा रोगी को प्रोटीन प्रधान भोजन पर्याप्त मात्रा में मिलते रहना चाहिये। इससे इस औषधि का

[illegible] Bacteria [illegible]

[illegible] Novotrone [illegible]

[illegible] Thiosemicarbazone [illegible] Acetyl Aminobenzaldehyde Thiosemicarbazone ($C_{10}H_{12}ON_4S$) [illegible] Conteben (Bayer) Tibione Thiacetazone, Neocarbazone, Myrizone-- [illegible]

[illegible] Sulphone [illegible] Sulphone [illegible]

[illegible] Bacteriostatic [illegible]

[illegible] Haemolysis [illegible]

चिरकारी प्रभाव कम हो जाता है। तुवरक तेल या चालमुगरा तेल Oleum Chaulmoograe. तथा Oleum Hydnocarpi का ५,१५ बूंद की मात्रा में भी चिर काल से इस रोग के लिये प्रयोग होता रहा है और इसका ४,५ वर्ष प्रयोग करने से कुष्ठ जीवाणु पर घातक प्रभाव भी होता है। परंतु इसका प्रभाव जो ५,१० वर्षों में होता था वह नवीन औषधियों के द्वारा दो तीन वर्षों में हो जाता है। अतः इस तेल का प्रयोग अब बहुत कम हो गया है। Hydnocarpus Oil के Fatty Acids के साथ Sodium के बने Sodium Hydnocarpate के १,३ ग्रेन की मात्रा में मांस द्वारा तथा त्वचा द्वारा देने से भी इस रोग में लाभ होता है।

आयुर्वेद में महा कुष्ठ रोग :-

आयुर्वेदानुसार त्वचा की प्राकृत शक्ति दूषित हुई हो तथा इसमें कफ दोष की भी वृद्धि अर्थात् कफ दोष की भी वृद्धि हो तो इसमें कुष्ठ जीवाणु के सम्बन्ध प्रतिकार करने की शक्ति कम हो जाती है। जिससे कुष्ठ कृमि वहां प्रवेश कर के रोग्य करने लगता है अथवा। फिर इसके विपरीत त्वचा की वात नाड़ियों में संसर्ग में तथा त्वचा के नीचे के मेदो मय स्तर में श्लेष्म धातु की प्रतिक्रिया होकर जो Lepra Cells बन जाते हैं उन्हें महा कुष्ठ रोग कहते हैं। बाद में इसमें पित्त की प्रतिक्रिया होने पर व्रणात्मक पूय भाव भी हो जाता है।

इस रोग के लिये अति प्राचीन काल से तुवरक तेल का ५,१० बूंद की मात्रा से आरंभ कर ५०,६० बूंद की मात्रा तक पताशों में रखकर प्रयोग होता रहा है। परंतु इसके अधिक मात्रा में देने से पेट खराब हो जाता है। अतः इसका स्वल्प मात्रा में देना ही ठीक रहता है।

नाड़ी रोग या वात नाड़ी संस्थान के रोग :- Diseases of the Nervous-SYSTEM.

वात नाड़ी रचना विधान :-

१.. उर्ध्व मस्तिष्क का अग्रिम भाग (Prefrontal Area or Prefrontal Lobe) बुद्धि का स्थान है तथा यह मस्तिष्क के अन्तर्गत निम्न केन्द्र स्थानों Hypothelamus आदि का नियामक भी है। धमनी जरा रोग (Arterio Sclerosis) के कारण इस स्थान का पोषण कम हो जाय तो मानस विकार होने लगते हैं तथा निम्न केन्द्र स्थानों के स्वतंत्र हो जाने से उत्पन्न होने वाले लक्षण भी होने लगते हैं।

२.. चेष्टा सूत्र (Motor Neurones):- उर्ध्व मस्तिष्क के बीच की खाई (Central Sulcus) के आगे भी ओर ऊपर नीचे की दिशा में एक उभार होता है जिसे Ascending Frontal Convolution कहते हैं। इसके सैलों में से उर्ध्व चेष्टा सूत्र (Upper Motor Neurones) प्रारंभ होते हैं और फिर पहले Corona Radiata फिर Internal Capsule के रूप में नीचे उतर कर मिडब्रेन तथा Pons में से होते हुये Medulla में दूसरी ओर प्रवेश करके सुषुम्ना कांड में Lateral-Tract के रूप में नीचे उतरते उतरते Anterior Horns में समाप्त होते जाते हैं।

इसी प्रकार मस्तिष्क नाड़ियों Motor Cranial Nerves के Nuclei में भी प्रायः दोनों ओर से Upper Motor Neurones आकर समाप्त होते हैं। चेहरे के निचले भाग से संबंधित Facial Nucleus में केवल एक ओर से ही Upper Motor Neurones. आते हैं।

अब सुषुम्ना कांड के Anterior Horns तथा मस्तिष्कांतर्गत Motor Nuclei से दूसरे निम्न चेष्टावाही सूत्र (Lower-Motor Neurones) प्रारंभ होकर शरीर तथा नेत्र मुख आदि की मांसपेशियों में जाते हैं। इस प्रकार चेष्टा मस्तिष्क से दो सूत्रों द्वारा शरीर की मांस पेशियों तक पहुंचती है। उर्ध्व चेष्टा वाही सूत्र निम्न चेष्टा वाही सूत्रों का नियमन (Inhibition) करते हैं। ये रुग्ण हो जावें अर्थात् इनकी पोषक धमनियों में अवरोध (Thrombosis) हो जाय तो दूसरी ओर की मांस पेशियों पर इनका नियंत्रण कम हो जाता या नहीं रहता है अर्थात् पक्षाघात हो जाता है। जिससे उधर की अंगुलियों और कलाई या पैर में फैलाने (Extension) की शक्ति नहीं रहती। बाहु, धड़ के साथ कुछ सटा हुआ सा रहता तथा अग्रबाहु अंदर की ओर विवर्तित (Pronated) रहता है। शाखाओं में यह स्तंभ युक्त पक्षाघात विशेषतः होता है। क्योंकि माथे, नेत्र, छाती,

धाड़ आदि में दोनों ओर से चेष्टावाही सूत्र जाते हैं। अतः इनमें पक्षाघात का लक्षण नहीं होता। इस अवस्था में शाखाओं में प्रतिक्षेप या (Tendon Reflexes) भी तीव्र रूप में होते हैं।

जब निम्न चेष्टावाही सूत्रों (Lower Motor Neurones) में या (Anterior-Horns) में रोग होता है जैसे कि Poliomyelitis रोग में होता है तो शाखाओं की मांस पेशियों में शैथिल्य युक्त पक्षाघात (Flaccid Paralysis) होता है। तथा शाखाओं में प्रतिक्षेप (Tendon Reflexes) लुप्त हो जाते हैं।

३.. अतिरिक्त संज्ञावाही नाड़ियां (Extrapyramidal Motor Neurones):- कुछ एक चेष्टावाही सूत्र Cortex से प्रारंभ न होकर Bosal Ganglia से आरंभ होते हैं। मस्तिष्क में विद्यमान कुछ एक Ganglia जैसे Caudate, Putamen, Substancia Nigra तथा Globus Pallidus नामक Nuclei परस्पर तो नाड़ी सूत्रों द्वारा संबन्धित होते हैं किन्तु इनमें से केवल Globus-Pallidus से ही इन्ही चेष्टा वाही सूत्र निकलते हैं तथा नीचे Mid Brain के Red Nucleus में समाप्त होते हैं और फिर मिड ब्रेन में से कुछ एक सूत्र सूत्र १.. Rubrospinal Tract (Red N. से) २.. Vestibulospinal Tract (Deiters) N से) ३.. ~~Retiemlpspinal~~ Reticulospinal Tract तथा Medulla (Pons. में विद्यमान Reticular Nuclei से निकल कर नीचे सुषुम्ना कांड में उतर कर Anterior Horns के सेलों में समाप्त होते हैं। ये Upper Motor Neurones आंख, कान आदि से प्राप्त संज्ञाओं के अनुसार शरीर की मांस पेशियों में होने वाली स्वयं चेष्टाओं का वहन करते हैं।

इन Ganglia के सेलों में विकृति के होने से शाखाओं में स्तब्धता (Rigidity) या हाथों में कंप (Tremors) होने के लक्षण होते हैं।

४.. संज्ञावाही नाड़ी सूत्र (Sensory Neurones):- त्वचा से निकले गर्मी, सर्दी, वेदना तथा स्पर्श की संज्ञाओं का वहन करने वाले संज्ञा सूत्र Cutaneous Sensory Neurones तथा मांस पेशियों से निकले गहरी संज्ञाओं का वहन करने वाले संज्ञा सूत्र (Deep Sensory Neurones) पश्चिम मूलों (Posterior Roots) से सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। इनमें से पहली प्रकार के संज्ञा सूत्र सुषुम्ना कांड में प्रवेश करके (Posterior Horns) के सेलों में समाप्त हो जाते हैं, और फिर वहां से नये संज्ञा सूत्र आरंभ होकर शीघ्र दूसरी ओर क्रास करके Spinothalamic Tract के रूप में ऊपर जाकर Thalamus के Lateral Nucleus में ~~जाकर~~ समाप्त हो जाते हैं।

गहरे संज्ञा वाही सूत्र (Deep Sensory Neurones) सुषुम्ना कांड में प्रवेश करके इसके Posterior Column में Tract of Gall ---- तथा Tract of Burdach के रूप में सीधे ऊपर चढ़ते जाते हैं। इनमें से Tract of Gall के सूत्र जो निचली शाखाओं

सुषुम्ना कांड में प्रवेश करके उसके Posterior Column में Tract of Gall तथा Tract of Burdach के रूप में सीधा ऊपर को चढ़ जाते हैं। इनमें से Tract of Gall के सूत्र जो निचली शाखाओं से आते हैं Medulla के नीचे के Neucleus Gracilis में तथा Tract of Burdach के संज्ञा सूत्र जो बाहुओं से आते हैं। पास ही Neucleus Cuneatus में समाप्त हो जाते हैं। वहां से दूसरे संज्ञा सूत्र आरंभ होकर शीघ्र ही दूसरी ओर क्रास करके Mesial Fillet के रूप में ऊपर चढ़कर Thalahamus के Anterolateral Nucleus में समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार सभी संज्ञावाही सूत्र अंत में क्रास करके दूसरी ओर Thalamus में समाप्त होते हैं। इसलिये Thalamus को शरीर का प्रधान संज्ञा केन्द्र समझना चाहिये। अब Tha lamus से तीसरे संज्ञा सूत्र आरंभ होकर सभी संज्ञाओं को Central Sulcus अर्थात् इसकी मस्तिष्क के बीच की खाई के पीछे के संज्ञा क्षेत्र पर (Sensory Cortex) के केन्द्रों तक पहुंचा देते हैं। ये अंतिम संज्ञा सूत्र निम्न संज्ञा सूत्रों का निग्रह (Inhibition) करते हैं जिससे बहुत सी व्यर्थ संज्ञाओं को मस्तिष्क तक पहुंचने से रोक दिया जाता है।

इसकी मस्तिष्क के संज्ञा केन्द्रों Sensory Cortex में विकृति आ जाय अर्थात् इसका पीछे का भाग नष्ट हो जाय तो दूसरी ओर की टांग की स्थिति का आदमी को ठीक ठीक पता नहीं चलता जिससे उस पर कुछ विवशता उत्पन्न हो जाती है।

Posterior Roots फिरंग रोग की विष का दुष्प्रभाव होकर नष्ट हो जायें तो Tabes Dorsalis का रोग हो जाता है।

५. अनैच्छिक नाड़ी मंडल Autonomic Nervous System:-

अनैच्छिक वात नाड़ियां उन अंगों को जो हमारी इच्छा के आधीन नहीं चेष्टा प्रदान करती हैं अर्थात् पुतलियों, श्वास नालियों, आंतों, मूत्र नाली, स्वेद ग्रन्थियां, हृदय, रक्त वाहिनियां आदि को ये चेष्टा प्रदान करती हैं। ये नाड़ियां दो प्रकार की हैं। एक Sympathetic दूसरी Parasympathetic. कहाती हैं।

।क। Sympathetic संस्थान के प्रथम नाड़ी सूत्र (Pregangleonic Fibre+s White Rami) सुषुम्ना कांड के पहले Thoracic Segment से लेकर तीसरे Lumber Segment तक के Lateral Horns के सेलों से आरंभ होते हैं फिर Anterior Roots के द्वारा सुषुम्ना कांड के बाहिर निकलकर किसी एक सेल समूह या (Ganglion) में जाकर समाप्त हो जाते हैं। कुछ तो Sympathetic Trunk के Ganglia में समाप्त हो जाते हैं। कुछ सूत्र इनमें से सीधा निकल

कर अंतिम Terminal Ganglion में समाप्त हो जाते हैं। फिर उस Ganglion में से द्वितीय नाड़ी सूत्र Gray Rami या Post Ganglionic-Fibres निकल के अनैच्छिक मांस पेशियों या आशयों आदि तक जाते हैं। इस प्रकार Superior Cervical Ganglion से निकले नाड़ी सूत्र, नेत्र की पुतलियों (Iris) में जाते हैं। तथा उत्तेजित होकर उसे फैलाने का काम करते हैं।

Middle Cervical Ganglion से द्वितीय नाड़ी सूत्र Thyroid-Gland. में जाते हैं। Upper Tharacic Ganglia से निकले नाड़ी सूत्र हृदय में जाते हैं और उत्तेजित होने पर उसे उत्तेजित करने का कार्य करते हैं। यहीं से निकले नाड़ी सूत्र वायुओं की रक्तवाहिनियों में जाते हैं और उत्तेजित होने पर इन्हें संकुचित करने (Vaso Constriction) का कार्य करते हैं। Upper Thoracic Ganglia से निकले सूत्र ही सिर और ग्रीवा की अनैच्छिक मांस पेशियों आदि को शाखा देते हैं तथा Upper Segment से निकले नाड़ी सूत्र ही छाती की अनैच्छिक मांस पेशियों को शाखायें देते हैं। Lower Throacic Ganglia (अर्थात् Splanchnic Nerves) तथा एक दो Lumber Ganglia से द्वितीय नाड़ी सूत्र कोष्ठ संबंधी आशयों में जाते हैं अर्थात् उनकी मांस पेशियों ग्रन्थियों (Glands) तथा रक्त वाहिनियों को शाखायें देते हैं। इस प्रकार अनैच्छिक चेष्टा की सूत्रों द्वारा शरीर तक पहुंचती है। प्रथम चेष्टा सूत्र Preganglionic Fibre सुषुम्ना से Gangkion तक जाता दूसरा सूत्र (Post Ganglinic)Ganglion से अवयव तक जाता है। मानसिक विक्षोभों से तथा शीत के लगने पर Sympathetic नाड़ी मंडल को उत्तेजित हो ता है। Sympathetic नाड़ियों के उत्तेजित होने से आंतों की गतियां मंद हो जाती हैं। उनके स्राव शुष्क हो जाते हैं। मलबंद्ध ता हो जाता है। पुतलियां फैलती हैं। रक्त वाहिनियां संकुचित हो जाती हैं। रक्त भार बढ़ जाता है। हृदय गति तीव्र हो जाती है। Adrenaline की उत्पत्ति अधिक बढ़ जाती है। रक्त में खांड की मात्रा बढ़ जाती है। (Hyperglycaemia) श्वास नालियां फैल जाती हैं। स्वेद आ जाता है, तथा रोमहर्षी हो जाता है।

सुषुम्ना कांड (Spinal Cord) के Latera l Horns के उपर्युक्त सेल, ऊपर तो Hypothalamus से तथा पीछे Porterior Root के Ganglion से आये संज्ञावाही नाड़ी सूत्रों (Afferent Neurones) से संबंधित रहते हैं। इस प्रकार अनैच्छिक चेष्टा नाड़ियों पर ऊपर से Hypothalamus. का नियंत्रण रहता है।

। ख। Parasympathetic संस्थान.. यह संस्थान मस्तिष्क संबंधिनी (Cranial)

सुषुम्ना संबंधी (Spinal) तथा कटि संबंधी (Sacral) अनैच्छिक चेष्टा सूत्रों से बना हुआ है।

१.. Midd Brain मैं से तीसरी मस्तिष्क नाड़ी के अंतर्गत प्रथम चेष्टा वाही सूत्र (Rreganglionic Fibres) Oculomotor Nucleus से प्रारंभ होकर Ciliary Ganglion में समाप्त हो जाते हैं। द्वितीय चेष्टा वाही सूत्र (Post Gangleonic Fibres) वहां से निकल कर नेत्र की पुतलियों तक जाते हैं।

२.. सप्तम् तथा नवम् मस्तिष्क नाड़ियों के द्वारा अनैच्छिक चेष्टावाही सूत्र नासा तथा मुख की श्लेष्म कला में जाते हैं और उत्तेजित हो कर वहां की रक्त वाहिनियों को फैलाने तथा ग्रन्थियों के स्राव को उत्तेजित करने का कार्य करते हैं।

३.. १० वीं तथा ग्यारहवीं मस्तिष्क नाड़ियों के द्वारा कुछ अनैच्छिक चेष्टावाही सूत्र, हृदय, श्वास नालियों, आंतों तथा आंत्र ग्रन्थियों में जाते हैं। आंतों में बृहदंत्र के ऊपर के भाग तक ही ये शाखायें जाती हैं। ये सूत्र उत्तेजित होकर हृदय को मंद करने तथा आंतों के स्राव और गति को बढ़ाने का कार्य करते हैं। तथा श्वास नालियों को संकुचित करने का कार्य करते हैं। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ कटिनाड़ियां (Sacral Spinal Nerves) के द्वारा अनैच्छिक चेष्टावाही सूत्र आरंभ होकर (Pelvic Nerve) के रूप में जनेन्द्रियों, बृहदंत्र, मलाशय, गुदा, मूत्राशय में जाते हैं। तथा उत्तेजित होकर जनेन्द्रियों, मलाशय, मूत्राशय की रक्त वाहिनियों को फैलाने का काम करते हैं। तथा बृहदंत्र के निम्न भाग और मलाशय तथा मूत्राशय की चेष्टा को उत्तेजित करते हैं।

इस प्रकार Parasympathetic चेष्टा भी दो सूत्रों द्वारा अवयवों तक जाती है। प्रथम अनैच्छिक चेष्टावाही सूत्र (Páreganglionic Fibres) मस्तिष्क तथा सुषुम्ना कांड में से आरंभ होकर किसी एक Calglion में समाप्त होते हैं। ये Ganglia या तो नाड़ियों के Plexuses में होते हैं या आशयों की दीवार में होते हैं। इन Ganglia से दूसरे चेष्टावाही सूत्र (Post Ganglionic Fibres) आरंभ होकर आशय तक जाते हैं।

इस प्रकार संक्षेपतः Parasympathetic नाड़ी केवल की उत्तेजना से आमाशय तथा आन्त्र की गतियां और स्राव बढ़ते हैं। मलबंध दूर होता है। पुतलियां तथा श्वास नलियां संकुचित होती हैं। हृदय गति तथा स्वेद स्राव मंद होते हैं। Isulin की उत्पत्ति बढ़ती है। जिससे रक्त में खांड की मात्रा घटती है।

औषधियों में से Adrenaline, Ephedrine आदि

Sympathetic नाड़ी मंडल के उत्तेजक होते हैं तथा Priscol (Tolazoline),Thro-azine,Regitine(Phentolamine)Rauwolfia,Ergotamine आदि इस नाड़ी मंडल के लिये अवसादक (Depressant) होते हैं।

Parasympathetic नाड़ी मंडल के लिये Acetyl Choline उत्तेजक है तथा Belladonna,Suavitil (Benactyzinehyd:) (१,४ मिग्राम) Hyoscine, Stremonium आदि अवसादक हैं।

प्रतिक्षिप्त चेष्टायें :- (Reflexes)

जब त्वचा तथा मांस से सुषुम्ना कांड तक आने वाली संज्ञावाहिनियां स्वस्थ हों, सुषुम्ना कांड से नीचे मांस तक जाने वाली चेष्टा वाहिनियां भी स्वस्थ हों तथा इन दोनों को सुषुम्ना कांड के अंदर जोड़ने वाले (Connecter) सूत्र भी स्वस्थ हों तो प्रतिक्षिप्त चेष्टायें भी ठीक होती हैं। यहां पर दो प्रतिक्षिप्त चेष्टाओं का उल्लेख किया जाता है।

१. Kneejerk या जानुविक्षेप :-

रोगी को पीठ पर लिटाकर उसकी जांघ को जानु के पीछे एक हाथ के द्वारा थोड़ा सा संकुचित करने से जब ऊर्ध्व जांघ के आगे की बड़ी मांस पेशी Quadriceps की अंदरा कुछ तन जाती है तथा रोग वाली जंघा शिथिल हो जाती है तब इसके और Tibia के Tubercle के बीच के प्रदेश पर 'परकशन हैमर' के द्वारा कुछ तेज चोट देने पर उपर्युक्त मांस पेशी में संकोच उत्पन्न हो जाता है। जिससे निम्न जंघा ऊपर को उछल जाती है। इसे Knee Jerk जानु विक्षेप कहते हैं।

जब प्रतिक्षिप्त चेष्टा के मार्ग में कहीं पर रोग होता है अर्थात् इस मांस की संज्ञा वाहिनी (Femoral N.) में रोग हो (Tabes Dorsalis) या इस मांस के निम्न चेष्टा वाली सूत्र (Lower Motor Neurone) में रोग हो (Neuritis) हो या सुषुम्ना कांड के अंदर रोग (Poliomyelitis) हो तब यह प्रतिक्षिप्त चेष्टा नहीं होती।

जब मस्तिष्क से सुषुम्ना कांड के Anterior Horns तक आने वाले ऊर्ध्व चेष्टा वाही सूत्रों में रोग हो जैसे कि पक्षाघात रोग में होता है तब क्योंकि निम्न चेष्टावाही सूत्रों पर ऊर्ध्व चेष्टावाही सूत्रों का नियंत्रण (Inhibition) लुप्त हो जाता है तब यह प्रतिक्षिप्त चेष्टा प्रबलता से होती है। इसी प्रकार जब रोगी का मन विक्षुब्ध होता है तब भी यह चेष्टा प्रबल रूप में होती है।

२. Planter Reflex:- रोगी को पीठ के भार लिटा कर उसकी एक जांघ को ऐसा रखें कि वह जानु पर कुछ संकुचित हो। अब उसके तलुए पर एड़ी से अंगुलियों की ओर दियासलाई या पैंसिल से खींचने पर स्वस्थावस्था

में इसकी अंगुलियां तलुए की ओर (Flexor Response) तथा पैर कुछ ऊपर की ओर (Dorsiflexion) जाया करता है।

जब मस्तिष्क से सुषुम्ना या कांड तक आने वाली इच्छी चेष्टावाही नाड़ी में रोग होता है अर्थात् निम्न चेष्टा वाही सूत्रों पर नियन्त्रण कम हो जाता है तब पैर का अंगूठा ऊपर की ओर झुकता है तथा दूसरी अंगुलियां एक दूसरी से दूर हो जाती हैं। (Exte-nsor Planter response) तथा जांघ की पीछे की मांस पेशियों (Hamst-rings) में संकोच के हो जाने से सारी जांघ वक्षण संधि तथा जानु संधि पर संकुचित हो जाती है।

सन्यास मूर्छा :- (Apoplex-y, Plexystrike)

मस्तिष्क धमनी रोध (Cerebral Thrombosis) तथा पक्षाघात (Hemiplegia)

६०,७० वर्ष की आयु के व्यक्तियों में मस्तिष्क धमनियों में दृढ़ता की प्रक्रिया के हो जाने से ये रोग होते हैं। अर्थात् यदि मस्तिष्क धमनियों में दृढ़ता विशेष हो तो किसी तीव्र मानसिक आवेश या शारीरिक श्रम के समय उनमें रक्त भार के सहसा अत्यधिक हो जाने से कोई सूक्ष्म मस्तिष्क धमनी फट जाती है जिससे मस्तिष्क में रक्त स्राव हो जाता है। इससे मस्तिष्क के उस स्थान को आक्सिजन का मिलना बंद हो जाता है जिससे रोगी मूर्छित होकर गिर पड़ता है और फिर काफी समय बेहोश पड़ा रहता है। इसे सन्यास मूर्छा कहते हैं।

इस रक्त स्राव जनित मूर्छा की अपेक्षा भी धमनी रोध जनित मूर्छा (Cerebral Thrombosis) का रोग अधिक पाया जाता है। मस्तिष्क की सूक्ष्म धमनियों के आभ्यंतर स्तर के नीचे स्थान स्थान पर चर्बी जम जाती है। अर्थात् उनमें Fatty Degeneration हो जाता है। जिससे उनका स्रोत तंग होता जाता है। बाद में कभी सोते समय जब कि रक्त की गति स्वभावतः मंद होती है या जिस समय हृदय स्वभावतः ही निर्बलता से स्पंदन करता है/ मस्तिष्क के एक भाग को रक्त कम पहुंचने लगता है जिससे रोगी में मूर्छा हो जाती है। इसे धमनी रोध जनित मूर्छा कहते हैं। यह धमनियों में (Atheroma) हो जाने के कारण होती अर्थात् धमनियों में कलाप काठिन्य (Atherosclerosis) के कारण होती है। जब कि रक्त स्राव जनित मूर्छा धमनियों के दीर्घ, दृढ़ हो जाने अर्थात् (Arteriosclerosis) के कारण होती है।

इन दोनों अवस्थाओं में ही मस्तिष्क के उस भाग को पोषण मिलना बंद हो जाता है एवं वह मृत (Necrosed) हो जाता है परंतु शीघ्र ही आसपास की रक्त वाहिनियों में से रक्त वहां पहुंचने लगता है और उसका पोषण फिर आरंभ हो जाता है। इसीलिये धमनी रोध स्वल्प मात्रा में ही हो तो

रोगी धीरे धीरे होश में आ जाता है और कुछ महीनों में चलने फिरने योग्य भी हो जाता है।

यों तो मस्तिष्क की किसी धमनी में भी अवरोध और रक्त स्राव के उपद्रव हो सकते हैं तथापि मध्य मस्तिष्क धमनी (Middle Cerebral-Art:) की Lenticulo Striate शाखा में ये उपद्रव विशेषतः होते हैं और क्योंकि यह शाखा Internal Capsule में विद्यमान चेष्टा सूत्रों को रक्त प्रदान करती है अतः इनके नष्ट हो जाने से पक्षाघात का लक्षण हो जाता है।

पूर्व रूप :-

मस्तिष्क धमनियों में रक्त स्राव होने की अपेक्षा अवरोध (Thrombosis) के होने का रोग अधिक होता है और क्योंकि यह रोग धीरे धीरे होता है अतः इसके कुछ एक पूर्व रूप होते हैं। यथा एक अंग में निर्बलता आरंभ हो जाती है या एक ओर के पैर में दर्द या सुप्ति की प्रतीति रहती है। या शिरोभ्रम होकर गिर जाने की सी प्रतीति होती है या भाषण शक्ति कम हो जाती है। इसी प्रकार मस्तिष्क की धृति, स्मृति, एकाग्रता, आदि शक्तियां निर्बल होती जाती हैं।

लक्षण :-

रक्त स्राव जनित सन्यास मूर्छा के होने से पहले रोगी को सिर में भारी दर्द होता है जिसमें किसी औषधि से आराम नहीं आता। इसके बाद जो मूर्छा होती है वह गहरी होती है। श्वास प्रश्वास के साथ एक तरफ का गाल दूसरी ओर की अपेक्षा अधिक फूलता है। यों तो सारा शरीर शिथिल होता है। पर जिधर का गाल अधिक फूलता है उधर की शाखायें अधिक शिथिल होती हैं। दोनों पुतलियां फैली होती हैं तो भी जिस ओर शिथिलता अधिक होती है उधर की पुतली अधिक फैली होती है। प्रकाश के पड़ने पर पुतलियां संकुचित नहीं होतीं।

जिस ओर शिथिलता अधिक होती है उधर के पैर के तलुए को खुजलायें तो अंगूठा ऊपर की ओर मुड़ जाता है। (Planter reflex extensor)

--- रोगी का सारा शरीर शीतल सा तथा स्वेद से युक्त होता है। तापमान नार्मल से कम, नाड़ी ~~की~~ गति प्रतिमिनट घटी हुई होती है, नाड़ी भरी हुई, दीर्घ (Full Bounding) होती है। रक्त भार बढ़ा होता है। चेहरे पर नीलापन झलकता है।

रक्त स्राव जनित मूर्छा अच्छी नहीं होती। यदि रोगी को २, ४ दिन तक ~~होश~~ होश न आये तो मृत्यु निश्चित समझनी चाहिये। इस अवस्था में ~~मूर्छित~~ मूर्छित रोगी का सिर तथा आंखें एक ओर को मुड़े हुये होते हैं।

(Conjugate Deviation of the eye). इसके विपरीत धमनी रोध जनित मूर्छा मूर्छा शीघ्र नहीं हो जाती है। इसके शरीर में दु का पक्षाघात भी धीरे धीरे अच्छा होने लगता है। पहले मूल जंघा में फैलाने तथा इसके भार सहने की शक्ति आती है। मुख में मुखा घात भी जांघ के साथ साथ ठीक होने लगता है। अन्त में बाहु का घात भी धीरे धीरे ठीक होने लगता है। तो भी बाहु में न्यूनाधिक अशक्ति रह जाती है। वह कोहनी और कलाई पर संकुचित रहती है, और शरीर के साथ कुछ सटी हुई रहती है। बाहु में फैला सकने की शक्ति कम लौटती है। हाथ में तो पक्षाघात का लक्षण कुछ न कुछ बना ही रहता है। इस रोग में क्योंकि ऊर्ध्व चेष्टा सूत्र (Upper motor neurones) कुछ न कुछ नष्ट रहते ही हैं/ इसलिये दोनों मूल शाखाओं में न्यूनाधिक स्तंभ या अकड़ाव का लक्षण रहता है।

<u>चिकित्सा :-</u>

<u>प्रतिरोधक चिकित्सा :-</u>

इस रोग के पूर्व रूपों के प्रकट होने पर रोगी के रक्त भार को कम करने की औषधि देनी चाहिये। रोगी को मानसिक आवेशों से बचाना चाहिये। मानसिक तथा शारीरिक श्रम भी कम करना चाहिये। निद्रा अधिक लेनी चाहिये। अधिक भोजन तथा तीक्ष्ण उष्ण गुरु भोजन से बचना चाहिये। लवण बहुत कम लेना चाहिये।

मूर्छा के हो जाने पर रोगी के सिर पर बर्फ रखनी चाहिये। तथा उसको एक तरफ लेटा कर रखना चाहिये ताकि जिह्वा के कारण श्वास रोध न होने पाय। दो दिन तक मुख से कोई आहार न देना चाहिये। मुख को जल से गीला रखना चाहिये क्योंकि पानी पिलाने से उसके श्वास मार्ग में जाने का भय रहता है। श्वास मार्ग में किंचिन्मात्र जल के जाने से खांसी उठने लगती है। ५ प्रतिशत ग्लूकोज जल १,२ हजार सी०सी० की मात्रा में प्रतिदिन सिरा द्वारा दे देना चाहिये। या लवण और ग्लूकोज मिश्रित जल के अनीमा द्वारा देते रहने से पानी भी शरीर में पहुंच जाता तथा पेट भी साफ हो जाता है। दो दिन बाद थोड़ा थोड़ा दूध दिन में कई बार देना चाहिये। पीठ पर स्पिरिट तथा डस्टिंग पाउडर लगाते रहना चाहिये ताकि शैया व्रण न हो जाय। फुफ्फुसों में रक्त संचय होकर कोई उपद्रव न हो जाये इसके लिये Penicillin का मांस द्वारा प्रयोग करना चाहिये।

यदि धमनी रोध जनित मूर्छा हो तो किसी सिरा प्रसारक औषधि जैसे Priscol को १० मिलिग्राम की मात्रा में मांस द्वारा दिन में २ बार दे देना चाहिये। या Coramine $१\frac{१}{२}$ सी०सी० दिन में दो बार त्वचा द्वारा दे देनी चाहिये। इससे वहाँ रक्त की न्यूनता में पूर्ति

होती है। Nux Vomica के १०,१२ बूंद की मात्रा में मुख द्वारा देने से या Strychnine Hydrochlor १/३२ ग्रेन के दिन में दो तीन बार त्वचा द्वारा देने से रक्त संचार को बल मिलता है।

पक्षाघात रोग में भी रोगी को Nux Vomica का सेवन करना चाहिये तथा निर्बल शाखाओं पर मालिश करानी चाहिये।

आयुर्वेद में सन्यास मूर्छा तथा पक्षाघात :-

मस्तिष्क धमनियों में वात प्रकोप जनित कठिनता के कारण ये रोग होते हैं। ।।च० सू० ।२५।।

इनसे बचने के लिये शिलाजीत, या ब्राह्मी ३, शंख पुष्पी २, सर्प गंधा १, भाग मिलाकर बनाया चूर्ण या मुक्ता भस्म या त्रिफला रसायन, च्यवन प्राश आदि में से किसी का सेवन करना चाहिये। सिर, शरीर, नासिका, कान आदि में तैल का प्रयोग करने से भी धमनियों की कठिनता नहीं बढ़ती। घोर तथा दीर्घ सन्यास मूर्छा को आयुर्वेद में असाध्य कहा है। ।। च। सू। २४।।

बाद में रहे पक्षाघात के लिये कुचलादि वटी, (कुचला १०, रस सिन्दूर, लोह, जायफल, सोंठ, मरिच, लौंग, जटामांसी, क्षार एक एक भाग मिला कर बनाई) दिन में ३,४ बार दे देनी चाहिये। इसी प्रकार शरीर की शक्ति को बढ़ाने वाले योग जैसे मल्लसिन्दूर, चतुर्मुख, चिन्तामणि, बृहद्वात चिन्तामणि, शतावरी घृत, बलाघृत, के सेवन करते रहने तथा माष तैल, नारायण तैल आदि की मालिश करने से निर्बल अंग फिर बलवान् हो जाते हैं। ।। च। चि। २८।।

अपस्मार :- Epilepsy:-

कारण :-

अपस्मार रोग के कारण के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। मस्तिष्क के सैलों में साधारणतः जो विद्युत्तरंगें प्रति सैकण्ड ८,१० की संख्या में होती हैं तथा सदा संतुलित रूप में होती हैं, किसी किसी व्यक्ति में किसी किसी समय प्रबल तथा विषम रूप (Unrhythmic) में होने लगती हैं। इस प्रकार इन सैलों में से जब ये तीव्र तरंगें (Electric Discharges) उत्पन्न होने लगती हैं यह रोग प्रकट हो जाता है फिर तुरंत ही ये तीव्र विद्युत्तरंगें अति मंद रूप में होने लगती हैं। इसीलिये वेग के समय पहले तो रोगी के अंगों में तीव्र आक्षेप होते हैं और फिर वे बिल्कुल शिथिल हो जाते हैं।

मस्तिष्क में इस रोग की यह विकृति जन्म से आती प्रतीत होती है। इसीलिये जिसे यह रोग होना होता है १५,२० वर्ष तक की आयु तक हो जाता है।

पूर्व रूप :-

लगभग चौथाई रोगियों में पूर्व रूप होते हैं। वेग के कुछ घंटे पहले शिर: शूल या शिरोभ्रम होने लगता है या रोगी कुछ कुछ क्रोधी एवं चिड़चिड़ा सा हो जाता है। अथवा वह अंतर्मुख, ध्यान शील, विचार शून्य सा दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार रोगी के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है।

वेग प्रारंभ होने के तत्काल पूर्व जो रूप होते हैं उन्हें Aura कहते हैं जो तीन चौथाई रोगियों में होते हैं। रोगी को अपने हाथ पैरों में शून्यता आरंभ होकर ऊपर को आती प्रतीत होती है या आमाशय प्रदेश पर से बेचैनी प्रारंभ होकर ऊपर सिर की ओर चढ़ती प्रतीत होती है। किसी किसी को श्वास रोध होने या हृत्कंप की प्रतीति होती है। सिर में चक्कर आने की प्रतीति तो बहुतों को होती है। किसी किसी को नेत्र संबंधी कोई विचित्र प्रतीति होती है। अर्थात् या तो दीखना बंद हो जाता है या जलती हुई अग्नि की चिन्गारियां नजर आती हैं। श्रवण संबंधी प्रतीतियां भी होती हैं। अर्थात् या तो श्रवण शक्ति लुप्त हो जाती है या विचित्र वाद्यों की ध्वनि सुनाई पड़ती है। नासा संबंधी प्रतीतियां भी कभी कभी होती हैं। जैसे० अर्थात् बुरी गंध आने लगती है। इसी प्रकार स्वाद संबंधी प्रतीतियां भी कभी कभी होती हैं। किसी किसी को विचित्र विचित्र मानसिक प्रतीतियां होती हैं। अर्थात् रोगी अपने को एक विचित्र परिस्थिति में पहुंचा हुआ अनुभव करता है। वह भयभीत हो जाता है और कभी कभी इस अवस्था में वह उन्मत्त सा व्यवहार करता है। किसी किसी को अलौकिक माया मय कुछ० दृश्य दीखने लगते हैं। किसी किसी में बाहु या किसी मांस पेशी में कंपन होने लगता है। इन अनुभूतियों के तुरंत बाद रोग का वेग आरंभ हो जाता है।

रूप :-

स्तंभावस्था :- (Tonic Phase)

इस रोग में पहले शरीर की सर्व मांसपेशियों में स्तब्धता की अवस्था पैदा होती है। अर्थात् पहले रोगी में मूर्छा और स्तंभ ये दो प्रधान लक्षण होते हैं। स्तंभ के कारण ग्रीवा, बाहु, जांघें, ठोढ़ी अकड़ी हुई होती हैं। ग्रीवा पीछे की ओर मुड़ जाती है। शरीर में बहिरायाम (Opisthotonos) भी हो सकता है। दोनों बाहु अकड़े हुये, कोहनी पर आकुंचित, बाहु के साथ सटे हुये और मुट्ठियां बंद होती हैं। रोगी मूर्छित और स्तब्ध होकर सहसा जमीन पर गिर पड़ता है। उसका सिर, ग्रीवा और दोनों आंखें एक पार्श्व की ओर विवर्तित होते हैं। (Deviation of the Eyes and Head) अर्थात् मस्तिष्क के जिस पक्ष में रोग आरंभ होता है उससे विपरीत दिशा में उसका सिर और आंखें फिर जाती हैं। इस प्रकार सिर और ग्रीवा के एक ओर फिरने के बाद उसके जमीन पर गिरने से वह मस्तक के भार गिरता है और उस पर चोट आ जाती है।

इस रोग के होते ही कंठ (Larynx) और श्वास की मांस पेशियों में भी स्तंभ होता है। यदि कंठ की मांस पेशियों में तो स्तंभ हो जाय और श्वास की मांस पेशियों में अभी स्तंभ न हुआ हो तो ऐसी अवस्था में स्तब्ध हुए कंठ में से श्वास वायु के अंदर जाने से एक चीख की सी आवाज उत्पन्न होती है जो अलौकिक और भयंकर होती है। (Epileptic Cry) जब कंठ और श्वास नालियों में से एक साथ स्तब्धता होती है तब श्वास के अवरुद्ध हो जाने से यह चीख उत्पन्न नहीं होती। जबड़े की मांस पेशियों और जीभ में स्तम्भ हो जाने से जीभ दांतों के नीचे आकर कट जाती है। अर्थात् जैसे सिर और ग्रीवा एक ओर को फिर जाते हैं वैसे जीभ भी उधर को फिर जाती है। और वह उधर स्तब्ध हुये जबड़े के बीच में आकर जख्मी हो जाती है। एक रोगी में सदा जिव्हा का वही एक किनारा कटा करता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक रोगी में रोग का प्रारंभ उसकी मस्तिष्क के किसी एक स्थान से आरंभ हुआ करता है। श्वास मांस पेशियों के स्तब्ध हो जाने से रोगी का चेहरा नीला पड़ जाता है। यह मूर्छा, स्तम्भावस्था या इस रोग की प्रथम अवस्था लगभग आधा मिनट रहती है।

आक्षेपावस्था :-(Clonic Phase)

स्तंभावस्था के बाद मूर्छा युक्त आक्षेपावस्था आती है। अर्थात् ज्यों ज्यों मस्तिष्क सेलों में उत्पन्न विकार कुछ ठीक होने लगता है त्यों त्यों निरंतर स्तंभ के स्थान पर "सान्तर स्तंभ" अर्थात् रह रहकर स्तंभ होने का उदाय होने लगता है। इस अवस्था में रोगी अपनी बाहुओं और जंघाओं को वेग से पटकने लगता है। दूसरे शब्दों में उसकी शाखाओं में अवस्त् संकोच प्रसार (Relaxation तथा Spasm) होने लगते हैं। पलकें भी बंद होती और खुलती हैं। जबड़ा भी बंद होता और खुलता है। इसी अवस्था में रोगी की जीभ कटती है। यह आक्षेपावस्था लगभग एक मिनट रहा करती है।

इस अवस्था के बाद संपूर्ण शरीर शिथिल हो जाता है। श्वास मांस पेशियों के शिथिल हो जाने से श्वास गति फिर आरंभ हो जाती है। श्वास गति के आरंभ होते ही मुख में संचित थूक में मंथन सा होने लगता है जिससे वहां उत्पन्न झाग नासिका और मुख से निकलती हुई दिखाई पड़ती है। इस शिथिलावस्था (Relaxation) में रोगी मूर्छित हुआ जमीन पर पड़ा घुर्राटे ले रहा होता है। परीक्षा करने पर उसकी पुतलियां फैली हुई होती हैं। कार्निया पर छूने से भी वह पलक नहीं झपकता। पर यह मूर्छा क्षणिक ही होती है। इसके बाद वह घबराये हुये व्यक्ति की तरह आंखें सी खोले चकित सा होकर चारों ओर देखने लगता है जो कुछ हुआ होता है उसका उसे कुछ पता नहीं होता। पूछने पर वह अपने सिर में दर्द की शिकायत करता है

तथा कहीं एकांत में शांति से सोना चाहता है। इस प्रकार इस रोग के वेग का यह एक संक्षिप्त सा चित्र खींचा है। हो सकता है कि उपर्युक्त इन अवस्थाओं में से कोई एक ही या दो ही अवस्था हों अर्थात् केवल स्तंभावस्था ही हो या स्तंभ और आक्षेप की दोनों अवस्थायें बहुत स्वल्प काल के लिये हों। इसलिये जब कोई नवयुवक सहसा मूर्छित होकर गिर पड़े और उसके शरीर में स्वल्प या अधिक [illegible] स्तंभ और आक्षेप की दोनों अवस्थायें बहुत स्वल्प काल के लिये हों। इसलिये जब कोई नवयुवक सहसा मूर्छित होकर गिर पड़े और उसके शरीर में स्वल्प या अधिक स्तंभ और आक्षेप के लक्षण हों और शीघ्र ही वह फिर सचेत हो जाय तो उसे अपस्मार रोग ही समझना चाहिये।

लघ्वपस्मार:- (Petitmal, minor Epilepsy)

जब किसी बालक या युवक में एक आध क्षण के लिये अचेतनता होती है तब उसे लघ्वपस्मार कहते हैं। कभी कभी यह अचेतनता इतने थोड़े काल के लिये होती है कि दूसरों को इसका पता भी नहीं चलता। अर्थात् क्षण भर को रोगी का चेहरा फीका सा पड़ कर तुरंत ही ठीक हो जाता है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसका सिर चकराया और क्षण भर के लिये उसे कुछ हो गया। यदि यह मूर्छा कुछ गहरी हो तो उसका सिर आगे को झुक जाता है। या वह गिर कर एक दम ठंडा हो जाता है। अर्थात् सहसा अंक सी मूर्छा का होना इसका प्रधान लक्षण होता है। इस मूर्छा के बाद रोगी कभी कभी कोई ऐसा काम कर बैठता है जिसका उसे पता नहीं होता। कि वह क्या कर रहा है अर्थात् वह अपने कपड़े उतारने लगता है, या इधर उधर घूमने लगता है, या पास में पड़ी किसी पुस्तक आदि को फाड़ देता है, या दूसरे की वस्तु को उठाकर अपनी जेब में टाल [illegible] देता है, या जिस आदमी से द्वेष हो उसे कुछ हानि पहुंचाता है अर्थात् जैसा जिसका स्वभाव होता है उसके अनुसार वह कुछ कार्य कर बैठता है।

निद्रापस्मार :-(Narcolepsy)

निद्रापस्मार में रोगी थोड़ी देर के लिये अचेत होकर सो जाता है। पर जगाने से उसकी यह निद्रा टूट जाती है। यह भी सहसा होने वाली एक मूर्छा है। इसलिये एक प्रकार का अपस्मार है।

मानस अपस्मार :-(Psychic Epilepsy)

कभी कभी कोई नवयुवक बिना बेहोश हुये कुछ मिनटों, घंटों या कुछ दिनों के लिये कहीं को निकल जाता है और कुछ अजीब सा काम कर बैठता है।

चिकित्सा : -

पहले पोटासियम ब्रोमाइड को १०,१२ ग्रेन की मात्रा में Liqu:

Arsenicalis २ बूंद तथा Tincture Bella: ५ बूंद के साथ दिन में १,२ या ३ बार दिया जाता था परंतु अब न धुले वाला Phenobarbitone (Luminal,-Prominal) $\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार दिया जाता है। बालक को इसकी $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार तक दी जाती है। इतनी मात्रा में यह औषधि आक्षेप शामक होती है। इससे अधिक मात्रा में यह निद्राजनक हो जाती है। इस औषधि को २,३ वर्षों तक जारी रख कर फिर इसकी मात्रा क्रमश: कम करते जायें तो इस रोग के होने की आशंका नहीं रहती। इस औषधि के लगातार प्रयोग से यदि कुछ आलस्य रहे तो Amphetamine Sulph: (Benzedrine) ५ मिलि० की मात्रा में प्रातःकाल तथा दोपहर के खाने से पहले दे देना चाहिये।

इस रोग की तीसरी औषधि Sodium Phenytoin (Dilatin, Epautin) Ept-oin, Antidacer). है जो .१ ग्राम या $1\frac{1}{2}$ ग्रेन मात्रा में दिन में ३ बार भोजन बाद जल से दी जाती है। बालक को .०१ ग्राम मात्रा में दिन में ३ बार दी जाती है। यह कैप्सूल में बंद मिलती है। यदि बालक को केवल रात को ही अपस्मार का वेग होता हो तो .२ ग्राम Dilantin को .०५ ग्राम Luminal के साथ सोते समय दे देना चाहिये। यह औषधि Phenobarbitone के समान निद्राजनक नहीं होती। अपस्मार शामक है। इसके प्रयोग से मसूढ़ों में सूजन हो जाय तो इसकी मात्रा कम कर देनी चाहिये।

इस रोग की चौथी औषधि Primidone (Mysoline) .२५ ग्राम मात्रा में दिन में एक बार से धीरे धीरे बढ़ाकर दिन में ३,४ बार तक दी जाती है। यह भी आक्षेप शामक औषधि है।

अपस्मार का वेग अति तीव्र रूप में हो (Status Epilepticus) तो रोगी को अंधेरे कमरे में लिटायें। Hyoscine Hydrobrom: $\frac{1}{100}$ ग्रेन या Phenobarbitone Sodium(Luminal Sod) २ ग्रेन मात्रा में १०,११ बूंद जल में मिला कर त्वचा द्वारा देना चाहिये अथवा रोगी को वस्ति करके इसकी गुदा में $\frac{1}{2}$ - $\frac{3}{4}$ औंस Paraldephyde इतने ही जैतून के तेल में मिला कर डाल देना चाहिये। रोगी के शरीर में Acidosis न बढ़ने पाये इसलिये इसे खाने के लिये ग्लूकोज दूध आदि देते रहना चाहिये।

लघ्वपस्मार के लिये :- Tridione .३ ग्राम कैप्सूल दिन में ३ बार दी जाती है। बालक को इससे आधी मात्रा में दी जाती है। Paradione को भी इसी मात्रा में दिया जा सकता है। या Amphetamine के $2\frac{1}{2}$ मिलि ग्राम मात्रा में दिन में तीन बार देने से भी यही लाभ होता है।

निद्रापस्मार के लिये :- Ephedrine Hydroch: $\frac{1}{4}$ ग्रेन मात्रा में तीन बार

Arsenicalis ४ बूंद तथा Tincture Bella: ५ बूंद के साथ दिन में ३,४ बार, मिर्गी आक्रमण [illegible] उपयोगी Phenobarbitone (Luminal,-Prominal) $\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार, मिर्गी आक्रमण में। आरम्भ की बच्चों $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार तक दी जाती है। बड़ी मात्रा में यह औषधि अधिक [illegible] देती है। [illegible] मात्रा से यह निद्राजनक हो जाती है। इस औषधि को २,३ सप्ताह तक देते रहने पर [illegible] इसकी मात्रा [illegible] चाहिए। यह औषधि के साथ [illegible] Amphetamine Sulph: (Benzedrine) ५ मिग्रा. की मात्रा में प्रातः तथा दोपहर में देने से लाभ हो सकता है।

इस रोग की प्रसिद्ध प्रभावी औषधि Sodium Phenytoin (Dilantin, Epanutin, Ept- oin, Antisacer). है जो ०.१ ग्राम या $\frac{1}{2}$ ग्रेन मात्रा में दिन में ३ बार [illegible] आरम्भ में दी जाती है। आरम्भ में ०.१ ग्राम मात्रा में दिन में ३ बार दी जाती है। यह मिर्गी के दौरे रोकती है। [illegible] दो या तीन सप्ताह तक ऐसी दी जा सकती है। ०.२ ग्राम Dilantin और ०.१ ग्राम Luminal के साथ देने से अधिक लाभ होता है। यह औषधि Phenobarbitone से अधिक प्रभावी [illegible] है। इसके प्रयोग से मसूड़ों में [illegible] देनी चाहिए।

इस रोग की दूसरी औषधि Primidone (Mysoline) ०.२५ ग्राम मात्रा में दिन में २ बार से आरम्भ करके धीरे-धीरे बढ़ाकर दिन में ३,४ बार तक दी जाती है। यह भी अधिक प्रभावी औषधि है।

अपस्मार का दौरा बार-बार [illegible] (Status Epilepticus) तो रोगी को इन्जेक्शन द्वारा ये दीजिये। Hyoscine Hydrobrom: $\frac{1}{100}$ ग्रेन या Phenobarbitone Sodium (Luminal Sod.) ३ ग्रेन मात्रा में [illegible] से [illegible] $\frac{1}{2}$, $\frac{3}{4}$ औंस Paraldehyde [illegible] देना चाहिए। रोगी के शरीर में Acidosis [illegible] देनी चाहिए।

अपस्मार के भेद :- Tridione ०.३ ग्राम [illegible] दिन में ३ बार दी जाती है। आरम्भ [illegible] मात्रा में दी जाती है। Paradione भी [illegible] मात्रा में [illegible] है। यह Amphetamine $\frac{1}{5}$ से [illegible] ग्रेन मात्रा में [illegible] है।

निद्रारोग के भेद :- Ephedrine Hydroch: $\frac{3}{8}$ ग्रेन मात्रा में [illegible]

प्रयोग करने या Amphetamine(Benzedrine). के ५ मिलिग्राम मात्रा में दो बार देने से लाभ होता है।

आयुर्वेद में अपस्मार :-

आयुर्वेद में मस्तिष्क में वायु, पित्त या कफ दोष के बढ़ जाने तथा मस्तिष्क में जन्म से ही इस रोग की निर्बलता के होने से यह रोग उत्पन्न होता कहा गया है। चिन्ता, शोकादि की अधिकता से तथा शरीर के पोषण में कमी होने से वायु दोष की वृद्धि होती है। देहाग्नि के अधिक बढ़ जाने से पित्त दोष तथा देहाग्नि के अति मंद होने से कफ दोष की वृद्धि होती है। इस प्रकार वात, पित्त, कफ तथा इनके सन्निपात से चार प्रकार का अपस्मार हो सकता है। अतः इस रोग की चिकित्सा के लिये बस्ति, या विरेचन या वमन और शिरोविरेचन के द्वारा शरीर में जो दोष अधिक बढ़ा हो उसका शोधन करना चाहिये। चिन्ता, काम, क्रोध, अति मानसिक शारीरिक श्रम, अति लंघन, तीक्ष्ण गुरु आहारों व अजीर्ण से बचना चाहिये। अधिक जागरण से भी बचना चाहिये। घृत, दुग्ध, फल आदि हितकर कहे गये हैं।

इस रोग के लिये ब्राह्मी का प्रयोग सारस्वतारिष्ट, (१-२ तोला भोजन बाद) ब्राह्मी घृत, सारस्वत चूर्ण (१, २ माशा) के रूप में बहुत किया जाता है। या सारस्वत चूर्ण १ माशा को वृहद्वात चिन्तामणि १ रत्ती के साथ मिला कर दिन में दो बार मधु घृत के साथ दिया जाता है। अपामार्गबीजादि नस्य (च.।सू.।२) भी उपयोगी है।

स्मृति सागर रस, (पारद, गंधक, मनसिल, हरताल, ताम्र, समान २ को ब्राह्मी, शंखपुष्पी, वचा की २१ भावना तथा माल कंगनी तैल से १ भावना देकर बनाया) को आधा माशा की मात्रा में घृत के साथ दिन में दो बार दिया जाता है। भोजन में रोगी को पेठे तथा हींग का और ब्राह्मी शंखपुष्पी की चाय का सेवन कराया जाता है।

।। च.सू० ।२५।।, तथा ।।नि ।८।।, तथा ।।चि ।१० ।।,

क्षणिक मूर्छा :-Syncope-Vasovagal Attack:

युवावस्था में क्षणिक मूर्छा का एक रोग पाया जाता है। जो संभवतः सिरा नियामक केन्द्र या सिरा संकोचक (Vasomotor या Vasoconstrictor) शक्ति केन्द्र के कि जिस पर रक्त वाहिनियों की दीवार का बल निर्भर है, सहसा निर्बल हो जाने से उत्पन्न होती है। इससे शरीर की सूक्ष्म रक्त वाहिनियां शिथिल होकर फैल जाती हैं। तथा ऐसी सूक्ष्म सिरायें (Capillaries) जो साधारणतः बंद ही रहती हैं वे भी शिथिल होकर फैल जाती हैं। इस प्रकार शरीर का बहुत सा रक्त शरीर की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में ही इतना अधिक भर जाता है कि हृदय को बहुत कम मात्रा में लौटता है जिससे हृदय की निकासी कम हो जाती है। इसी लिये

इससे मस्तिष्क को पहुंचने वाले रक्त की मात्रा सहसा गिर जाती है। इसीलिये खड़ा हुआ युवक सहसा मूर्छित होकर गिर पड़ता है। Vagus की उत्तेजना से हृदयगति भी मंद हो जाती है। इसीलिये इसे Vasovagal Attack कहा जाता है।

जब रोगी गिर पड़ता है तब मस्तिष्क को पहुंचने वाले रक्त की मात्रा बढ़ जाती है जिससे मूर्छा शीघ्र ही शांत हो जाती है।

विषम ज्वर से या किसी अन्य रोग से निर्बल हुये ऐसे व्यक्ति में जिनमें Sympathetic नाड़ी मंडल विशेषतः निर्बल हुआ है यह मूर्छा होती है। ऊपर से शोक,दुःख आदि किसी मानसिक आघात के लगने या त्वचा पर किसी दुःख साधारण शल्य कर्म के होने या किसी दूसरे के बहते खून को देखने या भीड़ युक्त हवा रहित प्रदेश में खड़े रहने से यह मूर्छा आरंभ होती है।

परीक्षा करने पर रोगी का चेहरा फीका,दीखता है। उसकी हृदय तथा नाड़ी गति मंद होती,रक्त भार गिरा हुआ होता है। बड़ी आयु में पाई जाने वाली अस्थायी या क्षणिक मूर्छा छोटी छोटी मस्तिष्क धमनियों में अस्थायी अवरोध या स्वल्प Cerebral Thrombosis के कारण हुआ करती है। इससे युवा सुलभ मूर्छा का भेद करना चाहिये।

चिकित्सा :-

ऐसे व्यक्ति को लिटाकर उसके पायते को ऊंचा कर देना चाहिये। (Shock Position) उसके मुख पर शीतल जल के छींटे देने चाहिये। अमोनिया सुंघाना चाहिये या (Spirit Ammon,Aroma) ३० बूंद पिला देना चाहिये या Caramine का इंजेक्शन देना चाहिये।

दीर्घ मूर्छा :-

सिरा नियामक केन्द्र या सिरा संकोचक शक्ति अधिक मात्रा में तथा देर तक निर्बल हो जाय तब ऐसी अवस्था में होने वाली दीर्घ मूर्छा को Shock कहते हैं। किसी रक्त वाहिनि में से बहुत से रक्त के बह जाने से या रक्त में से उसके जल भाग के बहुत मात्रा में शरीर में से निकल जाने से अतिसार,अग्निदाह,या किसी दुर्घटना में शरीर पर भारी चोट लगकर मांस पेशियों के कुचले जाने से अर्थात् उनमें से Histamine के रक्त में संचार कर जाने से या किसी रोग विष के शरीर में अधिक फैल जाने से या पूय विष (Sepsis) की तीव्रता से या ग्रीष्म ऋतु में किसी बिगड़े हुये भोजन के खाये जाने से या किसी बाह्य प्रोटीन द्रव्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाने से (Anaphylaxis) या किसी स्त्री में शस्त्र द्वारा प्रसव कराने से रक्त वाहिनियों की रक्त वाहक शक्ति क्षीण हो जाती है। इसे

Shock, Callapse या सर्वाङ्ग शैत्य कहते हैं।

ऐसी अवस्था में रोगी मूर्छित एवं उदासीन की तरह पड़ा होता है। यद्यपि उसकी समझ बूझ होती है। उसका चेहरा फीका, त्वचा शीत, आर्द्र होती है। पुतली फैली होती है, उस पर प्रकाश का प्रभाव मंद होता है, हृदय गति तथा नाड़ी गति निर्बल होती हैं, नाड़ी तीव्र होती है, शरीर का तापमान बहुत गिरा हुआ होता है, मूत्र मल, बंद होते हैं, रक्त भार गिरा हुआ होता है।

सन्यास मूर्छा (Coma) गहरी होती है तथा उसमें रोगी स्मृति से रहित होता है। उससे इसका भ्रम नहीं होना चाहिये।

चिकित्सा :-

इसमें भी रोगी के पायते को ऊंचा तथा गर्म बोतलों से उसे गर्म रखना चाहिये। Pentobarbital Sodium (Nembutal) / १½ ग्रेन मुख द्वारा या २ ग्रेन त्वचा द्वारा दे देना चाहिये। नार्मल सेलाइन या ग्लूकोज सोल्यूशन ५,० प्र०श०,२०० सी.सी. की मात्रा में शिरा द्वारा दे देना चाहिये। Plasma ५०० सी.सी. के देने से रोगी को अधिक बल मिलता है। Hydrocortisone(Solu:Cortef:) १०० मिलि मात्रा में Normal Saline के साथ या शुद्ध जल में धीरे धीरे शिरा द्वारा देने से भी लाभ होता है।

अर्धावभेदक :- Migraine, Hemicramia:

कारण :-

नवयुवावस्था में विशेषतः नव युवतियों में, मध्यायु तक १५,१५ दिन या महीनों के अंतर से वेगों में होने वाला यह एक सिर दर्द है। जो पहले सिर के एक प्रदेश में आरंभ होकर आधे सिर में और कभी कभी सारे सिर में और ग्रीवा में भी फैल जाता है।

जिस प्रकार मस्तिष्कान्तर्गत रक्त वाहिनियों के फैल जाने या उनके अंदर रक्त भार के बढ़ जाने से या उनके आस पास के अवकाश में स्वयथु (Oedema) के हो जाने से सिरदर्द हो जाता है, वैसे ही सिर के बाहर कपाल में आने वाली Ex: carotid Art: और उसकी शाखाओं के शिथिल (Dilated) हो जाने एवं उनके अंदर रक्त के अधिक भर जाने तथा उनके आस पास के अवकाश में स्वयथु के हो जाने से यह अर्धावभेदक नाम का सिरदर्द होता है।

क्रोध, चिन्ता, मानसिक, शारीरिक थकावट आदि कारणों के आ पड़ने पर, शरीर में विद्यमान किसी विष (Metabolite) के दुष्प्रभाव से कपाल की रक्त वाहिनियों में पहले तो स्तंभ (Spasm) हो जाता है। इससे वहां की मांसपेशियों को रक्त कम मिलता है। जिससे उनमें भी स्तंभ हो जाता है। स्तंभ के बाद रक्त वाहिनियां शिथिल होकर फैल जाती हैं। उनके फैल जाने से सिर दर्द आरंभ हो जाता है।

लक्षण :-

प्रातः काल जब रोगी तकिये से सिर उठाने लगता है उसका सिर चकराने लगता (Vertigo) तथा उसके आँखों के सामने अँधेरा सा आ जाता है। अथवा अँधेरे के बीच में चकारे से दीखते हैं। दृष्टि पटल (Retina) की रक्त वाहिनियों में स्तंभ के हो जाने से ये लक्षण होते हैं। ये पूर्व रूप (Aura) १०,१५ मिनट तक रहते हैं। इसके साथ रोगी में अरुचि या वमन आने का लक्षण भी होता है। इसके बाद जब रक्त वाहिनियाँ फैल जाती हैं तब एक ओर की कनपटी या नेत्र प्रदेश पर शूल आरंभ हो जाता है। धीरे धीरे यह अधिक अधिक प्रदेश पर फैलता जाता तथा तीक्ष्ण तर होता जाता है। हिलने से, प्रकाश पड़ने से, शोर गुल से, यह शूल और बढ़ता है। शूल के साथ वमन होने का लक्षण भी होता है। २,४ घंटों तक शूल बढ़ा हुआ रहने के बाद क्रमशः घटने लगता है। अंत में रोगी को नींद आ जाती है और जब वह इससे उठता है तब दर्द समाप्त हो चुका होता है।

चिकित्सा :-

कपाल पर की रक्त वाहिनियों के फैल जाने से यह दर्द होता है। इसलिये सिर को कस कर बाँधा देने से इसमें कुछ कमी हो जाती है। इसी प्रकार Ex: Carotid Art: के दबाने से भी यह दर्द घट जाता है। Phenacetin. १० ग्रेन, Aspirin १० ग्रेन, Caffine 5 ग्रेन की एक पुड़िया के लेने से या Pyramidon १० ग्रेन के लेने से या Luminal १½ ग्रेन के लेने तथा आवश्यकता पड़ने पर इनके दुहराने से यह दर्द शांत हो जाता है। Ex Ergotamine Tartrate या Dihydroergotamine Tartrate १ सी०सी० मात्रा के अम्पूल में जिसमें ½ मिलिग्राम औषधि होती है, मिलता है। इसके ½ सी.सी. की मात्रा में त्वचा द्वारा देने और आवश्यकता हो तो दो घंटे बाद फिर आधा सी०सी० मात्रा में देने से बहुधा दर्द में आराम आ जाता है। अथवा इसकी १ मिलिग्राम की गोली के जीभ के नीचे रख कर चूसने से और आधे आधे घंटे में इसी प्रकार इन गोलियों के चूस कर आवश्यकता हो तो ६,७, गोलियों तक लेने से आराम आ जाता है। इस औषधि के लेने के बाद रोगी को १,२ घंटे लेटे रहना चाहिये।

आगे से इस रोग की रोकथाम के लिये Phenobarbitone १ ग्रेन, मात्रा में रात को एक बार कुछ महीनों तक लेते रहना चाहिये। Nicotinic Acid: रक्त वाहिनियों के संकोच को रोकता है (यह Antispastic है) इसके २५ मिलिग्राम मात्रा में दिन में दो बार भोजन बाद कुछ काल तक लेते रहने से भी यही लाभ होता है। Gover's Mix:(Liquor Trinitrin, Tincture Nuxvomica -- -- -- -- १० बूंद, Tincture

Gelsemuim १० बूंद, Dilutehydro Bromic Acid ५ बूंद, Sod: Brom: १० ग्रेन, के दिन में दो तीन बार कुछ मास तक देने से भी यह दर्द नहीं होता। Vitamin B_1 के ५० मि.ग्रा. मात्रा में प्रति दिन देते रहने से भी लाभ होता है। अति मानसिक तथा शारीरिक श्रम से तथा रतजगा और कब्जी से बचा जाय, घृत तैल आदि से बने आहारों का सेवन न किया जाय और आंखों पर अधिक जोर न डाला जाय तो भी इस रोग का वेग नहीं होता।

वायुकैक में अर्धावभेदक शूल :-

वायुकोपानुसार कपाल की रक्त वाहिनियों और मांस पेशियों में वायु के प्रकुपित होने से अर्थात् उनकी प्राण शक्ति की हीनता से आधे सिर में यह दर्द उठता है जो कुछ कुछ दिनों के अंतर से होता है। सुश्रुत ने इसे वात प्रधान त्रिदोषज शूल कहा है। ।। च।सि।२६।। सु।उत्तर।२६।।

शिर में विद्यमान वातिक निर्बलता की शांति के लिये रोगी को बादाम पाक, (बादाम, चारमगज, खसखस, छुहारा ५,५ तोला की पिट्ठी, घृत, २ पाव में भूनकर १ सेर मिश्री की चासनी में डाल कर बनाया), २ तोला की मात्रा में मुक्ता पिष्टी या मुक्ता शुक्ति १½ रत्ती के साथ मिला के दिया जाता है। दशमूल कषाय में थोड़ा लवण तथा घृत मिला कर इसे नाक द्वारा पीने से भी शिर की दुर्बलता शांत होती है। दशमूल क्वाथ से साधित तैल के सिर पर कुछ काल तक मलने से, नाक में (रेचन अपामार्गादि नित्य तथा) षड् बिन्दु तैल के नस्य लेते रहने से भी इस शूल का निवारण होता है। शूल के समय गुग्गुल ६ माशा, कटेरी के फल ६ माशा, वत्सनाभ १ माशा मिला पीसकर कनपटी पर लेप करने से या कुष्ठ और सोंठ बराबर बराबर मिला कर इसके लेप से या तिलों को पीसकर उसकी पुल्टिस बनाकर उसमें कुछ नमक के साथ मिला कर लेप करने से माथे का शूल शांत होता है।

अर्दित :- Facial Paralysis, Bell's Palsy:

मस्तिष्क सप्तम नाड़ी (Facial N.) का मूल स्थान Pons में होता है। इससे ऊपर के इस नाड़ी के भाग में (Supranuclear भाग में) जब रोग होता है जैसे कि पक्षाघात रोग में मस्तिष्क धमनी रोध (Cere: Thrombosis.) के कारण होता है तब भी एक ओर के चेहरे में विशेषतः उधर के चेहरे के निचले भाग की मांस पेशियों में घात (Paralysis) का लक्षण होता है। यह रोग ५०, ६० वर्ष की आयु के बाद शुरू करता है।

पर इस नाड़ी के निचले सिरे में जो कि Stylomastoid छिद्र के बाहर रहता है कभी कभी सर्दी लग कर शोथ हो जाने का रोग हो जाता है फिर यह शोथ इसके Facial Canal के अंदर विद्यमान भाग में भी प्रसरण कर जाता है। यह शोथ यद्यपि इस नाड़ी के आवरण (Sheath) में होता है पर आवरण के स्थूल हो जाने से बीच के नाड़ी सूत्र भी दब जाते हैं। इनके दब जाने से

उनका पोषण कम हो जाता एवं उसमें शिथिलता उत्पन्न हो जाती है जिससे आधा चेहरा भर जाता है। जिह्वा के अग्रिम दो तिहाई भाग से स्वाद का वहन करने वाली Chordatympani भी Facial Canal में इस नाड़ी के साथ साथ ही रहती है। इसलिये यदि वह भी दब जाये तो कभी कभी इस रोग के कारण उत्पन्न लकवे के साथ साथ स्वाद नाश का लक्षण भी मिलता है। यह लकवे का रोग २०,२५ वर्ष की आयु में पाया जाता है।

लक्षण :-

यह लकवा या अर्दित का रोग सहसा आरंभ होता है। कभी कभी इसके होने से पहले कान के नीचे वेदना होती है। इसमें आधे चेहरे की मांस पेशियां शक्ति हीन हो जाती हैं। रोगी को उधर का चेहरा स्तब्ध या अकड़ा हुआ अनुभव होता है। उधर की आंख की पलकें भी पूरी तरह बंद नहीं होती। उधर के ओष्ठ भी परस्पर एकत्रित नहीं हो सकते। जिससे पिया हुआ द्रव्य उधर से च्युत हो जाता है। रोगी का भाषण भी अस्पष्ट हो जाता है। खाया हुआ भोजन उस ओर मुख के अंदर संचित हो जाता है। रोगी का चेहरा स्वस्थ पक्ष की ओर फिरा हुआ मालूम होता है। चेहरे की उधर की मांस पेशियों में स्वयं विक्षोभ भी रोग इसकि हो जाता है।

यदि रोगी की आयु बड़ी न हो, पलकों को झपकने की कुछ शक्ति हो तो यह रोग २,३ महीनों में अच्छा हो जाता है। यदि इसमें स्वाद नाश का लक्षण भी होतो यह कुछ देर में अच्छा होता है।

चिकित्सा :-

जब तक कान के नीचे दर्द रहे, रोगी को गर्म स्थान पर पड़े रखना चाहिये। तथा Stylomastoid छिद्र पर गर्म गर्म पोल्टिस (Kaolin) की बांधनी चाहिये या वहां सेक कर गर्म रुई हर समय बांधे रखना चाहिये। प्रतिदिन किसी विरेचक औषधि का प्रयोग करना चाहिये तथा इस नाड़ी के शोथ को दूर करने के लिये (Pot:Iod:) ३ ग्रेन, Sod:Salicyl: १० ग्रेन, Soda Bi-CarbE २० ग्रेन, Syr:Aurant: २० बूंद, जल १ औंस मिलाकर ऐसी एक मात्रा दिन में ३बार दो देनी चाहिये। Vitamin B_1 १०० मिलिग्राम की मात्रा में त्वचा द्वारा चार पांच बार में देने से भी इस रोग में कुछ लाभदायक होता है। Cortisone(Cortistala,Cortisyl,Cortelan). के २५ मिलि. मात्रा में देने से इस रोग में कुछ विशेष लाभ प्रतीत होता है। रोग प्रारंभ होने के एक सप्ताह बाद किसी गर्म तेल या लिनिमेन्ट के द्वारा उधर के चेहरे पर ५,१० मिनट के लिये मालिश आरंभ कर देनी चाहिये।

आयुर्वेद में अर्दित रोग :-

मस्तिष्क सप्त नाड़ी में बड़ी आयु में वायु का प्रकोप विशेष

होने से तथा होटी आयु में इसके अंदर कफ और वायु का प्रकोप होने से (अर्थात् इस नाड़ी में Rheumatic शोथ होने से) यह रोग होता है।

इस रोग में अलसी तथा तिलों को पीसकर उस लुगदी में कपूर तथा सरसों तथा तिल का तेल उचित मात्रा में मिलाकर बनाया हुआ लेप गर्म गर्म कानों के नीचे के प्रदेश पर बांधा दिया जाता है तथा एक सप्ताह बाद फिर माष तेल या नारायण तेल या सैन्धवादि तेल की मालिश आरंभ कर दी जाती है।

वायु तथा कफ दोनों की शान्ति के लिये दशमूल, अमलतास, गिलोय, एरण्ड, पुनर्नवा, देवदारु, प्रत्येक समान समान मिला कर बनाये क्वाथ द्रव्य को दो तोला मात्रा में लेकर $\frac{1}{2}$ सेर जल में पका २, ३ औंस शेष रहने पर दिन में एक बार पिलाया जाता है। योग राज गुग्गुल की दो दो गोली दिन में दो बार दी जाती हैं। लहसुन का मक्खन के साथ सेवन कराया जाता है। उड़द की बड़ियों के रसे के साथ रोटी खाने को दी जाती है। षड्बिन्दु तेल या घृत का नस्य दिन में दो बार दिया जाता है। मल्ल सिंदूर [तथा महागंधक] १-२ रत्ती की मात्रा में शहद के साथ दिन में दो बार देने से भी इस रोग में आराम प्रतीत होता है।

अनन्त वात शूल :- Trigeminal Neuralgia, Tic: Douloureux या Epileptiform Neuralgia:-

४० वर्ष या इसके लगभग की आयु में मुख पर, मस्तिष्क पंचम नाड़ी (Trigeminal) के प्रदेश पर, वेगों में होने वाला यह एक तीव्र शूल का रोग है जिसे अनन्तवात शूल कहते हैं।

मस्तिष्क पंचम नाड़ी की तीन संज्ञावाहीक शाखाओं में से प्रथम नेत्र गामिनी (Ophthalmic) शाखा, मस्तक, ललाट, नेत्र, नासा, की त्वचा के प्रदेशों से संज्ञा का वहन मस्तिष्क तक करती है। द्वितीय ऊर्ध्वी हनु शाखा (Maxillary) ऊर्ध्वोष्ठ, गाल, तालु, तथा ऊपर के जबड़े की त्वचा से संज्ञा का वहन मस्तिष्क तक करती है। तृतीय व अधोहनु शाखा (Mandibular) निम्नौष्ठ, ठोड़ी, निचले जबड़े की त्वचा तथा श्लैष्मिक कला से संज्ञा का वहन मस्तिष्क तक करती है।

इनमें से किसी शाखा के चेहरे पर के प्रदेश में शूल हो सकता है। यह शूल चेहरे के एक ओर ही होता है। दोनों ओर एक साथ नहीं होता। कभी तो आंख के ऊपर भ्रू में यह शूल होता है, (Supraorbital Neuralg: कभी आंख के नीचे गाल पर होता है। (Infraorbital Neuralg:) या कभी कभी ठोड़ी में यह शूल होता है। (Mental Foramen में) यह शूल अकस्मात् विद्युद्गति के सदृश आरंभ होता है। और इतना तीव्र होता है कि रोगी को तप्त शूल चुभता जाता है। रोगी एक दम अवाक् और निश्चेष्ट होकर पड़ जाता

है। थोड़ा बोलने या हिलने से उसे इसके फिर वेग हो जाने का भय रहता है। यह शूल का वेग कुछ सेकन्ड ही रहता है और कुछ कुछ मिनटों के अंतर से फिर उसी प्रकार का शूल का वेग उठता है। यह शूल का वेग रोगी को कार्य करते समय में होता है। आराम करते समय कभी नहीं उठता।

कारण :-

पंचम मस्तिष्क नाड़ी के पोषण में न्यूनता के हो जाने से यह रोग होता प्रतीत होता है। क्योंकि ज्वर आदि से जब कोई निर्बल हो जाता है या जब मुख पर शीत वायु या शीत जल का प्रबल स्पर्श होता है तब इस शूल का वेग आरंभ होता है। अर्थात् शीत के लगने से इस नाड़ी को रक्त देने वाली रक्त वाहिनियों में संकोच होकर जब उसे रक्त कम मिलता है। तब उसमें शूल आरंभ होता है। मुख धोने, कुल्ला करने, हजामत बनाने या खाने से भी यह वेग आरंभ हो जाता है।

चिकित्सा :-

वेदना युक्त प्रदेश पर गर्म सिकाई करने से अर्थात् गर्म रबर की बोतल रखने से आराम प्रतीत होता है। इस रोग का रोगी दो तीन सप्ताह पूर्ण विश्राम कर ले तो भी फिर उसे दर्द नहीं उठता। शरीर की शक्ति को बढ़ाने के लिये उसे Vitamin B_{12}. का एक हजार माइक्रो ग्राम मात्रा में १०, १२ दिन इंजेक्शन दे देना चाहिये। इसके बाद साप्ताहिक २ इंजेक्शन कुछ महीनों तक देने से इस रोग के होने का भय शांत हो जाता है। Nicotinic Acid के १०० मिलि० मात्रा में भोजन से पहले रात को एक बार प्रतिदिन दे देने से फिर इस शूल के होने की आशंका नहीं रहती। वेग के समय उसकी शांति के लिये Tincture Gelsemium १० बूंद, Soda Salicyl: १० ग्रेन, Soda Bi-Carb: २० ग्रेन, Sod-Brom: १० ग्रेन, Syr: A-urant: २० बूंद, जल १ औंस मिला कर दे सकते हैं।

आयुर्वेद में अनन्त वात शूल :-

कुछ मस्तिष्क पंचम नाड़ी के क्षेत्र जैसे भ्रू, शंख, गंड, हनु आदि प्रदेशों में होनेवाले तीव्र शूल को अनन्तवात कहा है। इसे विशेषतः वायु तथा सामान्यत: पित्त कफ दोषों की वृद्धि से भी उत्पन्न होने वाला शूल कहा है।

इसके लिये वायु शामक चिकित्सा अर्थात् एरंड तैल द्वारा मृदु रेचन देने के बाद रोगी को बादाम पाक, घृत, जांगल मांस, दूध आदि द्वारा पोषक चिकित्सा कही गई है। दशमूल क्वाथ कल्क तथा दूध से बने तैल की सिर पर नित्य मालिश करनी चाहिये। षड्बिन्दु तैल या घृत का नस्य लेते रहना चाहिये। दूध में घृत मिला उसे नाक से पीना चाहिये।

!! कुछ उत्तरा ।२५।।

शिरोभ्रम (Vertigo) तथा कर्णनाद :- (Tinnitus)

मस्तिष्क अष्टम नाड़ी या श्रवण नाड़ी (Auditory Nerve) के कुछ सूत्र अंतःकर्ण से Vestibule में स्थित Scarpa के Ganglion से प्रारंभ होकर नीचे तो शब्द के मुख्य स्थान Semicircular Canals में समाप्त होते ऊपर Pons में स्थित Vestibular (Deiter's) न्यूक्लियस में जो कि तीसरी, चौथी, छठी तथा ११ वीं मस्तिष्क नाड़ियों तथा तथा Cerebellum और Westibulospinal Tract के द्वारा शरीर के चेष्टा सूत्रों से भी संबंधित रहता है, समाप्त होते हैं। इस प्रकार श्रवण नाड़ी का यह Vestibular भाग शरीर की स्थिति को कायम रखने में सहायक होता है।

१.. इस नाड़ी को रक्त कम मात्रा में मिले, जैसे कि मस्तिष्क धमनी काठिन्य या रक्त भार वृद्धि में होता है या हृदय की सख्ता उत्पन्न हुई दुर्बलता में होता या तीव्र पांडु रोग में होता है।

२.. या इस नाड़ी पर किसी बाह्य या आभ्यंतर विष का दुष्प्रभाव हो।

३.. या जुकाम के कारण Eustachian Tube तथा मध्यकर्ण में शोथ (Otitis Media) हो।

४.. या अंतःकर्ण में न्यूनाधिक रक्तिमता (Menier's Disease) या किसी शारीरिक विषद्रव्य के प्रति असहनशीलता (Allergy) हो तो रोगी स्थिति कायम नहीं रख सकता एवं चक्कर खा कर गिर जाता है या गिरने लगता है।

चिकित्सा :-

रक्त के कम मात्रा में मिलने से यह रोग हो तो Nicotinic Acid १०० मिलिग्राम मात्रा में ३,४ बार दिन में देना चाहिये। Pyridoxine Hyd: २५ मिलिग्राम मात्रा में भी तीन बार देना लाभदायक होता है। Allergy के कारण यह लक्षण होता हो तो किसी Antihystamine औषधि का प्रयोग करना चाहिये। जैसे Benadryl, Dramamine ५०, १०० मात्रा में दिन में ३ बार दिये जा सकते हैं। Phenobarbitone के १५, ३० मिलिग्राम मात्रा में दिन में तीन बार देने से भी भ्रम शांत होता है।

श्रवण नाड़ी को दूसरे संज्ञावाही सूत्र जो अंतःकर्ण के Spiral Ganglion. से प्रारंभ होकर नीचे शब्द मुख्य स्थान में, ऊपर Pons के Cochlear Nucleus में समाप्त होते हैं तथा शब्द ज्ञान का वहन करते हैं Cochlear Nerve कहते हैं। Pons में से इसके दूसरे सूत्र प्रारंभ होकर दूसरी ओर के Internal Geniculate तथा Inferior-Quadrigeminal Bodies में समाप्त होते तथा वहाँ से तीसरे

शुरू प्रारंभ होकर ऊपर Temporal Lobe के सबसे ऊपर के उभार या Convolution में समाप्त होते हैं।

इस नाड़ी पर किसी प्रकार का विदाहिक प्रभाव हो तो कर्णनाद (Tinnitus) का रोग होता है। इस नाड़ी को रक्त कम मिले अर्थात् धमनी काठिन्य रोग या रक्त भार वृद्धि का रोग हो या जुकाम के कारण Eustachian Tube या मध्य कर्ण में शोथ हो तो यह नाड़ी विक्षुब्ध हो जाती है। शरीर का स्वास्थ्य गिरा हुआ हो तो भी यह लक्षण हो सकता है। Phenobarbitone (Gardinal, Lumina) के $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में ३ बार प्रतिदिन देने, आराम करने तथा स्वास्थ्य के सुधार जाने से यह लक्षण शांत हो जाता है। Pot:Iod: तथा Pot:Brom: का प्रयोग भी किया जाता है।

वागभट्ट ने अष्टांग हृदय (उत्तर।१७।) में कहा है कि शरीर में रूक्षता के हो जाने या अतिश्रम करने से यदि शब्द नाड़ी में वायु का प्रकोप हो जाय तो कर्ण नाद का रोग हो जाता है। इसके लिये उसने सरसों के तेल डालने, या अपामार्ग क्षार के जल में बनाये हुये तिल तैल के डालने या दशमूल कषाय में साधित तैल के डालने एवं भाजन तैल के डालने का विधान किया है।

इसी नाड़ी में वायु की वृद्धि होने अर्थात् इसका पोषण कम हो जाने से भ्रम रोग भी हो सकता है। शरीर में हुई पित्त की वृद्धि का प्रभाव इस नाड़ी पर होकर वात पित्तज भ्रम भी हो सकता है। जैसा कि तीव्र ज्वरों में होता है। (Toxic Vertigo) शरीर में उत्पन्न किसी चाम द्रव्य का दुष्प्रभाव इस नाड़ी पर होकर वात कफज भ्रम भी होता है।

(Allergic Vertigo) इस नाड़ी में रक्त की कम मात्रा पहुंचने से भ्रम होतो निम्बू और शहद से मिश्रित जल दिन में १, १ पाव करके ३ बार लेना चाहिये। शरीर के पोषण को बढ़ाने के लिये किसी बल्य योग का प्रयोग करना चाहिये। ब्राह्मी के घृत, अरिष्ट, चूर्ण आदि के प्रयोग तथा सर्प गंधा के चूर्ण के प्रयोग तथा मुक्ता या मुक्ता शुक्ति के प्रयोग करने से भी शिरोभ्रम शांत होता है।

धनुस्तंभ रोग :- Tetanus:

कभी कभी हाथ पैर में कील आदि के चुभ जाने से उत्पन्न घाव के द्वारा Clostridium Tetani नामक जीवाणु जो गाय, घोड़े आदि की आंतों में से बाहर मट्टी में आता है, हमारे शरीर में प्रवेश कर जाता है तथा वहाँ घाव प्रदेश के मृत हुये अवयव पर पोषण करता रहता है तथा एक विष (Exotoxin) को उत्पन्न करता है जो पेशी वहनाड़ी सूत्रों के द्वारा

ऊपर सुषुम्ना कांड तथा मस्तिष्क के निम्न भाग तक प्रवेश कर जाता है। चोट लगने के लगभग दो सप्ताह के अंदर अंदर रोगी को अपने जबड़े या पश्चिम ग्रीवा की मांस पेशियों में कुछ स्तंभ सा प्रतीत होने लगता है। इस विष के दुष्प्रभाव से धीरे धीरे शरीर की सभी मांस पेशियां विक्षोभ शील हो जाती है। जिससे स्वल्प कारण से उनमें स्तंभ का लक्षण उत्पन्न होता है। मुख में स्तंभ के बाद धड़ और फिर शाखाओं में भी स्तंभ हो सकता है। यह रोग जब प्रबल रूप में होता है तब बड़ा भयंकर और घातक होता है। कंठ में स्तंभ होकर मृत्यु हो जाती है। इस रोग में स्तंभ का एक प्रधान लक्षण होता है। तापमान, श्वासगति, नाड़ीगति, तथा रोगी के होश में कोई विशेष विकृति नहीं होती। स्तंभ इतना प्रबल हो सकता है कि रोगी पीठ पर पीछे की ओर अत्यधिक मुड़ जाता है। (Opisthotonos) किसी घात लगने के बाद ७,१५ दिन के अंदर अंदर ग्रीवा मुख आदि में कुछ स्तंभ प्रतीत होने लगे तो इस रोग की आशंका कर लेनी चाहिये।

प्रतिषेधक चिकित्सा :-

ऐसी अवस्था में इस रोग के प्रतिरोध के लिये रोगी को मांस द्वारा Tetanus Antitoxin ३००० Units की मात्रा में एक एक दिन छोड़ कर ३ बार दे देना चाहिये। इसके बाद व्रण को हाईड्रोजन से साफ करके इसमें २० में १ तोला तक कार्बोलिक लोशन की भीगी गाज भर देनी चाहिये तथा शीघ्र बदल देनी चाहिये।

चिकित्सा :-

रोगी के लक्षण प्रकट होने पर इसी औषधि को १ लाख यूनिट की मात्रा में शिरा द्वारा दे देना चाहिये। तथा एक सप्ताह बाद ५ हजार यूनिट मांस द्वारा दे देना भी ठीक है। स्तंभ शांति के लिये Sodium Phenobarbitone ३ ग्रेन की मात्रा में प्रति ६ घंटे पर मांस द्वारा दे देना उचित है। Myanesin ५ सी.सी. (9-2010) के मांस द्वारा या धीरे धीरे शिरा द्वारा देने से भी स्तंभ शांत होता है। Largactil के २५ मिलि. मात्रा में शिरा द्वारा देने से स्तंभ शांत हो जाता है। कुछ लोग Tetanus ~~Toxid~~ Toxoid १ सी.सी. को त्वचा द्वारा भी दे देते हैं। Penicillin के देने से व्रण के शोधन में सहायता मिलती है।

तल्ली रोग कर पाद स्तंभ Tetancy, Carpopedalspasm अथवा Hypocalcemia:-

हमारे रक्त की १०० सी.सी. मात्रा में १० मिलि. के लगभग कैल्शियम होता है। इसके कारण हमारी वात नाड़ियों और मांस पेशियों को

बल मिलता है एवं इनमें संकोच की क्रिया ठीक ठीक होती है।

जब भोजन में केल्शियम कम हो जाय या उसमें विटामिन "डी" की कमी हो अथवा चिरातिसार, अति वमन या अस्थि शोष (Rickets) के कारण बालक के रक्त में केल्शियम कम हो जाय तब उसकी मांस पेशियों और वात नाड़ियों में चंचलता या विक्षोभ शीलता बढ़ जाती है जिससे विशेषतः हाथ तथा बाहु की मांस पेशियों में प्रबल स्तंभ (Contraction) होने लगते हैं। हाथ, में बाहु में या पांव में रह रहकर होने वाले इन स्तंभों को सल्ली या Tetany कहते हैं।

स्तंभ के वेग के समय हाथ की अंगुलियों में प्रसार (Extention) होता है पर अंगुलियां हथेली पर संकुचित (Flexed) होती है और एक दूसरे के साथ लगी होती है। अंगूठा भी अंगुलियों के साथ लगा हुआ (Adducted) होता है। पांव में जब स्तंभ होता है तब वह ऊपर को मुड़ा हुआ (Ext:) तथा उसकी अंगुलियां तलुए की तरफ संकुचित होती हैं। इस रोग में स्तंभ का वेग कुछ सेकंड या मिनट के लिये ही रहता है। इसके बाद फिर मांस पेशियां शिथिल हो जाती हैं।

शिशु कंठ स्तंभ/का रोग (Laryngospasm) भी इसी रोग का एक विभिन्न रूप है।

यह कथन भी अप्रासंगिक न होगा कि रक्त में केल्शियम की न्यूनता देर तक रहे तो नेत्र कांच में धुंधलापन (Cataract) हो जाता है। मस्तिष्क पर इसकी न्यूनता का दुष्प्रभाव होकर मानसिक अशांति, चिन्ता शीलता, उदासीनता (Depression) स्मृति क्षीणता, विचार शक्ति की हीनता के लक्षण हो जाते हैं। हृदय पर इसका दुष्प्रभाव होकर उसमें मंद होने का लक्षण हो जाता है। बालकों में आक्षेप का रोग भी केल्शियम की न्यूनता से हो सकता है।

बालक में तथा बड़ी आयु में सल्ली का रोग हो तो यह कष्ट साध्य होता है। कंठ में स्तंभ हो जाने से मृत्यु होती है।

बूढ़ों में हाथ पांवों में स्तंभ, जीर्ण वृक्क रोग तथा Uraemia के कारण इन बूढ़ों के हाथ पांव की मांस पेशियों के विक्षोभ शील हो जाने से होता है तथा रात को बिस्तरे में पड़े हुये विशेष होता है। इनमें भी यह रोग प्रायः अच्छा नहीं होता।

<u>चिकित्सा :-</u>

रक्त में केल्शियम की मात्रा को बढ़ाने के लिये Calciumgluconate --- के १० प्र०श० घोल को १० सी०सी० की मात्रा में शिरा द्वारा या मांस द्वारा प्रति दिन दे देना चाहिये। या Calcium Glucon: १५ ग्रेन मात्रा में दिन में चार बार मुख द्वारा देते रहना चाहिये। अथवा Calc: Lact:

१० ग्रेन मात्रा में दिन में चार बार दिया जा सकता है। इसके ठीक ठीक विलयन के लिये Calciferol (Vit:D) को ५० हजार से २ लाख यूनिट तक प्रतिदिन देना चाहिये।

अथवा बालक को Ostelin की दो गोलियां सप्ताह में ५ दिन प्रति दिन दे देनी चाहिये।

बालक की आंतों को १,२ पाइंट नार्मल सेलाइन से एक एक दिन छोड़ कर साफ करते रहना चाहिये। स्तंभ की शान्ति के लिये Chloral Hydr: ५,१० ग्रेन की मात्रा में मुख द्वारा २,३ दिन तक दे देना चाहिये। बालक को इससे आधी मात्रा देनी ठीक है।

रोगी को फल,सब्जी,थोड़ी रोटी,घृत,मक्खन,आदि के आहार पर रखना चाहिये। सवा सेर दूध में ०.०१२० एक ग्राम कैल्सियम होता है। इसलिये वह ठीक आहार है। पर इसमें फोस्फेट्स भी अधिक होता है और क्योंकि इस रोग में वह १०० सी.सी.रक्त में ३ $\frac{5}{2}$ मिलिग्राम से पहले ही अधिक होता है। अतः इसका अधिक प्रयोग ठीक नहीं रहता।

कहीं आयु में वृक्क रोग के कारण हाथ पैरों में खल्ली रोग होता है। अतः लवण,प्रोटीन भोजन,बंद करके रोगी को फल,सब्जी,घृत पर रखना चाहिये। Calcium Gluconate १० प्रतिशत के १० सी.सी. मात्रा में रक्त द्वारा देने तथा Calc:Lactate: के १० ग्रेन की मात्रा में मुख द्वारा प्रतिदिन तीन बार देने और सप्ताह में दो दिन छुट्टी रोक लेने से आराम रहता है।

आयुर्वेद में खल्ली रोग :-

आयुर्वेद में कहा है कि हाथ पैर की मांस पेशियों की प्राण शक्ति के कम हो जाने से इनमें प्रबल संकोच उठने लगते हैं।, ।। च।चि।२८।।,

इनकी वायु वृद्धि को शांत करने के लिये हाथ पैरों पर नारायण तेल,नारायण तेल,आदि को वध्य तेल मलना चाहिये तथा इनका स्वेदन करना चाहिये। रोगी को घृत तथा बादाम रोगन आदि को वात शामक स्नेह पिलाना चाहिये। मुक्ता पंचामृत १,२ रत्ती मात्रा में मधु के साथ दिन में तीन बार देना चाहिये।

गृध्रसी शूल :-Sciatica:-

रीढ की हड्डी, कशेरुकाओं (Vertebrae) तथा उनको परस्पर जोड़ने वाली तरुणास्थि की बनी टिकियों (Discs) के मिलने से बनी है। इन टिकियों का बाहर बाहर का तल कुछ कठोर होता है। (Annulus-Fibrosus) और इनका केन्द्रीय भाग अधिक लचकीला होता है। (Nucleus-Pulposus) रीढ की हड्डी के ऊपर के भाग में कशेरु तथा उनके बीच

की टिक्यां पीछे की ओर से Posterior Common Ligament के द्वारा पूरी तरह से ढकी रहती हैं। परंतु रीढ़ की हड्डी के निचले भाग में यद्यपि Lumber प्रदेश में यह Ligament कुछ तंग होती है एवं इन कशेरुकाओं और टिक्यों को पूर्णतया ढकती नहीं। इसलिये कमर की रीढ़ पर कभी कभी भारी दबाव पड़ जाने से वहां की एक टिक्या (Disc:) एक पार्श्व की ओर खिसक सकती है।

छोटी आयु में ये टिक्यां अधिक लचकीली होती हैं एवं ऊपर नीचे के कशेरुकाओं के साथ दृढ़ता पूर्वक बंधी होती हैं। बड़ी आयु में इनका लचकीला पन तथा इनका ऊपर नीचे के कशेरुकाओं के साथ बंधान कुछ कुछ घट जाता है। जिससे रीढ़ की हड्डी पर भारी दबाव पड़ने से जैसे आगे की ओर झुक कर किसी भारी बोझ को उठाते समय जब कमर की हड्डी पर जोर पड़ता है तब या तो एक सारी टिक्या पीछे की ओर खिसक जाती है या इसके फट जाने से इसके अंदर का लचकीला भाग (Nucleus Pulposus) पिछली (Ligament) में एक पार्श्व की ओर खिसक जाता है। बहुधा करके पांचवीं Lumber कशेरु और Sacrum के बीच की टिक्या पीछे एक पार्श्व की ओर खिसक जाया करती है।

सुषुम्ना कांड में से निकलने वाली प्रत्येक सौषुम्न (Spinal) नाड़ी अग्रिम तथा पश्चिम दो मूलों (Roots) के मिलने से बनती है। इन दोनों का मिलन Inter Vertebral Foramena के अंदर हो जाता है। पीछे की तरफ खिसकी हुई इस टिक्या का दबाव पिछली Root पर विशेषतः पड़ता है जिससे इसमें शोथ (Radiculitis) हो जाता है। अब क्योंकि पांचवीं Lumber तथा विशेषतः प्रथम Sacral Spinal Roots के मिलने से Great Sciatic Nerve बनती है और बहुधा Lumber कशेरुकाओं Sacrum के बीच की टिक्या ही पीछे की ओर खिसकती है इसलिये इसके कारण प्रथम Sacral Nerve की पिछली Root पर दबाव पड़ जाता है जिसके कारण इस Sciatic नाड़ी के क्षेत्र में तथा कटि में शूल का लक्षण हो जाता है। इसके Root में शोथ हो जाने के बाद इस गृध्रसी नाड़ी के स्नायु तंतु (Conne:Tissue) में भी शोथ प्रसरण कर जाता है जिसे गृध्रसी नाड़ी शोथ (Sciatic Neuro Fibrositis) -- कहते हैं।

क्योंकि दूसरे, तीसरे, चौथे (Lumber Roots) के संयोग से Femoral Nerve बनती है इसलिये इनमें से किसी में शोथ (Radiculitis) होने से इस नाड़ी के क्षेत्र में वेदना सुप्ति व सिनसिनाहट (Tingling) आदि लक्षण हो जाते हैं।

कभी कभी जब Lumber Spinal नाड़ियों के अग्रिम Roots पर उस खिसकी हुई टिक्मिा का दबाव पड़ जाता है और उनमें शोथ विशेष होता है तब पांव की मांस पेशियों में निर्बलता का लक्षण विशेष होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह रोग मध्यायु के बाद होता है।

लक्षण :-

गृध्रसी नाड़ी की Roots पर विशेषत: प्रथम पिछली Sacral Root पर दबाव पड़ने के कारण एक दम कटि की मांस पेशियों में स्तंभ होकर कटिशूल (Lumbago) का लक्षण हो जाता है। यह दर्द कटि के मध्य में एक ओर विशेष होता है। आराम से लेट जाने पर दो दिन में ठीक हो जाता है। अब कटि पर से यह दर्द स्फिक् प्रदेश में और वहां से जांघ के पिछले तथा बाहर के पृष्ठ पर से होता हुआ पांव के बाहर के पृष्ठ तक जाता है। पांव का यह बाहिर का पृष्ठ सोया हुआ सा होता या उसमें चिनचिनाहट सी होती है। जब पांचवीं Lumber Root में शोथ होता है तब पांव के अंगूठे के पृष्ठ पर दर्द प्रतीत होता है। गृध्रसी नाड़ी का यह दर्द यों तो बराबर बना रहता है पर बिना गोड़े के मोड़े आगे झुकने से, खांसने छींकने आदि से बढ़ता है। टांग को सीधा पेट पर सकोड़ने से भी बढ़ता है। अर्थात् इस नाड़ी पर खींच पड़ने से रोगी को दर्द होता है। इसीलिये वह अपने स्वस्थ पार्श्व पर, रुग्ण टांग को जानु तथा वंक्षण संधि पर संकुचित करके लेटा रहता है।

चिकित्सा :-

कटि शूल तथा गृध्रसी शूल के होने पर रोगी को एक सप्ताह तक आराम से लेटे रहना चाहिये तथा स्फिक् प्रदेश और कमर पर गर्म बोतल का स्वेदन देते रहना चाहिये। दर्द की शांति के लिये Codopyrin, Aspirin १० ग्रेन या Butazolidin का प्रयोग करना चाहिये। जब उठने बैठने या चलने फिरने से दर्द नहो तो बिस्तरे से उठना चाहिये।

यह रोग जीर्ण रूप में हो तो कमर तथा टांग पर गर्म तेल की मालिश करने तथा Kruschen Salt का प्रात: प्रयोग करने से आराम प्रतीत होता है।

आयुर्वेद के अनुसार गृध्रसी नाड़ी में वात स्लैष्मिक (Rheumatic) शोथ हो जाने से गृध्रसी शूल होता है। इसकी शांति के लिये चित्रक तथा योग राज गुग्गुल का दशमूल क्वाथ या रास्नादि क्वाथ के अनुपान से कुछ काल सेवन करना चाहिये। कटि तथा [illegible] स्फिक् प्रदेश पर स्वेदन देने तथा एरंड तैल द्वारा उष्ण उष्ण का कुछ एक रेचन लेने से भी दर्द में आराम आ जाता है।

जीर्ण गृध्रसी रोग में लशुन पाक या रसोन वटी का सेवन करना चाहिये। ।। भ। चि। २६।।

नाड़ी शोथ :- Neuritis, Polyneuritis, Peripheral Neuritis:-

हाथ पैर आदि प्रांत भागों तक जाने वाली वातनाड़ियाँ संज्ञावह, चेष्टावह, पोषकतथा अनैच्छिक चेष्टावह सूत्रों के मिलने से बनी होती हैं। इनके ये सूत्र परस्पर स्नायु तंतु (Conne:Tis:) के द्वारा बंधे हुये तथा ढके हुये रहते हैं। जब इन नाड़ियों में दुष्टिता का लक्षण हो जाता है उसे नाड़ी शोथ कहते हैं। वस्तुत: नाड़ियों में शोथ नहीं होता। दुष्टिता होती है। अत: इस रोग को नाड़ीरोग (Neuropathy) कहना अधिक ठीक है। प्राय: दुष्टिता की प्रक्रिया मंद रूप में होती है। अत: रोग के कारण को दूर कर दिया जाय तो इनकी दुष्टिता जाती रहती है। नाड़ियों में दुष्टिता उनके प्रांत भागों से आरंभ होती है तथा दोनों ओर एक सी होती है। इसीलिये इसे अनेक नाड़ी शोथ (Peipheral Polyneuritis) कहते हैं।

किसी बाह्य या आभ्यंतर विष द्रव्य के दुष्प्रभाव से यह नाड़ी शोथ का रोग होता है। जैसे सीस, संखिया, मद्य आदि के विकार तक शरीर में आते रहने से या मधुमेह जनित या वृक्क जनित किसी विष से, आंत्र में उत्पन्न किसी विष से या शरीर में विद्यमान पूय विष (Sepsis) से या फिरंग रोग, विषम ज्वर, गलत कुष्ठ आदि किसी के विष से या Vitamin B_1 की अति न्यूनता से Beriberi में, या वृद्धावस्था में धमनी काठिन्य रोग से नाड़ियों का पोषण कम हो जाने पर इनमें दुष्टिता की प्रक्रिया होने लगती है।

लक्षण :-

शाखागत वात नाड़ियों में विद्यमान संज्ञा वह सूत्रों में सबसे पहले दुष्टिता होती है जिससे हाथ पैर आदि में सुप्ति (Numbness) फिर चिमचिमाहट या स्पर्श के बुरा लगने (Hyperaesthesia) का लक्षण होता है। अथवा हाथ, पैर, जंघा, बाहु आदि में वेदना का लक्षण होता है। जो नाड़ी पर खींच पड़ने से बढ़ती है। अथवा रात को आराम करते समय पैरों पिंडलियों आदि में उद्वेष्टनों (Cramps) की वेदना होती है।

परीक्षा करने पर Tendon Jerks घटे हुये होते तथा Planter Reflex नीचे की ओर होता है।

शाखाओं की नाड़ियों के चेष्टा वह सूत्र कुछ देर बाद ग्रस्त होते हैं जिससे वेदना के बाद हाथों पैरों की मांस पेशियाँ क्षीण होने लग जाती हैं अर्थात् उनके मांस मेद अवयव के स्थान पर कार आने लग जाती है। पहले अंगुलियों की सूक्ष्म मांस पेशियां क्षीण होती हैं जिससे बारीक काम करने या लिखने की शक्ति घट जाती है। फिर अंगुलियों तथा कलाईयों को पसारने वाली तथा पैरों को ऊपर की ओर फेरने वाली मांस पेशियां (Dorsiflexors) क्षीण हो जाती

है। अर्थात् निम्न चेष्टावाही सूत्र (Lower Motor Neurones) दूषित होने लगते हैं। शाखागत नाड़ियों में विद्यमान पोषक (Trophic) सूत्रों के दूषित हो जाने से हाथ पैर सिर आदि की त्वचा का पोषण कम हो जाता है। जिससे त्वचा, नखों तथा बालों का पोषण कम हो जाता है। इस अवस्था में हाथ पैर आदि में व्रण हो जाय तो उसका रोपण देर से होता है।

शाखागत नाड़ियों में विद्यमान स्वैच्छिक (Autonomic) नाड़ी सूत्रों में दूषितता हो जाय तो हाथ, पैर, मस्तक, आदि पर स्वेद अधिक आने लगता है। या स्वेद का आना बंद हो जाता है।

इन नाड़ियों में विद्यमान सिरा नियामक (Vasomotor) सूत्रों में दूषितता हो जाय तो हाथ पैरों की अंगुलियां, कान आदि अधिक लाल और गर्म रहने लगते हैं। या अधिक ठंडे रहने लगते हैं।

कुछ एक नाड़ी शोथ :-

१. बाहु नाड़ी शोथ (Brachial Neuritis) बाहु संबंधी नाड़ी जाल (Plexus) की Axillary या Circumflex नाड़ी में शोथ हो तो कंधे के बाहिर के पृष्ठ (Deltoid) पर दर्द होता है तथा बाहु को बाहर की ओर और ऊपर उठाने में कठिनता होती है। रात को कंधे में दर्द होता है। इस नाड़ी जाल की Median Nerve में शोथ हो तो ऊपर कहे गये लक्षण हथेली के बाहर के भाग में होते हैं। Ulnar Nerve में शोथ हो तो उपर्युक्त लक्षण बाहु तथा हथेली के अंदर के प्रदेश में होते हैं। निम्न शाखाओं की Femoral Nerve में रोग हो तो ऊर्ध्व जंघा के अगले तथा अंदर के पृष्ठ पर वेदना आदि के उपर्युक्त लक्षण होते हैं। Sciatic Nerve में शोथ हो तो जंघा के पीछे के प्रदेश में वेदना का लक्षण होता है।

भेद :-

नाड़ी शोथ (Neuritis) का नाड़ी शूल (Neuralgia अथवा Neurofibrositis) से भेद करना चाहिये। नाड़ी शूल रोग में नाड़ी में दूषितता नहीं होती प्रत्युत नाड़ी के खोल में बाह्य वातिक शोथ होता है। नाड़ी के खोल के सूज जाने से उसका जब दबाव नाड़ी पर पड़ता है उससे शूल का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। यह रोग मध्यवायु में होता है। मध्यवायु में होने वाला बाहु शूल, गृध्रसी शूल, तथा ग्रैव्य नाड़ी जाल (Cirvical Plexus) की किसी शाखा में शिर और ग्रीवा के पीछे होने वाला शूल बाह्य वातिक नाड़ी शूल (Interstitial Neuritis) कहाते हैं। यहां पर कहे गये नाड़ी शोथ रोग में नाड़ी के अंदर दूषितता का लक्षण विशेष होता है तथा यह रोग बड़ी आयु में होता है। मध्यम आयु से पहले होने वाला आर्दित रोग भी Facial Nerve

में आम वातिक शोथ के कारण होता है।

नाड़ी शोथ की चिकित्सा :-

नाड़ियों में इच्छित जनक कारण का पता लगा कर उसे दूर करना चाहिये। नाड़ी के पोषण को बढ़ाने के लिये स्वेदन तथा मर्दन उपयोगी है। रुग्ण नाड़ी की निर्बलता को दूर करने के लिये Vitamin B_1- (Berin). को ५,१०० मिलिग्राम की मात्रा में दिन में दो बार दो सप्ताह तक देना चाहिये और उसके बाद ५ मिलि मात्रा में दिन में एक बार कुछ सप्ताहों तक देना चाहिये। या ३ से ५ मिलि मात्रा में कुछ सप्ताह तक मांस द्वारा देने तथा साथ ही Nicotinic Acid को १०० मिलि मात्रा में मुख द्वारा दिन में दो बार देते रहने से भी दूषित हुई नाड़ी के पोषण में वृद्धि होती है। अथवा Vitamin B Complex के बड़ी मात्रा में कुछ दिन देने से भी दूषित हुई नाड़ी के पोषण में वृद्धि होती है।

नाड़ी शूल जो नाड़ी में आम वातिक शोथ के कारण होता है स्वेदन से Oil of Winter Green के तेल या वेसलीन में १० प्रतिशत मात्रा में मिला कर लगाने से या Liniment Aconite १ भाग, Liniment Bella: ३ भाग, Lini: Chloroform ३ भाग मिला कर लगाने से तथा Aspirin १० ग्रेन, Pyramidon ५ ग्रेन, Heroin १/१२ ग्रेन के मिलाकर प्रातः सांय देने से अथवा Aspirin ३ १/२ ग्रेन Phenacetin २ १/२ ग्रेन, Caffine- १/२ ग्रेन व Coedine Phosphate १/८, १/४ ग्रेन की मात्रा में मिला कर दिन में तीन बार देने से या केवल Aspirin ५ ग्रे॰ Codein Phosphate १/८, १/२ ग्रेन मिलाकर मुख द्वारा दिन में तीन बार देने से आराम आ जाता है।

आयुर्वेद में नाड़ी शोथ :-

वातिक नाड़ी शोथ :-

किसी बाह्य या आभ्यंतर विष के द्वारा हाथ पांव की वात नाड़ियों की प्राण शक्ति के घट जाने से वहां जो मंद मंद शूल या शोथ या सुप्ति के लक्षण हो जाते हैं उसे वाति नाड़ी शोथ कहते हैं। यह रोग बहुधा वायु होता है। ।।च।चि।२८ शिरागतवायु।।, तथा ।सु०।नि०१।।२९

श्लैष्मिक नाड़ी शोथ :-

शरीर में आम दोष के बढ़ जाने से उसके विपरीत प्रतिक्रिया के रूप में नाड़ी में जो श्लैष्मिक या आम वातिक शोथ होता है उसे श्लैष्मिक नाड़ी शोथ कहते हैं। इससे आम वातिक शूल होने का लक्षण होता है।

इसकी चिकित्सा के लिये वस्तियों द्वारा या एरंड तेल आदि के रेचन के द्वारा दोष शोधन कर देने के बाद रोगी को कुचले से बनी गोली,

(कुचला ७ तो०, रस सिंदूर, लौह, जायफल, लौंग, सौंठ, मरिच, तगर, जटामांसी, १ १/४, १ १/४ तो०), दिन में तीन चार बार देनी चाहिये। चतुर्मुख चिन्तामणि या स्वर्ण घटित लक्ष्मी विलास का दो रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार मधु के साथ प्रयोग करने से भी लाभ होता है। चन्द्रप्रभा तीन चार गोली के प्रतिदिन लेने तथा नारायण तैल, माष तैल आदि के अभ्यंग और स्वेदन से भी क्षति हुई नाड़ी का पोषण बढ़ता है।

श्लैष्मिक नाड़ी शोथ के लिये योगराज गुग्गुलु का या लशुन पाक का कुछ काल प्रयोग करना चाहिये तथा तिल तैल १ सेर में १ पाव लशुन कल्क और १ सेर जल मिलाकर तैयार किया तैल मलना चाहिये या तारपीन तैल ५ तो०, में १ तो० कपूर मिला कर मल सकते हैं।

मानस दौर्बल्य :- Rxx Psychoneurosis, Melancholia:-

उर्ध्व मस्तिष्क का अग्रिम खंड (Frontal Lobe) बुद्धि धृति (Control) तथा स्मृति का स्थान है। (Thalamus) के ठीक नीचे तथा मिड ब्रेन के ठीक ऊपर के प्रदेश को Hypothalamus कहा जाता है जो भाव (Emotion) का तथा अनैच्छिक नाड़ी मंडल (Autonomic Nervous - System) का नियामक स्थान है। स्वास्थ्यावस्था में यह स्थान अर्थात् हमारे चिन्ता आदि भाव अग्रिम खंड अर्थात् बुद्धि के नियंत्रण में रहते हैं। जब अग्रिम खंड का विशेषतः उसके १३ नंबर के क्षेत्र (Area) का पोषण कम हो जाता है अर्थात् हमारी बुद्धि, दूसरे शब्दों में हमारी यथार्थ दर्शिता और यथार्थ कारिता की शक्ति एवं धृति शक्ति कम हो जाती है तब Hypothalamus पर का नियंत्रण शिथिल हो जाता है। ऐसी अवस्था में हमारे चिन्ता आदि मानस भाव तथा हमारे शरीर का अनैच्छिक नाड़ी मंडल (Sympathetic तथा Para Sympathetic) दोनों न्यूनाधिक रूप में उत्कुंठित या उत्तेजित हो जाते हैं।

स्वस्थ अवस्था में हमारे चिन्ता, क्रोध, भय आदि मानसिक भाव तथा हमारे शरीर में होने वाली अनैच्छिक नाड़ी मंडल की उत्तेजना हमें बाहर से आने वाले खतरों से बचाने का काम करती है। परंतु जब बुद्धि स्थान की निर्बलता हो जाय, भावों का स्थान (Hypothalamus) प्रबल हो जाय, चिन्ता, शोक, भय आदि भाव अनुचित रूप से निरंतर बने ही रहें तथा जब हमारी अनैच्छिक नाड़ियां निरंतर उत्तेजित रहने लगें तब इसे मानस रोग (Psychoneurosis) कहा जाता है। चिन्ता आदि भावों के उग्र रूप में रहने से इस अवस्था को भावोन्माद (Affective Disorder) भी कहते हैं।

कारण :-

कुछ एक व्यक्तियों के उर्ध्व मस्तिष्क के अग्र भाग में जन्म से ही

निर्बलता (Asthenia) की .... प्रवृत्ति रहती है। ऐसे व्यक्तियों में युवावस्था में किसी प्रबल मानसिक आघात के लगने पर जैसे घोर नैराश्य,या किसी तीव्र भय या चिन्ता के लग जाने पर यह रोग प्रकट हो जाता है। मध्यम आयु के बाद धमनी काठिन्य रोग के कारण जब मस्तिष्क का पोषण कुछ कम हो जाता है तब भी किसी मानसिक आघात के लगने पर यह रोग हो जाता है। साधारणत: जब तक हमारी इच्छायें पूर्ण होती रहती हैं अर्थात् उनका कहीं विघात नहीं होता है तब तक हम पूर्ण संतुष्ट रहते ही हैं पर जब हम यह देख लेते हैं कि परिस्थिति हमारे नितान्त विपरीत है जिससे हमारी इच्छा पूर्ण हो ही नहीं सकती तो हम अपनी समझ बूझ से काम लेते हैं। अर्थात् अपनी इच्छा का परित्याग करके परिस्थिति के साथ अपने को ढाल लेते हैं एवं फिर हम संतुष्ट हो जाते हैं परंतु यदि हमारे मस्तिष्क के अग्रभाग में निर्बलता हो,हमारी धृति शक्ति तथा बुद्धि .... निर्बल हो ~~तो~~ हम समझ बूझ से काम न ले सकें, तो हम अपनी प्रबल इच्छा का परित्याग कर ही नहीं पाते जिससे वह इच्छा या हमारा प्रबल मोह (Complex) दिन रात हमें दुखी रखता है। यह मोह कभी कभी तो सत्य होता है जैसे पुत्र,पद,धन आदि की हानि से होता है परंतु बहुधा यह मिथ्या भी होता है जैसे किसी किसी व्यक्ति के हृदय में मिथ्या ही क्षय रोग,कैंसर रोग,क्लीव रोग आदि का भय बैठ जाता है और निकाले में नहीं आता। इस प्रकार समझ बूझ या धृति शक्ति की निर्बलता ही इस रोग का प्रधान कारण है।

मानस दौर्बल्य का रोग तीन प्रकार का है।

१.. चिन्ता प्रधान मानस रोग, (Anxiety Neurosis)

२.. विषाद प्रधान मानस रोग, (Depressive Psychosis)

३.. उन्माद प्रधान मानस रोग, (Manic Psychosis)

१.. चिन्ता प्रधान मानस रोग :-

इस अवस्था में रोगी को किसी रोग का जैसे हृदय रोग,रक्त भार रोग,क्षय रोग,क्लीव रोग आदि किसी रोग का भय सदा बना रहता है जिससे उसका चित्त दिन रात अशांत,व्याकुल,और घबराया हुआ रहता है। लेट जाने पर भी इस चिन्ता के कारण नींद नहीं आती तथा निद्रा आ भी जाय तो इसके टूटते ही फिर चित्त की व्याकुलता आरंभ हो जाती है। चित्त के थके हुये रहने से वह स्वभाव में चिड़चिड़ा शील या चिड़चिड़ा हो जाता है।

अनैच्छिक नाड़ी मंडल के विक्षुब्ध रहने के कारण रोगी की हृदय गति व नाड़ी गति तीव्र होती है। उसका रक्त भार बढ़ा होता है। चिन्ता के कारण उसके सिर की मांस पेशियों में स्तंभ रहता अर्थात् सिर

मे वेदना रहती है या सिर भारी रहता है। Hypothalamus के धात्विक पचन (Metabolism) का केन्द्र होने से शरीर का धातु पाक बढ़ जाता है। जिससे Adrenaline की उत्पत्ति अधिक होती तथा शरीर का भार घट जाता है। नेत्र थके हुये रहते हैं। थोड़ा पढ़ने से ही थक जाते हैं। इस अवस्था मे शरीर के Deep Reflexes बढ़े हुये रहते हैं।

२.. विषाद प्रधान मानस रोग :-

विषाद प्रधान मानस रोग मे रोगी सदा दुःखी रहता है। उसे अपना भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब दुःखमय लगता है। अपने दुःख या क्लेश के सिवाय और उसे कोई बात ही नहीं सूझती। वह सदा स्व शरीर चिन्ता मे ही रत रहता है। दूसरों को जिन बातों से प्रसन्नता होती है उसे उनसे कोई प्रसन्नता नहीं होती। दुःखी रहने के कारण वह दूसरों के दुःख की बात या दुःख की कहानी सुन नहीं सकता। दुःखी रहने से वह शीघ्र क्रोधी पड़ता है। उसे नींद देर से आती है तथा सवेरे शीघ्र टूट जाती है। तथा प्रातः उठने पर भी शरीर हल्का प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत भारी प्रतीत होता है।

अनैच्छिक नाड़ी मंडल के विकृत रहने से उसे भूख नहीं लगती। पेट मे भारीपन तथा मलबंध के लक्षण रहते हैं। उसका रक्त भार भी बढ़ा हुआ रहता है।

विषाद प्रधान मानस रोग मे रोगी के मन पर कोई भाव सवार हो सकता है जिसे Obsession कहते हैं। विचार अच्छा नहीं होता इसलिये रोगी उसे हटाना चाहता है पर फिर फिर वह उस पर सवार हो जाता है। इससे भी वह बेचैन रहता है।

३.. उन्माद प्रधान मानस रोग :-(Manic Psychosis):-

उन्माद प्रधान मानस रोग भी होता है। यद्यपि यदि उर्ध्व मस्तिष्क का अग्रिम खंड अधिक निर्बल हो अतः बुद्धि और निग्रह शक्ति अधिक निर्बल हों एवं Hypothalamus पर का नियंत्रण अधिक निर्बल हो तो रोगी का अपने भाषण, आचरण आदि पर नियंत्रण बहुत ढीला हो जाता है जिससे ऐसा रोगी अति भाषण, अति भ्रमण और अधिक क्रियाशील हो जाता है।

इन तीनों मे से पहले दोनों मानस रोग कुछ महीनों तक रहकर धीरे धीरे ठीक हो जाते हैं परंतु उन्माद प्रधान मानस रोग कुछ कष्ट साध्य है।

मानस रोग की चिकित्सा :-

मानस रोग के लिये प्रयुक्त होने वाली कुछ एक मस्तिष्क

शामक औषधियों का यहां उल्लेख किया जाता है।

१.. सर्पगंधा (Ranwolfia ~~Sap~~ Serpentina) यह औषधि Hypothalamus तथा Sympathetic नाड़ी मंडल के लिये शामक (Sedative) है। तथा निद्राजनक (Hypnotic) भी है। इसके मूल चूर्ण से बनी गोली के जैसे (Raudixin) के प्रति दिन ५०० मिलिग्राम मात्रा में देने से या इसके सम्मिलित Alkaloids से बनी किसी गोली के २,४ मिलि. मात्रा में दिन में तीन बार देने से अथवा इसके विशेष Alkaloid Reserpine- (Reserpex. या Serpasil) के .१ से १ मिलिग्राम मात्रा में तीन चार बार के प्रतिदिन देने से तथा महीना भर इस औषधि के जारी रखने से रोगी को शांति प्राप्त होती है।

२.. Barbiturates:-Sod: Amytal(Amylobarbitone) $\frac{१}{२}$ से $\frac{३}{४}$ ग्रेन मात्रा में दिन में तीन बार देने से मस्तिष्क शामक होता है तथा रात को एक बार १$\frac{१}{२}$ से ५ ग्रेन मात्रा में यह औषधि निद्राजनक होती है। Amytal भी इसी प्रकार अपना प्रभाव करता है। Soneryl (Butobarbitone) $\frac{१}{२}$ ग्रेन की मात्रा में दो बार देने से मस्तिष्क शामक तथा १$\frac{१}{२}$,३ ग्रेन की मात्रा में रात को देने से निद्राजनक होता है। Quina,Buto, Phenobarbitones मिलाके बना कोई योग (Ethobral) दे सकते हैं।

उपर्युक्त औषधियां विषाद प्रधान मानस रोग के लिये विशेष लाभदायक हैं। यद्यपि चिन्ता तथा उन्माद प्रधान मानस रोगी के लिये भी दी जाती हैं।

चिन्ता प्रधान तथा उन्माद प्रधान मानस रोग के लिये १.. Meprobamate (Equanil, Miltown, Meprophanepertraquil) -- ४०० मिलिग्राम मात्रा में दिन में तीन बार देने से रोगी की बेचैनी, उन्निद्रता और मांस पेशियों के तनाव को दूर करता है।

३.. Myanesin, Seconesin Tolscram, (Mephanesinum) -- ८,१५ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन चार बार देने से चिन्ता शामक होता है। Myanesin के Elixir तथा इन्जेक्शन भी मिलते हैं।

४.. Chlorpromazine Hydrochl: (Thorazine, Largactil):-२५ से ३०० मिलि. मात्रा में चिन्तित, विभ्रान्त, उन्मत्त चित्त के लिये बकालेक हो जाता है। Promethazine, Butobarbitone मिला कर (Sonergan May:Baker.) देने से भी मन शांत होता है।

५.. ~~Su~~ Suvitil या Nutinal(Benacytyzine Hyd:) १,४ मिलिग्राम मात्रा में दिन में तीन चार बार देने से चित्त ~~xxxxx~~ शामक है।

Vitamin B Complex. उत्तम पौष्टिक होने से मानस रोगी के लिये ~~xxxxxxx~~ लाभदायक होता है। इसका Pyridoxine(Gladoxin Benadon) मिलिग्राम मात्रा में तथा Nicotinic Acid. भी इतनी ही मात्रा में दो, तीन बार प्रतिदिन देने से मानस रोगी की मस्तिष्क की निर्बलता को दूर करने में

सहायक होते हैं।

आहार :-

मानस रोगी को उत्तम पोषक आहार पर्याप्त मात्रा में मिलना चाहिये। उसे भूख न लगती हो एवं वह भोजन न लेता हो तो कृत्रिम तौर से भूख लगाकर अर्थात् प्रातः १० यूनिट Insulin त्वचा द्वारा देकर ३ घंटे बाद दिन भर रोगी को पर्याप्त मात्रा में भोजन देना चाहिये। इन्सुलिन को धीरे धीरे ३,४,५ यूनिट तक करते हुये उसे दो तीन सप्ताह तक दे सकते हैं। उसे सप्ताह में ६ दिन ही दिया जाता है। इसके द्वारा रोगी का पोषण बढ़ जाने से मानस दौर्बल्य भी दूर होता है।

मानस रोगों की विद्युच्चिकित्सा :- Electro Convulsive Treatment(E.C.T.)

मानस रोगी की दोनों कनपटियों पर इलैक्ट्रोड्स लगा कर सिर में .२ सेकन्ड के लिये विद्युत की ८०,१५ Volts की करंट गुजारने से रोगी में आक्षेप होते तथा कुछ मिनट के लिये मूर्छा भी हो जाती है। पहले सप्ताह में २,३ दूसरे तीसरे सप्ताह में २,२,करंट देने से अर्थात् कुल ६,७ करंट देने से रोगी का मानस रोग शांत हो जाता है। विषाद् प्रधान मानस रोग में यह विशेष लाभदायक होता है। उन्माद् प्रधान मानस रोग में यह चिकित्सा शीघ्र शीघ्र की जाती है। तथापि इसमें इसके परिणाम इतने अच्छे नहीं मिलते।

आयुर्वेद में मानस रोग :-

मन को सत्व,रजः,तमोमय कहा है। सत्व के कारण उसमें प्रकाश अर्थात् समझ बूझ का भाव,प्रसाद प्रसन्नता का भाव, धृति अर्थात् भावों पर नियंत्रण का भाव तथा समाधि अर्थात् एकाग्रता निश्चलता और शांति का भाव रहते हैं। रजोगुण के कारण उसमें उचित प्रवृत्ति या क्रियाशीलता का भाव तथा तमोगुण के कारण उसमें उचित अप्रवृत्ति या स्थिति का भाव रहते हैं। इन तीनों गुणों के सम अवस्था में रहने से मन सम अवस्था में रहता है ।

कभी कभी किसी तीव्र मानसिक अभिघात के लगने से मन का सत्व गुण या दूसरे शब्दों में मस्तिष्क का बुद्धि स्थान निर्बल हो जाता है जिससे रजोगुण तथा तमोगुण दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति के लक्षण तीव्रतर हो जाते हैं। चिन्तामय शोक आदि के कारण तथा शरीर के आहार और आराम के कम हो जाने के कारण मस्तिष्क का पोषण कम हो जाता है। उसकी प्राण शक्ति या धृति शक्ति कम हो जाती है अर्थात् उसमें वायु या रजोगुण की वृद्धि हो जाती है। रजोगुण की वृद्धि से चिन्ता प्रधान तथा उन्माद् प्रधान मानस रोग होते हैं। तमोगुण की वृद्धि से संभवतः विषाद प्रधान मानस रोग होते हैं।

इस प्रकार बुद्धि या सत्व गुण के सबल हीन हो जाने से मानस रोग की उत्पत्ति होती प्रतीत होती है। १.. चरक ने कहा है कि बुद्धि की कमी ही

शारीरिक मानसिक रोगों का कारण है। २.. योग वाशिष्ठ ने भी कहा है कि बुद्धि की हीनता ही शारीरिक, मानसिक रोगों का कारण है। मन में प्रसन्नता हो, शरीर का पोषण ठीक हो तो बुद्धि ठीक रहती है। मन में चिन्ता, शोक आदि तीव्र रूप में हों तो शरीर का पोषण एवं बुद्धि हीन हो जाती है।

प्रतिकलहे:
१.. सर्वं दुःखायत्ता चित्तविक्रिया भयम् ।। च ।। सू. ३०/८४
सुखं सर्वं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम् ।
२.. देह दुःखं विदु र्व्याधिं, माध्याख्यं वासनामयम्
मौर्ख्यमूले हिते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ।। यो० वा० ।।

१.. योग वाशिष्ठ ने कहा है कि चिन्ता आदि के द्वारा चित्त के विक्षुब्ध होने पर सारा शरीर ही विक्षुब्ध हो जाता है। प्राण, वायु, विषम हो जाती हैं। उसकी विषमता से कुछ एक नाड़ियों में प्राण वायु ठीक नहीं बहता जिससे अजीर्ण हो जाता है। खाया हुआ अन्न दोष रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार मन के रुग्ण होने से संपूर्ण शरीर ही रुग्ण हो जाता है। फिर जब चित्त चिन्ता हीन हो जाता है, वह शांत और प्रसन्न हो जाता है तब शरीर में प्राण वायु ठीक चलने लगती है। अन्न का ठीक ठीक पाक होने लगता है एवं रोगी फिर स्वस्थ हो जाता है।

अतः इसीलिये मानस रोग से मुक्ति प्राप्त करने के लिये चित्त को प्रसन्न रखने का यत्न करना चाहिये तथा यदि रोगी दृढ़ निश्चय कर ले कि वह चिन्ता और दुःख को पास नहीं आने देगा तो फिर कोई दुःख उसके पास फटक नहीं सकता।

४.. साथ ही बुद्धि को पक्के रखना चाहिये। (१)

अतः शामक कुछ औषधियां यहाँ दी जाती हैं।

१.. ब्राह्मी घृत, (ब्राह्मी रस, १$\frac{1}{2}$ सेर घृत ३ पाव, ब्राह्मी शंख पुष्पी, विडंग, त्रिवृत्त, त्रिकुट, आरग्वध सप्तला १, १ तोला), ३ से ६ माशा मात्रा में दिन में दो बार तथा सर्पगंधा चूर्ण १ माशा, मकर ध्वज $\frac{1}{2}$ रत्ती मिलाकर दिन में तीन बार देने से रोगी का चित्त शांत रहता है।

२.. अथवा ब्राह्मी ३, शंख पुष्पी २, सर्प गंधा १ भाग मिलाकर बनाये चूर्ण को तीन माशे की मात्रा में दिन में तीन बार देने से भी यही लाभ होता है।

टिप्पणियाँ
(१). चित्ते विधुरिते देह: संक्षोभमनुयात्यलम्
संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः
असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम्
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम्
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा
दोषायैवान्नं प्रयात्येवं प्राणसंचार दुष्क्रमात्
एवमाधिर्भवेद्व्याधिस्तस्याभावाच्च नश्यति।

कामन्दो वर्द्धितैरे पुष्टैश्चेतसि राघव
सत्व शुद्धारकरन्त्यैते क्रमेण प्राणवायव:
जयन्ति तमान्यानि व्याधिस्तेन विनश्यति ।

२.. ननी निश्चयकृतं प्रियोऽचयितुं क्षम:
पौरुषं स्वमवष्टभ्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम्
यदि तिष्ठत्यगम्योऽसौ दु:खानां तदनिन्दित:
आधयो व्याधयश्चैव, शापा:, पापदृशस्तथा
नंक्ष्यन्ति तच्चित्तपद्मापाता: शिलामिव। ।। यो०वा० ।।

३.. अथवा सर्पगंधा चूर्ण ५ तोला में जवाहर मोहरा पिष्टी १/२ तोला मिला कर इस चूर्ण के १/२-१/२ माशे की मात्रा में दिन में चार बार देने से भी मन शांत रहता है।

४.. या सर्पगंधा के घन सत्व में समान भाग ब्राह्मी, शंख पुष्पी का चूर्ण मिलाकर बनाई दो दो रत्ती की गोलियां दिन में तीन चार बार देने से भी यही प्रभाव होता है।

५.. अथवा ज्योतिष्मति बीज, जटामांसी, सर्पगंधा समान समान मिलाकर इस चूर्ण के तीन माशा में १/२ रत्ती मकरध्वज मिला कर दिन में तीन बार देने से भी मन शांत होता है।

इनमें से किसी औषधि के साथ साथ बादाम पाक के खिलाने व सिर तथा नासिका में बादाम रोगन या घृत के अभ्यंग और आश्च्योतन से भी मस्तिष्क की निर्बलता दूर होती है।

अपतंत्रक :- Hysteria:-

वात प्रकृति, निर्बल चित्त के २०, ३० वर्ष की आयु के व्यक्तियों, विशेषत: स्त्रियों में किसी भारी निराशा या चिन्ता के आ पड़ने पर अर्थात् वस्तु स्थिति और उनकी प्रबल इच्छा के बीच में एक द्विविधा या संघर्ष (Conflict) के उत्पन्न हो जाने पर जब वे उसका समाधान नहीं कर पाते तो उनकी प्रबल इच्छा या मोह (Complex) उन पर हावी हो जाता है। उस मोह के वश में होकर अनजाने में वे जो व्यवहार करते हैं जिससे उनका मानस दु:ख कम हो जाता या भूल जाता है। उसे अपतंत्रक कहते हैं। वस्तुत: यह रोग, रोगी के मानस दु:ख को दूर करने का एक साधन है।

अर्थात् मन पर आघात लगने पर या पूर्व के आघात का स्मरण हो जाने पर रोगी या तो मूर्छित हो जाती है (Stupor) या उसकी स्मृति कुछ काल के लिये लुप्त हो जाती है (Amnesia) या वह प्रलाप करने लगती है अर्थात् चीखने व चिल्लाने लगती है या वह घर से निकल जाती और कुछ दिनों के लिये कहीं कहीं बाहर घूमने लगती है (Fugue) किसी किसी में कोई

शारीरिक रोग हो जाता है अर्थात् उसको दीखना बंद हो जाता है (Amblyopia) या उसका बोलना बंद हो जाता है। (Aphonial) किसी किसी के गले में स्तंभ (Spasm) होकर खाने या निगलने में कठिनता हो जाती है (Hysterical Globus) किसी किसी को हिक्का रोग हो जाता है। किसी किसी को अन्न के लिये सर्वथा अरुचि (Anorexia Nervosa) हो जाती है। किसी किसी की कोई एक शाखा निर्बल हो जाती है।

चिकित्सा :-

इस रोग के वेग को उत्पन्न करने वाले कारण को दूर करना चाहिये। तथा Pot: Brom: १५ ग्रेन, Tinct: Valerian १५ बूंद, Tinct:Asafetida १० बूंद मिलाकर बनाया मिश्रण दिन में दो तीन बार देकर मन को शांत रखना चाहिये। शरीर को बलवान् बनाने का यत्न करना चाहिये।

आयुर्वेद में चरक, ।।शि०६।१२-१४।, तथा सुश्रुत, ।।चि०।१।६३-६५।। में कहा है कि मस्तिष्क में वायु की वृद्धि हो जाने अर्थात् उसकी प्राण शक्ति के कम हो जाने पर मनुष्य किसी भाव विशेष के आधीन हो जाता एवं अपने ऊपर अपना तंत्र खो बैठता है। जिससे इस रोग को अपतन्त्रक कहा जाता है। जब जब वह इस भाव के वश में हो जाता है, बेहोश हो जाता है। जब इस भाव से मुक्त हो जाता है फिर स्वस्थ हो जाता है। इस रोग के लिये चरक, सुश्रुत दोनों में हिंगु, तुम्बुरु, पुष्कर मूल, अम्लवेतस, हरड़ तथा तीनों लवणों से बने घी के देने का विधान किया है। तथा रोगी की संतोष चिकित्सा करने को कहा है। हींग के अतिरिक्त सर्पगन्धा चूर्ण के आधा मासे की मात्रा में दिन में दो बार घृत के साथ देने या खुरासानी अजवायन, वचा तथा जटामांसी समान समान मिलाकर एक मासे की मात्रा में दिन में दो बार मधु के साथ देने से या ब्राह्मी के किसी योग जैसे ब्राह्मीघृत, सारस्वतारिष्ट के देने से या बृहद्वात चिन्तामणि, चतुर्मुख चिन्तामणि आदि किसी वायु शामक औषधि में केशर जायफल कस्तूरी आदि मिलाकर कुछ मास तक देने से भी इस रोग में लाभ हो जाता है।

अभाव रोग :- (Deficiency Diseases):-

अस्थि शोथ :- (Rickets);-

विटामिन "डी",

विटामिन "डी" जान्तव फैट में विशेषतः तथा वानस्पतिक (नस्य) फैट में स्वल्प मात्रा में होता है। हमें यह दुग्ध की मिलाई से मिलता है। सूर्य की Ultra Violet किरणों के द्वारा हमारी त्वचा के Sterol से भी यह उत्पन्न होता है। अंडे की जरदी में भी यह बहुत मात्रा में होता है। दुग्ध तथा अंडे को गर्म करने से भी यह विटामिन नष्ट नहीं होता। युवक को इसके २५ के लगभग तथा शिशु और बालक को इसके ५० या ७०० के लगभग यूनिट प्रतिदिन आवश्यक होते हैं। १ यूनिट=.०२५ माइक्रोग्राम शाक (Calciferol) Halibut-Liver Oil. के १ बूंद में तथा Cod Liver Oil के ७० छः बूंद में ७ यूनिट इस विटामिन के होते हैं। इसलिये शिशु के लिये Halibut Liver Oil की १० बूंद तथा Cod Liver Oil की ६० बूंद की मात्रा प्रतिदिन पर्याप्त होती है।

कारण :-

विटामिन "डी" आंत में से कैल्शियम तथा फोस्फोरस के विलयन में सहायक होता है। मूत्र में विलनाम कैल्शियम तथा फोस्फोरस के Tubules के अंदर पुनर्विलयन के लिये भी इस विटामिन का होना आवश्यक है अर्थात् इसके अभाव में रक्त के अंदर कैल्शियम और फोस्फोरस की मात्रा जो क्रमशः १०,११ मिलि तथा $4\frac{1}{2}$,५ मिलि होती है घटकर ६ तथा २ मिलि के लगभग रह जाती है। रक्त में इनकी न्यूनता से अस्थियों में कैल्शियम फास्फेट जो साधारणतः ६३ प्र०श० के लगभग होता है, घट कर २१,२५ प्र०श० हो जाता है। जिन शिशुओं को माता का या गाय का दुग्ध नहीं मिलता, जिन्हें अंधेरे में ही सदा रक्खा जाता है या जिन्हें शीघ्र ही अन्न प्रारंभ करा दिया जाता है उनमें विटामिन "डी" की न्यूनता हो जाती है। अपक्व अन्न में फोस्फोरस से युक्त एक Phytic Acid होता है जो भोजन के कैल्शियम को पकड़ कर Calcium Phytate के रूप में बिना विलीन हुये मल के द्वारा बाहर निकल जाता है। इस प्रकार अन्न के अजीर्ण से भी शिशु को कैल्शियम कम मिलता है।

विकृति :-

अस्थियों के निर्माण में तरुणास्थियां (Osteoid Tissue) तो साधारण से अधिक स्थूल हो जाती हैं पर वास्तविक अस्थि (Osseous Tissue) का निर्माण अधूरा ही रह जाता है।

लक्षण :-

अस्थि निर्माण के ठीक ठीक न होने से पसलियों के अगले सिरे जो तरुणा

(Deficiency Diseases):-

सूखा रोग :- (Rickets):-

विटामिन "डी"

[illegible] Ultra Violet [illegible] Sterol [illegible] (Calciferol) Halibut-Liver Oil. [illegible] Cod Liver Oil [illegible] Halibut Liver Oil [illegible] Cod Liver Oil [illegible]

कारण :-

[illegible] Tubules [illegible] Phytic Acid [illegible] Calcium Phytate [illegible]

विकृति :-

[illegible] (Osteoid Tissue) [illegible] (Osseous Tissue) [illegible]

लक्षण :-

[illegible]

पसलियाँ (Cartilages) के साथ संधित करते हैं देखने में मोटे होते हैं। जिससे उरोस्थि (Sternum) के दोनों ओर पसलियों में गांठें सी दिखाई पड़ती हैं। (Rickety Rosary) पसलियों के अगले सिरे मृदु होने के कारण तथा फुफ्फुस के अंदर प्रेशर के कम होने के कारण अन्दर की ओर धंस जाते हैं। जिस कारण उरोस्थि के जो आगे के उभरी हुई होती है दोनों ओर ऊपर से नीचे की दिशा में एक खाई (Sulcus) सी दिखाई पड़ती है। Radius के निचले सिरे (Epiphysis) के मोटे हो जाने से कलाई कुछ मोटी दिखाई पड़ती है।

अधोजंघास्थियों के निचले सिरों के मृदु रह जाने पर जब उन पर Tendoachilles की खींच पड़ती है तो इनके पीछे की ओर खिंच जाने से टांगें आगे की ओर मुड़ती जाती हैं। जंघास्थियों के मृदु होने से वे कुछ आगे और बाहिर की ओर मुड़ जाती हैं। जिससे गोडे दूर दूर भी हो जाते हैं। (Bow Legs) इनके अंदर की ओर मुड़ने से दोनों गोडे आपस में टकराने लगते हैं। (Knock Knees) शिशु के हाथों के भार चलने से दोनों बाहु भी बाहिर की ओर मुड़ सकते हैं। अस्थि निर्माण की न्यूनता से ही बालक में दंतोद्गम देर से होता है तथा सिर पर ब्रह्मरन्ध्र का चिह्न (Fontanelle) १८ महीने की आयु के बाद भी बना रहता है।

रक्त में केल्शियम तथा फास्फोरस की न्यूनता के कारण उसकी मांस पेशियां निर्बल एवं शिथिल होती हैं जिससे उसका पेट लटका हुआ दीखता है। उसकी अग्नि भी मंद होती है जिससे उसे अतिसार फीके रंग के दस्त होते रहते हैं। इससे भी कुछ कुछ पेट अफारा हुआ होता है। नाड़ी मंडल को केल्शियम की पूर्ण मात्रा न मिलने से बालक में आक्षेप, तन्वी (Tetany) Laryngismus Stridulus). तथा चिड़चिड़ेपन के लक्षण हो सकते हैं। चिड़चिड़ेपन के कारण शिशु रात को टांग मारकर कपड़े फेंक देता है। रात को उसके सिर पर स्वेद भी प्रतीत होता है। कभी कभी स्पंजाकार अस्थियों जैसे कपालास्थियों विशेषतः Frontal तथा Parietal अस्थियों के मोटे हो जाने से इनमें उभार हो जाते हैं जिससे बालक का सिर विषम आकृति का हो जाता है। कूल्हे की हड्डियों में भी विषमता हो सकती है। और इसके कारण ऐसी लड़की के बड़े होने पर उसमें प्रसव संबंधी कठिनता का लक्षण हो जाता है।

जब किसी शिशु में देर तक दंतोद्गम न हो, दांतों में अस्थि निर्माण ठीक ठीक न हो, उसके ब्रह्मरन्ध्र का चिह्न समय पर बंद न हो, वह समय पर उठने बैठने और चलने के लिये समर्थ न हो तो इस रोग का संदेह करना चाहिये।

चिकित्सा :-

इस रोग से बचने के लिये प्रत्येक शिशु को ६ मास तक माता का दूध मिलना चाहिये। उसके बाद भी गाय के दूध, मक्खन, आदि की समुचित मात्रा उसे मिलनी चाहिये। अन्न थोड़ा ही देना चाहिये। शिशु को शीत काल में थोड़ी देर धूप में ले जाना चाहिये। साथ ही उसे एक चम्मच Cod Liver Oil प्रति दिन या १० बूंद Halibut Liver Oil प्रतिदिन दे देना चाहिये अथवा दो तीन मास की आयु तक अंडे की आधी जर्दी और इस आयु के बाद पूरी जर्दी प्रति दिन दे देनी चाहिये।

रोगी बालक को विटामिन "डी" ५००० हजार यूनिट मात्रा में प्रति दिन देना चाहिये। अर्थात् Habibut Liver Oil १० बूंद या Cod-Liver Oil १० चम्मच प्रतिदिन उसे पिला देना चाहिये।

Ergosterol में Ultra Violet किरणों को गुजार कर अर्थात् इसे Irradiate करके उसमें विटामिन "डी" की मात्रा बढ़ा दी जाती है। इस प्रकार Halibut Liver Oil में से इन किरणों को गुजार कर Haliverol बनाया जाता है। वह इस रोग के लिये उत्तम औषधि है। Liquor Calciferol भी जिसके ५ बूंद में ३००० यूनिट इस विटामिन के होते हैं इस रोग की उत्तम औषधि है।

Wet Beri-Beri, Cardiovascular Beriberi (Beriberi = चल नहीं सकता ।)

विटामिन B_1 (Thiamine या Aneurine Hydrochlor) अंदर फोस्फोरस के साथ मिल कर शरीर में Co-corboxylase नामक पाचक रस (Enzyme) का सा काम करता है तथा ग्लूकोज के परिपक्व में अर्थात् ग्लूकोज से बनने वाले Pyruvic तथा Lactic Acids का आगे पाक करता है। जो लोग मशीनी चावल पर ही प्रधानतः अपना निर्वाह करते हैं अर्थात् जो स्टार्च तो बहुत अधिक लेते पर जिन्हें Thiamine Enzyme बहुत कम मिलता है उनमें स्टार्च के पूर्ण परिपाक न होने से उनकी मांस पेशियों, नाड़ियों, नर्व सेलों को शक्ति कम मिलती है जिससे उनकी टांगों की मांस पेशियां और हृदय मांस विशेषतः निर्बल हो जाते हैं। जंघाओं की निर्बलता से उन से चला फिरा नहीं जाता। स्टार्च के अपूर्ण परिपक्व के कारण उत्पन्न उपर्युक्त अम्ल उनकी मांस पेशियों में अधिक जमा हो जाते हैं जिससे चलने फिरने पर उनकी पिंडलियों में दर्द होने लगता है। यह दर्द Intermittent Claudicatition की तरह का होता है। परंतु वह रोग बड़ी आयु में होता, जब कि यह रोग मध्यमायु में होता है। शरीर को प्रतिदिन इस विटामिन की २ मिलिग्राम मात्रा आवश्यक होती है।

स्टार्च के परिपक्व में उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त द्रव्य सिरा प्रसारक (Vasodilator) होते हैं जिससे जंघाओं के सिरों पर की सूक्ष्म सिराओं

के फैल जाने से वहाँ पर स्वयथु (Oedema) हो जाता है जो कुछ कठोर सा होता है। इस शोथ युक्त प्रदेश में रक्त वाहिनियां फैली होती हैं। अतः यह शोथ स्पर्श करने में कुछ गर्म प्रतीत होता है।

(Dilated) हृदय के मांस को शक्ति न मिलने से वह भी निर्बल एवं शिथिल हो जाता है। जिससे नाड़ी मृदु तथा कुछ तीव्र होती है।

चिकित्सा :-

इस रोगी को आराम से खाट शायी होकर १०,१२ दिन विटामिन B_1 (Berin, Aneuvit Tab:, Betabion,) ∠Benerva का १० मिलिग्राम मात्रा में दिन में दो बार मुख द्वारा या मांस द्वारा १० मिलिग्राम प्रतिदिन एक बार सेवन करना चाहिये। चोकर समेत गेहूं, चावल का तथा दूध का सेवन भी करना चाहिये।

Pellagra:- त्वचा पर चकत्ते :-

Nicotinic Acid या इसका Amide (Necotinamide) हमारे शरीर के सब सेलों में विद्यमान एक पाचक रस (Enzyme) है जिसके बिना शरीर सेलों का परिपाक ठीक ठीक नहीं हो पाता। यह पाचक रस बहुत संभवतः दूध आदि में विद्यमान एक (Amino Acid, Tryptophan से आंतों के Bacteria के द्वारा बनता है। इसीलिये जो लोग दूध आदि उत्तम प्रोटीन भोजन बिल्कुल नहीं लेते, विशेषतः जो केवल मक्की के आटे पर ही निर्वाह करते हैं उनमें इस विटामिन की कमी हो जाती है। मनुष्य को इस विटामिन की १५ मिलिग्राम की मात्रा प्रतिदिन आवश्यक होती है। मक्की में यह Tryptophan सर्वथा नहीं होता।

ऐसे व्यक्तियों में इसकी कमी मध्यआयु में तथा बसंतकाल में विशेषतः होती है। इस पाचक रस की कमी से भोजन प्रणाली में अर्थात् मुख, जिव्हा, आमाशय आंत आदि में दाहिता और लालिमा हो जाती है। रोगी का मुख तथा जिव्हा आ जाती है। आमाशय में शोथ से पाचक रस नहीं निकलता। भूख मर जाती है। आंत में हवा रहती है तथा अतिसार भी होते हैं। मृगी रोग भी संभवतः इसी प्रकार विटामिन "बी" के किसी अंश की न्यूनता से होता है।

त्वचा का पोषण न होने से उसमें दाहिता के लक्षण हो जाते हैं। हाथ तथा अग्रबाहु के पृष्ठ प्रदेश तथा पैरों के ऊपर के प्रदेश पर शोथ युक्त चकत्ते निकल आते हैं। पहले तो वहां लालिमा होती है फिर वहां की त्वचा कुछ मोटी एवं कृष्ण वर्ण सी हो जाती है। शरीर के दोनों ओर ये चकत्ते निकलते हैं। इनके कारण इसे Pellagra कहा गया है।

मस्तिष्क में भी इस विटामिन की कमी से दाहिता हो जाती है। जिससे रोगी में विषाद या चिन्ता या उन्निद्रता आदि के लक्षण हो

जाते हैं।

चिकित्सा:-

Nicotinamide या Nicotinic Acid के ५०० मिलिग्राम मात्रा में मुख द्वारा दिन में ४,५ बार कुछ दिन तक देने से इस रोग के लक्षण शांत हो जाते हैं। पर इसके बाद रोगी को दूध,अंडे,फल आदि पर रक्खा जाय तो फिर यह रोग नहीं होता।

बाल सुलभ रक्त पित्त :- Infantile Scurvy):-

६ से १८ महीने के बीच की आयु के शिशुओं में अंगास्थियों के आवरण (Periosteum) के नीचे रक्त स्राव हो जाने से शिशु को दर्द रहता है। जिससे वह अधिक चीखता रहता है। टांगों को छूने से वह विशेष चीखता है। देखने में वह कुछ पांडुर होता है तथा दूध कम पीता है। इसे Infantile Scurvy का रोग कहते हैं।

कारण :-

शरीर के सेलों को परस्पर जोड़ने वाले अवयव या स्नायु तंतु (Fibrous या Collagen Tissue) का निर्माण Fibroblasts के द्वारा होता है। परंतु इस प्रक्रिया के ठीक ठीक होने के लिये शरीर में Ascorbic Acid विटामिन "सी" नामक एक पाचक रस का होना आवश्यक है। यह हरे फलों,हरी सब्जियों,अंकुरित हुये चनों या दालों या बिना उबाले दूध से प्राप्त होता है। हमारे शरीर में कुल मिलाकर यह ५ ग्राम मात्रा में होता है तथा यों तो सभी अवयवों में होता है यद्यपि १०० रक्त के सीरम में.४ मिलिग्राम प्रतिशत, श्वेताणुओं में २५ मिलि / प्रतिशत होता है और Adrenal Cortex नेत्रों के Aquecus Humour और Lens, मस्तिष्क आदि में भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। शरीर में उत्पन्न व्रण के रोपण के लिये इसकी आवश्यकता रहती है। शिशु को इसकी २५ मिलि मात्रा प्रति दिन आवश्यक होती है। ऐसे शिशुओं में जिन्हें उबले हुये दूध या डब्बों के दूध पर पाला जाता है इसकी मात्रा घट जाती है। ५,६ मास तक इसप्रकार के आहार पर रहने के बाद इस विटामिन के अभाव से उत्पन्न होने के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। सूक्ष्म रक्त वाहिनियों की दीवार के सेलों को जोड़ने वाले सीमेन्ट पदार्थ के ठीक ठीक न बनने से शिशु की जांघ में जहाँ आघात लगने का अधिक अवसर रहता है अस्थियों के आवरण के नीचे रक्त स्राव हो जाता है। गोड़ों के अंदर या आस पास की अस्थियों में रक्त स्राव होकर शिशु को दर्द होता है।अस्थि मज्जा के अंदर रक्त कणों के निर्माण के लिये भी विटामिन "सी" की आवश्यकता होती है। उनका यथोचित निर्माण न होने से शिशु में पांडुता का लक्षण भी होता है।

चिकित्सा :-

संतरे के ३ औंस रस में २५.७ मिलि० Ascorbic Acid होता है। यदि तीन महीने से ऊपर शिशु को ६ छोटे चम्मच संतरे का रस दिन में दे दिया जाय तो उसकी विटामिन "सी" की आवश्यकता पूर्ण की जाती है।

रोग के हो जाने पर १,२ औंस संतरे का या टमाटर का रस दिन में दे देने या ५० मिलिग्राम Ascorbic Acid- (Celin Redoxon, Cebion) दो बार दे देने से एक सप्ताह में रोग शांत हो जाता है।

विटामिन "ए" के अभाव के रोग :-

विटामिन "ए" एक फीका पीला सा फैट में घुलने वाला पदार्थ है जो हरे पत्र शाक, गाजर आदि शाकों में पाये जाने वाले Carotene (एक Hydrocarbon). से हमारे यकृत में तैयार होता है। बना बनाया यह विटामिन हमें दूध मक्खन की चिकनाई, अंडे की जरदी तथा Cod Liver Oil से मिलता है। दूध आदि को गर्म करने से यह नष्ट नहीं होता। इसके २००० Units (१ युनिट = .६ माईक्रोग्राम Carotine) के लगभग प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन आवश्यक होते हैं। यह हमारे आवरण स्तरों (Epithelia) के निर्माण तथा उनके कार्य के ठीक ठीक होने के लिये अत्यावश्यक है। परिधि नेत्र पटल (Retina) के Rods में विद्यमान Visual Purple के लिये भी यह आवश्यक तत्त्व है। इसके २००० युनिट हमें १० छटांक दूध या आधी छटांक मक्खन से या आधा सेर गाजर या फूल गोभी से या ३,४ अंडों से मिल जाते हैं। एक चम्मच Cod Liver Oil में ६००० से अधिक युनिट होते हैं।

रात्र्यन्धता : Night Blindness:-

Night Blindness: इसीलिये इस विटामिन के अभाव में पहले पहल रोगी की रात को अथवा मन्द प्रकाश में देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है फिर कोहनियों तथा कलाइयों के पृष्ठ प्रदेश की त्वचा के रोम कूपों (Hair Follicles) में शुष्कता और कठोरता (Keratosis) के लक्षण होने लगते हैं। अर्थात् वहां की त्वचा शुष्क या रूखी दीखने लगती है। फिर Xerophthalmia का रोग हो जाता है। अर्थात् हे० नेत्रों के Conjunctive में शुष्कता और कठोरता का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। नेत्रों के आवरण स्तर में अपने को आर्द्र और [illegible] रखने की जो सहज शक्ति है वह कम हो जाती है। स्पष्ट है ऐसे नेत्रों में जीवाणु संक्रमण सुगमता से हो जाता है। श्वास नालियों के अंतरावरणों में भी शुष्कता और आर्द्रता के कम हो जाने से खांसी तथा उर:क्षय जनक जीवाणुओं का संक्रमण सुगमता से हो जाता है।

चिकित्सा :-

५,७ हजार युनिट विटामिन "ए" (Adexolin, Radiostoleum, Arovit Tab: -- drops) के कुछ दिन देने से उपर्युक्त सर्व रोग शांत हो जाते हैं।

चिकित्सा :-

[illegible] Ascorbic Acid दिया जाता है। [illegible] की उसकी विटामिन "सी" की आवश्यकता पूरी हो जाती है।

[illegible] Ascorbic Acid- (Cellin Redoxon, Cebion) [illegible] है।

विटामिन "ए" के अभाव के रोग :-

[illegible] Carotene (एक Hydrocarbon). [illegible] Cod Liver Oil [illegible] Units [illegible] (Carotine) [illegible] (Zoitholia) [illegible] (Retina) [illegible] Rods [illegible] Visual Purple [illegible] Cod Liver Oil [illegible] है।

रतौंधी : Night Blindness :-

Night Blindness: [illegible] (Hair Follicles) [illegible] (Keratosis) [illegible] Xerophthalmia [illegible] Conjunctive [illegible] है।

चिकित्सा :-

[illegible] (Adexolin, Radiostoleum, Arovit Tab.) [illegible] है।

संक्रामक रोग :- Infectious Diseases:

विषम ज्वर :- Malaria:-

कारण :-

यह रोग हमारे संपूर्ण देश में होता है परंतु वनस्पति प्रधान एवं आर्द्र प्रदेशों में विशेष होता है। बड़े नगरों में कम, ग्रामों और देहातों में विशेष होता है। पहाड़ों की तलहटियों में, नदी नालों के किनारे या समुद्र के किनारों पर जहां जहां जंगल हैं अधिक होता है। अर्थात् जहां जहां मच्छरों के बढ़ने के लिये परिस्थिति अनुकूल होती है वहां वहां यह रोग अधिक होता है। क्यों कि गर्मी और नमी वाले प्रदेशों में मच्छर अधिक पनपता है/ वहां ही यह रोग अधिक होता है। ८० से ८६ डिग्री फारेनहाईट की गर्मी और ६३ प्रतिशत या इससे अधिक आर्द्रता मच्छरों के पनपने के लिये अनुकूलतम होती है। ऐसे ही काल में अर्थात् सितम्बर से नवम्बर तक के महीनों में यह रोग विशेषत: होता है। परंतु जब गर्मी विशेष होती है और हवा शुष्क होती है तब मच्छर मर जाते हैं। जब तापमान ६१ फारेनहाईट से कम हो जाता है तब भी मच्छर के अंदर के इस रोग के जीवाणु की वृद्धि नहीं हो सकती। नहरों, रेलों और सड़कों के आसपास भट्टों के कारण जो बड़े बड़े गड्ढे या तालाब से बन जाते हैं उनके कारण भी मच्छरों को पनपने का स्थान मिल जाता है। ५ हजार से ऊंचे पर्वतीय प्रदेशों में मलेरिया का मच्छर नहीं पाया जाता है।

मच्छरों में से भी Anopheles नामक मच्छर जिसकी अनेक जातियां हैं इस रोग के प्रसार का कारण है। इसकी आयु लगभग २,३ मास की होती है। इसके प्रथम दो तीन सप्ताह का जीवन अर्थात् Egg:Larva और Pupa की अवस्था जल के अंदर व्यतीत होती हैं। अत: जलीय और आर्द्र प्रदेशों में ही विषम ज्वर पाया जाता है। इस जाति के मच्छरों के पंख चित्रित होते हैं। तब ये दिवार पर जब बैठते हैं तो इनका धड़ दिवार के साथ ४५ डिग्री का कोण बनाता है। इस जाति के मच्छर यों तो वनस्पतियों पर जीते हैं पर मादा कृमि अगर रक्त न पिये तो उसके अंडे पनपते नहीं। काटते समय यह दष्ट स्थान में अपने लालाद्रव्य को उस में मिलाती है ताकि रक्त पतला रहे और जमने न पाये। इस प्रकार उसकी लाला में विद्यमान विषम ज्वर जीवाणु दष्ट व्यक्ति के रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं।

विषम ज्वर जीवाणु :-Malarial Parasite:-

प्रधानत: तीन हैं। एक तृतीयक जीवाणु Plasmodium Vivax (1890) दूसरा चतुर्थक जीवाणु Plasmodium Malariae (1881) तीसरा संतत ज्वर जीवाणु Plasmodium Falciparum (1897) क्यों कि ये सूक्ष्म प्राणी हैं। ये Protozoon (Protozoa बहुवचन) कहलाते हैं। तथा क्यों कि ये देहित

होकर बढ़ते हैं। ये Sporozoon (Sporozoa) बहुवचन कहाते हैं।

विषम् ज्वर जीवाणु की अमैथुनी वृद्धि, नर शरीर में वृद्धि :- (Asexual Cycle-Schizogony):-

मच्छर काटते समय अपनी लाला के साथ विषम् ज्वर अविभक्त जीवाणु बीजों (Sporozoites) को रक्त में डाल देता है। रक्त में से यकृत के सेल इन्हें पकड़ लेते हैं। संक्रमण के पांचवें दिन, यकृत के सेलों के भीतर, गोलाकृति कृमि, जिनके अंदर Chromatin के अनेक खंड होते हैं देखे जा सकते हैं। इन्हें Cryptozoites छिपे हुये जीव कहते हैं। ८ से ९ वें दिन तक इनमें से प्रत्येक की नींगि कई सौ खंडों में विभक्त हो जाती है और इस प्रकार फिर मींगि के साथ साथ प्रोटोप्लाजम के भी विभक्त हो जाने से प्रत्येक जीवाणु १ हजार के लगभग खंडों में विभक्त हो जाता है। जिन्हें Cryptomerozoites कहते हैं। जो यकृत के कोष्ठकों में से निकल कर रक्त संचार में चले जाते हैं। इनमें से कुछ एक यकृत के दूसरे सेलों में प्रवेश करके फिर पूर्ववत् वहां वृद्धि करने लगते हैं और वहां से फिर रक्त संचार में प्रवेश कर जाते हैं। रक्त कणों में वृद्धि करने से पूर्व यकृत के सेलों में होने वाली विषम् ज्वर जीवाणु की इस वृद्धि को Pre Erythrocytic Schizogony कहते हैं। परंतु जो जीवाणु यकृत के कोष्ठकों में ही बढ़ते हैं और फिर कभी बाद में इस ज्वर की पुनरावृत्ति (Relapse) का कारण होते हैं उनकी इस वृद्धि को Exoerythrocytic Schizogony कहते हैं। इस प्रकार यकृत के सेलों में से बाद में जो Merozoites रक्त में आते रहते हैं इन्हें Metacrypto Merozoites. कहते हैं। इस प्रकार मच्छर काटने के बाद ९ दिन तक विषम् ज्वर जीवाणु यकृत में बढ़ कर फिर रक्त कणों में अपनी वृद्धि आरंभ करता है। विषम् ज्वर जीवाणु की रक्त कणों में वृद्धि अमैथुनी वृद्धि :-(Asexual Cycle-Erythrocytic Schizogony:- रक्त कणों को लीशमैन के रंग से रंगने पर प्रारंभिक अवस्था के विषम् ज्वर जीवाणु नील वर्ण की मुद्रा के रूप में दीखते हैं। जिनकी मींगियां (Nuclei) रक्त वर्ण होती हैं और मुद्रा के पतले सतह पर दीखती हैं। यह जीवाणु क्योंकि रक्त कण के हीमोग्लोबिन को खाकर बढ़ता है। इसलिये इसे परान्नभोजी जीवाणु या Trophozoite (Nutrilion Animal) कहते हैं।

चातुर्थिक ज्वर जीवाणु का Trophozoite अंडाकृति का या चौड़े फीते के आकार का होता है, जिसकी मींगि इसके मध्य भाग में होती है। जीवाणु में उत्पन्न होने वाला मल जो काले भूरे दानों के रूप में होता है। इस जीवाणु के एक किनारे पर बिखरा हुआ दीखता है। यह Trophozoite अपना आकार ऐसे बदलता रहता है जैसे अमीबा किया करता है। जब यह पूर्ण परिपक्व हो जाता है तो लगभग संपूर्ण रक्त कण को भर देता है। इस पूर्ण परिपक्व Trophozoite

को Schizont (Deviding Parasite) कहते हैं। अब इसकी मींगी ६,१२ टुकड़ों में विभक्त हो जाती है। और इसके साथ साथ जीवाणु का प्रोटो प्लाज्म भी इतने ही टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। जीवाणु का मल या काले भूरे दाने (Pigment) इन टुकड़ों के मध्य भाग या केन्द्र भाग में जमा हो जाते हैं। इस प्रकार एक जीवाणु पूर्ण परिणत होकर ६,१२ नये जीवाणुओं को जिन्हें (Merozoites (Part Animal) कहते हैं उत्पन्न करता है। इनके उत्पन्न हो जाने पर रक्त कण टूट जाता है और उसमें उत्पन्न हुए Merozoites और मल (Pigment) रक्त के प्रभाव में संचार कर जाते हैं। रक्त प्रवाह में विकाण श्वेत कण इन Merogoites तथा मल को खा लेते हैं। परंतु जो Merozoites बच जाते हैं, वे दूसरे नये रक्त कणों में प्रवेश करके वहां बढ़ने लगते हैं और पूर्ववत् Merozoites में परिवर्तित होकर फिर रक्त में संचार कर जाते हैं। इस प्रकार एक जीवाणु यदि १० नये जीवाणुओं में विभक्त हो तो वे १० फिर १०० जीवाणुओं में विभक्त हो जाते हैं। एवं वे १०० फिर १ हजार जीवाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। शरीर में होने वाले विभाग ज्वर जीवाणु के इस विभाजन को Schizogony कहते हैं। चातुर्थिक ज्वर जीवाणु को रक्त कण के अंदर पूर्ण परिणत होकर नये Merozoites के रूप में आने में ७२ घंटे लगते हैं। सभी ग्रस्त हुये रक्त कणों में से पूर्ण परिणत हुये Merozoites ७२ घंटों के बाद एक साथ ही रक्त प्रवाह में प्रवेश करते हैं। और इनके साथ कोई विशेष प्रोटीन पदार्थ रक्त में संचार करता है। जिससे ज्वर का वेग आरंभ होता है। इसीलिये चातुर्थिक ज्वर जीवाणु के कारण प्रति ७२ घंटों के बाद या प्रति चौथे दिन ज्वर का वेग प्रारंभ होता है। जब बहुत से रक्त कणों में यह जीवाणु प्रवेश कर जाता है तब यह ज्वर कारक होता है। कहा जाता है कि एक क्यूबिक मिलीमीटर रक्त में कई सौ Parasites हो जाने पर ज्वर के वेग आरंभ होने लगते हैं। Merozoites के स्वतंत्र होकर बाहिर रक्त के अंदर आने की प्रक्रिया को Sporulation कहते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि चातुर्थिक ज्वर जीवाणु का एक समूह Sporulation करे तो प्रति चौथे दिन ज्वर होता है। यदि एक समूह एक दिन दूसरा समूह, दूसरे दिन Sporulation करे तो दो दो दिन ज्वर आता है। एक एक दिन बीच में आराम रहता है। यदि लगातार तीन समूह प्रतिदिन Sporulation करें तो प्रतिदिन ज्वर चढ़ता है।

__तृतीयक ज्वर जीवाणु :-__ (Plasmodium Vivax)

तीनों प्रकार के विषम् ज्वर जीवाणुओं में अधिक सुलभ है। इसका प्रारंभिक Trophozoite या Ring रक्त कण के एक तिहाई भाग जितना होता है। बढ़ जाने पर यही विषमाकृति के अमीबा जैसा होता

जिसके बीच में रिक्त प्रदेश (Vacuoles) होते हैं। बढ़कर यह सारे रक्त कण को भर लेता है। जिन रक्त कणों में ये जीवाणु होते हैं वे कुछ फूले हुये, मोटे तथा रंग में फीके होते हैं तथा इनके प्रोटोप्लाज्म में गहरे लाल दाने (Schuffner's dots) बिखरे हुये होते हैं। जीवाणु के अन्दर पिगमेन्ट काले दाने रंग में फीके और सूक्ष्म होते हैं। अंत में पूर्ण परिपक्व Schizont १५,१६ टुकड़ों या Merozoites में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार इसके पूर्ण परिपक्व होकर टुकड़ों में विभक्त होने में (Schizogony में) ४८ घंटे लगते हैं। जिससे रोगी को ज्वर प्रति ४८ घंटे बाद या तीसरे दिन चढ़ता है। यदि तृतीयक ज्वर का जीवाणु का एक समूह एक दिन, दूसरा समूह दूसरे दिन Sporulation करे तो इसी के कारण प्रति दिन ज्वर चढ़ता है।

संतत ज्वर जीवाणु :- Plasmodium Falciparum (Subtertion Parasite)

दूसरे नम्बर पर इस रोग का कारण होता है। इसका मुद्राकृति Trophozoite. अपेक्षा या छोटा होता है/ तथा पूर्ण बढ़कर अर्थात् Schizont बनकर भी रक्त कण के $\frac{1}{3}$ भाग को ही घेरता है। बाहर के रक्त में पिगमेन्ट रक्त कणों में में न बढ़कर यह जीवाणु प्लीहा आदि आभ्यंतर अंगों की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों के भीतर वृद्धि करता है। इस जीवाणु के अंदर मल स्वल्प और सूक्ष्म दानों के रूप में होता है। पूर्ण परिपक्व होकर यह Schizont ६,२० जीवाणु टुकड़ों (Merogoites) में विभक्त हो जाता है। इन (Merozoites) के रक्त प्रवाह में प्रवेश करने पर ज्वर चढ़ता है जो दीर्घतर होता है अर्थात् तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर वेगों के समान ५,६ घंटों तक ही नहीं पर २०,३० घंटों तक चलता है। अर्थात् दो वेगों के बीच थोड़े काल के लिये ही उतरता है। यदि इस जीवाणु के दो समूह हों जिनमें से एक दिन एक और दूसरे दिन दूसरा रक्त प्रवाह में प्रवेश करे तो दैनिक ज्वर चढ़ता है जिसमें इससे पहले की पहले दिन का ज्वर पूर्णतया उतरे, दूसरे वेग का ज्वर चढ़ जाता है। इस प्रकार एक ज्वर में दूसरे ज्वर के वेग के हो जाने से ज्वर लगभग लगातार रहता प्रतीत होता है। इस प्रकार के संतत ज्वर या (Remittent Continuous-- fever.) को भी बीच बीच में पर्याप्त कम हो जाने के कारण अथवा इसकी न्यूनतम और उच्चतम ज्वर की स्थितियों में पर्याप्त भेद होने के कारण विषम ज्वर ही कहते हैं। बीच बीच में कम (Remittent) होने से इसे विषम और निरंतर चढ़े रहने से इसे संतत ज्वर कहा जाता है। इसलिये संतत विषम ज्वर यह नाम दो परस्पर विरोधी शब्दों से बना हुआ होने पर भी इस रोग के लिये सर्वथा सार्थक है।

लिंगी विषम ज्वर जीवाणु :-(Sexual Malarial Parasites,Gametocytes):-

रोगी के कुछ काल इस रोग से ग्रस्त रहने के बाद रक्त में पाये जाने वाले कुछ Trophozoites बच्चों की तरह बढ़ते तो हैं परंतु उनकी

मींगी और प्रोटोप्लाज्म विभक्त नहीं होते। वेपूरी परिपक्व होकर सारे रक्त कण को घेर लेते हैं। और देखने में गोलाकृति होते हैं। इनकी मींगी का Chromatin केन्द्र में रहता है और टुकड़ों में विभक्त नहीं होता, जब कि दूसरे Trophozoites का Chromatin पृथक टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। इनमें काले दाने भी इनकी अपेक्षा अधिक होते हैं। जीवाणु टुकड़ों Merogoites में विभक्त न होने के कारण ये ज्वर का कारण नहीं होते हैं जिससे इन्हें Nonfebrile Parasites कह सकते हैं। इन्हें लिंगी विषम ज्वर जीवाणु (Gametocytes) कहते हैं।

नये Gametoycte को वृत्ताकृति रूप में देखें तो इसका Chromatin या मींगी किनारे पर न होकर मध्य में होती है। ये लिंगी जीवाणु दो प्रकार के होते हैं। एक पुल्लिंगी दूसरे स्त्री लिंगी। पुल्लिंगी जीवाणु हल्का सा नीला और स्त्री लिंगी जीवाणु गहरा नीला होता है। पुल्लिंगी में Chromatin या मींगी मध्य में होती है जब कि स्त्री लिंगी की मींगी किनारे पर होती है। पुल्लिंगी में काले दाने अस्पष्ट होते हैं, स्त्री लिंगी में काले दाने अधिक स्पष्ट होते हैं। पुल्लिंगी विषम ज्वर जीवाणु अपेक्षा या छोटा होने से Microgametocyte और स्त्री लिंगी कुछ बड़ा होने से Macrogametocyte कहाता है। तृतीयक, चतुर्थक ज्वर के लिंगी जीवाणु लगभग इसी प्रकार के होते हैं।

परंतु संतत ज्वर जीवाणु के लिंगी जीवाणु (Subtertion Gametocytes) रक्त कणों के अंदर अर्द्ध चन्द्राकृति रूप के दीखते हैं। जिससे इन्हें Crescent कहते हैं। पुल्लिंगी संतत ज्वर जीवाणु आकार में अपेक्षा या छोटा फीके नीले रंग का होता है। इसके काले दाने (Pigment) प्रोटो प्लाज्म में बिखरे हुये रहते हैं। इसकी मींगी (Chromatin) केन्द्र में कुछ बिखरी हुई होती है। स्त्री लिंगी संतत ज्वर जीवाणु (Microgametocyte) आकार में बड़ा, गहरे नीले रंग का होता है, तथा इसकी मींगी ठोस तथा केन्द्र में होती है और काले दाने भी केन्द्र में संचित हुये पड़े होते हैं। ये अर्द्ध चन्द्राकृति लिंगी जीवाणु (Cresents) लगभग सारे रक्त कण को घेरे हुये होते हैं। लिंगी जीवाणु क्योंकि रक्त कणों में बंद ही रहते हैं, स्वतंत्र नहीं होते, इसलिये शरीर के अंदर रहते हुये इनकी आगे वृद्धि नहीं हो सकती। शरीर के अंदर में इनका जीवन एक से दो मास तक रहता है। स्त्री लिंगी जीवाणु पुल्लिंगी जीवाणुओं की अपेक्षा अधिक संख्या में, रक्त में पाये जाते हैं।

विषम ज्वर जीवाणु की मैथुनी वृद्धि :- (Sexual Cycle of Malarial-Parasites or Sporogony):-

मादा Anophelese मच्छर के पेट के अंदर पहुंचने पर लिंगी विषम ज्वर जीवाणुओं में मैथुनी वृद्धि होती है। पुल्लिंगी जीवाणु (Microgametocyte.) का न्यूक्लियस कई टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। फिर ये टुक

इस जीवाणु के किनारों पर पहुंच कर सूक्ष्म सूत्रों के Nuclei
अर्थात् इन पुल्लिंगी जीवाणुओं में से जो सूक्ष्म सूत्र (Flagella)
है वे इस जीवाणु की मींगी और प्रोटो प्लाज्म के विभक्त होने से बनते
गति शील सूत्रों को Microgamete कहते हैं। स्त्री लिंगी जी
गोलाकृति ही रहते हैं। इनमें से कोई Flagella नहीं निकल
पृष्ठ पर उभार या Papilla प्रकट होता है। इस अवस्था में इसे
Macrogamete कहते हैं। पुल्लिंगी जीवाणु से उत्पन्न हुआ एक सूत्र
होकर स्त्री लिंगी जीवाणु के उठभरे हुये प्रदेश में प्रवेश करके उसे गर्भित
है। यह गर्भित पिंड जिसे Zygote कहते हैं स्वयं गति करने लगता
और एक कृमि का सा रूप ले लेता है अर्थात् लंबा हो जाता है। इसे ग
कृमि या Ookenete कहते हैं। यह आमाशय की आभ्यंतर स्त
(Epithelium) को छेदकर उसके बाहर की स्तर के नीचे
के रूप में बढ़ने लगता है। मच्छर के आमाशय की दीवार में विद्यमान
या विषम ज्वर ग्रन्थि को (Oocyst) कहते हैं। इस थैली का
तथा प्रोटोप्लाज्म विभक्त हो हो कर अनेकानेक सैलों में बंट जाता है,
इस प्रकार उत्तरोत्तर इन सैलों के भी विभक्त होने से सहस्त्रों की संख्या
सुई या तकले के आकार के विषम ज्वर जीवाणु बीज बनते हैं उन्हें Spor
कहते हैं। अंत में यह थैली फट जाती है और ये तकले के आकार के सूक्ष्म
विषम ज्वर जीवाणु बीज स्वतंत्र होकर हो जाते हैं। इनमें से कुछ मच्छर
अन्य अंगों की तरह उसकी लाला ग्रन्थियों में भी पहुंच जाते हैं। जब यह
मच्छर जिसके लाला ग्रन्थि में विषम ज्वर जीवाणु होते हैं, किसी व्यक्ति
काटता है तो अपनी लाला के साथ इन जीवाणु बीजों Sporozoites
को भी दष्ट व्यक्ति के रक्त में प्रविष्ट कर देता है जहाँ से यकृत के सैल
mal Cells) इन्हें पकड़ लेते हैं। और यहाँ ये Precryth
--- वृद्धि प्रारंभ कर देते हैं। इस प्रकार मच्छर के अंदर
यह मैथुनी वृद्धि (Sporogony) १० दिन में पूर्ण होती है अर्थात्
व्यक्ति का रक्त पीने के दस दिन बाद मच्छर विषैला हो जाता एवं
ज्वर रोग का संक्रामक तब तक बना रहता है जब तक जीता है। मच्छर
इन जीवाणुओं से कोई हानि नहीं होती।

अन्य कारण :-

अतः विषम ज्वर उस अवस्था में होता है जब मच्छरों
के लिये प्रदेश और ऋतु अनुकूल हों, प्रकट या अप्रकट विषम ज्वर से अर्थात्
वृद्धि, पांडुता आदि लक्षणों से ग्रस्त कोई व्यक्ति समीप में हो, ऐसी
में यदि शरीर की प्राण शक्ति हीन हो जाय अर्थात् शारीरिक मन

चिन्ता आदि मानसिक आघात पहुंचने से या सहसा शीत लगने से या वर्षा में भीग जाने से या प्रसव से या शल्य कर्म आदि किसी कारण से प्राण शक्ति प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाय तो यह रोग प्रारंभ हो जाता है।

विषम ज्वर युक्त देश में रहने वाले व्यक्तियों को यह रोग इतनी शीघ्रता और प्रबलता से नहीं होता जितना उस देश में आने वाले नवागन्तुक को होता है जिससे पता लगता है कि वहाँ के निवासियों में इस रोग के जीवाणु के प्रति शरीर में प्रतिशक्ति (Immunity) उत्पन्न हो जाती है। संभवतः प्लीहा, यकृत आदि में विद्यमान Reticulo Endothelial Cells मात्रा में बढ़ जाते हैं वे इस जीवाणु को पकड़ कर नष्ट कर देते हैं परंतु जिनके शरीर इस जीवाणु के लिये अभ्यस्त नहीं होते एवं जिनमें इसके विरुद्ध लड़ने की सामर्थ्य नहीं है इन्हें यह रोग बड़ी तीव्रता से होता है।

विषम ज्वर जनित विकृति :-

विषम ज्वर में शरीर के नाना अंगों की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में होने वाला रक्त संचार बंद हो जाता है। विषम ज्वर जीवाणु से ग्रस्त रक्त कण क्योंकि अधिक चिपचिपे हो जाते हैं, वे सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में बहते समय सूक्ष्म रक्त वाहिनियों की दीवार से तथा परस्पर एक दूसरे से भी चिपक जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म सिराओं (Capilla-ries) में रक्त कणों के छोटे छोटे कणों (Thrombi) के बन जाने से रक्त मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। यकृत प्लीहा आदि की रक्त वाहिनियों की दीवारों में विद्यमान Reticulo Endothelial Cells भी इस रोग में मात्रा में अधिक बढ़ जाते हैं। अर्थात् इनमें अति वृद्धि हो जाती है तथा इन फूले हुये सेलों में इस रोग से उत्पन्न Pigment या काले दाने भी बहुत अधिक भरे होते हैं। इस प्रकार इन सेलों के बढ़ जाने से भी रक्त मार्ग में अवरोध पड़ जाता है। आभ्यंतर किसी अंग की रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणु अधिक मात्रा में संचित होकर उस अंग के पोषण में बाधक हो सकते हैं। इस कारण से इस रोग में नाना प्रकार के लक्षण और उपद्रव हो सकते हैं।

----- प्लीहा की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणुओं का संचय या जमाव विशेषतः होता है। जिससे इसकी रक्त वाहिनियों में रक्त अधिक मात्रा में अवरुद्ध रहता है। इसके Reticulo Endothelial Cells में भी काले दाने अधिक मात्रा में भर जाते हैं। और ये सेल भी मात्रा में बहुत अधिक बढ़ जाते हैं। इस प्रकार रक्त के अधिक भरे रहने तथा इन सेलों के बढ़ जाने से प्लीहा आकार में बड़ी हो जाती है।

यकृत की सूक्ष्म रक्तवाहिनियों (Sinusoids) में भी विषम ज्वर जीवाणु अति मात्रा में संचित हो जाते हैं। इनके Reticulo Endothelial

Cells या Kupffer सेलों में अति वृद्धि हो जाती है। जिससे वहाँ भी रक्त मार्ग में अवरोध हो जाता है एवं यकृत में रक्त अधिक मात्रा में भर जाता है। इसी से यकृत भी आकार में कुछ बड़ा हो जाता है।

आमाशय तथा आंत्रों की श्लैष्मिक कला तथा बाह्यावरण (Mucous and Serous Coats) की रक्त वाहिनियों में भी विषम ज्वर जीवाणुओं के अति मात्रा में भर जाने से इनमें रक्तावरोध या रक्त संचय हो जाता है।

मस्तिष्क तथा मस्तिष्कावरण (Meninges) की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में भी विषम ज्वर जीवाणुओं का संचय होकर इनमें रक्त अधिक मात्रा में रुक जाता है। Cortex का रंग भी पूरा गहरा हो जाता है। इसी प्रकार फुफ्फुसों के वायु कोष्ठकों की दीवारों में विद्यमान सूक्ष्म शिरायों (Alveolar Capillaries) में, हृदय की हृदय पोषक शिरायों (Coronary Vessels) में विषम ज्वर जीवाणुओं द्वारा अवरोध होकर इनमें रक्त संचय हो जाता है। जिससे इनका पोषण कम हो जाता है। हृदय ऊतक में क्षणिक दुर्बलता हो जाती है। (Placenta) की रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणुओं द्वारा अवरोध होने से गर्भस्थ शिशु का पोषण कम हो जाता है। वृक्कों की पोषक सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में जीवाणुओं द्वारा अवरोध हो जाने से उनकी मूत्र प्रणालियों (Nephrons) का पोषण कम हो जाता है। जिससे मूत्र में Albumin आने लगता है। और मूत्र के कम हो जाने से स्नायु रोग हो जाता है।

<u>विषम ज्वर का रक्त पर प्रभाव:-</u>

विषम ज्वर जीवाणु रक्त कणों के Haemoglobin के ग्लोबिन को तो खा लेता है और उसमें से शेष बचे Haematin अंश को एक Pigment या काले दानों (Haemozoin) के रूप में रक्त का प्लाज्मा में छोड़ देता है। शरीर के Reticulo Endothelial Cells इन काले दानों को पकड़ कर अपने अंदर जमा कर लेते हैं। इस प्रकार जीवाणुओं से ग्रस्त रक्त कण तो इस रोग में नष्ट होते ही हैं पर दूसरे रक्त कण भी इस रोग में विषम ज्वर से उत्पन्न किसी विष द्रव्य या Pigment के दुष्प्रभाव से बहुत अधिक मात्रा में नष्ट होते हैं। इन टूटे हुये रक्त कणों से मुक्त हुये Oxyhaemoglobin--- या Methaemoglobin को साधारणत: तो Reticulo Endothelial Cells. अपने अंदर विलीन कर लेते हैं। यदि वे अधिक मात्रा में टूटे तो इन सेलों से प्लीहा के इन सेलों और यकृत के Kupffer Cells से उत्पन्न होने वाले Bilirubin की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। यकृत के Polygonal Cells इसे पृथक करके Bile Canaliculi तथा Gall Bladder में डालते हैं। इस रोग में इन स्थानों पर पित्त की मात्रा

बहुत अधिक रहती है। पित्त के अधिक उत्पन्न होने के कारण मल में भी यह अधिक निकलती है। मल के द्वारा भी Stereobilin के रूप में यह अधिक मात्रा में निकलती है। यकृत के सेल इस Bilirubin को रक्त में से पूर्णतया पृथक न कर सके तो रक्त में इसकी मात्रा बढ़ जाती है।(Hyper Bilirubin-aemia. हो जाता है) जिसके कारण रक्त के Serum में पीला पन बढ़ जाता है अर्थात् Icterus Index जो साधारणतः १०० सी॰सी॰ में ·२,५ मिलिग्राम होता है। बढ़कर ४,५ गुणा हो जाता है जिससे त्वचा पर पीलापन झलकने लगता है। Serum का Vanden Bergh Test Indirect -- होता है। मूत्र में इसकी वृद्धि होकर Urobilin तथा Urobilinogen की मात्रा बढ़ जाती है जिससे इसका रंग गहरा भूरा हो जाता है। इस प्रकार इस रोग में पित्त की अत्यधिक होने वाली वृद्धि को Polycholia कहते हैं।

इस रोग में रक्त कणों तथा रक्त रंजक द्रव्य दोनों की मात्रा घट जाती है जिससे पांडुता हो जाती है अर्थात् इस रोग में Haemolytie Anaemia -- होता है जो Normocytic Hypechromic किस्म का होता है। रक्त की परीक्षा करने पर इसमें रक्त कण विभिन्न वर्णों के होते हैं अर्थात् गुलाबी होने के स्थान पर कोई कोई हल्के नीले या बैंगनी होते हैं। (Poly Chromasia- ----- दूसरे विषम विभिन्न आकृति के अर्थात् छोटे बड़े रक्त कण भी देखे में आते हैं। (Anisocytosis) तीसरे विभिन्न आकृति के रक्त कण भी पाये जाते हैं। (Poikilocytosis) इस ज्वर में श्वेत कण (Leucocytes) घटे हुये होते हैं। परंतु Largemononuclear Leucocytes १०,१५ प्रतिशतक तक बढ़ जाते हैं। संभवतः ये इस रोग के Pigment को ग्रहण करने के लिये बढ़ते हैं।

इस रोग में रक्त के प्लाज्मा में प्रोटीन की मात्रा घट जाती है। अर्थात् प्लाज्मा में अल्ब्यूमिन कम हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट नहीं है। यकृत के रुग्ण होने से भी रक्त में इसकी मात्रा घट सकती है। इससे प्लाज्मा का भार/Osmotic Pressure गिर जाता है। रक्त का स्वाभाविक Erythrocy-tic Sedimentationrate भी इस रोग में बढ़ जाता है।

रक्त कणों में विषम ज्वर जीवाणु छल्ला (Rings) या चन्द्र (Crescents) के रूप में देखे जाते हैं।

<u>विषम ज्वर के लक्षण :-</u>

साधारण विषम ज्वर मच्छर काटने के लगभग १२ दिन बाद तथा संतत विषम ज्वर (M.T.) मच्छर काटने के १० दिन बाद प्रारंभ होता है।

विषम ज्वर वेगों (Paroxysms) में होता है। और इसका

वेग प्रायः, प्रातःकाल, मध्यान्ह से पहले आरंभ हो जाता है। वेग के आरंभ होने से पहले पूर्व रूप भी होते हैं। अन्नारुचि हस्त पाद आदि अंगों में हलका हलका दर्द, धकावट, मांसपेशियों में स्तब्धता, अंगड़ाइयां, जंभाइयां, होती हैं तथा हवा कुछ बुरी और ठंडी प्रतीत होती है। इन पूर्वरूपों के बाद रोगी को हवा अधिक ठंडी प्रतीत होने लगती है। वह जाड़े से कांपने लगता है, सर्दी के कारण दांत कटकटाने लगता है। त्वचा की रक्त वाहिनियों के संकुचित हो जाने से उसका रंग फीका पड़ जाता है तथा स्पर्श में भी उसकी त्वचा शीत होती है। शीत जलस्पर्श से जैसे अंगुलियों की त्वचा संकुचित हो जाती है वैसे ही रोगी की अंगुलियां झुर्रीदार हो जाती हैं। उसके ओष्ठ, नख आदि नीले से दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि उसे कंबलों से ढक दिया जाता है तो भी उसकी सर्दी दूर नहीं होती। शरीर की त्वचा के इस प्रकार शीत होने पर भी उसका अंदर का तापमान ऊंचा होता है। अर्थात् वह १०१, १०२ डिग्री तक होता है। नाड़ी गति तीव्र होती है। इस शीत और कंप के साथ रोगी को वमन भी होती है जो रंग में कुछ पीली होती है। बाहिर से रक्त के अंतरवयवों में चले जाने से वृक्क में भी रक्त अधिक पहुंचता है जिससे पानी की तरह का मूत्र अधिक मात्रा में आता है। यह शीतावस्था एक घंटे के लगभग समय तक रहती है। शिशुओं और बालकों में शीत लगने के स्थान पर बहुधा आक्षेप होकर यह ज्वर चढ़ता है जैसे ऊपर कहा है। विद्धेसे मच्छर काटने के लगभग एक पक्ष बाद जब इस रोग का जीवाणु पर्याप्त वृद्धि कर लेता है तब उसके रक्त कणों से निकल प्लाज्मा में फैल जाने या उसके Sporulation के साथ यह वेग आरंभ होता है।

इस प्रारंभिक शीत के बाद क्रमशः शरीर का तापमान बढ़ने लगता है। बढ़ते बढ़ते वह १०४, या १०५ डिग्री तक पहुंच जाता है। त्वचा और मुख की रक्त वाहिनियां जो पहले संकुचित थीं फैल जाती हैं जिससे चेहरा लाल हो जाता है, त्वचा भी रक्त वर्ण हो गई और स्पर्श में उष्ण होती है। त्वचा को स्पर्श करने से वह अधिक उष्ण प्रतीत होती है। रोगी को दाह अत्यधिक प्रतीत होती है। जिससे वह कंबलों को उतार कर फैंकने लगता है। त्वचा के समान उसकी श्लेष्म कला में भी शुष्क हो जाती है। कंठ के शुष्क होने से वह बोलना पसंद नहीं करता। जिह्वा, तालु आदि के शुष्क हो जाने से उसे पिपासा रहती है। मस्तिष्क की रक्त वाहिनियों में रक्त के अधिक मात्रा में भर जाने से सिर में भारी दर्द रहता है। यदि मस्तिष्क की प्राण-शक्ति पहले निर्बल हो और इस ज्वर के विष के दुष्प्रभाव से वह और क्षीण हो जाय तो प्रलाप का उत्पात भी हो जाता है। प्रायः तापमान १०५ से ऊपर हो तो प्रलाप हो जाता है। इस अवस्था में रोगी की नाड़ी प्रबल (Full)

नाड़ी तथा Dicrotic (द्विगति) होती है। कारण यह है कि इसमें हृदय तो उत्तेजित होता है और उसके सामने रक्त वाहिनियों में तनाव (Tension) कम होती है। श्वास गति भी इस रोग में तीव्र होती है। इस अवस्था में मूत्र कम आता है पर Urobilin के कारण गहरे रंग का होता है। यह उष्णावस्था लगभग ३ घंटे रहती है।

इसके उपरांत सहसा स्वेदावस्था आरंभ हो जाती है। पहले मस्तक और सिर पर प्रारंभ होकर सारा शरीर स्वेद से भर जाता है। कभी कभी इतना स्वेद आता है कि पहने हुये वस्त्र गीले होने के कारण बदलने पड़ते हैं। जिह्वा गले कंठ आदि की शोथजन्य सूजनें भी आई हो जाती हैं। स्वेद के आने के साथ साथ ज्वर, दाह, पिपासा, सिर दर्द, बेचैनी आदि लक्षण शांत हो जाते हैं। इस २, ३ घंटे की स्वेदावस्था के बाद निद्रा आने लगती है। जिससे उठने पर रोगी फिर अपने दैनिक कार्य में लग जाता है।

चातुर्थिक ज्वर जीवाणु के कारण ज्वर हो तो मच्छर काटने के तीन चार सप्ताह बाद ज्वर वेग आरंभ होता है। इसके ज्वर का वेग तृतीयक ज्वर के वेग से जो ८ घंटे के लगभग होता है कुछ छोटा होता है परंतु इसमें ज्वर की उष्णता १०५, १०६ तक हो जाती है। चातुर्थिक ज्वर एक बार होकर पुनः सुगमता से नहीं निकलता। कभी कभी वर्षों तक आता रहता है।

तृतीयक चतुर्थक ज्वरों के वेग के कारण, या इनके बारंबार होते रहने से मृत्यु कभी नहीं होती। परंतु इनके शरीर में बने रहने से विषम ज्वर जनित शिथिलता (Cachexia) हो जाती है अर्थात् प्लीहा वृद्धि, यकृत वृद्धि, पांडुता, अरुचि, अजीर्ण, कृशता, अशक्ति आदि लक्षण कई महीनों तक रहते हैं।

संतत विषम ज्वर : (Subtertion Malaria, Malignant Malaria) के लक्षण :-

Plasmodium Falciparum से होने वाला विशेष विषम ज्वर का वेग मच्छर काटने के १०, १२ दिन बाद प्रारंभ होता है। इसके वेग के समय ज्वर शीत लग कर नहीं चढ़ता या शीत लगने का लक्षण स्पष्ट नहीं होता। इसकी उष्णतावस्था भी क्रमशः आरंभ होती है और २०, ३० घंटे तक की लंबी होती है। जिससे तापमान स्वल्प काल के लिये उतर कर फिर पहले की तरह चढ़ जाता है। यदि इस जीवाणु के दो समूह शरीर में बारी बारी से Sporulation या Segmentation करते हों तो ज्वर पूर्णतया कभी भी नहीं उतरता। तब यह संतत विषम ज्वर (Remittent Continuous-Malaria). के रूप में होता है/ मंथर ज्वर से इसका संदेह हो सकता है परंतु यदि न्यूनतम और अधिकतम दैनिक तापमानों में दो डिग्री

से अह्निक का अंतर हो तो उसे सन्तत विषम ज्वर ही समझना चाहिये। साथ ही यदि ज्वर के वेग के साथ सिर में, शाखाओं में दर्द हो, पैत्तिक वमन, (Bilious Vomiting) हो, अरुचि हो, प्लीहा वृद्धि, पाण्डुता, मूत्र के गहरे पन के लक्षण हों तो उसे विषम ज्वर ही जानना चाहिये।

इस ज्वर के कारण शरीर के किसी अंग की सूक्ष्म रक्तवाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणुओं या इनके उत्पन्न मल (Pigment) के द्वारा अवरोध (Thrombosis तथा Embolism) हो सकता है जिससे इस ज्वर में नाना प्रकार के इतने लक्षण हो सकते हैं कि जिनकी गणना करना कठिन है। तथापि जिन प्रधानतम रूपों में यह रोग होता है उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

मस्तिष्क गत विषम ज्वर :- (Cerebral Malaria)

मस्तिष्क की सूक्ष्म रक्तवाहिनियों में विषम ज्वर जनित अवरोध होकर मस्तिष्क के प्रधान केन्द्रों का पोषण बंद हो जाने से या न्यूनाधिक रक्त स्राव हो जाने से मूर्छा हो जाती है। विषम ज्वर के लक्षणों के साथ जैसे १०४, १०५ का तापमान हो, नाड़ी तीव्र हो, पित्त वमन होती हो, प्लीहा वृद्धि हो, और इनके साथ प्रलाप होकर या तन्द्रा और निद्रा की अधिकता होकर मूर्छा हो गई हो तो विषम ज्वर जनित मूर्छा का निश्चय करना चाहिये। इसमें रोगी की पुतली संकुचित होती है। मस्तिष्क के उष्मानियामक (Thermiccentres) केन्द्रों की सूक्ष्म रक्तवाहिनियों में विषम ज्वर जनित अवरोध (Embolism) होने से शरीर का तापमान अत्यधिक बढ़ जाता है। अथवा धूप में श्रम करने पर ज्वर १०६ डिग्री तक हो जाता है। रोगी को प्रलाप होकर मूर्छा हो जाती है। नाड़ी तीव्र पर सर्पगति (Dicrotic) ~~सी~~ गति होती है। बहुधा आतप ज्वर (Sunstroke) तीव्र विषम ज्वर ही हुआ करता है।

मस्तिष्क की रक्त वाहिनियों पर विषम ज्वर जीवाणु के दुष्प्रभाव से आक्षेप युक्त ज्वर (Epileptiform Malaria) भी कभी कभी होता है। यदि अपस्मार के लक्षणों के साथ ज्वर भी हो तो मस्तिष्क गत विषम ज्वर का संदेह करना चाहिये।

मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों में या अन्य स्थान में विषम ज्वर का दुष्प्रभाव होकर ज्वर के साथ उन्माद सदृश लक्षण भी हो जाते हैं जिसे विषम ज्वर जनित उन्माद भी कभी कभी होता हुआ देखा जाता है। (Malarial-Insanity) इसमें रोगी का व्यवहार ही बदल जाता है। मस्तिष्क के भाषण संबंधी क्षेत्र (Broca's Centre) की रक्त वाहिनियों में विषम

ज्वर जनित अवरोध होने से मूकता (Aphasia) का लक्षण भी हो जाता है।
Occipital Lobe में स्थित दृष्टि केन्द्र की रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जनित अवरोध होने से अथवा Optic Radiation या Retina की रक्त वाहिनियों में अवरोध होने से कभी कभी दृष्टिनाश का लक्षण भी होता हुआ देखा जाता है। (Malarial Amblyopia या

सुषुम्ना कांड की रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जनित रक्तावरोध (Thrombi) हो जाने से दोनों जांघों में अशक्तता होकर ऊरुस्तंभ (Paraplegia) का लक्षण भी कभी कभी देखा जाता है।

मस्तिष्क के चेष्टा कू केन्द्रों या Internal Capsule की रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणु जनित अवरोध से एकांग घात (Monoplegia) का रोग भी हो सकता है।

कोष्ठ गत विषम ज्वर :- Abdominal Malaria):-

ज्वर जनित आमाशय शूल :-

आमाशय की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणु जनित अवरोध हो जाय तो अजीर्ण (Achlorhydria) आमाशय प्रदेश पर शूल या बेचैनी या अति वमन के लक्षण होते हैं। इसे विषम ज्वर जनित वमन या आमाशय शूल कहते हैं।

ज्वरातिसार :-

क्षुद्रान्त्र की सूक्ष्म रक्तवाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणु जनित अवरोध हो जाय तो तीव्र अतिसार होने लगते हैं जिनको देखकर विशूचिका रोग का संदेह हो जाता है परंतु यदि ज्वर हो, विषम ज्वर का इतिवृत्त हो, मल में कुछ कुछ पीलापन भी हो, वमन में भी कुछ पीला पन हो, तो विषम ज्वरातिसार का ही निश्चय करना चाहिये। कोष्ठगत विषम ज्वर में रोगी को कोष्ठ के अंदर अग्नि सदृश दाह प्रतीत होता है।

शीतांग विषम ज्वर, शीतांग ज्वर :- (Algid Malaria)

कोष्ठ गत विषम ज्वर के कारण वमन और अतिसार के अधिक मात्रा में हो जाने पर जब शरीर से जल भाग अधिक मात्रा में निकल जाता है तो Dehydration के कारण शरीर की रक्तवाहिनियां शिथिल हो जाती हैं अर्थात् उनकी प्राण शक्ति और रक्त संचारक शक्ति के घट जाने से सर्वांग शैत्य (Circulatory Callapse) हो जाता है। त्वचा पर स्पर्श करने से त्वचा शीत होती है। यद्यपि अंदर का तापमान फारेनहाइट ऊंचा होता है। जल भाग के न्यून हो जाने से पिंडिलियों में उद्वेष्टन (Cramps) होते हैं। रोगी की शक्ति क्षीण हो जाती है। नाड़ी सूक्ष्म हो जाय तो इसे बुरा लक्षण समझा जाता है।

कभी कभी अतिसार और वमन विशेष नहीं होते। इनके बिना ही शरीर शीत हो जाता है। इस अवस्था में या तो आन्त्र की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम् ज्वर जीवाणु अत्यधिक मात्रा में भर जाते हैं जिनके कारण उनमें अवरोध हो जाता है या विषम् ज्वर की किसी विष के दुष्प्रभाव से रक्त वाहिनियों की प्राण शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा संभवतः Adrenal-Gland. की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम् ज्वर जीवाणुओं के कारण अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे शारीरिक रक्त वाहिनियों की शक्ति घट जाती है।

शीत स्वेद युक्त विषम् ज्वर :- (Vasomotor Type of Malaria):-

रोगी को सहसा शीत स्वेद आकर सर्वाङ्ग शैथिल्य का लक्षण हो जाता है। कई बार इस लक्षण के साथ अतिसार भी होता और कभी नहीं होता है। इस रोग में शरीर के शिथिल हो जाने पर भी संज्ञा ठीक रहती है।

विषम् ज्वर जनित प्रवाहिका :- (Dysenteric Malaria):-

बृहदन्त्र की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम् ज्वर जीवाणुओं के द्वारा अवरोध हो जाने से उनका पोषण बंद हो जाता है जिससे उनकी श्लेष्म कला नष्ट (Necrosed) हो जाती है एवं प्रवाहिका रोग हो जाता है। ज्वर विशेष हो, विषम् ज्वर का इति वृत्त हो, नेत्रों में, त्वचा में कुछ पीलापन हो, ऐंठन का लक्षण विशेष न हो, प्रवाहिका सहसा आरंभ हो गई हो, तो इसे विषम् ज्वर जनित प्रवाहिका जानना चाहिये।

विषम् ज्वर जनित उदर शूल :-

कोष्ठ के किसी प्रदेश पर अत्यधिक तीव्र शूल हो और ज्वर भी हो या विषम् ज्वर का इति वृत्त हो तो विषम् ज्वर को ही इसका कारण समझना चाहिये। Septic ज्वर में शूल हो तो रोगी स्पर्श को सहन नहीं करता। विषम् फुफ्फुस गत विषम् ज्वर :- Pulmonary Malaria:-

।क। विषम् ज्वर जनित प्रतिश्याय :-

जिनमें प्रतिश्याय रोग शीघ्रता से हो जाता है उनके नासिका तथा Sinuses की रक्त वाहिनियों में विषम् ज्वर जीवाणुओं का संचय विशेषता से हो जाता है। जिससे बहुधा विषम् ज्वर के कारण भी प्रतिश्याय रोग हो जाता है। यदि विषम् ज्वर का इतिवृत्त हो, तापमान भी हो, शीत पूर्व प्रतीत होता हो, तो प्रतिश्याय को विषम् ज्वर जनित समझना चाहिये।

।ख। विषम् ज्वर जनित कास तथा श्वास :-

श्वास वाहिनियों की तथा श्वास वाहिनियों और वायु कोष्ठों (Air Vesicles) दोनों की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम् ज्वर

जनित अवरोध होकर इनमें श्लैष्मिक शोथ (Catarrat) उत्पन्न हो सकता है। जिससे ज्वर के साथ कास का लक्षण रहता है। यदि विषम ज्वर का इतिवृत्त हो, पांडुता, या पीला सा घन त्वचा में हो, ज्वर हो तो विषम ज्वर का संदेह करना चाहिये।

यदि शरीर में श्वास रोग की प्रवृत्ति हो तो विषम ज्वर प्रदेश में विषम ज्वर की विष को न सह सके या उसकी Allergy से श्वास नाड़ियों में स्तंभ हो सकता है जिससे श्वास रोग का वेग हो जाता है। इसलिये श्वास रोग में भी विषम ज्वर कारण हो सकता है। यदि ज्वर हो या पहले ज्वर हो चुका हो तो इस रोग का संदेह करना चाहिये।

विषम ज्वर जनित पार्श्व शूल :- (Malarial Intercostal Neuritis ~~xx~~ or Neuralgia):- कभी कभी छाती के आगे या पार्श्व पर तीव्र शूल होने लगता है। संभवतः Intercostal Nerves की पोषक धमनियों में इस रोग के कारण अवरोध हो जाने से किसी एक वात नाड़ी की प्राण शक्ति कम हो जाती है जिससे भारी दर्द होने लगता है। विषम ज्वर ~~xxxxxxxx~~ का इतिवृत्त हो, या ज्वर हो, विषम ज्वर के अन्य लक्षण भी हों तो इस शूल को विषम ज्वर जनित समझना चाहिये।

वृक्क गत विषम ज्वर : श्वयथु युक्त विषम ज्वर :- (Malarial Nephritis- Renal Malaria):-

वृक्कों की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणु जनित अवरोध होकर वृक्कों की मूत्र प्रणालियों (Nephrons) में दूषितता के उत्पन्न हो जाने से मूत्र में अल्ब्यूमिन आने लगता है। मूत्र की मात्रा घट जाती है। शरीर में श्वयथु हो जाता है। इसे विषम ज्वर जनित वृक्क रोग कहते हैं।

विषम ज्वर जनित पांडुता तथा रक्त पित्त :- (Haemolytic Anaemia Haemorrhagic Malar~~e~~ia):-

विषम ज्वर के कारण कभी कभी रक्त कणों की संख्या प्रति घन किक मिलीमीटर में १ मिलियन तक रह जाती है तथा हीमोग्लोबिन ७, १५ प्रतिशतक तक रह जाता है। विषम ज्वर की विष की तीक्ष्णता से ऐसा होता है। रक्त में श्वेत कण भी कम हो जाते हैं जिससे रोगी की रोग रोधक शक्ति कम हो जाती है। और वह अन्य रोगों का शिकार बन जाता है।

नासिका, दंत मांस, आमाशय, आंत, वृक्क, गर्भाशय आदि की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणु के अधिक मात्रा में संचित हो जाने से कभी कभी इन अंगों से रक्त स्राव होने लगता है। त्वचा में

रक्त स्राव होने से उसमें रक्त की चकत्ते (Petechiae) निकल आते हैं। इसे विषम ज्वर जनित रक्त पित्त (Purpuric Malaria) कहते हैं।

नेत्र गत विषम ज्वर :-

विषम ज्वर जीवाणुओं के अधिक मात्रा में संचित हो जाने से कुछ नेत्र रोग जैसे Corneal Ulcer, Keratitis, Iritis. भी हो सकते हैं यदि इन रोगों में ज्वर भी हो या विषम ज्वर का इतिवृत्त हो तो विषम ज्वर की चिकित्सा करने से ये रोग शीघ्र शांत हो जाते हैं। दृष्टि नाश अधर्मंद (Amblyopia) भी विषम ज्वर के कारण होता है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। विषम ज्वर के अन्य लक्षणों के साथ शिरः शूल या Glaucoma सदृश नेत्र शूल भी कभी कभी हो जाता है। जिससे दृष्टि शक्ति शीघ्र शीघ्र घटती जाती है। ऐसे नेत्र शूल को देख कर विषम ज्वर का संदेह करना चाहिये।

यकृत गत विषम ज्वर या कामला युक्त विषम ज्वर :- (Bilious-Malaria):-

इस रोगों में रक्त कण अत्यधिक मात्रा में नष्ट होते हैं जिसे यकृत के सेल पृथक न कर सकें तो रक्त में Bilirubin की मात्रा बढ़ जाती है। जिससे नेत्र, त्वचा, मूत्र आदि में पीला रंग झलकने लगता है। यकृत की रक्त वाहिनियों में विषम ज्वर जीवाणुओं का संचय विशेष होता है। जिससे उनमें रक्तावरोध हो जाता है। यकृत आकार में कुछ बड़ा हो जाता है। इसे Malarial Hepatitis कहते हैं। कभी कभी यकृत के सेलों में इस रोग के कारण कषाय वसीयता (Fatty Degen:) हो जाती है जिससे कामला का लक्षण और अधिक स्पष्ट होता है। यकृत प्रदेश पर स्पर्शासहनता का लक्षण होता है।

गर्भाशय गत विषम ज्वर :-

Placenta की रक्त वाहिनियों में इस रोग के कारण अवरोध होने से भ्रूण का पोषण घट जाता है जिससे गर्भपात हो सकता है। अथवा इस रोग के कारण गर्भिणी वृक्क रोग होकर उसमें विष संचार हो जाता है जिसे गर्भिणीविषसंचार (Pregnancy Toxaemia) कहते हैं। इसके कारण प्रसव से पहले या बाद में गर्भोन्माद (Eclampsia) या गर्भाक्षेप का रोग हो सकता है। जिसमें गर्भिणी के शरीर में आक्षेप होने लगते हैं। इस रोग को देखकर विषम ज्वर का संदेह करना चाहिये। गर्भ स्थिति के पिछले महीनों में गर्भिणी को विषम ज्वर से बचाना अत्यावश्यक है। अन्यथा उसमें वृक्क रोग होकर अल्ब्युमिन मेह हो सकता है। या शरीर पर शोथ भी हो सकता है।

हृदयगत विषम ज्वर : (Cardiac Malaria):-

हृदय की सुक्ष्म धमनियों में विषम् ज्वर जीवाणु जनित अवरोध होने से ~~से~~ हृदय का पोषण कम हो जाता है। इसके मांस में क्षयात्मक शिथिलता हो जाती है। हृदय की इस निर्बलता के कारण रोगी को स्वल्प श्रम से श्वास चढ़ने लगता है और फिर कभी अति श्रम करने पर जब हृदय मस्तिष्क तक रक्त नहीं फेंक सकता तो मूर्छा भी हो जाती है। इसे Syncopal या Cardiac Malaria कहते हैं।

विषम् ज्वर जनित शीत पित्त :-

जैसे विषम् ज्वर की विष के कारण श्वास रोग हो सकता है वैसे ही इस विष के कारण शीत पित्त नामक रोग भी हो सकता है। यदि विषम् ज्वर का इतिवृत्त हो या शीत पित्त के साथ ज्वर का भी संबंध हो तो विषम् ज्वर का संदेह करना चाहिये।

जनेन्द्रिय गत विषम् ज्वर :-

स्त्रियों में विषम् ज्वर के बने रहने के कारण उनकी प्रजनन शक्ति घट जाती या नष्ट हो जाती है देखा जाता है कि जिन प्रदेशों में यह रोग अत्यधिक होता है वहां स्त्रियों की संतानोत्पादक शक्ति कम होती है। इसी प्रकार कभी कभी देखने में आता है कि पुरुषों में इस रोग के रहने से उनकी पुंसत्व शक्ति या मैथुन शक्ति कम हो जाती है। जनेन्द्रियों से संबंधित अवयवों की रक्त वाहिनियों में विषम् ज्वर जनित जीवाणु अवरोध से या जनेन्द्रियों के पोषण के कम होने से यह लक्षण होता है।

विषम् ज्वर जनित स्फोट :- Malarial Herpes:-

होठों पर तथा नेत्र के आस पास कभी कभी इस रोग के कारण स्फोट Herpes भी निकल आते हैं। संभव है मस्तक पर निकलने वाले स्फोटों (Ophlhalmic Herpes) का भी यह रोग कभी कभी कारण होता है।

विषम् ज्वर जनित सुप्रांवृत्ती शूल :- (Malarial ~~Supram~~ Supraorbital Neuralgia

बहुधा प्रातःकाल से दोपहर तक होने वाला मस्तक शूल विषम् ज्वर से युक्त रोगियों में पाया जाता है। इसलिये सूर्यवर्ति कहाने वाला यह शूल विषम् ज्वर का उपद्रव कहा जा सकता है।

विषम् ज्वर की पहचान :-

उपर्युक्त विषम् ज्वर के भेदों को देखते हुवे स्पष्ट है कि यह ज्वर इतने नाना रूपों में हमारे सन्मुख आता है कि कभी कभी इसका पहचानना कठिन हो जाता है। परंतु यदि विषम् ज्वर का प्रदेश हो, अथवा विषम् ज्वर होने का काल हो, कोई लक्षण सहसा ज्वर के साथ आरंभ हो० हुआ हो, ज्वर

भी मकाम् से पहले कड़ा हो, तथा वह कमर, अंगों तथा सिर में दर्द के साथ हो, न्यूनाधिक प्लीहा वृद्धि का लक्षण हो, यकृत् पर दबाने से दर्द होता हो, आँख में पांडुता लेशमात्र नेत्र त्वचा आदि में हल्का सा निम्बू का सा पीला पन हो, (Hyperbilirubinaemia हो), मूत्र गहरे रंग का हो, (Urobilinuria हो), मुख का स्वाद फीका सा रहता हो, या मुख में साबुन सा घुला हुआ प्रतीत होता हो, पिपासा हो, ओष्ठ, मुख, नेत्रों के आसपास स्फोट (Herpes) हों, प्रातः और सांय के तापमानों में अर्थात् न्यूनतम और उच्चतम दैनिक तापमानों में दो डिग्री से अधिक का अंतर हो, नाड़ी गति कुछ ८०/१०० तीव्र हो, जिनमें से प्रत्येक नाड़ी देखने में निर्बल हो, रक्त की परीक्षा करने पर इसमें श्वेत कणों की न्यूनता (Leucopenia) हो पर Monocytes १२, १५ प्रतिशत तक हों, रक्त कणों में मलेरिया जीवाणु दिखाई पड़ें, विषम ज्वर नाशक औषधि के देने से लाभ प्रतीत हो, मूत्र त्याग समय मूत्र मार्ग में जलन प्रतीत हो, गालों पर कृष्ण वर्ण व्यंग हों, तो विषम ज्वर का संदेह करना चाहिये। विषम ज्वर प्रदेश में निष्कारण, उदर शूल, वक्षःशूल, अतिसार, प्रवाहिका, शीत पित्त, आदि कोई विचित्र लक्षण जो पहले न रहा हो, सहसा प्रारंभ हो गया हो, तो विषम ज्वर का संदेह करना चाहिये। कुछ पूय जनित ज्वरों जैसे Liver Abscess यकृद्विद्रधि, Pyelitis या वृक्कालय शोथ में तथा उरः क्षय रोग में ज्वर मध्याह्न के उपरांत अधिकांश बढ़ता है तथा इनमें श्वेत कण भी बढ़े हुये होते हैं एवं इनमें नेत्रत्वचा मूत्र आदि में पीलापन वैसा नहीं होता जैसे विषम ज्वर के रोगी में होता है। इस प्रकार विषम ज्वर का इन रोगों से पृथक् करना कठिन नहीं होता।

विषम् ज्वर की साध्यासाध्यता :-

तीव्र विषम् ज्वर (Malignant Malaria) एक महान घातक रोग है जिसके कारण सहस्रों मृत्यु होती हैं। मूर्छा जनक विषम् ज्वर (Cerebral Malaria) तथा, शीतांग जनक विषम् ज्वर (Algid Malaria) प्रायः घातक होते हैं तथापि इनकी चिकित्सा शीघ्र प्रारंभ कर दी जाय तो रोगी को बचाया जा सकता है। वृद्धों, कृशों और शिशुओं में भी विषम् ज्वर प्रबल रूप में हो तो वह प्रायः घातक होता है।

विषम् ज्वर प्रतिषेधक (Prophylactic) चिकित्सा :-

D. D. T. अर्थात् Dichlor-Diphenyl-Trichlorethane- जो कि ८०/१०० मिट्टी के तेल या Diesel Oil या स्पिरिट में घुलता है या पानी में जिसका इमल्शन बनता है इसके ५ प्रतिशत अर्थात् इन द्रवों के १ गेलन में आधा पौंड डी०डी०टी० मिलाकर। घोल को मकान की दीवारों छतों आदि के अंदर बाहिर दोनों ओर इस प्रकार छिड़क दिया जाय जिससे

प्रतिवर्ग फुट में कम से कम एक ग्रा० डी०डी०टी० छिड़का जाय तो उस मकान में मच्छर नहीं रह सकते। मकान के सामान को निकाल कर फिर डी०डी०टी० का छिड़काव करना चाहिये। एक बार छिड़का हुआ डी०डी०टी० १,२ मास तक मच्छरों के लिये घातक रहता है। जब मच्छर छिड़के हुये डी०डी०टी० पर बैठता है यह औषध उसके पांव में लगकर उसके शरीर में विलीन हो जाती है और कुछ घंटों के अन्दर अंदर उसके नाड़ी मंडल पर अपना विषैला प्रभाव करके उसे प्रतिहत (Paralysed) कर देता है। अर्थात् मच्छर की नाड़ी घात हो जाता है और वह मृत हो जाता है।

यदि सारे मकान में डी०डी०टी० न छिड़का जा सके तो हाथ, पांव, माथे आदि पर कोई मच्छरनिवारक लेप लगाकर रात्रि को सोना चाहिये। जैसे Oleum Citronella ५ औंस, कपूर २ ड्राम, Cedar-wood Oil या देवदारु तैल २½ औंस, Paraffine Hard ७½ औंस, Paraffin Soft White १२ औंस मिलाकर बनाया लेप लगाना चाहिये अथवा Dimethylphthalate का बना तेल या क्रीम जो बाजार में मिलता है शरीर के खुले भागों पर लगाकर सोना चाहिये।

औषधियों में से Paludrine ·१ ग्राम की एक गोली के सप्ताह में दो बार लेते रहने से जब तक औषध ली जाती है विषम् ज्वर नहीं होता। ६ वर्ष से १२ वर्ष तक के बालकों को ½ गोली, ६ वर्ष से नीचे के बालकों को एक चौथाई गोली सप्ताह में दो बार देते रहने से इस ज्वर के होने का भय नहीं रहता।

विषम् ज्वर की चिकित्सा :-

अति प्रसिद्ध विषम ज्वर नाशक Antimalarial औषधियां ये हैं।

१.. Quinine.

२.. Mepacrine.

३.. Chloroquine.

४.. Paludrine.

५.. Pamaquin.

इनके अतिरिक्त सोमल या संखिया भी विषम् ज्वर नाशक है। Plasmodium Vivax के Schizonts तथा Gametocytes पर इसका विशेषघातक प्रभाव देखा गया है।

१.. क्वीनीन :-

सिनकोना नामक वृक्ष की छाल के Alkaloid से Sulphate Bisulphate, Hydrochloride तथा Dihydrochlaride नामक बनाये जाते हैं। इनके देने से विषम् ज्वर जीवाणु (Schizonts) मृत हो जाते हैं तथा Plasmodium Falciparum --- --- --- --

के अतिरिक्त दूसरे विषम ज्वर जीवाणुओं के Gametocytes भी नष्ट हो जाते हैं। ज्वर का वेग उतर जाने पर अर्थात् स्वेदावस्था के बाद ५,१० ग्रेन Bisulphate कैप्सूल में बंद करके दिन में ३,४ बार देने से फिर वेग नहीं होता। आठ दस दिन इसी प्रकार इसके लेते रहने से और उसके बाद स्वल्प मात्रा में इसके इतने दिन तक लेते रहने से यह ज्वर फिर नहीं होता। Quinine-Sulphate. घुलन शील नहीं होता। इसका घोल बनाने के लिये इसके प्रति ग्रेन में १ बूंद Acid Sulphuric Dilute जल में मिलाना चाहिये। इसकी १ मात्रा में Aqua Chloroform १/२ औंस Simple Syrup १ ड्राम भी मिला देने से कड़वापन कुछ कम हो जाता है। इसकी मात्रा पीने के बाद त्रिफला चूर्ण या हरीतकी चूर्ण के मुख में लेने से भी इसका कड़वापन जाता रहता है। बड़े व्यक्ति की पूर्ण मात्रा १० ग्रेन, ८ वर्ष से १५ वर्ष तक के बालक की पूर्ण मात्रा ५ से ८ ग्रेन, ४ से ७ वर्ष तक के बालक की २ से ४ ग्रेन, १ से ३ वर्ष तक के बालक के लिये १, १ १/२ ग्रेन तथा १ वर्ष से नीचे के बालक की १/२ ग्रेन होती है। दिन में ऐसी दो तीन मात्रा दे सकते हैं। क्वीनीन कड़वी होने से बालक नहीं लें तो उपर्युक्त मात्रा से १ १/२ गुणा मात्रा में Euquinine या Quinine Ethyl Carbonate जो फीकी होती है, दूध या जल में मिला कर दे सकते हैं। अर्थात् १ से ३ वर्ष तक के बालकों को यह १ १/२ से, २ १/२ ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार देनी चाहिये। विरेचन देने के बाद देने से क्वीनीन अधिक लाभ करती है। अतः रात को Calomel दो ग्रेन की मात्रा में दे कर तथा प्रातः मैगनीशियम सल्फेट चार ड्राम देकर उसके कुछ काल बाद क्विनीन का प्रयोग आरंभ किया जाता है परंतु रोग तीव्र रूप में हो तो विरेचन के बिना भी इसका प्रयोग करना उचित है। शरीर में शूल भी हो तो ५ ग्रेन क्विनीन के साथ Phenacetin २ ग्रेन, Caffeine Citrate १ ग्रेन मिला कर कैप्सूल दे सकते हैं।

तीव्र विषम ज्वर (Malignt Malaria) में विशेषतः जब रोगी मूर्छावस्था में हो या शूल आदि तीव्र कष्ट में हो, १०, २० सी०सी० नार्मल सेलाइन में १० ग्रेन Quinine Bi-Hydrochloride मिलाकर Medianbasilic-Vein. द्वारा धीरे धीरे तीन चार मिनट के समय में दे देना चाहिये। एक ही इंजेक्शन से बड़ा लाभ होता है। परंतु आवश्यक हो तो ८ घंटे बाद दूसरा इंजेक्शन भी दे सकते हैं। यह औषध रक्त द्वारा दी जाने पर हृदय को अवसन्न करती तथा रक्त भार को गिराती है अर्थात् Vasodilatation का कारण हो जाती है। अतः इसको रक्त में धीरे धीरे प्रविष्ट करना चाहिये। अथवा इसके देने से पहले Adrenaline Hydrochloride (1-1000) के १/२, १ सी०सी० का इंजेक्शन दे देना चाहिये। अतिसार और वमन से शरीर में

जलाभाव हो गया हो तो ५ प्रतिशत ग्लूकोज युक्त Normal Saline बूंद बूंद करके शिरा द्वारा देते रहना चाहिये। तापमान अत्युच्च होतो बरफ की टोपी सिर पर रखें या पेडू पर ठंडी मट्टी की पट्टी रखें या शरीर को ठंडी गीली चादर में लपेट दें। जब किसी कारण शिरा द्वारा इसे न दिया जा सकता हो तो इसके २ सी सी में ३० ग्रेन के बने अम्पुल को २,३ सी.सी. शुद्ध जल या नमक वाले जल में हल्का करके Gluteus Maximus में Greater Trochanter--- के शिखर के समीप के प्रदेश पर गहराई में देना चाहिये। अथवा Anterior Superior Spine से Intergluleal Furrow के शिखर को मिलाने वाली रेखा को जहां पर Ischial Tuberosity और Posterior Superior Spine को मिलाने वाली रेखा काटती है वहां इंजेक्शन देना चाहिये यदि Sciatic Nerve में यह औषधि न जाने पाय/इसका ध्यान रखते हुये इंजेक्शन इस मांस के निचले प्रदेश पर नहीं देना चाहिये।

विषम ज्वर मूर्छा में Nicotinic Acid (Pelonin,Glaxo) की १०० मिलिग्राम मात्रा को ५ सी.सी. शुद्ध जल में मिला कर धीरे धीरे १० मिनट तक के समय में शिरा द्वारा देने से तथा आवश्यक हो तो एक घंटे बाद इसे दोहराने से बड़ा लाभ होता है। ~~~~, २५ प्रतिशत,२५ सी.सी. ग्लूकोज द्रव के देने से भी इस अवस्था में लाभ होता है।

क्वीनीन के प्रयोग से औषधिजन्य कुछ बधिरता का लक्षण ~~~~ हो सकता है तथा गर्भिणि में कभी कभी गर्भपात की आशंका हो सकती है। ऐसी अवस्था में किसी दूसरी विषम ज्वर नाशक औषधि का प्रयोग करना चाहिये।

<u>मेपाक्रीन :-</u> (Mepacrine:- (Atebrin,Quinacrine),Mepacrine Hydrochloride:-

क्वीनीन के सदृश विषम ज्वर जीवाणु के Schizonts तथा Gametocytes को मारने वाली औषधि है। इसी के समान Plasmodium-Falciparum के Gametocytes पर इस का विशेष प्रभाव नहीं होता। तीव्र विषम ज्वर में इसकी दो गोली अर्थात् .२ ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार दी जाती हैं। इसके बाद .१ ग्राम मात्रा या इसकी १ गोली दिन में तीन बार एक सप्ताह तक दी जाती है। शिशु को .१ ग्राम की गोली का पांचवां भाग दिन में तीन बार,४ वर्ष तक की आयु के बालक को इस प्रकार की एक गोली का तीसरा भाग, दिन में तीन बार,४ से ८ वर्ष तक की आयु के बालक को .२ ग्राम तीन भागों में बांट कर दिन में तीन बार,८,१६ वर्ष तक की आयु में .१ ग्राम की गोली दिन में तीन बार,दो दिन देकर फिर उपर्युक्त इस दैनिक मात्रा के $\frac{2}{3}$ भाग में यह औषधि एक सप्ताह तक जारी रखनी चाहिये। जिन्हें क्विनीन अनुकूल नहीं होती उनके लिये यह उत्तम रहती है। जिन

व्यक्तियों को वमन होती हो उन्हें Mepacrine Dimethane Sulphonate Abrin (At.Muscnate Soluble-Quinacrine). ·३ या ·४ ग्राम की मात्रा में ४ सी॰सी॰ शुद्ध जल में मिलाकर दिन में १,२ बार मांस द्वारा दी जा सकती है। ८,१६ वर्ष तक की आयु के बालकों में ·२ ग्राम की मात्रा ४,८ तक की आयु के बालकों में ·१ ग्राम तक की मात्रा एक दो सी॰सी॰ शुद्ध जल में मिलाकर मांस द्वारा दी जा सकती है।

मुख से प्रयोग करने पर खाली पेट इसे नहीं देना चाहिये तथा अधिक जल के साथ इसे देना चाहिये। जिन्हें क्विनीन अनुकूल नहीं उनके लिये यह उत्तम है। इसके प्रयोग से कभी कभी त्वचा में पीलापन झलकने लगता है। क्यों कि यह मूत्र द्वारा धीमे धीमे निकलती है। जिससे शरीर में संचित हो जाने के कारण इस रंग का कारण बन जाती है। परन्तु कुछ दिनों में यह रंग स्वयं लुप्त हो जाता है।

क्लोरोक्वीन :-Chloroqmine Diphosphate (Avloclor,Resochin Bayer)
Chloroquine Sulphate (Nivaquine M.B.)

यह एक उत्तम विषम ज्वर नाशक औषध है जो Plasmodium-Vivax तथा Falciparum के Schizonts तथा Gametocytes के लिये घातक है पर तीव्र विषम ज्वर (M.T.) के Creseents पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं। उपर्युक्त औषधियों की अपेक्षा शीघ्र कार्य करने वाली तथा प्रबलतर औषध है। यद्यपि इसका प्रभाव Exoerythrocytic Parasite-s. पर कोई विशेष नहीं होता। इसकी १ गोली ·२५ ग्राम की मिलती है। इस औषध की प्रथम मात्रा १ ग्राम की दी जाती है। अथवा इसकी दो गोलियां देकर एक दो घंटे बाद फिर दो गोलियां दे दी जाती है जिससे प्रथम मात्रा १ ग्राम की पूरी हो जाती है। इस मात्रा के ६,८ घंटे बाद फिर दो गोलियां ·५ ग्राम मात्रा में दी जाती है। फिर दूसरे दिन आधा ग्राम और तीसरे दिन भी आधा ग्राम की मात्रा में यह औषध दी जाती है। इस प्रकार तीन दिन में कुल ढाई ग्राम मात्रा दे दी जाती है। Nivaquine ·२ ग्राम की गोलियां मिलती है। इसकी दो दो गोली प्रथम दिन दो बार दी जाती है। दूसरे दिन एक एक गोली चार बार दी जाती है या दूसरे दिन दो और तीसरे दिन दो गोली दी जाती है। ५ से ८ वर्ष की आयु तक प्रथम दिन ५ गोली और फिर इसकी आधी मात्रा दो दिन तक दी जाती है। ४,८ वर्ष तक की आयु के बालकों को प्रथम दिन ४ गोली और फिर २ गोली २ दिन तक इसकी दी जाती है। ४ वर्ष की आयु के बालकों को प्रथम दिन दो गोली और फिर एक एक गोली दो दिन तक दी जाती है।

निवाक्वीन की मात्रा ६ से ९ तक की आयु के बालकों के लिये यही

मात्रा की $\frac{3}{4}$ है। ३,६ वर्ष तक यह मात्रा उसकी $\frac{1}{2}$ है। १,३ वर्ष तक के लिये यह $\frac{1}{4}$ है। और २ १ वर्ष तक के बालकों के लिये $\frac{1}{8}$ भाग है।

यह औषधि मुख से नहीं जा सकती हो तो ·२ ग्राम Chloroquine Base का ५ सी सी जल में घुला हुआ इंजेक्शन भी निकालें। जो मांस द्वारा दिया जाता है। आवश्यकता प्रतीत हो तो ६,८ घंटे बाद दूसरा इंजेक्शन भी दे सकते हैं।

Camoquin उपर्युक्त की भाँति ही एक औषध है जो Amodiaquin-Hydrochloride है। रासायनिक दृष्टि से तथा शारीरिक प्रभाव में यह क्लोरोक्विन के सदृश ही है। प्रथम दिन इसकी ·२ ग्राम की गोलियां दिन में तीन दी जाती हैं। दूसरे तीसरे दिन दो दो गोलियां दी जाती हैं। एक गोली में २०० मिलिग्राम औषध होती है। बालक के प्रति सेर भार के पीछे ७ मिलिग्राम की मात्रा में यह देनी चाहिये।

क्लोरोक्विन एक निरुपद्रव औषध है। कभी कभी इसकी ही सिर दर्द या दृष्टि में धुंधलापन आ जाने या वमन होने की शिकायत हो सकती है। भोजन के बाद अधिक जल से लेने से यह आमाशय विक्षोभक नहीं रहती ।

Pamaquin Plasmoquine:-

यह विषम ज्वर के लिंगी जीवाणुओं Gametocytes को नष्ट करने वाली औषध है। Plasmodium Falciparum के Schizonts को छोड़कर इस ज्वर के अन्य S-chizonts को भी यह नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त यकृत के सेलों में बढ़ रहे विषम ज्वर जीवाणुओं अर्थात् Exoery-throcytic Parasites को भी नष्ट करता है। इसलिये बारंबार हो जाने वाले विषम ज्वर को दूर करने के लिये इसका प्रयोग होता है। यद्यपि Paludrine के करने के बाद अब यही प्रयोजन उसके प्रयोग से सिद्ध किया जाता है। Benign Tertian Malaria या तृतीयक ज्वर बारंबार आता रहता हो तो Pamaquin १० मिलिग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार एक सप्ताह तक देनी चाहिये। इसके साथ साथ प्रति दिन दो दो ग्रेन क्विनीन भी ३ बार एक सप्ताह तक दे दी जाती है। इन दोनों के साथ साथ प्रयोग से फिर पुनरावर्ती ज्वर (Rep Relapsing Malaria) नहीं आता । क्विनीन के स्थान पर पाल्युड्रिन ·१ ग्राम की गोली दिन में तीन बार दे सकते हैं। पामाक्विन के प्रयोग के समय रोगी को लेटे रहना चाहिये तथा जल का अधिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिये ।

Pentaquine-Primaquine:- भी Pamaquine के सदृश औषधियां हैं। यद्यपि इसकी अपेक्षा अधिक निर्दोष हैं। Primaquine

सर्वोत्तम औषधि है जो Exoerythrocytie Parasites के नष्ट करने के उद्देश्य से दी जाती है। इसके Phosphate की दैनिक मात्रा १५ मिलिग्राम है। या इसे ७ मिलिग्राम की मात्रा में दिन में दो बार दे देते हैं। इसके १२, १४ दिन तक देने से ज्वर का बारंबार आना बंद हो जाता है। इनके साथ साथ क्विनीन या पालुद्रीन भी थोड़ी थोड़ी मात्रा में प्रतिदिन दी जा सकती है।

ये औषधियां तीक्ष्णगुण हैं। इसलिये बड़ी सावधानी के साथ दी जाती हैं। आमाशय शूल, मूत्र चि, स्वेद, शिर: शूल आदि दुर्लक्षण होने लगें तो इनका प्रयोग बन्द कर देना चाहिये।

पालुद्रीन :- Paludrine Hydrochloride Proguanil:-

यकृत के सेलों के अंदर बढ़ते हुये Pre-Erythrocytic Parasites को नष्ट करने के लिये उत्तम औषध है। विशेषतया सन्तत विषम ज्वर जीवाणु या Plasmodium Falciparum के यकृत में बढ़ते हुये जीवाणुओं को यह नष्ट करता है। इसलिये सन्तत विषम ज्वर जीवाणु के कारण बारंबार हो जाने वाले ज्वर के लिये यह श्रेष्ठ औषध है। परंतु Plasmodium Vivax के Pre-Erythrocytic Paras-ites पर इसका विशेष प्रभाव नहीं होता। अत: उसके कारण बारंबार होने वाले ज्वर को यह उस प्रकार शान्त नहीं करता। दोनों प्रकार के विषम ज्वर अर्थात् साधारण विषम ज्वर तथा घातक विषम ज्वर के Schizonts को भी यह नष्ट करता है परंतु उतनी तीव्रता से और शीघ्रता से नहीं करता जिस प्रकार क्विनिन मेपाक्रीन तथा क्लोरोक्विन करते हैं। अत: तीव्र ज्वर की अवस्था में भी इसे जब दिया जाता है तो प्रथम दिन इसके साथ क्विनिन या मेपाक्रीन ·३ ग्राम की मात्रा में दो बार दे दी जाती है फिर केवल इसी औषधि के देते रहने से लाभ हो जाता है। ज्वर के हटाने के लिये ·३ ग्राम की एक गोली दिन में दो बार दी जाती है। या ·२ ग्राम की गोली दिन में तीन बार दी जाती है। इसी प्रकार ७ दिन दी जाती है। इसके साथ साथ प्रथम एक दो दिन जैसा ऊपर कहा गया है मेपाक्रीन भी ·३ ग्राम मात्रा में दो बार दी जाती है। ५ से ८ वर्ष तक की आयु के बालकों को ·१ ग्राम की गोली दिन में तीन बार ७ दिन तक तथा इससे छोटे बालकों को ·१ ग्राम की आधी मात्रा दिन में तीन बार दी जाती है। औषध दूध से या कुछ आहार होने के बाद अधिक जल से लेनी चाहिये।

विषम ज्वर के लिये यह एक नूतन मूल्य की निर्दोष औषध है। विषम ज्वर की रोकथाम के लिये इसका विशेषत: प्रयोग होता है।

आयुर्वेद में विषम ज्वर निदान :-

चरक सुश्रुत दोनों ने इस ज्वर को आगन्तु ज्वर कहा है।

॥ सु० उ० ।३९ ।५३॥

[illegible] Exoerythrocytic Parasites [illegible]
[illegible] Phosphate [illegible]
[illegible]

[illegible] :- Paludrine Hydrochloride Proguanil:-

[illegible] Pre-Erythrocytic Parasites [illegible] Plasmodium Falciparum [illegible] Plasmodium Vivax [illegible] Pre-Erythrocytic Paras-ites [illegible] Schizonts [illegible]

[illegible]

[illegible] संख्या में [illegible]

[illegible]

सतत विषम ज्वर दिन में दो बार चढ़ता है। अन्येद्युष्क विषम ज्वर दिन में एक बार चढ़ता है। तृतीयक विषम ज्वर तीसरे दिन चढ़ता है। चतुर्थक विषम ज्वर दो दिन छोड़कर चढ़ता है। सन्तत विषम ज्वर सात दिन, दस दिन, बारह दिन बराबर बना रहता है। यद्यपि इसमें उतार चढ़ाव विशेष होता है जिससे इसे विषम संतत ज्वर कहते हैं।

सर्व विषम ज्वरों की निवृत्ति के लिये निम्नलिखित प्रयोग हितकर हैं।

१.. <u>गुडूच्यादि क्वाथ :-</u>

गुडूची, मुस्ता, चिरायता, त्रिफला, दारु हल्दी, अतिविषा, कुटकी, करंज बीज, सप्तपर्ण, पर्पट, यवासा, कटकारी, सिन्कोना, समान समान का दो तोला का क्वाथ दिन में दो बार पिप्पली चूर्ण आधा माशा के साथ।

२.. लाल फटकरी की खील, ४ रत्ती की मात्रा में थोड़ी मिश्री के साथ मिलाकर दिन में तीन बार पिलाये।

३.. गोदन्ती भस्म ४ रत्ती की मात्रा में मिश्री के साथ दिन में तीन बार देवें।

४.. हरिताल १ तोला को लाल फटकरी ५ तोला, के चूर्ण के बीच में रखकर सम्पुट कर, गजपुट देकर बनाई भस्म १ रत्ती की मात्रा में तुलसी स्वरस से दिन में तीन चार बार देने से विषम ज्वर शांत होता है।

५.. दार्वी रस क्रिया तथा क्विनीन समान समान मिलाकर बनी गोलियां भी विषम ज्वर के लिये उपकारी होती हैं।

६.. बार बार आने वाले ज्वर के लिये गुडूची ४ इंच लंबी, पिप्पली ३ अदद, हरितकी १ अदद, अजवायन ४ माशा, बादाम ७ अदद, दिन रात भिगोकर कूट कर, छान कर, थोड़ा लवण मिला कर, प्रातः १ बार १५ दिन तक पिलाते हैं।

॥ सु० उ० ।३९। तथा

॥ च ।चि ।३॥

७.. रसोन भी विषम ज्वर पर हितकारी है।

८.. पिप्पली वर्धमान का प्रयोग भी विषम ज्वर में लाभकारी पाया गया है।

<u>मसूरिका :- Variola-Small Pox.</u>

मसूरिका रोग यों तो शीत देशों में भी फैलता है परंतु यह गर्म देशों में फैलने वाला एक बड़ा संचारी रोग है। मसूरिका वेक्सीन के प्रचार से पहले गर्म देशों में उत्पन्न होने वाले बालकों में से आधे से अधिक बालक इस रोग के आक्रमण से काल के ग्रास हो जाया करते थे। यह बात सर्व सम्मत है कि बिना टीके के इस रोग से बच सकना कठिन कार्य है। एडवर्ड जेनर (Jenner) महोदय ने यह बात देखी कि जिन ग्वालों को

गौ थनों के थनों के पास निकले Vaccinia या Cow-Pox के साथ संपर्क में आते थे Vaccinia के स्फोट या निकल जाते थे उन्हें मसूरिका रोगियों के साथ रहने पर भी मसूरिका रोग नहीं होता। इस बात का निश्चय करने के लिये कि यह बात यथार्थ है उसने एक बालक में Vaccinia का विष प्रविष्ट कर दिया और उसमें यह रोग उत्पन्न कर दिया। इसके बाद उन्होंने मसूरिका के स्फोट का विष प्रविष्ट किया ~~तो उसे मसूरिका के स्फोट का विष प्रविष्ट किया तो उसे मसूरिका नहीं~~ निकली। जिससे उन्हें निश्चय हो गया कि ये दोनों रोग समान धर्मी है और Vaccinia हो जाने पर फिर मसूरिका का संक्रमण नहीं होता। वर्तमान समय में Vaccinia रोग तो लुप्त प्राय हो गया है। परंतु देखा गया कि यदि मसूरिका का विष खरगोश या बछड़े आदि पशुओं में प्रविष्ट कर दिया जाय तो उनमें जाकर यही विष मृदु हो जाता है। और Vaccinia का रूप ले लेता है। और उनमें से विष को लेकर मनुष्य में प्रविष्ट किया जाय अर्थात् मनुष्य को Vaccinia रोग जो मृदु रोग है कर दिया जाय तो उसमें मसूरिका के विपरीत प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पशु मसूरिका तथा मनुष्य मसूरिका अर्थात् Vaccinia और मसूरिका रोग का विष एक ही है। यह एक Virus है जिसके सूक्ष्म कण (Variola Virus Particle) को Elementry Body of Small Pox कहते हैं। यह इतना छोटा है कि इसका व्यास २०० मिलि माईक्रोन का होता है। इसे Paschen ने १९०६ में देखा था। इसलिये इसे Paschen Body भी कहते हैं। यह जीवित माध्यम में ही बढ़ता है। लेबोरेटरी के मृत माध्यमों में नहीं बढ़ता। इसलिये खरगोश में या बछड़े में या Egg Membranes में या Chick Embryo के Chorioallantic Membranes पर घात करके इसे प्रविष्ट कर दिया जाता है और वहां खेती करके उनमें उत्पन्न स्फोटों में से इस रोग के Virus का शुद्ध घोल Suspension बनाया जाता है और विधिपूर्वक इसे रंग कर Dark Ground माईक्रोस्कोप के द्वारा इसमें विद्यमान Elementry Bodies को देखा जा सकता है।

Virus के इस घोल को खरगोश की त्वचा पर मला जाय तो क्योंकि इस विष में त्वचा तथा श्लेष्म कला के सेलों में प्रविष्ट होकर बढ़ने का विशेष गुण होता है (अर्थात् यह विष Epitheliotropic होती है) इसमें विद्यमान Elementary Bodies बहिस्त्वचा के सेलों के

Cytoplasm मे प्रविष्ट होकर वहां उसके उपर बढ़ने लगते हैं। इससे सेल के अंदर एक बड़ा कण बन जाता है जिसे सेल के अंदर होने से ~~XXXXXXXXXXXXXX~~ Inclusion Body of small Pox कहते हैं। Guarnieri महोदय ने इसे पहले देखा था। इसलिये इसे Guarnieri Body भी कहते हैं। इसका व्यास १० माइक्रोन का होता है। ये Bodies मसूरिका स्फोटों के अंदर बहुत अधिक मात्रा मे होते हैं। वस्तुतः यह E-lementary Bodies या Paschen Bodies के समूहों से मिलकर बना हुआ एक बड़ा कण होता है। इन कणों के घोल (Suspension) को यदि मसूरिका रोगी या मसूरिका रोग मुक्त व्यक्ति के सीरम से मिला या जाय तो ये कण Agglutinate हो जाते हैं।

मसूरिका रोगी की त्वचा मे स्फोटों के निकलने के साथ नासिका गले मुख आदि की श्लेष्म कला मे भी ये निकल आते हैं और शीघ्र फटकर व्रण रूप ले लेते हैं। रोगी के श्वास प्रश्वास की, छींकने, खांसने, बोलने आदि के समय जल की बूंदों के साथ मे Small Pox Bodies भी प्रभूत मात्रा मे बाहर आते हैं। [illegible] जल भाग तो वायु मे शुष्क हो जाता है परन्तु ये मसूरिका कण वायु मे चिरकाल तक लटके रहते हैं और [illegible] वायु के प्रवाह के द्वारा दूर दूर तक जाते हैं। इसी प्रकार रोगी त्वचा के गिरे छिलके भी रोगी के वस्त्रों तथा उसके संपर्क मे आये अन्य वस्तुओं के द्वारा दूर दूर जा सकते हैं। इनमे से किसी प्रकार से भी ये मसूरिका कण जब किसी दूसरे व्यक्ति के श्वास मार्ग द्वारा अन्दर प्रवेश कर जाये कि जिसमे इस रोग की प्रतिरोधक शक्ति न हो तो उसके जीवित अवयवों पर यह Virus वृद्धि करने लगता है और रक्त द्वारा उस व्यक्ति के त्वचा तथा श्लैष्मिककलाओं के सेलों मे पहुंच कर वहां रोग करने लगता है। त्वचा तथा श्लेष्म कलाओं के जिन सेलों पर संघर्ष या विक्षोभ अधिक रहता है उनमे यह विशेषतः वृद्धि करता है। इस Virus के विक्षोभक होने के कारण बहिस्त्वचा (Epidermis) के सेल एक ओर तो आकार मे बड़े हो जाते, दूसरी ओर संख्या मे भी बढ़ जाते हैं। Virus के कारण ही नीचे की अन्तस्त्वचा (Dermis) मे रक्त संचय बढ़ता है (अर्थात् (Hyperaemia) हो जाता है) इसीलिये त्वचा का रोग ग्रस्त प्रदेश फूल जाता तथा रक्त वर्ण हो जाता है एवं Macules तथा Papules के रूप मे परिणत हो जाता है। इस रोग विष (Virus) के दुष्प्रभाव से बहिस्त्वचा के निम्न स्तर के सेल क्षीण होकर या गल कर द्रव रूप मे परिणत होने लगते हैं। किनारे के सेल अधिक गलते हैं। केन्द्रीय सेल कुछ धीरे धीरे तथा विलम्ब से [illegible] गलते हैं। इसीलिये यद्यपि स्फोट द्रव से भर कर तन जाता है पर बीच बीच मे अनेकानेक सेलों के पूर्णतया न गलने से स्फोट की छत नीचे की

भूमि से जुड़ी रहने के कारण स्फोट मध्य में निम्न (Umbilicated) होता है। तथा कुछ एक सेलों के द्रव रूप में परिणत न होने से स्फोट अनेक कोष्ठक या (Multiloculated) होता है। त्वचा पर उत्पन्न इन स्फोटों के द्रव में इस रोग के Elementary Bodies बहुत अधिक मात्रा में रहते हैं। स्फोटों में उत्पन्न हुआ यह द्रव Staphylococci तथा Streptococci की वृद्धि के लिये एक उत्तम माध्यम है। इसलिये वे इसमें संक्रमण कर जाते हैं और इसमें वृद्धि करने लगते हैं। इन्हें आगन्तु जीवाणु (Secondary Infection) कहते सकते हैं। इनके संक्रमण होने पर अंतस्थी में से Palymorphonuclear Leucocytes भी अधिक मात्रा में आते हैं जिससे द्रव स्फोट पूय स्फोट (Pustules) में परिवर्तित हो जाते हैं जो बाद में शुष्क होकर Scabs या छिलकों में परिवर्तित हो जाते हैं। श्लेष्म कला पर Horny Layer या कठोर स्तर के न होने से स्फोट नहीं बनते पर इनसे व्रण उत्पन्न होते हैं जो कभी कभी श्वासनालियों (Bronchi) भोजन प्रणाली, (Aesophagus) आंत्र, योनि नली आदि की श्लेष्म कला में भी निकलते हैं।

लक्षण :-

शीत काल के अंत में ग्रीष्म ऋतु के प्रारंभ होने से पहले इस रोग के फैलने के लिये अनुकूल ऋतु होती है। जिनको मसूरिका टीका का नहीं लगाया जिनको टीका को बीस तीस वर्ष हो चुके हों उन सब में इस रोग के संक्रमण की अनुकूलता होती है तथापि जिनको शैशव में टीका नहीं लगा ऐसे बालकों में ही प्रधानतः यह रोग फैलता है। रोग बीज के संक्रमण हो जाने के १२,१४ दिन बाद सर्दी लगकर सहसा ज्वर प्रायः १०३,१०४, डिग्री तक पहुंच जाता है। सिर दर्द, कटि शूल, शाखा शूल, और वमन ये प्रधान लक्षण होते हैं जो इस रोग की विषा के संचार (Toxaemia या Septicaemia) के सूचक होते हैं। रोगी की परीक्षा करने पर उसकी जिह्वा मलिन, क्षुधा नष्ट, श्वास दुर्गन्धित, नाड़ी भरी हुई तथा दीर्घ (Bounding) तथा कोष्ठ के निम्न प्रदेश पर कभी कभी लाल चकत्तों (Erythematous Rashes) की उपस्थिति प्रतीत होती है। यह रोग फैला हुआ हो तो इन लक्षणों को देखकर इस रोग का संदेह हो जाना चाहिये।

पर ज्वर चढ़ने के तीसरे दिन माथे तथा मुख प्रदेश पर बालों के पास पास लाल रंग के उभरे हुये चकत्ते (Macules) निकल आते हैं जो कुछ घंटों में ही कठोर कोठ या (Papules) बन जाते हैं। परीक्षा करने पर ये २,४ मिलिमिटर व्यास के कोठ दृढ़, तथा त्वचा में धंसे हुये

प्रतीत होते हैं। इनके चारों ओर रक्त मंडल (Areola) होता है। इनके निकलते ही रोगी का कष्ट तथा ज्वर शान्त हो जाते हैं या बहुत घट जाते हैं। मसूरिका के दाने माथे पर निकलने के बाद हाथ और कलाई की पीठ पर निकलते हैं फिर पांव और पिंडुरों पर प्रकट होते हैं। शरीर के दोनों तरफ एक सदृश निकलते हैं। शरीर के सिरों पर प्रबलता से एवं घने रूप में निकलते हैं शरीर के मध्य देश में मृदु रूप में तथा संख्या में स्वल्प होते हैं। पेट तथा वक्षस्थ प्रदेश पर होते ही नहीं, छाती पर बहुत कम होते, पीठ पर कन्धों के आस पास कुछ कुछ होते हैं। चेहरे के उभरे हुये पृष्ठों पर विशेषता से निकलते हैं तथा शरीर के दबे हुये और छिपे हुये पृष्ठों पर बिल्कुल नहीं निकलते। अर्थात् शरीर के जिस पृष्ठ पर संघर्ष अधिक पड़ता है या प्रकाश अधिक पड़ता है वहां संभवतः रक्त का और उसके द्वारा मसूरिका विष का अति संचय होता है और वहीं कोठ अधिक भी निकलते हैं।

रोग होने के पांचवें दिन ये कोठ द्रव स्फोट (Vesicle) का रूप ले लेते हैं जो मटर की दाल के सदृश त्वचा में धंसे हुये होते हैं इनके चारों ओर रक्त मंडल (Areola) होता है। छटे दिन सभी कोठ द्रव स्फोट में परिवर्तित हो जाते हैं जो मध्य में निम्न होते हैं। सातवें दिन इन स्फोटों का द्रव गंदला होने लगता है। और आठवें दिन सभी पूय विस्फोट (Pustules) में परिवर्तित हो जाते हैं। स्फोटों के अंतरीय सेलों के सभी के गल जाने से इन स्फोटों की मध्य निम्नता दूर हो जाती है ये धंसे हुये न रहकर मृदु एवं चपटे से हो जाते हैं। इनमें कुछ पीलापन झलकने लगता है। इनके चारों ओर के रक्त मंडल (Ariolae) लुप्त हो जाते हैं। स्फोटों के पूय स्फटों में परिवर्तित हो जाने पर फिर ज्वर बढ़ जाता है और जब तक पूय भाव रहता है बना रहता है। प्रथम ज्वर विष संचार (Toxaemia) के कारण होता है। यह ज्वर पूय (Sepsis) के कारण होता है। इस अवस्था में चेहरा इतना फूल जाता है कि रोगी का पहचानना भी कठिन हो जाता है। पेटे पर दुःख और खुजली भी रहती है। इस अवस्था में रोगी से एक दुर्गन्ध निकलने लगती है। उसमें प्रलाप और उन्निद्रता के लक्षण भी हो जाते हैं। इसी पूय विस्फोटावस्था (Pustular Stage) में इस रोग के उपद्रवों में से किसी उपद्रव के होने का भय रहता है। जिससे मृत्यु भी इसी अवस्था में होती है।

पूय विस्फोटावस्था चार दिन के लगभग रहती है। १२ वें दिन से पूय विस्फोट सूखने लगते हैं और ज्वर उतर जाता है। ये सूखे हुये छिलके (Scabs या Crusts) एक सप्ताह तक झड़ जाते हैं अतः पादतल या करतल के विस्फोट जो अंदर ही सूख जाते हैं उन्हें बाहिर निकलने में

कई सप्ताह लगते हैं। यदि विस्फोट (Pustules) अधिक गहरे हुये हों (Epidermis) के सेल नष्ट हो गये हों, उनके स्थान पर स्नायु तंतु (Scar-Tissue) से उस गढ़े को भरा हो तो इसके सुकड़ जाने से वहां स्थायी रूप से गढ़े रह जाते हैं। इस रोग में मुख, नासिका, गले, कंठ आदि में स्फोट जनित व्रणों के हो जाने से श्वास प्रश्वास में, बोलने या खाने पीने में कठिनता हो जाती है।

उपद्रव :-

नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis) इस रोग में प्राय: होता है। कभी कभी नेत्र श्लेष्म कला (Conjunctiva) में पलकों के अंदर या नेत्र गोलकों पर पूय विस्फोट (Pustules) भी हो जाते हैं। इनके कारण पलकें सूज जाती हैं। कानिया के सूज जाने (Keratitis) के कारण इसमें पूय भाव होकर दृष्टि नष्ट हो सकती है।

बड़ी श्वास नालियों में शोथ होने के बाद सूक्ष्म श्वास नालियों में भी शोथ (Broncho Pneumonia) हो जाय तो वह घातक होता है।

इस रोग के अच्छे होते समय या बाद में पूय जनक जीवाणुओं के संक्रमण से पिडिकायें (Boils) तथा विद्रधियां भी हो जाया करती हैं।

भेदक लक्षण अथवा रोगों की पहिचान :-

जब यह रोग फैला हो, कटि शूल तथा सर्वाङ्ग शैथिल्य इन दो लक्षणों से युक्त ज्वर को देख कर इस रोग का संदेह कर लेना चाहिये।

प्रारम्भिक दानों के निकलते समय रोमान्तिका (Measles) से इस रोग का संदेह होता है परंतु इसके दाने उभरे उभरे होते हैं। इस रोग के दाने त्वचा में धंसे हुये होते हैं। उस रोग में चकत्ते या दाने निकलने पर ज्वर आदि लक्षण तीव्र हो जाते हैं। इसमें कम हो जाते हैं। उस रोग में खांसी का लक्षण बहुत स्पष्ट होता है। यदि मसूरिका मृदु रूप में हो, दाने थोड़े हों, ज्वर स्वल्प हो तो इस रोग का विस्फोटिका ज्वर (Varicella) से संदेह हो सकता है। पर उस रोग के दाने मसूरिका के स्फोटों से आकार में छोटे होते हैं। उसके स्फोट पहले धड़ पर निकल कर फिर सिरों की ओर जाते हैं। तथा वे सिरों पर निकलते ही नहीं हैं (अर्थात् वे Centripetal होते जब मसूरिका के दाने Centrifugal, होते हैं) विस्फोटिका स्फोट प्रथम से ही द्रव युक्त होते हैं। त्वचा पर उभरे उभरे होते हैं, Unilocular एक कोष्ठक होते हैं। निम्न मध्य नहीं होते। उस रोग के दाने पृथक पृथक समूहों में निकलते हैं। एक समूह निकल कर सूखने लगता है। दूसरा समूह दूसरे स्थान पर नया निकल आता है। अर्थात् शरीर के सभी स्फोट एक ही स्थिति में नहीं होते। इस रोग में एक समय में सभी स्फोट एक ही स्थिति में होते हैं। विस्फोटिका में ज्वर सर्वाङ्ग शैथिल्य कटि शूल आदि तीव्र लक्षण भी नहीं होते।

साध्यासाध्यता :-

यदि कटि शूल तीव्र हो, ज्वर तीव्र हो, दाने निकलने पर भी ज्वर न हटे या व्याप्ति कम न हो, पूय विस्फोट के साथ प्रबल रूप में निकले, मुख व गले में स्फोटों के कारण मुख से पानी आता हो, तन्द्रिता और प्रलाप के लक्षण अधिक हों, श्वास तीव्र हो जाय (यदि Broncho Pneumonia हो जाय) तो यह रोग कष्ट साध्य होता है।

मसूरिका रोधक चिकित्सा :-

मसूरिका विष को स्वस्थ बछड़े की त्वचा में प्रविष्ट करके उस स्थान पर उत्पन्न Vaccinia के स्फोटों में से Lymph को इस प्रकार लिया जाता है कि इसमें दूसरे जीवाणुओं का मिश्रण न हो फिर इसमें ग्लिसरीन का मिश्रण कर देते हैं जिससे इसमें पूय जनक जीवाणु उत्पन्न न हों Virus पर इस ग्लिसरीन का कोई दुष्प्रभाव नहीं होता। मनुष्य शरीर में त्वचा द्वारा इसके प्रविष्ट कर देने से उस स्थान पर स्थानिक रोग होकर मसूरिका रोग के विपरीत प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार Vaccinia रोग उत्पन्न करने की इस प्रक्रिया को Vaccination कहते हैं। इस Lymph को सूक्ष्म ट्यूबों में भरकर रेफ्रिजरेटर के अंदर सुरक्षित रक्खा जाता है। Vaccine Institute से निकलने के बाद रेफ्रिजरेटर में रखने पर भी इसे १५ दिन के अंदर अंदर काम में ले आना चाहिये। इसके बाद यह निष्क्रिय हो जाता है। तथा जब एक ट्यूब खोल ली जाय तो उसे खर्च कर देना चाहिये। खुली हुई ट्यूब रखने से निष्क्रिय हो जाती है।

Vaccination:- बाईं बाहु के Deltcid नामक पेशी के बन्धन के स्थान पर बाहर की ओर की त्वचा को साबुन और जल से धोकर तीन बार उबले जल और उबली हुई रुई से साफ करना चाहिये अथवा ईथर या शुद्ध अल्कोहल लगा कर उसे उबले जल से धोकर वहां के स्वच्छ प्रदेश पर एक एक इंच दूरी पर दो स्थानों पर कैपिलरी ट्यूब में से एक एक बूंद लिम्फ की गिरानी चाहिये। फिर एक छोटे Scalpal गोलाकार धार वाली सुई से इन बूंदों वाली त्वचा में $\frac{1}{8}$ इंच लंबी दो तीन उथली चीरें (Scraches) दे देनी चाहिये। यद्यपि चाकू या सुई की धार बहिस्त्वचा के अंदर ही प्रविष्ट होनी चाहिये। अन्तस्त्वचा में प्रविष्ट नहीं होनी चाहिये। यद्यपि रक्त का दर्शन वहां नहीं होना चाहिये। ये चीरें समानान्तर होने चाहिये। एक दूसरे को परस्पर काटने वाले नहीं होने चाहिये। फिर Scalpal या सुई को त्वचा पर समानान्तर स्थित कर लिम्फ को इन चीरों पर रगड़ देना चाहिये। इसे टीका लगाने का तरीका

Method;
Scratch/ कहते हैं। अथवा सुई को सुन्दी पर ६० डिग्री पर रखकर ४,५ बार इधर उधर घुमा भी सकते हैं। जिससे ४,५ छिद्र होकर इनमें से लिम्फ विलीन हो जाय। इसे टीका का Drill Method कहते हैं। टीका लग जाने के बाद उस स्थान को धूप से तथा जल से कुछ काल बचाना चाहिये।

तीसरे दिन टीकों के प्रत्येक स्थान पर एक छोटा सा कोठ प्रकट होता है जो चौथे दिन स्पष्ट हो जाता है। पांचवें दिन यह बीच में फुका हुआ $\frac{1}{4}$ इंच व्यास का स्फोट Vesicle बन जाता है। जिसके चारों ओर रक्त मंडल (Areola) होता है। ८ वें दिन अर्थात् जिस दिन टीका लगा था उस दिन यह पूय विस्फोट (Pustule) में परिवर्तित हो जाता है जिसके चारों ओर का रक्त मंडल भी बढ़ जाता है। १० वें दिन यह कुछ कुछ सूखने लगता है। १४ वें दिन यह सूख कर झड़ जाता है और इसके स्थान पर एक गड्ढा सा रह जाता है। पूय विस्फोट के समय बालक को ज्वर का कष्ट भी दो तीन दिन तक रहता है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया को Primary Reaction कहते हैं। ऐसा होने पर निश्चय से कहा जाता है कि व्यक्ति में मसूरिका रोग के लिये प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो गई है।

प्रत्येक शिशु को चौथे से छठे महीने के बीच में मसूरिका टीका लगा देना चाहिये। एक वर्ष की आयु से पहले पहले ही इसका लगाना आवश्यक है। इससे सात आठ वर्षों के लिये मसूरिका रोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके बाद फिर नव युवावस्था में एक बार यह टीका लगा देने पर फिर चिरकाल के लिये इस रोग के होने का भय नहीं रहता। यदि त्वचा पर पामा (Eczema) हो या कोई चकत्ते निकल रहे हों, या कोई ज्वर हो, या बालक अभी अभी ज्वर से मुक्त हुआ हो, अति निर्बल हो तो उसे नहीं लगाना चाहिये। बड़ी आयु में जब दुबारा टीका टीका लगाया जाता है तो प्रतिक्रिया शीघ्र होती है। अर्थात् चौथे दिन तक स्फोट पूर्ण होकर पूय विस्फोट (Pustule) में परिवर्तित हो जाता है और शीघ्र ही शुष्क हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति में रोग प्रतिरोधक शक्ति कुछ कुछ बनी हुई है।

जब किसी घर में मसूरिका रोग हो जाय तो अन्य व्यक्ति सभी को यदि १० वर्ष से अधिक समय टीका लगाये को हो गया हो तो रोग होने के तीन चार दिन के अन्दर अन्दर टीका लगा देना चाहिये। Vaccinia का परिपाक काल (Incubation) समय ३ दिन है। जब कि मसूरिका १४ दिन के लगभग होता है। अतः इस टीके से मसूरिका रोग होने से पहले ही इस व्यक्ति में प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

मसूरिका रोग की चिकित्सा :-

रोगी को दूसरों से पृथक करके, प्रकाश से बचाते हुये एक कुछ अंधेरे से कमरे में आराम से नर्म बिस्तरे पर लिटाये रखना --

चाहिये। इसके हृदय मांस की प्राण शक्ति को जो इस रोग के विष के दुष्प्रभाव से पहले ही निर्बल होती है उसे बचने से और निर्बल नहीं होने देना चाहिये। भोजन के लिये उसे दूध या Peptonised दूध ग्लूकोज और किसी फल के रस पर रखना चाहिये। इसके देने के बाद जल में थोड़ा ग्लिसरीन और Rose Water मिलाकर मुख को अन्दर से साफ कर देना चाहिये। क्योंकि स्फोटावस्था में Secondary Infection होकर उपद्रवों के होने की आशंका रहती है। इसके निवारण के लिये Crystalline Penicillin ५ लाख Units की मात्रा में प्रति १२ घंटे पर मांस द्वारा ७ दिन तक देते रहना चाहिये।

Pot:Permanganate का ४० हजार में १ का द्रव भी इस रोग के विष के लिये घातक होता है। अतः इस औषधि के ५ प्रतिशतक द्राव को रुई के साथ सभी स्फोटों पर दिन में तीन बार लगाना चाहिये। अथवा चार हजार में एक की ताकत के इसके द्रव से दिन में दो बार सारे शरीर को स्पंज करके शरीर पर Boric Talc-Powder. लगा देना चाहिये। इसी प्रकार Dettol के हल्के घोल से शरीर को स्पंज कर सकते हैं। इससे दुर्गन्ध भी मिटती है। अथवा सौ में १ की ताकत के carbolic Acid के द्राव से शरीर को स्पंज कर सकते हैं या ३ प्रतिशत कार्बोलिक वेसलीन लगा सकते हैं। इससे खुजली तथा दुर्गन्ध मिटती है। चेहरे पर मास्क में भीगी लिन्ट रखकर उसे Oild Silk से ढक देना चाहिये। बिस्तरे पर युकेलिप्टस आयल के छिड़कने से शरीर से आने वाली दुर्गन्ध का निवारण होता है।

मुख की रक्षा के लिये ५ प्रतिशतक ~~Rxxxxx~~ Potassium Permaganate. का द्राव लगा कर ऊपर ग्लिसरीन का भीगा लिंट रख सकते हैं। इसी प्रकार हाथों पर भी ग्लिसरीन की लिंट बांधी जा सकती है।

नेत्रों को उपद्रवों से बचाने के लिये एक औंस में १० ग्रेन की ताकत के बनाये Boric Lotion से चार चार घंटे पर धोना चाहिये। तथा या तो Sulphacetamide Solution २० प्रतिशतक दिन में चार चार घंटे पर डालें या Yellow Oxide of Mercury ८ ग्रेन, Atropine Sulphate १६ ग्रेन, वेसलीन १ औंस मिलाकर आंख में मक्खन लगाते रहना चाहिये।

गले की रक्षा के लिये पांच हजार में एक की ताकत के पोटासियम परमेंगनेट द्राव से अथवा हाईड्रोजन पराक्साइड को दुगुने जल में मिला उससे कुल्ले कराने चाहिये।

कंठ (Larynx) तथा श्वास नालियों की रक्षा के लिये Tr:Benzoin Co: ६० बूंद को १ पाइन्ट उबलते जल में मिला उसकी वाष्प

करने में देनी चाहिये।

बेचैनी तथा अनिद्रता हो तो Potassium Bromide ३० ग्रेन, Chloral Hydrate १५ ग्रेन कुछ सीरप और जल में मिला कर दिन में दो बार दें। कटि तथा सिर में दर्द हो तो Aspirin ३० ग्रेन की मात्रा में देनी चाहिये।

दानों के छिल्कों को हटाने के लिये सोडे के गर्म जल से धोना चाहिये। गहरे छिल्कों को निकालने के लिये स्टार्च की गर्म पोल्टिस बांधनी चाहिये या ५ प्रतिशत Sulphathiazone और १ प्रतिशत Carbolic Acid की बनी मलहम लगानी चाहिये। या १ ड्राम Eucalyplus Oil १ ड्राम नारियल का तेल ६ औंस मिला कर यह तेल लगाना चाहिये। छिल्कों के उतर जाने पर Zinc की मलहम मुख पर लगानी चाहिये।

<u>विस्फोटिका विस्फोटक ज्वर :- Varicella, Chicken Pox:-</u>

विस्फोटक ज्वर विशेषतः १० वर्ष तक की आयु के बालकों और कभी कभी युवकों में संक्रमण करने वाला एक रोग है जिसमें मंद ज्वर के साथ थोड़े या बहुत छोटे छोटे स्फोट शरीर पर निकलते हैं। इस रोग का सूक्ष्म विष ~~कण~~ (Virus) स्फोटों में रहता है। पहले पहल ये रोगी के नासा पश्चिम प्रदेश (Nasopharynx) में निकलते हैं। तथा शीघ्र फटकर व्रण रूप ले लेते हैं। जहां से रोगी के छींकने, खांसने, बोलने, के द्वारा जो थूक के कण बाहर वायु मंडल में आते हैं उनमें से यह सन्निपवर्ती दूसरे बालकों के श्वास मार्ग में प्रवेश कर जाता है। रोगी की त्वचा पर निकले स्फोटों से भी रोगी के वस्त्र आदि द्वारा ये दूसरे बालकों के श्वास मार्ग में प्रवेश कर सकता है। इस रोग का Virus मसूरिका के Elementary Body. या Paschen Body के सदृश ही १४५ से २५० मिलिमिटर व्यास का ~~घन~~ (Cube) के आकार का सूक्ष्म कण है पर उससे विभिन्न जाति का है। यह केवल मनुष्य शरीर में वृद्धि करता है। उसके Virus के समान बछड़े खरगोश आदि प्राणियों के शरीर में रोपण नहीं करता। उसके समान इसमें भी त्वचा तथा श्लेष्म कला के सेलों के लिये विशेष आकर्षण होता है (अर्थात् यह भी Dermatotropic है) जिस शरीर में इसके लिये प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती उसके रक्त में प्रवेश करके यह त्वचा तथा श्लेष्म कलाओं के सेलों में पहुंच कर रोपण करता है परंतु यदि किसी व्यक्ति में इसके विपरीत प्रतिरोधक शक्ति थोड़ी तो होती है पर पूर्ण परिमाण नहीं होती तो यह कभी कभी Nerves के सेलों में रोपण कर जाता है। इस प्रकार यह Posterior Nerve Roots में अथवा

पंचम मस्तिष्क नाड़ी (Cranial Nerve) की शाखाओं या इन्टर मस्तिष्क नाड़ी में रोग्ध करता है तो माथे तथा मुख पर जहां जहां नाड़ियां त्वचा में होती है इसके कारण विस्फोट निकल आते हैं जिसे Herpes Zoster या कटा विस्फोट रोग कहते हैं यद्यपि Varicella और Herpes दोनों के Virus या तो एक ही हैं या सर्वथा सदृश हैं। Herpes रोगी के संपर्क में आने वाले बालकों को कभी कभी विस्फोटक ज्वर होते हुये देखा भी जाता है। इसी प्रकार विस्फोटिका रोग से मुक्त बालक का Serum से लेबोरेटरी में विद्यमान Herpese Zoster के Virus के Suspension को तथा Herpes से मुक्त व्यक्ति का Serum लेबोरेटरी में विद्यमान Varicella Virus के Suspension को Agglutinate कर देता है।

संप्राप्ति :-

विष (Virus) के प्रभाव से बहिस्त्वचा के Prickle Cells के बाहर के कुछ एक सेल फूल जाते हैं। कुछ एक सेल विभक्त होकर Giant Cells या बड़े बड़े सेल हो जाते हैं। इन सेलों के इस फूल जाने की क्षयात्मक (Degenerative.) प्रक्रिया को Ballooning या Vaccuolation की प्रक्रिया कहते हैं। फिर इनमें गले हुये सेलों में द्रवी भाव (Liquefaction) हो जाता है जिससे त्वचा की बाहिस्त्वचा (Horny Layer) के नीचे कहीं कहीं द्रव भर जाने से वह ऊंची उठ जाती है। इन्हें ही विस्फोट (Vesicles) कहते हैं।

लक्षण :-

रोग के संक्रमण के १२,१४ दिन बाद बालक में मृदु ज्वर, सिर दर्द, अन्गमर्द वि,के साथ ही शरीर पर विस्फोट निकल आते हैं। वस्तुतः पहले तो ये कुछ गले नाशपाती प्रदेश में निकलते हैं और फटकर ड्राफ्ट व्रण का रूप ले लेते हैं। देखा जाय तो वहां पर भी रक्त मंडल से युक्त ये व्रण देखे जा सकते हैं। परंतु पहले पहल ये स्फोट पेट पर दीखते हैं। तथा १,२ मिलिमीटर व्यास के दूर दूर त्वचा पर पानी की बूंद की तरह पड़े हुये स्वच्छ द्रव से भरे हुये होते हैं। इनके चारों ओर कभी रक्त मंडल होता है। कभी नहीं होता। कभी कभी इनके निकलते समय ज्वर भी नहीं होता। कभी कभी तो ये सब मिलकर ७,८ ही होते हैं। कभी सौ या इससे अधिक भी होते हैं। ये पीठ, छाती और मुख पर अधिक होते हैं। शरीर के सिरों पर बहुत कम होते हैं। शाखाओं पर भी इनके ऊपर के भाग पर निम्न भाग की अपेक्षा अधिक होते हैं। पहले इनका एक समूह निकलता है फिर दूसरा समूह, इस प्रकार ४,५ दिन तक ये ३,४ समूहों में निकलते हैं। इनकी Macule तथा Papule की अवस्था कुछ एक घंटे ही रहती है यद्यपि ये निकलने के बाद शीघ्र २४ घंटों

के अंदर अंदर स्फोट (Vesicle) बन जाते हैं और ४८ घंटों के अंदर अंदर पूयस्फोट से होकर फुंसी भी बन जाते हैं। और एक सप्ताह के अंदर अंदर झड़ जाते हैं। यह रोग लगभग एक सप्ताह तक रहता है। ~~दूसरे सप्ताह तक स्फोटों के छिलके भी झड़ जाते हैं।~~ इनमें खुजली के अतिरिक्त दूसरा कोई कष्ट नहीं होता।

विस्फोटिका के विस्फोट शरीर के मध्य भाग से सिरों की ओर प्रसरण करते हैं। (Centripetal होते हैं) हाथों, पावों पर बहुत कम होते हैं। शीघ्र ही द्रव स्फोट (Vesicle) का रूप ले लेते हैं। बहुत उथले होते हैं। निम्न मध्य (Umbilicated) नहीं होते। आकार में भी स्फोट छोटे छोटे होते हैं। एक दूसरे से दूर होते हैं। इनके निकलते समय ज्वर अशक्ति आदि कोई तीव्र लक्षण नहीं होते। शरीर पर निकले सभी स्फोट एक ही अवस्था में न होकर विभिन्न अवस्थाओं में होते हैं। इन लक्षणों के कारण मसूरिका से इस रोग का भेद करना कठिन नहीं होता।

चिकित्सा :-

जब तक छिलके न उतर जायें रोगी को दो सप्ताह के लिये पृथक् करके रखना चाहिये। तथा जब तक स्फोट रहें बिस्तरे में लिटाये रखना चाहिये। इसे Potassium Acetate १५ ग्रेन, Potassium Citrate १५ ग्रेन, Liquor Ammonium Acetate Dilute ६० बूंद, Azua Menthae Pip: १ औंस, में मिला कर दिन में दो तीन बार दें। शरीर को गर्म Potassium Permanganate Lotion ५००० में १, से स्पंज करके Boric, Zinc, Talc: बराबर बराबर मिला कर बनाया Dusting Powder उस पर लगायें। छिलके उतारने के लिये नारियल का तेल जिसमें युकलिप्टस तेल ५ में १, मिला हो लगाना चाहिये।

रोमान्तिका :- Measles

कारण :-

प्राचीन ग्रन्थों में रोमान्तिका का पृथक् रोग के रूप में वर्णन नहीं मिलता। वे लोग इसे मसूरिका का एक भेद समझते थे। १७ वीं शताब्दि में Sydenham ने इसे स्वतंत्र रोग सिद्ध किया। १९०५ में Hectoen ने पहले पहल इस रोग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में उत्पन्न करके बिल्कुल सिद्ध कर दिया कि यह एक स्वतंत्र रोग है। १९१८ में यह पता लगा कि इस रोग के रोग मुक्त व्यक्ति के Serum में इस रोग के विष के विपरीत Antibody उत्पन्न हो जाता है जिसके सूचि वेध द्वारा देने से इस रोग को रोका जा सकता है।

इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति के नासिका, नासा पश्चिम भाग, गले से निकले हुये स्राव में तथा उसके रक्त में एक Virus रहता है जो उसके छींकने, खांसने, बोलने आदि से निकले छींटों के बिन्दुओं में रहता है। जो यदि ऐसे बालकों

के बाद,मैं कि जिन्हें पहले यह रोग नहीं हुआ प्रविष्ट हो जाय तो इन्हें यह रोग अवश्य हो जाता है। अर्थात् जैसे मसूरिका रोग और विस्फोटिका रोग प्रबल संक्रामक है वैसे ही यह भी एक संक्रामक ज्वर है। यद्यपि इसकी संक्रामकता इन की अपेक्षा निर्बल है। एक बार हो जाने के बाद क्योंकि Serum मैं इस रोग के विष के प्रति स्थायी प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह रोग दुबारा नहीं होता। ज्वर उतरने के एक सप्ताह बाद Serum मैं यह प्रतिरोधक तत्व अपने उच्चतम शिखर पर होता है।

यह रोग बड़े शहरों, घनी बस्तियों मैं अधिक फैलता है तथा शीतकाल के अंत मैं और बसंत काल के प्रारंभ मैं होता है। बहुत छोटे शिशुओं मैं अर्थात् लगभग ८ मास की आयु तक माता से इस रोग की रोग रोधक शक्ति आती है। इसलिये उनमें यह रोग नहीं होता। इसके बाद १० वर्ष की आयु तक यह रोग प्राय: प्रत्येक बालक को मृदु या तीव्र रुप मैं होता है। आधे से अधिक बालकों को ५ वर्ष की आयु से पहले हो लेता है। ३ वर्ष से नीचे की आयु मैं जब यह रोग होता है तो कभी कभी यह उपद्रवकारी ही नहीं, घातक भी हो जाता है। विशेषत: निर्बल प्रकृति के शिशुओं के लिये उपद्रव जब तक होता है बड़े शहरों मैं प्रति तीसरे चौथे वर्ष इस रोग का संक्रमण प्रबलता से होता है अर्थात् जब जब नये जन्मे हुये ऐसे बालकों की कि जिनमें इसके विपरीत प्रति शक्ति नहीं है,संख्या बढ़ जाती है तब तब यह रोग प्रबल संक्रामक रोग के रुप मैं फैलता है। संभवत: निर्बल प्रकृति के बालकों को यह तीन वर्ष की आयु से पहले और बलवान प्रकृति के बालकों को दस वर्ष की आयु तक यह रोग ग्रस्त करता है। रोगी मैं प्रथम दिन से लेकर दाने निकलने के बाद एक सप्ताह तक संक्रामकता रहती है।

<u>संप्राप्ति : -</u>

इस रोग के Virus के रक्त मैं प्रवेश करने पर अंतस्त्वचा की सिराओं का अंदर का स्तर (Endothelium) फूल जाता है। जिससे सिराओं मैं से परिस्रवण (Exudation) अधिक मात्रा मैं होने लगता है। इसी कारण त्वचा पर रक्त वर्ण दाने दीखने लगते हैं। इन सिराओं के आसपास Lymphocytes भी अधिक मात्रा मैं संचित होते हैं। बहिस्त्वचा के सेलों मैं इस Virus के दुष्प्रभाव से पहले Colloid Degeneration होती है। और फिर इनमें Coogulation होकर इनकी मृत्यु (Necrosis) हो जाती है। और वे यहाँ से बन कर झड़ जाते हैं।

जैसे त्वचा पर इस Virus का दुष्प्रभाव होता वैसा ही श्वास मार्ग,अन्न मार्ग आदि की श्लैष्म कला पर भी शोथ (Catarrh) जनक प्रभाव होता है। मुख मैं स्थान स्थान पर श्लैष्म कला की बहिस्त्व

(Epithelium) में क्षीणता या/Fatty Degeneration हो जाती है जिससे वहां सूजी हुई लाल श्लेष्म कला पर पिन के नक्के जितने श्वेत धब्बे से दीखते हैं जिन्हें Koplik's Spots कहते हैं। यद्यपि इस रोग की Virus के कारण पहले तो श्वास नली अन्न नली आदि की श्लेष्म कलायें और फिर त्वचा में शोथ (Catarrh) होता है। जब यह शोथ श्वास नली या अन्न नली में अधिक प्रबलता से होता है। तब यह तीव्र रूप में होता है। इस रोग में शरीर के सभी लसीकाग्रंथि देश/(Lymphoid Tissues) सूजे हुये होते हैं। उदाहरणार्थ Tonsils में Appendix में Masopharynx में तथा आंतों के अंदर लिम्फ प्रदेशों में Lymphocytes अधिक मात्रा में संचित होते हैं तथा इनमें न्यूक्लियस वाले Giant Cells भी अधिक मात्रा में देखे जाते हैं।

लक्षण :-

रोग के संक्रमण के ११ वें दिन खांसी के साथ ज्वर चढ़ता है जो उसी दिन सांय काल तक १०२,१०३ तक हो जाता है। नासिका,गले,नेत्र आदि की श्लेष्म कला में शोथ (Catarrh) के कारण शुष्क खांसी उठती रहती है। आंखों से पानी आता है। छींक आती है,और शरीर में दर्द के लक्षण रहते हैं। इसी प्रकार दूसरे तीसरे दिन भी खांसी और ज्वर के लक्षण रहते हैं। इस प्रकार प्रारंभ में यह रोग साधारण प्रतिश्याय रोग से मिलता जुलता है। पर इसमें तापमान अधिक होता है। इसके अतिरिक्त यदि रोगी के मुख के अंदर की परीक्षा की जाय तो Molar दांतों के सामने वालों की अंदर की श्लेष्म कला पर पिन के नक्के जितने छोटे छोटे श्वेत वर्ण धब्बे कभी थोड़े कभी अनेक रक्त मंडल के मध्य में दिखाई पड़ते हैं। यदि ये रक्त मंडल परस्पर मिल जायें तो मुख की श्लेष्म कला का एक विस्तृत प्रदेश रक्त वर्ण होता है और उस पर छोटे छोटे श्वेत वर्ण धब्बे दिखाई पड़ते हैं। पहले १८९६ में Koplik ने इनका वर्णन किया था। इसलिये इन्हें Koplik's Spots कहते हैं। ये दोनों तरफ गालों के अन्दर की ओर होते हैं। ९० प्रतिशत रोगियों में ये धब्बे निकलते हैं। इसलिये इन्हें देखकर तो निश्चय कर लेना चाहिये कि यह रोमान्तिका रोग है। इसके बाद रोग संक्रमण के १४ वें तथा ज्वर होने के चौथे दिन इस रोग के दाने निकल आते हैं जो पहले माथे तथा कान के पीछे मच्छर के काटे जैसे दाल के दाने जितने आकार के रक्त वर्ण के होते हैं। पहले ये केवल चकत्ते (Macule) होते हैं। फिर कुछ उठे हुये दो चार मिलिमीटर व्यास के उभरे हुये चकत्ते (Papule) बन जाते हैं। माथे तथा कान के पीछे से ये चेहरे पर आते हैं। वहां से ग्रीवा,धड़,शाखाओं-हाथ,पैर,तलुओं तक फैल कर पांचवे दिन तक सारे शरीर पर प्रकट हो जाते हैं। चेहरे तथा धड़ पर अन्यस्थानों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं। प्रारंभ में ये दाने पृथक पृथक होते हैं। पीछे

से परस्पर मिल जाते हैं। २४ से ३६ घंटे इनके सारे शरीर में फैलने में लगते हैं। और उसके बाद ही अर्थात् ४८ घंटे बाद ये जिस क्रम से निकले थे उसी क्रम से फीके पड़ने लगते हैं। स्पर्श में ये रक्त की उभार (Papules) युक्त होते हैं। तथा दबाने पर फीके पड़ जाते हैं। मसूरिका के Papules इस प्रकार दबाने से फीके नहीं पड़ सकते। प्रकट होने के चौथे दिन ये लुप्त हो जाते हैं। अर्थात् रोग प्रारंभ होने के नौवें दिन ये पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं और इनके स्थान पर भूरा सा रंग रह जाता है।

चौथे दिन दानों (Macules) के प्रकट होने के साथ ज्वर बढ़ जाता है। तथा १०३,१०४ डिग्री तक पहुंच जाता है। खांसी का कष्ट भी बढ़ जाता है। जब तक दाने निकलते हैं अर्थात् पांचवें दिन भी ज्वर बढ़ा रहता है, ज्वर के साथ खांसी का कष्ट भी बढ़ा रहता है। छटे दिन दानों के उतरने के साथ ज्वर भी सहसा उतरने लगता है तथा सातवें आठवें दिन पूर्णतया उतर जाता है। खांसी का लक्षण ज्वर के उतरने के बाद जाता है।

इस रोग में नाड़ी गति तो तापमान के अनुसार ही बढ़ती है। अर्थात् प्रति डिग्री के पीछे १० प्रति मिनट बढ़ती है पर श्वासगति प्रति डिग्री ३ प्रति मिनट न बढ़कर अधिक बढ़ती है।

उपद्रव :-

३ वर्ष से छोटी आयु के निर्बल प्रकृति के बालकों में उपद्रवों के होने की आशंका अधिक होती है। यदि सातवें दिन दानों के मुरझाने के साथ ज्वर कम न हो, नाड़ी गति और श्वास गति तीव्र ही रहे तो Broncho-Pneumonia का संदेह करना चाहिये जो प्रायः Beta Haemolytic-Streptococcus के या Pneumococcus के संक्रमण से होता है। एक सप्ताह या १० दिन में यह ठीक हो सकता है पर बहुधा इससे दीर्घ काल तक भी ज्वर उतरता चढ़ता रहता है। यह उपद्रव प्रबल रूप में हो तो घातक होता है। इस रोग के बाद चिरकाल तक फुफ्फुसों में शोथ बना रहे तो किसी एक Lung में Fibrosis का उपद्रव हो सकता है तथा उसमें Bronchiectasis का उपद्रव भी हो सकता है। मध्य कर्ण में शोथ (Otitis Media) का उपद्रव भी Haemolytic Streptococcus के संक्रमण से हो जाता है जिससे बालकों में बहरापन हो सकता है।

चिकित्सा :-

रोमान्तिका रोगी बालक को दूसरों से पृथक् करके एक ऐसे कमरे में जो कुछ गर्म हो दो सप्ताह तक के लिये आराम से बिस्तर पर रखना चाहिये। जो बच्चे उसके साथ रहे हों उन्हें दूसरे बालकों से दो सप्ताह के लिये पृथक् रखा जाय। इससे तो रोग को फैलने से बचाया जा सकता है। ३ वर्ष या पांच वर्ष

3

से छोटी आयु के बालकों को, रोगी या रोगी के संपर्क में रहे बालकों से पूर्णतया बचाना चाहिये। क्योंकि इस आयु के बालकों के लिये यह रोग उपद्रव कारी होता है। रोगी बालक के पास किसी खांसी प्रतिश्याय या गलरोग के रोगी को नहीं आने देना चाहिये ताकि इसे Secondary Infection बाहर से न हो सके। यदि बालक को दाने पूरी तरह न निकले हों तो गर्म बोतलें रख कर अथवा गर्म पानी से स्पंज करके दानों को बाहर करना चाहिये। रोगी को प्रतिदिन एक बार गर्म जल से स्पंज करना चाहिये। रोगी के कमरे में यदि गर्म वाष्प रहे तो इसे आराम रहता है। एक सेर पानी में १ चम्मच tr. Benzoin Co: डाल कर उसकी भाफ कमरे में दी जा सकती है।

स्वेदक मूत्रल और रेचक औषधियों के द्वारा बालक के शरीर में से विष द्रव को निकालने का यत्न करना चाहिये। अर्थात् Liquor Ammonium Acetate. १० बूंद, Spirit Aether Nitrosi- ५ बूंद, Potassium Citrate. ३ ग्रेन, Syrup १० बूंद मिला कर ऐसी दो तीन मात्रा बालक को दे सकते हैं। साथ ही Milk of Magnesia १ ड्राम मृदु विरेचनार्थ दे सकते हैं। खांसी के लिये Codeine Phosphate $\frac{1}{8}$ ग्रेन अथवा Tincture Camphor Co. १० बूंद, Potassium Bromide ३ ग्रेन Syrup Tolu: १० बूंद मिला कर ऐसी दो तीन मात्रा दी जाती हैं। छाती पर तारपीन का सफेद तेल मलने से या Caolin पोल्टीस आदि का प्लास्टर बांधने से भी खांसी में आराम रहता है। बालक छोटी आयु का हो तो उसे दाने निकलने के साथ ही Procaine Penicillin ३ लाख यूनिट प्रतिदिन तथा Sulphadiazine या Sulphathiazole में से किसी औषधि का चार पांच दिन प्रयोग करते रहने से उपद्रवों का प्रतिरोध हो जाता है। दो वर्ष के बालक के लिये $\frac{2}{3}$ गोली प्रति ६ घंटे पर तथा ३ वर्ष के बालक के लिये १ गोली प्रति ६ घंटे पर तथा ५ वर्ष के बालक के लिये १ गोली प्रति चार घंटे पर दूध में मिला कर दें।

आंखों को Boric Lotion से दिन में दो तीन बार धोना चाहिये तथा Boric Ointment लगाना चाहिये। अथवा आंखों में Sulpha-Cetamide Solution १० प्रतिशत दिन में तीन चार बार डालें।

इस उपद्रवों में से Broncho Pneumonia के लिये Sulpha-diazine. उत्तम औषधि है। Penicillin इसकी सहायक के रूप में दी जा सकती है। Otitismedia के लिये Penicillin उत्तम औषध है। छोटी आयु के बालक में इसका कारण B.Coli: भी हो सकता है। इस अवस्था में Chloramphenicol अधिक लाभदायक है।

रोगी के नाक, गले आदि से निकले मल को कपड़े में लेकर जला

देना चाहिये ताकि वह दूसरे बालकों के संपर्क में न आये।

आयुर्वेद में मसूरिका, विस्फोटिका तथा रोमान्तिका रोग :-

त्वचा में उभरे हुये मसूर आकृति के रक्त वर्ण कोठ जिस रोग में निकलते हैं उसे मसूरिका कहा जाता है। यह रोग शीत ऋतु या इसके अन्त भाग में निकलता है। इसे शीतला भी कहा जाता है। इस काल में देह में संभवत: कफ दोष की वृद्धि होती है जिससे मसूरिका रोगी से रोग बीज का संक्रमण दुगनता से हो जाता है। यदि इस रोग की विष के विपरीत शरीर में कफ का प्रकोप विशेषत: हो अर्थात् द्रव विस्फोट ही निकले जिनमें से कुछ एक ही पकें, शेष बिना पके सूख जायें तथा भिन्न भिन्न अंगों में कफ स्राव (Exudation) की वृद्धि होता के कारण सिर दर्द, तन्द्रा, निद्रा, अरुचि, सर्वाङ्ग गुरु (Malaise) आदि लक्षण हों तो इसे कफज मसूरिका कहते हैं।

जब इस रोग की विष के विपरीत शरीर में पित्ताग्नि की प्रतिक्रिया तीव्र रूप से हो जिससे स्फोटों में पाक प्रक्रिया विशेष हो, ज्वर अधिक हो तो इसे पित्तज मसूरिका कहते हैं।

जब इस रोग की विष के प्रभाव से शरीर के वायु पर विशेष प्रभाव हो अर्थात् शरीर की प्राण शक्ति न्यून हो जाय तो स्फोट शीघ्र बाहिर नहीं निकलते। स्राव नहीं होते, द्रव विस्फोट नहीं बनते, शरीर में वेदना का लक्षण विशेष होता तथा खांसी आदि फुफुस के संबंधी उपद्रव होते हैं तो इसे वात प्रधान मसूरिका कहते हैं।

जब कफ तत्व, पित्ताग्नि तथा वायु तत्व तीनों ही इस रोग की विष के द्वारा प्रकुपित होते हैं जिससे अवयवों में कफ द्रव की वृद्धि भी हो, पित्ताग्नि की वृद्धि भी हो तथा शरीर की प्राण शक्ति भी हीन हो तब इस बड़े बड़े द्रव विस्फोटों तथा पूय युक्त घने स्फोटों से युक्त मसूरिका को त्रिदोषज मसूरिका कहते हैं।

विस्फोटिका :-

न्यूनाधिक ज्वर के साथ निकलने वाले विस्फोटों को विस्फोटक ज्वर कहते हैं। इस ज्वर की विष के कारण शरीर का कफ तत्व ही विशेषत: प्रकुपित हो अर्थात् अवयवों में कफ द्रव की वृद्धि हो जिससे द्रव विस्फोटों में पाक न हो तथा अरोचक, छर्दि, और शारीरिक जड़ता के लक्षण विशेष हों तो इन्हें श्लैष्मिक विस्फोट कहते हैं।

जब इस रोग की विष के प्रभाव से शरीर की पित्ताग्नि विशेष उत्तेजित हो जिससे विस्फोटों में पाक की प्रक्रिया विशेषता से हो, ज्वर का लक्षण भी विशेष हो, तब इसे पित्त विस्फोट कहते हैं।

जब इस रोग की विष का दुष्प्रभाव शरीर की प्राण शक्ति पर

विशेष हो जिससे विस्फोटों में मृत्यु (Necrosis) की प्रक्रिया होकर उनमें श्यामता आ जाय, अंगों में वेदना आदि लक्षण विशेष हों तो इसे वात प्रधान विस्फोट कहा जाता है।

यदि स्फोट आकार में बड़े हों, उनमें पूय या रक्त भी हो तथा उनमें कुछ कुछ मृत्यु (Gangrene) की प्रक्रिया भी हो जाय तथा ज्वर, अशक्ति, तन्द्रा, निद्रा आदि लक्षण भी हों तब इसे त्रिदोषज विस्फोट ज्वर कहते हैं।

रोमान्तिका :-

शरीर में कफ दोष तथा पित्त दोष की अधिकता होने पर दूसरों से रोमान्तिका विष का संक्रमण सुगमता से हो जाता है। इस रोग की विष के कारण शरीर में कफ तत्व तथा पित्त तत्व प्रकुपित होते हैं। जिससे इस रोग में कफ प्रकोप जनक प्रतिश्याय, कास, अरोचक आदि लक्षण होते हैं। पित्ताग्नि के प्रकोप के कारण ज्वर दाह आदि लक्षण होते हैं। जब कभी इन दोषों के साथ वायु का प्रकोप भी हो जाता है अर्थात् शरीर की प्राण शक्ति भी निर्बल हो जाती है तब यह रोग तीव्र रूप ले लेता है।

मसूरिका चिकित्सा :-

मसूरिका रोगी को पहले लंघन कराके केवल फल रस दिया जाता है। बाद में निर्बलता की वृद्धि की आशंका हो तो गाय का दूध दिया जाता है। रोगी के कमरे में गुग्गुल अगर या लोबान का धूम दिया जाता या निम्ब पत्रों का वाष्प दिया जाता है। स्फोटों को नीम, अर्जुन, खदिर, गूलर, सिरस की छालों के गर्म क्वाथ से धोकर उन पर ५० निम्ब बीज तैल या पंचवल्कल क्वाथ में धोया घृत या दशांग लेप, (सिरस, मुलहठी, चन्दन, तगर, एला, जटामांसी, हरिद्रा, दारु हरिद्रा, कुष्ठ, नेत्र बाला), के शीत फांट में कई बार धोया हुआ घृत लगाना चाहिये। नेत्रों को त्रिफला, दारु हल्दी, लोध्र, मुलहठी के फांट तथा कंठ को चमेली पत्र, दारु हल्दी, मुलहठी, क्वाथ के कुल्लों के द्वारा धोना चाहिये। रोगी की निर्बलता के लिये मुक्ता पटी, (मुक्ता, वंशलोचन, रससिंदूर, तथा मरिच समान समान की १, २ रत्ती की वटी), दिन में दो बार देनी चाहिये। निम्बादि क्वाथ, (नीम छाल, गिलोय, कुटकी, मोथा, पापड़ा, पटोल, धमासा, चन्दन।, १ तोला को पकाकर) एक एक चम्मच दिन में अनेक बार देते रहने से भी मसूरिका का वेग बढ़ता नहीं।

कहा जाता है कि केले के बीजों का चूर्ण ५ रत्ती की मात्रा में एक दो बार लेने के बाद इस रोग के होने का भय नहीं रहता। मुख पर के दागों को मिटाने के लिये मसूर की दाल तथा काजू की गिरियों का उबटन दो चार सप्ताह तक लगाया जाता है।

विस्फोटिका चिकित्सा :-

वात प्रधान विस्फोटों के लिये दशमूल की औषधियों के साथ रास्ना, गुडुची, दारु हल्दी, मिला के क्वाथ देना चाहिये। पित्त प्रधान विस्फोटों में कुटकी २ तोले के क्वाथ के द्वारा विरेचन देकर [illegible] पंच तिक्त घृत देना चाहिये। तथा कफ प्रधान विस्फोटों में त्रिफला चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये अथवा कफ, पित्त प्रधान विस्फोटों में खदिराष्टक क्वाथ, (खदिर, त्रिफला, गुडुची, पटोल, नीम, वासा समान समान) या अमृतादि क्वाथ, (गुडुची, खदिर, दोनों हरिद्रा, नीम, पटोल, वासा, मुस्ता समान समान), देवें अथवा मंजिष्ठादि क्वाथ देवें या खदिरारिष्ट देवें। स्फोटों पर लगाने के लिये पंच वल्कल क्वाथ में धोया घृत या दशांग लेप उपयोगी है।

[illegible] विस्फोट रोग में लंघन कराने के बाद उसे पहले केवल फल रस या ग्लूकोज और जल पर और फिर दुग्ध पर तब तक रखना चाहिये जब तक रोग रहे।

रोमान्तिका ज्वर में भी कफ पित्त की शान्ति के लिये बालक को खदिराष्टक क्वाथ से कफकेतु का प्रयोग करना चाहिये। खांसी के लिये अलसी, की खली में १६ वां भाग राई या सोंठ का चूर्ण मिला कर उसकी गर्म पोल्टिस छाती पर बांधनी चाहिये। लघु लंघन के बाद रोगी बालक को देसी गाय के साथ मिश्रित दुग्ध पर ही रखना चाहिये।

श्लैष्मिक ज्वर, संक्रामक श्लैष्मिक ज्वर,: Influenza, Epidemic, Catarrhal Fever, Flue:-

कारण तथा संक्रमण विज्ञान :-

सम्पूर्ण शरीर की अनेक मांस पेशियों में दर्द के साथ होने वाला यह ज्वर सदा संक्रमण के द्वारा उत्पन्न होता है। परंतु इसकी संक्रमण शीलता और इसका स्वरूप विभिन्न प्रकार के होते हैं। कभी तो यह इतने मंद रूप में होते हैं कि इसका विशेष पता भी नहीं चलता, इसे मंद श्लैष्म ज्वर (Sub-Clinical Infu:) कह सकते हैं। प्रबल रूप में होकर कभी यह प्रादेशिक (Endemic) रूप में ही होता है। कभी व्यापी संक्रामक (Epidemic) रूप में फैलता है।

यद्यपि कभी तो यह किसी बस्ती में एक दो प्रतिशत व्यक्तियों को ही होता है कभी कभी यह बीस पचीस प्रतिशत व्यक्तियों को होता है। यों तो प्रति वर्ष ही यह फैलता है और कुछ एक ही व्यक्तियों को होता है। जिसे इसका मृदु (Sporadic) रूप कह सकते हैं। पर कभी कभी शहरों और ग्रामी बस्तियों में प्रबल रूप में फैलता है तथा कभी कभी लगभग बीस, तीस या चालीस वर्षों के अंतर से तो यह विश्व व्यापी रूप में फैलता है। निकट भूत में १८८९, १९१८ तथा १९५७ में क्रमशः यह इसी विश्व व्यापी रूप में फैला था। इस रोग का कारण भूत विष मनुष्य समाज में सदा ही रहता है। परंतु अग्नि के समान कभी तो यह प्रसुप्त होकर रहता है। कभी न्यून और कभी उग्र रूप में प्रज्वलित हो जाता है और कभी कभी तो दावानल या सर्वमेध यज्ञ की अग्नि का रूप ले लेता है। क्योंकि १९१८ में यह रोग कुछ महीनों के अंदर अंदर दो तीन देशों में फैला था और ५० करोड़ व्यक्तियों को हुआ था और इनमें से लगभग १½ करोड़ व्यक्तियों के लिये संहारक हुआ था। १९५७ में भी यह पूर्व एशिया से [illegible] में फैला। लाखों व्यक्ति रोगशायी हो गये और सहस्त्रों के लिये संहारक हुआ।

१९३३ में इंग्लैंड के Andrews, Smith तथा Laidlaw ने इस रोग के कारण भूत सूक्ष्म विष (Virus) का आविष्कार किया। इन्होंने इस रोग के रोगी की नाक तथा गले की धोवन को Ferrets की अर्थात् एक प्रकार की बिल्ली की नासिका में प्रवेश करके इनमें यह रोग उत्पन्न किया और इसे फिर इसे पशुओं में फैलते हुये देखा। क्योंकि Virus लेबोरेटरी के भरे हुये माध्यमों (Media) पर रोपण नहीं कर सकता। इसलिये इन्होंने इसे जीवित माध्यम पर फैलाया। चूहों की नासिका में भी इस विष को बढ़ते हुये देखा गया। अब विशेषतः इस विष की खेती पक्षी भ्रूण (Chick Ambryo) की Amniotic Sac: में इस रोग के रोगी

के गले की श्लेष्मा को सूची वेधन द्वारा प्रविष्ट करने (Incocculation) के द्वारा की जाती है। वहां से फिर इस सूक्ष्म जीवाणु का घोल (Vaccine) बनाया जाता है। यह Virus १०० मिलि माईक्रोन के व्यास का एक सूक्ष्म जीवाणु कण है जो रोगी के नाक, गले, मुख आदि से छींकने, खांसने आदि के द्वारा थूक के कणों के साथ बाहर वायु मंडल में आता है। अति निकट संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के नाक, गले आदि में प्रवेश करके वहां जीवित पदार्थों के माध्यम पर वृद्धि करने लगता है। वृद्धि करने के २४ घंटे के अंदर अपने विष (Toxaemia) के कारण ज्वर का उत्पादक हो जाता है। यह जीवाणु कण गले से आगे रक्त आदि पदार्थों में नहीं जाता है, केवल इसका विष ही आगे शरीर में जाता है। इस विष के प्रभाव से शरीर की प्राण शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाती है। अशक्ति इस ज्वर का एक प्रधान चिन्ह होता है। इस विष के प्रभाव से फुफ्फुसों की प्राण शक्ति भी विशेष क्षीण हो जाती है। इनकी स्वाभाविक जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति जाती रहती है। जिससे इनमें Pfeffer's Bacillus (Haemophilus Influenzae) Haemolytic Streptococci , Pneumococci Neisseria Caterrhalis, Staphyloccus Pyogenes --- --- --- आदि का (Secondary Infection) हो सकता है।

१९५० में अमरीका में Francis ने इस रोग के एक दूसरे Virus का पता लगाया जिसे उसने प्राणियों की नासिका में पहुंचाकर उनमें फिर मनुष्य में इस रोग को उत्पन्न होते देखा। इसे Influenza B.Virus कहा जाता है। A .Virus की अपेक्षा इससे उत्पन्न होने वाला रोग मंद होता है। परीक्षक लोग बताते हैं कि कई Influenza रोगियों में A या B दोनों में से कोई भी Virus नहीं होता। अतः संभव है कि इस रोग के दूसरे कुछ Virus का भी पता कुछ काल में लग जाय। अभी तक इन दोनों के बिना होने वाले रोग को Influenq-a V. कह देते हैं। इनमें से किसी प्रकार के Virus के संक्रमण होकर इस रोग के हो जाने के अथवा इनके Vaccine जीवाणु घोल के शरीर में प्रविष्ट कर देने के एक सप्ताह बाद रोगी के या Vaccine लेने वाले व्यक्ति के, रक्त में इसके विपरीत एक प्रतिरोधी द्रव्य (Anti Body) उत्पन्न हो जाता है। जो एक मास तक पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाता है। परंतु जैसे अन्य Vizuses के कारण होने वाले Poliomelitis रोमान्तिका, मसूरिका, आदि में इन रोगों के Anti Body बहुत वर्षों तक स्थायी होते हैं। इस रोग का Anti Body ६,७ मास या इससे कुछ अधिक काल के लिये ही

शरीर में रहता है क्योंकि इस रोग के बाद उत्पन्न होने वाली रोग रोधक शक्ति दीर्घकाल स्थायी नहीं होती।

दूसरा यह रोग एक प्रकार का न होकर Virus भेद से कई प्रकार का है क्योंकि जिस Virus का संक्रमण एक बार होता है दूसरी बार उससे भिन्न Virus का संक्रमण हो सकता है। जिस प्रकार के Virus से रोग होता है उसी एक के प्रति शरीर में प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार Vaccine भी जिस Virus का दिया जाता है उसी के विपरीत ही Vaccine लेने वाले में प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिये यह बहुत संभव है कि प्रति दो तीन वर्षों के बाद जब एक नये Virus के कारण कि जिसके विपरीत प्रतिरोधक शक्ति सर्व साधारण लोगों में बहुत कम हो गई है या सर्वथा समाप्त हो चुकी है यह रोग फैले तो सूखे फूस में आग की तरह इसका फैलना स्वाभाविक ही है। यह भी बहुत संभव है कि जब एक प्रकार का Influenza 20-३ वर्षों तक न हुआ हो, इसलिये जिसके प्रति प्रतिरोधक शक्ति सर्व साधारण लोगों में समाप्त हो गई हो, वह फिर एक बार किसी रोग वाहक के द्वारा फैलने लगे तो वह ऐसे वेग से फैल सकता है जैसे शुष्क जंगल में दावानल क्योंकि इस रोग के Epidemic या Pandemic रूप में होने का कारण जनता में इस रोग के Anti-Body का सर्वथा अभाव ही कहा जा सकता है। रोग के फैलते ही इसके Virus का पता लगा कर उसका Vaccine दे दिया जाय तो ८, ७ मास के लिये इस रोग के आक्रमण से बचाया जा सकता है।

विकृति विज्ञान :-

इस रोग में नासा मार्ग, नासा ग्रसनिका देश, (Nasopharynx) नासा स्रोतसों, (Sinuses) तथा गले (Pharynx) में श्लैष्मिक (Catarrhal) शोथ होता है तथा इन अंगों की आभ्यंतर कला (Epithelium) इस Virus के कारण स्थान स्थान पर मृत होकर झड़ जाती है।

रोग तीव्र हो जाय तो यह शोथ नीचे कंठ नाली (Trachea) तथा श्वास नालियों (Bronchi) में भी उतर जाता है। वहां की आभ्यन्तर कला भी इसी प्रकार स्थान स्थान पर मृत सी हो जाती है। इस रोग में रक्त के श्वेत कण घट जाते हैं क्योंकि चार पांच हजार प्रति घन मिलीमीटर होते हैं।

लक्षण :-

रोग संक्रमण होने के एक दो दिन के अंदर ही ज्वर हो जाता है अर्थात् इस रोग का (Incubation Period) कुछ घंटे है।

यह ज्वर सहसा अकस्मात् कुछ शीत के साथ चढ़कर पहले दिन ही १०२, या १०३ डिग्री तक पहुंच जाता है। ज्वर के साथ तीव्र शिर: शूल, शाखा शूल, कटि शूल, और अरुचि के लक्षण होते हैं। पर अशक्ति इसका प्रधान लक्षण होता है। इस रोग की विष के कारण शरीर की प्राण शक्ति क्षीण हो जाती है। वात नाड़ी मंडल पर इसका विशेष प्रभाव होता है। शरीर की मांस पेशियों पर भी इसकी विष का प्रभाव विशेष होता है। जिससे कटि शाखा आदि की मांस पेशियां दुखती हैं। नेत्रों को घुमाने वाली मांस पेशियों में भी दर्द होता है। हृदय मांस पर इस विष का प्रभाव होने से उसमें अशक्ति हो जाती है। अर्थात् उसमें कुछ शैथिल्य (Dilatalion) हो जाता है जिससे उठा बैठा नहीं जाता।

परीक्षा :-

रोगी की परीक्षा करने पर उसका तापमान ऊंचा होता है। नाड़ी की गति हृदय की निर्बलता के कारण तापमान की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। जिह्वा मलिन होती है। नासा, गल, तालु, रक्त वर्ण होते हैं। नेत्र भी कुछ रक्त वर्ण होते हैं। खांसी शुष्क होती है। स्पर्श करने से त्वचा भी शुष्क प्रतीत होती है। यह ज्वर तीसरे, चौथे दिन या पांचवें दिन तक उतर जाता है। पर इसकी निर्बलता इसके उतरने के एक सप्ताह बाद तक रहती है। स्पष्ट है कि यह रोग साधारणत: साध्य होता है।

रोग की पहिचान :-

तीव्र प्रतिश्याय रोग से इसका संदेह हो सकता है। परंतु उसमें नासा, गले आदि के लक्षण छींकना, खांसना, नाक बहना, गला बैठना, इत्यादि लक्षण विशेष होते हैं और ये भी धीरे धीरे १, २ दिन में आते हैं। पर इस रोग में शरीर व्यापी लक्षण जैसे ज्वर, मांस शूल, अशक्ति (Prostration) आदि लक्षण प्रधान होते हैं और ये भी सहसा उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् वह एक स्थानिक रोग है। यह एक शरीर व्यापी रोग है। यदि बस्ती में यह रोग फैल रहा हो, सहसा ज्वर के साथ मांस शूल और गले के लक्षण हो जावें लक्षण हो तो इसी रोग का संदेह करना चाहिये।

उपद्रव :- यहां पर इस रोग के मृदु रूप का वर्णन हुआ है, पर जब यह रोग तीव्र संक्रामक रूप में या विश्व व्यापी रूप में फैलता है तब कभी कभी किसी किसी व्यक्ति पर इसका विष इतना चढ़ता है जिसके होते ही रोगी को तीव्र विष संचार हो जाता है अर्थात् ज्वर ऊंचा हो जाता, हृदय और रक्त संचार फेल हो जाते तथा शीघ्र मृत्यु हो

जाती है। इसे घातक (Malignant) Influenza कहते हैं।

कभी कभी रोग होने के चौथे पांचवें दिन ज्वर कम हो जाने के बाद दूसरे जीवाणुओं का संक्रमण होकर पहले बड़ी श्वास नालियों फिर क्षुद्र श्वास नालियों में और फिर श्वास कोष्ठकों में भी शोथ हो जाता है। (अर्थात् Bronchitis, Bronchiolitis तथा Alveolitis भी हो जाते हैं) जिसके कारण रक्त को प्राण वायु नहीं मिल पाता। जिससे श्वास गति तीव्र हो जाती है। प्राण वायु के बहुत कम मिलने से नाक कान में नीलापन (Cyanosis) झलकने लगता है। क्षुद्र श्वास नालियों में शोथ के फैल जाने से खांसी हो जाती है। जो गीली होती है। इसे Respiratory Influenza कहते हैं। यह भी घातक होता है।

<u>चिकित्सा :-</u>

रोग प्रतिरोध के लिये आवश्यक है कि जब यह रोग फैला हुआ हो, गाड़ियों, सिनेमा, क्लबघर, होटल आदि सब भीड़ वाले स्थानों से सर्वथा दूर रहा जाय, क्योंकि जहां भीड़ होती है वहां यह Virus फैला रहता है। Polyvalent Influenza Virus Vaccine के १ सी॰सी॰ की मात्रा में त्वचा द्वारा देने से एक सप्ताह तक इस रोग के विपरीत Anti-Bodie-s रक्त के अंदर उत्पन्न हो जाते हैं जिससे फिर ७,८ मास तक इस Virus का दुष्प्रभाव नहीं हो सकता। अथवा पोटाशियम परमांगनेट ४ हजार में १, के घोल के दिन में तीन चार बार कुल्ले करते रहने से अथवा मेन्थल पेन्ट के गले में प्रतिदिन दो तीन बार लगाने से अथवा Iodine Solution १ प्रतिशत के गले में स्प्रे करने से इस रोग के संक्रमण से बचा जा सकता है।

रोग हो जाने पर रोगी को जब तक ज्वर न उतरे, दूसरों से पृथक् आराम से लिटाये रखना चाहिये। ज्वर उतरने पर यह रोग संक्रामक नहीं रहता। रोगी के रक्तस्थ विष को कम करने के लिये दिन में ३ सेर जल पिलाना चाहिये। जिसमें से कुछ भाग में मिलाकर २,३ छटांक ग्लूकोज देना चाहिये। ताकि विष के कारण न्यून हुई प्राण शक्ति की सहायता हो अथवा ५ प्रतिशत ग्लूकोज सेलाईन एक दो पाइंट की मात्रा में [illegible] शिरा द्वारा १२,१२ घंटे बाद देते रहना चाहिये। मृदु विरेचक औषधि जैसे Phenolphthalein २ ग्रेन, Colonmel २ ग्रेन, मिला कर एक मात्रा देकर आंतों को साफ कर देना चाहिये। इसके बाद वस्तियों के द्वारा आन्त्र गत विष को बाहर करते रहना चाहिये। Streptomycin को १ ग्राम मात्रा में मांस द्वारा दिन में दो बार तीन दिन तक देने और फिर १ बार दिन में देने से ज्वर उतर जाता है। Chloromycetin के २ कैप्सूल दिन में ४ बार देने से भी ज्वर उतर जाता है।

इस रोग में मांस शूल विशेष हो तो Aspirin ४ ग्रेन,

Phenacetin ४ ग्रेन, Codein Phosphate $\frac{1}{8}$ ग्रेन, मिला कर ऐसी ३ पुड़ियां दिन में दे सकते हैं। शुष्क खांसी के लिये Tinct-ure Camphor Co: ३० बूंद, Codein $\frac{1}{3}$ ग्रेन, Syrup Tolu: १ ड्राम जल में १ औंस मिला कर ऐसी १,२ मात्रा दिन में दे सकते हैं। अथवा Syrup Codeinae. १ ड्राम की मात्रा में दें। कफ बहुत निकलता हो तो Potb Bi-Carb: १५ ग्रेन, १ औंस क्लोरोफार्म वाटर में तीन बार पिलाना चाहिये। हृदय दौर्बल्य के लिये Coramine १,२ सी.सी. त्वचा द्वारा देते रहना चाहिये।

इस रोग के फुफ्फुस संबन्धी उपद्रवों के लिये Procaine-Penicillin ६ लाख की मात्रा में १२,१२ घंटे बाद मांस द्वारा तथा Oxyzen का प्रयोग करना चाहिये। रोग से उत्पन्न निर्बलता के लिये Liquor Strychnine २ बूंद, Syrup Ferri Phosphate ६० बूंद, मिला कर दिन में तीन बार देवें।

आयुर्वेद में श्लैष्मिक ज्वर या वात श्लेष्म ज्वर :-

शरीर में कफ दोष या वात कफ दोषों की अधिकता होने पर इस रोग से ग्रस्त दूसरे व्यक्ति से इस रोग के विष का संक्रमण सुगमता से हो जाता है। कफ धातु के प्रकुपित होने से प्रतिश्याय, कास, अन्नारुचि, गुरुता, तन्द्रा, आलस्य आदि लक्षण होते हैं तथा वायु के प्रकुपित होने से सिर, संधियों तथा अंगों में दर्द तथा अशक्ति के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इस रोग की प्रथमावस्था कफ वात शामक अर्थात् उष्ण, रूक्ष, लघु चिकित्सा की जाती है। रोगी को दशमूल क्वाथ के साथ कफकेतु गुटी, संजीवनी वटी, सूतशेखर, महालक्ष्मी विलास, लक्ष्मी विलास, त्रिभुवन कीर्ति रस, में से किसी को दो रत्ती की मात्रा में दिन में ३,४ बार दिया जाता है। उसे तुलसी चाय, के साथ मिलाकर दिन में कई बार देना चाहिये।

कर्णिक ज्वर, कर्णमूल ग्रन्थि ज्वर :- Mumps, Epidemic Parotitis:-

कर्णमूल ग्रन्थि (Parotid Gland) कान के छिद्र के नीचे अधोहन्वस्थि (Mandible) की Ramus के पीछे, शंखास्थि के Mastoid Process तथा Sternocleido Mastoid मांस पेशी के आगे ऊपर Zygomatic Arch: तक फैली हुई और अंदर की दिशा में गले की दीवार से मिली हुई एक बड़ी लाला ग्रन्थि है। अनेकानेक सूक्ष्म सेलों और उनके बीच सूक्ष्म लाला प्रणालियों के मिलने से बने हुये अनेक छोटे अंगूर रूपी गुच्छों से बनी हुई ग्रन्थि है। इसके बड़े बड़े खंड (Lobes) छोटी छोटी खण्डिकाओं (Lobules) से बने हैं। जिनके बीच बीच में स्नायुतन्तु पर्याप्त मात्रा में होता है। इस ग्रन्थि में रक्त नाड़ियां बहुत अधिक होती हैं तथा इस के सेल लाला रस बनाकर इसे (Parotid Duct) में भरते जो कि ऊपर

के दूसरे Molar दाढ़ के सामने गाल की श्लैष्मिक कला पर एक Papilla पर खुलती है। मुख में डालते रहते हैं।

पांच से पचीस वर्ष तक की आयु के बालकों और युवकों में यह ग्रन्थि फूल जाया करती है तथा रोगी के थूक और नाक के स्रावों के द्वारा इस रोग का सूक्ष्म विष (Virus) दूसरों के श्वास मार्ग और मुख में प्रवेश करके वहां पोषण कर जाता है और संभवतः रक्त के द्वारा शरीर में संचार कर जाता है। यह सूक्ष्म विष लाला ग्रन्थियों में विशेषतः पोषण करता है। कभी कभी अंड ग्रन्थि अथवा अग्न्याशय ग्रन्थि (Pancreas) में भी पोषण करता है। इस रोग के रोगी की लाला को बंदर के Parotid Gland में डाल कर उसमें भी यह रोग उत्पन्न किया जा सका है। पक्षी भ्रूण (Chick-Embryo) में खेती करके इसके विष को बढ़ाया जा सका है। इसका विष कण ६० से १२५ मिलि माईक्रोन व्यास का होता है। इस ग्रन्थि में Virus के बढ़ जाने पर इसकी रक्त वाहिनियों में रक्त अधिक भर जाता है। जिससे Lobules के बीच के स्नायु तंतु में परिस्रव (Exudation) होकर वह फूल जाता है (अर्थात् Interstitial Oedema के कारण यह ग्रन्थि बड़ी हो जाती है) इस विष के दुष्प्रभाव से इस ग्रन्थि के कुछ लाला स्रावी सेल भी क्षीण होकर लाला के साथ बाहिर आ जाते हैं।

लक्षण :-

इस रोग के संक्रमण होने के तीन सप्ताह बाद एक ओर की ग्रन्थि (प्रायः बांई ओर की ग्रन्थि) फूलती है। इसके साथ ही मंद ज्वर, सिर दर्द, अरोचक, सर्वांग ग्रह के लक्षण भी मंद रूप में होते हैं। मुख खोलने से इस ग्रन्थि में वेदना होती है। खाने में कठिनता होती है। एक दो दिन बाद दूसरी ओर की ग्रन्थि भी फूल जाती है। इसके सूजने से ऊपर की त्वचा तन जाती है। जिससे कान कुछ ऊपर और कुछ बाहर की ओर उठ जाता है। लाला स्राव की मात्रा घट जाती है। जिससे मुख सूख सा जाता है। मुख के अंदर देखने से इसकी नाली (Stenson's Duct) का मुख सूजा हुआ दीखता है। सात दिन तक इस ग्रन्थि का शोथ उतर जाता है।

कभी कभी विशेषतः युवकों में इसके ठीक होते ही एक ओर की अंड ग्रन्थि में शोथ हो जाता है। (Orchitis हो जाता है) जिसके साथ ज्वर भी बढ़ जाता है। इस ग्रन्थि के भी स्नायु तंतु में परिस्रव बढ़ जाता है। अर्थात् इसमें Interstitial Oedema हो जाता है। जिससे वह तन जाती है और इसमें भारी दर्द होता है। इस ग्रन्थि पर चढ़े आवरण कोष (Tunica Vaginalis) में भी स्राव (Exudation) हो जाता है। एक सप्ताह तक यह भी ठीक हो जाता है। इसके ठीक होने

के साथ ज्वर भी उतर जाता है।

चिकित्सा :-

रोगी तथा उसके साथियों को तीन सप्ताह तक औरों से पृथक् रखना चाहिये। जब तक ज्वर के रोगी का ज्वर तथा शोथ जब तक उतर न जाये उसे बिस्तरे पर लिटाये रखना चाहिये। चबाने से दर्द होता है। अतः नली से केवल दूध पिलाना चाहिये। शोथ युक्त ग्रन्थि पर Kaolin पौल्टीस दिन में दो बार कस कर बांधनी या Belladonna Glycerin लगा कर सेकने से दर्द को आराम आता है। Aspirin ३ ग्रेन या Codein-Phosphate: $\frac{1}{8}$ ग्रेन दिन में दो तीन बार देने से भी दर्द शांत होता है। Potassium Permenganate या Potassium Chlorate के १०० में १ के द्राव से के ४ हजार में १ के द्राव से कुल्ले दिन में चार बार करने चाहिये। इससे इसका विष निकलता रहता है। Albamixture (Mag: Sulph १ ड्राम, Mag: Carb Light ७ ग्रेन, Peppermint Water १ औंस, या Elixir Cascara Sagrada आधा ड्राम दिन में एक बार [illegible] देकर पेट साफ रखना चाहिये। Soda.Salicyl. — ७$\frac{1}{2}$ ग्रेन, Soda.Bi-Carb १५ ग्रेन, Pot:Acct:१५ ग्रेन मिला कर दिन में ३,४ बार देने से भी दर्द शांत होता है।

अंड [illegible] शोथ के लिये भी Belladonna Glycerine का लेप तथा गर्म सेक देना चाहिये। इसके हिलने से दर्द अधिक होता है अतः उसे बांधकर गर्म रुई में लपेट कर रखना चाहिये। Stilbaestrol १,२ मिलिग्राम दिन में दो बार देने से भी इसमें आराम आता है। अथवा Cartisone के २५ मिलिग्राम मात्रा में दिन में ४ बार २,३ दिन देने से अंड शोथ शांत हो जाता है।

आयुर्वेद में कर्ण मूल ग्रन्थि ज्वर :-

शरीर में विशेषतः लाला ग्रन्थि में कफ दोष की अधिकता होने पर इस रोग के विष को वहां रोपण करने का अवसर मिल जाता है। इसमें शोथ हो जाने पर इस पर कुष्ठ, हरिद्रा, चित्रक मूल, वच, सरसों, सोहेंजने आदि में से किन्हीं १,२ को धतूरे रस से पीस कर लेप बनाकर लगा दिया जाता है।

मन्थर ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, सन्निपात ज्वर, मोती झरा, मियादी बुखार।

Typhoid Fever--(Typhos= बादल।)

कारण :-

१०,३० वर्ष की आयु के व्यक्तियों में ग्रीष्म ऋतु में फैलने वाला तथा कई दिन तक निरंतर चलने वाला एक संक्रामक ज्वर है जो छात्रावासों या बस्तियों में एक साथ अनेकानेक नौजवान व्यक्तियों में हो

जाया करता है। कुछ वर्ष पहले अर्थात् २० वर्ष पहले यह जिस प्रबलता से फैला करता था वैसा अब देखने में नहीं आता। संभवत: शहरों में पीने के जल को स्वच्छ रखने के लिये जो प्रबन्ध किये गये हैं उन्हीं का यह शुभ परिणाम है। रोगी के मल में से इस रोग के जीवाणु पीने वाले पानी में प्रविष्ट हो जाने से यह रोग दूसरों को हुआ करता है। रोगी के अच्छे हो जाने पर उसके मल में इस जीवाणु का आना बंद हो जाता है। बहुत थोड़े रोगियों में लगभग ५ प्रतिशत में यह जीवाणु अच्छा हो जाने के बाद भी कुछ मास तक मल में निकलता रहता है। इनमें से २,३ प्रतिशत में तो १२ मास तक यह जीवाणु मल द्वारा आता रहता है। रोगियों में से किसी किसी में जिनके पित्ताशय में स्थायी शोथ रह जाता है अर्थात् जिन्हें पित्ताशय शूल (Cholecystitis) का रोग होता है। चिरकाल के लिये यह उनके मल में आता रहता है। जिनको इस रोग में पित्ताशय शूल का उपद्रव होता है उनके मल में इस रोग का जीवाणु चिरकाल तक आता रहेगा। इस बात की आशंका करनी चाहिये। इस प्रकार के व्यक्तियों को आन्त्र ज्वर जीवाणु वाहक कहते हैं। इनके अतिरिक्त कभी कभी आन्त्र ज्वर इतने सूक्ष्म रूप में होता है कि इस रोग का पता नहीं चलता। रोगी आन्त्रिक ज्वर से ग्रस्त होता है पर उसे साधारण रोगी समझा जाता है। उसके मल के द्वारा यह रोग दूसरों में फैल सकता है। इस प्रकार प्राय: इस रोग के संक्रमण का कारण कोई रोग वाहक व्यक्ति हुआ करता है।

यह ज्वर हमारे देश में शहरों में ही पाया जाता है। विशेषत: जिन शहरों में पीने के पानी की सफाई का प्रबन्ध अत्युत्तम नहीं है। देहातों में यह रोग प्राय: नहीं होता। जिससे पता लगता है कि यह रोग बाहिर योरोपियन्स से आया है। और बड़े बड़े नगरों में इस का बीज फैला है। चरक सुश्रुत आदि प्राचीनतम ग्रन्थों में जैसे वर्तमान प्रवाहिका या Dysentery (Amaebic) का वर्णन नहीं है वैसे ही मन्थर ज्वर का वर्णन भी नहीं मिलता।

आन्त्र ज्वर जीवाणु :-

Salmonella Typhi: या Bacillus Typhosus (८८४,) २,४ माईक्रोन लम्बा, शलाकाकृति, ग्राम नैगेटिव, गति शील, Flagella संयुक्त कृमि है। Paratyphoid Bacilli a.b.c. भी (८०७, ८८ भी इसी से मिलते जुलते तथा इससे मृदु ज्वर का कारण होते हैं। Bacteriophages के द्वारा Lysis के आधार पर ये भेद पाये गये हैं। ये सभी जल, दूध, आइसक्रीम, बर्फ, आदि भोजनों में पर्याप्त समय तक जीवित रह सकते हैं। इन्हीं के द्वारा यह शरीर में पहुंचते हैं।

है। वहां पहुंचने के दो सप्ताह बाद के बाद इस रोग के लक्षण प्रकट होते हैं। अर्थात् इसका (Incubation Period) २ सप्ताह है।

विकृति :-

इस जीवाणु के आंत में पहुंचने पर वहां इसके विपरीत तीव्र प्रतिक्रिया होती है। विशेषतः लसीका ग्रन्थियाँ (Peyer's Patches तथा Lymph Follicles) में/अर्थात् ये ग्रन्थियां इस जीवाणु को पकड़ लेने के कारण आकार में फूल जाती हैं। वहां यह जीवाणु नष्ट न हो पाये तो यह आन्त्र बन्धनी की लसीका ग्रन्थियाँ (Mesenteric Glands) में पहुंच जाता है। वहां पर भी यह नष्ट न हो पाये तो यह वक्ष लसीका वाहिनी (Thoracieduct) द्वारा रक्त में पहुंच जाता है। रक्त में श्वेत कण इसे बढ़ने नहीं देते तो भी Mesentery की ग्रन्थियाँ, प्लीहा, यकृत, पित्ताशय, तथा अस्थि मज्जा में यह जीवाणु बढ़ने लगता है। इन अंगों की रक्त वाहिनियों में विद्यमान Reticuloendothelial सेल मात्रा में बहुत अधिक बढ़ जाते हैं। इनकी यह वृद्धि इन्हें नष्ट करने के लिये ही होती है। इन सेलों से उत्पन्न होने वाले Large Mononeuclear नामक श्वेत कण इन स्थानों की रक्त वाहिनियों में बहुत अधिक संख्या में भरे होते हैं। इनके अधिक भर जाने से इन अंगों की रक्त वाहिनियों में रक्ताधिक्य हो जाता है। इसीलिये इस रोग में यकृत प्लीहा आदि आकार में कुछ बढ़े हुये दीखते हैं।

पहले जब तक यह जीवाणु आंत की लसीका ग्रन्थियों ~~में~~ (Peyer's Patches, Mesent. Glands). में बढ़ता है तब तक इस रोग के पूर्व रूप होते हैं। इस समय को इस रोग का Incubation Period कहते हैं। फिर जब यह जीवाणु रक्त में प्रवेश करके प्लीहा, यकृत, मज्जा, पित्ताशय में बढ़ता है तब (Bacteraemia की अवस्था में) ज्वर आदि आरंभ होता है। जब यह ज्वर एक सप्ताह रह लेता है, रक्त में Antibodies उत्पन्न हो जाते हैं कि यह जीवाणु रक्त में बढ़ नहीं सकता तथापि दूसरे सप्ताह में ज्वर कुछ न कुछ जारी रहता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि आंत की लसीका ग्रन्थियाँ, प्लीहा, यकृत, पित्ताशय आदि के सेलों के अंदर जहां Antibodies तथा श्वेत कण नहीं पहुंच पाते यह जीवाणु वृद्धि करता रहता है/ फिर इनके नष्ट होने पर इनके अंदर से जो विष (Endotoxin) निकल कर रक्त में फैलता है उसके कारण इस रोग के लक्षण होते हैं।

अर्थात् पहले तो इस जीवाणु की विष के विपरीत आंतों में श्लैष्मिक शोथ (Catarrh) होता है जिससे रोगी को बेचैनी तथा बुखार रहता है। फिर इस जीवाणु के विरोध में उत्पन्न (Bacteriolysin) से जब यह नष्ट होता है तब इससे उत्पन्न Endotoxin के मस्तिष्क पर

दुष्प्रभाव से तन्द्रा, मोह,आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आंत की लसीका ग्रन्थियों में शोथ भाव होकर वहां की Submucous तह नंगी हो जाती है। यह भी क्षत हो जाय तो वहां पर चिपकाव किसी रक्त वाहिनी के क्षत हो जाने से इस रोग में रक्तातिसार का लक्षण हो जाता है। इसके बाद वहां की मांस मय स्तर और फिर उसके बाहिर की Peritoneum की तह भी क्षत हो जाय तो छिद्रोदर (Perforation) का उपद्रव हो जाता है। जो क्षुद्रान्त्र के निम्न भाग में हुआ करता है।

अस्थि मज्जा में इस जीवाणु की वृद्धि से वहां श्वेत कणों की उत्पत्ती कम हो जाती है (Leucopenia)। स्नायु नाड़ियों की इस रोग के विष के दुष्प्रभाव से शक्ति गिर जाती है जिससे वहां संक्रमण होकर कास का लक्षण हो जाता है। हृदय मांस की प्राण शक्ति भी इस रोग के विष से कम हो जाती है जिससे इसमें वसीयता (Fatty तथा Granular-Degen:) हो जाती है। इससे फुफुस में भी रक्ताधिक्य (Hypostatic Congestin) हो जाता है। धमनियों की भी शक्ति घट जाती है जिससे उन का रक्त भार गिर जाता है। सिराओं की प्राण शक्ति के कम हो जाने से Femoral Vein में विशेषत: बांई ओर की जांघ की सिरा में घनरोध (Thrombasis) हो जाता है। वृक्कों के सैलों पर इस विष के दुष्प्रभाव से धूमिलता (Cloudy Swelling) हो जाती है।

आंत्र ज्वर के लक्षण :-

रोग के संक्रमण के १२ दिन के बाद इस रोग के लक्षण व्यक्त होते हैं। इस बीच (Incubation Period) में शरीर में आलस्य, सिर दर्द, अरुचि, रात को भयंकर स्वप्नों से निद्रा भंग होने के पूर्व रूप होते हैं। इनके बाद शरीर का तापमान स्वल्प सा बढ़ता है। सिर दर्द, अन्नारुचि, कार्य करने में अशक्ति के लक्षण रहते हैं तो भी रोगी गिरता पड़ता अपना कार्य किये जाता है। पर दो तीन दिन में उसे शैया शायी होना पड़ता है। देखने से पता लगता है कि उसे हर समय ज्वर रहता है जो प्रति सांयकाल प्रथम सांयकाल से ऊंचा होता जाता है। प्रति प्रात: यह ज्वर कुछ उतरता तो है पर प्रथम दिन की प्रात: की अपेक्षा कम उतरता है। इस प्रकार बढ़ता बढ़ता ज्वर क्रमश: एक सप्ताह के अंत तक १०२ डिग्री फारेनहाईट के लगभग तक पहुंच जाता है। देखने से रोगी में आलस्य, तन्द्रालुता, और मांस शैथिल्य (Prostration) के लक्षण विशेष होते हैं। यद्यपि रोगी की मति विधि और बुद्धि में मंदता आई हुई होती है। दिन में तो वह पड़ा सोया रहता है। पर रात्रि के समय शान्ति से नहीं सोता। प्रत्युत मंद मंद प्रलाप करता रहता है। रोगी में Meningismus के कारण सिर दर्द तथा निद्रालुता के लक्षण होते हैं। परीक्षा करने पर उसका पेट कुछ अफारा हुआ

होता है। तथा स्पर्श में अधिक गर्म होता है। पेट के निम्न दाहिने भाग (Caecum) पर दबाने से गुड़गुड़ाहट की ध्वनि सुनती है तथा रोगी को वेदना भी प्रतीत होती है। रोगी को मल बंधा रहता है। इसकी जिह्वा मैली, शुष्क होती है। जिह्वा के किनारे लाल होते हैं। ओष्ठ और त्वचा भी शुष्क होते हैं। पिपासा अधिक रहती है। नाड़ी, ज्वर के कारण यद्यपि देखने में भरी हुई मालूम होती है। पर दबाने से शीघ्रता से दब जाती है। ज्वर के कारण तीव्र गति होती है पर जितना तापमान की वृद्धि होती है उस मात्रा में इसकी गति में वृद्धि नहीं होती। साधारणतः ९८ तापमान में यह ७० होती है। ९९ में ८०, १०० में ९०, १०१ में १०० तथा १०३ में १२० हुआ करती है। परंतु इस रोग में १०३ तापमान में भी नाड़ी गति ९० प्रति मिनट के लगभग होती है। धमनी का भार (Tension) कम होता है। ज्वर के कारण हृदय प्रबलता से रक्त फेंकता है। अतः नाड़ी सर्प गति की (Dicrotic) प्रतीत होती है। रोगी की श्वास गति भी कुछ तीव्र होती है। प्लीहा पसलियों से एक आधा अंगुल नीचे बढ़ी हुई होती है। परंतु कठोर न होकर मृदु होती है। मूत्र मात्रा में थोड़ा हो जाता है, गहरे रंग का तथा वृक्कों पर इस रोग का विशेष प्रभाव हो जाने पर अल्बुमिन से युक्त होता है। रक्त की परीक्षा करने पर इसमें श्वेत कणों (Leucocytes) की संख्या कम पाई जाती है, विशेषतः Polymorphs कम होते हैं। यह संख्या प्रति क्यूबिक मिलिमीटर में ४,५ हजार के लगभग होती है।

प्रथम सप्ताह के अन्त में इस रोग में पेट तथा छाती की त्वचा पर मोती सदृश सूक्ष्म सूक्ष्म दाने स्वेद ग्रन्थियों के मुख पर फफोले (Sudaminal Vesicles) के रूप में निकलते हैं जो इस रोग के विशेष सूचक लक्षण होते हैं। यूरोपियन व्यक्तियों में से सूक्ष्म दो मिलिमीटर के लगभग व्यास के कुछ उठे हुये, रक्त वर्ण कोठों (Rose Spots) के रूप में निकलते हैं। त्वचा की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों में इस रोग के जीवाणुओं के अवरोध (Emboli) के कारण वहां रक्त के संचित हो जाने से ये कोठ निकलते हैं।

इस रोग की द्वितीय अवस्था को व्रणावस्था (Stage of Ulceration) या रोग की पूर्णावस्था कहते हैं। इस अवस्था में रोग के द्वितीय सप्ताह में ज्वर उच्चतम डिग्री १०३ फारनहाइट के लगभग तक पहुंच जाता है। प्रातःकाल इतना ही जितना की रक्तस्थावस्था में कम हुआ करता है, कम हो जाता है। रोगी अधिक तन्द्रालु, शिथिल और उदासीन हो जाता है। इसकी सर्व मांस पेशियों में अधिक शिथिलता बढ़ जाती है। शिथिलता के अतिरिक्त हरे, पीले से रंग के पतले अतिसार दिन में कई बार होने लगते हैं। जो भारतीय

प्रतिक्रिया के तथा दुर्गन्धयुक्त होते हैं। पेट में अफारा विशेष रहता है। जिह्वा शुष्क तथा मलिन ही होती है। नाड़ी निर्बल और कम दबाव की होती है। मिनट में १२० के लगभग होती है। रोगी को खांसी प्रारंभ से ही होती है। क्योंकि श्वास नालियों में शोथ रहता है। द्वितीय सप्ताह में यह शोथ कुछ नीचे फुफुस में भी प्रसार कर जाता है। रोगी के पीठ के भार पड़े रहने से वहां फुफुस में कुछ कफ द्रव संचित होता है जिससे वहां Rales सुनाई पड़ते हैं। इसी कारण श्वास संख्या भी बढ़ जाती है। प्लीहा तथा यकृत् दोनों में रक्त संचय के बढ़ जाने पर इनके आकार में कुछ वृद्धि हो जाती है जो स्पर्श से अनुभव होती है। वृक्कों के ग्रस्त होने से मूत्र की मात्रा कम, मूत्र का गुरुत्व अधिक हो जाता है, वह अम्लीय तथा अल्ब्युमिन से युक्त होता है। रात्रि को प्रलाप रहता है और नींद कम हो जाती है।

तृतीय सप्ताह में प्रायः रोगी की अवस्था सुधरने लगती है। ज्वर क्रमशः कम होने लगता है। प्रातः काल का तापमान अधिकाधिक नीचे गिरने लगता है। पेट का अफारा कम होने लगता, अतिसार कम होने लगते हैं, जिह्वा स्वच्छ होने लगती है, शोथ तथा तन्द्रालुता के लक्षण भी कम होने लगते हैं, मूत्र की मात्रा भी बढ़ने लगती है। मूत्र का बढ़ जाना रोग निवृत्ति का सूचक है।

यदि रोग अच्छा होने के स्थान पर तीव्र हो जाय तो तृतीय सप्ताह में भी रोगी अधिकाधिक शिथिल और उदासीन अवस्था में पीठ के भार असहाय सा पड़ा रहता है। बेहोशी में मंद मंद प्रलाप करता रहता है। नाड़ी तथा हृदय शब्द निर्बल तर हो जाते हैं जिससे हाथ पांव शीतल हो जाते हैं। उसकी अंगुलियों में कंप (Tremor) होता है अथवा वह अपनी अंगुलियों से बिस्तरे के कपड़ों को पकड़ने या उठाने का यत्न करता रहता है। (Carphologia) उसकी आँखें तो खुली रहती हैं पर शून्य में देख रही होती हैं। जिसे अर्ध चेतनावस्था (Coma:Vigil) कहते हैं। या रोगी बेहोशी में बिस्तरे पर ही मल मूत्र कर देता है या उसका पेट अफर जाता है। इसे परम शिथिलावस्था या Typhoid State कहा जाता है। यह शैथिल्य (Asthenia) रोगी के हृदय के शैथिल्य एवं मृत्यु का कारण बन सकता है।

इस रोगी के तृतीय सप्ताह के अन्त तथा चतुर्थ सप्ताह के प्रारंभ में क्रमशः रोग निवृत्ति (Convalescence) प्रारंभ हो जाती है। ज्वर प्रातः काल क्रमशः अधिकाधिक उतरने लगता है। प्रति सायं ज्वर की वृद्धि न्यून एवं न्यूनतर होती है। जिससे कुछ एक दिन में वह नार्मल हो जाती है। इस अवस्था में रोगी की नाड़ी और हृदय अति निर्बल होते हैं, यद्यपि रोग के लक्षण शांत होने लगते हैं। इस रोग निवृत्ति काल में जंघा में सिरा शोथ (Phlebitis) का उपद्रव कभी कभी होता है। इस रोग में रोग निवृत्ति काल तीन चार सप्ताह के लगभग का होता है। क्योंकि इसमें आन्त्र के व्रणों का रोपण हो रहा

होता है। इसलिये भोजन संबंधी पथ्य का ध्यान रखना आवश्यक पड़ता है।

एक सप्ताह तक ज्वर के उतरे रहने के बाद कभी कभी इस ज्वर का पुनराक्रमण (Relapse) हो जाया करता है जिसमें उपर्युक्त रोग के लक्षण फिर एक मृदु रूप में हो जाते हैं। यह पुनराक्रमण एक सप्ताह के लगभग समय के लिये होता है।

उपमंथर ज्वर :- Paratyphoid:-

यह ज्वर प्रधानतया Salmonella Paratyphoid A. तथा B. के संक्रमण के कारण होता है। हमारे देश में यह Paratyphoid A. के कारण ही होता है। उपर्युक्त मंथर ज्वर से यह मिलता जुलता ज्वर है। इस जीवाणु के मुख द्वारा संक्रमण करने के लगभग १ सप्ताह बाद आरंभ होता है। दूषित पुरीष के संसर्ग में आये जल से ही प्रायः इसका संक्रमण होता है। यह ज्वर क्रमशः आरंभ न होकर विषम ज्वर के समान सहसा शीत के साथ चढ़ता है और दूसरे तीसरे दिन १०१ डिग्री तक या उच्चतम शिखर तक पहुंच जाता है। इसका प्रारम्भ बहुधा श्वास की तीव्रता के लक्षण के साथ होता है। अथवा बालक या नवयुवक को Broncho Pneumonia के होने का संदेह हो जाता है। सांय और प्रातः तापमानों में अंतर भी दो डिग्री के लगभग होता है अर्थात् इसका तापमान विषम ज्वर के तापमान से मिलता जुलता होता है जो दो सप्ताह के अंत में क्रमशः उतर जाता है। ज्वर चढ़ते समय तथा बाद में भी रोगी बालक को शाखाओं में कमर में तथा मांस पेशियों में दर्द की शिकायत रहती है।

परीक्षा करने पर बालक या नवयुवक का पेट अफरा हुआ होता है। उसे प्रायः मल बंधा रहता है। उसकी छाती पेट आदि में त्वचा पर मोती के से दाने प्रभूत मात्रा में निकल आते हैं जो प्रथम सप्ताह के अन्त में स्पष्ट हो जाते हैं। ये दाने साधारण मन्थर ज्वर के दानों की अपेक्षा कुछ बड़े होते हैं। नाड़ी की गति तापमान की अपेक्षा मंद होती है। धमनी भार भी कम होता है।

भेदक लक्षण :-

ज्वर क्रमशः हो सिर दर्द, या हल्के नासा रक्तस्राव या खांसी या गलकंठ और अरुचि के लक्षणों के साथ आरंभ होकर चार पांच दिन तक गम्भीर न हो, रोगी शिथिल और उदासीन होकर बिस्तर पर पड़ा रहे, पेट और छाती पर मोतीझारा हो, जिह्वा श्वेत, मलिन हो, किनारों पर रक्त वर्ण हो, नाड़ी की गति तापमान की अपेक्षा मंद हो, पेट में न्यूनाधिक अफारा हो, प्लीहा कुछ बढ़ी हुई पर स्पर्श में मृदु हो, तो मंथर ज्वर का संदेह करना चाहिये।

संतत विषम ज्वर (Malignant Malaria) इसका संदेह हो

सकता है परन्तु संतत विषम ज्वर में प्रातः और सांय के तापमानों में अंतर अधिक होता है। उपमंथर ज्वर (Paratyphoid) में भी प्रातः सांय के तापमानों में अंतर अधिक ही होता है। इसमें रोगी को घुटघुटा लगती है। इसमें अन्न के लिये पूर्ण अरुचि रहती है। इसमें मुख विवर्ण या पांडुर तथा नेत्र कुछ पीतिमा से युक्त होते हैं। मूत्र भी गहरे रंग का होता है। इस रोग में मुख रक्त वर्ण रहता है, नेत्र शुभ्र, श्वेत वर्ण होते हैं। इसमें वमन या पीतिमा युक्त वमन होती या उबकाई आती है। इस रोग में यह लक्षण नहीं होता। इस रोग में नाड़ी तीव्र होती है। इस रोग में तापमान की अपेक्षा वह मंद होती है।

तीव्र रूप में होने वाले क्षय ज्वर से भी मंथर ज्वर का संदेह होता है। परंतु इस रोग में रोगी के प्रातः सांय के तापमानों में अंतर अधिक होता है। नाड़ी गति भी तापमान की अपेक्षा तीव्र तर होती है। क्षय के कारण इस रोग में रोगी का मांस शुष्क हो जाता है जिससे रोगी अधिक कृश दीखता है। मन्थर ज्वर में रोगी इतना कृश और शुष्क नहीं होता। क्षय में श्वास गति भी अधिक होती है तथा श्वास कृच्छ्रता भी होती है। इस रोग में रोगी के माथे पर स्वेद दीखता है। इस रोग में ये लक्षण नहीं होते। क्षय ज्वर में ज्वर की अवधि नहीं होती। वह २१ दिनों के बाद भी रहता है। क्षयोदर रोग (Tubercular Peritonitis) में जलोदर (Ascites) होता है। जिससे इस रोग का संदेह भी दूर हो जाता है। संक्रामक मस्तिष्क ज्वर या क्षय जनित मस्तिष्क ज्वर (Cerebrospinal Fever, Tuberculous Meningitis) से भी इस रोग का भ्रम हो सकता है परंतु इन रोगों में वमन होने और अंगों में आक्षेप होने के लक्षण होते हैं तथा कंठ कुब्जता या सिर के पीछे की ओर अकड़ जाने का लक्षण होता है। इस रोग में ये लक्षण नहीं होते तथा इस रोग में रोगी बालक का पेट उभरा हुआ न होकर पिचका हुआ होता है। इस रोग में रोगी बालक की स्थिति भी एक विशेष प्रकार की होती है अर्थात् वह दोनों टांगों को पेट पर समेट कर एक बाजू पर पड़ा रहता है और प्रकाश की ओर किसी प्रकार की छेड़ छाड़ को सहन नहीं करता। पर इस रोग में रोगी पीठ के भार सीधा पड़ा रहता है तथा उदासीन रहता है।

शरीर में कहीं पर पूय भाव होने से अर्थात् फुफ्फुसावरण में पूय उत्पन्न हो जाने से या गर्भाशय में पित्ताशय में पूय भाव होने से ज्वर हो तो भी मंथर ज्वर का संदेह हो सकता है। परंतु इन में कंप होकर ज्वर चढ़ता है तथा स्वेद आकर उतरता या कम होता है। इनमें श्वेत कण वृद्धि (Leucocytosis) का लक्षण भी होता है। इस रोग में ये लक्षण नहीं होते।

<u>मंथर ज्वर चिकित्सा :-</u>

<u>आहार :</u>

इस रोग में रोगी अति कृश न हो जाय इसलिये कुछ लोग २,३ हजार कैलोरीज देने वाला आहार देते रहते हैं। इससे रोगी दुर्बल नहीं होता। परंतु इस रोग में आंत रुग्ण होती है इसलिये उनमें भोजन संबंधी फोक (Residue) अधिक नहीं जाने देना चाहिये। इसलिये उचित है रोगी को दिन भर में १, १½ सेर के लगभग गाय का दूध दिन भर में ४ औंस ग्लूकोज मिलाकर दिया जाय। ४,५ औंस दूध प्रति दो घंटे बाद प्रातः ७ बजे से सांय ६ बजे तक सात बार दे दिया जा सकता है। रात को भी जब रोगी जागे,एक बार इतना ही दूध दे दिया जाय। इस प्रकार सेर सवा सेर दूध उसे मिल जाता है। दूध की फुटकियां बड़ी बड़ी न बनें और आंत के लिये विक्षोभक न हो उसके लिये १ औंस दूध में थोड़ा जौ का पानी मिला सकते हैं या २ ग्रेन सोडियम साइट्रेट मिला कर दे सकते हैं। या दूध को Reptonise करके दे दो। एक सेर दूध से ६००,७०० कैलोरीज तथा ८,१० चम्मच खांड से ४०० कैलोरीज शरीर को मिलती हैं। दूध के समयों के बीच में रोगी को उबाल कर ठंडा किया जल अकेला या ५ प्रतिशतक ग्लूकोज १० छटांक में १ औंस ग्लूकोज (जो लगभग १०० कैलोरीज देता है) मिलाकर आधा आधा पाव करके दो बार दे देना चाहिये। जिससे दिन भर में उसके अंदर दो सेर जल चला जाय। ज्वर में स्वेद मूत्र आदि के प्रवर्तन के लिये इतने जल का देना आवश्यक होता है। ग्लूकोज के साथ जल में निम्बू का रस भी मिला कर दे सकते हैं। इस प्रकार ज्वरावस्था में रोगी के अंदर लगभग एक हजार कैलोरीज का आहार पहुंच जाता है। यदि अफारा अधिक न हो तो मौसमी का रस या अंगूर का रस एक एक छटांक की मात्रा में दिन में दो बार दिया जा सकता है। ये सब आहार फीडिंग कप के द्वारा देने चाहियें। ज्वर के उतरने पर दूध की मात्रा दो ढाई सेर कर देनी चाहिये। रोगी दिन में दो तीन सेर जल या ग्लूकोज जल न लेवे तो ज्वर जनित विषों का मूत्र द्वारा निर्हरण करने के उद्देश से ४,५ पाइंट ५ प्रतिशतक ग्लूकोज वाला नार्मल सेलाइन जल बून्द बूंद करके शिरा द्वारा दे देना चाहिये।

<u>औषध चिकित्सा :- Chloramphenicol (Chloromycetin 1947):-</u>

इस रोग के लिये इस समय एक नामी हुई औषध है जो २५० मिलिग्राम के कैप्सूल के रूप में मिलती है। मुख के द्वारा देने से दो घंटे के अंदर अंदर सारे शरीर में प्रसार कर जाती है। यहां तक कि पित्त और Cerebrospinal Fluid में भी पर्याप्त मात्रा में संचित हो जाती है और ६,७ घंटे के बाद अधिक मूत्र द्वारा निकल जाती है। शरीर के प्रति सेर भार के पीछे यदि यह ५० मिलिग्राम की मात्रा में दी जाय तो शरीर में इस औषध का इतना संचय हो जाता है कि उसमें Typhoid Bacillus बढ़ नहीं सकता। अर्थात् दिन भर में २,३ ग्राम यह औषध शरीर में चली जाय तो एक दिन के

बाद रोगी की वृद्धि रुक जाती है। दूसरे शब्दों में चार चार घंटे बाद दो दो गोली इस औषध की दे दी जाये तो शरीर में ३ ग्राम मात्रा इसकी पहुंच जाती है अथवा प्रति तीन घंटे बाद एक एक गोली देते हुये २४ घंटों में ८ गोलियां दे दें। जब तक ज्वर न उतर जाय तब तक दिन में ८ से १२ गोलियां देते रहना चाहिये। तीसरे दिन तक कुल १२,१६ गोलियां देने पर ज्वर उतर जाता है। जिसके बाद १½ ग्राम औषधि या ६ गोलियां प्रति दिन दो चार दिन तक देते रहने से ज्वर के पुनरावर्तन का भय नहीं रहता। यह औषध केवल जीवाणुओं को निष्क्रिय करने वाली (Bactriostatic है। इनके लिये घातक नहीं है। अतः रोगी की अन्य चिकित्सा या इसकी यथावत् परिचर्या जारी रखनी चाहिये। ताकि औषधि बंद करने पर फिर जीवाणुओं को रोकने करने की भूमि न मिले। अर्थात् रोगी को ज्वर उतर जाने पर भी १५ दिन तक शैयाशायी होकर ही रहना चाहिये ताकि आन्त्र गत व्रण सर्वथा ठीक हो जाये।

बालकों के लिये दिन में ४ कैप्सूल तब तक दें जब तक ज्वर न उतरे। जो बालक कैप्सूल नहीं निगल सकते उनके लिये एक कैप्सूल को तोड़कर दुगुनी मात्रा बूरे में मिला कर कुछ जल मिलाकर चम्मच से उसे गले में डाल दें। खांड से इसका कड़वा पन कुछ छिप जाता है। बाजार में Chloromycetin-Palmitate द्रव रूप में ६० सी.सी. की शीशियों में मिलता है जिसके ४ सी.सी. में १२५ मिलिग्राम औषध होती है। बच्चे के प्रति सेर भार के पीछे भी इस औषधि की ३०,५० मिलिग्राम दैनिक मात्रा है। इन गोलियों के प्रयोग के समय रोगी को Vitamin B.Complex की गोलियां या इसके सूची वेध मांस द्वारा देते रहना चाहिये।

इस रोग के प्रारंभ में मलबंध रहता है। यह अधिक हो तो Calomel ¼ ग्रेन, Pulv Rhei २ ग्रेन, Soda-Bi-Carb: ६ ग्रेन की एक पुड़ी आठ आठ घंटे के बाद तीन चार बार दे सकते हैं। इस रोग के तृतीय सप्ताह में मलबंध हो तो ४ औंस साबुन वाले जल में २ औंस ग्लिसरीन डाल कर अनीमा सी रिंज से धीरे धीरे इसकी बस्ति कर देने से मल शुद्धि हो जाती है।

रक्तातिसार के लिये आहार सर्वथा बंद करके ठंडा जल घूंट घूंट देना चाहिये तथा निचले दाहिने पेट पर अर्थात् (Right Iliacfossa) हल्के हल्के बरफ की टकोर करनी चाहिये। मार्फीन ⅙ ग्रेन, अट्रोपिन सल्फेट 1/60 ग्रेन का सूची वेध रक्त रोधक होता है। Menaphthone १० मिलि के मांस द्वारा ८,८ घंटे बाद देने से भी रक्तावरोध होता है। इसके साथ Cal:Glucon: ५ सी.सी. भी दिला सकते हैं। रोग के पश्चात होने से जंघा शोथ Phlebitis हो जाय तो टांग को तकिये पर ऐसा स्थिर रखें कि वह हिले नहीं तथा

उस पर गर्म बोतलों से सेक देना चाहिये। दो तीन सप्ताह बाद हल्की हल्की मालिश कर सकते हैं। इससे पहले मालिश नहीं करनी चाहिये।

रोग रोधक चिकित्सा :-

मंथर ज्वर कभी कभी छात्रावासों में फैल जाता है तब स्वस्थ व्यक्तियों को इस रोग से बचाने के लिये T.A.B.Vaccine जिसके १ सी॰सी॰ में १ हजार मिलियन Salmonella Typhi; ७० मिलियन, Paratyphoid तथा दोनों होते हैं। प्रथम ½ सी॰सी॰ की मात्रा में और फिर १५ दिन बाद १ सी॰सी॰ की मात्रा में त्वचा द्वारा से दिया जाता है। इस सूची वेध से लगभग २ वर्ष तक फिर इस रोग के होने का भय नहीं रहता। इस सूची वेध के बाद व्यक्ति को दो दिन सिर दर्द और अंगों में दर्द के साथ मंद ज्वर होता है। इसलिये उसे एक दो दिन विश्राम करना चाहिये।

आयुर्वेद में मंथर ज्वर या तन्द्रिक ज्वर :-

उस आंत्र में विशेषत: वात दोष या कफ दोष की वृद्धि हो, उसकी प्राण शक्ति भी क्षीण हो, अर्थात् वहां वायु दोष की वृद्धि हो, ऐसी अवस्था में वहां आन्त्र ज्वर जीवाणु का संक्रमण हो जाय तो वह सुगमता से वहां रोपण कर जाता है। फिर उसके विपरीत आंत में कफ धातु, वायु धातु, तथा पित्त धातु की जो प्रबल प्रतिक्रिया होती है उसके परिणाम रूप यह रोग उत्पन्न होता है। अर्थात् कफ की श्लेष्म शोथात्मक प्रतिक्रिया, वायु की चेष्टात्मक प्रतिक्रिया, तथा पित्त की पाकात्मक प्रतिक्रिया से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। साधारणत: इसमें कफ प्रकोप के लक्षण ही विशेष होते हैं। वायु प्रकोप विशेष हो अर्थात् शरीर की प्राण शक्ति अधिक निर्बल हो जाय तथा पित्त की पाकात्मक प्रतिक्रिया विशेष हो तो यह रोग तीव्र रूप में होता है।

सामान्यत: इस रोग में रोगी की कफ वात शामक चिकित्सा होनी चाहिये। अर्थात् दीपन पाचन तथा कफघ्न औषधियों का प्रयोग होना चाहिये। ~~साधारणत:~~ संजीवनी वटी २ रत्ती में मुक्ता ½ रत्ती या कस्तूरी भी हो तो मुक्ति, जहर मोहरा पिष्टी १, १ रत्ती मिला कर दिन में ३, ४ बार देते रहने से रोग शांत रहता है। पीने के लिये उबाल कर ठंडा किया या षडंगोदक नामक जल देना चाहिये। ।। यो० र० ।।,

मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर :- Cerebrospinal Fever, Meningococcal Meningitis:-

मस्तिष्कावरण तथा मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव :-

मस्तिष्क तथा सुषुम्ना पर सट कर चढ़े हुये आवरण को Piamater (Tender Cover) तथा ढीले ढीले चढ़े हुये आवरण को Arachnoid-(Spider Weblike) Mater कहते हैं। इन दोनों के बीच स्वल्प सा अवकाश

अवकाश होता है। जिसे Subarachnoid Space कहते हैं। इस अवकाश में एक द्रव रहता है जिसे मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव (Cerebrospinal Fluid) कहते हैं। इस द्रव की उत्पत्ति मस्तिष्क गोलार्धों अर्थात् (Cerebral Hemispheres के आभ्यंतर एवं निम्न भागों में मध्य रेखा के दोनों ओर विद्यमान Lateral-Ventricles में जो कि Foramen of Monro के द्वारा दोनों Thalami के बीच में स्थित तीसरे Ventricles से संबंधित रहते हैं, होती है। इन Ventricles में एक रक्त वाहिनियों का जाल रहता है। जिसे Choroid Plexus कहते हैं। इससे से एक द्रव निकल निकल कर Ventricles में भरता रहता है। तीसरा Ventricle नीचे एक सूक्ष्म प्रणाली Sylvian-Aqueduct के द्वारा Pons और Medulla के ऊपर के भाग के पीछे तथा Cerebellum के आगे विद्यमान चौथे Ventricle से संबंधित रहता है। चौथा Ventricle नीचे सुषुम्ना के मध्य में विद्यमान प्रणाली Spinal Canal. के साथ संबंधित है। इस प्रकार यह मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव Ventricles में उत्पन्न होकर नीचे Spinal Canal तक चला जाता है। इस प्रकार मस्तिष्क और सुषुम्ना के अंदर की ओर यह द्रव रहता है।

चतुर्थ Ventricles की छत में विद्यमान दो छिद्रों में से जिन्हें Foramen of Majendii तथा Foramen of Luschka कहते हैं, यह द्रव Subarachnoid Space के साथ संबंधित रहता है अर्थात् वहां से यह द्रव मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के चारों ओर छाये हुये Subarachnoid Space में जाता रहता है। जहां से यह द्रव Arachnoid के Villi के द्वारा Cranial Venous Sinuses अर्थात् दृढ़तानिकाओं के अंदर Duramater में विद्यमान शिराओं में विलीन होता रहता है। इस प्रकार यह मस्तिष्क तनिक द्रव तनिक ऐसा मस्तिष्क और सुषुम्ना के अन्दर तथा बाहर दोनों ओर व्याप्त होकर उनका रक्षण करता तथा संभवतः उनके मलों को लेकर शिराओं में डालता रहता है। शरीर में इस द्रव की मात्रा १५ सी०सी० के लगभग होती है तथा यह Plasma से मिलता जुलता है। इसके प्रति १०० सी०सी० में १०,३० मिलिग्राम प्रोटीन ७००,७५ मिलिग्राम Chlorides ५०,८० मिलिग्राम ग्लूकोज तथा ३० मिलिग्राम यूरिया होता है। साधारणतः इसमें सेल नहीं होते। प्रति घन मिलीमीटर में २,४ Lymphocytes मिल जाते हैं। इस प्रकार यह द्रव मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले मलों को लेकर उन्हें बाहिर करने का कार्य करता है। एवं उसका रक्षण होता है।

कारण :-

मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के सूक्ष्म आवरणों (Pia और Arachn-oid.) में शोथ हो जाय तो उसे मस्तिष्क सुषुम्नावरण शोथ (Meningitis).

कहते हैं। यह शोथ किसी जीवाणु के संक्रमण से हो सकता है। पर जब यह Meningococci के संक्रमण से होता है तब इसे Meningococcal Meningitis कहते हैं। यह एक तीव्र रूप का ज्वर है जो विशेषतः बालकों में पाया जाता है। तथा एक संक्रामक ज्वर है और कभी कभी प्रबल रूप में फैलता भी है। पर साधारणतः इक्के-दुक्के बालकों में पाया जाता है। परिवार में एक से अधिक बालकों को नहीं होता क्योंकि यह रोग प्रत्यक्ष या सीधा संक्रामक न होकर अप्रत्यक्ष रूप से संक्रामक है अर्थात् इस रोग के रोगी के खांसने छींकने से दूसरे बालकों के नासा पश्चिम प्रदेश में पहुंच जाता है। इसमें यह पनपने लगता है। बहुत से बालक जो रोगी के संपर्क में आते हैं, इस रोग जीवाणु के वाहक बन जाते हैं। स्वस्थ बालक तो इस जीवाणु का वाहक स्वल्प समय के लिये ही होता है, पर अस्वस्थ या दुर्बल गले वाला बालक इस रोग जीवाणु का वाहक कुछ काल तक रहता है। तथा इनमें यह जीवाणु प्रबलता से पनप सकता है। शीत काल के पिछले भाग या बसन्त काल में गले की अस्वस्थता विशेष रूप से हुआ करती है। अतः इस समय यह विशेषतः पाया जाता है। बन्द कमरों में इकट्ठे सोने वाले बच्चों में इस जीवाणु का संक्रमण सुगमता से हो जाता है। इस रोग के संक्रमण के कारण भूत जीवाणु को Meningococcus कहते हैं जो Gonococcus से मिलता जुलता Gramnegative Diplococcus है। शरीर के बाहिर शरीर की गर्मी से कम गर्मी में यह जीवित नहीं रह सकता। यह जीवाणु रोग वाहक व्यक्ति के तो नासा पश्चिम प्रदेश में तथा रोगी के Cerebro Spinal Fluid में मिलता है। अभिप्राय यह है, बहुतों के तो यह जीवाणु गले तक ही संक्रमण करता है। कुछ एक में वहां से रक्त में भी संक्रमण कर जाता और किसी किसी के रक्त में से मस्तिष्कावरण में भी संक्रमण कर जाता है।

सम्प्राप्ति:-

नासा पश्चिम प्रदेश या गले के ऊर्ध्व भाग में जब यह पर्याप्त वृद्धि कर लेता है तब यदि बालक के रक्त में रोग रोधक शक्ति कम हो तब यह जीवाणु रक्त में भी संचार कर जाता है अर्थात् जिसे अब तक Meningococcal Naso-pharyngitis. था अब उसे Maningococcal Septicaemia: भी हो जाता है। रक्त में से यह मस्तिष्क पर ही क्यों स्थान संचय करता है। यह स्पष्ट नहीं पर मस्तिष्क झिल्ली में पहिले इसकी प्रतिरोधक शक्ति के न्यून हो जाने से ही यह वहां संक्रमण करके शोथ करने लगता है/ ऐसा प्रतीत होता है बहुत संभवतः यह Ventric-les के अंदर चित्रभाग रक्तवाहिनी जाल (Choro Plexus) में शोथ करता है। यह नाड़ी जाल रक्त पूर्ण (Hyperaemic) हो जाता है। इसमें से यह जीवाणु Ventricles में प्रवेश कर जाता है जिससे इसकी श्लेष्म कला (Ependyma) में शोथ हो जाता है। वहां से कुछ या छिद्र के द्वारा यह जीवाणु चतुर्थ Ventricle ~~में प्रवेश कर जाता है। जिससे~~

में जाता है। वहाँ से एक ओर तो नीचे Spinal Canal में प्रवेश कर जाता है। दूसरी ओर Foramen of Majendii तथा Luschka से यह Subarachnoid Space (मस्तिष्क सुषुम्ना आवरण मध्य प्रदेश) में संक्रमण करके सम्पूर्ण मस्तिष्क सुषुम्ना आवरण में शोथ का अर्थात् Leptomeningitis का कारण बन जाता है। मस्तिष्क के इन मृदु आवरणों की रक्त वाहिनियाँ रक्त से भर जाती हैं। इन आवरणों में तथा Ventricles में शोथ के कारण इनमें से एक स्राव (Exudate) उत्पन्न होकर इनमें विद्यमान द्रव की मात्रा को अत्यधिक बढ़ा देता है जिससे इस रोग में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव (Cerebrospinal Fluid) धुंधला सा तो हो जाता है जिसका कारण इसमें Polymorpbheuclear Leucocytes. की वृद्धि है/ पर यह मात्रा में भी अधिक हो जाता है।
मस्तिष्क तल (Base) पर Pons,Medulla के आस पास तथा Cerebellum के निम्न पृष्ठ पर विद्यमान बड़े बड़े Subarachnoid प्रदेशों में जिन्हें Cisterns(Medulla Oblongeta)तथा Cerebellum के बीच Cisterna-magna,Pons. के सामने Cisterna,Ponta तथा दोनों Temporal Lobes के बीच में Cisterna Inter Peducularis कहते हैं/ यह द्रव अधिक मात्रा में भर जाता है। अतएव इस रोग में सिर के अंदर का भार (Intracranial Pressure) बढ़ जाता है। जिससे इस रोग में मस्तिष्क के अंदर अधिक जल भर जाने से उत्पन्न Hydrocephalus रोग की विकृतियाँ होती हैं। इस रोग में मस्तिष्क सुषुम्ना आवरणों में शोथ हो जाने का लक्षण तो होता है पर मस्तिष्क के अंदर शोथ नहीं होता। मस्तिष्कावरण में शोथ हो जाने से मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव के शिराओं में वापिस जाने का मार्ग भी संभवतः अवरुद्ध हो जाता है जिससे इस द्रव की उत्पत्ति तो बढ़ जाती है पर इस द्रव का विलयन कम हो जाता है। परिणामतः मस्तिष्क के अंदर का भार बढ़ जाता है।

लक्षण :-

जीवाणु संक्रमण के पांच दिन के अंदर अंदर यह रोग आरंभ हो जाता है। (Incubation Period २,५ दिन तक का है) बालक को ज्वर सहसा शीत लग कर या कम्पन के साथ १०२,या १०३ डिग्री तक हो जाता है। सिर, कटि प्रदेश तथा जंघाओं में दर्द का लक्षण विशेष रहता है। इस दर्द के साथ वमन का लक्षण भी होता है। तीव्र ज्वर की यह अवस्था अथवा इस रोग की Septicaemic Stage एक दो दिन रहती है। जिससे यदि यह रोग संक्रामक रूप में न फैला हुआ हो तो इसका दूसरे तीव्र ज्वरों (Influenza,Malaria) आदि से भेद करना कठिन होता है।

परंतु तीसरे चौथे दिन मस्तिष्क सुषुम्ना आवरण में शोथ के सूचक लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। अर्थात् मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव के बढ़ जाने एवं सिर के

अंदर के भार के बढ़ जाने से एक तो सिर में भारी दर्द होता है जो सिर के पिछले भाग में विशेष होता है। इसी प्रकार सिर के अंदर के भार के बढ़ जाने से वमन भी इस रोग में जारी रहती है।

मस्तिष्क का एक कार्य संज्ञाओं के ग्रहण करने का होता है। इस रोग में मस्तिष्कावरण में शोथ होने से बालक के लिये सभी संज्ञायें विक्षोभक हो जाती हैं, अर्थात् इस रोग का रोगी अति असहन शील (Hyperaesthenic) हो जाता है। वह स्पर्श को या किसी प्रकार की छेड़ छाड़ को सहन नहीं करता। किसी प्रकार का शोर या प्रकाश उसके लिये असह्य होते हैं। वह कपड़ा लेकर एक पार्श्व पर सिमटा हुआ अन्धेरे में चुपचाप पड़ा रहना पसंद करता है अर्थात् दोनों ऊरुओं ऊरुओं को पेट पर और जांघों को जानु पर सकोड़ कर एक पार्श्व पर सिमट कर पड़ा होता है। स्वभाव में चिड़चिड़ा और क्रोधी हो जाता है।

मस्तिष्क का दूसरा कार्य चेष्टावाही सूत्रों के द्वारा चेष्टा का प्रजनन होता है। मस्तिष्कावरण में शोथ के कारण अथवा उसके विक्षुब्ध होने के कारण शरीर की चेष्टावाहिनियां विक्षुब्ध हो जाती हैं। ग्रीवा की चेष्टा वाहिनियों के विक्षुब्ध होने से (संभवतः Spinal Accessory के) ग्रीवा की मांस पेशियां तन जाती हैं जिससे सिर कुछ पीछे की ओर कुब्जित हो जाता है। जिस लक्षण की विशेषता से इस रोग को पहले काल में कंठ कुब्ज ज्वर कहते थे सिर को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर या आगे की ओर झुकाना चाहें तो ग्रीवा की यह स्तब्धता स्पष्ट हो जाती है। रोगी को पीठ पर लिटाकर उसका सिर आगे को झुकाना चाहें तो ऐसा करने पर उसके ऊरु पेट पर तथा जंघायें जानु पर संकुचित हो जाती हैं। (Brudzinski's Sign) पीठ की मांस पेशियों के तन जाने से न्यूनाधिक बाह्यायाम (Opisthotonos) का लक्षण भी इस रोग में रहता है। ऊरुओं के पीछे की मांसपेशियां अर्थात् (Biceps Femoris), Semitendinosus, Semimembrenosus) के तन जाने से जंघायें, जानु प्रदेशों पर संकुचित [रहती हैं जिससे टांगों को पेट पर ६० डिग्री तक संकुचित] करना असंभव होता है। अर्थात् ऊरुओं को पेट पर ६० डिग्री तक संकुचित करके जंघाओं को जानुओं पर पूरा फैलाना चाहें तो ऐसा करना कठिन होता है। (Kernig's Sign) कोष्ठ मांस पेशियों के संकुचित हो जाने या तन जाने से रोगी का पेट पिचका हुआ दीखता है जिसे Scaphoid Abdomen: अर्थात् नावाकृति कोष्ठ कहते हैं। Sphincters के संकुचित होने से मूत्रापरोध हो सकता है।

मस्तिष्कावरण में शोथ के कारण ऊर्ध्व चेष्टा सूत्रों (Upper Motor-Neurones) के रुग्ण हो जाने से Abdominal Reflexes लुप्त हो जाते हैं अर्थात् पेट पर हल्की खुजलाहट से पेट की मांस पेशियों में संकोच हो जाने का स्वाभाविक लक्षण इस रोग में लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार

Plantar Reflex भी लुप्त हो जाता है या विपरीत हो जाता है अर्थात् साधारणतः तलुए को खुजलाने से पैर की अंगुलियां, तलुए की तरफ झुकती हैं परंतु इस रोग में ऐसा नहीं होता, उल्टा अंगुलियां पाद पृष्ठ की ओर मुड़ती हैं। (Extensor Plantar Refle-x).

Medulla के आवरण में शोथ होने से इस रोग में तत्संबंधी लक्षण भी होते हैं अर्थात् श्वास केन्द्र (Respiratory Centre) तथा हृदय संबंधी केन्द्र (Cardiac Centre) के ऊपर विक्षोभक प्रभाव होने से श्वास विषमता तथा नाड़ी विषमता के लक्षण भी ~~इस रोग में~~ पाये जाते हैं। (Medulla में विद्यमान सिरा नियामक केन्द्र (Vasomotor Centre) के विक्षुब्ध होने से कभी कभी रोगी के मुख के रक्त वर्ण हो जाने का लक्षण होता है तथा रोगी की त्वचा पर नख से या पेन्सिल से दबाकर रेखा खींची जाय तो वहां लाल रंग की रेखा पड़ जाती है। जो एक मिनट तक बनी रहती है। (Taches Cerebrales) इसी प्रकार Sympathetic Centre के विक्षुब्ध होने से इस रोग में पुतलियां फैली हुई हो सकती हैं जिससे प्रकाश डालने पर वे मंदता से संकुचित होती हैं।

मस्तिष्क में रक्त का संचय होने से रोग के प्रारंभ काल में रोगी का मन विक्षुब्ध व बेचैन रहता है, प्रलाप तथा अनिद्रता के लक्षण रहते हैं। परंतु जब मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव अधिक बढ़ जाता है तब मस्तिष्क में विक्षोभ के स्थान अवसन्नता (Depression) उत्पन्न हो जाती है जिससे रोगी में तन्द्रा, निद्रा तथा मूर्छा के लक्षण दीखते हैं। शरीर मांस पेशियों में स्वच्छन्दता बढ़ जाती है। श्वास गति तीव्र एवं विषम होती है। रोगी का तापमान बढ़ा हुआ रहता है। एक सप्ताह के अंत तक रोगी की ऐसी अवस्था रहती है।

उचित चिकित्सा मिलने से और कभी कभी चिकित्सा के बिना भी रोगी ठीक होने लगे तो तापमान और प्रतिमिनट नाड़ी संख्या क्रमशः घटने लगती है। सिर दर्द, तन्द्रा, निद्रा के लक्षण भी क्रमशः घटते जाते हैं।

<u>उपद्रव :-</u>

Hydrocephalus:- Pia Arachnoid में शोथ की तीव्रता से अर्थात् उस Space या अवकाश के रुद्ध हो जाने से यह उपद्रव होता है। यदि इस रोग में ज्वर तीव्र हो, शरीर पर चकत्ते (Purpur ic Rash) निकल आयें, Broncho Pneumonia हो जाय अथवा प्रलाप, नाड़ी की तीव्रता, निद्रा, मूर्छा आदि लक्षण हों तो मस्तिष्क द्रव की वृद्धि (Hydrocephalus) का संदेह करना चाहिये, जो घातक होता है।

<u>परीक्षा :-</u>

रोगी के रक्त की परीक्षा करने से उसमें Polymorphonuclear Leucocytes १० से २० हजार प्रति घन मिलीमीटर में मिलते हैं।

मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव की परीक्षा करने पर वह Puscells के कारण धुंधला होता है। इसमें Polymorphonuclear Leucocytes बहुत अधिक पाये जाते हैं जिनके अंदर पड़े हुये Meningococci भी देखे जा सकते हैं। द्रव में प्रोटीन की मात्रा बढ़ी हुई होती है। ग्लूकोज इसमें लुप्त हो जाता है तथा Chrorides की मात्रा भी इसमें घट जाती है।

रोग विनिश्चय तथा भेदक लक्षण :-

विष जनित मस्तिष्क सुषुम्नावरण विक्षोभ (Meningiam) में जैसे कि तीव्र विषम ज्वर, मन्थर ज्वर आदि में होता है विष के दुष्प्रभाव से यह द्रव कुछ बढ़ जाता है। जिससे इनमें भी सिर दर्द का लक्षण होता है। परंतु इन रोगों में यह द्रव धुंधलापन, पूय युक्त तथा Polymorph नामक श्वेताणुओं से युक्त नहीं होता। मस्तिष्कावरण में शोथ के होने के लक्षण भी नहीं होते। इनमें सिर दर्द के साथ साथ प्रलाप का लक्षण नहीं होता। यदि दोनों साथ साथ नहीं होते। न ही इनमें ग्रीवा स्तब्धता एवं ऊर्ध्वाधिम पेशियों (Hamstrings) के स्तब्ध होने का लक्षण होता है। इसी प्रकार इनमें ज्वरारंभ में वमन हो सकती है, पर बाद में वमन जारी नहीं रहती पर इस रोग में तो बाद में भी वमन होती रहती है। रोगी की क्रोध शीलता, अवसन्न शीलता, अनिद्रता या निद्राशीलता के लक्षण विष जनित मस्तिष्कावरण विक्षोभ (Meningism) में भी हो सकते हैं। इसलिये इनको इस रोग का भेदक लक्षण नहीं कहा जाता।

श्लेष्म ज्वर (Influ:) से इसका संदेह हो सकता है पर इसमें फुफ्फुस शोथ (Pneumonia) के उपद्रव की अनुपस्थिति में ज्वर चौथे दिन के बाद नहीं रहता।

इसका संदेह मंथर ज्वर से हो सकता है पर वह धीरे धीरे आरंभ होता है। इसमें श्वेताणुवृद्धि (Leucocytosis) भी नहीं होता। Tuberculous Meningitis से इस ज्वर का संदेह हो सकता है। पर यह रोग भी धीरे धीरे बढ़ता है, इतना तीव्र नहीं होता, इसमें ज्वर भी मंद रहता है तथा दीर्घकाल तक रहता है। इसमें Abdominal Reflex लुप्त नहीं होता।

उपद्रव :-

इस रोग के शांत होने पर कभी कभी मस्तिष्क नाड़ियों संबंधी उपद्रव रह जाते हैं जैसे कि कभी कभी अष्टम मस्तिष्क नाड़ी के ग्रस्त होने से बधिरता का लक्षण चिरकाल के लिये रह जाता है। अथवा नेत्र संबंधी किसी नाड़ी जैसे छटी मस्तिष्क नाड़ी के रोग के कारण Squint का लक्षण रह जाता है। अथवा बालक की मानसिक शक्ति चिरकाल के लिये मंद हो जाती है। (Mental Deficienty)

चिकित्सा :-

रक्त तथा मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में Meningococcus

की वृद्धि को रोकने के लिये Sulphonamide उत्तम औषधि है। साधारणतः शरीर में जीवाणु की वृद्धि के लिये Paraaminobenzoic Acid की आवश्यकता होती है। सल्फोनेमाइड भी रासायनिक दृष्टि से Paroaminobenzene Sulphonamide है और उक्त द्रव्य से मिलता जुलता द्रव्य है। शरीर में पहुंचकर यह उक्त द्रव्य का प्रतिद्वन्दी हो जाता और उसका स्थान लेकर जीवाणु से मेल करके उसके पोषण को बंद कर देता है जो जीवाणु शेष बचते हैं वे Phagocytes तथा Anti Bodies के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। स्पष्ट है कि इस औषधि को पर्याप्त मात्रा में शरीर में पहुंचाना चाहिये।

इस रोग में Sulphadiazine या Sulphadiamidine-(Sulphamezathine) उत्तम औषधियां हैं। ०-१ वर्ष तक के बालक को प्रथम मात्रा आधा ग्राम की देकर फिर चौथाई ग्राम मात्रा ४,४ घंटे पर देनी चाहिये। १,२ वर्ष तक की आयु के बालक को प्रथम मात्रा इतनी ही देकर फिर आधा ग्राम की मात्रा इतनी बार देनी चाहिये। २,५ वर्ष के बालक को प्रथम मात्रा १ ग्राम की तथा बाद में .७५ ग्राम मात्रा तथा ५ वर्ष से ऊपर के बालक को प्रथम मात्रा २ ग्राम की देकर फिर ४,४ घंटे पर १ ग्राम की मात्रा दी जानी देनी चाहिये। इस प्रकार इस औषधि को ५,७ दिन देने से लाभ हो जाता है।

इसका कुछ अंश यकृत् में Acetyl Compound बन जाता है। जो कम घुलनशील होने से वृक्कों में रुक सकता है। इसलिये इसको घोल कर मूत्र से निकाल देने के लिये रोगी को यह औषधि Soda-Bi-Carb: तथा Sodium Cit: २०,४० ग्रेन के मिश्रण के अनुपात से दी जाती है। इस औषधि के देकर काल में इसे बाहिर करने के लिये रोगी को जल भी दिन भर में २,३ सेर पिला देना चाहिये। दूध भी ३,४ पाव Peptonised करके दिन भर में देना चाहिये।

उपर्युक्त औषधि के साथ Soluthiazole १ ग्राम की मात्रा में मांस द्वारा दिन में दो बार दिया जा सकता है।

यह औषधि न दी जा सकती हो तो बालक को Penicillin की प्रथम मात्रा १० लाख यूनिट की देकर ४,४ घंटे पर ५ लाख यूनिट की मात्रा मांस द्वारा दे देनी चाहिये। इसका कुछ अंश ही मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में जा पाता है।

सिर दर्द तथा उन्निद्रता के लिये सिर पर बर्फ रखें, Bromides के १० ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार देने से लाभ हो जाता है।

<u>वायुकोष में कफ युक्त ज्वर :-</u>

मस्तिष्कावरण में जीवाणुज शोथ से उत्पन्न होने वाले ज्वर को

कंठ कुब्ज ज्वर कहा जाता है। योग रत्नाकर कार के अनुसार इस शोथ से शिर:शूल, तन्द्रा,मूर्छा,प्रलाप,ज्वर,त्वचा पर रक्त की चकत्ते,कंठ कुब्जता आदि लक्षण होते है। इसने इसे कष्ट साध्य कहा है तथा इसकी दिन मर्यादा १३ दिन की कही है।

इस रोग के लिये योग रत्नाकर ने कटुकी,हरितकी,आमलकी,विभितकी, हरिद्रा,दारु हरिद्रा,इनके क्वाथ के साथ त्रिवृट के देने का विधान किया है। इस चिकित्सा मुख औषधि के अतिरिक्त,ग्रीवा पर जौंक के लगाकर कुछ रक्त निकलवाने तथा नासा द्वारा अपामार्ग बीज और पिप्पली चूर्ण के अथवा त्रिवृट और कटु तुम्बी के बीज के चूर्ण के नस्य देने का विधान किया है। इस ऊर्ध्व अध: शोधन चिकित्सा से इस रोग के जीवाणु की वृद्धि होनी बंद हो जाती है।

संक्रामक कास Pertussis तीव्र कास :- Whooping Cough:-

घनी बस्तियों में पांच वर्ष से छोटी आयु के बालकों,विशेषत: २,३ वर्षों से नीचे के शिशुओं में शीत काल तथा बसन्त काल में फैलने वाला यह न केवल दीर्घ रोग है पर कभी कभी घातक एवं महा उपद्रवकारी भी हो जाता है। इस रोग के होने के बाद Serum में इस रोग के विपरीत प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है,अत: यह रोग दुबारा नहीं होता।

रोग की प्रथम अवस्था में रोगी बालक के खांसने से जो उसके नाक, मुख से जो छींटे वायु मंडल में आते हैं उनके द्वारा यह रोग दूसरे बालकों में फैलता है। रोगी के मुख से निकले छींटों में Haemophilus Pertussis नामक एक ½ माईक्रोन लम्बा सा Gram Negalive Bacillus होता है जो श्वास नाली द्वारा प्रवेश करके दूसरे बालकों के श्वास स्थान में ही रोपण कर जाता है। रोगी के थूक में से लेकर इसे कंठ में प्रवेश करके उसमें भी इस रोग को उत्पन्न होते देखा गया है। १९०६ में Bordet ने इस जीवाणु का पहले पहल पता लगाया। रोगी के श्वास नाली की श्लेष्मकला पर यह जीवाणु प्रभूत मात्रा में रहता है। यह स्वयं रक्त में प्रवेश नहीं करता परंतु इसके विष (Endotoxin) से श्वास नालियों की श्लेष्म कला अथवा उसमें आई हुई Vagus Nerve की शाखायें विक्षोभ शील एवं निर्बल हो जाती हैं। जिससे थोड़े विक्षोभक कारण के होने पर भी कंठ तथा ऊपर ऊपर की श्वास नालियों में कास कारक वेग (Paroxism) उत्पन्न हो जाता है। अथवा उनमें एक स्तंभ (Spasm) उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण खांसी का दौरा होता है।

इस रोग में गले,कंठ,कंठ प्रणाली,श्वास नालियों की श्लेष्म कलाओं में श्लैष्मिक शोथ (Catarrh) रहता है। रोग के प्रारंभ में इन श्लेष्म कलाओं पर Haemophilus Pertussis भी अत्यधिक संख्या में पाया जाता है। श्वास नालियों के आस पास के अवयवों (Peri-Bronchial Tissues में भी शोथ

होता है। निम्न स्वास नालियों में श्लेष्मा के कारण अवरोध हो जाने से इन स्वास नालियों से संबद्ध वायु कोष्ठक (Collapsed हो जाते हैं। (Atelectasis.) का लक्षण हो जाता है। जिसके कारण रक्त को आक्सिजन कम मिलती है। रक्त में कार्बन डाईआक्साइड के बढ़ जाने से अम्लीयता की वृद्धि (Acidosis) भी हो जाती है।

लक्षण :-

रोग के संक्रमण के १२ या १४ दिन बाद मृदु ज्वर अर्थात् ९९ या १०० डिग्री के ज्वर के साथ खांसी का लक्षण आरंभ होता है। प्रारंभ में कुछ दिन यह खांसी रात्रि के समय ही उठती है फिर बढ़ते बढ़ते दिन में भी होने लगती है। खांसी के साथ बालक के मुख, नाक, तथा आंखों से कुछ श्लेष्म स्राव भी होता है। यह खांसी दो तीन दिन बाद भी घटने के स्थान पर बढ़ती जाय तो इस रोग का संदेह करना चाहिये। साधारण जुकाम तथा Influenza की खांसी इतनी देर तक नहीं रहती। इस रोग की यह अवस्था एक डेढ सप्ताह तक रहती है। इसे ज्वर युक्तकासावस्था (Febrile Catarrhal Stage) कहते हैं। इस अवस्था में यह रोग प्रबल संक्रामक होता है तथा इस अवस्था में श्वेत कणों की वृद्धि १५,२० हजार तक रहती है/ जिसमें Lymphocytes ७०,८० प्रतिशत होते हैं।

इसके बाद इस रोग की द्वितीय अवस्था जिसे ज्वर रहित कास वेगावस्था (Afebrile Paroxysmal Stage) कहते हैं आरंभ होती है। इस अवस्था में रोगी बालक को दिन रात में दो चार बार या १०,१५ बार कास के वेग (Paroxism) उठते हैं। प्रत्येक वेग को तीन भागों में बांट सकते हैं। अर्थात् वेग के प्रथम भाग में बालक एक छोटा सा अन्तः स्वास लेता है फिर दूसरे भाग में वह छोटी छोटी खांसियों का एक तांता सा बांधता है। जिसमें प्रत्येक अगली खांसी पहली खांसी की अपेक्षा गति में तीव्रतर तथा प्रबलता में भी तीव्रतर होती है। इसकी खांसियों का यह एक तांता आधा या १ मिनट तक चलता है। यहां तक कि इसके फेफड़ों में से सब हवा निकल जाती है। और इसका दम घुटता सा जाता है। इसके चेहरे तथा ग्रीवा की सिरायें नीले रक्त से भर जाती हैं। चेहरा फूलता जाता है। आंखें लाल हो जाती हैं। इसके बाद वेग का तीसरा भाग होता है। अर्थात् तुरंत ही रोगी बालक एक अंतः स्वास लेता है/ जिसके, स्तंभ (Spasm) के कारण कुछ कुछ बंद हुये Larynx में से गुजरने से हूप (Whoop) जैसी एक आवाज उत्पन्न होती है जिसके कारण इसे Whooping Cough कहते हैं। इस ऐसे हूप की आवाज वाले अन्तः स्वास के साथ यह कास का वेग (Paroxysm) समाप्त होता है। इस कास वेग के बाद

श्वास नाड़ियों में से चिपचिपी गाढ़ी तन्तु सदृश बलगम बाहिर निकलती है। खांसी के वेग के साथ कभी कभी आमाशय में विद्यमान आहार द्रव्य भी बाहिर आ जाता है। यह वेग का प्रारंभ भय से, भोजन लेने से, डांटने से या किसी प्रकार के विक्षोभक के कारण से श्वास मार्ग के सहसा विक्षुब्ध हो जाने से होता है। कास वेग के समय तो रोगी अति व्याकुल दीखता है। परंतु वेग के बाद फिर वह यथा पूर्व अपनी साधारण अवस्था में आ जाता है। एक सप्ताह तक तो वेगों की संख्या बढ़ती जाती है फिर दो सप्ताह तक न्यूनाधिक एक समान ही रहती है। और फिर वेगों की संख्या घटने लगती है। इस प्रकार २ सप्ताह तक तो ज्वर सहित कासावस्था रहती है और १ मास के लगभग ज्वर रहित कास वेगावस्था रहती है अर्थात् रोगी बालक ६ सप्ताह तक संक्रामक रहता है। जब दैनिक कास-वेग संख्या तथा तीव्रता में कम हो जाय तब इस रोग को ठीक होता हुआ समझना चाहिये।

छोटे शिशुओं में जब यह रोग प्रबल रूप में होता है तब Broncho Pneumonia होकर उनकी मृत्यु होती है। Secondary Infection होकर यह उपद्रव होता है। अनेकानेक सूक्ष्म श्वास नाड़ियों के श्लेष्म द्वारा अवरुद्ध हो जैसे Atelectasis (Pulmonary Collapse हो जाता है। इससे बालक के मस्तिष्क को आक्सिजन कम मिले तो आक्षेप (Convulsion) का उपद्रव भी हो जाता है।

चिकित्सा :-

रोगी बालक को ६ सप्ताह के लिये दूसरे बालकों से पृथक् रखना चाहिये। जब तक ज्वर युक्त कास की अवस्था रहती है तब तक उसे आराम से गर्म स्थान पर रखना चाहिये। Chloramphenicol प्रति सेर भार के पीछे ५० मिलिग्राम दैनिक मात्रा में उसे देना चाहिये। कुल दैनिक मात्रा को समान चार मात्राओं में बांटकर ६,६ घंटे बाद देना चाहिये। Chloromycetin Palmitatate के १ ड्राम में १२५ मिलि दवाई होती है, इसके देने से ज्वर तथा कास वेग क्रमशः कम होते जाते हैं परंतु अस्थि मज्जा (Marrow) पर इसका विषैला प्रभाव न होने पाय, इसके लिये इसे ५ दिन से अधिक नहीं दे सकते।

Aureomycin तथा Terramycin भी २५ से ५० मिलिग्राम प्रति सेर भार के पीछे प्रति दिन ५ दिन, इसी प्रकार चार बार विभक्त करके देने से लाभदायक होते हैं। इस प्रकार बालक को २५० मिलि मात्रा में इनमें से कोई भी चौबीस घंटे में ४ बार दी जा सकती है।

Streptomycin भी १ ग्राम मात्रा में मांस द्वारा दिन में चार बार, विभक्त करके दिया जाय तो भी लाभ होता है। इसका भी पांच दिन तक प्रयोग करना चाहिये।

संक्रामक कास रोग में क्षारों के प्रयोग से अवश्य कुछ लाभ होता है। इनके साथ कास शामक औषधियां भी दी जानी चाहिये। उदाहरण के तौर पर १ वर्ष के बालक को Potassium Bi-Carbonate ३ ग्रेन, Tincture Belladonna. १ बूंद, Vinum Ipecacuanha २ बूंद, Ephedrine Sulph. $\frac{१}{२}$ ग्रेन, Potassium Bromide १ ग्रेन, Phenazone $\frac{१}{२}$ ग्रेन, Syrup Tolu: १० बूंद, Pipperment Wet. २ ड्राम मिला कर दिन में तीन बार दे सकते हैं। $\frac{१}{२४}$ से $\frac{१}{८}$ ग्रेन तक Phenobarbitone के दिन में तीन बार चूर्ण में देने से खांसी के वेग घट जाते हैं। या Soda-Phenoba के $\frac{१}{१६}$, $\frac{१}{८}$ ग्रेन की मात्रा में प्रति दिन त्वचा द्वारा देने से भी लाभ होता है। बालक को १ पाइंट उबलते जल में १ ड्राम Tincture Benzoin डालकर उसकी भाफ भी देनी चाहिये। उसकी छाती पर तारपीन का स्नेह तैल भी मलना चाहिये। रोगी के Acidosis के हटाने के लिये उसे Dex-trose. १ ड्राम प्रतिदिन तीन बार देना चाहिये। Hyperimmune Human Serum २०-४० सी॰सी॰ या उससे अथवा Gamma Globulin ५-१० सी॰सी॰ मांस द्वारा प्रति दूसरे दिन चार बार देने से विशेष लाभ होता है। अच्छा होने पर बालक को Cod Liver Oil कुछ दिन देना चाहिये।

आयुर्वेद में संक्रामक कास रोग - काली खांसी :-

आगन्तु कारण से श्वास नाड़ियों में वायु का प्रकोप होकर वेगों में होने वाला यह बाल सुलभ एक कास रोग है जिसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इसकी चिकित्सा के लिये केले के सूखे पत्तों की बनाई भस्म एक से तीन माशे तक मधु के साथ दिन में ३ बार दी जाती है।

मकई के भुट्टे की भस्म ३ रत्ती की मात्रा में टंकण १ रत्ती के साथ दिन में ३ बार मधु के साथ भी दी जाती है।

गावजवां ६ माशा को २ छटांक जल में १२ घंटे भिगो कर छान कर मिश्री मिला कर दिन में २,३ बार करके पिला देने से भी लाभ होता है अथवा कंटकारी शृंगी और अतीस समान समान का चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ दिन में २ बार देने से भी इस रोग में लाभ होता है।

डिप्थीरिया :- Diphtheira:-

Diphtheria Bacillus नामक जीवाणु के वाहक किसी व्यक्ति के छींकने, खांसने से इस जीवाणु का संक्रमण छोटे बालकों के गले में हो जाता है। और यदि बालक के Tonsils में पहले से ही शोथ या क्षत हो तो वहां इसे रोपण करने के लिये उचित भूमि भी मिल जाती है। इसके रोपण करने से इस जीवाणु में से एक बहिर्विष (Exotoxin) निकलता है जिसके दुष्प्रभाव से Tonsil की बाहर बाहर की झिल्ली (Epithelium) के सेल मृत (Necrosed) होते

जाते हैं। इस झिल्ली के सेल जितने ही अधिक मृत होते जाते हैं उतना ही इस जीवाणु को रोहण करने के लिये और और उचित भूमि मिलती जाती है। फिर इसको बहिर्विष के विपरीत ~~xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx~~ वहां के नीचे के तथा आसपास के स्वस्थ धमनी में से प्रतिक्रिया होकर श्लेष्म स्राव (Exudation) निकलता है जिसके ~~से~~ Fibrin. भरी हुई झिल्ली के सेलों, रक्त कणों और श्वेत कणों के परस्पर मिलने से वहां एक श्वेत मोतियों से रंग की दीखने ~~xxxx~~ वाली तह बन जाती है जो इस रोग का एक विशेष चिन्ह होती है। इस झिल्ली में विद्यमान जीवाणुओं में से निकला विष लसीका वाहिनियों (Lymphatics) में चला जाता तथा वहां से रक्त में पहुंच जाता और फिर सारे शरीर में प्रसार कर जाता है। इस विष का विशेष दुष्प्रभाव रक्त वाहिनियों पर होता है जिससे वे शिथिल हो जाती हैं। इनका रक्त भार गिर जाता है। हृदय में इस विष के दुष्प्रभाव से वसामय (Fatty) अपहिता होने लगती है। मस्तिष्क नाड़ियां तथा हाथ पांव की नाड़ियों में भी इससे अपहिता होने लगती है। वृक्कों की मूत्र वाहिनियों तथा यकृत के सेलों पर भी इस विष का अपहिता जनक प्रभाव पड़ता है।

रोगी के पास रहने वाले व्यक्ति इस जीवाणु के वाहक हो सकते हैं। तथा यह रोग शीत काल में होता है।

इस विष के कारण रोगी बालक अधिक निढाल एवं सुस्त हो जाता है। उसका रंग फीका पड़ जाता है। उसका तापमान थोड़ा ही होता अर्थात् १०० डिग्री के लगभग होता पर नाड़ी तीव्र एवं ~~xxx~~ मृदु होती है। हृदय का प्रथम शब्द छोटा तथा ध्वनि में हलका होता है। एक Tonsil पर या दोनों पर एक श्वेत सी झिल्ली ~~xxx~~ छाई हुई दीखती है जो स्पष्ट किनारों वाली तथा लाल भूमि पर कुछ उठी हुई होती है। इसके कारण अधोहनु अस्थि के नीचे तथा ग्रीवा में ग्रन्थियां कुछ फूली हुई होती हैं। रोगी के मूत्र में कुछ अलब्युमिन भी हो सकता है। इस विष के हृदय, ~~xx~~ तथा रक्त वाहिनियों पर दुष्प्रभाव होकर अन्त में मृत्यु होती है।

साधारण Tonsillitis से इसका भेद करना चाहिये। उसमें शोथ दोनों Tonsils में होता है तथा पूय भाव इसके छिद्रों (Follicles) पर ही होता है। उसमें श्लेष्मा छाई हुई हो सकती है पर इस रोग के सदृश श्वेत झिल्ली छाई हुई नहीं होती। उसमें ज्वर भी अधिक होता है ~~/~~ पिपासा भी अधिक रहती होती है।

<u>चिकित्सा :-</u>

रोग का पता लगते ही बालक को Diptheria Antitoxin १० हजार युनिट की मात्रा में तथा युवक को २० हजार युनिट की मात्रा में मांस

द्वारा दे देना चाहिये। पहले ५ बूंद की मात्रा में त्वचा द्वारा देकर देख सकते हैं कि इसकी स्थानिक कोई प्रतिक्रिया तो नहीं होती। १ घंटा तक कोई प्रतिक्रिया न हो तो इसकी पूरी मात्रा मांस द्वारा दे देनी चाहिये। इस पर भी यदि कोई कुछ फैलती होती तो १२ घंटे बाद फिर भी एक मात्रा इसी प्रकार दी जा सकती है। त्वचा में इसकी कुछ प्रतिक्रिया हो तो Adrenaline ½ सी०सी० देने के बाद इस औषधि की उपर्युक्त मात्रा दी जाती है।

इस रोग के जीवाणु तथा Streptococci के निवारण के लिये Penicillin ७ हजार यूनिट की मात्रा में ३,३ घंटे बाद मांस द्वारा देने या Procaine Penicillin के प्रतिदिन ४,५ लाख की यूनिट की मात्रा में मांस द्वारा देने से भी इस रोग में लाभ होता है तथापि इस रोग के लिये Antitoxin अधिक उपयोगी है। इसके साथ Penicillin का प्रयोग विशेष लाभदायक है।

रोगी को १५,२० दिन पूर्ण विश्राम में रखना चाहिये तथा उसे दुग्ध, ग्लूकोज़ और फल रस पर्याप्त मात्रा में देते रहना चाहिये। गले के अंदर ३० प्रतिशत ग्लूकोज सोल्यूशन छिड़कना चाहिये।

आमवातिक ज्वर अथवा संधिक ज्वर :-(Rheumatic Fever)

शरीर के कुछ भाग स्नायु तंतु में (जिसे सौत्र उत्पन्न करने के कारण Collagen Tissue भी कहते हैं) जो Fibroblasts, सूत्र, (Fibrils) तथा एक Cement पदार्थ के मिलने से बना है, शोथ हो जाय जिससे वह फूलकर पहले तो मोटा हो जाय और बाद में क्षयित (Dgn) के हो जाने से वह कुछ क्षय न रहे तो इस रोग को आमवातिक रोग (Rheumatism) कहते हैं। यह स्नायु तंतु शरीर में संधियों के अन्तरावरण तथा बाह्यावरण में, मांस पेशियों में, हृदय मांस में, हृदय के अन्तरावरण तथा बाह्यावरण में, कंडराओं (Tendons) में रक्तवाहिनियों के बाह्यावरण में वाल्वादियों के खोल में, त्वचा के नीचे के तन्तु (Sub-Cutaneous) में, आंतों के बाहर के आवरण (Serous Membranes) में, विशेषतः होता है। इनमें से किसी में आमवातिक शोथ हो सकता है।

कारण :-

कुछ एक व्यक्तियों के स्नायु तंतु में जन्म से ही या भोजन में Vit:C. आदि किसी तत्व की न्यूनता के कारण Streptococcus Haemolyticus या पूय जनक जीवाणु के विष को सहन करने की शक्ति बहुत कम होती है। (Allergy) सरदी आर्द्रता युक्त शीत के लग जाने पर यह और भी कम हो जाती है। जिससे स्नायु तंतु में शोथ हो जाता है। क्योंकि पहली बार जब (Streptococcus) का विष शरीर में प्रवेश करता है तो उसके विरुद्ध

स्नायु तंतु में शोथ हो जाता है। अर्थात् पहली बार जब (Streptococcus) का विष शरीर में प्रवेश करता है तो उसके विरुद्ध स्नायु तंतु में एक प्रतिविष (Antibodies) उत्पन्न हो जाता है। जब पुनः वही विष प्रवेश करता है तो उस विष (Antigen या Allergen) तथा वहां उत्पन्न हुये प्रति विष के बीच में एक प्रबल प्रतिक्रिया होती है जिससे कोई हिस्टामीन सदृश तत्व उत्पन्न होकर इस शोथ का कारण बनता है। अतएव गल ग्रन्थि शोथ (Tonsillitis होने के २,३ सप्ताह बाद ५,१५ वर्ष के बालकों में या नवयुवकों में यह आम वातिक शोथ तथा आमवातिक ज्वर का रोग होता हुआ देखा जाता है।

विकृति :-

जिस स्नायु तंतु में इस रोग का विष होता है वहां रक्त वाहिनियों में से रक्त का द्रव भाग (Plasma) अधिक मात्रा में आने लगता है। जिससे इसमें द्रव के भर जाने से वह सूज जाता है। (Exudative Oedema) संधियों के अन्तरावरण (Synovial Membranes) में ऐसे आमवातिक शोथ के होने से संधि में द्रव भर जाता है। जिससे संधि सूज जाती है। वहां की संज्ञा वाहिनियों पर इस द्रव का दबाव पड़ने से संधि शूल का अनुभव भी हो जाता है। संधि के अंदर तथा आसपास का स्नायु तंतु फूलकर मोटा हो जाता है। रक्त वाहिनियों में से निकले प्लाज्मा के Fibrinogen के उस स्राव के Thrombin के साथ मिलने से Fibrin बन जाता है। जो वहां निक्षिप्त हो जाता है। इसके निक्षिप्त होने से स्नायु तंतु क्षीण सा होता जाता है। जिससे इसे स्नायु तंतु की Fibrinoid Degeneration कहते हैं। रोग के अंत में बहुधा यह शोथ ठीक हो जाता है।

प्लाज्मा के एकत्रित होने के अतिरिक्त ७,१२ दिन तक इस रोग में संधियों, हृदय धमनियों, आदि के सूजे हुये स्नायु तंतु में बड़े आकार के श्वेताणुओं (Histiocytes) के एकत्रित हो जाने से एक प्रकार के बड़े बड़े सैल (Giant सैल) बन जाते हैं। जिन्हें Aschoff Nodules कहते हैं। यह नंगी आंख से देखे जा सकते हैं। हृदय, मांस के सूजे हुये स्नायु तंतु में इसकी रक्त वाहिनियों के पास पास ये बड़े बड़े पिंड विशेष तौर से पाये जाते हैं। क्षय रोग ग्रस्त अवयव में जैसे Tubercles पाये जाते हैं वैसे ही आमवात रोग से ग्रस्त अवयव में ये पिंड पाये जाते हैं।

आम वात रोग चिरकाल तक रहे तो स्नायु तंतु क्षीण और शुष्क होकर Scar Tissue में बदल जाता है। हृदय की कपाटियों में तथा कपाटी छिद्रों में इस स्नायु तंतु की वृद्धि (Fibrosis) की प्रक्रिया के हो जाने से एवं उनके विरूप आकृति का हो जाने से कपाटी रोग (Voluular) रोग हो जाते हैं।

लक्षण :-

नवयुवकों में आमवातिक ज्वर हो तो जानु, गुल्फ, स्कंध आदि बड़ी संधियों में शोथ तथा वेदना का लक्षण विशेष होता है। शोथ एक संधि से दूसरी संधि में प्रसरण करता है। रोग ग्रस्त संधि को हिलाने से तीव्र वेदना उत्पन्न होती है। ज्वर १०० से १०१ डिग्री तक होता है।

परन्तु बालकों में आम वात ज्वर होने पर संधि शूल का लक्षण विशेष नहीं होता। इनमें जंघाओं या पेट पर दर्द होने का लक्षण विशेष होता है। हृदय में शोथ होने के कारण इन्हें हृत्प्रदेश पर भी दर्द प्रतीत होता है। हृदय शोथ के कारण ही बालक में उठने बैठने या स्वच्छन्द भ्रमण करने की भी शक्ति नहीं रहती। इसकी गल ग्रन्थियां सूजी होती हैं।

इस रोग में रोगी को स्वेद अधिक आता है। इसकी क्षुधा नष्ट हो जाती है। मलबन्ध रहता है।

परीक्षा :-

हृदय की निर्बलता के कारण रोगी का चेहरा फीके रंग का होता है। नाड़ी तीव्र तथा क्षुद्र होती है। क्षेपक कोष्ठ कुछ शिथिल (Dilated) होते हैं। जिससे वाम (Mitral) छिद्र कुछ चौड़ा होता है अतः हृदय संकोच के समय कुछ रक्त के वापस ग्राहक कोष्ठ में चले जाने से Apex पर प्रथम शब्द छोटा एवं अस्पष्ट हो जाता है या कुछ कुछ फुत्कार (Murmur) से युक्त होता है। क्षेपक कोष्ठ की निर्बलता के कारण फुफ्फुस में रक्त भार बढ़ जाता है जिससे द्वितीय शब्द Pulmonary Area पर ऊंचा हो जाता है। मूत्र मात्रा में थोड़ा तथा गहरे रंग का होता है। रक्त में श्वेत कणों की संख्या बढ़ जाती है तथा B.S.R. भी बढ़ा हुआ होता है।

चिकित्सा :-

Sodium Salicylate: के १५ ग्रेन की मात्रा में बराबर Soda-Bi-Carb: तथा ३० बूंद Syrup Aurant के साथ मिलाकर प्रति ३,४ घंटे बाद देने से ज्वर तथा संधि शूल के लक्षण घट जाते हैं। इन लक्षणों के घट जाने पर इस औषधि का प्रयोग ६, ६ घंटे बाद किया जाता है और जब लक्षण और भी शांत हो जाते हैं तब इस औषधि का प्रयोग दिन में ३ बार ही किया जाता है।

रोगी बालक हो तो वह जितनी आयु का हो उतने ही ग्रेन की मात्रा में इसे प्रति ४,४ घंटे बाद देना चाहिये। लक्षणों के दूर हो जाने पर इस औषधि की मात्रा आधी कर देनी चाहिये।

इस औषधि से वेदना आदि लक्षण तो शीघ्र शांत हो जाते हैं पर हृदय संबंधी लक्षणों पर इसका ऐसा प्रभाव नहीं होता। एक दो मास के पूर्ण विश्राम से वे भी शांत हो जाते हैं। इसलिये जब तक पांडुता, नाड़ी

गति की तीव्रता, B.S.R. की वृद्धि, रक्त में श्वेत कणों की वृद्धि, शरीर की कृशता, भूख की कमी के लक्षण शांत न हो जायें तब तक रोगी को विश्राम कराना चाहिये। हृदय की दर्द दूर करने के लिये Ipecac Etopii का चूर्ण १० ग्रेन की मात्रा में दे सकते हैं। Hydrocortisone ५,१० मिलिग्राम की मात्रा में ६,६ घंटे बाद देने से भी बहुधा यह रोग शीघ्र शांत हो जाता है। कुछ दुखती संधि पर Methylia Salicylatis Co.(B.P.C.) लगाकर उसपर रुई बांध देनी चाहिये। रोग में पहले रोगी को केवल दूध, ग्लूकोज़, जौ के पानी पर रखना चाहिये। Prednisone- (Decortisyl, Deltacortone, Deltacortelan). या Prednisolone- (Deltacortril, Deltastale) ३० मिलि दैनिक मात्रा में कई बार करके देने से इस रोग में विशेष लाभदायक पाया गया है।

बालक के अच्छा हो जाने पर इसके Tonsillitis की रोक थाम करनी आवश्यक है। इसके लिये इसे ½ ग्राम मात्रा में Sulphadiazine प्रतिदिन महीनों तक देते रहना चाहिये तथा जब जब भी गले में तीव्र शोथ हो तब तब Penicillin के लगभग ३,३ इंजेक्शन दे देने चाहिये।

<u>आयुर्वेद में आमवातिक ज्वर या संधिक ज्वर, [illegible] आमवात ज्वर :-</u>

जब शरीर में आम दोष (Metabolites) की वृद्धि हुई हो तब कुछ एक के स्नायु तंतु में पूय विष (Streptococcal Toxin) को सहन करने की शक्ति बहुत घट जाती है। जिससे इनमें एक धातु का प्रकोप होकर एक शोथ (Oedema तथा Proliferation) उत्पन्न हो जाता है जिसे आमवातिक शोथ कहते हैं। इसमें आम दोष के कारण शूल होने से इसे आमवात कहा है। जब यह तीव्र रूप में होता है तब ज्वर भी होता है तथा क्योंकि यह शोथ विशेषतया संधियों के स्नायु तंतु में होता है इसलिये इसके तीव्र रूप को संधि ज्वर कहा जाता है। योग रत्नाकर में कहा है कि जिस ज्वर में शरीर के अंदर कफ की वृद्धि, वातिक शूल, ताप, अरुचि आदि लक्षण होते हैं उसे संधि ज्वर कहते हैं।

इस ज्वर में रोगी को उचित लंघन करा कर मूंग, कुल्थी, यव आदि के यूष पर रखना चाहिये। या देसी चाय में दूध मिलाकर पिलाना चाहिये।

योग राज गुग्गुलु २,२ गोली मात्रा में दिन में ३,४ बार रास्नादि क्वाथ के अनुपान से देना चाहिये। रेचनार्थ एरंड तैल कभी कभी देना चाहिये। वेदना युक्त संधियों पर रूखा स्वेदन देना चाहिये। हृदय रोग के [illegible] शमन के लिये चिन्तामणि चतुर्मुख या मुक्ता पंचामृत १,२ रत्ती दिन में दो बार मधु से देना चाहिये।

<u>कफ प्रधान आम वात या मांस शूल :- Muscular Rheumtatism, Fibrositis:-</u>

मांस के आच्छाद (Fascia) संधियों के आच्छाद (Capsules)

मांस के सिरों अर्थात् कंडराओं (Tendons तथा Aponeurosis) वात नाड़ियों के आवरण (Nerve Sheaths) संधि बंधन करने वाली रज्जुओं (Ligaments) के स्नायु तंतु में शोथ हो जाने के कारण ये मोटे हो जाते हैं। जिससे इनमें भारी दर्द प्रतीत होने लगता है। संभवत: इनमें विद्यमान वातनाड़ियों में भी शोथ होता है। जिसके कारण यह दर्द उठता है। एक तो कटि प्रदेश की विस्तृत कंडरा (Aponeurosis) में यह दर्द विशेषता से होता है जिसे कटि शूल (Lumbago) कहा जाता है। कभी कभी ग्रीवा के एक ओर की मन्या पेशी (Sternomastoid) में यह शोथ होता है। तब इसे मन्यास्तंभ (Torticollis) कहते हैं। कभी कभी कंधे पर की Supra Spinatus की कंडरा में जो ऊपर के Acromian Process और नीचे के Capsule के बीच में विद्यमान स्नेह कोष्ठ (Barsa) में से गुजरती है, शोथ हो जाता है। जिससे कंधे पर दर्द होता है। इस (Bursa) में भी आम वातिक शोथ होता है। इसमें बाहु को बाहर और ऊपर उठाने में कष्ट होता है। इसे अब बाहु या बाहुशूल (Brachial Neuralgia) कहते हैं। कभी कभी पादतल कंडरा (Planter Aponeurosis) जो पीछे एड़ी की हड्डी (Calcaneus) में बंधी है, दर्द होता है जिससे एड़ी को पृथ्वी पर टिकाने में दर्द होता है। इसे वात कंटक (Plantar Fascitis) कहते हैं। इसी प्रकार हथेली के (Fascia) में भी शोथ हो कर हथेली अकड़ सी जाती है। इसमें दर्द नहीं होता। जानु (Knee) को बांधने वाली स्नायु रज्जुओं (Ligaments) में दर्द हो जाता है। जिसे जानु शूल कहते हैं। कभी कभी कन्धों के पीछे त्वचा के नीचे के वसामय स्तर में शोथ होकर शूल होने लगता है। इसे पृष्ट शूल (Panniculitis) कहते हैं। कलाई को सकोड़ने वाली कंडराओं में से किसी में शोथ होकर कलाई में दर्द हो सकता है। इसे Tenosynovitis कहते हैं।

कारण :-

मांस तथा घृत आदि से भरे गुरुतर आहारों के अधिक करने तथा व्यायाम न करने एवं अकर्मण्य रहने से आंतों में से कोई विष द्रव्य उत्पन्न होकर रक्त में जाता है। (Metabolite) जिसके दुष्प्रभाव से या शरीर के किसी भाग में विद्यमान पूय विष के स्नायु तंतु पर दुष्प्रभाव होकर यह रोग होता है, ऐसा अनुमान है। शीत या आघात के लगने से शरीर का जो स्नायु तंतु पहले से निर्बल होता है उसी पर इनका दुष्प्रभाव होता है। इस रोग में रक्त के अन्दर Uric Acid की मात्रा की वृद्धि से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है।

लक्षण :-

अग्रबाहु तथा ऊर्ध्वबाहु में मांस शूल का यह रोग होता है। जिसमें उस उस भाग पर वेदना स्तब्धता और स्पर्शाक्षमता के लक्षण होते हैं और ये २,३ सप्ताह तक बने रहते हैं। रोगी के साधारण स्वास्थ्य पर इस रोग का विशेष दुष्प्रभाव नहीं होता।

चिकित्सा :-

सब्जी, फल तथा दूध प्रधान भोजन करने तथा खुली वायु में भ्रमण करने से प्रतिदिन मृदु विरेचन लेने या दो तीन सप्ताह तक सप्ताह में दो बार बस्ति लेने से, इस रोग में लाभ रहता है। आम वात युक्त प्रदेश पर गर्म बोतलों द्वारा या Kaolin Poultice द्वारा या गर्म रुई आदि द्वारा सेक देने से भी दर्द में आराम पहुंचता है या Arachis Oil १ औंस, में कपूर २५ ग्रेन, मैन्थोल ५ ग्रेन, अजवायन का फूल २ ड्राम, मिला कर लगाने से भी आराम आता है। वेदना शामक औषधियाँ जैसे Aspirin ३ १/२ ग्रेन, Phenacetin २ १/२ ग्रेन, Caffeine १/२ ग्रेन, तथा Codeine Phosphate. १/४ ग्रेन, मिला कर बनाये चूर्ण को ४,४ घंटे पर देने से या Amidopyrine(Pyramidon) के ५ ग्रेन की मात्रा के ३ बार देने से या Phenylbutazone(Butazolidin) के १ १/२ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३,४ बार देने से भी दर्द शांत हो जाता है। इन औषधियों से बने Irgapyrine के मांस में सुची वेध से भी यह शूल शांत होता है। इस रोग के कारण का पता लगाकर उस कारण का भी निवारण करना चाहिये।

आयुर्वेद में चिरस्थायी श्लैष्मिक आमवात या मांस शूल :- (Muscular-Rheumatism):-

देहाग्नि की मंदता के कारण शरीर में आम दोष या अपक्व दोष बढ़ा हुआ हो और ऐसी अवस्था में किसी स्नायु तंतु में सहसा शीत लग जाये या आघात लग जाये या खींच पड़ जाने से उसकी प्राण शक्ति कम हो जाय तो उसमें इस आम दोष का दुष्प्रभाव होकर शोथ और दर्द हो जाता है। इस दर्द को आमजनित होने के कारण आमवात कहा जाता है।

शरीर में आम दोष की वृद्धि के कारण मांस में, संधियों के आस पास के अवयव में तथा त्वचा के नीचे श्लैष्मिक स्तर में जो शोथ होता है उसे आम वात कहा जाता है। ।। मा० नि० ।।।,।। तथा चि० चि० २८ ।। ३२१

चिकित्सा :-

लंघन, लघु, रूक्ष एवं उष्ण आहार के अतिरिक्त योगराज गुग्गुलु, सिंहनाद गुग्गुलु, रसोन वटी, कुब्जादि वटी किसी का २,२ गोली की मात्रा में दिन में तीन बार प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार लसुन पाक ३ माशा भी दिन में दो बार देते हैं। असगंधा, सोंठ तथा कुंभापोठी इस रोग में विशेष लाभ कारी है। केवल असगंधा चूर्ण को ६ माशा की मात्रा में गुड़ के हलवे के साथ मिलाकर दिन में दो बार देने से या असगंधा चूर्ण एक सेर को १ सेर घृत में भून कर एक सेर खांड मिलाकर १,२ तोला की मात्रा में दिन में २,३ बार देने से कुछ दिन में ही लाभ प्रतीत होता है। इ० असगंधा तथा सोंठ के एक और २भाग

चूर्ण को एक भाग त्रिवृत में मिला कर सब के बराबर खांड मिला कर इस चूर्ण को ६ माशा की मात्रा में प्रतिदिन देने से या अश्वगंधा, सोंठ, सुरंजान मीठी, मरिच, एरंड मूल, हरड़, १,१ भाग मिला कर सबके बराबर खांड मिला कर ३ माशा की मात्रा में दिन में दो तीन बार देने से भी आम वात का दर्द शांत होता है। ठीक ठीक रेचन न होता हो तो एरंड तैल या अन्य किसी रेचक औषधादि जैसे वैश्वानर या पञ्चसकारादि चूर्ण का प्रयोग भी करना चाहिये। सोमल के किसी योग जैसे समीर पन्नग, (पारद, गंधक, सोमल, हरताल, मनशिल को अभ्रक पत्रों में बंद कर संपुट में रख उसे बालुका यंत्र में रख कर १२ घंटे क्रमाग्नि पर पकावें), के १,१ रत्ती की मात्रा में दिन में २ बार देने से तथा मल्ल सिंदूर १,१ रत्ती को दिन में दो बार देने से भी इस रोग में लाभ होता हुआ देखा जाता है। पाद कंटक रोग में एड़ी में जोंके लगा कर रक्त निकलवा दे तथा एरंड तैल और बस्ति का प्रयोग करें।

चिर स्थायी लघु संधि शोथ या चिरस्थायी बहु संधि शोथ :- Rheumatoid - Arthritis, Ankylosing Arthritis:-

मध्यमायु अर्थात् ३०,४० वर्ष के व्यक्तियों विशेषत: स्त्रियों में इनके दोनों तरफ हाथों में अंगुलियों की बाहु की तरफ की प्रथम तथा द्वितीय संधियों या पाँवों या अंगुलियों के बीच की संधियों में धीरे धीरे तकुवे के आकार का शोथ हो जाया करता है जो रक्त वर्ण तो नहीं होता परन्तु इसमें दर्द तथा स्तब्धता के लक्षण होते हैं। इस सूजी हुई वेदना युक्त संधि को खोलकर देखने से पता चलता है कि संधि के बीच की श्लैष्मिक कला (Synovial Membrane) रक्त वर्ण, शोथ युक्त एवं स्थूल हुई होती है। इसमें से होने वाला श्लैष्मिक स्राव (Fluid) भी अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। संधि कोष (Capsule) का बाह्य स्तर (Fibrous Stratum) भी इसी प्रकार सूजकर स्थूल हुआ दीखता है। इस प्रकार संधि कोष के सूज जाने से संधि स्थूल दीखती तथा वेदना युक्त होती है।

यदि यह शोथ इसी प्रकार देर तक बना रहे तो संधि के अंदर की श्लैष्मिक कला में स्नायु तंतु (Scar Tissue Granulation) अधिक उत्पन्न होने लगता है। तथा यह सामने सामने की तरुणास्थियों (Cartilages) पर भी फैलता जाता है। जिससे तरुणास्थियों के पृष्ठ घिसे हुये प्रतीत होते हैं। बाद में इन तरुणास्थियों के घिसे हुये पृष्ठों के परस्पर न्यूनाधिक जुड़ जाने से संधि की चेष्टा कम हो जाती है (संधि में Ankylosis हो जाता है) इसीलिये रोग के पुराना हो जाने पर रोग ग्रस्त अंगुली संधियां स्तब्ध और हिलाने से वेदना जनक होती हैं। इन संधियों के आसपास के बांधने वाली रज्जियाँ (Ligaments) तथा मांस पेशियों में कृशता (Atrophy) आ जाती है। संधि की प्रारंभ

मांस पेशियाँ पहले ग्रसित होती हैं। जिससे अंगुलियों में संकोच (Flexion) उत्पन्न हो जाता है। तथा अंगुलियों के बीच की संधियों में यह रोग हो तो मांस पेशियाँ और संधि बन्धनियों के ग्रसित होने से अंगुलियाँ संकुचित ही नहीं किन्तु अन्तर (Ulna) की ओर को मुड़ भी जाती हैं। अंगुलियों की स्थिति में यह विषमता इस रोग का प्रधान लक्षण है।

हाथों से यह रोग कलाई की संधियों में आ सकता है। तथा पैरों में तलवे और अंगुलियों के बीच की संधियों के बाद गुल्फ (Ankle) तथा जानु संधियों में तथा कभी हनु संधियों (Temporomandibular) में भी यह रोग हो जाता है। जिससे इनमें चेष्टा होने पर वेदना होने का लक्षण रहता है। जानुओं में इस रोग के होने से इनमें भी कुछ संकोच (Flexion) उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् इनमें प्रसारण (Extension) कठिन हो जाता है।

परीक्षा करने पर रोगी देखने में कृश और पांडुर होता है। इसकी नाड़ी तीव्र होती है। यद्यपि इसे हृदय में आभ्यान्तरिक शोथ नहीं होता। इसे भूख कम लगती है। वह विषण्ण व उदासीन और चिड़चिड़ा शीघ्र होता है। रक्त में Leucocytes की कुछ वृद्धि होती है। Blood Sedimentationar-ate. बढ़ा हुआ होता है। इसके रक्त का Serum, Haemolytic Streptococcus. को नीचे बैठा देता Agglulinate कर देता है।

कारण :- इस रोग के कारण के विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

कारण :-

ऐसा प्रतीत होता है कि नाना विक्षोभों के पड़ते रहने से या किसी तीव्र रोग के दुष्प्रभाव से या भोजन में विटेमिन आदि प्राण प्रद अंशों की न्यूनता के कारण कुछ एक व्यक्ति की संधियों के स्नायु तंतु में ही विशेषतः निर्बलता होती है। ऐसी अवस्था में इनके दांत, गले, नासिका, श्वास मार्ग, आन्त्र, गर्भाशय आदि में कहीं पर कुछ पूय भाव भी हो जाय तो इस Streptococcus-Haemolyticus के प्रति इनकी संधियों में असहनशीलता (Allergy) उत्पन्न हो कर यह रोग होता है।

साध्यासाध्य :-

यह एक दीर्घ रोग है। रोगी का स्वास्थ्य सुधर जाय तो इस रोग का वेग शांत या कम हो जाता है। स्वास्थ्य उन्नत न हो तो यह रोग साध्य रूप में ही रहता है।

चिकित्सा :-

विश्राम चिकित्सा :-

संधियों के स्नायु तंतु में प्राण शक्ति की हीनता के कारण यह

रोग होता है। अत: इसे बढ़ाने के उपाय करने चाहिये। शारीरिक और मानसिक विश्राम से यह शक्ति बढ़ती है। अत: रोगी को पहले तीन, चार सप्ताह रात दिन पूर्ण विश्राम देना चाहिये। रात को ८ घंटे की निद्रा के लिये किसी निद्राजनक औषधि का तथा दिन रात में ३, ४ बार किसी शूल शामक औषधि का प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद भी कुछ महीनों तक रात को ८ घंटे और दिन में भोजन बाद २ घंटे पूर्ण विश्राम देना चाहिये।

व्यायाम तथा अभ्यंग चिकित्सा :-

भ्रमण, व्यायाम, तथा प्राणायाम से मांस पेशियों की शक्ति बढ़ती तथा रक्त को आक्सीजन अधिक मात्रा में मिलता है। इसके लिये ऐसे मृदु व्यायाम जिनसे शाखाओं, पेट तथा पीठ की मांस पेशियों और संधियों में तनाव होकर उन्हें रक्त अधिक मिले, करनी चाहिये। प्रात:काल प्रतिदिन सारे शरीर पर अभ्यंग करने से भी मांस पेशियों और संधियों को रक्त अधिक मिलता है और उनको विश्राम सा मिल जाता है।

स्वेदन चिकित्सा :-

शोथ युक्त संधियों को उबलते जल में से निकाल कर निचोड़े हुये तौलिये से सेकने या नमक युक्त गर्म जल से सेकने, या Infra Red Light के देने या, ९५ से १०० डिग्री फारेनहाईट जल में डुबोने, या उससे भरे टब में बैठकर स्नान करने से, भी उनका शोथ तथा उनमें होने वाला स्तंभ (Spasm) शांत हो जाता है। संधि पर Kaolin पोल्टिस बांधने से भी उनका स्वेदन तथा उनका स्थिरीकरण दोनों हो जाते हैं।

भोजन :-

शरीर की प्राण शक्ति को बढ़ाने के लिये रोगी को थोड़ी थोड़ी मात्रा में पौष्टिक भोजन दिन में ४, ५ बार देना चाहिये तथा उसका भोजन प्रोटीन और विटेमिन प्रधान होना चाहिये। दूध, घृत, मक्खन आदि के द्वारा उसे पर्याप्त प्रोटीन तथा विटामिन A.D. मिल जाने चाहिये। दिन में एक दो गिलास संतरे, टमाटर, गाजर, मौसमी आदि किसी फल के रस का देने से उसे विटामिन "सी" भी मिल जाता है।

विरेचन :-

यदि मल बंध हो तो किसी मृदु रेचक औषधि से जैसे Cascara, Senna. आदि का प्रयोग भी करना चाहिये। पर निर्बलता जनक विरेचन नहीं देने चाहिये।

जीवाणु रोग :-

दांत, गले आदि में कहीं पूय भाव हो तो उसका निवारण भी करना चाहिये।

औषध चिकित्सा :-

वेदना की शांति के लिये Aspirin उत्तम औषधि है जिसे १०,१० ग्रेन की मात्रा में दिन में ४,६ बार दिया जाता है। रात को निद्रा के लिये Ambylobarbitone(Amytal १½ ग्रेन से ३ ग्रेन की मात्रा में दे सकते हैं। Aspirin के अतिरिक्त Phenyl Butazone(Butazolidin) एक उत्तम वेदना शामक औषधि है। इसे २०० मिलिग्राम मात्रा में २,३ दिन तक दिन में ३,४ बार मुख से दिया जाता है। इसके बाद इसे केवल १०० मिलिग्राम मात्रा में दिन में एक बार ही देना चाहिये। इसका अधिक प्रयोग उपद्रव जनक हो सकता है।

Cortisone(Cortistab,Cortisyl,Cortelan) जो पहले Adrenal Cortex से निकाला जाता था और जो अब वनस्पति विशेष से निकाला जाता है इस रोग के प्रारंभ में इसके सब लक्षणों को शांत कर देने वाली उत्तम औषधि है। इसे प्रारंभ में २५ मिलिग्राम मात्रा में एक सप्ताह तक दिन में तीन बार देना चाहिये अर्थात् एक दिन में कुल ७५ मिलिग्राम तक दे देना चाहिये। फिर दो दो दिन में इसकी १२½ मिलिग्राम दैनिक मात्रा कम करते जाना चाहिये और उचित पाल मात्रा को चालू रखनी चाहिये। Hydrocor Tisone (Cortril,Hydrocortistab,Hydrocortisyl) की २० मिलिग्राम मात्रा ही उपर्युक्त औषधि की २५ मिलिग्राम के बराबर होती है। Adrenocorticotropic. Hormonc (A.E.T.H.) भी वस्तुतः शरीर में Adrenal Cortex से Cortisone की उत्पत्ति को बढ़ाती है। इसे पहले १२½ मिलिग्राम मात्रा में मांस द्वारा प्रति ६,६ घंटे में दिया जाता है या ३०,४० मिलि० मात्रा में दिन में इसे प्रारंभ करके फिर २० मिलि० मात्रा में प्रतिदिन मांस द्वारा दिया जाता है। फिर इसे क्रमशः घटाते हुये इसकी भी स्वल्पतम मात्रा जो रोग को दबाये रक्खे, चालू रखनी चाहिये। Prednisone (Deltacortone, D.Cortelan) या Prednisolone (Deltacortrila, Deltastol). मिलि० के प्रतिदिन ५,२५ मिलिग्राम मात्रा में देने से भी यह रोग शांत हो जाता है। इन औषधियों के प्रयोग से इस रोग के सभी लक्षण दो सप्ताह के अंदर अंदर ठीक हो जाते हैं। परंतु इन्हें बड़ी मात्रा में देर तक जारी रखना उपद्रव जनक होता है।

चिर स्थायी एक संधि शोथ, चिर स्थायी बहु संधि शोथ (वार्धक्यजन्य संधिशोथ) : Osteoarthritis:-

५,६० वर्ष की आयु में स्थूल काय पुरुषों के एक नितम्ब संधि में या एक अथवा दोनों जानुओं में धीरे धीरे होने वाला एक संधि शोथ का रोग है जिसमें संधि के अंदर आमने सामने की दोनों तरुणास्थियों पर शरीर का बोझ पड़ने से पहले तो उनका किनारा खुरदरा हो जाता है। और फिर क्रमशः दोनों तरुणास्थियां ही क्षीण (Degn:) होती जाती हैं। तरुणास्थियों के क्षीण हो जाने के कारण संधि के अंदर चेष्टा कम हो जाती है। और चलने फिरने की चेष्टा करने पर इसमें कुछ दर्द भी होने लगता है।

संधि में शोथ विशेष या वैषम्य का कोई लक्षण दृष्टिगत नहीं होता। एक या दोनों जानुओं में रोग हो तो चलने फिरने तथा सीढ़ी चढ़ने में दर्द प्रतीत होता है। जब एक वंक्षण संधि में यह रोग होता है तो उसकी चेष्टा कम हो जाती है। इधर की टांग को बाहर की तरफ हटाने (xMm Abduction) में कष्ट होता है। देखने में रोगी प्रायः स्थूल और स्वस्थ दीखता है। यह रोग बड़ी आयु के व्यक्तियों में विशेषतः पुरुषों में होता है।

चिकित्सा :-

गर्म स्वेदन :-

Infra Red Rays. या Diathermy इसकी मालिश, दर्द नाशक तैलों के लगाने या वेदना शामक औषधियों के सेवन जैसे Phenyl Butazone ३०० मिलिग्राम दैनिक मात्रा में प्रयोग से Thyroid $\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में या Iodine Collossol के १ ड्राम की मात्रा में दिन में दो तीन बार प्रयोग करने से, अति श्रम न करने, तथा शरीर के भार को कम करने की चिकित्सा से यह रोग शांत रहता है। पूर्णतया अच्छा नहीं होता।

आयुर्वेदानुसार चिरस्थायी लघु संधि शोथ रोग को वात प्रधान आमवातिक संधि शोथ कह सकते हैं। क्योंकि इसमें संधि के अंदर कफ की वृद्धि के साथ वायु की वृद्धि के लक्षण विशेष होते हैं। वृद्धों में पाये जाने वाला एक संधि शोथ का रोग वातिक संधि शोथ कहलाता है। क्योंकि उसमें वायु वृद्धि के लक्षण विशेष होते हैं।

इनकी चिकित्सा में कैशोर गुग्गुलु, सिंहनाद गुग्गुलु आदि किसी गुग्गुलु के साथ शिलाजतु, (चन्द्रप्रभा) तथा वायु शामक चिन्तामणि चतुर्मुख या बृहत् वृहद्वात चिन्तामणि का प्रयोग करना चाहिये।

आयुर्वेद में ज्वर :-

बाहिर गर्मी हो, सर्दी हो, उष्ण स्नान करे या शीत स्नान
विश्राम करे या व्यायाम शरीर का तापमान सदा ९८.४ डिग्री फा० ही रहता है। क्योंकि मस्तिष्क के Hypothalamus में स्थित उष्मा नियामक केन्द्र शरीर की उष्मा को नियंत्रित करता है। एक ओर धातुओं में धातु पाक (Combustion) के कारण उष्मा उत्पन्न होती रहती है। दूसरी ओर त्वचा में हवा के लगने से, स्वेद से, श्वास वायु द्वारा, मलमूत्रादि द्रव्यों द्वारा वह नष्ट होती रहती है। स्वेद से ६०० श्वास से ३०० कैलोरीज उष्मा की प्रति दिन नष्ट होती है। उष्मा नियामक केन्द्र के द्वारा इन दोनों में सामञ्जस्य बना रहता है।

जब कोई रोग जीवाणु शरीर की धातुओं में वृद्धि करने लगता है तब उसकी विषा के मस्तिष्क के ताप नियामक केन्द्र पर दुष्प्रभाव होने से एक ओर तो धातुओं में उष्मोत्पत्ति बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में शरीर का पचन

(xam Abduction)

Intra Red Rays, या Diathermy

Phenyl Butazone

Thyroid

Iodine Collosol

Hypothalamus

(Combustion)

की (Basal Metabolism) बढ़ जाता है। १ डिग्री तापमान बढ़ने से इसमें ७ प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। तापमान बढ़ने से Adrenal-Cortex. तथा Pituitary ग्रन्थियां भी उत्तेजित हो जाती हैं। रक्त में श्वेत कण भी बढ़ जाते तथा शरीर में Anti bodies. भी उत्पन्न होने लग जाते हैं।

इसी क्रिया के प्रभाव से त्वचा तथा श्लेष्म कलाओं में सिरा संकोच(Vasoconstriction) की प्रक्रिया हो जाती है जिससे त्वचा तथा श्वास आदि द्वारा ऊष्मा विनाश की मात्रा घट जाती है। परिणामतः शरीर का तापमान बढ़ जाता है। जिसे ज्वर (धातूष्मावरोधिती ज्वर) कहते हैं। परीक्षक लोग बताते हैं कि इस अग्नि से जीवाणु, नष्ट (Agglutinate) हो जाते या निर्बल हो जाते हैं।

आयुर्वेद में ज्वर आठ प्रकार का कहा है।

वात ज्वर :-

शरीर की प्राण शक्ति के न्यून हो जाने अर्थात् जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति के कम होने से प्रधानतः जो ज्वर होता है उसे वातिक ज्वर(Asthenic Fever) कहा गया प्रतीत होता है। शरीर के नाड़ी मंडल के निर्बल होने से सिरा नियामक वायु (Vasomotor) संस्थान विक्षोभ शील एवं निर्बल सा होता है। उसके विक्षोभ शील होने से त्वचा तथा श्लेष्म कलाओं में सिरा संकोच (Vasoconstriction). की शीघ्रता से हो जाता है। जिससे शरीर में से होने वाली ऊष्मा विनाश की प्रक्रिया मंद हो जाती है।

इसीलिये वातिक ज्वर में त्वचा तथा श्लेष्म कलाओं में रूक्षता, सर्दी सी लगे, और मल के शुष्क होने के लक्षण होते हैं। मल के शुष्क हो जाने से उसमें कठिनता का लक्षण रहता है। नाड़ी मंडल की निर्बलता के कारण ही गात्रों में दर्द होने का लक्षण होता है। मस्तिष्क की निर्बलता से निद्रा कम हो जाती है। इस प्रकार शरीर के नाड़ी मंडल की निर्बलता के कारण प्रधानतः जो ज्वर होता है उसे वातिक ज्वर (Nervous Te-mpertaure) कहते हैं। ।। वा० नि० ।।,

पित्त ज्वर :-(Fever due to Excessive Metabolism)

जैसे किसी एक अंग या शरीर के आघात पहुंचने से उसके अंदर एक शोथ उत्पन्न हो जाता एवं उसकी प्राण शक्ति कम हो जाती है। जिसे वायु दोष की वृद्धि की अवस्था कहते हैं और उसमें सुगमता से जीवाणु संक्रमण हो जाता है। वैसे ही शरीर का कोई अंग दग्ध हो जाय या किसी कारण उसमें पचितकर्म (Combusion) बढ़ जाये तो वहां भी एक शोथ उत्पन्न हो जाता है जिसे पित्त शोथ कहते हैं। जिस अंग में यह शोथ अधिक उत्पन्न हो जाता है वहां जीवाणु संक्रमण सुगमता से हो जाता है। फिर उस जीवाणु के नष्ट करने के लिये

शरीर में ऊष्मा की उत्पत्ति अधिक होने लगती है। शरीर में ऊष्मा की उत्पत्ति की अधिकता के कारण ही विशेषत: जो ज्वर होता है उसे पित्त ज्वर (Fever due to Increased Metabolism) कहते हैं।

इसीलिये पित्त ज्वर में शरीर के किसी अंग में तीव्र शोथ या पाक का लक्षण होता है। शरीर का तापमान तीव्र होता है। दाह और पिपासा के लक्षण होते हैं। स्वेद अधिक आता है। रक्तादि धातुओं का अधिक मात्रा में पाक होने से Bilirubin, Urea, Urates, Urobilin, Stercobilin. आदि मल अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं जिससे मल,मूत्र,नेत्र त्वचा आदि में पीतापन झलकता है। Bile Salts के अधिक उत्पन्न होने से मुख का स्वाद कड़वा सा लगता है। मस्तिष्क में ऊष्मा की अधिकता से मूर्छा,मद(Intoxication) प्रलाप, निद्रा की न्यूनता के लक्षण होते हैं।

।। ना० नि० ।।,

<u>कफ ज्वर :-(Fever due to Decreased Metabolism)</u>

जैसे किसी अंग में धात्वीय पचन के बढ़ जाने से वहाँ पित्त दोष बढ़ जाता है वैसे ही शरीर में धात्वीय पचन के या देहाग्नि के कम हो जाने से शरीर में आम दोष या कफ दोष (Product of Incomplete Combustion) की मात्रा बढ़ जाती है। जिससे जीवाणु संक्रमण सुगमता से हो जाता है। फिर इस जीवाणु के विपरीत शरीर में कफ धातु भी बढ़ता है। क्योंकि भिन्न भिन्न रूपों में कफ स्राव होने लगता है। तथा पित्ताग्नि भी कुछ उत्तेजित हो जाती है। जिससे मंद ज्वर भी हो जाता है। इससे जीवाणु तथा आम दोष दोनों का परिपाक होकर शरीर फिर स्वस्थ हो जाता है।

इसीलिये कफ ज्वर में ऊष्मोत्पत्ति के कम होने से ज्वर का वेग मन्द होता है। नासा,मुख,श्वास नली आदि की श्लैष्म कलाओं से श्लेष्म स्राव विशेष होता है। शरीर के अवयवों में आम दोष की अधिकता से वहाँ कफ द्रव (Tissue Fluid) अधिक जमा हो जाता है। जिससे नेत्र,त्वचा आदि में श्वेतिमा झलकती है। देहाग्नि की मंदता तथा आम दोष की अधिकता के कारण शरीर में गुरुता,अन्नारुचि,तथा आलस्य के लक्षण होते हैं। मस्तिष्क में कफदोष या आम दोष की वृद्धि से तन्द्रा या निद्रा का लक्षण होता है।

<u>वात पित्त ज्वर :-</u>

जब एक ओर शरीर में पचिकर्म की अधिकता से दूसरी ओर नाड़ी मंडल की निष्क्रियता एवं सिरा संकोच भी (Vasoconstriction) की प्रबलता से ज्वर हो तो उसे वात पित्त ज्वर कहते हैं। स्पष्ट है कि इसमें तापमान की तीव्रता, मूर्छा,भ्रम आदि के साथ त्वचा तथा श्लैष्म कलाओं में शुष्कता का लक्षण रहता है।

वात कफ ज्वर :-

जब एक ओर देहाग्नि की मंदता और दूसरी ओर नाड़ी मंडल की निष्क्रियता एवं सिरा संकोच की अधिकता के कारण ज्वर हो तो उसे वात कफ ज्वर कहते हैं। इसमें आम दोष की अधिकता के कारण होने वाले प्रतिश्याय, कास, निद्रा, गुरुता, अंगविशूल, मंदता, शिथिलता आदि लक्षण होते हैं। सिरा संकोच की अधिकता के कारण त्वचा में शुष्कता का लक्षण होता है। इसमें ज्वर का वेग मृदु ही होता है।

कफ पित्त ज्वर :-

जब शरीर में आम दोष की वृद्धि के कारण जीवाणु संक्रमण हो और फिर उसके विपरीत कफ धातु के साथ पित्ताग्नि की प्रतिक्रिया होकर ज्वर हो तो उसे कफ पित्त ज्वर कहते हैं। इसमें कफ की प्रतिक्रिया (Exudative Reaction) के कारण मुख, नाक, श्वास मार्ग आदि से कफ स्राव होने के लक्षण होते हैं और शरीर में देहाग्नि (Metabolism) की अधिकता के कारण पिपासा, दाह और तापमान होने के लक्षण भी होते हैं।

त्रिदोष ज्वर :-

जब १. प्राण शक्ति या नाड़ी मंडल की निष्क्रियता एवं सिरा संकोच (Vasoconstriction) की अधिकता, २. शरीर के किसी अंग में प्रदीप्तता (Combustion) की अधिकता तथा, ३. देहाग्नि की मंदता एवं आम दोष की अधिकता (Low Metabolism) तीनों के कारण जीवाणु संक्रमण होकर ज्वर हो तो उसे वायु दोष, पित्त दोष तथा कफदोष तीनों दोषों से उत्पन्न होने के कारण त्रिदोष या सन्निपात ज्वर कहते हैं। इन तीनों में से वायु दोष, पित्त दोष तथा कफ दोष किसी की न्यूनता और किसी की अधिकता के कारण यह त्रिदोष ज्वर कई प्रकार का हो जाता है। इस प्रकार ज्वरों में वायु के प्रकोप के कारण त्वचा तथा श्लेष्मकलाओं में शुष्कता, अंगों में वेदना, अशक्ति, निद्रानाश, आदि लक्षण, पित्त के प्रकुपित होने से तापमान, दाह, पाक, पिपासा, मूर्छा, स्वेद आदि लक्षण कफ धातु के प्रकुपित होने के कारण नासा, श्वास मार्ग आदि से श्लेष्म स्राव तथा अन्नारुचि, अंग गुरुता, आलस्य, मंदता आदि लक्षण होते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद में जीवाणु संक्रमण पर बल न देकर जीवाणु संक्रमण के कारण (Prdisposition) पर बल देता है।

आगन्तु ज्वर :-

जब बाह्य अभिघात या प्रबल जीवाणु संक्रमण के कारण ही प्रधान तया ज्वर हो, शारीरिक किसी दोष की अधिकता के कारण न हो, तो उसे आगन्तु ज्वर कहते हैं। इसमें आगन्तु कारणवश वायु, पित्त तथा कफ में से किसी एक, दो या तीनों का प्रकोप होकर फिर ज्वर होता है।

ज्वर की सामान्य चिकित्सा :-

ज्वर दोष की वृद्धि से होता है। अतः दोष के पाचन के लिये उष्ण गुरु दीपन, पाचन, स्वेदन, गुरु उपाय करने चाहिये। लंघन भी दोष [illegible] पाचन का कार्य करता है। अतः ज्वर मात्र में न्यूनाधिक लंघन कराना चाहिये। वात ज्वर में लघु, पित्त ज्वर में दीर्घ तथा कफ ज्वर में दीर्घतर लंघन एक दो दिन से एक सप्ताह तक का लंघन कराना चाहिये। [illegible] लंघन काल में दोष कारानुसार शीत या उष्ण जल दिन भर में २ सेर तक पिलाना चाहिये। जिससे स्वेद, मूत्र, आदि खुलकर आवें। दोष पाचन के लिये किसी उष्ण, दीपन, पाचन, स्वेदन, मूत्रल, औषधि का जैसे मृत्युंजय, कफकेतु, आनन्दभैरव, कस्तूरी भैरव, संजीवनी वटी, आर्द्रक रस, मुस्ता, शुंठी क्वाथ, पंच कुटी क्वाथ, दशमूली क्वाथ, त्रिवृत, पंचकोल, तालीसादि चूर्ण, किसी का प्रयोग दिन में ३, ४ बार किया जाता है।

दोष के पच जाने पर जब ज्वर कुछ मृदु होने लगे तब दोष शोधनार्थ वात ज्वर में वस्तियाँ या एरंड तैल आदि स्निग्ध औषधियाँ, पित्त ज्वरों में त्रिवृत ६ माशे, कुटकी २ तोला, क्वाथ द्वारा तथा कफ ज्वर में त्रिकटु, हरीतकी ६ माशा, आदि द्वारा शोधन किया जाता है।

दोष पाचन के बाद वात ज्वर रोगी को स्निग्ध यूष, दुग्ध, फल रस, पित्त ज्वर रोगी को रूक्ष स्नेह युक्त यूष, दुग्ध तथा कफ ज्वर रोगी को अस्निग्ध मुद्ग यूष तथा देशी चाय आहारार्थ दिये जाते हैं। दोष का पाचन तथा शोधन हो जाने से शरीर में जीवाणु का पोषण स्वयमेव बंद हो जाता है। जो जीवाणु बचते हैं, वे श्वेत कणों तथा शरीर में उत्पन्न Antibodies. के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं।

आगन्तु ज्वर में ज्वर जनक पूय अभिघातादि का निराकरण करना चाहिये तथा रोगी को सुपच पौष्टिक आहार तथा दुग्ध, जल आदि अधिक मात्रा में देकर उसकी जीवाणु प्रतिरोधक शक्ति को बढ़ाना चाहिये ताकि शरीर स्वयमेव जीवाणु का निराकरण कर सके।

क्षय रोग :- Tuberculosis,Consumption:-

क्षय जीवाणु :-Tubercle Bacillus:

यह जीवाणु दो प्रकार का है। मनुष्य सुलभ क्षय जीवाणु को मानव क्षय जीवाणु (Mycobacterium Tuberculosis Hominis) कहते हैं। Koch ने १८८४ में इसका पता लगाया। पशु सुलभ क्षय जीवाणु को पाशविक क्षय जीवाणु (Mycobacterium Tuberculosis Bovis) कहते हैं। इसका पता Thomus Smith ने १८९६ में लगाया। मानव क्षय जीवाणु पतला २.५ माईक्रोन लंबा दण्डाकृति कृमि होता है। जो रोगी की थूक से कांच स्लाइड पर देखने से परस्पर एक दूसरे से कोण बनाये हुये अथवा जहां इनके ढेर होते हैं वहां एक दूसरे के समानान्तर पड़े हुये मिलते हैं। Ziehl Neelsen के तरीके से रंगे जाते हैं अर्थात् Carbolfuchsin से रंगे जाने पर इनका रंग २० प्रतिशत सल्फ्यूरिक एसिड ($H_2 SO_4$) से या अल्कोहल में ३ प्रतिशत मात्रा में घुले हाईड्रोक्लोरिक एसिड (H cl) से नहीं उतरता इसलिये इसे Acid-Fast. भी कहते हैं। संभवतः Protein, Carbohydrate के अतिरिक्त इनके शरीर में स्नेह (Lipoid तथा Waxy) पदार्थ भी होता है। जिसके कारण ये Anti Fast होते हैं। धूल में मिलकर थूक के बिल्कुल सूख जाने पर भी धूल में जीवाणु महीनों तक जीवित रहता है। इसी प्रकार यह जीवाणु कई के टैंक्स पर भी जीवित रहता है। परंतु सूर्य की किरणों या धूप से यह जीवाणु शीघ्र मर जाता है।

Tuberculin:- मांस रस, पैप्टोन, साल्ट और ग्लिसरीन के माध्यम में बढ़ाये हुये, गाढ़े किये तथा छने हुये (Filtered) मृत क्षय जीवाणुओं के घोल को Koch ने Tuberculin का नाम दिया था। इसमें मृत हुये जीवाणुओं में से उत्पन्न होने वाले Endotoxins होते हैं। Koch का कहना था कि इसमें विषनाश Proteins ही इसका क्रियाशील पदार्थ है। इसलिये १९३४ में मृत हुये क्षय जीवाणुओं में से उत्पन्न होने वाले Tuberculo-Protein को विशुद्ध रूप में पृथक् किया गया और इसे Purified,Protein-Derivative of Tubercle Bacillus(P.P.D.) का नाम दिया गया। यह चूर्ण रूप में मिलता है। तथा कई वर्षों तक रखा हुआ भी वीर्य हीन नहीं होता। Koch ने इसे अन्य Vaccines के समान क्षय रोग के विपरीत प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न करने के लिये तैयार किया था परंतु परीक्षण ने सिद्ध किया कि मृत हुये क्षय जीवाणुओं के घोल से क्षय रोग प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती। हां यदि शुद्ध किये हुये जीवित क्षय जीवाणुओं के घोल से यह शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। इसलिये फिर (Bovine) क्षय जीवाणुओं को कलि

शुद्ध करके उनका घोल बनाया गया जिसे B.C.G. कहते हैं। उसके द्वारा अब प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न करने का काम लिया जाता है। इस समय Tuberculin से क्षय रोग के पहचानने का काम लिया जाता है। जिस व्यक्ति के शरीर में क्षय जीवाणु ने कभी प्रवेश नहीं किया अर्थात् जिसके शरीर में न प्रसुप्त रूप में या ही जागृत रूप में यह जीवाणु है। उसकी त्वचा में इसके प्रविष्ट करने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। परंतु जिस व्यक्ति के शरीर में इस जीवाणु ने कभी प्रवेश किया हो अर्थात् जिस शरीर में यह प्रसुप्त (या जागृत रूप में विद्यमान हो उसकी त्वचा में इसको प्रविष्ट) करने पर प्रवेश स्थान पर दो तीन दिन में एक छोटा कठोर लाल रंग का कोठ Inflammatory Papule निकल आता है। अर्थात् एक तो रक्त की प्रतिक्रिया (Vascular Reaction) होती है। दूसरा सेलों की प्रतिक्रिया (Cellular Re-action) होती है। Vascular-Reaction (रक्त प्रतिक्रिया) अर्थात् लाली या (Erythema) २४,४८ घंटों के अंदर अंदर प्रकट हो जाती है और तीसरे दिन के बाद जाती रहती है। परंतु कलाशिक सेलों का जो वहां जमा (Infiltration) होता है अर्थात् वहां पर जो कठोरता उत्पन्न होती है वह ४८ घंटों बाद प्रारंभ होती है और उत्पन्न होकर ४ दिन तक रहती है। जब यह कठोर चकत्ता ५ से १० मिलीमीटर व्यास का होता है तो एक Plus, १० से २० मिलीमीटर का हो तो दो Plus और इससे बड़ा हो तो तीन Plus लगाकर इसका उल्लेख किया जाता है।

फुफ्फुस के अन्दर या अन्यत्र जहां कोई क्षय रोग का पुराना घाव (Lesion) प्रसुप्त रूप में हो तो उसके आसपास सेलों में भी प्रतिक्रिया की यह प्रक्रिया (Hyperaemia, Cellular Proliferation) (Encapsulation एवं की प्रक्रिया) हो जाती है। अर्थात् उसके चारों ओर भी एक घेरा पड़ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब क्षय जीवाणु प्रथम बार शरीर में प्रविष्ट होता है तो शरीर में ऐक ऐसा पदार्थ जिसे Anti Body कह सकते हैं। उसके विपरीत उत्पन्न होता है जो अवयवों के सेलों में पड़ा रहता है। अब ये साधारण सेल नहीं रहते। अब तो परि-वर्तित सेल या क्षय युक्त सेल (Tuberculosus Cells) कहा सकते हैं। जब Tuberculin दिया जाता है उसके इन सेलों के साथ मिलते ही कोई विशेष पदार्थ उत्पन्न होता है जिसके विपरीत उपरोक्त प्रतिक्रिया होती प्रतीत होती है।

Tuberculin की मात्रा :-

Standard Tuberculin को १० हजार में १ की मात्रा में हल्का करके (1-10000 Dilution) उसकी ·१ सी॰सी॰ में जितनी इसकी मात्रा होती है, उसे Tuberculin की एक मात्रा (Unit) कहते हैं। इस प्रकार Standard Tuberculin को एक हजार में एक की मात्रा में हल्का किया जाय तो उसके १ सी॰सी॰ में १० Tuberculin Units आ जाते हैं तथा यदि Standard Tuberculin को १०० में १ की मात्रा में

हल्का किया जाय तो उसके १ सी.सी. में १०० Tuberculin Units आ जाते हैं। १०० Tuberculin Units १ मिलिग्राम Tuberculin के बराबर होते हैं। इसलिये १० Tuberculin Units .१ मिलिग्राम Tuberculin.

-- तथा १ Tuberculin Unit. .०१ मिलिग्राम Tuberculin के बराबर होता है।

Tuberculin देने की विधि :-

Intracutaneous Method अथवा Themantoux Test अथवा Intradermal Test. अग्रबाहु के अंदर होने वाले पृष्ठ (Flexor Speci) पर एक प्रदेश को ईथर या अल्कोहल से कृमि हीन करके १ Tuberculin Unit अर्थात Tuberculin के १० हजार में १ की मात्रा में को घोल की .१ सी. सी. मात्रा त्वचा की बहिस्तर में दी जाती है। सिरिंज में इतनी मात्रा ले ली जाती है अथवा त्वचा में इतनी मात्रा दे दी जाती है जिससे ८,१० मिलिमिटर व्यास का उभार हो जाये। दो तीन दिन बाद उपरोक्त विधि से जितना कड़ा कलता जार हो उसका उल्लेख कर लिया जाता है। परंतु यदि कठोर कालता न उत्पन्न हो अर्थात परिणाम Negative हो तो १० Tuberculin Units या १०० Tuberculin Units की मात्रा अर्थात १००० में १ की मात्रा के Tuberculin या १०० में १ की मात्रा के Tuberculin के .१ सी.सी. की मात्रा त्वचा के अंदर पूर्ववत दे दी जाती है। यदि १०० Tuberculin Units देने पर भी परिणाम (Negative) हो तो ऐसे व्यक्ति को (Negative) घोषित कर दिया जाता है। क्योंकि जिस किसी के अंदर क्षय जीवाणु होता है वह यदि सभी प्रथम हल्की मात्रा में (Positive) न भी हो तो बढ़ परम मात्रा में Tuberculin के देने पर अवश्य ही (Positive) हो जाता है।

Cutaneous Test-Von Pirquet Test. अग्रबाहु के अग्र पृष्ठ के एक प्रदेश को ईथर या अल्कोहल से कृमि हीन करके उसके दो मिलीमिटर प्रदेश पर Tuberculin की १ बूंद डाल दी जाती है। इस प्रदेश से २ इंच दूरी पर एक बूंद Normal Saline की भी डाल दी जाती है। फिर एक Rotary-Lancet. के द्वारा पहले Normal Sa-line. वाले प्रदेश पर फिर Tuberculin. वाले प्रदेश में लेख कर (Scarification) करके उस द्रव को वहां १० मिनट रहने दिया जाता है। Normal Saline का बूंद केवल तुलना (Control) के प्रयोजन से डाला जाता है। Inflammatory Papule. दो दिन बाद निकले तो इसे ~~/~~ (Positive) कहा जाता है। इस टेस्ट में पहिले वाले टेस्ट से यह भेद है कि इसमें Tuberculin

को इलाका किया ही नहीं गया है। इसके गाढ़े घोल की की १ बूंद त्वचा पर रख दी जाती है।

Tuberculin:- का प्रयोजन :-

जिन व्यक्तियों में क्षय जीवाणु कभी भी प्रविष्ट नहीं हुआ होता है एवं जिनमें इस जीवाणु के प्रति असात्म्यता (Allergy) उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं हुआ है, उनमें Tuberculin Test Negative होता है। यद्यपि जिन व्यक्तियों में यह टेस्ट नैगेटिव हो उनमें क्षय जीवाणु इस समय नहीं है, तथा पहले भी कभी नहीं रहा है, ऐसा निश्चय किया जाता है। यदि टेस्ट पौजिटिव हो तो समझना चाहिये कि उसमें या तो क्षय जीवाणु अब भी विद्यमान है अथवा क्षय जीवाणु पहले उसके शरीर में कभी प्रविष्ट हो चुका है। क्षय जीवाणु का प्रवेश तो मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या में होता है। यद्यपि व्यक्त रूप में क्षय रोग उनमें से बहुत स्वल्प व्यक्तियों में ही प्रकट होता है। परीक्षा करने वाले बताते हैं कि क्षय जीवाणु मनुष्य समाज में इतना अधिक व्याप्त (Ubiquitous) है कि बहुत कम व्यक्ति ही ऐसे होंगे जिनके अंदर इसने कभी न कभी प्रवेश न किया हो यद्यपि अज्ञात (Subclinical) ~~अप्रत्यक्ष~~ रूप में प्रवेश न किया हो। कहा जाता है कि ५ वर्ष तक की आयु के बालकों में से बहुधा न्यून में Tuberculin Test Positive. पाया जाता है। २० वर्ष तक की आयु के बालकों में आधों से भी अधिक में यह टैस्ट (Positive) होता है। तथा ४५ वर्ष तक पहुंचते पहुंचते तक तो ९५ प्रतिशत व्यक्तियों में यह टैस्ट पाजिटिव हो जाता है। घनी बस्तियों या कारखाने वाली बस्तियों में तो यह संख्या इससे भी अधिक होती है। कथन का अभिप्राय यह है कि क्षय जीवाणु के संक्रमण से बच सकना असंभव प्रतीत होता है। पर सौभाग्य की बात है कि यदि क्षय जीवाणु का संक्रमण भारी मात्रा में और बार बार न हो तो शरीर में यह बढ़ नहीं पाता तथा शारीरिक रक्षक तत्वों के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इसलिये जितने व्यक्तियों में इस जीवाणु का संक्रमण होता है, उनमें एक प्रतिशत से भी कम में क्षय रोग प्रकट हो पाता है। तथापि यह रोग इतना अधिक होता है कि सभी के लिये यह एक महान चिन्ता का विषय बना हुआ है। सभी विचारशील लोग मनुष्य जाति के इस महानतम शत्रु का सामना करने के उपाय सोच रहे हैं। हमारे देश में होने वाली प्रत्येक ७ मृत्युओं के पीछे एक मृत्यु क्षय रोग के कारण होती है। संसार में प्रतिवर्ष ५ से ६ लाख व्यक्ति केवल इसी रोग के द्वारा अकाल में काल कवलित हो रहे हैं। बड़े बड़े शहरों में सहस्त्रों इस रोग के कारण चारपाई पकड़ चुके हैं और सहस्त्रों यद्यपि चल फिर रहे

है / इस रोग के दुःख और चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं तथा लाखों व्यक्तियों में इस रोग या इस रोग के जीवाणु ने अपना अड्डा (Focus) तो बनाया हुआ है पर वहां यह सुषुप्त रूप में पड़ा हुआ है और न जाने कब किसी स्वल्प कारण से जागृत हो जाय। इसीलिये Tuberculin टेस्ट मनुष्यों की एक भारी संख्या में पाजिटिव पाया जाता है। प्रतीत होता है कि जब शारीरिक प्रतिरोधक शक्ति अधिक हीन हो जाय और किसी रोगी से जीवाणु का संक्रमण भारी मात्रा में हो या बार बार हो तब इसे शरीर में वृद्धि करने का अवसर मिल जाता है।

बालकों में Tuberculin Test. का विशेष महत्त्व है। क्योंकि यदि ४, ५ वर्षों के नीचे की आयु के बालकों में यह टेस्ट पाजिटिव हो तो बहुत कुछ इस बात की आशंका करनी चाहिये कि उनमें इस जीवाणु ने प्रवेश किया है तथा इसके कारण उनमें यह रोग जागृत (Clinical) रूप में विद्यमान है। जितनी ही छोटी आयु के बालक में टेस्ट पाजिटिव हो उतना ही उसमें रोग की उपस्थिति की आशंका अधिक होनी चाहिये। इसी प्रकार जितनी ही हलकी मात्रा से यह टेस्ट पाजिटिव हो उतना ही रोग की आशंका अधिक होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त बालकों में इस टेस्ट का और भी महत्त्व है। उनमें जो नैगेटिव होते हैं उनमें क्योंकि इस रोग के प्रति प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती इसलिये उन्हें यदि क्षय जीवाणु का भारी संक्रमण हो जाय तो इस रोग के होने का भारी भय रहता है। अतः उनमें B. C. G. के रूप में इस जीवाणु का सुरक्षित प्रवेश करके उनमें इसके विपरीत प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न कर दी जा सकती है। B. C. G. के द्वारा नैगेटिव बालकों को पाजिटिव कर दिया जाता है। क्योंकि यदि कोई बालक या युवक Tuberculin के लिये पाजिटिव हो पर X-Ray की परीक्षा के द्वारा उसके फुफ्फुस में यह रोग जागृत रूप में नहीं हो तो समझना चाहिये कि क्षय जीवाणु के स्वल्प संक्रमण होने पर भी वह बच जायगा।

<u>क्षय प्रतिरोधक शक्ति :-</u>

ऊपर कहा गया है कि शरीर में एक बार क्षय जीवाणु प्रविष्ट हो जाय तो अवयवों में इसके लिये एक प्रकार की असात्म्यता (Allergy) उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण Tuberculin Test Positive हो जाता है। परंतु Koch ने यह भी देखा कि यदि किसी प्राणी में पहले पहल क्षय जीवाणु स्वल्प मात्रा में प्रविष्ट किया जाय तो दो सप्ताह तक उस स्थान पर एक (Nodule) गांठ सी निकल आती है जिसमें कभी कभी व्रण भाव भी हो जाता है। फिर वहां से आगे यह जीवाणु लसिका वाहिनियों (Lymphatics) के द्वारा प्रादेशिक लसिका ग्रन्थियों (Regional Lymph Glands) में

संक्रमण कर जाता है जिससे वे सूज जाती हैं और बाद में नरम भी हो जाती हैं। कदाचित् उनमें Caseation भी हो जाता है। इसीलिये ग्रन्थियाँ (Lymph Glands) के शोथ को देख कर जान लिया जाता है कि संक्रमण कहाँ से हुआ है अर्थात् यदि कंठ प्रणाली और श्वास प्रणालियों के समीप वर्ती ग्रन्थियाँ (Tracheobronchial Glands) में शोथ हो और खाँसी हो तो फुफ्फुस के किसी प्रदेश में से क्षय जीवाणु आया है, ऐसा समझना चाहिये। यदि कोष्ठ गत लसीकाग्रन्थियाँ (Mesenteric Glands) में शोथ हो तो आँतों से क्षय जीवाणु के संक्रमण होने का संदेह करना चाहिये। ग्रीवा में लसीका ग्रन्थियाँ सूजी हों तो पुटक (Tonsil) से संक्रमण होने का संदेह करना चाहिये। फिर इन ग्रन्थियों में से क्षय जीवाणु क्रमशः शरीर के सब विभिन्न अंगों में प्रसरण कर जाता है। इस प्रकार ऐसा पता लगता है कि उस प्राणी में इस जीवाणु के प्रतिरोधक करने की शक्ति नहीं है। अब यदि क्ष०जी० इसी प्राणी में प्रथम जीवाणु संक्रमण के २०, ३० दिन बाद दोबारा क्षय जीवाणु प्रविष्ट किया जाय तो इसके एक दो दिन के अंदर अंदर ही उस प्रदेश का अवयव कठोर हो जाता है। उसमें व्रण भाव हो जाय तो वह तुरंत भर भी जाता है। वहाँ से जीवाणु प्रादेशिक लसीका ग्रन्थियों में जाता है पर वहाँ भी वह रोका नहीं जा पाता जिससे उनमें कोई शोथ की प्रक्रिया नहीं होती और वहाँ से आगे वह शरीर में भी प्रसरण नहीं करता। इससे पता लगता है कि शरीर में प्रथम संक्रमण के बाद कोई ऐसी प्रतिरोधक शक्ति आ गई है कि जीवाणु प्रवेश स्थान में ही रोक दिये गये हैं जो कुछ एक लसीका ग्रन्थियों तक पहुँचे भी हैं, वे वहाँ वृद्धि नहीं कर पाये। जीवाणुओं के प्रवेश स्थान पर भी Polymorphonuclear Cells का तथा रक्त के द्रव भाग का संचय विशेष होता है। इस प्रतिक्रिया को Koch Phenomenon कहते हैं। अतः क्षय जीवाणु का शरीर में एक बार मृदु सा संक्रमण हो जाय तो शरीर में उसके विपरीत एक प्रतिरोधक शक्ति (Immunity) उत्पन्न हो जाती प्रतीत होती है। इसीलिये शहरों तथा घनी बस्तियों में रहने वाले व्यक्तियों में जिनमें पहले कभी न कभी क्षय जीवाणु का मृदु संक्रमण हो चुका होता है बाद में इस का बार बार संक्रमण होने पर भी क्षय रोग नहीं होता। क्योंकि उनमें पर्याप्त प्रतिरोधक शक्ति होती है। परंतु देखा जाता है कि पहाड़ों या दूरवर्ति जंगलों या छोटे छोटे ग्रामों में रहने वाले व्यक्ति जब सहसा एक बड़े घनी बस्ती शहर में आ बसते हैं तो उनको कई बार यह रोग जल्दी पकड़ लेता है। क्योंकि उन्हें अपने अन्दर पहले प्रतिरोधक शक्ति के उत्पन्न करा लेने का अवसर कभी नहीं मिला होता है।

प्राथमिक क्षय रोग : Primary Tuberculous Infection:-

यद्यपि नये उत्पन्न शिशु में क्षय जीवाणु कभी नहीं पाया जाता तथा फिर माता का दूध पीते समय भी संभवतः माता से प्रतिरोधक शक्ति मिलते रहने के कारण इसमें यह रोग नहीं ~~aaaaa~~ हो पाता परंतु दूध छोड़ने के बाद की आयु में अर्थात् दो तीन वर्षों की आयु तथा इससे बड़ी आयु के बालकों में भी और मध्यायु तक पहुंचते पहुंचते तो ९० - ९५ प्रतिशत व्यक्तियों के फुफुस में क्षय रोग से उत्पन्न हुआ चिन्ह पाया जाता है। यद्यपि इन्हें क्षय रोग नहीं होता परंतु ऐसा लगता है कि अति मंद रूप से इस जीवाणु का संक्रमण बाल्यकाल में ९० प्रतिशत व्यक्तियों को हो जाता है। जिसे इस रोग का Minimal Infection. ~~aaa~~ या Primary Infection प्रा. संक्रमण कहते हैं।

श्वास के द्वारा क्षय जीवाणु किसी सूक्ष्म श्वासनाली (Bronchiole) में पहुंच जाता है। वहां श्लेष्म कला में प्रविष्ट होकर शोथ करता है। क्योंकि बालक में इसके लिये प्रतिरोधक शक्ति सर्वथा नहीं होती है। वहां क्षयांकुर (Tubercles) बनते हैं परंतु यह प्रतिक्रिया अपर्याप्त होती है जिससे वहां का प्रदेश शीघ्र कूड़ हो जाता है। ~~अर्थात् यहां~~ (Caseation हो जाता है) प्रायः दक्षिण फुफुस के ऊपर के खंडों (Lobes) में Pleura के साथ लगे प्रदेश में पिन के नक्के से लेकर एक बड़े आकार तक का यह व्रण होता है। इस लघु क्षय जनित फुफुस शोथ (Tuberculous Broncho Pneumonia) को प्रा. क्षत । (Primary Focus) कहते हैं। यह बहुधा अति स्वल्प जीवाणु संक्रमण से होता है। इसलिये प्रायः स्नायु तंतु की वृद्धि (Fibrosis और Calcification) होकर इस व्रण का रोपण हो जाया करता है। केवल X-Ray. के द्वारा इसका पता लगता है।

इस प्रा. क्षत । (Primary Focus) के उत्पन्न होने के दो मास के समय के बाद इस स्थान की Bronchus से संबंधित Mediastinal Glands में लसीका वाहिनियों के द्वारा जीवाणु संक्रमण कर जाता है। जिससे वहां पर एक या दो ग्रन्थियों में भी कूड़ता (Caseation) की प्रक्रिया हो जाती है और फिर प्रायः रोपण (Fibrosis और ~~Exx~~ Calcification) की प्रक्रिया होकर ये ग्रन्थियां भी ठीक हो जाती हैं। एक (Primary Focus) से अनेक Tracheo-bronchial Glands. जो Trachea के विभक्त होने के स्थान पर रहते हैं सूज सकते हैं। बालकों में इन Mediastinal Glands में क्षय जनित शोथ विशेषता से होता है। व्यवहार में क्षय रोग के प्राथमिक धब्बे (Primary-Focus) और Mediastinal Glands के शोथ दोनों को मिलाकर Primary Complex के नाम से बोलते हैं तथा केवल Glands के शोथ को Glandular Component of Primary Complex कहते हैं। X-Ray द्वारा लिये चित्र में इन शोथ युक्त ग्रन्थियों की छाया Hilum में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

बालकों के फुफ्फुस में पाये जाने वाले प्रा.क्षत (Primary Focus) को पहले पहल Ghon ने १९१२ में देखा था। इसलिये इसे Ghon का क्षत (Ghonlesion). भी कहते हैं। इसके उत्पन्न होने के दो मास के लगभग समय के बाद जब फुफ्फुस मूल में स्थित लसीका ग्रन्थियों में भी यह रोग हो जाता है तब बालक Tuberculin-Positive हो जाता है तथा इसके अतिरिक्त कभी कभी इसमें Phyctanular-Conjunctivitis होने का लक्षण भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कभी कभी बालक में Erythema Nodosum या Nodal Fever भी होता है। यह लक्षण ५-७ वर्ष की आयु के निर्बल बालकों या नवयुवकों में देखा जाता है। इसमें अगली जंघा की त्वचा पर आधे इंच से दो ढाई इंच तक के व्यास के उठे हुये रक्त वर्ण कठोर से उभार (Nodules) निकल आते हैं। जिनका दीर्घ व्यास ऊपर नीचे की दिशा में होता है। ये एक सप्ताह तक लुप्त हो जाते हैं। त्वचा पर इनका भूरा सा रंग रह जाता है। एक समूह के बाद दूसरा समूह भी इन चकत्तों का निकल सकता है। ये चकत्ते बहुधा Tuberculo-Protein. के प्रति प्रत्यूर्जता (Allergy) के सूचक होते हैं। कभी कभी ये Streptococcal Infection. के द्योतक भी होते हैं। इसलिये ~~Rxy~~ Phlyctanular-conjunctivitis. अथवा Erythema Nodosum को देखकर बालक में क्षय रोग के Primary Infection का संदेह करना चाहिये। Mediastinal-Glands. में क्षय जनित शोथ बहुधा स्वाभाविक रोहण क्रिया (Fibrosis) के द्वारा ठीक हो जाता है। परंतु यदि इनमें शोथ ~~प्र~~ (Mediastinal Adenitis) का रोग बढ़ जाय जैसे कि कई बार बालकों में होता है तो किसी एक ग्रन्थि के फूल जाने से उसके साथ संबंधित श्वासनाली (Bronchus) दब जाती है। जिससे उसके साथ संबंधित फुफ्फुस का भाग वायु रहित हो जाता या बंद हो जाता है। यद्यपि वह श्वास प्रश्वास में भाग नहीं लेता। उसमें या तो फिर स्नायुभाव (Fibrosis) हो जाता है या उसमें श्वास प्रणाली शैथिल्य (Bronchiectasis) का विकार हो जाता है।

बालकों में आंत में से क्षय कीटाणु शरीर में प्रवेश कर सकता है। आंत के किसी लसिकामय देश (Lymphoid Tissue) में उत्पन्न क्षय व्रण तो स्नायुभाव (Fibrosis) से ठीक हो जाता है पर आंत के उस भाग से संबंधित ग्रन्थियों [redacted] (Mesenteric-Glands) में क्षय कीटाणु के संक्रमण के कारण जो कठोर शोथ होता है उसे स्पर्श द्वारा अनुभव किया जा [redacted] सकता है।

<u>बाल्य कुल क्षय रोग या Prima-ry ~~Inx~~ Tuberculous Infect: के लक्षण :-</u>

तीन चार वर्ष के ऐसे बालक का इतिवृत्त यह होता है कि कुछ काल से उसका भार घटता जाता है। वह उदासीन सा रहता है। उसकी भूख कम होती जाती है। तथा उसे ९९ या १०० डिग्री का मंद ज्वर हो जाता है।

परंतु इसका प्रधान लक्षण खांसी का होता है। किसी Mediastinal Gland के फूल जाने से इसकी छोटी वायु के बालक में एक बड़ी श्वास नली (Bronchus) के दब जाने से घोड़ा या शब्द के साथ खांसी होती है तथा अन्तः श्वास के साथ सीटी की सी आवाज या (Stridor) की ध्वनि होती है। एक दो वर्ष की वायु के बालक में अन्तः श्वास के साथ सीटी की आवाज कुछ काल जारी रहे तो Mediastinal Glands में क्षय जनित शोथ का संदेह करना चाहिये। इन ग्रन्थियों के बढ़कर फूल जाने से, दब जाने से फुफ्फुस का एक भाग बंद (Collapsed) हो जाता है। इसके कारण Manburium पर तथा पीछे Scapulae के बीच के प्रदेश पर टकोर की आवाज मंद हुई प्रतीत होती है। श्रवण यंत्र द्वारा पीठ पर सुनने से श्वास प्रश्वास की आवाज दूसरे Thoracic Spine तक ही Tracheal या Broncheal Type की होती है। पर यदि कोई Mediastinal Gland फूला हुआ हो तो चौथे Tharacic Spine तक भी वह इसी प्रकार सुनाई पड़ती है, या यदि एक तरफ Clavicle के नीचे पीछे Spine और Scapula के बीच में टकोर की आवाज मंद हो तो वह भी बालक में Intrathoracic Tuberculosis का सूचक होती है। एक बाजू से X-Ray. परीक्षा करने पर Trachea के विभक्त होने के स्थान पर Posterior Mediastinum में एक बड़ी Apacity दिखाई पड़ती है।

बालक में इसी प्रकार यदि Primary Infection आंत से हुआ हो तो कोई Mesenteric Gland क्षय रोग के कारण बड़ा हुआ अनुभव होता है जिसके कारण बालक का भार नहीं बढ़ता, कभी कभी निष्कारण अतिसार हो जाते हैं तथा पेट में दर्द भी रहती है। कभी कभी Mediastinal Adenitis का रोग बढ़ता जाता है अर्थात् एक ग्रन्थि में पूय भाव हो जाता है। अब यदि वह ग्रन्थि एक श्वास नाली (Bronchus) में खुल जाती है तो फुफ्फुस के एक भाग में क्षय जीवाणुओं के प्रवेश कर जाने से Tuberculous Broncho Pneumonia का रोग हो जाता है जो प्रायः घातक होता है। यदि पूय युक्त ग्रन्थि समीप की शिरा (Vein) में फटती है तो क्षय जीवाणु मस्तिष्क, प्लीहा, वृक्क, आदि नाना अंगों में प्रवेश कर जाता है। अनेक छोटे छोटे क्षयांकुर (Tubercles) उत्पन्न हो जाते हैं। और रोग या तो फुफ्फुस में या Meninges में या पेट में कहीं पर प्रकट हो सकता है। इसे व्यापक क्षय रोग या (Generalized Miliary Tuberculosis). कहते हैं। यह रोग भी प्रायः घातक होता है। Mesenteric Glands में से भी क्षय जीवाणु रक्त द्वारा संक्रमण करके Miliary Tuberculosis का कारण हो जाता है।

इस प्रकार 3,4 वर्ष की वायु तक होने वाला बालकों का क्षय रोग या (Primary Infection) या तो शीघ्र ही ठीक हो जाता है या बढ़कर बालक के लिये घातक हो जाता है। ... इस वायु के बालकों में

क्षय रोग जीर्ण (Chronic) रूप में नहीं होता। थोड़ा काल रहकर या तो ठीक हो जाता है या बढ़कर घातक हो जाता है। ३,४वर्षों से ऊपर की आयु के बालकों में जब क्षय रोग के लिये कुछ प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब क्षय रोग केवल Lymph Gland में या अस्थि में या संधि में या त्वचा में किसी एक प्रदेश में होता है, व्यापक रूप में नहीं होता तथा इस नव्युवावस्था में क्षय रोग वैसा शीघ्रकारी नहीं होता जैसा कि वह प्रथम ३,४ वर्षों में होता है।

क्षय रोग के कारण :-

ऊपर कहा ही गया है कि क्षय जीवाणु हमारी घनी बस्तियों में इतना अधिक व्यापक है कि इसके संक्रमण से बच सकना कठिन है। प्रत्युत इसका अति स्वल्प मात्रा में संक्रमण (Minimal Infection) होने से संक्रान्त व्यक्तियों में न्यूनाधिक प्रतिरोधक शक्ति ही उत्पन्न हो जाती है जिसके बल पर फिर बड़ी मात्रा में इसका संक्रमण होने पर भी व्यक्ति इस रोग से बचा रहता है। तथा यदि जो यह रोग हो जाता है उसका प्रधान कारण मनुष्य की सामान्य रोग क्षम शक्ति की न्यूनता है। उदाहरणतः घृत,दूध,फल आदि द्वारा प्रोटीन्स Vitamin "A" तथा "C" और कैल्शियम बहुत कम मात्रा में मिले जैसे कि अन्न संकट काल में बहुधा होता है तब यह रोग अधिक होता है। इसी प्रकार चिन्ता,निराशा,दुःख,क्लेश,तथा प्रबल मानस आघातों के कारण भी जब शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है इस रोग के होने का भय रहता है। जब बाल्यावस्था में शुद्ध वायु सूर्य का प्रकाश उचित मात्रा में न मिल सके जैसे कि बड़े नगरों की अंधेरी गलियों में रहने वाले निर्धन लोगों के परिवारों में होता है तो उनमें भी इस जीवाणु के विपरीत रोधक शक्ति कम होती है। छोटे बालकों में (रोमान्तिका) (Measles) तथा (कुक्कुरकास) (Whooping Cough) के कारण Mediastinal Glands में शोथ हो जाता है। यदि उनमें Tuberculous Adenitis हो तो वह इन रोगों के कारण से पुनः जागृत हो उठता है। बड़े व्यक्तियों में मधुमेह हो तो उसके कारण भी क्षय जीवाणु की प्रतिरोधक शक्ति विशेष घट जाती है। इसलिये मधुमेह का प्रतिकार न करने पर मधुमेही में यह रोग सुगमता से संक्रमण कर जाता है। छाती पर प्रबल आघात लगने के बाद भी कई बार यह जीवाणु संभवतः Primary Infection में पुनः जागृत हो उठता है। पत्थर का काम करने वालों में पत्थर की धूल प्र (Cilica) के अति मात्रा में श्वास मार्ग में जाने (Silicosis) से भी फुफ्फुस में कोई क्षति पहुंचती है जिससे ऐसे व्यक्तियों में यह रोग अधिक होता है। अंत में यह भी प्रतीत होता है कि कुछ एक परिवारों में स्वभावतः यह रोग अधिक होता है। इन परिवारों को क्षय प्रकृति के परिवार कह सकते हैं। निर्बल शरीर की स्त्री में बारंबार या शीघ्र

शीघ्र गर्भ स्थिति एवं प्रसव होने के कारण भी क्षय जीवाणु का संक्रमण सुगमता से हो जाता है। Schizophrenia नामक मानस रोग से कि जिसमें व्यक्ति बाहर के वास्तविक जगत से हटकर अपने काल्पनिक जगत में रहता है तथा जो १५-३० वर्ष की आयु में होता है, ग्रस्त व्यक्तियों में भी यह रोग अधिक होता है। परंतु इस रोग का सबसे प्रधान कारण चिरकाल तक किसी खुले क्षय रोगी के संपर्क में निवास करना है। कहा जाता है कि एक क्षय रोगी के थूक के द्वारा एक दिन में १ हजार मिलियन क्षय जीवाणु फुफुस में से बाहर आते हैं। ऐसे खुले क्षय रोगी के संपर्क में यदि कोई Tuberculin Negative बालक जिसमें इस रोग के विपरीत प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न नहीं हो पाई है तथा जिसमें किसी प्रकार की शारीरिक निर्बलता भी हो रहे तो उसमें इस रोग के संक्रमण हो जाने का भय रहता है। कारखाने आदि में भी चलते फिरने वाले खुले क्षय रोगियों के संपर्क में आते रहने से वहां यह रोग अधिक होता है।

बाल्यावस्था में क्षय जीवाणु का संक्रमण बहुत होता है। पर यदि वह अधिक मात्रा में न हो तो उससे प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न होकर फिर १५, १६ वर्ष की आयु तक इस जीवाणु का संक्रमण प्रायः करके नहीं होता। उसके बाद लगभग २५ वर्ष की आयु तक जब फिर संभवतः प्रतिरोधक शक्ति घट जाती है तो Primary Complex के Glandular Component से अर्थात् फुफुस मूल में विद्यमान किसी रुग्ण ग्रन्थि से रक्त द्वारा इस जीवाणु का संक्रमण होता है। अथवा बाहर से किसी रोगी में से अति मात्रा में जीवाणु के संक्रमण करने (Exogenous Reinfection) से होता है।

विकृति :-

जीवाणु संक्रमण :-

श्वास वायु के द्वारा यह जीवाणु पहले श्वास नाली (Bronchus) फिर श्वास प्रणालिका (Bronchiole) के सिरे तक पहुंच जाता है परंतु इन सूक्ष्म प्रणालिकाओं के सिरे इतने संकुचित होते हैं कि वहां १० माइक्रोन का कण ही ठहर सकता है। इतने कण में दो क्षय जीवाणु ही रह सकते हैं। अथवा संभव है कि उर्ध्व श्वास नाली के अन्तस्तर (Epithelium) में प्रवेश करके क्षय जीवाणु लसिका वाहिनियों (Lymphatics) के द्वारा Mediastinal Gland में जाता है। वहां से फिर यह Lymphatics के द्वारा फुफुस के Interstital Tissue. में प्रवेश करता है, अथवा हो सकता है दुग्ध आदि के द्वारा यह Tonsils में प्रवेश कर जाता है वहां से यह Cervical Glands में अथवा और वहां से फिर Mediastinal Glands में जाता है। इस प्रकार यह जीवाणु विशेषतः Lymphoid Tissue में रहता है। और यदि फुफुस आन्त्र आदि के सूक्ष्म लसिका स्थान (Lymphoid Tissues) इसे नष्ट न कर सके

तो लसीका ग्रन्थियां (Lymph Glands) इसे नष्ट कर देती हैं। वहां भी यह नष्ट न हो तो शिराओं (Veins) द्वारा यह शरीर में प्रसार करता है।

क्षयांकुर :-Tubercle:-

अब जिस व्यक्ति के इस जीवाणु के लिये पूर्ण प्रतिरोधक शक्ति नहीं है उसके फुफ्फुस, शोष्ठ आदि किसी अंग के Interstitial Tissue में विद्यमान लसीका प्रणालियों या (Lymph Space) में जब यह पहुंचता है तो जैसे फिरंग जीवाणु अथवा कुष्ठ जीवाणु के विपरीत स्थानिक प्रतिक्रिया होकर वहां Granuloma बनता है वैसे ही इस क्षय जीवाणु के विपरीत स्थानिक प्रतिक्रिया होकर जो छोटी पारदर्शक, श्वेत की बाजरे जितना दाना बनता है उसे श्वेत क्षयांकुर या (Gray Miliary Tubercle) कहते हैं। यह बाजरे जितना या पिन के नके जितना दाना अनेक Giant Cells Systems के मिल जिनका वर्णन आगे किया जाता है मिलने से बना होता है। कुछ काल बाद जब इस दाने का केन्द्र भाग नाश (Caseated) हो जाता है तब इसे पीत क्षयांकुर या (Yellos-Tubercle) कहते हैं। इस क्षयांकुर के अन्दर की सूक्ष्म रक्तवाहिनि की आभ्यंतर श्लैष्म कला (Vascular Endothelial Layer) में अति वृद्धि (Hyperplasia) होकर रक्तवाहिनि का स्रोत बंद हो जाया करता है। इसलिये क्षयांकुर में रक्त नहीं होता।

सैलों की प्रतिक्रिया तथा क्षयांकुर बनना Cellular Reaction-तथा :- Tubercle Formation:-

जब प्रथम बार क्षय जीवाणु अवयव में प्रवेश करता है तब भी Polymorphonuclear Leucocytes: वहां एकत्रित हो जाते हैं और इसे घेर कर उसके प्रसार को रोक देते हैं। परंतु इनकी यह प्रतिक्रिया निर्बल रूप में होती है जिससे Primary Infection में वह स्थान जीवाणु के दुष्प्रभाव से शीघ्र नाश पड़ जाता है। परंतु जब वही जीवाणु दुबारा संक्रमण करता है (Reinfection होता है) तब Polymorphs की प्रतिक्रिया प्रबल रूप में होती है। जिससे संक्रमण रुक जाता है। दोनों अवस्थाओं में ही इनके वहां जमा हो जाने के २४ घंटे के अन्दर अंदर इनके स्थान पर Mononuclear Cells जिन्हें Monocytes, Macrophages या Large Lymphocyte-s कहते हैं तथा जिनकी उत्पत्ति लसीका वाहिनियों, रक्तवाहिनियों के अन्तःस्तर (Endothelial Layer) या (Reticuloendothelial Cells) में से होती है वहां एकत्रित होने लगते हैं। इनका अति मात्रा में एकत्रित होना इस रोग की एक विशेषता है। परीक्षक लोग बताते हैं कि क्षय जीवाणु के इंजेक्शन देने के एक मिनट के अन्दर अन्दर ये सैल वहां पर भारी मात्रा में जमा होने लगते हैं और पांच मिनट के अन्दर अन्दर इनके जमा हो जाने के कारण वहां एक Tubercle भी बन जाता है। जीवाणु के विपरीत होने वाली इनकी यह प्रतिक्रिया जीवाणु पर चढ़े हुये कातम्य लेप

(Fatty Envelop) के विपरीत होती है। Reticulo Endothelial System. के ये सेल प्रबल जीवाणु भक्षी (Phagocytic) होते हैं। इसीलिये ये वहां पर आये क्षय जीवाणुओं और उन Polymorphs को कि जिनमें जीवाणु पकड़े हुये पड़े होते हैं खा लेते हैं। इनके द्वारा जीवाणुओं के विघटित (Break Down) होने से इनमें से जो वसामय पदार्थ (Lipid) निकलता है वह इन Monocytes के Cytoplasm में बिखर जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ये Monocytes लसिका वाहिनियों की अन्दर की झिल्ली की सेलों की तरह के अर्थात् (Endothelial Cells की तरह) बड़े बड़े प्रोटोप्लाज्म वाले दीखने लगते हैं जिससे इन्हें हम Epithelioid Cells कहते हैं। इन सेलों का बन जाना इस रोग का विशेष लक्षण है। देखने में यह Epithelioid Cell फीके रंग का बड़े आकार का और एक बड़े न्यूक्लियस वाला सेल होता है। Epithelial सेलों के Cytoplasm जैसे Reticuli या सूत्रों

जैसे ही ये Epithelioid Cells भी Rectiuli या सूत्रों द्वारा परस्पर जुड़े होते हैं

द्वारा जुड़े होते हैं। जब रोगी में प्रतिरोधक प्रक्रिया विशेष होती है तब ये सेल भी प्रभूत मात्रा में उपस्थित होते हैं तथा इनके आ जाने के बाद इनके जीवाणुभक्षीया Phagocytic हो जाने के कारण क्षय जीवाणु इतने नष्ट हो जाते हैं कि संक्रान्त स्थान पर उनका देख सकना कठिन हो जाता है। अनेक Epithelioid Cells के मिलकर एक हो जाने से कुछ बड़े बड़े सेल भी बन जाते हैं जो इस स्थान पर दिखाई पड़ते हैं। इन्हें Giant Cells कहते हैं। जिन सेलों के मिलने से ये सेल बनते हैं उनके Nuclei भी इसके किनारे किनारे पर पड़े हुये देखने में आते हैं। ये बड़े सेल तब बनते हैं जब इस प्रदेश में कुछ अवयव मृत (Necrosed) हो जाता है। ये बड़े बड़े सेल उस मृत अवयव को तथा जीवाणुओं को पकड़ कर हजम कर लेते या वहां से हटा लेते हैं। इसलिये इन सेलों का उत्पन्न होजाना रोगी की प्रतिरोधक शक्ति का द्योतक होता है। Miliary Tuberculosis या आशु वालुकाभ क्षय रोग में जब क्षय जीवाणु के विपरीत बालक की प्रतिरोधक शक्ति कम होती केवल से Giant Cells नहीं मिलते।

क्षय जीवाणु के संक्रमण के एक सप्ताह बाद रक्त वाहिनियों के आसपास के (Perviascular) Lymph Space से Lymphocytes वहां आने लगते और उस स्थान के चारों ओर घेरा डाल देते हैं। देखने में ये छोटे छोटे सेल होते हैं पर बड़े बड़े काले रंग के Nuclei के कारण ये काले काले दीखते हैं। रक्त के Lymphocytes की तरह के ही होते हैं। इन सेलों में से जो Gamma-Globulin उस स्थान पर मुक्त होता है उसे प्रतिरोधक पिंड (Immune-bodies --- माना जाता है।

इस प्रकार के अनेक अदृश्य Giant Cell Systems मिलते हैं जो एक दृश्यमान बाजरे के दाने जितना अंकुर बनाता है उसे ही Tubercle.

Epithelioid Cells भी Reticuli

कहते हैं। प्रत्येक Giant Cell Syste-m में केन्द्र प्रदेश में एक Giant Cell होता है। इसके चारों ओर Epithelioid Cells और इनके बाहर की ओर Inflammatory Cells श्वेतकण अर्थात् Lymphocytes तथा Plasma Cells होते हैं।

Caseation पनीर भाव :-

क्षय जीवाणु के संक्रमण के लगभग १५ दिन के बाद यदि शरीर की प्रतिरोधक शक्ति कम हो अथवा जीवाणु का संक्रमण अधिक मात्रा में हुआ हो तो इस क्षयांकुर के केन्द्र भाग में क्षय जीवाणु के Tuberculoprotein के दुष्प्रभाव से मृत्यु ~~ग्र~~ (Coagulation Necrosis) की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। अर्थात् इन सेलों के प्रोटोप्लाज्म के टूटने से उत्पन्न पाचकतत्व (Intracellular Enzymes) के द्वारा इनका प्रोटोप्लाज्म पनीर जैसे पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है। सेलों की परस्पर पृथकता लुप्त हो जाती है। इनकी भित्तियां नष्ट हो जाती हैं और इनके स्थान पर पनीर जैसे पदार्थ का एक ढेर दीखने लगता है। साधारण शोथ से युक्त प्रदेश में तो श्वेत कणों (Leucocytes) को अपनी ओर खींचने का गुण होता है (वह Chemotactic होता है) जिससे उनके मृत हुये शरीर में से उत्पन्न Proteolytic Enzyme के द्वारा शोथ युक्त अवयव पक कर पूय रूप में परिवर्तित हो जाता है। परंतु Caseation से युक्त प्रदेश ऐसा Chemotactic नहीं होता। इसलिये वह पूय में परिवर्तित नहीं होता। इस प्रकार जब क्षयांकुर के केन्द्र भाग में Caseation की अवस्था होती है, उसके चारों ओर पहले फीके से रंग का Epithelioid Cells तथा Giant Cells का घेरा होता है, और उसके बाहर गहरे रंग के Lymphocytes का घेरा होता है।

अब यदि यह रोग यहीं समाप्त हो जाता अर्थात् Caseation के बाद कोई परिवर्तन न होता तो भी यह रोग आपत्तिजनक न होता परंतु बहुधा यह पनीर सदृश पदार्थ (Caseated Matter) द्रव रूप हो जाता है और
तब वहां क्षयजीवाणु की वृद्धि भी अधिक होती है। यह पनीर सदृश घना पदार्थ द्रव रूप क्यों होता है
जब यह द्रव रूप होता है अर्थात् उसमें मृदुता (Softening) क्यों होती है इसका कोई समाधान अभी तक नहीं मिला। यह क्षयांकुर फुफ्फुस में हो तो यह मृदु हुआ द्रव किसी श्वास प्रणालिका में खुलकर बहने लगता है जिसके साथ क्षय जीवाणु फिर दूर तक प्रसरण कर जाता है। क्षयांकुर के अन्दर से इस द्रव भाग के बहने से उसमें एक रिक्त स्थान उत्पन्न हो जाता है जिसे गुहा भाव (Cavitation) की प्रक्रिया कहते हैं। इसीलिये यदि थूक के द्वारा ~~xxxx~~ पतला पूय सदृश द्रव निकलने लगता है तो समझा जाता है कि फुफ्फुस में कहीं पर गुहा (Cavity) बन गई है।

Tuberculous Abscess:- इस केसीय रहित निरपायी किडिटा को जिसके

अन्दर पनीर जैसा यह पदार्थ भरा होता है जिसके चारों ओर की दीवार में Grey Tubercles छाये होते हैं। इस व्रण को (Tuberculous Abscess) कहते हैं। यह त्वचा के नीचे हो तो अंत में त्वचा से जुड़ जाता है। तथा त्वचा रक्त वर्ण की हो जाती है। इस रक्त वर्ण प्रदेश में इस विद्रधि के खुल जाने से एक व्रण या नाड़ी व्रण (Sinus) बन जाता है। यह विद्रधि गहराई में हो तो इसका पूय किसी/Fascia पर से बहता बहता दूर तक चला जाता है और वहीं त्वचा पर खुलता है। परंतु बहुधा क्षयांकुर में द्रव भाव नहीं होता Epithelioid Cells के सूत्राकार प्रवर्धन (Reticuli) ही स्नायु तंतु (Connective Tissue) में परिवर्तित होकर इसके चारों ओर घेरा डाल लेते हैं और इस प्रकार इसके चारों ओर एक दृढ़ आवरण (Fibrous-Capsule) बन जाता है तथा फिर इसमें चाक के साल्ट निक्षिप्त हो जाते हैं जिससे वह कठोर (Calcified) हो जाता है। यद्यपि फिर भी कभी कभी इसके अंदर कोई कोई जीवाणु जीवित रह सकता है।

जब इस रोग में जीवाणु द्वारा मृत्यु (Necrosis) की प्रक्रिया अधिक होती है तब/पनीभाव (Caseation) अधिक होता है। इसके विपरीत जब देहों की प्रतिक्रिया प्रबल होती है तो रोहण क्रिया (Fibrosis) अधिक होता है।

२. जीर्ण उरः क्षय रोग :-Chronic Fibrocaseous Tuberculosis:-

क्षय रोग शरीर के अंगों में सबसे अधिक फुफ्फुस में होता है। तथा वहां भी जीर्ण उरः क्षय के (Chronic Fibrocaseous) रूप में अधिक होता है। यह रोग १५ से २५ वर्ष की आयु में विशेषतः पाया जाता है। संभव है (Primary Infection) से उपार्जित प्रतिरोधक शक्ति तब तक घट जाती है तथा इस आयु में स्वभावतः दूसरों से इस रोग के भारी संक्रमण (Re-Infection) का अवसर भी अधिक रहता है।

बाहिर से जीवाणु संक्रमण होने के कितने दिन बाद यह रोग आरंभ होता है इस विषय में Boyd. साहब का मत है कि संक्रमण होने के एक मास बाद इस रोग के पार्श्व शूल आदि लक्षण आरंभ हो जाते हैं तथा Tuberculin Test. भी Negative से Positive हो जाता है।

फुफ्फुस के अंदर श्वास नाली या लसिका वाहिनि या रक्त वाहिनि/द्वारा आया हुआ क्षय जीवाणु इसके अन्य भागों में उस तरह नहीं पनपता जैसा कि वह फुफ्फुस शिखर (Apex) में पनपता है। यह रोग प्रायः फुफ्फुस शिखर के पिछले भाग में आरंभ होता है। वहां ही यह रोग क्यों आरंभ होता है इस के लिये Dock ने जो समाधान दिया है वह उचित प्रतीत होता है। वह कहता है कि फुफ्फुस में रक्त, दक्षिण हृदय से Pulmonary Artery

[illegible]

Grey Tubercles [illegible] (Tuberculous Abscess)

[illegible]

[illegible]

[illegible] (Sinus) [illegible]

[illegible] Fascia [illegible]

[illegible]

Epithelioid Cells [illegible] (Reticuli) [illegible]

[illegible] (Connective Tissue) [illegible]

[illegible] (Fibrous-Capsule) [illegible]

[illegible] (Calcified) [illegible]

[illegible] है।

[illegible] (Necrosis) [illegible]

[illegible] (Caseation) [illegible]

[illegible] (Fibrosis) [illegible] है।

६. [illegible] :-Chronic Fibrocaseous Tuberculosis:-

[illegible] है।

[illegible] (Chronic Fibrocaseous) [illegible]

[illegible]

[illegible] (Primary Infection) [illegible]

[illegible]

(Re-Infection) [illegible] है।

[illegible]

[illegible] Boyd. [illegible]

[illegible]

Tuberculin Test. [illegible] Negative [illegible] Positive [illegible] है।

[illegible]

[illegible]

[illegible] (Apex) [illegible]

[illegible]

[illegible] Dock [illegible]

[illegible]

[illegible] Pulmonary Artery

के द्वारा पहुंचता है। फुफ्फुस की रक्त वाहिनियों में सबसे कम भार (B.P.) शिखर की रक्त वाहिनियों में होता है। विशेषतः जब तक मनुष्य खड़ा हुआ काम करता रहता है वहां भार रहता ही नहीं। इसलिये लसीकावाहिनियों (Lymphatics) के द्वारा शिखर में पहुंचे हुये जीवाणुओं को शिखर की रक्त वाहिनियों के आसपास लसिका द्रव (Tissue Fluid) के न रहने से वृद्धि करने का अवसर मिल जाता है। दोनों फुफ्फुस शिखरों में से दक्षिण फुफ्फुस शिखर में यह रोग क्यों अधिक होता है इस विषय में उसका कथन है कि दांई Pulmonary Artery बांई की अपेक्षा लंबी तथा तंग होती है। जब तक व्यक्ति श्रम करता या चलता फिरता है, दक्षिण शिखर में रक्त भार सर्वथा नहीं रहता। जिससे वहां जीवाणु को रोपण करने का अवसर और भी अधिक रहता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रात को ८ घंटे तथा दिन में भी कुछ समय लेटकर आराम करने वालों में इस रोग के होने का भय कम रहता है।

सम्प्राप्ति :-

एक फुफ्फुस दो तीन खंडों Lobes से बना होता है। प्रत्येक खंड अनेक खंडिकाओं (Lobules) से बना हुआ है तथा प्रत्येक खंडिका अनेकानेक श्वास प्रणालिकाओं (Bronchioles) तथा इनके सिरे पर संबंधित श्वास कोष्ठक गुच्छों (Acini अथवा Alveoli) के द्वारा बना है। जिसे फुफ्फुस की इकाई कहा जा सकता है। यह रोग भी फुफ्फुस की एक इकाई में प्रारंभ होता है। अर्थात् फुफ्फुस की किसी एक Bronchiole के सिरे पर यह रोग आरंभ होता है जिससे फुफ्फुस का एक वायुकोष्ठक एक (Acinus या Alveolus) पहले रोग ग्रस्त होता है और फिर अनेक कोष्ठकों द्वारा (Acini) के रोग ग्रस्त होने से फुफ्फुस का एक बड़ा भाग रोग ग्रस्त हो जाता है। युवक में क्षय जीवाणु का संक्रमण बहुधा बाहर से होता है। (Exogenous) कभी कभी फुफ्फुस में किलाण (Primary Infection में से विशेषतः उसके Glandular Component अर्थात् किसी जीवित जीवाणुओं से युक्त Mediastinal Gland में से होता है। यह क्षय जीवाणु लसिका वाहिनी (Lymphatic) के द्वारा एक श्वास प्रणालिका (Bronchiole) की दीवार में उसके Peribronchial Lymphoid Tissue में वृद्धि करना प्रारंभ करता है। क्योंकि फुफ्फुस शिखर में इसे रोपण करने की अनुकूल परिस्थिति मिलती है। इसलिये पहले पहले यह वहां ही रोपण करता है। फिर इसके विपरीत वहां Monocytes तथा लसिका द्रव (Lymph) पर्याप्त मात्रा में जमा हो जाते हैं। इनके जमा होने से वहां Tubercles बन जाते अर्थात् (Tubercular Gr-anuloma. सा बन जाता है जिससे कुछ एक प्रणालिकाओं के सिरे तथा इनसे संबंधित वायु कोष्ठक द्वारा (Acini या Alveoli)

एकत्रित हुये सेलों के द्वारा तथा एकत्रित हुई (लसीका) (Lymph) के जमजाने से ठोस से हो जाते हैं। इसे क्षय जनित स्थानिक फुफुस शोथ (Local Tuberculous-Broncho Pneumonia) कह सकते हैं। यद्यपि रोगी का यह रोग ग्रस्त फुफुस का एक भाग श्वास प्रश्वास में भाग लेना बंद कर देता है। रोग बढ़ता जाय तो श्वेत कणों और (लसीका) Lymph के संचित होने से बने हुये इस भाग में इन्हीं श्वेत कणों में से उत्पन्न Intracellular Enzymes. के द्वारा (मृत्यु) Coagulation Necrosis तथा Fatty Degeneration की प्रक्रिया होने लगती है जिससे यह स्थान अर्थात् वहां भरा हुआ द्रव (Exudation) एक पनीर जैसे पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है जिससे इसे Caseous Broncho-Pneumonia कहा जाता है। इस प्रकार फुफुस शिखर के अनेकानेक खण्डिकायें या (Lobules) निष्क्रिय (Callapsed) हो जाती हैं।

इसके बाद भी यदि वहां रोग की रोक थाम यथेष्ट न हो अर्थात् वहां स्नायु तन्तु की वृद्धि (Fibrosis) की प्रक्रिया भली प्रकार न हो, जीवाणु वृद्धि करता ही जाय, विशेषतः उस स्थान में Pyococci प्रवेश कर जायें तो उनके कारण वहां Leucocytes एकत्रित होने लगते हैं और उनके मृत शरीरों में से निकले E-nzymes के द्वारा उस पनीर सदृश पदार्थ को बांधकर रखने वाला Elastic Tissue पचने या गलने लगता है जिससे पनीर जैसा पदार्थ फिर द्रव रूप होने लगता है। उसमें Sloughing या Lizuefaction होने लगता है। जिससे वहां शीत विद्रधि या Cold Abscess बन जाता है। फिर यह विद्रधि निकटस्थ श्वासनली (Bronchus या Bronchiole) में खुल जाती है। और उसका पूय सदृश द्रव पदार्थ थूक के साथ बाहर निकलने लग जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि पनीर सदृश पदार्थ के द्रव रूप होकर निकलते रहने से इस रोग ग्रस्त भाग के केन्द्र में एक गुहा (Cavity) बन जाती है जो क्रमशः बड़ी होती जाती है। यह गुहा भाव (Cavitation) उरःक्षय रोग का एक विशिष्ट लक्षण है। बहुधा इस गुहा के बीच में परदे अर्थात् (Stroma-या Trabeculae) भी हो सकते हैं जिनमें चलने वाली श्वास नालियां तथा रक्तवाहिनियां भी होती हैं परंतु प्रायः वे अवरुद्ध (Thrombosed) हुई होती हैं। इन परदों में यदि कोई रक्तवाहिनी अवरुद्ध हुई न हो तो उसके क्षत हो जाने से थूक में रक्त की न्यूनाधिक मात्रा भी आ सकती है। रोग के अंत में जब बड़ी बड़ी श्वास नालियां रोग ग्रस्त हो जाती हैं तो उनकी दीवार में विद्यमान बड़ी रक्तवाहिनियों में शैथिल्य (Dilatation) होकर उनमें (सिरागुच्छ) (Aneurism) भी बन सकते हैं तथा यदि कोई Aneurism फट जाये तो फिर मुख द्वारा अत्यन्त रक्त स्राव होकर तुरंत मृत्यु हो सकती है।

एक बार गुहा भाव हो जाय तो आसपास के स्वस्थ फुफ्फुस के श्वास प्रश्वास के साथ फैलने सुकड़ने से इस गुहा पर और खींच पड़ती रहती है जिससे वह फैलती ही जाती है। परंतु यदि पूर्ण विश्राम के द्वारा रोग ग्रस्त फुफ्फुस को निष्क्रिय करा दिया जाय तो यह गुहा भरने लग जाती है।

जब फुफ्फुस में क्षयांकुर उत्पन्न होते हैं तो प्रायः वे फुफ्फुसावरण (Pleura) पर भी प्रसरण कर जाते हैं और वहां इनके विपरीत लसीका (Lymph) का जो स्राव होता है इसमें Fibrinogen भी होता है जो वहां पर एकत्रित हुये Polymorphonuclears के मृत शरीरों में से निकले Thrombin. के द्वारा Fibrin में परिवर्तित होकर (Fibrinous Pleurisy) का कारण बन जाता है। इसका यह परिणाम होता है कि फुफ्फुस पर चढ़ा हुआ अन्दर का Pleura सामने के बाहर के (Parietal) Pleura से जुड़ जाता है। Pleura के विस्तृत प्रदेश में क्षयांकुर निकल आये तो वहां पतले Lymph (Serofibrinous Fluid) का स्राव इतना होता है कि Pleural-Cavity. का एक भाग इससे भर जाता है। तब इसे (Pleurisy with Effusion.) कहते हैं।

आराम से या चिकित्सा से रोगी की प्रतिरोधक शक्ति बढ़ जाय तो Caseation की प्रक्रिया के होने से पहले वहां Fibrous Tissue का आवरण बन जाता है और रोग की गति अवरुद्ध हो जाती है अथवा Caseation के बाद भी वहां (Fibrosis एवं Calcification) होकर रोग की वृद्धि रुक जाती है। ऐसा होने पर फुफ्फुस का यह रोग ग्रस्त भाग सुकड़ कर छोटा हो जाता है तथा इस प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न हुई क्षति को पूर्ण करने के लिये चारों ओर के स्वस्थ्य फुफ्फुस में हवा अधिक भर जाती है अर्थात् इसमें Compensatory Emphysema हो जाता है।

जीर्ण उरः क्षय में रोग ग्रस्त भाग में (Fibrosis) तथा (Caseatic दोनों प्रक्रियाएं न्यूनाधिक रूप में साथ साथ चलती हैं।

<u>जीर्ण उरः क्षय Chronic Fibrocascous Tuberculosis: के लक्षण :-</u>

फुफ्फुस में क्षय जीवाणु के संक्रमण के कारण दो प्रकार के लक्षण होते हैं। एक व्यापक, दूसरे स्थानिक। क्षय जीवाणु की विषा (Tuberculoprotein) के रक्त में संचार करने के कारण तो ऐसे व्यापक लक्षण जैसे ज्वर, कृशता, अशक्ति आदि लक्षण होते हैं तथा खांसी, बलगम, पार्श्व शूल आदि लक्षण श्वास प्रणालियों में या फुफ्फुस या (Pleura) में क्षय जनित शोथ के कारण होते हैं।

<u>प्रारंभिक लक्षण :-</u>

<u>अथवा अव्यक्त उरः क्षय के लक्षण :-</u>

उरः क्षय रोग इसी अज्ञात रूप में और धीरे धीरे आरंभ होता

है कि प्रारंभ में इस रोग का पहचानना सुगम नहीं होता। परंतु कुछ एक लक्षणों को देखकर इस रोग का संदेह हो जाता है। क्षय जीवाणु के विष (Tuberculo-Protein) के कारण शरीर की प्राण शक्ति पर बड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है। उसके क्षीण हो जाने से अशक्ति या दौर्बल्य का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। स्वल्प श्रम से भी शरीर थकने लगता है। रात्रि को आराम कर लेने पर पहले तो प्रातः शरीर में स्फूर्ति आती है। पर कुछ काल बाद रात भर आराम कर लेने पर भी दिन भर के श्रम से उत्पन्न थकावट दूर नहीं होती जिससे प्रातः उठने पर भी स्फूर्ति नहीं आती। इस प्रकार अशक्ति या दौर्बल्य (Asthenia) इस रोग का एक प्रारम्भिक लक्षण होता है। इस रोग की विष के कारण पाचकाग्नि घट जाती है जिससे खाने के लिये अरुचि या अन्न द्वेष (Anorexia) का लक्षण हो जाता है।

कभी कभी इस रोग की विष के कारण मन्द सा ज्वर होता है जो सांयकाल ६ से ८ के बीच में हो जाता है। यह ज्वर अनियमित होता है। परंतु प्रातः काल का तापमान नार्मल से नीचे होता है। यद्यपि साधारण व्यक्ति में दिन भर के श्रम से जितना तापमान बढ़ना चाहिये उसकी अपेक्षा उससे अधिक बढ़ता है। इस प्रकार श्रम से तापमान बढ़ जाने का लक्षण भी इस रोग का सूचक होता है।

मंदतापमान या अन्नारुचि के कारण अथवा इस रोग की विष के दुष्प्रभाव से शरीर की वृद्धि ही नहीं अवरुद्ध हो जाती प्रत्युत शरीर का भार भी घटने लग जाता है। शरीर के भार का घटना इस रोग का प्रधान प्रारंभिक लक्षण है।

कभी कभी यह रोग प्रतिश्याय के दीर्घ वेगों के साथ आरंभ होता है क्योंकि क्षय विष के कारण सर्दी के लिये असात्म्यता (Allergy) बढ़ जाती है। सर्दी लगकर प्रतिश्याय हो जाता है अथवा प्रतिरोधक शक्ति की न्यूनता से प्रतिश्याय शीघ्र शीघ्र हो जाता है और तीन चार दिन रहने के स्थान पर यह चिरकाल तक चलता है।

कभी कभी यह रोग शुष्क खांसी से आरंभ होता है। Pleura में व्रणांकुरों के होने के कारण उनका विषात्मक प्रभाव श्वास नाड़ियों पर ऐसा पड़ता है कि खांसी उठती रहती है। इसे Reflex Cough कह सकते हैं।

कभी कभी यह रोग फुफ्फुसावरण (Pleura) में क्षय जनित शोथ के कारण जब यह पृष्ठ भाग के Pleura के साथ सम्पर्क में आता है तो उससे उत्पन्न पार्श्व शूल के साथ आरंभ होता है। गहरा श्वास लेने पर एक पार्श्व में छाती की पीड़ा बढ़ती होती है। बाईं ओर बहुधा में यह लक्षण विशेष होता है। इस प्रकार जब तक [illegible] तब तक उपर्युक्त

अव्यक्त लक्षण होते हैं।

व्यक्त उरः क्षय के लक्षण :-

रोग आरंभ होने के कुछ काल बाद जब फुफ्फुस के रोग ग्रस्त प्रदेश में रोग वृद्धि के सूचक परिवर्तन जैसे पूय भाव (Sloughing) गुहाभाव (Cavitation) के परिवर्तन हो जाते हैं तब ये लक्षण होते हैं।

१. कास :-

खांसी उरः क्षय का प्रधान लक्षण है। फुफ्फुस गुहा में से उत्पन्न पूय द्रव के श्वास नालियों में प्रवेश करते ही खांसी उठने लगती है। प्रारंभ में यह खांसी प्रातःकाल उठने पर उठती है। क्योंकि फुफ्फुस के रोग ग्रस्त प्रदेश में उत्पन्न स्वच्छ सा पूय द्रव प्रातः काल उठने पर जब एक श्वास नाली में प्रवेश करता है खांसी उठने लगती है और फिर यह उस द्रव के निकल जाने पर दिन भर शांत रहती है। बाद में ज्यों ज्यों फुफ्फुस में से पूय द्रव की उत्पत्ति बढ़ती है/ खांसी भी अधिक अधिक उठती है। यदि अन्दर से निकलने वाला द्रव गाढ़ा हो जो देर से निकलता हो तो कष्ट दायक खांसी उठती है। रोग Pleura में ही हो तो खांसी शुष्क ही उठती है।

२. मल भूत कफ या बलगम का पड़ना :- (Expectoration):-

इस रोग के बढ़ने पर पहले खांसी के साथ पतली बलगम आती है। परंतु इस Mucus में दिन के गढ़े मिलते छोटे छोटे पूय का (Caseous पदार्थ के टुकड़े) आने लगते हैं। ज्यों ज्यों गुहाभाव (Cavitation) की वृद्धि होती है ये पूय टुकड़े अधिक मात्रा में आने लगते हैं। इस पूय मिश्रित थूक (Purulent-Sputum) की परीक्षा करने पर इसमें क्षय जीवाणु मिलते हैं तथा इसमें Caseous पदार्थ को जोड़कर रखने वाले Elastic Tissue के सूक्ष्म Fibres भी मिलते हैं। जितना ही इस पूय वाले थूक (Purulent एवं Nummular, Sputum, Mucopus). के गोलाकार ढेर की मात्रा बढ़े उतना ही रोग की वृद्धि हो रही है/ ऐसा समझना चाहिये। यदि इसकी मात्रा घटे और फिर यह पतला (Mucoid) हो जाय तो रोग अच्छा होता हुआ समझना चाहिये। ज्वर इस रोग का प्रधान लक्षण है जो इस रोग के विष की न्यूनता या अधिकता (Toxaemia) का सूचक होता है। प्रारंभ में दिन भर के श्रम करने के बाद विष संचार की वृद्धि केवल कुछ समय अर्थात् सायंकाल के समय ही होती है। ज्यों ज्यों यह विष संचार बढ़ता जाता है अर्थात् रोगी का तापमान मध्याह्न में ही बढ़ने लग जाता है। अर्थात्/ रोगी का तापमान रात के विश्राम से उतर जाता है। प्रायः प्रातःकाल का तापमान नार्मल से नीचे होता है तथा दैनिक श्रम के कारण वह सांयकाल नार्मल से एक दो डिग्री बढ़ जाता है। प्रायः सांय के तापमानों में जितना जितना अन्तर बढ़ता जाय उतना

ही रोग के विष संचार में वृद्धि समझनी चाहिये। इस क्षय विष के अधिक बढ़ जाने पर प्रातः सांय के तापक्रमों में चार पांच डिग्री का अंतर हो जाता है। अंत में जब प्रातः शीत काल ज्वर चढ़ता है और रात को अति स्वेद के साथ उतरता है। इसे Hectic Temperature कहा जाता है।

अति स्वेद तथा रात्रि स्वेद :-

सांयकाल को जो ज्वर चढ़ता है वह रात्रि को सोते समय जब उतरता है तब भारी स्वेद ~~के साथ उतरता~~ आता है। यह रात्रि स्वेद इस रोग का एक विशेष लक्षण है/ क्योंकि क्षय विष का यह एक सूचक लक्षण प्रतीत होता है। उरः क्षय की प्रारम्भिक अवस्था में भी यह लक्षण हो सकता है। अर्थात् यदि किसी को शीत ऋतु में रात्रि स्वेद हो तो इस रोग की आशंका होनी चाहिये। किसी किसी रोग में शीत काल के दिनों में दिन में भी कक्ष प्रदेश पर भारी स्वेद आता है। त्वचा पर आये स्वेद के संचित हो जाने पर उसमें Saprophytic-Organisms बहुत बढ़ते हैं जिससे त्वचा पर से एक मीठी पर घृणा जनक दुर्गन्ध आने लगती है जो कि प्रायः क्षय रोगी के शरीर में से आया करती है।

रक्त निष्ठीवन तथा रक्तवमन :- (Haemoptysis):-

लगभग ७ प्रतिशत उरः क्षय रोगियों में इस रोग का पता पहले पहल रक्त निष्ठीवन या रक्त वमन से लगता है। एक सर्वथा स्वस्थ प्रतीत होने वाले व्यक्ति को सहसा मुख में एक गर्म द्रव आता प्रतीत होता है और जब वह उसे थूकता है तो वह रक्त निकलता है। इस प्रकार एक व्यक्ति को चार पांच छटांक तक के रक्त की उल्टी हो सकती है। इस लक्षण को देखकर फुफ्फुस में इस रोग का निश्चय हो जाना चाहिये। इस रक्त वमन के बाद भी एक दो दिन तक थूक के साथ मिश्रित रक्त आता रहता है। जब रक्त निष्ठीवन दीर्घ रोग के दौरों में होता है तब वह गुहाभाव (Cavitation) की अधिकता का सूचक होता है तथा कुछ एक तो रोग के अन्त में यह रोगी के अन्त काल का सूचक होता है। क्योंकि भारी रक्त वमन होने के साथ ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।

कृशता और अशक्ति :-

रोग की वृद्धि के साथ साथ भार घटता जाता है। शरीर कृश होता जाता है। अशक्ति बढ़ जाती है। नाड़ी गति तीव्र तर होती जाती है। नाड़ी गति या हृदय गति की तीव्रता का लक्षण इस रोग के प्रारंभ से अंत तक रहता है। क्षय विष के दुष्प्रभाव से हृदय तथा धमनियों की प्रबल शक्ति घट जाती है। रोग के प्रारंभ में भी यदि नाड़ी प्रतिमिनट ८० - ९० के लगभग रहे, संकोच कालिक रक्त भार घटा हुआ हो तो उरः क्षय का संदेह करना चाहिये।

रोग परीक्षा :-

रोगी की शारीरिक परीक्षा करने पर पता लगता है कि उसका

भार घटता जाता है। उसकी नाड़ी तीव्र है, आंखें श्वेत भाग पर कुछ पीली हुई हैं, अंगुलियों के सिरे मोटे हैं (C-lubbing है) इनका यह मोटापन Bronchiectasis. नामक रोग में भी होता है। पर दोनों रोगों के अन्दर नखों में विभिन्नता होती है। इस रोग में नख पतले, चमक रहित तथा तोते की चोंच की तरह मुड़ जाते (Curved) होते हैं। परंतु Bronchietasis रोग में नख अधिक मोटे, चमकदार (Polished) होते तथा मुड़ जाते हुये नहीं होते।

छाती की परीक्षा करने पर रुग्ण हुये फुफ्फुस शिखर के आस पास की मांस पेशियां विशेषतः Supraspinatus सूखी हुई प्रतीत होती है। इस कन्धे के पीछे की तथा ग्रीवा की मांस पेशियों के सूखने से Sternomastoid उभरी हुई दीख रही है। कुछ व्यक्ति अक्ष Calvicle के ऊपर नीचे के गढ़े भी कुछ गहरे से दीखने लगते हैं।

टकोर परीक्षा :- Percussion:-

जब रोगी ने अन्तः श्वास लेकर छाती को फुलाया हुआ हो ऐसी अवस्था में, फुफ्फुस शिखर के पीठ पर अर्थात् Scapula के अन्दर के किनारे और रीढ़ की हड्डी के बीच के प्रदेश पर टकोर कर दोनों ओर के घोष (Resonance) की तुलना करनी चाहिये। रोग ग्रस्त फुफ्फुस शिखर के ठोस (Consolidated) होने के कारण उधर की टकोर दूसरी ओर की अपेक्षा मंद (Dull) होती है। पीठ के Scapula के ऊपर के प्रदेश अथवा Calvicle के ऊपर के प्रदेश में या Calvicle पर टकोरने से फुफ्फुस शिखर में उत्पन्न हुये ठोसपने (Consolidation) की परीक्षा की जा सकती है।

स्पर्श करने पर हाथ को वाचिक ध्वनि का कंपन (Tactile-Fremitus) बढ़ा हुआ लगता है।

श्रवण परीक्षा :- Auscultation:-

१.. फुफ्फुस शिखर का पश्चिम प्रदेश कुछ ठोस हो गया हो तो वहां पर श्रवण करने से श्वास प्रश्वास की ध्वनि कुछ Tubular या Bronchial या छिद्र की सुनाई पड़ती है तथा साधारणतः तो अन्तःश्वास ऊंचा तथा लंबा होता है। परंतु फुफ्फुस के इस भाग के ठोस होने पर बहिः श्वास उससे भी ऊंचा और लंबा सुनाई पड़ने लगता है। रोगी की वाचिक ध्वनि (Bronchophony) या (Vocal Resonance) ऊंची सुनाई पड़ती है। रोग कुछ स्पष्ट रूप में हो तो अन्तः श्वास के अंत में Crepitations. अर्थात् कानों के पास होने वाली बालों की रगड़ की सी आवाज, या Fine Rales अर्थात् बुलबुले के फटने की सी बारीक आवाज सुनाई पड़ती है। फुफ्फुस के ठोस हुये प्रदेश

पर मुंह में बोली हुई आवाज जैसे एक,दो,तीन की आवाज अर्थात् Whispering-Pectoriloquy स्पष्ट सुनाई पड़ती है। रक्त की परीक्षा करने पर Blood-Sedimentation Rate. बढ़ा हुआ पाया जाता है। X-Ray. परीक्षा करने पर फुफ्फुस के शिखर के पास छायावाला या बदली से युक्त प्रदेश दिखाई पड़ता है।

ज्यों ज्यों फुफ्फुस में रोग की वृद्धि होती जाती है उपरोक्त लक्षण अधिक स्पष्ट होते जाते हैं।

टिप्पणी १.. (१८१८ - १८१६ में Laurant ने तथा उस Boylet तथा उसके साथी Laennec ने पेरिस में फुफ्फुस की श्रवण परीक्षा विधि का आविष्कार ही नहीं किया/ प्रत्युत ये दोनों महापुरुष इस रोग की व्याख्या करने वाले हुये हैं। पर किंतु दुःख का विषय है कि ये दोनों महापुरुष अंत में क्षय रोग से मृत्यु को प्राप्त हुये।)

२.. तीव्रतर उरः क्षय :- Phthisis Florida (Swift) Acute Phthisis-Tuberculous Pneumonia or Tubercluous Broncho Pneumonia, Acute Caseous Pneumonia.

जब शरीर में क्षय जीवाणु के विपरीत प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती जैसे कि छोटे बालकों में वह नहीं होती यदि प्राथमिक (Primary-Infection) के कारण सूजा हुआ कोई Mediastinal Gland एक श्वासनली (Bronchus) के साथ जुड़ जाय और फिर वह उसी में खुल जाय तो उसमें से निकले क्षय जीवाणु फुफ्फुस के एक खंड या दोनों फुफ्फुसों के भिन्न भिन्न प्रदेशों में फैल जाते हैं। जिससे एक खंड में या फुफ्फुसों के भिन्न भिन्न भागों में Mononuclears का स्राव (Exudation) भर जाता है। फिर वायु कोष्ठकों या (Alveoli) में भरा हुआ यह द्रव पनीर जैसे पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है अर्थात् एक खंड में या फुफ्फुस के भिन्न भिन्न भागों में पनीभाव (Caseation) हो जाता है। बालक में प्रतिरोधक शक्ति के न होने से स्नायुभाव (Fibrosis तथा Calcification)या Giant Cells बनाने की प्रतिक्रिया होती ही नहीं। इस प्रकार दक्षिण फुफ्फुस के ऊपर के खंड में Tuberculous-Lobar Pneumonia. या दोनों फुफ्फुसों में Broncho Pneumonia. कोई सा भी रोग हो सकता है। फिर इन ठोस हुये भागों का Elastic Tissue. नष्ट हो जाता है और उनमें मृदुता (Softening) उत्पन्न हो जाती है।

लक्षण :-

प्रारंभ में बालक में साधारण Pneumonia या Broncho-Pneumonia के लक्षण होते हैं। सर्दी लगकर ज्वर चढ़ता है पार्श्व शूल और खांसी के लक्षण भी होते हैं ज्वर ऊंचा होता है पर प्रायः प्रातः सांय के तापमानों में अंतर अधिक होता है। श्वास गति और नाड़ी गति की तीव्रता

अतिकृशता, रात्रि स्वेद, थूक में रक्त की उपस्थिति तथा ज्वर के लगातार तीन चार सप्ताह तक बने रहने से निश्चय हो जाता है कि यह साधारण Pneumonia-या Broncho Pneumonia. नहीं है। प्रत्युत क्षय रोग के कारण है। थूक में रक्त मिश्रित (Blood S-tained Nummular) थूक होता है। परीक्षा करने पर फुफ्फुस पर Rales या Crepitations सुनाई पड़ते हैं। रोग एक दो मास रहकर घातक हो जाता है।

३.. वार्धक्यजन्य उर: क्षय :- Senile Phthisis:- Fibroid Pulmonary Tubercuolsis, Tuberculo Fibroid Disease of the Lungs:-

५० वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों में पाये जाने वाला यह एक मृदु पर चिर स्थायी उर: क्षय रोग है जो १५,२० वर्षों तक या और भी अधिक समय से चला आता है। फुफ्फुस में सौत्रिक की प्रक्रिया (Fibrosis) की प्रक्रिया विशेष रूप में होती है जिस कारण इसे Fibroid Phthisis कहते हैं। इसका पहचानना कठिन नहीं है। क्योंकि उर: क्षय के कारण चिरस्थायी कास का लक्षण जो कि प्रात: काल के समय विशेष होता है यद्यपि फुफ्फुस में स्नायु तंतु की वृद्धि की अधिकता के कारण Bronchiectasis न्यून या अधिक रूप में होती है। इसके कारण रात भर संचित हुआ बलगम प्रात: जब निकलता है तो खांसी उठनी स्वाभाविक ही है। दूसरा लक्षण इस रोग में श्वास काठिन्य का होता है क्योंकि फुफ्फुस के प्रधान अवयव (Parenchymatous Tissue) के स्थान पर स्नायु तंतु आ जाता है। अत: श्रम करने पर श्वास चढ़ जाना भी स्वाभाविक है। क्षय रोग के कारण कृशता तथा अशक्ति के लक्षण भी होते हैं। ज्वर का लक्षण नहीं होता या कभी कभी ज्वर हो जाता है पर दूसरे लक्षण नहीं होते। थूक में कभी कभी रक्त आने तथा उसमें क्षय जीवाणु मिलने के दो लक्षण भी इस रोग में होते हैं। दोनों फुफ्फुसों में से एक फुफ्फुस में स्नायु तंतु की वृद्धि विशेष होती है। दूसरे में मंद रूप में होती है जिस ओर के फुफ्फुस में यह प्रक्रिया विशेष होती है देखने में उधर की छाती दबी हुई होती है। क्योंकि दोनों Pleura के परस्पर चिपक जाने से पसलियां कुछ धंस जाती हैं। श्वास प्रश्वास के समय छाती का फुलाव या फैलाव बहुत कम होता है। ठकोरने पर घोष (Resonance) घटा हुआ, स्पर्श करने पर

वा.कंपन (Vocal Fremitus) घटी हुई श्रवण करने पर वाचिक (Vocal) तथा श्वासोच्छ्वासी (Respiratory) घोष (Resonance) घटा हुआ मिलता है। जिस फुफ्फुस में स्नायुभाव विशेष होता है। हृदय उस ओर को खिंच जाता है। इसका निश्चय X-Ray के द्वारा हो जाता है।

Non Tuberculous Pulmonary Fibrosis ३०,४० या ५० वर्ष की आयु के व्यक्तियों में पहले कभी हुये Broncho Pneumonia के उपद्रव के रूप में होता है उससे इस रोग का भ्रम हो सकता है। पर यह एक ही

फुफ्फुस में होता है। तथा इस रोग में थूक में रक्त नहीं आता इसमें कृशता,अशक्ति तथा थूक में क्षय जीवाणु दीखने के लक्षण नहीं होते।

४./Pulmonary Miliary Tuberculosis. या Acute Miliary Tuberculosis of the Lungs:-

जिन २,३ वर्ष के शिशुओं और छोटी आयु के बालकों में क्षय रोग प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती है उनमें फुफ्फुस में विद्यमान किसी क्षयग्रस्त लसीका ग्रन्थि के अथवा किसी (Caseous Gland) के समीप की शिरा के साथ चिपक जाने और बाद में उसमें खुल जाने से क्षय जीवाणु सभी अंगों में संक्रमण कर जाते हैं इससे विशेषतः फुफ्फुस या Peritoneum या Meninge-s में लक्षण उत्पन्न हुआ करते हैं। जब फुफ्फुस के लक्षण विशेष रूप से स्पष्ट हों तो उसे फुफ्फुस प्रधान व्यापक क्षय रोग Pulmonary Type या Broncho Pneumonic Type of Miliary Tuberculosis कहते हैं। इस रोग में फुफ्फुस के Interstitial-Tissue. में व्यापक रूप में पिन के नकुवे जितने क्षयांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। बालक पहले से ही क्षय प्रकृति का होता है या Measles अथवा Whooping-Cough. के रोग के बाद उसमें फिर क्षय रोग जागृत हो जाता है।

प्रारंभ में इस रोग में प्रातः तापमान नार्मल पर सांयकाल का तापमान १०२ या १०३ तक हो जाता है। फिर जितना जितना फुफ्फुस में क्षय रोग बढ़ता है प्रातः का तापमान भी ऊंचा हो जाता है। इस प्रकार तापमान निरन्तर (Continuous Remittent) हो जाता है। जिससे मन्थरज्वर (Typhoid) का भ्रम हो जाता है। कभी कभी प्रातः काल का तापमान सांयकाल के तापमान से ऊंचा भी हो सकता है। फुफ्फुस में शोथ या (Broncho Pneumonia) के कारण श्वास गति तीव्र होती है। क्षय रोग के सामान्य लक्षण जैसे खांसी,रात्रि स्वेद,अशक्ति,नाड़ी गति की तीव्रता,प्रातः सांय के तापमानों में अधिक अंतर तथा फुफ्फुस पर सुनाई पड़ने वाले Fine Rales को देखकर निश्चय हो जाता है कि यह तीव्र उरःक्षय रोग है। यह रोग १० दिन से ४५ दिन तक रहकर घातक हो जाता है।

५. फुफ्फुसावरण Pleura में क्षय रोग: Tuberculous Pleurisy:-
Tuberculous Pleuritis: क्षय जनित पार्श्व शूल:-

जब उरः क्षय रोग में फुफ्फुस शिखर के Pleura के नीचे के प्रदेश में क्षयांकुर निकलते हैं तो वहां से वे फुफ्फुसावरण (Pleura) पर भी प्रसरण कर जाते हैं तथा वहां से यह रोग सामने के Parietal Pleura में भी प्रसृत हो जाता है। इसलिये उरः क्षय में फुफ्फुसावरण क्षय भी बहुधा हो जाता है। Pleura के रुग्ण प्रदेश पर जो चिपचिपा सा Lymph का स्राव होता है उसमें Fibrin की मोटी तह जम जाती है। जिससे वह पृष्ठ खुरदरा हो जाता है। इसीलिये इसे Fibrinous Pleurisy कहते हैं। फिर

इस शोथ के अच्छे होने पर यह Fibrin की तह Fibrous Tissue में परिवर्तित हो जाती है। जो आमने सामने की Pleura की दोनों तहों को जोड़ देती है। इसीलिये पुराने उर: क्षय रोग में Pleura की दोनों तहें परस्पर जुड़ जाती हैं। इस प्रकार Pleura एक बड़ा प्रदेश इस रोग में सदा ही जुड़ता है। परंतु जब यह शोथ Pleura के अधिक हिलने वाले प्रदेश में जैसे उसके कक्ष गत भाग (Axillary Pleura) में या Diaphrgm पर चढ़े भाग (Diaphragmatic Pleura) में होता है तो रोगी को गहरा श्वास लेने या खांसने पर जब इस आवरण के शोथ युक्त प्रदेश आमने सामने परस्पर संघर्ष में आते हैं तो तीव्र शूल प्रतीत होता है। फुफुस शिखर के ऊपर के आवरण पर शोथ हो तो उस प्रदेश पर विशेष शूल नहीं होता। परंतु पार्श्व गत Pleura में शोथ होने पर विशेष शूल होता है। इसीलिये इसे पार्श्व शूल कहा जाता है। Diaphragm पर चढ़े Pleura में शोथ हो तो भी रोगी को तीव्र शूल होता है परंतु क्योंकि इसके बाहर के दो तिहाई भाग में नीचे की Intercostal Nerves आती हैं जो कि कोष्ठ की दीवार की मांस पेशियों को भी शाखायें देती हैं। इसीलिये Diaphragm के Pleura में होने वाला तीव्र शूल कोष्ठ की दीवार में होता प्रतीत होता है जिससे चिकित्सक को (Appendicitis) आन्त्रपुच्छशोथ आदि कोष्ठ गत रोगों का संदेह हो सकता है। इस अवस्था में रोगी के हंसने, जंभाई लेने, छींकने आदि से Diaphragm में जो शूल उत्पन्न होता है वह कोष्ठ के ऊपर के भाग में शूलों के रूप में प्रतीत होता है। यदि रोग Diaphragm के मध्य एक तिहाई भाग में हो तो क्योंकि इसमें Phrenic Nerve जो कि चौथी Cervical Nerve से निकल आती है इसलिये वहां उत्पन्न हुआ शूल ग्रीवा मूल में या कंधे में होता हुआ प्रतीत होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि Diaphragm के इस भाग में क्षय रोग हो तो इसके कारण हिक्का हो सकती है। यह हिक्का महीनों तक हल्की हल्की उठती रहती है। पार्श्व शूल के अतिरिक्त Pleura में शोथ के होने के कारण मंद ज्वर भी होता है। श्रवण परीक्षा करने पर अन्त: श्वास के अंत में या बहि: श्वास के प्रारंभ में श्रवणयन्त्र के पीपे (Chest Peice) के ठीक नीचे ही एक संघर्ष की ध्वनि (Friction Sound) सुनाई पड़ती है जो फुफुसावरण के सूजे हुये पृष्ठों की रगड़ से उत्पन्न होती है।

यदि पार्श्व शूल की शिकायत दो सप्ताह तक रहे तो इसे क्षय रोग जनित समझा जाता है।

द्रव युक्त पार्श्व शूल :- <u>Serofibrinous Pleurisy, Pleurisy with Effusion:-</u>

Primary Infection होने के कुछ मास के अंदर उसके Glandular Component में से या फुफुस में उत्पन्न परंतु लक्षण रहित एवं प्रसुप्त पड़े हुये क्षयांकुरों आदि में से Pleura के एक विपुल प्रदेश में क्षयांकुर उत्पन्न हो जाय तो न केवल तन्तुमय (Fibrinous) शोथ ही होता है जिससे

कहीं एक मोटी तह हो जाती है पर एक पतला द्रव भी रिस रिस कर फुफ्फुसावरण कोष (Pleural Sac:) में भरता जाता है। इसीलिये इसे Serofibrinous-Pleurisy कहते हैं। यह द्रव कुछ औंस से लेकर ८० औंस तक हो सकता है।

कभी तो यह रोग (Dry Pleurisy) के बाद होता है और कभी इसके बिना अज्ञात रूप में ही फुफ्फुसावरण कोष में द्रव भर जाता है। Pleura में शोथ के कारण १०० से १०२ डिग्री तक का ज्वर कुछ सप्ताहों तक होता रहता है। यदि द्रव की मात्रा अधिक हो तो ज्वर के अतिरिक्त शारीरिक श्रम के समय कुछ कुछ श्वास कृच्छ्रता का लक्षण भी होता है। रोगी के लिये स्वस्थ फुफ्फुस के भार सोना कठिन होता है। वस्तुतः युक्त पार्श्व के भार ही सोता है। ताकि स्वस्थ फुफ्फुस अच्छी तरह फैल सके। जल के अधिक भर जाने पर जितने प्रदेश में जल होता है उतने पर स्पर्श द्वारा (Vocal Fremitus) घटा हुआ प्रतीत होता है। टकोर की आवाज अति मंद (Dull) होती है। रोगी को बैठाकर टकोरें तो पीठ पर जल का लेवल नीचा होता, मध्यकक्ष रेखा Midaxillary Line में ऊंचा होता है और आगे की ओर मध्य रेखा में फिर जल का लेवल नीचा हो जाता है। इस जल युक्त प्रदेश पर श्रवण (Auscultation) करने से श्वास प्रश्वास ध्वनियां नहीं सुनाई पड़तीं। वाचिक ध्वनि (Vocal Resonance) बहुत कम या नहीं सुनती। Skiagram में फुफ्फुस तल में द्रव की घनी छाया दिखाई पड़ती है।

जब द्रव की मात्रा अधिक होती है तब इसे स्थान देने के लिये फुफ्फुस अपने मूल (Hilum) की ओर अर्थात् ऊपर और अंदर की ओर सुकड़ जाता है। इस जल की अधिकता के कारण Mediastinum में पड़े हृदय आदि अंग भी दूसरे स्वस्थ पार्श्व की ओर खिसक जाते हैं।

देखने में यह द्रव साफ, १०१८ स्पेसिफिक ग्रेविटी का, Lymphocytes. नामक सैलों से युक्त Tubercle Bacilli तथा 4% Serum Albumin, Serum Globulin. और Fibrinogen नामक Proteins से युक्त होता है।

आराम करने तथा उचित चिकित्सा करने से जल कुछ सप्ताहों में विलीन हो जाता है। ज्वर भी शांत हो जाता है। पर इनमें से लगभग तिहाई रोगियों में ५ वर्ष तक उरः क्षय रोग होता हुआ देखा जाता है।

६.. कंठ क्षय, क्षय जनित स्वर भंग :- Laryngeal Tuberculosis:-

कंठ में क्षय रोग २० से ४० वर्ष के क्षय रोग से ग्रस्त व्यक्तियों में विशेषतः पुरुषों में इस रोग के उग्र रूप में होता है। थूक से निकलने वाले क्षय कीटाणुओं के कंठ (Larynx) की भित्ति कारण से प्राप्त हुई श्लेष्मकला से संक्रमण कर जाने से आरंभ होता है। कीटाणु के वहां संक्रमण कर जाने पर श्लेष्मकला के नीचे के (Subepithelial) भाग में इस कीटाणु के विपरीत प्रतिक्रिया होकर

क्षयांकुर बन जाते हैं तथा वहां पर Lymph और सेलों का संचय हो जाने से श्लेष्म कला उभर जाती है। कंठ परीक्षा करने पर यह उभार पहले पहल स्वर तन्त्रियों (Vocal Cords) के पिछले भाग तथा दोनों Arytenoid Cartilages. के बीच के प्रदेश (Inter Arytenoid Space) अथवा Posterior Commissure ––– की श्लेष्म कला पर दीखता है। देखने में यह प्रदेश फूला हुआ पर फीका रंगका दीखता है। बाद में क्षयांकुरों में पनीर का सा पदार्थ बन जाने (Caseation) से वहां पर अस्पष्ट से एवं मृदु दिवारों वाले फीके से रंग के व्रण हो जाते हैं।

कंठ में क्षय रोग के होने पर रोगी की आवाज निर्बल हो जाती है। थोड़ा बोलने से भी थक जाती एवं बैठ जाती है। इस प्रकार स्वर भंग इस रोग का प्रधान लक्षण होता है। यदि (Epiglottis) में भी रोग हो तो निगलने में दर्द होने का लक्षण भी होने लगता है।

कंठ में फिरंग जनित व्रण भी होता है पर वह कंठ के अग्रिम भाग में होता तथा कठोर एवं स्पष्ट दीवार का होता है।

७.. क्षयोदर :- Tubercu-lous Peritonitis-Abdominal Tuberculosis:-

उदरावरण (Peritoneum) में क्षय रोग छोटे बालकों और नवयुवकों में पाया जाता है। प्रायः फुफ्फुस में से क्षय जीवाणु लसीका वाहिनियों (Lymphatics) के द्वारा Retroperitoneal तथा Mesenteric Glands में पहुंचता है और वहां से Peritoneum में प्रसरण कर जाता है।

क्षयोदर दो प्रकार का होता है। एक आर्द्र या जल युक्त क्षयोदर अर्थात् Moist or Ascitis Tuberculous Peritonitis दूसरा शुष्क क्षयोदर, Dry या Nonexudative Tubercular Peritonitis:

१.. आर्द्र क्षयोदर,जल युक्त क्षयोदर : (Exudative या Ascitic-Tuberculous Peritonitis):-

यह भेद फिर दो प्रकार का होता है। एक सहसा तीव्र रूप में उत्पन्न होने वाला जल युक्त क्षयोदर, दूसरा धीरे धीरे मन्द रूप में उत्पन्न होने वाला जलयुक्त क्षयोदर। (Acute तथा Chronic Ascitic Tuberculosis)

इनमें से प्रथम अर्थात तीव्र जल युक्त क्षयोदर में संपूर्ण Peritoneum पर सहसा क्षयांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। बालक के फुफ्फुस में विद्यमान किसी Caseous Gland के रक्त वाहिनि में फट जाने पर सारे शरीर में क्षय जीवाणु का संचार हो जाने से अर्थात् Generalised Miliary Tuberculosis के उपद्रव के रूप में यह तीव्र क्षयोदर का रोग होता है। इसमें जीवाणु के विपरीत प्रतिक्रिया होकर Serofibrinous Fluid पर्याप्त मात्रा में निकलता है। जिससे उदरावरण कोश में पतला द्रव भर जाने से तथा Peritoneum के

सूज जाने से ओष्ठ उभर जाता है। इस तीव्र शोथ के कारण ज्वर ऊंचा होता तथा निरंतर बना रहता है। जिससे इसका संदेह Typhoid से होता है। पर क्षय प्रायः के ००००० तापमानों में अन्तर अधिक होता है। क्षय रोग के अन्य लक्षणों को देखकर उसकी पहचान हो सकती है। पेट में भरे जल में Lymphocytes को देखकर भी यह क्षय रोग जनित ००००० जलोदर है/ ऐसा निश्चय किया जा सकता है। यह रोग प्रायः घातक होता है।

<u>चिर स्थायी जल युक्त क्षयोदर :-(Chronic Ascitic Peritonitis):-</u>

यह उपरोक्त तीव्र क्षयोदर की अपेक्षा अधिक सुलभ है। इसमें विष संचार (Toxaemia) के लक्षण ००० मृदु होते हैं। सांयकालिक ज्वर, कृशता, दुर्बलता, अन्नारुचि के साधारण लक्षणों के अतिरिक्त धीरे धीरे बालक का पेट उभरता जाता है। पेट तो उभरता जाता है पर शाखायें और चेहरा कुम्हलाते जाते हैं। ०००००जल जलोदर के कारण पेट पर की शिरायें स्पष्ट दीखती हैं। पेट के दोनों पार्श्वों पर नीचे की तरफ जल के कारण उभार विशेष होता है तथा वहां की टकोर भी मंद होती है। धीरे धीरे यह जल विलीन हो जाता है तथा फिर यह शुष्क क्षयोदर का रूप ले लेता है।

<u>शुष्क क्षयोदर : Fibrocaseous अथवा Fibrous अथवा Adhesive Tuberculosis.</u>

<u>अथवा Oliterative Plastic Abdominal-/ या Tubercular Peritonitis:</u>

शुष्क क्षयोदर उपर्युक्त, क्षयोदर की अपेक्षा अधिक पाया जाता है तथा जल युक्त क्षयोदर भी बाद में शुष्क क्षयोदर में परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था में Peritoneum पर गाढ़ा चिपचिपा स्राव Plastic Exudation. निकल कर स्थान स्थान पर जम जाता है। जिससे (Fibrous Tissue) ---- में परिवर्तित होने पर Peritoneum स्थान स्थान पर आंत के साथ चिपक जाता है। आंतें परस्पर स्थान स्थान पर जुड़ जाती हैं। यदि किसी किसी स्थान पर स्राव (Exudation) के चारों ओर स्नायु तंतु बन कर वह स्राव वहीं बंद हो जाय तो आंतों के बीच बीच में द्रव की थैलियां (Cysts-of Effusion) बन जाती हैं। कभी कभी ००० पनीर जैसे पदार्थ (Caseous-Material) की थैलियां भी बन जाती हैं। इस प्रकार के क्षयोदर को Loculated-type of Tuberculous Peritonitis: कहते हैं।

यह शुष्क या थैलियों वाला क्षयोदर धीरे धीरे उत्पन्न होता है। रोगी बालक में ज्वर, कृशता, आध्मान, (Flatulence) पेट में दर्द, के लक्षण होते हैं। यदि Mesenteric Glands सूजे हुये हों तथा Caseous हों तो भोजन का स्नेह Lacteals के मार्ग के अवरुद्ध हो जाने से शरीर में नहीं पहुंचता। जिससे एक ओर तो शरीर की चर्बी सूखती जाती है। दूसरी ओर मल में स्नेह के मिलने से दुर्गन्धित अतिसार आने लगते हैं। यह शुष्क क्षयोदर

कष्ट साध्य रोग है। यदि बालक छोटी आयु का हो, कृशता अधिक हो गई हो, फुफ्फुस में भी क्षय रोग के लक्षण हों, Peritoneum में पूय भाव (Sloughing) हो गया हो तो यह असाध्य हो जाता है।

८.. आन्त्र क्षय, क्षय जनित आन्त्रिक व्रण :- (Tuberculous Enterocolitis:-

बालकों में आन्त्रिक क्षय अथवा आंत में होने वाले क्षय व्रण क्षय जीवाणु के अति मात्रा में मुख द्वारा प्रविष्ट होने से होते हैं। अर्थात् इनमें यह रोग Primary रूप में होता है। इनमें यह जीवाणु भोजन, मट्टी आदि के द्वारा प्रवेश करता है।

युवकों में यह आन्त्र क्षय का रोग फुफ्फुस क्षय के उपद्रव के रूप में होता है। क्योंकि देखा जाता है ८५ प्रतिशत उरः क्षय रोगियों में आंत के अन्दर भी क्षय व्रण कभी न कभी हो जाते हैं। यों तो थूक द्वारा फुफ्फुस से निकले जीवाणु मुख में आकर कुछ न कुछ आंतों में पहुंचते ही हैं परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब मल द्वारा बाहिर हो जाते हैं। जब आंत की प्रतिरोधक शक्ति कारण वश घटी हुई हो तथा फुफ्फुस से जीवाणु भी अत्यधिक मात्रा में पेट में जा रहे हों तभी वे आंत में क्षय व्रण उत्पन्न कर सकते हैं। सारे क्षुद्रांत्र में अन्न द्रव तीव्र गति से चलता है। वहां इस जीवाणु को रोपण करने का अवसर मिल नहीं सकता परंतु Ileum तथा Caecum में अन्न द्रव कुछ समय के लिये रुकता है। इसीलिये वहां ही इसे रोपण करने का अवसर मिल पाता है। वहां की श्लैष्मिक कला (M.M.) के Mucous Glands या Tubular-Gla-nds. के मुखों से प्रवेश करके उनके तले पर पहुंच कर वहां रोपण करते हैं। जिससे वहां उनके विपरीत एक स्राव (Exudate) एकत्रित हो जाता है और श्लैष्मिक कला में शोथ हो जाता है। वहां एकत्रित हुये श्वेत कण (Phagocy-tic Cells) जीवाणु को पकड़ लेते हैं और फिर उनके उपकला (Epithelial-Layer) में से नीचे चले जाने से ये जीवाणु श्लैष्मिक कला से नीचे की तह (Sub-mucous-Layer). में चले जाते हैं। ये जीवाणु वहां रोपण करते हैं जिससे वहां पर ही क्षयांकुर बनते हैं। क्षय जीवाणु सर्व शरीर में पहले पहल लसीका युक्त प्रदेश (Lymphoid Tissue) में ही रोग उत्पन्न किया करते हैं। इसीलिये आंत में भी अर्थात् Ileum और Caecum में उनके Lymphoid प्रदेशों (Peyer's Patches तथा Solitary Follicles) में यह रोग पहले आरंभ होता है। वहां श्लैष्मिक कला के नीचे के क्षयांकुरों में पनीर जैसा पदार्थ बनकर, भरकर बह जाता है। अर्थात् श्लैष्मिक कला के नीचे वहां पनीरभाव (Caseation) और पूयभाव (Sloughing) होकर व्रण बन जाते हैं। श्लैष्मिक कला वैसे ही रहती है पर उसके नीचे के प्रदेश (Submucous Layer) में व्रण होते हैं। श्लैष्मिक कला के नीचे बने हुये इन व्रणों में से क्षय जीवाणु Ileum और Caecum से संबंधित लसीका ग्रन्थियों

(Ileocaecal Lymph Glands) में भी संक्रमण होकर इनमें भी शोथ हो जाता है। Ileum में उत्पन्न ये व्रण Submucous Layer से मांस मय स्तर और वहां से बाह्यावरण (Peritoneal Layer) तक भी फैल जाते हैं। इसलिये इन्हें आंतों के गहरे व्रण कहते हैं। कुछ उथले उथले साथ व्रण भी होते हैं जो Submucous Layer से नीचे नहीं जाते। गहरे व्रण लसीका वाहिनियों के साथ साथ फैलते हैं और क्योंकि आंतों की लसीका वाहिनियां आंत में वृत्ताकार (Circular) ~~आकार में~~ होती हैं। इसलिये आंत में ये गहरे व्रण भी वृत्ताकार (Girdle Ulcers) के रूप में होते हैं। Ileum में से आरंभ होकर ये व्रण उण्डुकांत्र और बृहदंत्र दोनों ओर को फैलते जाते हैं। इनके कारण श्लैष्मिक कला के नीचे के अवयव में Caseation और क्षय भाव होकर आंतों की दीवार का बहुत सा अवयव नष्ट हो जाता है। फिर इस नष्ट हुये प्रदेश में स्नायु तन्तु (Fibr: Tiss: बनकर ये व्रण अच्छे होते हैं तो इस तंतु के छोटे होने से आंत भी आकार रूप में कुछ सुकड़ जाती है। इस तरह आंतों में स्थान स्थान पर मार्ग तंग (Stenosed) हो जाता है। अर्थात् आंतों के मल मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। आंत के बाह्यावरण (Peritoneum) में शोथ होकर वहां चिपचिपे स्राव के जम जाने से आंतें एक दूसरे से चिपक जाती हैं। (Peritoneal Adhesions उत्पन्न हो जाते हैं) इससे भी अन्न मार्ग या मल मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। बालकों में यह मार्गावरोध का यह लक्षण विशेष होता है।

आन्त्र क्षय रोग होने पर भी बहुत से रोगियों में कोई विशेष लक्षण नहीं होता। जब व्रण भाव अधिक हो जाता है तब इस रोग का मुख्य लक्षण अतिसार होने लगता है। क्योंकि Ileum की मांस मय स्तर में स्थित Aurbach के Sympathetic Plexus में क्षय व्रण जनित उग्रता के हो जाने से आंत में जो आकुञ्चन शीलता, चञ्चलता, (Hypermotility) उत्पन्न हो जाती है उसके कारण खाया हुआ अन्न वहां पर से शीघ्र बढ़ जाता है। इसीलिये अतिसार होते हैं। दिन रात में अनेक दस्त होते हैं तथा पतले होने के अतिरिक्त दुर्गन्धित भी होते हैं। जो साधारण औषधियों से ठीक नहीं होते। अतिसार के अतिरिक्त कोष्ठ या पेट में दर्द भी होता है जो बिना खाये भी होता है पर खाने से बढ़ता है। यह Peritoneum में शोथ के होने तथा आंत में स्तम्भ (Spasm) के उठने से उत्पन्न होता है। व्रण के कारण नहीं होता। कहा जाता है कि उण्डुकान्त्र में ही व्रण हों तो मलबंध का लक्षण विशेष होता है और Caecum तथा बृहदंत्र में व्रण विशेष हों तो अतिसार का लक्षण विशेष होता है। मलबंध का कारण उण्डुकांत्र में उत्पन्न अवरोध (Stenosis) है जो वहां (Scar:Tissue) के बनने से होता है। अतिसार

के अतिरिक्त सांयकालिक ज्वर, रात्रि स्वेद, कृशता, अन्नारुचि आदि क्षय रोग सूचक लक्षण भी होते हैं।

Barium देकर X-Ray. परीक्षा करने पर रोग युक्त आंत में से Barium शीघ्र आगे निकल जाता है। अर्थात् वहां Barium की छाया नहीं होती। (Filling Defect)

बालक में आन्त्र क्षय (Tubercular Enterocolitis) हो तो उसे सांयकालिक ज्वर रहता है। व्रणों के कारण भोजन रस के भली प्रकार विलीन न हो सकने से कृशता और भी अधिक हो जाती है। पेट अफारा युक्त होता है। उसमें ग्रन्थियां फूली हुई स्पर्श होती हैं। विशेषतः Right Ileacfossa. में, तथा अतिसार जो दवाईयों से अच्छा नहीं होता बना ही रहता है।

क्षय जनित/आन्त्रपुच्छ शोथ :-Hyperplastic Ileocaecal Tuberculosis या Tuberculous Caecal Tumour:-

कभी कभी क्षय प्रकृति की नवयुवती स्त्रियों में विशेषतः क्षय जीवाणु के Ileum की श्लैष्म कला के नीचे के अवयव (Sub-Mu:-Tissue) में बढ़ने पर वहां विनाशात्मक प्रतिक्रिया होने के स्थान पर रोधात्मक प्रतिक्रिया विशेष होती है अर्थात् वहां न केवल श्लैष्म कला में ही पर Submucous-Layer. तथा मांसल स्तर में भी स्नायु तंतु तथा Fatty Tissue की अतिवृद्धि हो जाती है जिससे वहां की आंत मोटी हो जाती है (इसमें Hypertro; ~~myxxpx~~ phy. हो जाती है) यह प्रक्रिया Caecum में विशेषतः होती है। इससे संबंधित Lymph Glands भी फूल जाते हैं। पनीरभाव/(Caseation) की प्रक्रिया वहां नहीं होती। स्पर्श करने पर Right Fossa में एक ढेर (Mass) सा प्रतीत होता है। जिसको दबाने से उसमें हवा की गड़गड़ाहट होती हुई सुनाई पड़ती है। रोगी को अतिसार तथा मलबंध दोनों की शिकायत रहती है। शरीर में अति कृशता तथा सांयकालिक ज्वर के साथ रोग सूचक लक्षण भी होते हैं।

गुद क्षय :-Tuberculous Ischiorectal Abscess Perianal Abscess:-

गुदा के आसपास के अवयव में उत्पन्न हुई विद्रधि प्रायः इसी प्रकार आंत में से आये क्षय जीवाणु के कारण होती है। फुफ्फुस में क्षय रोग होने पर तो इस विद्रधि की, क्षय जीवाणु के कारण ही उत्पत्ति समझनी चाहिये। अब नवयुवावस्थाके किसी को यह विद्रधि निकले तो फुफ्फुस की परीक्षा करनी चाहिये।

६.. अस्थि क्षय रोग :- Tuberculosis of the Bone., Tuberculous ostetis:

अस्थियों में क्षय रोग बालकों व नवयुवकों में विशेष होता है। खासकर अस्थियों जैसे पृष्ठ वंशास्थियों (Vertebral) हाथ पांव की कुल्फ-अस्थियों (Carpus, Tarsus) में क्षय रोग विशेषतः देखा जाता है। अस्थि

पर आघात करने पर वहां फुफुस के निकट Caseous Lymph Glands या Primary Infection के Glandular Component से रक्त वाहिनी द्वारा क्षय जीवाणु पहुंचता है। जिससे विपरीत अस्थि के अंदर के कुछ मृदु भाग में क्षयांकुर बनने की प्रतिक्रिया होती है और फिर उसमें पनीभाव (Caseation) तथा (Softening) होकर वहां शीत विद्रधि (Cold Abscess) बन जाती है पृष्ठ वंशास्थियों में यही प्रतिक्रिया देखी जाती है। इसे पूय युक्त अस्थि क्षय (Suppurative Tuberculous Caries) कहते हैं।

अथवा क्षय जीवाणु के संक्रमण के कारण अस्थि के अन्दर का पृष्ठ तथा बाहर का पृष्ठ भी खाया जाता है। अस्थि पोली हो जाती है। इसे शुष्क अस्थि क्षय या Tuberculous Caries कहते हैं।

अंगुल्यस्थिक्षय :-Tuberculous Dactylitis of the Hand:

हाथ की किसी प्रथम (Proximal) अंगुल्यस्थि में यह रोग विशेष होता है। अंगुली की पहली पोर सूत की तरह फूली हुई दीखती है। यद्यपि यह स्थैर्य नहीं होती है, लाल नहीं होती। उसमें थोड़ी थोड़ी पीड़ा भी होती है। पर साधारण विद्रधि की तरह विशेष नहीं होती। अंत में जब अंदर की हुई पूय पुष्ट करती है तब एक स्थान रक्त वर्ण हो जाता है। अस्थि अन्दर से अर्थात् Medulla में रोग आरंभ होने के कारण, खाई जाती है परंतु Periosteum के नीचे Osteosclerosis होने अर्थात् स्नायु तंतु की वृद्धि होने से अंगुली मोटी हुई दीखती है।

पादास्थि क्षय :-Tuberculous Dactylitis of the Foot:-

पांव की किसी भी गुल्फास्थि (Tarsus) में क्षय रोग हो सकता है। जिसमें यह रोग होता है वहां पर पांव में शोथ दिखाई पड़ता है। Oscalcis में बहुधा यह रोग होता है। इसमें रोग होने पर एड़ी के एक ओर या दोनों ओर उभार हो जाता है। रोगी ऐड़ी को बचाकर चलता है। इस अवस्था में गुल्फ संधि (Ankle Joint) में कोई विकृति नहीं होती।

Astragalus में क्षय रोग हो तो पिंडी के आगे या पीछे की ओर पांव पर उभार होता है। इस अस्थि पर दबाव पड़ने से दर्द होता है। इसीलिये रोगी पंजों के भार (अर्थात् Talepes Equinus की अवस्था में) चलता है। पांव को अन्दर या बाहर विचलित करना (Adduct या Abduct करना) कठिन होता है। इसी प्रकार पांव के अन्दर बाहिर विवर्तित करने (Inversion-तथा Eversion) में भी कठिनता होती है। इस अस्थि में से क्षय रोग गुल्फसंधि (Ankle Joint) में तथा Oscalcis तथा Scaphoid में प्रसरण कर सकता है।

पृष्ठवंश क्षय:- Spinal Caries Tuberculous Spondylitis:-

अस्थि क्षय रोगियों में से आधे से अधिक में पृष्ठ वंशास्थि क्षय का रोग पाया जाता है। पृष्ठ वंश में भी आठवें (Tharacic Vertebra से लेकर नीचे Lumber Vertebra तक के प्रदेश में क्षय रोग विशेषतः होता है। आयु की दृष्टि से पृष्ठ वंशास्थि क्षय रोग बालकों तथा २५ वर्ष से नीचे के युवकों में अधिकतः पाया जाता है। इनमें भी बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में कुछ अधिक होता हुआ देखा जाता है।

कशेरु (Vertebra) में भी उसके पिंड (Body) में यह रोग अधिकतः होता है। बालकों में पिंड (Body) के केन्द्र भाग में अर्थात् उसके मध्य भाग में (Osteomyelitis के रूप में) होता है जिससे कशेरु पिंड बीच में से खाया जाता है तो ऊपर का कशेरु नीचे और आगे की ओर झुक जाता है। जिससे धड़ आगे की ओर झुक जाता है तथा पीठ पर कुबड़ापन दीखता है।

युवकों में यह रोग कशेरु पिंड के Epiphysis में अर्थात् उसके Inter Vertebral Disc: के समीप के Anterior Longitudinal Ligament. के पीछे Periosteum के अन्दर आरंभ होता है। दूसरे शब्दों में केन्द्र में न होकर उसकी अगली दीवार में होता है। वहां पर पनीभाव (Caseation) होकर Ligament के पीछे एक पूय युक्त क्षय विद्रधि बन जाती है।

इस विभिन्नता का कारण यह है कि बाल्यकाल में पिंड ~~भी~~ (Body) को रक्त, कि जिसके द्वारा क्षय जीवाणु कशेरु में आता है, पीछे की ओर से Posterior Spinal Artery की एक शाखा के द्वारा प्राप्त होता है और युवावस्था में कशेरुओं को रक्त आगे की ओर से Intercostal Arteries तथा Lumber Arteries की शाखाओं के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिये इनमें यह रोग कशेरु के अग्रिम भाग में होता है।

प्रारम्भिक लक्षण :-

बालक या युवक को पृष्ठ वंश में क्षय रोग आरंभ हो जाय तो उसे कमर में दर्द की शिकायत होती है। यदि बालक में कमर में दर्द १५ दिन से अधिक रहे और किसी युवक में कमर दर्द तीन मास तक रहे तो इस रोग की आशंका करनी चाहिये। तथा यदि बालक क्रोधी, चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाय, थोड़े श्रम से थक जाता हो तो X-Ray. द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। यदि किसी युवक को अपनी टांगें कमजोर लगने लगें तो उसमें भी इस रोग के कारण अर्थात् कशेरु के पिंड के द्वारा Cord: के दब जाने से उपांगघात (Paraplegia) उत्पन्न हुआ समझना चाहिये तथा X-Ray. द्वारा परीक्षा करनी चाहिये।

रोग वृद्धि लक्षण :-

रोगी के झुकने तथा या एक पार्श्व की ओर धड़ को मोड़ते

समय या शरीर को झटका लगते समय कटि प्रदेश में दर्द होता है। इसी प्रकार रुग्ण कशेरु को पीछे से टकोरा जाय तो भी रुग्ण कशेरु पर दर्द होता है।

दर्द के अतिरिक्त दो कशेरुओं के परस्पर जुड़ जाने से पृष्ठ वंश का लचीलापन जाता रहता है तथा स्तब्धता (Rigidity) का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। कटि ~~प्रदेश~~ (Lumber) प्रदेश में यह रोग हो तो पीठ इतनी अकड़ी हुई हो जाती है कि धड़ को झुकाना या पीछे को फैलाना कठिन हो जाता है। ग्रीवा कशेरुओं में रोग हो (Cervical-Caries हो) तो एक ओर को देखने के लिये रोगी को अपना सारा शरीर फिराना पड़ता है। क्योंकि ग्रीवा में स्तब्धता होती है, वह उस ओर फिर नहीं सकती।

पृष्ठ वंश की परीक्षा करने पर उसमें न्यूनाधिक विरूपता (Deformity) का लक्षण भी रोगी में होता है। पृष्ठ वंश के वक्षःप्रदेश (Thoracic Vertebrae) में रोग हो तो दो तीन कशेरुओं में रोग के होने से विरूपता का लक्षण अधिक स्पष्ट होता है। दो तीन कशेरुओं के परस्पर संयुक्त हो जाने से रोगी की ऊंचाई छोटी हो जाती है। पीठ पीछे की ओर उठ जाने हुये (Hunch Back) तथा उरोस्थि (Sternum) आगे की ओर उभरी हुई होती है।

उपद्रव :- (Tuberculous Abscess)

क्षय विद्रधि (Tuberculous Abscess) की उत्पत्ति इस रोग का एक उपद्रव है। बालकों में यह उपद्रव नहीं होता। युवकों में अधिक होता है। रोग ग्रस्त कशेरु पिंड के अग्र भाग में उत्पन्न हुआ पूय Anterior Common Ligament. को आगे धकेल कर उसके पीछे जमा होता रहता है। मात्रा में बढ़ जाने पर इसमें से रास्ता करके फिर यह कशेरु के पार्श्व में संचित होने लगता है। यदि Thoracic Spine में रोग हो तो यह पूय वहां से निकलने वाली Spinal Nerve के साथ साथ चलकर बाहु में जहां Lateral Cutaneous Nerve) त्वचा में जाती है, वहां इसके कारण एक पर्शुका (Rib) में क्षय रोग (Caries) का उपद्रव हो सकता है।

निचली कशेरुकाओं (Thoracic Vertebrae तथा Lumber Vertebrae). में रोग हो तो Lumber Nerves तथा Vessels की Posterior Branches के साथ चलकर यह पूय Erector-Spinae के बाहर के किनारों के समीप कहीं पर Lumber Abscess के रूप में प्रकट होती है ... प्रदेश के कशेरुओं में उत्पन्न हुआ पूय

Psoas Muscle के आवरण (Sheath) में प्रवेश कर दूर तक चला जाता है जिससे रोगी को उधर की टांग फैलाने में कठिनता होती है। कुछ काल बाद (Iliac Fossa) में इस पूय के कारण एक गोल कठोर उभार अनुभव होने लगता है। फिर यह पूय Inguinal Ligament के पीछे से Iliopsoas की Tendon के साथ साथ चलकर नीचे Lesser Trochanter. के पास ऊर्ध्व जंघा (Thigh) के अन्दर की ओर एक बड़े उभार के रूप में प्रकट होती है।

इस क्षय विद्रधि (Tuberculous Abscess) के प्रकट होने पर सांय काल या रात को ज्वर होने का लक्षण होता है। कुछ काल तक पूर्ण विश्राम करने से यह विद्रधि कम होने लगती है। कशेरुकाओं के अंदर Cold-Abscess हो उनके Articular Discs में Pedicles में या Laminae में रोग हो तो सुषुम्ना कांड (Spinal Cord) दब जाता है जिससे दोनों टांगों में अशक्ति या ऊरुस्तंभ (Paraplegia) का लक्षण हो जाता है। कभी कभी विशेषतः युवकों में ऊरुस्तंभ इस रोग के पूर्व रूप के तौर पर होता है। कभी कभी इस रोग के उपद्रव के रूप में होता है। जब यह पूर्व रूप के तौर पर होता है तब इसके प्रकट होने के कुछ काल बाद पृष्ठ वंश में क्षय रोग स्पष्ट हो जाता है।

साध्यासाध्यता :-

कटि कशेरुकाओं (Lumber Vertebrea) में रोग हो तो अधिक कष्टदायक नहीं होता। ऊपर के पृष्ठ कशेरुकाओं (Thoracic Vertebrea) में रोग हो तो वहां Spinal Canal के अधिक तंग होने से Spinal Cord. -- पर दबाव पड़ कर दोनों टांगों में अशक्ति (Paraplegia) होने का भय रहता है। इस रोग की साध्यासाध्यता, तापमान, विष संचार (Toxaemia), Intra Spinal Cold Abscess के Cord पर दबाव पड़ने से दोनों टांगों की अशक्तियां (Paraplegia), की उत्पत्ति तथा इस रोग के कारण विद्रधि या नाड़ी व्रण (Sinus) के हो जाने या न होने पर निर्भर करता है।

७.. संधि क्षय :- Tuberculous Arthritis:-

क्षय प्रकृति के बालकों तथा युवकों में फुफ्फुस में से या Bronchial अथवा Mesenteric Gland में से रक्त के द्वारा क्षय जीवाणु किसी आहत हुये संधि में संक्रमण कर सकता है। बालकों में संधि के निकट अस्थि के सिरे (Epiphysis) में यह रोग आरंभ हुआ करता है। युवकों में यह संधि की Synonial Memberane में आरंभ होता है। युवकों में जब किसी संधि में क्षय रोग होता है तो पहले Membrane में फिर के नीचे जिससे जैलाटीन सदृश दानांकुर या

जाते है। जिसके कारण यह झिल्ली फूल कर मोटी हो जाती है। फि
पनीभाव
कुछ में (Caseation) होकर पूय भाव भी हो जाता है। इस प्रका
या Tuberculous Granulation Tissue में परिवर्तित होकर य
संधि की तरुणास्थि (Articular Cartilage) के साथ जुड़
जिससे वह भी इस रोग के कारण खा ई जाती है। संधि की तरुणा
अस्थि के सिरे पर प्रसरण कर जाता है / अथवा उसमें भी Caries
जाता है। संधि के बीच के प्रदेश में द्रव नहीं भरता प्रत्युत वह संधि
हुई झिल्ली से भरी रहती है। संधि के आस पास की मांस पेशियों
(उनमें Gelatinous Degeneration ज
(Tendons) में दाखिला होकर जैलाटीन जैसा द्रव उत्पन्न हो
इसी कारण सारी संधि फूली हुई तथा श्वेत सी दीखती है। इसे
(White Swelling) कहते हैं। जब तक क्षय रोग Synovial M
में रहता है। इस झिल्ली के मोटे हो जाने से संधि कुछ मोटी तो
पर संधि की चेष्टा में कोई न्यूनता प्रतीत नहीं होती ना ही को
होती है। पर जब इसके साथ अस्थि के सिरे पर भी शोथ प्रसरण कर
तब संधि के चेष्टा में कमी का लक्षण भी हो जाता है। संधि के
की मांस पेशियों में विषमयता (Toxaemia) के कारण शोथ हो जाने
कुछ फूली हुई दीखती है। वहां द्रव की मात्रा के बढ़ने से वह स्थूल
होती।

उचित चिकित्सा मिलने पर यह रोग अस्थि तक
बढ़ता। जिससे संधि का केवल कमीका पन ही कम होता है। और
लक्षण नहीं होता/पर यदि संधिगत तरुणास्थि में रोग हो जाय
में स्तब्धता (Fibrous Ankylosis) होकर संधि की चेष्
जाती है। पर यदि रोग शांत न होकर बढ़ता जाय तो वहां पूय
वहां से विष संचार (Toxaemia) बढ़ता है तथा इससे
(General Miliary Tub-erculosis) होकर मृत्यु हो जाती

वंक्षण संधि क्षय :- High Hih Joint Tuberculosis:-

१० अस्थि क्षय रोगियों में से ८, ९ में वंक्षण स
(Hih Joint) में यह रोग देखा जाता है। तथा इस संधि में
के वाहिर के बाहर भाग तथा Femur के मुंड (Head) के
सिरे पर यह रोग आरंभ होता है। इसके आरंभ होने पर संधि के
त्मक (Caseative) तथा रचनात्मक (Fibrotic या
दोनों प्रकार की क्रियायें होती हैं। आरम्भ में विनाशात्मक प्रतिक्रि
होती है जिससे Femur के मुंड तथा Acetabulum दो
भागों के नष्ट हो जाने से संधि का गढा (Socket) कुछ बड़

इससे इस संधि में कुछ कुछ भ्रंश (Dislocation) हो जाता है।

कुछ में किलाटात्मक प्रक्रिया का तथा तन्त्वात्मक (Fibrotic or Proliferative) प्रक्रिया विशेष होती है।

जब किलाटात्मक प्रक्रिया विशेष होती है अर्थात् (Caseation विशेष होता है) तब संधि के बीच में शीतविद्रधि / Cold Abscess बन जाती है। जिसमें पूय बढ़ जाय तो Capsule को किसी निर्बल स्थान पर फाड़कर वह बाहर त्वचा पर विद्रधि के रूप में प्रकट होती है। Capsule के निचले प्रदेश से निकल कर यह सामने आती है। Iliopsoas और Pectineus के बीच बीच में चलकर Scarpa's Triangle में त्वचा पर प्रकट होती है। इसी प्रकार यह मांस पेशियों के बीच में चलकर Leaser Trochanter, के पास या और Fascia Lata के नीचे एक उभार के रूप में प्रकट हो सकती है। पीछे की तरफ से संधि में से यह पीछे की ओर निकले तो Gluteal Muscles के नीचे नीचे चलकर यह Greater Trochanter. के समीप विद्रधि के रूप में प्रकट होती है।

जब (Caseation) या किलाटात्मक प्रक्रिया विशेष नहीं होती प्रत्युत शोथात्मक प्रक्रिया विशेष होती है तब संधि में यक्ष्मा जीवाणु के विपरीत कणोतक (Granulation Tissue या Scar Tissue) उत्पन्न होने लगता है जो दो प्रकार का होता है। एक तो Tuberculous Granulation-Tissue. संधि के किनारे किनारे पर Synovial Membrane में उत्पन्न होता है। किनारों से प्रारंभ होकर Membrane के केन्द्र तक फैलता हुआ यह संधि की तरुणास्थि (Articular Cartilage) को नष्ट कर देता है।

संधि में विद्यमान यक्ष्मा जीवाणु के विपरीत तरुणास्थि के पीछे अस्थियों में एक और साधारण प्रकार का Granulation Tissue भी बनता है जिसे Non-Tuberculous Sub-Chondral Granulation Tissue. कहते हैं। इसमें यक्ष्मांकुर नहीं बनते। यह केवल Lymphocytes तथा Plasma Cells से ही बनता है। जब इस रोग के कारण संधि की तरुणास्थि (Articular-Cartilage) नष्ट हो जाती है तो अस्थियों में आमने सामने उत्पन्न हुए Grandulation Tissue मिलकर Fibrous Tissue बन जाते हैं। इस प्रकार संधि की दोनों अस्थियां परस्पर जुड़कर स्थिर सी हो जाती हैं और रोपण प्रक्रिया होकर रोग शांत हो जाता है (अर्थात् इस संधि में Fibrous Ankylosis हो जाता है) जिससे जोड़ की गतिशीलता बहुत घट जाती है।

लक्षण :-

बालक इस रोग के कारण एक टांग से लंगड़ाने लगता है तथा उसे एक उरु प्रदेश (Hip) में दर्द रहने लगता है। जब कभी किसी बालक में ये लक्षण

वहीं यह सन्धि में कुछ कुछ च्युति (Dislocation) भी करता है।

इनमें से फिब्रोटिक प्रकार का तथा प्रसारात्मक (Fibrotic or Proliferative) प्रकार विशेष होता है।

इस फिब्रोटिक प्रकार विशेष होने से केसीय (Caseation विशेष होता है) तथा सन्धि के ऊपर से Cold Abscess बन जाता है। जिसमें एक बड़ा चर्म सा Capsule जो कि ... पर ... Capsule के पीछे ... होता है। Iliopsoas तथा Pectineus के नीचे होने से Scarpa's Triangle में उभार या सूजन होती है। कभी कभी यह नितम्ब के नीचे से Lesser Trochanter, के पीछे तथा फिर Fascia Lata के नीचे से उभार होता है। ... Gluteal Muscles के नीचे नीचे होकर यह Greater Trochanter. के ऊपर ... उभार होता है।

यदि (Caseation) का फिब्रोटिक प्रकार विशेष नहीं होता प्रसारात्मक प्रकार विशेष होता है तब संधि में बड़ी मात्रा में ... (Granulation Tissue या Scar Tissue) उत्पन्न होता है ... Tuberculous Granulation-Tissue. संधि के ... Synovial Membrane ... Membrane ... संधि की (Articular Cartilage) ... होता है।

संधि में ... Granulation Tissue ... Non-Tuberculous Sub-Chondral Granulation Tissue. ... Lymphocytes तथा Plasma Cells ... होता है। ... संधि की (Articular Cartilage) ...

यह Granulation Tissue ... Fibrous Tissue ... होता है। ... Fibrous Ankylosis ... होता है।

लक्षण :-

आरम्भिक रोग के ... (Hip) ...

कुछ दिन तक रहे तो इस रोग की आशंका करनी चाहिये। तथा देखना चाहिये कि बालक की वंक्षण संधि की गति शीघ्रता घट तो नहीं गई है तथा X-Ray. परीक्षा भी करनी चाहिये ताकि शीघ्र इस रोग को बढ़ने से रोका जा सके। बालक की इस टांग को ध्यान से देखने पर यह दूसरी स्वस्थ टांग की अपेक्षा कुछ लंबी तथा अधिक कृश दिखाई पड़ती है। टांग को झटकाने या Tronchanter पर ठकोरने से बालक को संधि में दर्द प्रतीत होता है। Femur की Neck पर दबाने से अर्थात् Anterior Superior Spine के अन्दर तथा नीचे की ओर दबाने से बालक को दर्द प्रतीत होता है। बालक अपनी इस टांग को कुछ कुछ Abduction, Eversion तथा Flexion की अवस्था में रखता है। क्योंकि ऐसा रखने से Iliofemoral Ligament पर का खिंचाव घट जाता है एवं रोगी को दर्द में आराम रहता है। इस रोग का निश्चय करने के लिये परीक्षा भी करनी चाहिये। तथा Synovial Biopsy अर्थात् Synovial-Tissue. का एक टुकड़ा बेध निकाल कर इसकी सूक्ष्म (Miscroscopic) परीक्षा करने से प्रत्यक्ष रूप से इस रोग का निश्चय हो सकता है।

जानु संधि क्षय :-(Tuberculosis of the Knee Joint):-

वंक्षण संधि की अपेक्षा भी जानुसंधि में क्षय रोग अधिक होता है तथा इसी के समान बालकों और २५ वर्ष तक के युवकों में विशेष पाया जाता है। इस संधि में क्षय रोग या तो Synovial Membrane में प्रारंभ होता है या संधि बनाने वाली अस्थियों के सिरों में विद्यमान Epiphysis में प्रारंभ होता है। इस प्रकार Synovial किस्म के रोग में Synovial-Membrane सूज जाती एवं फूल जाती है (इसमें Hypertrophy और Oedema हो जाते हैं) इस Membrane में शोथ होने पर संधि स्पर्श में भरी प्रतीत होती है। दबाने से इसमें स्पर्शाक्षमता होती है। आसपास की मांस पेशियों के कृश हो जाने तथा Synovi-al Membrane के स्थूल हो जाने से संधि स्थूल हुई प्रतीत होती है। संधि में वेदना की अति न्यूनता नहीं दिखाई पड़ती। इसे Proliferative Type of Tuberculous Synovitis-of the Knee. --- कहते हैं।

कभी कभी Synovial Membrane में स्राव (Exudation) विशेष होता है। वृद्धि विशेष नहीं होती। इसे Hydropic Type of Tuberculous Synovitis of the Knee.--- कहते हैं।

बहुधा क्षय रोग Femur या Tibia के संधि बनाने वाले सिरों में इनके Epiphysis में प्रारंभ होता है अर्थात् जहां इनमें Articular Capsule बंधा हुआ है तथा जो Synovial Membrane से ढके हुये हैं उन सिरों में अस्थि के अंदर आरंभ होता है। इस अवस्था में तरुणास्थि नष्ट हो जाती है और दोनों अस्थियों के सिरों पर

उत्पन्न Granulation Tissue के मिल जाने से Fibrous Ankylosis होकर संधि में स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। इसे Caseous Type of Tuberculosis of the Knee. कहते हैं।

१९. मस्तिष्क क्षय, क्षय पूर्ण Tuberculer Meningitis अथवा Meningeal-Type of General Miliary Tuberculosis:-

कारण :-

बालकों में पूर्ण / या निद्रालुता के साथ होने वाला ज्वर प्राय: क्षय रोग जनित होता है। पांच ६ वर्ष से नीचे की आयु के बालकों में कभी कभी या तो फुफुस में फिसला किसी क्षय रोग ग्रस्त लसिका ग्रन्थि (Caseous Lymph-Gland) से या कभी कभी किसी क्षय रोग ग्रस्त आन्त्र ग्रन्थि (Mesenteric-Gland) से क्षय जीवाणु रक्त के द्वारा मस्तिष्क में पहुंच कर मस्तिष्क क्षय का कारण हो जाता है। फुफुसगत कोई लसिका ग्रन्थि क्षय के कारण समस्त समीपस्थ शिरा के साथ जुड़ जाती है। फिर (खसरा) (Measles) या (कुकुरखांसी) (Whooping Cough) के कारण जब इस ग्रन्थि में क्षय रोग बढ़ता है तो वह उस शिरा में खुल जाती है। जिससे क्षय जीवाणु रक्त द्वारा सर्व अंगों में प्रसरण कर जाता है। परंतु कभी कभी इसे शिर में रोपण करने का अवसर मिल जाता है। तब रक्त वाहिनियों के आस पास Piamater तथा Arachnoid Mater या क्षयांकुर निकल आते हैं। अर्थात् क्षय रोग जनित Leptomeningitis हो जाता है।

विकृति :-

छोटे बालकों और नवयुवकों में होने वाले इस मस्तिष्क क्षय रोग में मस्तिष्क के तले (Base) पर दोनों Cerebral ~~Pns~~ Peduncles के बीच के प्रदेश में यानी Chiasma से लेकर पीछे Cerebellum तक के प्रदेश में Piaarchnoidmembranes पर छोटे छोटे से क्षयांकुर बहुत निकलते हैं। मस्तिष्क के तले पर चिकनाए धमनियों के आसपास में बहुत अधिक होते हैं। Ventricles की दीवार में तथा Choroid Plexus पर भी वे निकलते हैं। Ventricles में तथा Piaarachnoid में क्षय जनित शोथ के कारण Ventricles तथा Subarachnoid Space में चिप चिपा द्राव (Fibrinous Exudate) बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। इससे शिर के अंदर का भार (Intracranial Pressure) बढ़ जाता है। Optic Chiasma, Sylvius के Fissures तथा पीछे Cerebellum और Pons के बीच के प्रदेश में यह द्रव बहुत अधिक भर जाता है। मस्तिष्क में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव के बढ़ जाने से Hydrocephalus का रोग भी होता है। द्रव के कारण मस्तिष्क नाड़ियाँ जैसे Optic Nerve, Oculomotor Nerve आदि मस्तिष्क नाड़ी किसी के दब जाने के लक्षण हो सकते हैं। सुषुम्ना तन्तु

[illegible] Granulation Tissue के स्थान पर Fibrous Ankylosis होकर घुटने में [illegible] हो जाता है। यह Caseous Type of Tuberculosis of the Knee. कहाता है।

१८. [illegible] Tubercular Meningitis अथवा Meningeal-Type of General Miliary Tuberculosis:-

कारण :-

बालकों में [illegible] (Caseous Lymph-Gland) [illegible] (Mesenteric-Gland) [illegible] (Measles) या (Whooping Cough) [illegible] Piamater तथा Arachnoid Mater [illegible] Leptomeningitis भी कहते हैं।

विकृति :-

[illegible] (Base) [illegible] Cerebral तथा Peduncles [illegible] Chiasma [illegible] Cerebellum [illegible] Piarachnoidmembranes [illegible]

Ventricles [illegible] Choroid Plexus [illegible] Ventricles [illegible] Piarachnoid [illegible] Ventricles तथा Subarachnoid Space [illegible] (Fibrinous Exudate) [illegible] (Intracranial Pressure) [illegible]

Optic Chiasma, Sylvius के Fissures तथा नीचे Cerebellum और Pons [illegible] Hydrocephalus [illegible] Optic Nerve, Oculomotor Nerve [illegible]

(Spinal Cord तथा सुषुम्ना की आवरणों (Meninges) में भी इस रोग के कारण क्षय जनित अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण :-

शिशु में यह रोग शीघ्रकारी (Acute) रूप में तथा नवयुवकों में चिरकारी (Chronic) रूप में होता है।

दोनों में ही इसका प्रारंभ धीरे धीरे ऐसे अज्ञात रूप में होता है इसका पता ही नहीं चलता। मस्तिष्क में क्षय जनित शोथ होकर मस्तिष्क संबंधी लक्षण एक दो सप्ताह तक दिखाई पड़े तो इस रोग का संदेह कर लेना चाहिये। अर्थात् यदि बालक या युवक अपने खिलौनों या खाद्य वस्तुओं में रुचि का परित्याग कर उदासीन सा होकर बिना सोये तन्द्रा या कच्ची निद्रा में चिरकाल तक पड़ा रहता दीखता हो अर्थात् उसमें मानसिक परिवर्तन हो गया हो तो मस्तिष्क क्षय रोग की आशंका हो जानी चाहिये। इस रोग में मस्तिष्क के अंदर क्षय जनित शोथ होने से मस्तिष्क के सभी केन्द्र (Sensory, Motor, Medullary, Vasomotor, Mental) न्यून या अधिक रूप में विक्षुब्ध (Irritated) रहते हैं। इसलिये मस्तिष्क संबंधी विक्षोभ को देखकर इस रोग की आशंका कर लेनी चाहिये। इस रोग के प्रारंभ में ही शिशु या युवक स्पर्श, शब्द, प्रकाश आदि से शीघ्र विक्षुब्ध हो जाता है। उसको स्पर्श करने या उसके मुख पर से कपड़ा हटाने या बुलाने को भी वह पसंद नहीं करता। क्रोधी, चिड़चिड़ा, क्रन्दनशील, हो जाता है। क्षय रोग के विष (Tuberculoprotein) के कुप्रभाव से उसे न्यूनाधिक ज्वर, कृशता, और क्षुधा नाश के लक्षण तो होते ही हैं। इनके साथ साथ मस्तिष्क में भार के बढ़ जाने अर्थात् (Intracranial Pressure) के बढ़ जाने से शिर दर्द रहता है। तथा चौथे Ventricle के तल में स्थित वमन केन्द्र (Vomiting-Centre) के विक्षुब्ध हो जाने से बिना खाये भी वमन हो जाने का लक्षण रहता है। मस्तिष्क के चेष्टाकेन्द्रों (Motor Centres) के विक्षुब्ध रहने से ग्रीवा, कटि तथा शाखाओं की मांस पेशियों में स्तब्धता (Spasm, Rigidity) का लक्षण रहता है। संभवतः आंतों में स्तब्धता के कारण मल बंध होता है। शिशु शिर दर्द के कारण कभी कभी चीख उठता है। ऐसी चीख सुनके शिरदर्द का संदेह करना चाहिये। मस्तिष्क के Cortex में स्थित चेष्टा क्षेत्र (Motor-Area) में विक्षोभ होने के कारण बालक या युवक रोगी में आक्षेप (Convulisions) भी हो सकते हैं। यह आक्षेप किसी एक अंग में होता या सारे शरीर में हो सकता है। मस्तिष्क में विक्षोभ के कारण जहां बालक चिड़चिड़ा हो जाता है वहां रात को दांत कटकटाने का लक्षण भी होता है।

इस प्रकार एक बालक या युवक में जो किसी क्षय रोगी माता पिता की संतान हो या जिसे रोमान्तिका (Measles) का रोग हो चुका हो या जिसे

क्षय रोग होने की आशंका हो यदि वे अर्धनिद्रा में कुछ चाप पड़े रहने, सिर दर्द से चीख उठने, कब्ज, प्रलंभ्ट, अंगों के कुछ स्तब्ध होने, तथा पादोप के लक्षण दो तीन सप्ताह से चले जाते हों तो शीघ्र मस्तिष्क क्षय रोग का संदेह करना चाहिये। इस प्रारंभिक अवस्था में चिकित्सा करने से वह ठीक हो सकता है। विलम्ब हो जाने पर जब यह रोग एक दो मास रह जाय तो उसे बचाना कठिन हो जाता है। बच भी जाय तो कोई न कोई स्थायी उपद्रव रह जाता है।

इस रोग की इस प्रथम अवस्था को विक्षोभावस्था (Irritative-Stage of Tuberculous Meningitis) कहते हैं। इस अवस्था में बालक या युवक सिकुड़ा लेट पेट में गोडों को सकोड़ कर ग्रीवा को कुछ पीछे की ओर अकड़ा कर एक बाजू पर अर्धनिद्रावस्था में चुपचाप पड़ा रहता है। मस्तिष्क के तले (Base) पर शोथ होने के साथ साथ Cervical-Spinal Cord के आवरणों (Meninges) में क्षय शोथ होने से ग्रीवा की मांस पेशियों में स्तंभ रहता है। रोगी की Hamstrings में भी स्तंभ रहता है। इसलिये यदि टांग को गोडे पर सीधा करके पेट पर सकोड़ना चाहें तो रोगी ऐसा करने नहीं देता Kermig's Sign) इसी प्रकार यदि उसकी ग्रीवा को आगे की ओर झुकायें तो रोगी के एक या दोनों ऊरुओं और गोडों में भी संकोच (Flexion) की क्रिया हो जाती है। (Brud-Zinaki's Sign) शरीर की मांस पेशियों में तनाव के रहने के कारण /(Tender-reflexes) बढ़े हुये होते हैं। Planter Reflex भी नीचे की तरफ न होकर ऊपर की तरफ (Extensor) हो जाता है। कोष्ठ की दीवार की मांस पेशियों में स्तंभ होने से पेट बीच में ~~ठठि~~ पिचका हुआ (Scaphoid) होता है। पुतली की मांस पेशी में स्तंभ होने से ~~पु~~ पुतली संकुचित होती है। (Vasomotor Centre) के विक्षोभ के कारण Tache Cerebrales का लक्षण अर्थात् त्वचा को जहां पर नखाग्र से टकोरा जाय वहां लाल चकत्ते के पड़ जाने का लक्षण होता है।

एक दो मास रोगी की उपेक्षा की जाय एवं यह बढ़ता जाय तो मस्तिष्क के Ventricles तथा Sub-Arachnoid Space में द्रव की मात्रा बढ़ जाने से मस्तिष्क नाड़ियां (Cerebral Nerves) दब जाती हैं। /(Optic Nerve) के दब जाने से दृष्टि की क्षीणता (Aptic-Atrophy) का उपद्रव हो जाता है। Optic Nerves के कोश में मस्तिष्क द्रव के अधिक बढ़ जाने से इस Nerve की सिरायें भी दब जायें तो / Fundus में स्थापु (Oedema) भी हो जाता है/इसे Papilloedema कहते हैं। Oculomotor Nerve पर दबाव पड़ने

से आंखों की अंदर की मांस पेशियों में घात (Paralysis) हो जाता है। जिससे Squint तथा Ptosis के उपद्रव हो सकते हैं।

ज्यों ज्यों Meningitis बढ़ता है निद्रालुता का उदय, मूर्छा (Coma) में परिवर्तित होता जाता है। पुतली फैल जाती है। बालक घंटों तक एक ही अवस्था में बेसुध पड़ा रहता है। नाड़ी गति तथा श्वास गति तीव्र हो जाती है। मल मूत्र बिस्तरे पर ही निकल जाते हैं। शरीर के अंग कुछ शिथिल (Flaccid) हो जाते हैं। इसे Paralytic Stage (घात की अवस्था) कहते हैं। यह अवस्था मृत्यु का सूचक होती है।

मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव (Cerebrospinal Fluid) की परीक्षा करने पर इसका भार १७ M.M. H_2O. से बढ़ा हुआ होता है। सेल्स जिनमें प्रधानता Lymphocytes की होती है प्रति Cubic M.M. में ५,७० से अधिक होते हैं। Chlorides की मात्रा ७२५ मिलिग्राम प्रति १०० सी०सी० से गिर जाती है तथा घटकर ६०० मिलिग्राम तक भी हो सकती है। खांड या ग्लूकोज की मात्रा घट जाती है। अर्थात् प्रति १०० सी०सी० द्रव में ७ से ८० मिलिग्राम के स्थान पर १५,२० मिलिग्राम रह जाती है। इस प्रकार इस द्रव की परीक्षा करने से इस रोग का निश्चय हो सकता है। इस द्रव की परीक्षा के द्वारा Typhoid से इसका भेद हो जाता है।

१२. क्षय व्रण, त्वचा की क्षय :-Cutaneous Tuberculosis:-

प्रारंभिक क्षय व्रण :-Primary Tuberculous Complex In the Skin:-

ऐसे बालकों की त्वचा में जिनमें क्षय जीवाणु का संक्रमण कभी नहीं हुआ है जब पहले पहल त्वचा में ही इस जीवाणु का संक्रमण होता है तो संक्रमण स्थान पर एक कोठ (Papule) या छोटी गांठ (Nodule) निकल आता है। जिसके केन्द्र में मृत्यु (Necrosis) होकर व्रण सा हो जाता है क्योंकि यह व्रण फिरंग के प्रारंभिक व्रण के समान होता है। इसे Tuberculous Chancre कहते हैं। इस प्रदेश का Lymph जिन लसीका ग्रन्थियों में जाता है उनमें से एक लसीका ग्रन्थि कुछ सप्ताहों के अन्दर अन्दर सूज जाती है और पक जाती है। कुछ तो इस पकी हुई ग्रन्थि को देख कर अर्थात् Primary Complex के Glandular Component को देखकर त्वचा में विद्यमान प्रारंभिक व्रण (Primary Focus या Tuberculous Chancre) का पता लगता है। यह प्रारंभिक व्रण (Primary Focus) कई महीनों के बाद या तो स्वमेव अच्छा हो जाता है या यह छोटा Papule बढ़ते बढ़ते Lupus Vulgaris में परिवर्तित हो जाता है। (Adenitis) स्वमेव ठीक हो जाता है।

जीर्ण क्षय व्रण, जीर्ण त्वचा क्षय :- Lupus Vulgaris:-

बहुत धीरे धीरे बढ़ने वाले त्वचा पर कुछ उठे हुये लाल भूरे रंग के सेब के मुरब्बे (Apple Jelly) की तरह की छोटी छोटी ग्रन्थियां (Nodules) से बने हुये किनारों पर बढ़ने वाले "क्षय जीवाणु" जनित व्रण को चर्मीय क्षय व्रण या Lupus Vulgaris कहते हैं। Lupus का शब्दार्थ भेड़िया होता है क्योंकि जो व्रण भेड़िये की तरह मांस को खा जाय उसे Lupus Vulgaris कहा गया है।

कारण :-

यह चिरस्थायी क्षय व्रण निर्धन परिवारों के निर्बल प्रकृति के बालकों में या नवयुवकों में चेहरे पर, नाक, गाल, कान, ग्रीवा की या छाती के ऊपर के प्रदेश की या कभी कभी शाखाओं की त्वचा पर प्रारंभ होकर बहुत धीरे धीरे बढ़ता है। यह रोग प्रायः छोटी आयु में आरंभ होता है।

क्षय जीवाणु नाक की श्लेष्म कला में उसके किसी क्षत प्रदेश से अंदर प्रवेश करता है और लसीका वाहिनियों (Lymphatics) के द्वारा चेहरे की त्वचा में प्रवेश कर जाता है अथवा ग्रीवा में उत्पन्न किसी क्षय ग्रन्थि (Cervical Gland) के पक कर फूट जाने से लसीका वाहिनियों के द्वारा ग्रीवा की त्वचा में प्रवेश कर जाता है। पृथ्वी पर घिसट कर चलने वाले शिशुओं में पृथ्वी पर पड़ा हुआ क्षय जीवाणु बैठने की जगह या नितंबों की त्वचा के क्षत प्रदेश में से सीधा अन्दर प्रवेश कर सकता है। इस अवस्था में क्षय व्रण शाखाओं पर होता है। यदि बालक की प्रतिरोधक शक्ति क्षीण हुई हो तो फुफ्फुस के अन्दर की किसी क्षय ग्रन्थि के पक कर किसी सिरा में फूट जाने से क्षय जीवाणु सारे शरीर में प्रवेश करता है। वैसे ही त्वचा में भी प्रवेश कर जाता है। जिससे त्वचा में अनेक क्षय व्रण (Disseminate या Multiple-Lupus Vulgaris) हो जाते हैं।

विकृति :-

क्षय जीवाणु के अन्तस्त्वचा (Dermis या Cutis) में आ जाने पर उसके विरोध प्रतिक्रिया होकर त्वचा की सूक्ष्म सिराओं के आस पास आधा से १,२ मिलीमीटर के व्यास की अर्थात् पिन के सिरे के आकार की ग्रन्थियां (Nodules या Lupoma) बन जाती हैं। ये ग्रन्थियां अनेक क्षयांकुरों के मिलने से बनी होती हैं। जिनमें से प्रत्येक क्षयांकुर ऊपर कहे गये Giant Cell System से बना होता है। एक ग्रन्थि के निकलने पर लसीकावाहिनियों (Lymphatics) के द्वारा आसपास संक्रमण होकर दूसरी ग्रन्थियां भी निकलती जाती हैं। इस प्रकार इनके समूह के कारण यह लाल, भूरे रंग का कुछ उठा हुआ एक क्षय जनित चकत्ता (Patch) बन जाता है। इस चकत्ते के चारों ओर की त्वचा कुछ रक्त वर्ण होती है। यदि शीशे या

Watch Glass से इस चकत्ते को दबाकर रक्त वाहिनियों में से रक्त को हटा दिया जाय तो त्वचा में चिपनाम श्वेत भूरे रंग की सेव के मुरब्बे की सी छोटी चार दर्शक ये ग्रन्थियां (Nodules) स्पष्ट देखने में आती हैं।

लक्षण : -

Lupus या क्षय व्रण के कारण कोई विशेष कष्ट नहीं होता। परंतु एक बार प्रारंभ होकर धीरे धीरे किनारों पर ग्रन्थियों के निकलते जाने से यह बढ़ता ही जाता है। प्रधानतया यह व्रण दो प्रकार का होता है। एक शुष्क क्षय व्रण (Fibrotic Lupus Vulgaris) होता है जो किनारों पर फैलता जाता है पर केन्द्र भागों के ठीक होता जाता है अर्थात् वहां पर Scar-Tissue बन जाता है। (Agminate Lupus) यह चकत्ता (Patch) उभरा हुआ या व्रण युक्त नहीं होता। दूसरा आर्द्र क्षय व्रण (Exudative Lupus-Vulgaris) होता है। इसमें शोथ, उभार, लालिमा तथा व्रणभाव के लक्षण होते हैं। इसमें रोहण करने अर्थात् (Scar Tissue बनने) की प्रक्रिया बहुत कम है ~~है~~ तथा विनाशात्मक प्रक्रिया विशेष होती है। जब नाक, कान आदि के पास यह रोग होता है तब व्रणभाव के कारण इनके Cartilages खाये जाते हैं। एवं चेहरे पर विकलता (Deformity) हो जाने का लक्षण हो जाता है। (Ulceralive Lupus)

नासिका तथा मुख के आसपास यह रोग हो तो इनकी श्लेष्म कलाओं में भी अर्थात् नासा, दंत मांस, गालों, जिह्वा, तालु, गल आदि की श्लेष्म कला पर भी कारी भूरे से रंग के चकत्तों के रूप में या अंकुरों (Vegetation) के समूह के रूप में होता है। जिन पर कुछ कुछ व्रण भाव भी होता है। (Lupus of Mucous Membranes)

यह रोग बाल्यकाल में प्रारंभ होकर चिरकाल तक रहता है। इनके क्षय जीवाणु जनित होने से रोगी युवक निर्बल रहता है। अंत में इसके उपद्रव के रूप में उरः क्षय होकर मृत्यु हो सकती है। परंतु कुरूपता और अंग विकलता इस रोग के स्पष्ट उपद्रव होते हैं।

इस रोग का भ्रम फिरंग रोग के Gumma से हो सकता है पर वह रोग ३० वर्ष से ऊपर की आयु में होता है। वह अधिक शीघ्र कारी होता है। वह त्वचा, अस्थि, ~~कौ~~ तरुणास्थि सभी को खाता है। इसके विपरीत यह रोग ३० वर्ष से पहले होता है। चिरकारी होता तथा केवल तरुणास्थियों को खाता है। महाकुष्ठ (Leprosy) से भी इसका संदेह नहीं होना चाहिये ~~।~~ क्योंकि इस रोग में त्वचा पर स्पर्श ज्ञान तथा शीतोष्ण का भेद भी नष्ट हो जाते हैं।

Lupus Erythematosus:- का रोग जिसमें नाक के दोनों ओर गालों पर लालिमा आ० होती है तथा कहीं कहीं बीच में Scar-

Tissue भी कम होता है। इससे विभिन्न रोग है। यह दोनों ओर (आमने सामने) Symmetrical. होता है। Lupus एक ओर ही हो सकता है। यह वर्षों रहकर भी अंग विकृता (Deformity) उत्पन्न नहीं करता। इसमें Watch Glass से देखने पर सेब के गूदे जैसे छोटे छोटे (उभार) Nodules दिखाई नहीं पड़ते।

इसका भ्रम Rodent Ulcer से भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि यद्यपि वह नाक के पास के प्रदेश में होता है पर वह बड़ी आयु के व्यक्तियों में ही अधिकतः पाया जाता है। कभी कभी नवयुवकों में भी हो सकता है तथापि उसका पृष्ठ अधिक कठोर होता है। उसके किनारे भी कठोर होते हैं। Lupus Vulgaris. बीच में कुछ कुछ शुष्क भी हो तो भी उसके किनारों पर कुछ (उभार) Nodules होते ही हैं। यह रोग क्षय जीवाणु जनित नहीं होता।

१३. ग्रन्थि क्षय, गंड माला :- Glandular Tuberculosis, Tuberculous-Lymphadenitis:-

३ से १५ वर्षों तक की आयु में लसीका ग्रन्थियों में क्षय रोग होता हुआ पाया जाता है। Mediastinum तथा Mesentery में स्थित लसीका ग्रन्थियों के क्षय रोग का वर्णन ऊपर हुआ है। सब लसीका ग्रन्थियों में से Mediastinum की ग्रन्थियों में यह रोग सबसे अधिक होता है परंतु उसका प्रत्यक्ष पता X-Ray. के द्वारा Hilum की छाया के बड़े और घने हो जाने से चलता है।

दूसरे नंबर पर यह रोग ग्रैवेय लसीका ग्रन्थियों में कंठमाला (Tuberculous Cervical Lymphadenitis) के रूप में होता है। जिन बालकों के (Tonsils में चिर स्थायी शोथ रहता है एवं उनसे संबंधित ग्रैवेय लसीका ग्रन्थियों में भी कुछ कुछ शोथ रहता है उनके गले में श्वास वायु के द्वारा प्रविष्ट हुआ क्षय जीवाणु Tonsils में जाकर नष्ट होने के स्थान पर उन्हीं को क्षय रोग से ग्रस्त कर देता है अर्थात् उनके Tonsils में तथा उनसे संबंधित ग्रैवेय ग्रन्थियों में क्षय जीवाणु की वृद्धि करने के लिये उचित भूमि मिल जाती है। ऐसे Chronic Tonsillitis वाले बालक को (रोमान्तिका) (Measles) या (कुक्कुरकास) (Whooping cough) आदि कोई रोग हो जाय तो उसके कारण उसकी प्रतिरोधक शक्ति इतनी घट जाती है कि उसके Tonsils में क्षय जीवाणु सुगमता से बढ़ जाता है फिर Sternomastoid के अगले किनारे पर स्थित ग्रैवेय ग्रन्थियों में भी क्षय जीवाणु संक्रमण कर जाता है। इसके कारण लसीका ग्रन्थि में उसके Lymphoid Corpuscles तथा Fibrous-~~Tuberculae~~ Tuberculae में पर्याप्त वृद्धि हो जाने से वह आकार में बड़ी हो जाती है। फिर रोग बढ़ता जाय तो ग्रन्थि में कई स्थानों (Foci) पर (पनीरभाव) (Caseation की प्रक्रिया प्रारंभ होकर वह बढ़ती जाती है। यहां तक कि सारी ग्रन्थि में ही

यह प्रक्रिया आ जाती है। फिर गलने या (Softening) की प्रक्रिया होकर सारी ग्रन्थि पक जाती है। इसके अन्दर में भी शोथ हो जाता है। जिसके कारण वह दूसरी ग्रन्थियों तथा त्वचा के साथ जुड़ जाती है। त्वचा में मृत्यु (Necrosis) की प्रक्रिया के प्रारम्भ हो जाने से वह स्थान नीला हो जाती है। और बाद में ग्रन्थि के खुल जाने से वहां नाड़ी व्रण (Sinus) बन जाता है। यदि रोगात्मक प्रक्रिया विशेष हो पनीरभाव (Caseation) न हो तो ग्रन्थि में वृद्धि (Hyperplasia) ही होता है या उसमें Calcification होकर वह कठोर हो जाती है। इन दोनों अवस्थाओं में ग्रन्थि निरुपद्रव रहती है। व्रण भाव हो जाने पर भी यह रोग रोगी के लिये उपद्रवकारी नहीं होता परन्तु यहां से क्षय जीवाणु के फुफ्फुस में प्रवेश कर जाने का भय तो रहता है। इन ग्रैव ग्रन्थियों में शूल या स्पर्शासहता (Tenderness) का कोई लक्षण नहीं होता।

क्षय रोग की चिकित्सा :-

विश्राम चिकित्सा :-Bed Rest Treatment:-

इस रोग का रोगी विशेष वार्तालाप तथा उठने बैठने आदि सब प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं का परित्याग करके शांत भाव से शैया शायी होकर पड़ जाय और इसी प्रकार कई सप्ताहों तक पड़ा रहे, मल मूत्र आदि का त्याग तथा आहार, प्रक्षालन आदि भी बिस्तरे पर लेटे हुये को तो क्रमशः उसकी अधिक हृदय गति तथा श्वास गति मंद एवं मंद तर होती जाती है। रोगी अधिक निर्बल न हो तो मल मूत्र त्याग के लिये उठ सकता है। फुफ्फुस की गतियों के घट जाने से उसमें होने वाले रक्त संचार की गति भी मंद हो जाती है। जिससे वहां के रुग्ण स्थान से क्षय विष की जो मात्रा पहले रक्त में संचरित होती थी, वह भी क्रमशः घटती जाती है और उसकी असात्म्यता (Allergy) या विष संचार से होने वाले ज्वर, कृशता, अन्नारोचक आदि लक्षण क्रमशः शांत होने लगते हैं। जितना ही विश्राम पूर्ण और पूर्ण तर होता है उतना ही इन लक्षणों की शान्ति शीघ्र और शीघ्र तर होती है। इस चिकित्सा में दो तीन सेवक भृत्यों की आवश्यकता होती है। जो बिस्तरे पर पड़े हुये रोगी की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। लगभग दो मास तक शैया शायी होकर रहने पर तापमान नाड़ी गति, तथा श्वास गति नार्मल हो जाते हैं। भूख बढ़ जाती है। रक्त कणों का Sedimentation Rate ७ मिलीमीटर प्रति घंटा के रेट से नीचे आ जाता है। लेटे लेटे शरीर में १००० तथा साधारण श्रम करने पर शरीर में २५० के लगभग कैलोरी प्रतिदिन उत्पन्न होती हैं। इससे विश्राम का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

रोग साध्यासाध्य हो तो १ या - १½ मास के पूर्ण विश्राम

से ज्वर शांत हो जाता है। यदि रोग अधिक हो तो २,३ मास के पूर्ण विश्राम से ज्वर आदि लक्षण शांत हो जाते हैं। विश्राम से शरीर की प्राण शक्ति बढ़ जाती है। फुफ्फुस में उत्पन्न हुये क्षत को रोकने और उसे भरने की प्रक्रिया तीव्रतर हो जाती है अर्थात विश्राम काल में शरीर की जीवनी शक्ति और प्राण शक्ति को निर्विघ्न होकर अपने कार्य करने का अवसर मिलता है जिससे शरीर में होने वाला क्षतिपूर्ति का कार्य दिन रात जारी रहता है। औषधियां तो केवल इस शक्ति की सहायता करती हैं वस्तुतः फुफ्फुस के क्षत युक्त प्रदेश का रोपण तो शरीर की अपनी प्रतिरोधक शक्ति के बढ़ जाने से होता है। अतः विश्राम चिकित्सा इस रोग की प्रधान चिकित्सा है। यहां तक कि बढ़ा हुआ रोग भी केवल विश्राम चिकित्सा से ठीक हो सकता है।

एक दो महीनों के पूर्ण विश्राम के बाद जब ज्वर आदि लक्षण शांत हो जायें तब उसे पुस्तक आदि के अवलोकन करने और आधे घंटे के लिये बैठकर भोजन करने की छूट दे देनी चाहिये। ऐसा करने से ज्वर आदि लक्षण न बढ़ें तो फिर आधे घंटे के स्थान पर एक घंटे के लिये उठकर बैठने और उसी समय में बैठकर मल त्याग करने की छूट भी दे देनी चाहिये। इस पर भी यदि ज्वर, कास, अन्नारुचि आदि कोई लक्षण प्रकट न हों तो इस उठकर बैठने के समय को क्रमशः दो, तीन, चार, पांच, छः घंटों तक बढ़ा देना चाहिये। इसे अर्ध विश्राम या अपूर्ण विश्राम चिकित्सा कह सकते हैं। इसे भी दो मास तक जारी रखना चाहिये। इस प्रकार ४,५ मास की विश्राम चिकित्सा से क्षय रोगी को अवश्य आराम आ जाता है।

विश्राम चिकित्सा के बाद रोगी को क्रमशः चलने, फिरने की छूट दी जाती है जिससे उसे लाभ ही होता है। ज्वर आदि कोई लक्षण फिर नहीं होता।

सैनिटोरियम चिकित्सा :-

विश्राम, खुली हवा, शीतल प्रदेश तथा पर्याप्त पौष्टिक आहार ये सभी शरीर में उत्पन्न क्षति को पूर्ण करने वाले, रोग प्रतिरोधक शक्ति के बढ़ाने वाले तथा निद्रा के बढ़ाने वाले भाव हैं। सैनिटोरियम में ये सभी रोगी को सुलभ होते हैं। इसलिये सैनिटोरियम चिकित्सा इस रोग की प्रधान चिकित्सा मानी जाती है। बंद कमरे में विश्राम करने की अपेक्षा खुली हवा में लेटा शायी होकर रहना अधिक स्वास्थ्य वर्धक है। हवा, भूख के बढ़ाने वाली होती है। क्षय रोग में शरीर में हुई क्षति की पूर्ति के लिये प्रोटीन, भोजन जैसे मांस रस, दूध, दही, पनीर, दाल, अंडे आदि पर्याप्त मात्रा में देने चाहियें। दूसरे नंबर पर स्निग्ध तत्व अर्थात् घृत या मक्खन की आवश्यकता होती है। क्योंकि वह भी शरीर में हुई क्षति को पूर्ण करता है। तीसरे नंबर पर कार्बोहाइड्रेट आहार

की आवश्यकता होती है। क्योंकि रोगी शारीरिक श्रम नहीं करता, इसलिये इसका प्रयोग न्यून मात्रा में ही करना चाहिये। घृत युक्त मांस रस अथवा घृत युक्त दुग्ध के प्रयोग से क्षय रोगी को विशेष लाभ होता है। इन तत्वों के अतिरिक्त Vitamin "C" की जो कि घावों के रोपण करने में सहायक होती है रोगी को आवश्यकता रहती है। इसके लिये फल रस तथा ५० से १५० मिलिग्राम तक Ascorbic-Acid. प्रतिदिन देना चाहिये। शरीर के आवरणों (Epithelliams) पर होने वाले घावों की पूर्ति के लिये Vitamin "A" सहायक होता है। इसलिये Cod Liver Oil १/२ औंस या Haliverol १,२ ड्राम प्रतिदिन देने चाहिये। इस प्रकार जहां खुली हवा, विश्राम, और पौष्टिक भोजन अनायास रोगी को मिल सकते हैं ऐसे सेनिटोरियम का निवास इस रोग के लिये उत्तम चिकित्सा मानी जाती है। छः महीने या १२ महीने के भीतर उत्पन्न हुये Pneumonic Type के उपचार के लिये विश्राम चिकित्सा या सेनिटोरियम चिकित्सा से बड़ा लाभ होता है।

क्योंकि सेनिटोरियम चिकित्सा के दौरान में रोगी का तापमान तथा नाड़ी गति प्रति चार चार घंटों के बाद देखी जाती है, प्रति १५ दिन के बाद भार लिया जाता है, प्रति एक मास के बाद थूक की परीक्षा तथा Blood Sedimentation Rate, Differential Count. तथा Radiography की जाती है, इसलिये रोग में कितना सुधार हो रहा है इस का भी ठीक ठीक पता चलता रहता है।

औषध चिकित्सा :-

Streptomycin. का Sulphate-Salt. श्वेत वर्ण, घुलन शील होता है। एक एक ग्राम की मात्रा में छोटी छोटी शीशियों के अन्दर बन्द मिलता है। इसकी १ ग्राम मात्रा में १० लाख Units होते हैं। इसकी एक Microgram मात्रा को १ Unit कहते हैं। इसकी दैनिक मात्रा १ ग्राम होती है। जिसे ४,५ सी॰सी॰ Double Distilled Water या Saline में मिलाकर फिर इसे दो भागों में विभक्त करके १२,१२, घंटे बाद मांस द्वारा अर्थात Gluteus या Deltoid किसी मांस पेशी में दिया जाता है अथवा दो बार देना कठिन हो तो एक बार ही दिया जाता है। औषध देने के एक घंटे के अन्दर अन्दर यह संपूर्ण रक्त में व्याप्त हो जाती है। और व्याप्त होने के बाद मूत्र द्वारा निकलने भी लग जाती है। क्योंकि यह बाहिर निकलने लग जाती है, इसलिये १२,१२ घंटों के बाद दी जाती है, ताकि रक्त में यह बराबर बनी रहे। बालकों में इनके प्रति किलोग्राम भार के पीछे ३० मिलिग्राम दैनिक मात्रा में मांस द्वारा दी जाती है। रक्त के द्वारा यह औषधि "क्षय स्थान" प्रदेश तक पहुंचती है और वहां बढ़ते हुये जीवाणुओं को नष्ट करके उनकी होने वाली वृद्धि को रोक देती है। इस प्रकार यह एक जीवाणु रोधक (Bacteriostatic) औषधि है। जीवाणु वृद्धि

के बन्द हो जाते है ज्वर, शोथ, अन्नारोचक आदि लक्षण शांत होने लगते हैं। परंतु फुफुस आदि के क्षत हुये प्रदेश का रोहण या पूरण तो शरीर की अपनी शक्ति के द्वारा ही होता है। जो विश्राम, खुली हवा, तथा पौष्टिक भोजन के द्वारा ही बढ़ती है। अर्थात् यह औषधि विश्राम चिकित्सा या सेनिटोरियम चिकित्सा की सहायक होती है।

तीव्र तथा प्रारंभिक रूप में विद्यमान क्षय रोग (Acute या Sub-Acute रूप में विद्यमान Caseous या Tuberculous Pneumonia, Broncho-Pneumonia) के लिये यह औषधि विशेष लाभदायक होती है। क्योंकि इस रूप में रुग्ण प्रदेश की रक्त वाहिनियां अभी अवरुद्ध (Thrombosed) नहीं होती जिससे यह औषधि जीवाणु कृत प्रदेश तक भली प्रकार पहुंच जाती है। परंतु जब फुफुस का एक बड़ा प्रदेश मृत (Necrosed) हो जाय उसमें Vascular-Thrombosis हो गया हो अथवा बड़ा गुहा भाव (Cavitation) हो गया हो तो वहां रक्त वाहिनियों द्वारा जब यह औषधि पहुंच ही नहीं पाती तो इससे लाभ की आशा नहीं की जा सकती। फुफुस के अन्दर हुये भाव (Necrosis-तथा Cavitation) को तो विश्राम चिकित्सा से ही आराम आ सकता है। तथापि तीव्र क्षय रोग (Acute Exudative Tuberculosis) के लिये यह एक उत्तम औषधि है। इसके १ ग्राम की दैनिक मात्रा मैं मांस द्वारा देने से ज्वर हल्का ही होतो वह तीन चार दिन में शांत हो जाता है। ज्वर आदि लक्षण अधिक उग्र रूप में हों तो इस औषधि के एक दो सप्ताह के प्रयोग के बाद वे शान्त हो जाते हैं। फुफुस में उत्पन्न हुआ शोथ शीघ्र शांत हो जाता है। तथा क्षत हुआ प्रदेश यदि छोटा ही हो तो वह भी भरने लगता है तो भी इस औषधि के कार्य करने की एक सीमा है। उससे आगे इसके द्वारा सफलता नहीं मिलती। इस प्रकार इस औषधि को दैनिक १ ग्राम की मात्रा में $१\frac{१}{२}$ या २ मास तक देने के बाद फुफुस का रुग्ण प्रदेश X-Ray. द्वारा देखने पर पर्याप्त साफ हुआ पाया जाता है। रोग के लक्षणों के शांत हो जाने पर अथवा $१\frac{१}{२}$ मास के बाद जब फुफुस के क्षत प्रदेश का रोहण प्रारंभ हो जाता है तब इसे सप्ताह में ३ बार अर्थात् एक एक दिन छोड़ कर देना चाहिये। यह औषधि मस्तिष्क की अष्टम नाड़ी (Eighth Nerve) के लिये कुछ विषैली है जिससे विशेषतः इसकी Vestibular Branch. पर विशेष प्रभाव होकर शिरोभ्रम (Vertigo) का उपद्रव होने लगता है। अतः बाद में इसे सप्ताह में दो तीन बार ही देना चाहिये। ४ वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों तथा रोग युक्त रूप में हो तो इस औषधि का प्रयोग प्रारंभ से ही सप्ताह में ३ बार करना चाहिये। Streptomycin आधा ग्राम तथा Dihydrostreptomycin आधा ग्राम मिलाकर (Ambistryn) नाम से नई दवाई का प्रयोग करने से उपद्रव कम होते हैं। (Viomycin (P... D...) जो इसी के समान की जाती है, २ ग्राम मात्रा में दो दिन में १ बार जिन्हें उपर्युक्त

औषधि अनुकूल नहीं उन्हें दी जाती है।

२. Para Aminosalicylic Acid or Sodium Amino Salicylate (P.A.S.) पहले पहल जर्मनी में Lehman ने १९४६ में इस औषधि को क्षय रोग के लिये उपयोगी बताया था। वस्तुतः यह एक मृदु क्षय रोग निवारक एवं निरुपद्रव औषधि है। यह भी रक्त द्वारा क्षत प्रदेश में पहुंच कर जीवाणु वृद्धि को रोकने का कार्य करती है। इसके दो सप्ताह तक प्रयोग करने से क्षय रोगी के ज्वर, कास, बलगम तथा बढ़ा हुआ Blood Sedimentation Rate सभी घट जाते हैं तथा एक मास बाद रोगी की अवस्था पर्याप्त सुधर जाती है।

मुख द्वारा यह औषधि दी जाती है तथा खाने के बाद आधे घंटे में ही यह संपूर्ण रक्त में व्याप्त हो जाती है तथा खाने के तीन घंटे बाद मूत्र द्वारा बहुत कुछ शरीर से निकल जाती है। रक्त में इसकी मात्रा एक सम बनी रहे और जीवाणु नष्ट होते रहें, इस उद्देश्य से प्रति चार घंटे के बाद दिन में चार पांच बार इस औषधि का प्रयोग किया जाता है। प्रायः Streptomycin के सहायक रूप में ही उसके साथ साथ इसका प्रयोग किया जाता है। Streptomycin का अकेले ही प्रयोग चार मास तक प्रतिदिन किया जाय तो क्षय जीवाणु इतने हठी या धृष्ट हो जाते हैं कि उन पर फिर इस औषधि का प्रभाव ही नहीं होता। इस दोष के निवारण के लिये Streptomycin को $1\frac{1}{2}$, २ मास तक प्रति दिन देने के बाद फिर सप्ताह में २, ३ बार ही दिया जाता है तथा P.A.S. (Pas-Dumex Granules) नामक इस औषधि को पहले पांच ग्राम दैनिक मात्रा में और फिर क्रमशः उसे बढ़ाते हुये १०, १५ या १६ ग्राम दैनिक मात्रा तक पहुंचा दिया जाता है। दैनिक मात्रा को बराबर बराबर चार भागों में विभक्त करके ४ ग्राम की मात्रा में प्रातः ६ से सांय ६ बजे तक चार बार करके दिया जाता है। Streptomycin को जब सप्ताह में तीन बार कर दिया जाता है तब भी इस औषधि को प्रतिदिन जारी रक्खा जाता है। इसकी जो मात्रा अरुचि कारक हो वह अधिक समझनी चाहिये। केवल इसी औषधि का प्रयोग $1\frac{1}{2}$, २ मास के बाद भी जारी रक्खा जाय तो भी क्षय जीवाणु हठी हो जाते हैं। परंतु दोनों औषधियों का साथ साथ प्रयोग करने से क्षय जीवाणु शीघ्र हठी नहीं होते प्रत्युत बहुत देर के बाद हठी होते हैं तथा रोगी की अवस्था में सुधार भी अधिक शीघ्रता से होता है। बालक के प्रति सेर भार के पीछे आधा ग्राम इसकी दैनिक मात्रा होती है। Isoniazid के साथ इसे प्रति दिन ५ ग्राम मात्रा में दो बार देना ही पर्याप्त होता है।

३. Isonicotinic Acid Hydrazide (Isoniazid - Tibizide, Isonex, Pulmizide, Relazid.) इस औषधि का प्रयोग पहले पहल १९५२ में हुआ। यह औषधि भी क्षय जीवाणु के लिये घातक (Bactericidal) है। यह P.A.S. से अधिक प्रबल तथा

Streptomycin के तुल्य बल वाली औषधि कही जाती है। खाने के आठ घंटे के अन्दर यह रक्त में Cerebrospinal Fluid तथा Pleural Exudation --- में फैल जाती है। केवल इसके प्रयोग से भी लाभ होता है। परंतु कुछ मास बाद क्षय जीवाणु हठी (Resistant) हो जाते हैं। जब Streptomycin. या P.A.S. इनमें से किसी के साथ साथ इसका प्रयोग जारी रखा जाता है तो इस सहयोगी (Synergistic) रूप में ६ मास तक निश्चिन्त होकर इसका प्रयोग कर सकते हैं। क्योंकि फिर यह दुष्परिणाम शीघ्र न होकर देर बाद होता है। रोगी के प्रति सेर भार के पीछे इस औषधि की ३,५ मिलिग्राम दैनिक मात्रा दी जाती है। इस हिसाब से युवक के लिये लगभग १७५,२०० मिलिग्राम की इसकी दैनिक मात्रा होती है। जिसे दो या तीन भागों में विभक्त करके ८,८ घंटों के अन्तर से देते हैं। दो तीन सप्ताह देने से ज्वर, अन्नारोचक, कास, बलाद, अशक्ति आदि लक्षण शांत हो जाते हैं। एक से ४ मास में थूक में जीवाणु नहीं रहते साथ ही १ ग्राम Streptomycin को दो बार करके प्रातः सायं प्रतिदिन मांस द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार Isoniazid एक उत्तम सहायक (Adjuvant) औषधि है। इसके साथ Streptomycin को लगभग तीन महीनों तक निश्चिन्त होकर दे सकते हैं। क्योंकि इसके साथ देने से भी क्षय जीवाणु के हठीकोशाणु (Resistant Strains) शीघ्र उत्पन्न नहीं होते। जीर्ण क्षय रोग में Isoniazid विशेष लाभ नहीं दीखता। तीव्र क्षय रोग में विशेष प्रयुक्त होता है। क्षय रोग जनित Meningitis में प्रति सेर भार पीछे इसकी १० मिलि दैनिक मात्रा है।

४. Cortisone:- २५ मिलि मात्रा में इस औषधि के ३,४ बार दिन में १,१ १/२ मास तक उपर्युक्त औषधियों के साथ देने से रोगी को और भी शीघ्र लाभ होने लगता है या Corticotrophin के दो सप्ताह में एक बार देने से भी इसी प्रकार लाभ होता है।

Chemotherapy:- इस प्रकार क्षय जीवाणु को निश्चेष्ट करने के लिये Streptomyci-n १ ग्राम दिन में १ बार या १/२, १/२ ग्राम दिन में दो बार मांस द्वारा दिया जाता है। तथा P.A.S. की ३ या ४ ग्राम की मात्रा चार चार घंटे के अन्तर से प्रतिदिन दे दी जाती है। अथवा Streptomycin १ ग्राम दैनिक मात्रा के साथ Isoniazid २०० मिलिग्राम मात्रा में प्रतिदिन दे दिया जाता है अथवा Isoniazid २०० मिलिग्राम की मात्रा के साथ साथ P.A.S. (Iso-Benzacyl, Pasonex) १२ से १५ ग्राम मात्रा में प्रतिदिन दे दिया जाता है। इनमें से किसी युगल को १ १/२, २ मास तक प्रयोग करने से इस रोग के लक्षण शांत हो जाते हैं। साधारण फुफ्फुस शोथ (Mild Tuberculous Pneumonia) इसकी ६ मास तक की चिकित्सा से ठीक हो जाता है। परंतु फुफ्फुस में व्यापक मृत्यु Necrosis

या Caseation हुआ हो तो वहाँ पर भी चिकित्सा से बहुत कुछ लाभ हो जाता है। इस चिकित्सा के आरंभ करने के २, २½ मास बाद जब फुफ्फुस का शोथ शांत होने लगता है। अर्थात् जब ज्वर, कास, वजन, बढ़े हुये Blood Sedimentation rate. आदि लक्षण शांत हो जाते हैं। तब Streptomycin को सप्ताह में तीन बार ही कर दिया जाता है।

Callapsetherapy:- शैथिल्य चिकित्सा :-

क्षय जनित फुफ्फुस शोथ (Tuberculous Exudation and Cellular-Infiltration) तो Chemotherapy से बहुत कुछ ठीक हो जाता है। तथा और छोटी छोटी (Cavities) हो जाने का रोग भी विश्राम चिकित्सा से ठीक हो जाता है। परंतु बड़ी बड़ी गुहायें (Cavities) इन दोनों प्रकार की चिकित्साओं से ठीक नहीं हो पातीं। इसलिये इन दोनों प्रकार की चिकित्साओं के २, २½ मास तक चलाने के बाद भी यदि थूक में क्षय जीवाणु मिलें तथा X-Ray. द्वारा गुहाभाव के चिन्ह मिलें तो Callapsetherapy का प्रयोग किया जाता है। इस विधि का प्रयोग अब बहुत कम हो गया है। इसलिये इनका वर्णन नहीं किया जाता है।

Thoracoplasty:-

Permanent Callapsetherapy:- Callapsetherapy से थोड़ा सा रुग्ण फुफ्फुस रस दो वर्ष Callapsed रहने के बाद फिर बहुत कुछ स्वस्थावस्था में आ जाता है। परंतु जीर्ण उरः क्षय रोग में जब किसी फुफ्फुस में या उसके एक अंश में गुहाभाव (Cavitation) और आयुषाय (Fibrosis) इतना अधिक हो गया हो कि जिससे वह कठोर एवं श्वास प्रश्वास के लिये सर्वथा अयोग्य हो और वह Collapsetherapy से भी कार्यकारी न बनाया जा सकता हो तो उसे स्थायी रूप से Collapsed कर दिया जाता है। जिससे वह निरोग तो हो जाता है पर दोबारा श्वास प्रश्वास में भाग लेने योग्य नहीं बनता।

इस शल्य कर्म में पीठ पर से छाती की ऊपर की प्रथम द्वितीय पसलियाँ तथा तृतीय पसली के कुछ अंश को Sub-Periostially निकाल दिया जाता है। फिर रोग ग्रस्त फुफ्फुस के शिखर को छाती की दीवार से छुड़ा कर पृथक किया जाता है अर्थात् Vertebrae के Transverse-Processes से, Intercostal Muscles से, Sub-calvian-Vessels से, पृथक करके इसे इसके Hilum की तरफ संकुचित होने दिया जाता है। ऊपर की तीन पसलियों के निकाल देने से वहाँ छाती की दीवार अन्दर धंस जाती है तथा वह वहाँ दृढ़ भी हो जाती है। पर कुछ काल बाद छं रहे हुये स्थान पर पसलियां फिर बन जाती हैं और धंसी हुई छाती दृढ़ न रहकर फिर कठोर हो जाती है। इस प्रकार रुग्ण फुफ्फुस को स्थायी

रूप से Collapsed कर दिया जाता है। जिससे उसके अन्दर विकृत गुहाभाग का विकार पूर्णतया ठीक हो जाता है।

पार्श्व शूल की चिकित्सा :-

शुष्क पार्श्व शूल (Fibrinous Pleurisy) की चिकित्सा :-

बहुधा यह शूल उरः क्षय के कारण ही होता है। अतः विश्राम चिकित्सा के दो तीन सप्ताह तक करने से लाभ हो जाता है। पार्श्व पर Xxxxx Io Kaolin. पौल्टिस का लेप अथवा पसलियों की गति शीलता को कम करने के लिये आगे मध्य रेखा से पीछे की मध्य रेखा तक Adhesive Tape से Strapping भी किया जाता है। कष्ट दायक खांसी के लिये Syrup Codeine १ ड्राम दिन में दो तीन बार दिया जाता है।

आर्द्र पार्श्व शूल (Serofibrinous Pleurisy or Pleurisy with Effusion): की चिकित्सा :-

जब तक द्रव विलीन न हो जाय रोगी को पूर्ण शैया विश्राम में रखना चाहिये। प्रायः १ या १ मास के पूर्ण विश्राम से यह द्रव विलीन हो जाया करता है। यह अधिक भी हो तो ३ मास के पूर्ण शैया विश्राम से विलीन हो जाता है। ज्वर, नाड़ी गति की तीव्रता B.S.R. की अधिकता से लक्षण प्रायः दो या तीन सप्ताह में शांत होते हैं तथा द्रव उसके कुछ काल बाद विलीन होता है। इस विश्राम काल में रोगी को प्रोटीन, फैट, फल, विटामिन कैल्शियम, प्रचुर आहार देना चाहिये। यदि द्रव दो तीन सप्ताह तक स्वयं विलीन न हो तो Chemotherapy अर्थात् Streptomycin तथा Isoniazid या Streptomycin और P.A.S. का प्रयोग ३ या ४ सप्ताह तक करना चाहिये।

Thoracentesis-Paracentesis अथवा xxxxx Aspiration :-

जब तक तापमान रहे अर्थात् जब तक Pleura सूजा हुआ हो उसे छेड़ना उचित नहीं। परंतु विश्राम चिकित्सा तथा Chemotherapy द्वारा जब ज्वर शांत हो जाय तब Aspiration के द्वारा Pleur-a में विद्यमान द्रव को थोड़ा थोड़ा करके निकाल देना चाहिये। दो तीन सप्ताह के विश्राम के बाद भी ज्वर शांत न हो तो द्रव का Aspiration कर ही देना चाहिये। द्रव के छाती में रहने से हानि ही होती है, लाभ नहीं। फुफ्फुस के शिखर में क्षय रोग के कारण इस द्रव की उत्पत्ति xxx ऊपर के Pleura से होती है। परंतु यह द्रव उत्पन्न होकर फुफ्फुस के निम्न भाग पर जमा होता है। और उसे Collapse कर देता है। अर्थात् फुफ्फुस का स्वस्थ भाग तो Collapsed हो जाता है तथा ऊपर के रुग्ण भाग को अधिक कार्य करना पड़ता है। द्रव के कारण ऊपर का रुग्ण फुफ्फुस तो Collapse

होता नहीं प्रत्युत नीचे का स्वस्थ फुफ्फुस Callapsed हो जाता है। साथ ही इस द्रव के Fibrin के Pleura पर जम जाने से फुफ्फुस और छाती की दीवार परस्पर जुड़ जाती हैं जिससे रोगी को फुफ्फुस में सदा के लिये एक स्थायी विकृति उत्पन्न हो जाती है। यह भी कहा जाता है कि फुफ्फुस में द्रव संचित रहे तो उसके कारण विषसंचार के बने रहने का भी भय रहता है। इसके अतिरिक्त द्रव के वहां रहने से फुफ्फुस का चित्र Roentgenogram साफ साफ नहीं आ सकता। एवं फुफ्फुस में विद्यमान विकार का पता नहीं चल सकता। अतः द्रव युक्त पार्श्व शूल में द्रव को थोड़ा थोड़ा करके निकाल ही देना चाहिये।

रोगी को बैठाकर के या स्वस्थ पार्श्व पर आधा लिटा कर, रुग्ण पार्श्व की त्वचा को शुचि हीन करके Mid-Axillary Line में छठे Inter Space के अन्दर Pleura तक के प्रदेश में २ प्रतिशतक Procaine Fluid डाल दिया जाता है। सुई को धीरे धीरे ढकेला जाता है ताकि Pleura का पृष्ठ जब तक संज्ञा हीन न हो जाय तब तक सुई Pleura में न जाय। इसी Needle तथा Syringe में यदि कुछ Pressure Negative रक्खा जाय तो Pleura का द्रव स्वयं सीरिंज में खिंच जाता है और द्रव की गहराई का पता चल जाता है। इस Needle पर एक छः इंच लंबी रबड़ ट्यूब जिसके दोनों ओर Adapters लगे हों फिट कर दी जाती है और इस ट्यूब के साथ एक ५० सी०सी० सिरिंज लगाकर द्रव को खींच कर सीरिंज भर ली जाती है। सीरिंज के भर जाने पर ट्यूब को Spring Clip से Clamp करने के बाद ट्यूब से पृथक् करके खाली कर दिया जाता है तथा फिर पूर्ववत् ट्यूब से संबंधित करके Clamp को हटाकर भर लिया जाता है। इस विधि से बार बार सीरिंज भराई तथा खाली की जाती है। इस प्रकार एक बार में १०,१५ औंस ही द्रव निकालना चाहिये। बचा हुआ द्रव बहुधा स्वयं विलीन हो जाता है। फिर सुई को निकाल कर Collodion से सुराख को बंद कर देना चाहिये। इससे पहले Streptomycin ३ ग्राम को १०,१२ सी०सी० शुद्ध जल में मिला कर प्लूरा में डाल दिया जाय तो यह रोग शीघ्र शांत होने लगता है। चार पांच दिन के अन्तर से फिर एक बार द्रव निकाल कर इसी प्रकार Strepto- ---- वहां पर डाल दिया जाता है। इस बीच में त्वचा द्वारा यह औषधि नहीं देनी चाहिये। Isoniazid अवश्य देते रहना चाहिये। बाद में Strepto. का प्रयोग मांस द्वारा आरंभ कर देना चाहिये। क्योंकि जल युक्त पार्श्व शूल के होने के दो तीन वर्षों के अन्दर अन्दर उरःक्षय हो जाने की आशंका रहती है। अतः २ वर्ष तक ३,३ मास बाद X-Ray. के द्वारा

फुफुस की अवस्था की जांच करते रहना चाहिये तथा इन क्षय नाशक औषधियों का प्रयोग ८,६ मास जारी रखना चाहिये।

क्षयोदर Abdominal Tuberculosis की चिकित्सा :-

आर्द्र क्षयोदर शुष्क क्षयोदर की अपेक्षा अधिक सुखसाध्य है। रोगी को खुली हवा में रख कर पौष्टिक भोजन तथा Vitamin A.D. तथा C. देते हुये विश्राम चिकित्सा में तीन मास तक रखना चाहिये। तथा साथ ही Chemotherapy प्रारंभ कर देनी चाहिये। अर्थात् Isoniazid १५०,२०० मिलिग्राम प्रतिदिन $१\frac{१}{२}$ मास तक देनी चाहिये तथा Streptomycin को तीन सप्ताह तक एक एक दिन छोड़कर इसी मात्रा में देना चाहिये। $१\frac{१}{२}$ महिने के बाद फिर रोगी को केवल Isonia-zid तथा P.A.S. की १२, ग्राम की दैनिक मात्रा पर ही दो तीन महीने रखना चाहिये। इस प्रकार Chemotherapy तथा विश्राम चिकित्सा से Exudative Tuberculous Peritonitis में ६ मास में पर्याप्त लाभ हो जाता है।

. यदि Peritoneum में द्रव अधिक हो, आँते कोष्ठ की दीवार से जुड़ी हुई न हों तो Paracentesis द्वारा जल निकालने से भी लाभ होता है।

शुष्क क्षयोदर Chronic Fibroid या Plastic Tuberculous Peritonitis. के लिये विश्राम चिकित्सा तथा Chemotherapy करनी चाहिये तथा यदि इतः लाभ न हो तो Ultra Violet X-Ray. के दो मिनट तक के Exposure से प्रारम्भ करके प्रति दिन १ मिनट बढ़ाते हुये नौवे दिन १० मिनट तक पेट को Exposure देने और फिर इसी को बीस दिन तक जारी रखने से भी लाभ होता है। इससे Exudate विलीन हो जाता है। [illegible] (Intestinal Obstruction) के पहले Liquid Paraffine प्रतिदिन देना चाहिये।

आन्त्र क्षय Ulcerative Enterocolitis की चिकित्सा :-

विश्राम चिकित्सा तथा Chemotherapy का प्रयोग २,३ मास करना चाहिये। Calicum Gluconate तथा Vitamin "C" का प्रयोग करने से भी व्रणों के रोपण में सहायता मिलती है।

मस्तिष्क क्षय Tuberculous Meningitis की चिकित्सा :-

मस्तिष्क क्षय रोगी बालक को Streptomycin या Dihydrostreptomycin की $\frac{१}{२}$ से १ ग्राम दैनिक मात्रा में २ भागों में विभक्त करके मांस द्वारा दे देनी चाहिये। साथ ही ५,१०० मिलिग्राम की मात्रा में इसे Intrathecally या सुषुम्ना कांड के द्वारा भी प्रतिदिन दे देना चाहिये। मांस द्वारा तो इसे ३ मास तक तथा सुषुम्ना कांड

द्वारा इसे एक मास तक दे देना चाहिये। इस औषधि के साथ साथ Isoniazid को ५ मिलिग्राम की मात्रा में दिन में दो बार मुख द्वारा दिया जाता है। साथ ही P.A.S. को १ ग्राम की मात्रा में ४ बार भोजन देने के बाद दे दिया जाता है। इस Chemotherapy से लगभग ३ सप्ताह में लाभ प्रतीत होने लगता है तथा दो मास की चिकित्सा से रोग बहुत कुछ शांत हो जाता है। सुषुम्ना द्वारा Streptomycin न भी दिया जाय तो भी रोगी की अवस्था सुधर जाती है। तीन मास बाद Streptomycin आधा ग्राम की मात्रा में सप्ताह में तीन चार बार देना आरंभ कर देना चाहिये। मस्तिष्क क्षय का रोग युवा में हो तो Streptomycin १ ग्राम की मात्रा में प्रति दिन मांस द्वारा तथा १०० मिलिग्राम की मात्रा में Intrathecally एक सप्ताह तक दे देना चाहिये। बालक में सुषुम्ना द्वारा ५ मिलिग्राम मात्रा ठीक है। इसके साथ साथ Isoniazid ३०० मिलिग्राम की मात्रा में तथा P.A.S. १२ ग्राम दैनिक मात्रा में भी विभक्त करके दे देने चाहियें। तीन मास तक इनका प्रयोग करने के बाद १५ दिन तक इनका प्रयोग बंद कर दिया जाता है और फिर दो तीन मास इसी प्रकार इन औषधियों का प्रयोग किया जाता है। इस चिकित्सा के दौरान में प्रति सप्ताह Cerebrospinal-Fluid. की परीक्षा की जाय तो रोगी की अवस्था में जो सुधार होता है उसका पता चलता रहता है। रोगी अच्छा होने लगे तो पहले ग्लूकोज की मात्रा इस द्रव में नार्मल हो जाती है।

इस रोग में रोगी के सुश्रूषा के मुश्किल होने के कारण उसकी सुश्रूषा का भार अधिक होता है। अतः उसकी चिकित्सा अस्पताल में ही ठीक हो सकती है।

अस्थि क्षय Tuberculosis of the Bone की चिकित्सा :

अस्थि क्षय का रोग Carpa, Tarsa, Metacarpal, तथा Metatarsal bones, Phalanges-Ribs, sternum. तथा Vertebrae में हुआ करता है। बालकों में प्रतिरोधक शक्ति के पर्याप्त मात्रा में होने से अस्थि क्षय शीघ्र ठीक हो जाता है। युवकों में यह रोग कुछ देर से ठीक होता है। परंतु वृद्धों में स्वाभाविक प्रतिरोधक शक्ति के न्यून होने से ठीक नहीं हो पाता।

इस रोग के निवारण के लिये एक तो खुली हवा, पौष्टिक भोजन, विटामिन आदि के द्वारा पोषक चिकित्सा की जाती है। दूसरा Chemotherapy. का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् Streptomycin को १ ग्राम दैनिक मात्रा में १० दिन तक देकर फिर सप्ताह में केवल दो बार देते हुये पांच, छः मास तक जारी रक्खा जाता है। इसके साथ P.A.S. की १२ ग्राम की दैनिक मात्रा भी बांट बांट करके दे दी जाती है। अथवा

Isoniazid को १५,२० मिलिग्राम की दैनिक मात्रा में दो बार करके दे दिया जाता है। इस औषधि का प्रयोग करने पर Vitamin B.Complex भी देना आवश्यक होता है।

इस शारीरिक चिकित्सा के अतिरिक्त स्थानिक विश्राम चिकित्सा प्रकार (Immobilization) अर्थात् Plaster of Paris की पट्टी के द्वारा रुग्ण अस्थि को ५,६ मास के लिये पूर्णतया निश्चल कर देने का उपाय भी किया जाता है। पांव में रोग हो तो Ankle Joint को भी स्थिर कर दिया जाता है। Vertebrae में अस्थि क्षय हो तो बालक को Plaster Bed पर चित्त लिटाकर कुछ काल रक्खा जाता है। यह यत्न किया जाता है कि रुग्ण अस्थि पर न तो भार पड़े और न ही उसमें किसी प्रकार की चेष्टा हो। जब तक Blood Sedimentation rate तापमान, भूख, भार तथा अस्थि का xxx X-Ray. चित्र सामान्य न हो जाय विश्राम चिकित्सा को जारी रक्खा जाता है। फिर प्लास्टर की पट्टी को हटाकर रुग्ण अस्थि को एक सहारा (Support) दे दिया जाता है। जिसके द्वारा वह आघात से बच सके। जब Vertebrae में पूर्ण Ankylosis हो जाय तथा अस्थि में उत्पन्न हुआ रोग शांत हो जाय तभी विश्राम चिकित्सा समाप्त की जाती है। पांव की अस्थियों में उत्पन्न क्षय रोग के अच्छे हो जाने पर भी Walking Calipers पर ही रोगी को चलने की छूट दी जाती है।

पृष्ठ वंशास्थि (Vertebrae) में अस्थि क्षय रोग के कारण बहुधा उरुस्तंभ (Paraplegia) हो जाया करता है। उसके लिये भी Chemotherapy तथा पृष्ठ की Immobilization चिकित्सा करनी चाहिये। छः मास तक इस चिकित्सा के जारी रखने से प्रायः यह रोग ठीक हो जाता है। परंतु यदि इस चिकित्सा से उरुस्तंभ अथवा Paravertebral Abscess. को लाभ न हो तो Vertebral Body में विद्यमान Cold Abscess को साफ करने के लिये शल्य कर्म किया जाता है। जिसमें रोग ग्रस्त Vertebra पर Incision देकर वहां की एक दो पसलियों के अन्दर अन्दर के दो इंच भाग को तथा साथ ही एक दो Vertrebrae के Transverse Processes को काट कर अलग कर दिया जाता है। फिर Blunt Dissection करते हुये रोग ग्रस्त अस्थि के Body में विद्यमान Cold Abscess को खोल कर उसके अन्दर संचित पूय को भलि प्रकार साफ करके उस जगह की ड्रेसिंग कर दी जाती है। इस शल्य कर्म को ही Costotransversectomy. कहा जाता है।

संधि क्षय : Tuberculous Joints: की चिकित्सा :-

घुटना, जानु, कूल्हे आदि संधियों में क्षय रोग विशेषतः होता हुआ पाया जाता है।

वंक्षण संधियां (Hip Joint) में क्षय रोग हो तो Chemotherapy. --- के अतिरिक्त पहले Immobilization With Traction की चिकित्सा की जाती है। अर्थात् रोगी की रुग्ण टांग को Robert Jones Abduction Frame. में कुछ Abduction कुछ Flexion और बाह्यावर्तन Rotation की अवस्था में रख कर तथा खींच (Traction) देकर स्थिर किया जाता है। इस खींच के द्वारा दोनों रुग्ण अस्थियां एक दूसरे से कुछ दूर हो जाती हैं। जिससे दर्द का लक्षण शांत हो जाता है। इससे टांग के अंदर विकृति (Deformity) भी नहीं होती। संधिगत रोग के शांत हो जाने पर जब दर्द नहीं रहता तब खींच की आवश्यकता नहीं रहती परंतु संधि को स्थिर एवं निश्चल रखने के लिये कमर से लेकर सारी टांग तक Plaster Cast बांध दिया जाता है। और उसे महीनों तक रखा जाता है। इस चिकित्सा से संधि की दोनों अस्थियों में Fibrous Tissue हो जाता है। अर्थात् दोनों संधिगत अस्थियां ~~Rkasiex~~ Fibrous/ Tissue. के द्वारा परस्पर जुड़ जाती हैं। परंतु यह जोड़ इतना पक्का नहीं होता कि सब प्रकार का भार या धक्का सह सके। अतः फिर Plaster को हटा के रोगी की टांग पर Walking Calipers Splint. बांध दी जाती है। जिस पर वह चल सकता है। इसे भी एक वर्ष तक रखा जाता है। इस चिकित्सा से वंक्षण संधि का क्षय रोग प्रायः शांत हो जाता है।

पर इतने पर भी यदि यह रोग शांत न हो या ठीक होकर फिर हो जाय तो Arthrodesis का शल्य कर्म किया जाता है। इसे Ileofemoral Arthrodesis भी कह सकते हैं। जिसमें Acetabulum के ऊपर Ileum से Greater Tronchanter के बीच Bone Craft रख दिया जाता है। जिससे इस संधि में दृढ़ Ankylosis हो जाता है।

जानु संधि (Knee Joint) में क्षय रोग हो तो रोगी को बिस्तरे पर लिटाकर रुग्ण टांग को (Thomas की Splint में खींच (Extension) देकर स्थिर कर देना चाहिये। साथ ही Chemotherapy जारी कर देनी चाहिये। कुछ महीनों में Synonial Type के जानु संधि क्षय में इससे लाभ हो जाता है। अथवा Pelvis से पैर तक टांग को Plaster of Paris में स्थिर करके १ वर्ष तक इसी अवस्था में रखना चाहिये और फिर रोगी को Walking Caliper Splint. पर चलने की छूट दे देनी चाहिये।

कूर्पर संधि (Elbow Joint) में श्वेत वर्ण शोथ हो जाय तो वह भी क्षय रोग का सूचक होता है। कोहनी को ९० डिग्री से कुछ अधिक डिग्री पर रख कर तथा हथेली को कुछ ऊपर की तरफ फिराकर (Plaster of Paris) की Splint में स्थिर कर देना चाहिये। सात,आठ महीनों तक इस प्रकार कोहनी को निश्चल रखो तथा Chemotherapy का प्रयोग करते रहने से

इस औषधि का रोग शांत हो जाता है।

चर्म क्षय Lupus Vulgaris की चिकित्सा :-

Lupus Streptomycin या Dihydrostreptomycin-Sulphate को १ ग्राम दैनिक मात्रा में 3 सप्ताह तक देने से विशेष लाभ प्रतीत होता है। इसी प्रकार Isoniazid के ३०,३० मिलिग्राम की मात्रा में प्रतिदिन देने और इसके ४,६ मास तक जारी रखने से इस रोग के Nadules,Scales क्षत आदि पूर्ण तया साफ हो जाते हैं। इस औषधि के साथ साथ Vitamin B.Complex का प्रयोग करने से किसी उपद्रव होने का भय नहीं रहता।

Vitamin "D" अथवा Calciferol की गोलियां त्वचा की प्रतिरोधक शक्ति को बढ़ाने के कारण इस रोग में लाभदायक होती हैं। इस औषधि के १ मिलिग्राम में ४० हजार International-Units. होते हैं। प्रति दिन डेढ़ लाख Units. की मात्रा इस औषधि की रोगी को दी जाय तथा दो तीन मास इसे जारी रक्खा जाय तो इस रोग के Nodules लुप्त हो जाते हैं।

रोगी को पौष्टिक भोजन,दुग्ध,घृत,मांस रस आदि को देना चाहिये। जिससे उसकी रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है।

Primary Tuberculous Infection, Glandular Tuberculosis, Tuberculous Laryngitis:- आदि सभी रोगों के लिये विश्राम चिकित्सा,पौष्टिक भोजन, खुली हवा, Vitamin A.D.C. तथा Chemotherapy विशेष लाभदायक होते हैं। बालक की सुयी देना न देकर P.A.S. तथा Isoniazid इसके लिये दिये जा सकते हैं।

ग्रन्थि क्षय :-

(Lympadenitis) :— के लिये Cortisone तथा Chemotherapy का प्रयोग २ मास तक करना चाहिये। पकी हुई ग्रन्थि बाहर हो तो उसमें से Aspitation द्वारा पूय को निकाल कर बादमें या १ ग्राम Strepto २, सी०सी० शुद्ध जल में मिला कर वहां प्रविष्ट कर देना चाहिये। यह पूय निकालने तथा इन्जेक्शन की प्रक्रिया सप्ताह में २ बार करनी चाहिये। मुंह द्वारा Strepto का प्रयोग तो चालू रखना चाहिये।

क्षय प्रतिरोधक चिकित्सा :- Preventive Treatment of Tuberculosis:-

जीवित क्षय जीवाणुओं के अत्यन्त स्वल्प मात्रा में शरीर में प्रवेश करने पर शरीर में क्षय रोग भी उत्पन्न नहीं होता तथा इन जीवाणुओं के विपरीत प्रतिरोधक शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। इसीलिये Primary-Infection. के अति मृदु रूप में होने पर स्वस्थों व्यक्तियों में इस रोग के

विपरीत प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाया करती है। इसी आधार पर प्रोफेसर Calmette तथा प्रोफेसर Guerin ने १६०६ में Bovine Strain of Tubercle Bocilli. को Oxbile. के माध्यम पर खेती आरंभ की। कुछ दिनों बाद इन्होंने इस जीवाणु को Transplant करके इनकी तीव्रता को कम और अधिक कम करने कायत्न किया। इस प्रकार चार वर्ष तक लगातार इनको निर्बल बनाते करते इतना निर्बल कर दिया कि गिनी पिग में इनको प्रविष्ट कर देने पर भी इनमें क्षय रोग उत्पन्न होना बंद हो गया। परंतु खरगोश आदि छोटे प्राणियों में फिर भी इनसे क्षय रोग उत्पन्न होते हुये इन्होंने देखा। फिर १३ वर्ष तक इनके Sub-Culture करने के बाद इन्होंने यह देखा कि छोटे प्राणियों में भी इनके प्रविष्ट कर देने से अब क्षय रोग उत्पन्न नहीं होता। तब १६२७ में पहले इन जीवाणुओं को मनुष्य में प्रविष्ट करके देखा गया और उसके लिये भी इन्हें निरुपद्रव पाया गया। इसके बाद इनकी लैबोरेटरी अर्थात् Pasteur Institute of Paris. से संसार के सब देशों ने इस निर्बल हुये जीवाणु को लेकर इससे B.C.G.(Bacille Calmette Guerin)Vaccine. बनाना आरंभ किया।

हमारे देश में यह Vaccine मद्रास में बड़ी सावधानता के साथ तैयार किया जाता है। Sealed तथा Sterile किये हुये Ampules---- में यह वहां २.से ४ सैन्टीग्रेड डिग्री पर रक्खी रहती है। वहां से निकलने के बाद ८ दिन के अन्दर अन्दर इसे प्रयुक्त करना होता है।

जिन बालकों में Primary Infection हो जाता है। उनमें तो स्वभावतः क्षय रोग के लिये प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो ही जाती है। इन्हें B.C.G.Vaccine देने की आवश्यकता नहीं होती। परंतु जिन बालकों या युवकों में अभी तक क्षय जीवाणु का Primary Infection नहीं हुआ इसलिये जिनमें Tuberculin Reaction Negative है उनके अन्दर कृत्रिम विधि से मधी हुई मात्रा में क्षय जीवाणु का प्रवेश करके Controlled Primary-Infecti-on. उत्पन्न कर दिया जाता है। स्पष्ट है कि स्वभावतः होने वाले Primary Infection से अर्थात् Uncontrolled Infection से यद्यपि प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न तो हो जाती है परंतु उसमें रोग के बढ़ने (Progressive-Tuberculosis) होने की आशंका भी रहती है। B.C.G. के द्वारा व्यक्ति में प्रतिरोधक शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है तथा रोग के होने का भय भी नहीं होता।

बांये कंधे की त्वचा में १ सी.सी. B.C.G. Vaccine का १ इंजेक्शन बहुत त्वचा (Intradermally) दिया जाता है जिसके बाद वहां एक उभार सा प्रकट हो जाता है पर वह शीघ्र लुप्त हो जाता है। २० दिन बाद वहां एक पीटिका (Papule) उत्पन्न होकर ५.६ मिलीमीटर आकार

का हो जाता है। जो पहले इसके से (Vesicle) और फिर (Pustule) का रूप ले लेता है। यह व्रण भी तीन महीने तक पूर्ण तया ठीक हो जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर में और कोई लक्षण नहीं होता। इस Vaccine के देने के २ मास बाद व्यक्ति Tuberculin Positive हो जाता है। यद्यपि इसमें इस रोग के लिये प्रतिरोधक शक्ति प्रकट हो जाती है जो लगभग ५ वर्षों के लिये तो रहती ही है।

क्षय रोग से ग्रस्त माता पिता की संतान को यदि शीघ्र ही B.C.G.Vaccine का इंजेक्शन देकर दो महीनों के लिये माता पिता से दूर रख दिया जाय तो दो महीने बाद जब उसमें प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब उसके माता पिता के पास रहने पर भी उसमें इस रोग का संक्रमण नहीं होता।

आयुर्वेद में क्षय रोग :-

आयुर्वेद में क्षय रोग को शरीर का शोषक होने से शोष, शारीरिक, मानसिक क्रियाओं का क्षय कारक होने से क्षय, और सभी रोगों में प्रधान होने से राजयक्ष्मा कहा है।

कारण :-

एक तो सामर्थ्य से अधिक शारीरिक या मानसिक श्रम करने से, दूसरे किसी रोग वश जैसे रोमान्तिका, ज्वर, काली खांसी, मधुमेह, से शारीरिक शक्ति के क्षीण हो जाने से, तीसरा भोजन संबंधी वैषम्य अर्थात् शरीर को पोषक आहार के यथावत् न पहुंचने से, चौथा शरीर में से मल मूत्र स्वेद आदि द्वारा जो मल निकलते रहते हैं उनके यथावत् रूप से न निकलने एवं अन्दर अधिक मात्रा में संचित हो जाने से शरीर की स्वाभाविक प्रतिरोधक शक्ति के कम हो जाने पर यह रोग होता है।

इस रोग को त्रिदोषज अर्थात् तीनों दोषों की वृद्धि से उत्पन्न हुआ माना जाता है। वायु की वृद्धि अर्थात् प्राण शक्ति की न्यूनता से दूसरा कफ दोष की वृद्धि अर्थात् पाचकाग्नि की मंदता से तथा तीसरा धातु पाचकाग्नि की वृद्धि से उत्पन्न होने वाला त्रिदोष जनित ज्वर कहा जाता है। फुफ्फुस तथा कंठ में वात जनित रूक्षता के होने से पार्श्व तथा स्कंधों में संकोच तथा कंठ या स्वर यंत्र में स्वर भंग का लक्षण होता है। पित्त की या अग्नि की ही अधिकता से ज्वर तथा रक्त श्राव के लक्षण होते हैं। पाचकाग्नि की मंदता या कफ दोष की वृद्धि के कारण अन्नारुचि तथा वमन आने के लक्षण होते हैं। ।। च।चि ८।।

क्षय रोग की चिकित्सा :-

इस रोग की चिकित्सा में निम्नलिखित औषधियों का

विशेष प्रयोग किया जाता है।

१.. स्वर्ण भस्म :-

स्वर्ण भस्म २ रत्ती, अभ्रक भस्म ४ रत्ती, प्रवाल भस्म ६ माशा, शृंग भस्म १$\frac{1}{2}$ माशा, भली प्रकार मिलाकर इसकी १-१ रत्ती की मात्रा प्रातः सायं २ बार मधु के साथ चटा देनी चाहिये।

स्वर्ण मालती बसंत :-

स्वर्ण १, मुक्ता पिष्टी २, हिंगुल ३, मरिच ४, शुद्ध खर्पर ८ भाग को २$\frac{1}{2}$ तोला मक्खन से ३ घंटा मर्दन करके फिर १ सप्ताह निम्बू रस से मर्दन किया जाता है। इसकी १, १ रत्ती मात्रा पिप्पली चूर्ण तथा मधु के साथ दिन में दो बार दी जाती है। अथवा मालती बसंत १ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती, सत गिलोय १ माशा, सितोपलादि २ माशा, भली प्रकार मिला कर ऐसी ३ मात्रा प्रति दिन मधु के साथ चाटनी चाहिये।

अथवा मृगांक, महा मृगांक :-

स्वर्ण भस्म १, रस सिंदूर २, मुक्ता ३, गंधक ४, स्वर्ण माक्षिक ५, रौप्य भस्म ४, प्रवाल ७, सुहागा खील २ भाग मिला, बिजौरे के रस से ३ दिन मर्दन कर नमक भरे घड़े में संपुट करके १२ घंटे की अग्नि देकर बनाया जाता है। मात्रा $\frac{1}{2}$, १ रत्ती दिन में दो बार।

२.. मुक्ता :-

मुक्ता पंचामृत, मुक्ता ८, प्रवाल ४, शंख १, मुक्ता शुक्ति १, कपर्दि १, भाग को शतावरी स्वरस से भावना देकर १ गज पुट देवें। (हस्तलिखित: १ रत्ती (दिन में २ बार दें)?)

३.. वंश लोचन :-

सितोपलादि तथा तालीसादि चूर्ण ३, ३ माशा की मात्रा में मधु के साथ या च्यवन प्राश दिन में तीन बार दिये जाते हैं।

४.. वासा :-

वासा, हरीतकी अवलेह, वासा कूष्माण्ड, वासा द्राक्षा, मधुयष्टी, पत्रक, मिश्री का दिन में दो बार प्रयोग किया जाता है।

५.. द्राक्षा :-

द्राक्षारिष्ट, द्राक्षावलेह (द्राक्षा १ सेर को बीज रहित कर पीसकर १ पाव गौ घृत में भूनकर १ सेर खांड की चाशनी में मिलाकर वंश लोचन [illegible], इलायची छोटी, मुलहटी, चन्दन, आदि १, १ तोला मात्रा में मिलाकर) १ तोला मात्रा में देते हैं।

६.. घृत :-

साधारण गौघृत या अमृत प्राश घृत या [illegible] बला घृत १$\frac{1}{2}$ तोला की मात्रा में प्रातः दूध के साथ पिलाया जाता है।

लाक्षादि तैल की या चन्दन बला लाक्षादि तैल की शरीर पर मालिश की जाती है।

भोजन में पिप्पली,कुलथी,जौ,आंवला,आदि के साथ पकाया यवा मांस रस,या यवा क्षीर,घृत,चावल,रोटी आदि शीत गुणप्रधान तथा पथ्य युक्त आहार पर्याप्त मात्रा में दिये जाते हैं।

फिरंग रोग :- Syphilis:-

कारण :-

प्राय: ऐसे व्यक्ति के साथ कि जिसकी जननेन्द्रिय में फिरंग जनित व्रण हो, मैथुन करने से यह रोग संक्रमण करता है। क्योंकि इस व्रण से निकलने वाले Serum में (बहुत अधिक संख्या में रहता है। पहले इस जीवाणु) इस रोग का जीवाणु को S+pirochaete या Spirochaeta Pallida. कहते थे। परंतु अब इसे Treponema Pallidum कहते हैं। यह इस रोग के प्राथमिक स्फोट (Primary Schancre) में ही नहीं पर इस रोग के बाद में त्वचा श्लेष्म कला आदि पर निकलने वाले कोठों या स्फोटों में भी बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है।

मैथुन से जननेन्द्रियों की श्लेष्म कला या त्वचा में स्वल्प सा व्रण हो जाने से उस प्रदेश में से यह जीवाणु लसीका वाहिनियों में प्रवेश कर जाता है। वहां से वंक्षण लसीका ग्रन्थियों (Inguinal Lymph Clands) में पहुंचता है। वहां से यह लसीका संस्थान में चला जाता है। वहां से यह सिरा संस्थान (Veins) में जाता है और इसके द्वारा फुफ्फुस में प्रवेश करता है। वहां से यह धमनियों में चला जाता है। तथा उनके द्वारा यह शरीर के प्रत्येक अंग में पहुंच जाता है। इस प्रकार शरीर में प्रवेश करने के दो चार दिनों में ही यह देह के अंगों में व्याप्त हो जाता है। परंतु आश्चर्य है कि तो भी विष संचार (General Spirochaetaemia) का कोई विशेष लक्षण रोगी में प्रतीत नहीं होता। जननेन्द्रिय पर प्रारंभिक कोठ (Primary Shancre) भी संक्रमण के लगभग १ मास बाद प्रकट होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वत्र फैल जाने पर भी यह कुछ एक स्थानों पर जैसे त्वचा, श्लेष्म कला, मस्तिष्कावरण, नेत्र आदि में विशेष रूप में अपने अड्डे (Foci) बनाकर बढ़ने लगता है। इसीलिये इन स्थानों पर इनके विरुद्ध शारीरिक प्रतिक्रिया विशेष रूप में होती है। जहां से यह प्रविष्ट होता है वहां पर भी इसका प्रभाव बहुत होने से विशेष प्रतिक्रिया होती है।

यह जीवाणु ८, ७ माईक्रोन दीर्घ, पतला, गति शील, कीटाकार, कृमि है। जो आर्द्रता युक्त प्रदेश में जीवित रहता है तथा जिसे Dark Field Miscroscopy. ---- के द्वारा देखा जाता है।

विकृति :-

रक्त वाहिनियों में से निकल कर ये जीवाणु आसपास के लसीकामय प्रदेश (Perivascular Lymph Space) में रोहण करने लगता है। इसके वहां रोहण करने पर रक्त वाहिनी में से Mononuclear सेल जैसे Lymphocyte Plasma Cel-ls. तथा कुछ एक Giant Cells वहां बहुत अधिक मात्रा में जमा हो जाते हैं जिससे वहां शोथ (Peri Vascular Lymphagitis) हो जाता है। इस शोथ के कारण धमनी के चारों ओर ही नहीं, धमनी में भी शोथ हो जाता है यथा (धमनी बहिःशोथ) (Periarteritis), (धमनी मध्यशोथ) (Mesarteritis) तथा (धमनी आन्तःशोथ) (Endarteritis)

हो जाते हैं। इस प्रकार (Arteritis या Vasculitis) इस रोग की प्रधान विकृति होती है। इसके बाद Fibroblasts इस शोथ युक्त अवयव को (Fibrous Tissue) में परिवर्तित कर देते हैं। जिससे वह स्थान स्पर्श में कठोर हो जाता है। रक्त वाहिनी के अन्दर के स्रोत के न्यूनाधिक अवरुद्ध हो जाने से इस शोथ युक्त कठोर अवयव में रक्त भली प्रकार नहीं पहुंच पाता। जिससे, त्वचा में यह रोग हो तो ऊपर से पतली सी फटने लगती है। यदि रक्तावरोध अधिक हो तो मृत्यु (Necrosis) होकर इस रोग युक्त प्रदेश में न्यूनाधिक व्रणभाव हो जाता है।

लक्षण :-

रोग संक्रमण के १५-३ दिन के बाद इस रोग की प्रथमावस्था या (Primary Syphilis) के लक्षण प्रकट होते हैं। अर्थात् जीवाणु के प्रवेश स्थान पर जहां पर यह अत्यधिक मात्रा में रोहण करता है। ऊतकों में प्रतिक्रिया (ऊनका Infiltration) बड़ी प्रबलता से होता है। जिससे कठोर एक चपटा या गोलाकृति कठोर कोठ (Hard Schancre) प्रकट हो जाता है। यह कोठ म्यूकस की श्लैष्मिक कला या त्वचा पर तथा योनि द्वार अर्थात् भगोष्ठ के अंदर या इ० बाहर कहीं उत्पन्न होता है। इसमें (Necrosis) के होने से इसमें वेदना या किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। और यदि इसका पोषण अवरुद्ध हो जाय तो गड्ढा सा होकर इसमें व्रण भाव हो जाता है। जिससे कि, कठोर, किनारों वाला प्याले के आकार का एक चपटा सा व्रण बन जाता है। इस व्रण के साथ ही प्रादेशिक लसीका ग्रन्थियां (Inguinal Glands) भी सूज जाती हैं। ये स्पर्श में कठोर वेदना रहित, सवर्ण एक दूसरे से पृथक् पृथक् होती हैं। इनमें पूयभाव नहीं होता। इनके ऊपर वाली त्वचा में शोथ न होने से वह भी रक्त वर्ण नहीं होती।

फिरंग रोग की द्वितीयावस्था के लक्षण :- Secondary or Metastatic-Lesions:

जननेन्द्रिय पर स्थानिक कोठ के प्रकट होने के लगभग १ मास बाद अर्थात् रोग संक्रमण के लगभग दो मास बाद इस रोग की द्वितीयावस्था के सूचक लक्षण प्रकट होने लगते हैं। तब तक इस रोग के विष के संपूर्ण शरीर में संचार कर जाने से कुछ सी पांडुता का लक्षण होता है। तथा मृदु रूप में लसीका ग्रन्थि शोथ (General Lymphadenitis) का लक्षण होता है। कोहनी के अन्दर की तरफ के Condyle से ऊपर की लसीका ग्रन्थियां (Epitrochlear Glands) स्पर्श करने में फूली हुई होती हैं।

इस अवस्था में त्वचा की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों के आस पास जीवाणुओं के रोहण करने से वहां Mononuclear Cells पर्याप्त मात्रा में संचित हो जाते हैं। पर ये सेल बाद में स्नायु तंतु में

परिवर्तित होने के स्थान पर निर्विकार वस ह्रास (Involution) की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इन सेलों के एकत्रित हो जाने से त्वचा पर दो, तीन मिलीमीटर व्यास के वृत्ताकार या अर्द्ध वृत्ताकार ताम्र वर्ण जो चकत्ते (Macules) प्रगट होते हैं उनके केन्द्र का प्रदेश कुछ नीचा और मृदु होता है। तथा चकत्ते का ~~aaaaaaa~~ किनारा जहां सैल अत्यधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं, कुछ ऊंचा होता है। इन चकत्तों की लालिमा का कारण रक्त वाहिनियों में से मंद रक्त स्राव का होना प्रतीत होता है। ये Roseola Syphilitica नाम के छोटे गोल से चकत्ते वाली। पर तथा शाखाओं के अन्तः (Flexor) पृष्ठ पर तथा हाथ पैर के तलुओं पर निकलते हैं।

फिरंग जनित चकत्तों (Syphililic Macules) के बाद फिरंग जनित नाना विध कोठ (Papules) भी त्वचा पर निकलते हैं। ये फिरंग जनित कोठ छोटे छोटे पृथक पृथक स्पर्श में कठोर, ताम्र वर्ण, गोलाकृति, बहु केन्द्र आदि से रहित शरीर के दोनों ओर एक समान निकलते हैं। धड़, शाखाओं और माथे पर होते हैं। शाखाओं पर जब होते हैं तो बहिः (Extensor) पृष्ठ की अपेक्षा अधिकतः अन्तः (Flexor) पृष्ठ पर होते हैं।

हाथों की हथेलियों तथा पैरों के तलुओं पर छोटे छोटे कुछ उठे हुये, फटे से, धब्बे निकलते हैं जिनके ऊपर की स्तर, परतों में उतरती हैं। ~~तथा~~ इस रोग के कारण नख भी प्रभा विहीन होकर नष्ट हो सकते हैं।

फिरंग जनित खालित्य (Alopecia) भी कभी कभी देखा जाता है जिसमें सिर, दाढ़ी, भौंहों आदि के बाल ऐसे खाये से पाये हैं जैसे किसी कीड़े ने इन्हें खा लिया हो।

त्वचा के गीले प्रदेशों जैसे गुदा के आसपास त्वचा की के अन्दर Mononuclear Cells का संचय होकर वे कठोर और आकार में बड़ी हो जाती हैं। इनके कारण त्वचा में १ सेन्टीमीटर व्यास के चपटे से स्वल्प उठे हुये, कठोर कोठ हो जाते हैं। जिन्हें Condyloma कहते हैं। पास पास की त्वचा की Papillae के इस प्रकार मिल जाने से गुदा के समीप कोठों (Papules) का एक ढेर सा हो जाता है।

<u>मुख तथा गले में फिरंग व्रण :-</u>

होठों, गालों और गले की श्लेष्म कला में गोलाकृति श्वेत से धब्बे (Mucous Patches) हो जाते हैं जिनके पास पास की श्लेष्म कला लाल होती है। श्लेष्म कला के बहिः स्तर के मृत (Necrosis) हो जाने के कारण गल जाने से, यह श्वेतिमा उत्पन्न होती है। मुख छिद्र के कोणों के समीप की श्लेष्म कला में ये हों तो मुख के कोणों में चिराई (Fissure) सी पड़ जाती है। जिह्वा के किनारों पर चिराइयां या व्रण हो जाते हैं। गले और टान्सिल पर भी ये फिरंग व्रण हो जाते हैं। ये श्वेत से धब्बे नाक के बीच की अस्थि

Septum में भी हो जाते हैं। कंठ (Larynx) में उपजिह्वा (Epiglottis) पर भी ये फिरंग व्रण (Mucous Patchea) हो जाते हैं जिससे स्वर भंग का लक्षण हो जाता है। Iris की सूक्ष्म रक्त वाहिनियों के समीप के प्रदेश में सेलों के अधिक मात्रा में संचित होने से वहां भी फिरंग के नन्हे जिसे Nodules उत्पन्न हो जाते हैं जिससे Syphilitic Iritis का रोग हो जाता है।

फिरंग रोग की तृतीय अवस्था :-Tertiary Stage of Syphilis:-

द्वितीय अवस्था में जब इस रोग का जीवाणु रक्त के द्वारा शरीर में व्याप्त हो गया होता है, इस रोग के लक्षण शरीर के दोनों ओर एक समान रूप होते हैं। परंतु कई वर्ष उपरांत शरीर के किसी एक अंग में प्रसुप्त रूप से पड़ा हुआ यह जीवाणु जब शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति के घट जाने से फिर बढ़ने लगता है तो उसी एक प्रदेश में यह रोग प्रकट होता है। तब यह रोग शरीर के दोनों ओर नहीं होता। इसके अतिरिक्त द्वितीय अवस्था में इस रोग से युक्त प्रदेश में अति क्षीणता या मृत्यु की प्रक्रिया (Necrosis) नहीं होती। परन्तु तृतीय अवस्था में इस रोग से युक्त प्रदेश में यह प्रक्रिया अधिक होती है। यह अवस्था द्वितीय अवस्था के लगभग ५ से १५ वर्ष बाद होती है। जिस अवयव में यह जीवाणु क्रियाशील होने लगता है उसकी छोटी धमनियों के समीप के प्रदेश में Lymphocytes, Plasma Cells आदि Mononuclear सेलों का संचय (Infiltration) विशेष रूप में होता है। जिससे धमनी के आस पास तथा धमनी में शोथ हो जाता है अर्थात् (Arteritis तथा Endarteritis. हो जाता है) बाद में यह अवयव धीरे धीरे स्नायु तंतु में परिवर्तित हो जाता है। (यह स्थान Scar Tissue या Granular Tissue बन जाता है) इस छोटी सी स्नायु तंतु की बनी ग्रन्थि को Granuloma कह सकते हैं। इस प्रकार के अनेक Granuloma से मिलकर एक बड़ा अर्बुद बन जाता है। इसके अन्दर की छोटी छोटी धमनियों के स्रोतों के बंद हो जाने से इसके केन्द्र भाग को रक्त की मात्रा नहीं मिलती है। यह कुछ नर्म सा हो जाता है अर्थात् उसमें पनीरभाव (Caseation) हो जाता है। यह नर्म सा अर्बुद छूने में गोंद की एक डली जैसा प्रतीत होता है। इसे Gumma कह दिया जाता है। त्वचा, श्लेष्म कलाओं, अस्थि या Periosteum आदि पर जहां वाह्याघात लग सकता है। वहां इसके ऊपर की त्वचा श्लेष्मकला आदि के निर्जीव होकर फट जाने से इसमें संक्रमण (Secondary Infection) होकर इसमें पूय भाव भी हो जाता है। इस प्रकार इस रोग की तृतीय अवस्था में नाना अंगों में Gumma उत्पन्न हो जाते हैं। त्वचा, श्लेष्म कलाओं, अस्थि, संधि, यकृत, अंड ग्रन्थि, Aorta तथा केन्द्रीय नाड़ी मंडल (Central Nervous Syste

--- सुषुम्ना,(Spinal Cord) में Gumma उत्पन्न होने की प्रवृत्ति विशेषतः होती है।

त्वचा के फिरंग मंडल :- Cutaneous Modules:-

त्वचा के किसी एक या अनेक ऐसे प्रदेशों पर जहां संघर्ष विशेष रहता है, छोटी छोटी क्षुद्र सी फिरंग ग्रन्थियां (Nodules) उत्पन्न हो जाती हैं। जिनके परस्पर मिल जाने से मंडलाकार या अर्द्ध मंडलाकार नख [illegible] आकार के छोटे छोटे मंडल बन जाते हैं। पुरानी ग्रन्थियों के नष्ट हो जाने और किनारों पर नई नई ग्रन्थियां (Nodules) के निकलने से ये मंडल फैल कर बड़े होते जाते हैं। तथा इनके बीच का पृष्ठ कुछ हलका, ताम्र वर्ण और साधारण त्वचा जैसा हो जाता है। इन्हें Nodular Cutaneous Syphilides कहते हैं। यदि इन ताम्र वर्ण गोलाकृति फिरंग मंडलों पर से छिलके भी झड़ने लगें तो इन्हें Squemous Syphilitic Eruptions. कहते हैं।

त्वचा के नीचे फिरंग ग्रन्थियां त्वचा के नीचे के मेदो मय स्तर (Sub-Cutaneous Tissue) में भी फिरंग ग्रन्थियां (Gumma) निकल आती हैं। ये गोलाकृति वेदना रहित स्पर्श में कठोर रबर जैसी होती हैं। बहुत धीरे धीरे बढ़ती हैं और अपने ऊपर की त्वचा से जुड़ जाती हैं। यद्यपि इनकी त्वचा जो अब तक सवर्ण थी अब कर भी कुछ रक्त वर्ण हो जाती है। बाद में इसमें व्रण भाव हो जाता है। जिससे कठोर दीवार वाला गोलाकृति व्रण बन जाता है। ऐसे अनेक व्रण पास पास निकल सकते हैं। टांगों, भौंहों, नाक आदि की त्वचा के नीचे ये ग्रन्थियां विशेषतः निकलती हैं। इन्हें Sub-~~Cutaneous~~ Cutaneous Gumma. कहते हैं।

श्लैष्म कला में फिरंग ग्रन्थियां :-

मुख और गले की श्लैष्म कला के नीचे के अवकाश (Sub-Mucous-Tissue) में फिरंग ग्रन्थियां (Gumma) निकल आती हैं। तालु, का कोमल [illegible] गले, Tonsil , जिव्हा, किसी प्रदेश में ये दिखाई पड़ सकती हैं। इनसे उत्पन्न हुये व्रण चिरस्थायी तथा वेदना रहित होते हैं। जिव्हा पर भी Gumma के कारण कठोर दीवार का छिद्राकार व्रण हो सकता है। परंतु बहुधा जिव्हा की छोटी रक्त वाहिनियों के समीप के प्रदेश में छोटे छोटे Gumma समीप समीप हो जाते हैं जिनके ऊपर की स्तर के दांतों के संघर्ष के कारण मृत हो जाने से श्वेत फिल्ली से ढके हुये विषमाकृति के उथले व्रण हो जाते हैं, जिन्हें Leuco-Plakia. कहते हैं। इसी प्रकार के मृत हुई श्वेत फिल्ली से ढके हुये व्रण गालों पर भी हो जाते हैं। जिव्हा में उत्पन्न हुई इन फिरंग ग्रन्थियों में जब स्नायु तंतु बढ़ जाता (Fibrosis हो जाता है) तो जिव्हा पर गहरी दिवारियां (Fixures) पड़ जाती हैं। अथवा यदि जिव्हा की फिरंग ग्रन्थियों के ऊपर की श्लैष्म कला पर अर फड़ जाय, उसकी Papillae भी

नष्ट हो जाय तो जिह्वा के किसी प्रदेश के नग्न हो जाने पर वहां पर मिर्च मसाले तथा उष्ण आहार करने लगते और वेदना जनक हो जाते हैं।

कंठ में फिरंग ग्रन्थियां :-

कंठ में इसकी स्वर तंत्रियों (Vocal Cords) की श्लैष्मिक कला के नीचे के अवकाश में भी फिरंग ग्रन्थियां हो जाती हैं। बाद में इनके ऊपर व्रण भी हो सकते हैं जिससे स्वर भंग हो जाता है।

अस्थियों में फिरंग रोग :-

शरीर की चपटी अस्थियां जैसे कपालास्थियां, नासास्थि, ताल्वास्थि, जंघास्थि (Tibia) में विशेषतः तथा अन्य अस्थियों में इनके Periosteum के नीचे Gumma बन जाते हैं। रात के समय गर्म कपड़ों के अन्दर रहने से अस्थि की इस ग्रन्थि में दर्द विशेष प्रतीत होता है। नासास्थि में ये ग्रन्थियां निकलें तो चिरकाल तक प्रतिश्याय रहता है और बाद में Septum के निर्बल हो जाने से नासास्थि बैठ जाती है। ताल्वास्थि में Gumma हो तो इसमें छिद्र (Perforation) होकर नासा और मुख मार्ग मिल जाते हैं। कपालास्थियों में ये Gumma हों तो ऊपर की त्वचा के दूषित हो जाने से (Secondary Infection) होकर कपालास्थि में व्रण हो जाता है।

सन्धियों में फिरंग:- संधियों में विशेषतः जानु संधियों में दोनों ओर Chronic Syovit-is. हो जाता है अर्थात् संधिकोष द्रव के भरने से फूल जाता है। पर जानुओं में वेदना नहीं होती। यह शोथ कठोर, पर स्पर्श की तरह सख्त होता है।

यकृत में फिरंग:- यकृत में अनेक फिरंग ग्रन्थियां हो जाती हैं। जिनमें स्नायु तंतु की वृद्धि विशेष होती है। बाद में इनके केन्द्र भाग के मृदु हो जाने पर ये ग्रन्थियां दब जाती हैं। इसीलिये यकृत के पृष्ठ पर स्पर्श करने से ये ग्रन्थियां अनुभव होती हैं तथा यकृत का पृष्ठ विषम प्रतीत होता है। इन्हें देखकर कैंसर का संदेह हो सकता है। परंतु इस रोग में कामला, जलोदर, तथा कृशता के लक्षण विशेष होते हैं, जो इसमें नहीं होते। फिरंग जनित यकृत वृद्धि का रोग ४५ वर्ष की आयु से पहले होता तथा कैंसर जनित यकृद्वृद्धि का रोग इस आयु के उपरांत होता है।

अंड में फिरंग रोग :-

अंडग्रन्थि (Testis) के स्नायु तंतु (Interstitial Tis[sue]) में Gumma बनने की प्रक्रिया होकर यह आकार में बढ़ जाता है जिससे अंडग्रन्थि आकार में बड़ी तथा स्पर्श में कठोर हो जाती है। इसे Syphilitic Sclerosis of Testis. कह सकते हैं। कभी कभी अंड ग्रन्थि में स्थानिक फिरंग ग्रन्थि (Localised Gumma) भी होता है।

महाधमनी फिरंग :- Syphilitic Aortitis:-

महाधमनी (Arota) के प्रथम भाग की दीवार में इसकी

पोषक धमनियों (Vasa Vasorum) में (बाहिर तथा अन्तःशोथ (Periarteritis तथा Enderteritis) के विकार फिरंग जीवाणु के कारण होते हैं। इस कारण महा धमनी का पोषण ठीक ठीक न होने से एवं इसे आक्सिजन ठीक ठीक न मिलने के कारण इसमें दुष्टिता की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। महाधमनी की मांस मय स्तर दुष्ट होकर स्नायु तंतु में परिवृत्त हो जाती है। आभ्यन्तर कला (Endot-heluim) में भी स्नायु तंतु के उत्पन्न हो जाने से वह भी विकृत हो जाती है। इस प्रकार महाधमनी का यह प्रथम भाग जब निर्बल हो जाता है तो रक्त के दबाव से शिथिल होकर फैल जाता है। इसमें (Saccular Aneurism हो जाता है) महाधमनी के प्रथम भाग के शिथिल हो जाने से, इसका मूल भाग अर्थात् Aortic Valve का Ring या महाधमनी ही भी चौड़ा हो जाता है। महाधमनी की आभ्यंतर कला में दुष्टिता के होने से महाधमनी कपाटियाँ (Valve-Cusps) में भी दुष्टिता आ जाती है। इस प्रकार महाधमनी कपाटी (Aortic Valve) में अक्षमता उत्पन्न हो जाती है। जिससे (Diastole) में रक्त की कुछ मात्रा वापिस वाम क्षेपक हृदय में लौट आती है/ एवं यह आकार में बड़ा हो जाता है।

इस (Aortitis का एक यह भी उपद्रव होता है कि हृदय पोषक धमनियों के जो कि इस महाधमनी के मूल भाग से निकलती हैं, मुख तंग हो जाते हैं। हृदय पोषक धमनियों (Coronary Art:) के मुखों के तंग हो जाने से हृदय को रक्त की मात्रा नार्मल से कम पहुंचती है जिससे इसके मांस में स्नायु तंतु की वृद्धि (Fibrosis) की प्रक्रिया हो जाती है अर्थात् हृदय की शक्ति घट जाती है। इसी को फिरंग हृदयरोग (Syphilitic Heart Disease) कहते हैं।

<u>महाधमनी फिरंग के लक्षण :-</u>

फिरंग जनित महाधमनी शोथ का रोगी, मध्यमायु का, आयु की अपेक्षा अधिक वृद्ध प्रतीत होने वाला होता है। इसे पहले फिरंग रोग हो चुका होता है। वाम क्षेपक हृदय में रक्त के महाधमनी में से वापिस आते रहने से फुफ्फुस में भी रक्त संचय बढ़ जाता है। जिससे श्रम करने पर श्वास चढ़ जाता है। तथा वाम क्षेपक आकार में बड़ा हो जाता है। हृदय में स्नायुतंतु की वृद्धि हो तो श्रम या मानस आवेश से न्यूनाधिक हृदय शूल का लक्षण भी होता है।

इस रोग में Aortic Regurgitation अर्थात् महाधमनी कपाटी में से रक्त के वापिस वाम हृदय में आ जाने के सूचक लक्षण होते हैं। विश्रामकाल (Diastole) के आरंभ में रक्त के कुछ अंश के वापिस वाम हृदय में आ जाने से उरोस्थि (Sternum) की बांई ओर Parasternal प्रदेश में सुनने से एक फुस्फुसाती ध्वनि सुनाई पड़ती है जिसे Aortic Diastolic Murmur कहते हैं। वाम हृदय की विस्तार के कारण भी स्पष्ट होते हैं।

मस्तिष्क में फिरंग रोग :- Cerebral Syphilis:-

फिरंग जीवाणु संक्रमण करने के बाद जैसे त्वचा श्लेष्म कला आदि में संक्रमण करता या अपने अड्डे (Foci) बनाता है वैसे ही यह मस्तिष्क के आवरणों में भी बनाता है। इसीलिये इस रोग की द्वितीय अवस्था में भी मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव Cerebrospinal Fluid में Wasserman Test Positive. होता है। परंतु यह जीवाणु विकास तक पड़ा हुआ भी वहां वृद्धि नहीं कर पाता/ प्रसुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। परंतु १०,१५ वर्ष बाद संभवतः प्रतिरोधक शक्ति के घट जाने से यह वहां मस्तिष्कावरण में विद्यमान धमनियों के समीप के लसीकामय प्रदेश (Perivascu-lar Lymph Spaces) में पहुंच जाता है जिससे इसके विपरीत Mononuclear Cells और Giant Cells. की प्रबल प्रतिक्रिया होती है और धमनियों के आसपास तथा धमनियों में शोथ (Periarteritis तथा Endarteritis Obliterans) के विकार हो जाते हैं। फिर इस शोथ के घटने पर इन सेलों के स्थान पर स्नायु तंतु उत्पन्न हो जाता है। (Granulation या Scar Tissue) बनता है। बहुत से Granuloma के मिलने से Gumma बन जाते हैं जिससे Pia तथा Arachnoid में विशेषतः और Dura में भी छोटी छोटी फिरंग ग्रन्थियां (Gumma) अथवा फिरंग जनित मस्तिष्कावरण शोथ (Gummatous -- या Syphilitic Meningitis) हो जाता है। देखने में मस्तिष्कावरण सूजन फूले हुये ही जैसे हैं। तथा Sub-Arachnoid Space. में भी विकार परिस्राव (Exudate) पड़ा हुआ होता है। मस्तिष्क के निम्न पृष्ठ पर के आवरण में यह रोग विशेषतः होता है। जिससे वहां पर विद्यमान मस्तिष्क नाड़ियाँ (Cranial Nerves) पर चढ़े हुये आवरण में इस रोग के कारण नाड़ियां भिंच जाती हैं/ या रक्त न मिलने से नष्ट हो जाती हैं। Oculomotor Nerve के आवरण में यह फिरंग जनित आवरणशोथ/(Meningitis) विशेषतः होता है। कभी कभी फिरंग जनित शोथ/(Meningitis) पांचवीं तथा छटी मस्तिष्क नाड़ी पर भी हो जाता है।

कभी कभी मस्तिष्कावरण की अपेक्षा मस्तिष्क धमनियों में फिरंग जनित शोथ अधिक होता है। तब मस्तिष्क के निम्न तल पर विद्यमान Circle of Willis में तथा इसकी शाखाओं में शोथ/(Syphilitic Endarteritis) होने से इनमें सिरावरोध (Thrombosis) अकस्मात ही जाता है। जिससे इससे पीड़ित मस्तिष्क में मृदुता की प्रक्रिया (Softening) आरंभ हो जाती है।

लक्षण :

मस्तिष्क में फिरंग रोग के दुष्प्रभाव से अर्थात् फिरंग जनित Meningitis के कारण जलशीर्ष Hydrocephalus हो कर अथवा सिर के अन्दर के भार के बढ़ने से सिर दर्द का लक्षण होता है जो रात को अधिक होता है। बुद्धि की तीव्रता घट जाती है। स्मृति शक्ति निर्बल हो जाती है। इस रोग के कारण मस्तिष्क की द्वितीय नाड़ी (Optic Nerve) पर दुष्प्रभाव होकर तिमिर रोग (Optic Atrophy) हो जाता है। मस्तिष्क की तृतीय नाड़ी के ऊपर दुष्प्रभाव विशेष हो तो पुतली के विकार तथा Strabismus या Squint का रोग हो जाता है।

यदि फिरंग रोग का दुष्प्रभाव मस्तिष्क धमनियों पर विशेष हो (Syphilitic Endarteritis Obliterans) हो तो पहले किसी एक शाखा में अस्थिरयी निर्बलता का लक्षण या किसी अंग में कंप (Twitching) का लक्षण होता है। सिर दर्द का लक्षण भी होता रहता है। बाद में Middle Cerebral-Artery. की Lenticulostriate शाखा में थक्कोत्पत्ति (Thrombosis) होकर पक्षाघात का लक्षण हो जाता है। Upper Motor Neurone --- के रोग के कारण मृत अंग में स्तब्धता (Spasticity) भी होती है।

<u>सुषुम्ना कांड में फिरंग रोग : - Spinal Syphilis:-</u>

१.. Spinal Meningomyelitis:-

सुषुम्ना के Thoracic प्रदेश के सुषुम्नावरणों (Piaarachnoid) में फिरंग रोग की ग्रन्थियां उत्पन्न हो जाया करती हैं। (Gummatous Meningitis) हो जाता है) ये आवरण सूजकर Cord के साथ चिपक जाते हैं। जिससे इस प्रदेश की रक्त वाहिनियां भिंच जाती हैं/ और इस प्रदेश को रक्त की उचित मात्रा नहीं मिलती। इस कारण दोनों जंघायें निर्बल और स्तब्ध प्रतीत होने लगती हैं/ अर्थात् ऊरुस्तंभ हो जाता है। (Spastic Paraplegia ऊरुस्तंभ) मूत्राशय पर भी नियंत्रण निर्बल हो जाता है।

२.. Cervical Pachymeningitis:-

कभी कभी ग्रीवा प्रदेश की सुषुम्ना (Cervical Cord के Duramater) में यह रोग विशेष होता है। अर्थात् Cervical Pachymeningiti --- का रोग हो जाता है। इससे ग्रीवानाड़ियों (Cervical Nerves) के मूल भिंच जाते हैं। जिसका परिणाम् यह होता है कि बाहुओं की मांस पेशियों में कृशता और निर्बलता के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। ये लक्षण एक ओर या दोनों ओर हो सकते हैं।

<u>फिरंग रोग की चिकित्सा :-</u>

इस रोग का निश्चय होते ही अर्थात् प्रथम तथा द्वितीय

अवस्था में Procaine Benzyl Penicillin in Oil (Avloprocil, Squibb) जिसमें २ प्र०श० Aluminium Monostearate मिला होता है, ६ लाख यूनिट की मात्रा में प्रतिदिन १४ दिन तक मांस द्वारा दे देना चाहिये। इससे रक्त के प्रति सी०सी० में ०.०३ यूनिट मात्रा में पेनिसिलिन हर समय बना रहता है, जिसमें यह जीवाणु जीवित नहीं रह सकता। Procaine P. के ४ लाख मात्रा में १२, १२ घंटे पर १४, १५ दिन के देने से भी यही लाभ होता है। या चिरकालतक कार्यकारी Penicillin (Renidure) का प्रयोग करें। इस रोग की तृतीयावस्था के लक्षणों के प्रकट होने पर भी Procaine Penicillin ६ लाख यूनिट के दिन में २ बार १०, १२ दिन देने से लाभ हो जाता है। तृतीयावस्था में Gumma संबंधी शोथ की शांति के लिये Pot:Iod: १० ग्रेन, Liq:Hydrrg:Per:Chlor: ३० बूंद, Liq:Arse: २ बूंद, Aquachlorof: १/२ औंस मिला कर ऐसा मिश्रण दिन में ३ बार पेनिसिलिन के साथ साथ तथा इससे पहले पीछे, २, ३ सप्ताह तक भी दिया जाता है।

Neoarsphenamine .१५, .६ ग्राम तथा Sulpharasphenamine .१, .६ ग्राम का प्रयोग जैसे इस रोग में पहले होता था अब नहीं होता। प्रथम द्वितीयावस्था में यह भी उत्तम औषधि थी।

कभी कभी Bismuth (Bismostab) .१ सी सी में .२ ग्राम मात्रा में नाड़ी संबंधी फिरंग रोग में Penicillin के साथ साथ, सप्ताह में एक बार ८, १० सप्ताह तक मांस द्वारा दे दिया जाता है।

Mercury पारे (Grey Powder) १, २ ग्रेन, या Hydr:Iod: १/६ ग्रेन, Hydr:Perchlor: १/१६ ग्रेन, Liq:Hyd:Perchlor: ३०, ६० बूंद आदि को Pot:Iod: १० ग्रेन के साथ या Pulv Ipecac co. के साथ गोली के रूप में) के १, १½ मास तक प्रयोग से भी इसमें लाभ होता है। पर अब इस औषधि का प्रयोग समाप्त हो गया है।

फिरंग रोग की आयुर्वेद चिकित्सा :-

आयुर्वेद में इस आगन्तु रोग की निवृत्ति के लिये चिरकाल से सोमल और पारद का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणतः सोमल, हरताल, हिंगुल, एक एक भाग को मिलाकर निम्बु स्वरस से अनेक बार भावित करके फिर उसमें टंकण १२ भाग, लौह भस्म १/२ भाग, मिलाकर १, १ रत्ती की गोलियां बना कर दिन में दो तीन गोलियां कुछ दिन तक दी जाती हैं।

संक्रामक पूय मेह :- Gonorrhoea

कारण :-

Neisser के द्वारा प्रथम बार १८७६ प्रदर्शित पूय मेह जीवाणु या Gonococcus नामक जीवाणु के मूत्र नाली में प्रवेश कर जाने के २,७ दिन के अन्दर अन्दर उसके अग्रिम (Bulbous) भाग की श्लेष्म कला में शोथ हो जाता है जिससे वह लाल होकर सूज जाती है। फिर उसके अन्दर के (Sub-Mucous) स्तर में भी इसी प्रकार शोथ हो जाता है। इसका प्रत्युपायन किया जाय तो दो तीन सप्ताह के बाद इस जीवाणु का संक्रमण मूत्रनाली के पिछले (Prostatic) भाग में भी हो जाता है। अब भी इसका प्रत्युपायन हो तो फिर इस जीवाणु का संक्रमण वहां की श्लेष्म ग्रन्थियों की प्रणालियों (Mucous Ducts) तथा अष्ठीला ग्रन्थि (Prostate) की प्रणालियों में भी हो जाता है। इस अवस्था में फिर इस जीवाणु का निराकरण कुछ कठिन हो जाता है।

मूत्र नाली के जिस भाग में यह शोथ चिरकाल बना रहता है वहां के आभ्यंतर स्तर (Epithelium) के स्तम्भाकृति (Columnur) सेल क्रमशः दूषित होकर चपटे (Squamous) हो जाते हैं और फिर इन दूषित हुये सेलों के स्थान पर स्नायु तंतु (Scart) बन जाता है जिससे मूत्र नाली के उस स्थान में संकोच (Stricture) उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण :-

पूय मेह रोग के प्रारम्भ होने पर मूत्र का रंग या जलन के साथ आता है। मूत्र नाली से पहले तो पतला और फिर गाढ़ा पूय निकलता है। मूत्र नाली के मुख को दबाने से भी पूय ~~निकल~~ आता है।

पूय मेह जीवाणु के पश्चिम मूत्र नाली में संक्रमण कर जाने पर मूत्र के ~~वेग~~ बार बार आने तथा मूत्र कृच्छता के लक्षण और बढ़ जाते हैं। मूत्र के पिछले भाग को एक गिलास में ले कर देखने पर वह धुंधला दीखता है। ३५की पूय में इस रोग का जीवाणु देखा जा सकता है।

जीर्ण पूय मेह रोग (Gleet) में समय समय पर मूत्र नाली से पूय आता रहता है। इस अवस्था में अष्ठीला ग्रन्थि (Prostate) तथा उपांड (Epididymus) में भी जीवाणु संक्रमण जनित ~~शोथ~~ शोथ हो सकता है। इस अवस्था में रक्त के अन्दर भी जीवाणु का संक्रमण होकर कलाई की संधि में या कंधे के ऊपर Deltoid के नीचे की थैली (Bursa) में शोथ और दर्द के लक्षण हो सकते हैं। हाथों की कंडराओं (Tendon Sheaths) तथा एड़ी के नीचे के ~~पु~~ मांस (Planter Fascia) या Tendoachillis तथा एड़ी की हड्डी के बीच की थैली ... लक्षण हो सकते हैं। स्त्री में

सुजाक का रोग :- Gonorrhoea

कारण :-

Neisser [illegible]

[illegible] Gonococcus [illegible]

[illegible] (Sulbous) [illegible]

[illegible]

[illegible] (Sub-Mucous) [illegible]

[illegible]

[illegible] (Prostatic) [illegible]

[illegible]

(Mucous Ducts) [illegible] (Prostate) [illegible]

[illegible]

[illegible] है।

[illegible]

[illegible] (Epithelium) [illegible] (Columnar) [illegible]

[illegible] (Squamous) [illegible]

[illegible] (Scars) [illegible]

[illegible] (Stricture) [illegible] है।

लक्षण :-

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] (Gleet) [illegible]

[illegible] (Prostate) [illegible]

(Epididymus) [illegible]

[illegible]

[illegible] Deltoid [illegible] (Bursa) [illegible]

[illegible] (Tendon sheaths) [illegible]

[illegible] (Planter Fascia) [illegible] Tendophillis [illegible]

[illegible]

में योनि नाली के द्वारा गर्भाशय तथा प्रणालियों (Fallopion Tubes) में भी शोथ के फैल जाने से पेडू में दर्द होता है।

चिकित्सा :-

Procaine Penicillin या Procaine Penicillin in Oil (२ प्र० श० Alvminium Monoslearate के साथ) के ६ लाख यूनिट की मात्रा में मांस द्वारा २ दिन देने से यह रोग शांत हो जाता है।

अथवा Streptomycin के १ ग्राम की मात्रा में मांस द्वारा १ बार देने से भी यह रोग ठीक हो जाता है। अष्ठीला ग्रन्थि (Prostate) गर्भाशय तथा उपांड में शोथ हो या जीर्ण पूय मेह रोग हो तो इन औषधियों का प्रयोग ४,५ दिन तक किया जाता है। मूत्र की जलन को रोकने के लिये Pot: Cit: ३० ग्रेन तथा Tr: Hyoscyamus ३० बूंद का प्रयोग किया जा सकता है।

Sulpha-thiazole या Sulphadiazine के प्रथम २ ग्राम और फिर १,१ ग्राम मात्रा में ६,६ घंटे बाद ३ दिन देने से भी यह रोग शांत हो जाता है।

आयुर्वेदानुसार :-

आयुर्वेदानुसार शीत गुण मूत्रल औषधियों के प्रयोग से जब मूत्र खुल कर अधिक मात्रा में आता है तब यह भी वायु बाहिर निकल जाता है जिससे मूत्र मार्ग का शोथ शांत हो जाता है। इस प्रयोजन से गोखरू २ तोला, एजत लखूद २ तोला, इलायची छोटी, शीतल चीनी १,१ तोला, यवक्षार ६ माशा, शोरा कलमी ३ माशा, मिला कर २ माशे की मात्रा में बराबर मिश्री के साथ दिन में ३,४ बार दूध की लस्सी के साथ दे सकते हैं। अथवा सत बिरोजा, शीतल चीनी, इलायची छोटी, स्वेत रस, वंशलोचन, २,२ तोला, प्रवाल भस्म १ तोला, मिला कर २ माशे की मात्रा में बराबर मिश्री के साथ मिला कर दूध की लस्सी के साथ दिन में २,३ बार दे सकते हैं। २,३ सप्ताह तक इनका प्रयोग जारी रखना चाहिये।

नीम के क्वाथ १ सेर में १ तोला फटकरी मिला कर उसकी पिचकारी भी मूत्र मार्ग द्वारा दी जाती है।

रोग परीक्षा विधि
(Clinical Method).

सामान्य दर्शन (General Appearance) द्वारा रोग की परीक्षा,

कई बार रोगी को देखने मात्र से उसके रोग की पहचान हो जाती है। उदाहरणतः चेहरे का रंग मटियाला हो, गालों पर झाँइयाँ पड़ी हों, तो विषम ज्वर (Malaria) का, चेहरे तथा आँखों में हरा सा पीला रंग झलकता हो तो कामला का, नाक कान, ओष्ठ पर नीलापन (Cyanosis) हो तो हृदय रोग (Congestive Heart Failure) का, बालक का चेहरा फूला हुआ श्वेत सा हो तो वृक्क शोथ (Nephritis) का, बड़ों में श्याम पांडु सी भारी सा चेहरा हो तो जीर्ण वृक्क रो(C.Nephritis) का अनुमान कर लिया जाता है। इसी प्रकार बड़ी आयु में गिट्टों पर भारीपन को देखकर हृदय शैथिल्य का, बालक या युवक में बढ़ती हुई कृशता और छोटी छोटी शुष्क खांसी को देखकर क्षय रोग का, मध्यमायु में बढ़ती हुई कृशता को देखकर मधुमेह का और बड़ी आयु में बढ़ती हुई कृशता को देखकर कैंसर का संदेह कर लिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई बालक देखने में बूढ़ा सा लगता हो तो जीर्ण आमवातिक हृद्रोग का (C.Rheumatic Endocarditis) संदेह हो जाता है।

रोगी का चेहरा उदास चिन्ताशील हो तो चिन्ता रोग का, आधा चेहरा भावहीन और उधर की आंख आधी खुली सी हो तो अर्दित (Facial Palsy) का, युवक में श्वास कृच्छ्रता हो तो श्वास रोग का, बड़ों में श्वास कृच्छ्रता हो तो हृदय शैथिल्य (Pulmonary Oedema) का अनुमान हो जाता है। ज्वर रोगी शीघ्र शीघ्र सांस लेता हो तो फुफ्फुस ज्वर (Pneumonia) का, ज्वर ग्रस्त बालक अपनी पीठ पर असहाय की तरह अंगों को बिना हिलाये पड़ा हो तो संधिक ज्वर (Rheumatic Fever) का, ज्वर ग्रस्त बालक सिर को पीछे की तरफ फेंक कर पड़ा हुआ हो तो मस्तिष्क ज्वर (Meningitis) का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार बड़ी आयु का व्यक्ति मूर्छा में पड़ा हुआ घुर्राटे ले रहा हो तो सन्यास मूर्छा (Apoplexy) का, युवक इसी प्रकार से मूर्छित होकर गिर पड़ा हो तो अपस्मार (Epilepsy) का अनुमान हो जाता है।

बच्चों हनु अस्थि के कोण के पास ग्रन्थियों को फूला हुआ देखकर (Tonsillitis) का Sternomestoid के किनारे किनारे की ग्रन्थि माला को देखकर क्षयरोग का, भौंहों के बालों को उड़ा हुआ देखकर महाकुष्ठ (Leprosy) का, हाथों की अंगुलियों के जोड़ों में शोथ

को देखकर Rheumatoid A rthritis का, अंगुलियों के अगले पोरों को मोटा देखकर पुरानी खांसी (Bronchiectasis) का अनुमान हो जाता है। हाथों में कंप को देखकर नाड़ी मंडल में Disseminated Sclerosis का या Extra Pyramidal सूत्रों में दुष्टता का अनुमान हो जाता है। इसीप्रकार श्वास लेने पर बालक में पसलियां अंदर को धंस जाती हैं तो श्वास की नालियों में अवरोध होने (Bronchiolitis) का अनुमान हो जाता है।

वर्तमान रोग का इतिवृत्त

सामान्य प्रश्न

१.. नाम, आयु, पेशा, स्थान आदि पूछने के बाद रोगी की मुख्य शिकायत क्या है यह पूछना चाहिये।

यह शिकायत कब से है। तब यह अचानक शुरू हुई या आहस्ता। शुरू होने से लेकर अब तक क्या क्या लक्षण हुये। इसकी निवृत्ति के लिये इसने अब तक क्या उपाय किये। क्या किसी प्रकार के पथ्य या किसी औषधि से इसे कुछ लाभ प्रतीत होता है।

२.. पहले का इतिवृत्त.. इस कष्ट के आरंभ होने से पहले क्या इसे कभी आमवातिक ज्वर (Rheu.Fever), फिरंग रोग, रोमान्तिका (Measles), श्वास ज्वर (Broncho-Pneumonia), चिन्ता रोग (Neurasthenia), हुये।

३.. वंश का इतिवृत्त.. क्या माता पिता भाई बहनों में कभी आम वात (Rheu.) चिन्ता रोग, श्वास रोग, हृदयरोग अपस्मार रोग, उन्माद मूर्छा, पक्षाघात, नाड़ि रोग हुआ।

भोजन प्रणाली संबंधी परीक्षा

(Physical Examination of the Alimentary Canal)

प्रश्न..

१.. दर्द -- पेट में दर्द है तो किस स्थान पर है। बेचैनी ही या भारीपन ही है या तेज दर्द है। कितने दिनों से है। भोजन खाने से कितनी देर बाद होता है। किस प्रकार के भोजन से बढ़ता। किस प्रकार के भोजन या औषध से लाभ प्रतीत होता है। दर्द के दौरे होते हैं तो कितने कितने अंतर से। मालिश या दबाने से बढ़ता है या शांत होता है।

२.. भूख -- भूख कम है साधारण है या अधिक लगती है।

३.. पेट में अफारा होता है तो भोजन के कितनी देर बाद, किस प्रकार के भोजन से ज्यादा होता है।

४.. [illegible]

५..उल्टी होती है तो वह किस किस्म की होती है। मुख से जो पानी
गिरता है वह खट्टा मीठा कड़वा कैसा होता है। रात को मुख से
अधिक थूक तो नहीं आता।

६..प्यास अधिक लगती है या कम।

७..अतिसार होते हैं तो दिन भर में किस समय होते हैं। कितने होते हैं।
मल कुछ ठोस सा ही होता है या अधिक पतला,मात्रा में थोड़े थोड़े
होते हैं या बड़े बड़े,उनका रंग क्या होता है। उनमें आंव या खून तो
नहीं होता। मरोड़ से होते या बिना मरोड़ के।

<u>परीक्षा--</u> दर्शन (Inspection) परीक्षा मुख खोलकर देखें कि मसूढ़ों
में शोथ या पाक तो नहीं। जिव्हा जो पेट की सूचक होती है देखें कि
मोटी या फूली हुई तो नहीं अर्थात उसके किनारों पर दांतों के निशान
तो नहीं। वह शुष्क या अधिक गीली तो नहीं। उसका रंग क्या है।
वह मलयुक्त है या स्वच्छ है। उसके अंकुर (Papillae) हैं या लुप्त हैं
अर्थात जीभ साफ चट तो नहीं। जीभ पर या मुख के अंदर लालिमा और
शोथ तो नहीं।

ओष्ठ को देखें कि वह अधिक उभरा हुआ या पटका हुआ तो नहीं।
त्वचापती शिरायें अधिक स्पष्ट तो नहीं।

<u>स्पर्श (Palpation) परीक्षा--</u> रोगी को ऊंचे तकिये के सहारे
लिटाकर उसके गोडे खड़े कराकर अंगुलियों के पोंचे से पेट के विभिन्न
प्रदेशों को दबाकर देखना चाहिये। पहले दांये Illiac फिर दायें Lumber,
Hypochondriac, Epigastric ---- ---- बायें Hypochondriac
बायें Lumber बायें Iliac, Hypogastric और फिर नाभि प्रदेश की क्रमश
परीक्षा करनी चाहिये और इन प्रदेशों में विद्यमान अंगों में से किसी में
शोथ या दुख न हो तो उसका पता लगाना चाहिये। जहां दुखन या शोथ
होता है रोगी उस प्रदेश को अकड़ा सा लेता है। स्वस्थ अवस्था में पेट
के सारे प्रदेश मृदु होते हैं और उनमें दबाने से कहीं वेदना नहीं होती।
M.C. Burney's Point. पर विशेषतः दबाकर Appendix को
देखना चाहिये।

पेट में कोई ग्रन्थि हो तो उसका भी स्पर्श से पता लगता है।
वह दीवार में हो तो दीवार के साथ हिलती है तथा त्वचा को पकड़कर
उठाने से वह नहीं उठती।

यकृत के निचले किनारे को भी स्पर्श से देखा जा सकता है। Rectus
के बाहर हाथ के किनारे या अंगुलियों के सिरों को पसलियों के समानान्तर
पेट में दबाकर रखें और रोगी को गहरा श्वास लेने के लिये कहें तो

उसका निचला किनारा हाथ को लगता है। Epigastrium में पढ़े हुए यकृत को दबा कर उसमें विद्यमान शोथ का पता लगा सकते हैं। हृदय वैकल्य से यकृत बढ़ा हुआ हो तो वह पृष्ठ दुखता है परंतु स्पर्श में मृदु और सम होता है। Carrhosis में यकृत पृष्ठ दृढ़ होता है, कैसर में वह कठोर और विषम होता है।

पित्ताशय (Gall Bladder) के स्पर्श के लिये Rectus के ठीक बाहर नवीं पसली के अंदर की तरफ अंगुलियों को दबाकर रोगी को स्वास लेने के लिये कहें तो पित्ताशय का स्पर्श होता है और यदि वह सूजा हुआ हो तो रोगी को स्पर्श से दर्द होता है और उसका सांस रुक जाता है।(Myrphy's Sign)

प्लीहा के स्पर्श के लिये बांई ओर पसलियों के नीचे अंगुलियों को दबाकर रोगी को गहरा स्वास लेने के लिये कहें। वह बढ़ी हुई हो तो उसका निचला तीखा किनारा जिसमें (Notch भी होती है हाथ को लगता है। विषम ज्वर में प्लीहा बढ़ी हुई हो तो कठोर होती है। मंथर ज्वर में बढ़ी हुई हो तो मृदु होती है।

गुर्दा अंतिम पसली के पीछे होता है बांयां दायें से आधा इंच ऊपर होता है। एक हाथ कमर पर अंतिम पसली के ऊपर तथा नीचे रखें। दूसरा आगे की तरफ पसलियों के नीचे रखें। पिछले हाथ को आगे की ओर और अगले को पीछे और ऊपर की ओर को दबायें तो दोनों के बीच में गुर्दे को अनुभव किया जा सकता है।

टकोर (Percussion) परीक्षा --

यकृत प्लीहा प्रदेशों को छोड़कर शेष कोष्ठ पर टकोर की आवाज अधिक ऊंची (Tympanitic) होती है। किन्तु जलोदर के हो जाने पर जल वाले प्रदेश पर टकोर की आवाज मंद (Dull) हो जाती है अर्थात् रोगी चित लेटा हुआ हो तो कोष्ठ के मध्य प्रदेश पर टकोर की आवाज ऊंची और दोनों पार्श्वों पर जल के होने के कारण मंद होती है। जब रोगी को एक पार्श्व पर लिटा दें तो ऊपर की आवाज ऊंची हो जाती तथा मध्य प्रदेश और निम्न ~~ओक~~ पार्श्व की आवाज मंद हो जाती है।

यकृत का ऊपर का किनारा टकोर परीक्षा से जाना जाता है। Mid Calvicular Line में ऊपर से नीचे की तरफ टकोरते जायें तो छटी पसली पर आवाज मंद हो जाती है। Mid Axillary Line में ऊपर से नीचे टकोरते जायें तो आठवीं पसली पर और पीठ पर Scapular Line में ऊपर से नीचे टकोरते जायें तो दसवीं पसली पर टकोर की आवाज मंद हो जाती है। इन तीनों बिन्दुओं को मिलाने

है यकृत की ऊपर की सीमा बन जाती है।

वमन परीक्षा :--

वमन में अपक्व अन्न हो तो अजीर्ण का विशेष पीला रंग हो तो मलेरिया का और अम्लीयता विशेष हो तो Gastric Ulcer का संदेह करना चाहिये। आयु के अनुसार बच्चों में प्रायः अजीर्ण के कारण, युवकों में Gasteric Ulcer के कारण, गर्भिणी में Pregnancy Taxaemia के कारण, बूढ़ों में Uraemia तथा आमाशय के कैंसर के कारण, उल्टी हुआ करती है।

मलपरीक्षा :--

साधारणतः मल हल्के से भूरे रंग का और प्रोटीन के विकार से उत्पन्न हल्की सी [illegible] गंध का, दिन भर में दो छटांक की मात्रा में, एक बार या दो बार करके आता है। देखने में बन्धा हुआ और मृदु होता है। यदि यह मात्रा में अधिक हो जाय तो अजीर्ण तथा अतिसार समझना चाहिये। बार बार थोड़ा थोड़ा आये तो Colitis का संदेह करें। रंग में श्वेत हो तो Bile की कमी या Fat की अधिकता अनुमान करें। मल में खट्टी सी बू आये तो Carbo Hydrate के अपचन का सूचक होती है। Amaebic Dys. के कारण भी मल में मांस की सी गंध आती है। Carbo Hydrate के अपचन में मल अम्लीय प्रतिक्रिया का होता है। गुदा से रक्त आये तो वह लाल रंग का होता है। यदि वह ऊपर से आये जैसे कि Amaebic Dys. में स्वल्प मात्रा में आता है तो उसके कारण मल का रंग काला हो जाता है।

श्वास स्थान की परीक्षा
(Examination of the Respiratory System)

प्रश्न :-- १.. क्या परिवार में किसी को क्षय या श्वास का रोग हुआ था? शरीर क्रमशः कृश तो नहीं होताजाता? रात को सोते समय पसीना तो नहीं आता?

२.. खांसी गीली है या शुष्क, किस समय अधिक उठती है। खांसने से छाती में कहीं दर्द होता है तो किस स्थान पर होता है। बलगम गिरता है तो वह किस किस्म का होता है। इसमें रक्त तो नहीं होता।

३.. श्वास कठिनता का लक्षण होता है तो वह रात को विशेष होता है या चलने फिरने से होता है।

दर्शन (Inspection) परीक्षा :--

रोगी के [illegible] कपड़े उतार कर उसकी छाती का निरीक्षण करना चाहिये। [illegible] रोगों में छाती का आगे पीछे का व्यास कुछ कम

और दांये बांये का व्यास कुछ अधिक होता है। इनका अनुपात लगभग ५-७ का होता है। स्तनों के लेवल पर छाती का नाप लगभग ७०-७०, ३५ इंच का होता है और श्वास लेने पर यह नाप १½ इंच से २ इंच तक बढ़ जाता है। अब यदि देखने में छाती आगे पीछे की दिशा में दबी हुई हो, हंसली की हड्डी के ऊपर नीचे गड्ढे हों, पसलियों के बीच के प्रदेश अंदर धंसे हुये हों अर्थात् पसलियों के बीच की मांस पेशियां सूख गई हों तो उरः क्षय रोग का संदेह करना चाहिये।

यदि छाती अधिक फूली हुई हो, आगे पीछे का व्यास भी बढ़ा हुआ हो, परंतु श्वास लेने के बाद जितना विस्तार और होना चाहिये उतना न हो तो ऐसी छाती को Barrel Shape Chest. कहते हैं। इस अवस्था में फेफड़ों में हवा अधिक भरी रहने Emphysema रोग का संदेह करना चाहिये।

यदि बालक में उरोस्थि (Sternum) आगे को उभरी हुई हो उसके दोनों ओर ऊपर नीचे खाई सी हो तो इसे Pigeon Breast कहते हैं। और यह अस्थि शोष रोग (Rickets) का सूचक होती है।

श्वास लेने पर पसलियों के बीच के प्रदेश अंदर धंस जाते हों तो छोटी श्वास नालियों में अवरोध (Bronchiolitis) का संदेह करें। श्वास लेने पर छाती के ऊपर के सिरे अच्छी तरह न फूलते हों तो उनमें रोग (Fibrosis या Consolidation) का संदेह करना चाहिये।

श्वास गति :--

स्वस्थ में प्रति मिनट १८ होती है। नाड़ी गति ७२ होती है। इस प्रकार दोनों का अनुपात १:४ का होता है। ज्वरों में प्रति डिग्री तापमान के पीछे श्वास संख्या २-३ बढ़ती है। नाड़ी संख्या १० बढ़ती है। रक्त में आक्सिजन की मात्रा के कम हो जाने पर श्वास संख्या बढ़ती है। जब जब रक्त को आक्सिजन की आवश्यकता होती है यह संख्या बढ़ जाती है। जैसे हृदय वैफल्य में।

अन्तः तथा बहिः श्वासों में से बहिः श्वास लंबा दिखाई पड़े तो श्वास रोग या Emphysema का संदेह करना चाहिये। निद्रावस्था में Cheyne Stokes Breathing सुनाई पड़े तो हृदय वैफल्य (Myocardial Infarct या Fibrosis) या जीर्ण वृक्क रोग (Renal-Failure या Uraemia) का संदेह होना चाहिये। बालक में अंतः श्वास के साथ कूजन (Stridor) सुनाई पड़े तो उसके कंठ में स्तंभ (Spasm) का संदेह होना चाहिये।

स्पर्श परीक्षा (Palpation)

बोलते समय कंठ के हिलने से छाती की दीवार में कंपन सा उत्पन्न होता है जिसे हम अपनी हथेली रखकर अनुभव कर सकते हैं। रोगी को कहें कि वह एक,एक,एक,ऐसा शब्द बोलता जाये इतने उसकी छाती की दीवार पर हथेली रखनी चाहिये,जब फुफ्फुस के एक प्रदेश में ठोस पन(Consolidation)हो या छाती की दीवार के ठीक नीचे छोटी सी गुफा Cavity हो तो यह कंपन बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। जब फुफ्फुस और दीवार के बीच में कहीं पर द्रव(Hydrothorax) हो तो यह कंपन लुप्त हो जाता है।

टकोर (Percussion) परीक्षा:-

बांये हाथ की मध्यम अंगुली को छाती पर सटती हुई टिका कर उसके बीच की पोर के ऊपर दांये हाथ की मध्यम् अंगुली से जोर से टकोरा जाता है। और टकोर देते ही ऊपर की अंगुली को उठा लिया जाता है। ताकि आवाज साफ हो। पहले एक पसली से दूसरी पसली पर टकोर दी जाती है फिर पसलियों के बीच के प्रदेश पर टकोरा जाता है। इस प्रकार छाती के दोनों ओर आवाज की परस्पर तुलना की जाती है। ऊंची टकोर वाले प्रदेश से मंद टकोर वाले प्रदेश की ओर जाना चाहिये तथा निचली अंगुली को मंद टकोर वाले प्रदेश के समानान्तर रखना चाहिये। ऐसा न हो कि कदाचित निचली अंगुली का कुछ भाग तो ऊंची टकोर वाले प्रदेश पर और कुछ भाग नीची टकोर वाले प्रदेश पर आ जाये।

स्वस्थ फेफड़े पर टकोर की आवाज ऊंची (Resonant) होती है। पहले अगली छाती की परीक्षा करनी चाहिये अर्थात् दोनों ओर हंसली की हड्डियों (Clavicles) पर टकोर की तुलना करनी चाहिये फिर ऊपर से नीचे की ओर पहले पसलियों,पसलियों और फिर पसलियों के बीच के प्रदेशों पर क्रमश: टकोरना चाहिये।

जब दांई ओर Mammary या स्तन अथवा स्तन की रेखा पर टकोरते जायें तो छठी पसली पर आकर यकृत् के आरंभ हो जाने के कारण टकोर की आवाज मंद हो जाती है। बांई ओर छाती की हड्डी (Sternum) के ठीक बाहर अर्थात् Nateral Sternal Line पर ऊपर से नीचे टकोरते जायें तो चौथी पसली के इस हड्डी के साथ संधि के स्थान पर हृदय आ जाने के कारण टकोर मंद हो जाती है फिर इसी बांई ओर हंसली के मध्य से नीचे गिरती हुई रेखा(Mid Calavicular Line) पर नीचे को टकोरते जायें तो छटे पर्शुका मध्य (Inter space) में आमाशय के शुरु हो जाने से टकोर की आवाज अधिक ऊंची(Tympanitic) हो जाती है।

अब रोगी को कहें कि वह अपने दोनों हाथ सिर पर रख ले। ऐसी अवस्था में कक्षा प्रदेशों में ऊपर से नीचे की ओर टकोर परीक्षा करनी

चाहिये। दांई ओर कक्षा की मध्य रेखा से टकोरते जायें तो आठवीं पसली पर यकृत के शुरु हो जाने से टकोर की आवाज मंद हो जाती है। बांई ओर कक्षा मध्य रेखा में नीचे को टकोरते जायें तो नवीं पसली पर प्लीहा के आरंभ हो जाने से टकोर मंद हो जाती है।

इसके बाद रोगी को कहें कि वह अपने हाथों को दूसरी ओर के कंधों पर रखे तब पीठ पर रीढ़ की हड्डी और Scapula अंसफलक के बीच के प्रदेश में ऊपर से नीचे और बाहर की ओर को टकोरते जायें और दोनों ओर की आवाज की तुलना करें।

दांई ओर Scapula के निचले कोण से गिरती हुई रेखा पर दसवीं पसली पर यकृत के आ जाने से टकोर मंद हो जाती है। रीढ़ की हड्डी के पास दसवीं Inter space पर टकोर की आवाज मंद हो जाती है। इस प्रकार फेफड़े नीचे की ओर, ग्यारहवीं पसली तक ही अनुभव होते हैं।

फेफड़े छोटे छोटे वायु कोष्ठकों (A-ir Vesicles) के द्वारा बने होते हैं। इसलिये उनके ऊपर की हुई टकोर की आवाज एक विशेष प्रकार की ऊंची (Resonant$) होती है। जहां कहीं भी फेफड़ा कुछ ठोस हो जाता है अर्थात् हवा के स्थान पर कुछ दूसरा अवयव आ जाता है वहां टकोर की आवाज मंद हो जाती है। इसके विपरीत जब फेफड़े में रोग के कारण हवा अधिक भरी रह जाती है तो टकोर की आवाज अधिक ऊंची (Hyper resonant) हो जाती है और यदि इन छोटे छोटे वायु कोष्ठकों की दीवारें (Septa) नष्ट हो जायें अर्थात् वहां कोई [illegible] गुफा (Cavity) बन जाये तो उसके ऊपर की हुई टकोर की आवाज अधिक ऊंची (Tympanitic) हो जाती है।

अब यदि एक फेफड़े के ऊपर के सिरे पर अर्थात् आगे Calvicle के नीचे और पिछली ओर Scapula के ऊपर की ओर टकोरने से आवाज मंद प्रतीत हो तो वहां के वायु कोष्ठकों में क्षय रोग के कारण द्रव के भर जाने या Fibrosis के हो जाने से वहां हवा का प्रवेश कम हो गया है ऐसा समझना चाहिये।

Lobar Pneumonia में जब फेफड़े का नीचे का एक Lobe ठोस हो जाता है तो उस पर की हुई टकोर की आवाज भी मंद हो जाती है। यही प्रकार हृदय के किसी कारण से निर्बल हो जाने के कारण जब दोनों फेफड़ों के तलों (Bases) पर द्रव भर जाता है तो उन पर भी टकोर की आवाज मंद हो जाती है। Pleura के किस प्रदेश में द्रव भरा (Effusion) हो तो वहां पर भी टकोर की आवाज मंद हो

जाती है। बाल्कों में दोनों Scapulae के बीच के प्रदेश में टकोर की आवाज मंद सुनाई पड़े तो Mediastinal Glands के बढ़े हुये होने का सूचक होती है। छाती पर टकोर की आवाज ऊंची हो जाती है जब फेफड़ों में हवा अधिक भरी हुई हो अर्थात् Emphysema हो या दिवार के पास ही गुहा Cavity हो।

श्रवण (Auscultation) परीक्षा :—

छाती के ऊपर के प्रदेश में कंठ नाली (Trachea) पर अर्थात् Sternum के ऊपर के भाग तथा पीठ पर नीचे के ३-४ Cervical और ऊपर के चार Dorsal Vertebrae पर सुनने से बड़ी बड़ी श्वास नालियों में उत्पन्न होने वाली हौ हौ (Hau-Hau) की आवाज को Bronchial Breathing कहते हैं। इसमें पहले अन्तः श्वास की आवाज सुनती है फिर थोड़े से व्यवधान के बाद उतनी ही लंबी उसकी अपेक्षा कुछ ऊंची बहिः श्वास की आवाज सुनाई पड़ती है।

बड़ी श्वास नालियों से दूर फेफड़ों पर विशेषतः कक्षा प्रदेश और Scapula के नीचे के प्रदेशों में जहां पर श्वास नालियां बड़ी नहीं होती हैं प्रत्युत वायुकोष्ठक Vesicles विशेष होते हैं तो उनके कंपन से उत्पन्न होने वाली आवाज को Vesicular Breathing कहते हैं। यह फुफुस में होने वाले कंपन की आवाज (Murmur) लगातार रहती है। इसमें अंतः श्वास की आवाज सारी सुनाई पड़ती है परंतु बहिः श्वास का प्रथम भाग ही थोड़ा सा सुनाई पड़ता है। उसका पिछला भाग सुनाई नहीं पड़ता है। इसलिये इसमें अन्तः श्वास और बहिः श्वास की लंबाई का अनुपात ३:१ का होता है।

जब रोग के कारण जब फुफुस का कोई भाग ठोस हो जाता है और श्वास नालियों के साथ संबंधित रहता है, तब वहां पर सुनने से Bronchial Breathing अधिक स्पष्ट हो जाता है जैसे Pneumonia में यह ठोस भाग छोटी श्वास नालियों के साथ संबंधित हो तो वहां पर सुनाई पड़ने वाले Bronchial Breathing को Tubular Breathing कहते हैं।

फुफुस में विद्यमान ऐसी गुहा पर जो कि किसी बड़ी श्वास नाली से संबंधित हो जो एक हवल फूंक (Hau-Hau) की आवाज सुनाई पड़ती है और जो खोखले प्रदेश में फूंक मारने के सदृश होती है उसे Cavernous Breathing कहते हैं।

जब Plura में हवा भरी हुई हो अर्थात् Pneumothorax हो और इसके साथ फेफड़े की कोई श्वास नाली भी संबंधित हो तो वहां पर खाली बोतल में फूंक मारने की सी जो आवाज सुनाई पड़ती है उसे Amphoric Breathing कहते हैं।

फेफड़े पर Vesicular Breathing नार्मल हो अर्थात् न तो अधिक नीचा और न अधिक ऊंचा हो तो फुफ्फुस को स्वस्थ समझना चाहिये।

जब दोनों फेफड़ों पर यह बढ़ा हुआ हो तो समझना चाहिये कि फेफड़ों की मृदुता कम हुई है, जैसे कि श्वास रोग में हो जाती है। जब यह एक शिखर (Apex) पर बढ़ा हुआ हो तो उभार क्षय रोग का संदेह करना चाहिये।

Broncho Vesicular Breathing:- जब उपर्युक्त दोनों प्रकार की ध्वनियां एक स्थान पर सुनाई पड़ें तो उसे Broncho Vesicular Breathing कहते हैं। साधारणतः पीठ पर चौथे Dorsal Vertibra पर जहां Trachea विभक्त होता है वहां पर सांस की नलियां, तथा वायु कोष्ठकों, दोनों में होने वाली आवाज सुनाई पड़ती है।

यदि फुफ्फुस का कोई भाग पूर्णतया ठोस हो जाय तो वहां पर Bronchial आवाज सुनाई पड़ती है। Vesicular नहीं। परंतु यदि कोई फुफ्फुस का भाग ठोस व तो हो गया हो परंतु उसके वायु कोष्ठकों में कुछ हवा प्रवेश करती हो तो वहां Broncho Vesicular आवाज सुनाई पड़ती है। इसीलिये यदि यह आवाज एक शिखर (Apex) पर सुनाई पड़े तो क्षय रोग का और तल (Base) में ऐसी आवाज सुनाई पड़े तो Pneumonia या Broncho Pneumonia का संदेह करें।

वाचिक ध्वनि (Vocal Resonance)

जब कोई व्यक्ति एक एक एक ऐसा शब्द मुख से बोल रहा हो तो फुफ्फुस पर सुनने से कण्ठ में होने वाले शब्द का कम्पन स्टेथिस कोप में सुनाई पड़ता है। यद्यपि स्पष्ट अक्षर नहीं सुनाई पड़ते। इसे वाचिक ध्वनि (Vocal Resonance) कहते हैं। शब्द के स्पष्ट न सुनने का कारण यह है कि फेफड़े के वायु कोष्ठकों में विद्यमान वायु शब्द का उत्तम वाहक नहीं है। परंतु जब फुफ्फुस का कोई भाग ठोस हो जाता है तो श्वास नाली के द्वारा ऊपर से आई हुई आवाज भी स्पष्ट सुनाई देती है। इसे Broncho-phony. कहते हैं। जब बहुत धीरे धीरे मुख के अन्दर बोला हुआ शब्द भी बड़े साफ साफ सुनाई पड़े तो इसे Pectoriloquy कहते हैं। ऐसा तभी हो सकता है जब या तो फुफ्फुस का कोई भाग ठोस हो गया हो और वह एक श्वास नाली के साथ संबन्धित हो या छाती की दीवार के नीचे ही एक गुहा Cavity हो जो किसी श्वास नाली से संबन्धित हो। पुरानी खांसी Bronchiectasis में जब श्वास नालियां चौड़ी चौड़ी हो जाती है तब भी वाचिक ध्वनि सुनाई पड़ती है।

वाचिक ध्वनि (Vocal Resonance) नहीं सुनाई पड़ती या बहुत कम सुनाई पड़ती है। जब फुफ्फुस के कोष्ठकों में हवा अधिक भरी हो, क्योंकि हवा वाचिक कम्पन का भलीप्रकार वहन नहीं करती, इसलिये Emphysema या जब Pleura में द्रव भरा हो, यह द्रव शब्द का वाहक तो होता है, परंतु द्रव के कारण फेफड़ा दिवार से दूर हो जाता है। इसलिये वाचिक ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती।

सीटियां (Rhonchi) स्वस्थावस्था में फेफड़े पर सीटियों की आवाज नहीं सुनाई पड़ती जब श्वास नालियां स्तंभ (Spasm) के कारण तंग हो जाती हैं तब इनमें सीटियों की सी ध्वनि उत्पन्न होने लगती है। यदि फेफड़े की छोटी छोटी श्वास नालियां विशेष तंग हों तो अन्तः श्वास के पिछले भाग में ये सीटियां सुनाई पड़ती हैं। (Sibilant Rhonchi) बड़ी बड़ी श्वास नालियों के स्तंभ (Spasm) हों तो अंतः श्वास के प्रारंभिक भाग में सीटियां सुनाई पड़ती हैं। (Sonorous Rhonchi) श्वास रोग में या स्तंभ युक्त कास रोग में यह सीटियां दोनों के फेफड़ों में व्यापक रूप में सुनाई पड़ती हैं।

कुड़ कुड़ ध्वनि (Crepitations तथा Rales) वायु कोष्ठकों में चिपचिपे द्राव के उत्पन्न हो जाने के कारण जब इनमें हवा प्रवेश करती है तो अनेकानेक वायु कोष्ठकों की चिपकी हुई दीवारों के खुलने से एक ऐसी आवाज उत्पन्न होती है जैसे कि बालों को रगड़ने या बालों के एक गुच्छे को कान के पास रगड़ने से आवाज उत्पन्न होती है। स्पष्ट है कि अन्तः श्वास के अंत में जब वायु कोष्ठक खुलते हैं तब यह आवाज होती है। इसे Fine Crepitation कहते हैं। यह आवाज विशेषतः Pneumonia की प्रथमावस्था में एक ओर के फेफड़े के निम्न भाग में सुनाई पड़ती है। यदि यह फेफड़े के एक शिखर पर सुनाई पड़े तो उरःक्षय की प्रारंभिक अवस्था का सूचक होती है।

बड़ी छोटी श्वास नालियों में उत्पन्न हुये कफ द्राव में से हवा के गुजरने के कारण जो बुलबुलों के फटने की सी आवाज सुनाई पड़ती है इसे Rales कहते हैं। खांसी में जब रोगी को बलगम पड़ रही हो तब अंतः श्वास और बहिः श्वास दोनों के साथ बुल-बुलों के फटने की सी आवाज Rhonchi के साथ साथ सुनाई पड़ती है।

जब छोटी छोटी श्वास नालियों में कफ का द्राव विशेष होता है जैसे Broncho-Pneumonia. में तब अंतः श्वास के अंत में और बहिः श्वास के प्रारंभिक भाग में से Rales सुनाई पड़ते हैं।

जब उरःक्षय के कारण फेफड़े के एक शिखर का एक भाग कुछ गल रहा हो अर्थात् इसमें Caseous Sofning हो रही हो तो वहां भी Rales सुनाई पड़ते हैं।

संघर्ष ध्वनि (Friction Sound) जब Pleura के आमने सामने के दोनों पृष्ठ इनकी सूजन के कारण से उत्पन्न चिपचिपे द्राव के कारण कुछ खुरदरे से हो गये हों तो अन्तः श्वास के अंत में जब दोनों पृष्ठ आपस में रगड़ खाते हैं तो एक Friction-Sound उत्पन्न होती है। क्योंकि कक्षा प्रदेश में Pleura के दोनों पृष्ठ अधिक संघर्ष में आते हैं। इसलिये यहां यह ध्वनि अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है। इसी कारण से इस रोग को पार्श्व

शब्द भी करते हैं। यह ध्वनि स्टैथैसकोप के चैस्टपीस के ठीक नीचे ही उत्पन्न होती हुई प्रतीत होती है।

थूक (Sputum) परीक्षा :--

गाढ़ी बलगम का गिरना श्वास मार्ग के रोग का सूचक होता है। रात भर की संचित हुई बलगम को देखकर इसकी परीक्षा करनी चाहिये। कास रोग में पहले थूक पतला चेपदार और मात्रा में थोड़ा आता है। दो तीन दिन के बाद बलगम गाढ़ी झागदार, मात्रा में अधिक, और कुछ कुछ पूय से मिश्रित भी हो जाती है।

पुरानी खांसी तथा (Bronchiectasis) में यह थूक गाढ़ी और पूय मिश्रित होती है और बहुधा किसी एक पार्श्व पर लेटने से बहुत सी पूय युक्त गाढ़ी थूक निकलने लगती है। थूक दुर्गन्ध युक्त हो तो वह पुरानी खांसी या कैंसर का सूचक होती है।

उरःक्षय रोग में जब फेफड़े में कोई गुहा बन जाती है तो बटन के आकार के एक पूय के ढेर के रूप में (Nummular) गिरती है।

हृदय दौर्बल्य जनित फुफ्फुस शोथ (Pulmonury Oedema) साबुन के पानी के समान झागदार थूक आती है।

Pneumonia में रक्त मिश्रित लाल रंग की चिपकीली सी थूक आती है।

उरःक्षय रोग में किंचित रक्त से मिश्रित थूक आती रहती है और कभी कभी तो कत्थे के पानी जैसी केवल रक्त की ही थूक आती है। थूक में Elastic Fibres मिलें तो वह फुफ्फुस के अवयव के मृत हो जाने के अर्थात् उरःक्षय रोग के सूचक होते हैं। थूक में Eosinophil Cells मिलें तथा थूक में साबूदाने जैसे दाने भी दिखाई पड़ें तो श्वास रोग Asthma का निश्चय करना चाहिये।

हृदय परीक्षा :-- (Examination of the Heart):-

प्रश्न :-- पहले कभी संधिज ज्वर (Rheumatic Fever) तो नहीं हुआ। बालक में हृदय रोग हो तो पूछना चाहिये कि इससे पहले Tonsillitis तो नहीं हुआ।

श्वास कठिनता का लक्षण हो तो वह कब होता है। चलने फिरने से होता है या पड़े पड़े भी होता है। रात को कभी इसका दौरा तो नहीं होता। सीधे पड़े नींद आ जाती है या ऊंचे तकिये लगाकर ही नींद आती है।

छाती में दर्द उठता है तो कहां पर और किधर तक जाता है। श्रम से होता है या पड़े पड़े भी होता है।

हृदय कब धड़कता है तो किस कारण से धड़कता है और कितनी देर रहता है।

हृदय निर्बलता में पीछे की ओर रक्त के रुक जाने से खांसी तो नहीं उठती या पैर तो नहीं भारी हो जाते अथवा अग्नि तो मंद नहीं हो जाती।

दर्शन तथा स्पर्श परीक्षा :—

रोगी के दांई ओर बैठक अपने हाथ का पौंचा हृदय प्रदेश पर रखकर हृदय के स्पंदन को अनुभव करना चाहिये। साधारणतः हृदय स्पंदन प्रदेश बांई ओर (Apex Beat) पांचवें पर्शुका मध्य (Inter Space) मध्य रेखा से ३ या साढ़े ३ इंच हटके या Mid Calvicular Line से आधा इंच अन्दर की ओर होता है। जब हृदय स्पंदन प्रदेश पसली के पीछे होता है तो वह नजर नहीं आता।

यदि स्पंदन प्रबलता से हो रहा हो तो वाम कोष्टक में अतिवृद्धि का अनुमान करना चाहिये। शरीर में रक्त भार के बढ़ जाने या Aortic Regurgidion. से ऐसा होता है। स्पंदन अधिक निर्बल हो तो हृदय में परिक्षीणता या शोथ (Myocardial Degeneration या Myocarditis) का संदेह करना चाहिये। इनमें से पहली अवस्था में Diletation के कारण कुछ बाहर की ओर खिसक जाता है। Epigastrium में स्पंदन दिखाई पड़े तो हृदय के दांये कोष्ठक में अतिवृद्धि का अनुमान करना चाहिये।

टकोर (Percussion) परीक्षा :—

हृदय के किनारे फेफड़ों से ढके होते हैं। अतः इसकी सीमा का पता प्रबल टकोर से लगाना चाहिये। बांई सीमा का पता लगाने के लिये दूसरी तीसरी चोथी Inter Space में बाहर से अन्दर की ओर टकोरते जायें जहां टकोर मंद हो जाये वहां हृदय की सीमा आरंभ हुई समझनी चाहिये। तीसरी Inter Space में यह सीमा Perasturnal Line पर होती है। इस बिन्दु को हृदय के निचले शिखर (Apex) से मिला दें तो बांई सीमा बन जाती है जो वाम कोष्ठक से बनी हुई है। ऊपर की सीमा के जानने के लिये दूसरी Interspace में Anterior Axillary Line से अंदर की ओर टकोरते जायें तो आवाज ऊंची ही रहती है। फिर इसी प्रकार तीसरी Inter Space में टकोरते जायें तो वहां पर आवाज मंद हो जाती है इसे ऊपर की सीमा समझना चाहिये। इसीप्रकार दाहिनी सीमा का पता लगाने के लिये यकृत की सीमा से ऊपर के Inter Spaces में निचली अंगुली को छाती की हड्डी Sternum के समानान्तर रखते हुये बाहर से अंदर की ओर टकोरते जायें। साधारणतः चोथी पसली पर यह सीमा छाती की हड्डी के Lateral Border से कुछ ही बाहर होती है। तीसरी पसली पर इस सीमा का सबसे ऊपर का सिरा Perasternal Line पर होता है। बांई ... ... के ऊपर के सिरों को मिला देने से

ऊपर की सीमा बढ़ जाती है।

अब यदि हृदय बांई ओर और नीचे की ओर कुछ बढ़ा हुआ पाया जावे तो वाम हृदय में अति वृद्धि (Hypertrophy) का अनुमान करना चाहिये। यदि दांई ओर बांई ओर और नीचे की ओर तीनों ओर हृदय बढ़ा हुआ हो तो सारे हृदय को बढ़ा हुआ समझना चाहिये।

श्रवण (Auscultation) परीक्षा :--

हृदय के निचले शिखर (Apex) पर Mitral Valve की आवाज सुनी जाती है। इसलिये इस प्रदेश को वाम कपाटी क्षेत्र Mitral Area कहते हैं। Aortic Valve की आवाज दूसरी दाहिनी पसली के अंदर के सिरे पर सुनी जाती है। इसे Aortic Area महाधमनी कपाटी क्षेत्र कहते हैं। Pulmonary Valve की आवाज दूसरे बांये Inter Space के अंदर के सिरे पर सुनी जाती है। इसलिये इसे Pulmonary Area फुफ्फुस धमनी कपाटी क्षेत्र कहते हैं। Tricuspid Valve की आवाज उरोस्थि के निचले सिरे पर सुनी जाती है। इस प्रदेश को Tricuspid Area कहते हैं। इसी क्रम से इन प्रदेशों पर हृदय की आवाज को सुनना चाहिये। प्रत्येक प्रदेश पर हृदय के दोनों शब्द सुनाई पड़ते हैं। प्रथम शब्द तो Mitral और Tricuspid Valves के बंद होने और दोनों Ventricles कोष्ठ पेशी कोष्ठों में संकोच होने के कारण होता है। यह शब्द Mitral तथा Tricuspid क्षेत्रों पर स्पष्ट सुनाई पड़ता है। हृदय का दूसरा शब्द जो प्रथम शब्द से कुछ छोटा और तेज होता है Aortic तथा Pulmonary-Valves के बंद होने से उत्पन्न होता है तथा शरीर और फेफड़े की धमनियों के अंदर विद्यमान दबाव (Pressure) के कारण होता है। यह शब्द Aortic तथा Pulmonary क्षेत्रों पर विशेष स्पष्टता से सुनता है।

सुनते समय इस बात का ध्यान देना चाहिये कि प्रथम शब्द की ऊंचाई और लंबाई कैसी है।

प्रथम शब्द की ऊंचाई बढ़ जाती है। जब Thyrotoxicosis हो या नाड़ियों और हृदय की निर्बलता के कारण अथवा Neurocirculatory Asthenia के कारण Tachycardia हो। अथवा Mitral Stenasis के कारण वाम हृदय में अतिवृद्धि हो। इसी प्रकार रक्तभार के बढ़ने से वाम हृदय बढ़ा हुआ हो तो भी प्रम अपने apex. पर प्रथम शब्द लंबा और ऊंचा सुनाई पड़ता है।

प्रथम शब्द की ऊंचाई और लंबाई कम हो अर्थात् Ventricles का संकोच निर्बल हो तो हृदय के मांस में ह्रास (Degeneration) का अनुमान करना चाहिये। किसी कारण से Carditis या Myocardial-Toxaemia हो तो भी प्रथम शब्द निर्बल हो जाता है। Vasomotor Shock

हो या रक्त भार गिर गया हो तो भी प्रथम शब्द निर्बल हो जाता है।

द्वितीय शब्द Aortic क्षेत्र पर ऊंचा सुनाई पड़े तो शरीर में रक्त भार वृद्धि अर्थात् Arterio Sclerosis तथा चिरस्थायी वृक्क रोग का अनुमान करना चाहिये। यदि द्वितीय शब्द Pulmonary क्षेत्र पर ऊंचा हो तो फेफड़ों में रक्त भार की अधिकता अर्थात् वाम् हृदय की निर्बलता (Left Heart Failure) Mitral Stenosis, Mitral Regurgitation, Pneumonia, Emphysema Fibroid Phthisis, Pulmonary Atheroma का संदेह करना चाहिये।

फुत्कार (Murmur)

यदि फुत्कार या Murmur प्रथम शब्द के साथ संबंधित हो तो इसे Systolic Murmur कहते हैं। यदि द्वितीय शब्द के साथ संबंधित हो तो इसे Diastolic Murmur कहते हैं।

तीव्र ज्वरों में जैसे Rheumatic Fever में प्रथम शब्द के स्थान पर सुनाई पड़ने वाली कुछ मृदु फुत्कार को Myocardial-Murmur कहते हैं। ज्वर में Mitral छिद्र के निर्बल होकर चौड़ा हो जाने से यह फुत्कार उत्पन्न होता है। ज्वर के बाद हृदय मांस के स्वस्थ हो जाने पर यह फुत्कार ठीक हो जाता है।

Organic Murmur :-

।क। Mitral Area पर सुनाई पड़ने वाला फुत्कार

का Systolic Murmur इस क्षेत्र पर प्रथम शब्द के स्थान पर रेता मृदु फुत्कार सुनाई पड़े जो बगल की ओर जाता हो तो Mitral Regurgitation का संदेह करना चाहिये।

।ख। Diastolic Murmur, Mitral क्षेत्र पर ही प्रथम शब्द से पहले, Apex के कुछ अंदर की ओर, एक कठोर फुत्कार सुनाई पड़े, जो किसी दिशा विशेष में न जाता हो तो Mitral Stenosis का संदेह करना चाहिये।

।ख। Aortic Area: पर सुनाई पड़ने वाला फुत्कार,

।क। Systolic Murmur Aortic प्रदेश पर अर्थात् दांई दूसरी पसली के या Inter Space में अंदर के सिरे पर प्रथम शब्द के साथ एक कठोर फुत्कार सुनाई पड़े जो ग्रीवा में दोनों ओर Carotid Artery के साथ साथ ऊपर जाती हो तो Aortic Stenosis का संदेह करना चाहिये।

।ख। Diastolic Murmur:- Aortic प्रदेश पर द्वितीय शब्द के साथ मृदु फुत्कार सुनाई पड़े जो उरोस्थि के बांये किनारे के साथ साथ नीचे की ओर उतरता हो तो वह Aortic Regurgitation.

समझना चाहिये।

Pulmonary Area पर भी Systole के स्थान पर कभी कभी फूत्कार सुनाई पड़ती है। परंतु वह प्रायः Functional Murmur ही होती है। क्योंकि Pulmonary Artery में रक्त के दबाव के बढ़ जाने से होती है। और संभवतया पांडु रोग का सूचक होती है।

वाम हृदय नैर्बल्य (Left Heart Failure) की परीक्षा:--

दर्शन के द्वारा श्वास की तीव्रता दीखती है। चेहरे पर चिन्ता का भाव दीखता है। छाती कुछ कम हिलती है। Apex beat निर्बल होती और हृदय के कुछ शिथिल हो जाने के कारण नीचे और बाहर की ओर खिसकी होती है।

स्पर्श परीक्षा :--

Vocal Fremitus (वाचिक कंपन) घटा हुआ होता है। हृदयगति और नाड़ी गति तीव्र होती है। नाड़ी का आकार Volume तथा तनाव (Tension) और रक्त भार (B.P.) घटे हुये होते हैं।

टकोर परीक्षा :--

टकोर की आवाज की ऊंचाई घटी हुई होती है।

श्रवण परीक्षा :-

हृदय का प्रथम शब्द निर्बल सुनाई पड़ता है। छाती पर का Vesicular Sound घटा हुआ होता है। फेफड़ों के तलों पर Rales की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

दक्षिण हृदय नैर्बल्य (Right Heart Failure) की परीक्षा :--

दर्शन,स्पर्श द्वारा परीक्षा-- शिरायें भारी दिखाई पड़ती हैं। वृक्कों को Oxygen कम मिलने से मूत्र कम बनता है और वह गहरे रंग का होता है। उसमें Albumin भी होता है। यकृत में रक्त के अधिक मात्रा में रुक जाने से वह आकार में बड़ा हो जाता है। उस पर दबाने से दर्द होता है। Porter रक्त वाहिनियों में रक्त के भर जाने से जलोदर भी हो जाता है। क्षुधा कम होती है और अफारा तथा मलबंधता रहते हैं। चेहरे पर नीलापन Cyanosis रहता है। Apex beat Mid-calcular-line. से बाहर की तरफ खिसका होता है और निर्बल होता है।

श्रवण परीक्षा :-- हृदय का प्रथम शब्द दूसरे शब्द जैसा ही छोटा हो जाता है। Pulmonary क्षेत्र पर दूसरा शब्द ऊंचा सुनाई पड़ता है।

नाड़ी परीक्षा :--

।क। नाड़ी देखने के लिये रोगी की Radial Artery पर अपने दाहिने हाथ

की तीनों अंगुलियां रखनी चाहिये। पहले तो नाड़ी गति प्रति मिनट देखनी चाहिये। साधारणतः १ वर्ष की आयु तक यह १२० होती है। ३ वर्ष की आयु तक १०० होती है। बाल्यावस्था में ९० के लगभग फिर ७२ के लगभग रहती है। ६० वर्ष की आयु के बाद कुछ बढ़ जाती है और ८० के लगभग होती है।

नाड़ी गति बढ़ जाती है,१.जब शरीर में पचित की ~~xxxxxxxx~~ (Metabolism) बढ़ा हुआ हो जैसे क्षय रोग में,ज्वरों में, Thyrotaxicosis में। ज्वर भी प्रायः तभी होता है जब शरीर में कहीं पूय हो इस प्रकार ज्वरों में जब तापमान एक डिग्री बढ़ता है तो नाड़ी संख्या १० बढ़ जाती है। ~~xxxxx~~ २.ज्वर न हो और नाड़ी गति बढ़ी हुई हो तो Toxaemia अर्थात् Toxicmyocarditis का संदेह करना चाहिये। ३.हृदय मांस कमजोर हो तो भी नाड़ी गति बढ़ जाती है। ४.वायु रोगों अर्थात् Neuro Circulatory Asthenia (Effort Syndrome) हिस्टीरिया,चिन्ता रोग (Neurasthenia) में भी नाड़ीगति बढ़ जाती है। ५.कॉफी,चाय,मद्य,तम्बाकू,बेलाडोना, Thyroid आदि के प्रयोग से भी नाड़ी गति बढ़ जाती है।

नाड़ी गति घट जाती है। १.कुछ एक विषों के शरीर में फैल जाने से जैसे Jaundice (कामला) जीर्ण वृक्क रोग (Uraemia) Myxoedema, मधुमेह (Diabetes Mellitus) की विषों से। २.हृदय में ब्लॉक के बढ़ जाने से या Senile Heart के कारण। ३.मूर्छा अर्थात् Vasovagal attack से। ४.शरीर में धातु पचित की के कम हो जाने से जैसे अधिक सर्दी लग जाने पर या अधिक निर्बल हो जाने पर। ५. Intracranial Pressure के बढ़ जाने से।

।ख। नाड़ी का आकार (Volume) देखना चाहिये। अर्थात् नाड़ी बड़ी है या छोटी है या इसकी लंबाई चौड़ाई कैसी है। यह देखना चाहिये। स्वस्थावस्था में नाड़ी का आकार मध्यम् दर्जे का होता है। न वह अधिक बड़ी होती है और न अधिक छोटी होती है। हृदय के प्रत्येक स्पंदन में जितना रक्त शरीर में जाता है उतने आकार की नाड़ी होती है। प्रत्येक स्पंदन में रक्त शरीर में अधिक जाय तो नाड़ी बड़ी होती है। कम जाय तो नाड़ी छोटी होती है। परि श्रम करते समय तथा ज्वर के समय जब शरीर को रक्त की ज्यादा जरूरत होती है तो प्रत्येक स्पंदन में रक्त अधिक जाता है जिससे नाड़ी का उठाव और उसका टिकाव दोनों ज्यादा होते हैं। जब धमनियां मृदु होती हैं जैसे प्रारंभिक आयु में और हृदय का स्पंदन तीव्र होता है तो स्पष्ट है कि नाड़ी का Volume अधिक होता है। इसी प्रकार यदि वाम हृदय आकार में बढ़ा हुआ है,परन्तु ऐसा बड़ी आयु में होता है,और ... धमनियां मृदु
तब भी नाड़ी का Volume बड़ा हुआ होता है।

न रहकर कठोर हो जाती है, इसलिये इस अवस्था में नाड़ी का Volume बढ़ा हुआ होता है। किन्तु नाड़ी का स्पर्श कठोर होता है।

।ग। इसलिये नाड़ी परीक्षा में तीसरी बात नाड़ी की मृदुता या कठोरता देखी जाती है। युवावस्था तक नाड़ी मृदु होती है और अनुभव भी नहीं होता परंतु बड़ी आयु में कठोर हो जाने से स्पष्ट अनुभव होती है। यदि Arterio Sclerosis हो तो नाड़ी बड़ी हुई रस्सी की तरह अनुभव होती है। धमनियों के कठोर हो जाने से Ventricles को अधिक कार्य करना पड़ता है जिससे वह बड़े हो जाते हैं। नाड़ी की कठोरता को देख कर उनमें उस समय विश्राम दबाव (Tension) का पता लगता है। इसे ही हम Diastolic Pressure कहते हैं। जितने दबाव से नाड़ी का स्पंदन बंद हो जाता है उसे हम हृदय का संकोच कालिक दबाव (Systolic-Pressure) या नाड़ी का दबाव (Pulse Pressure कहते हैं। बड़ी आयु में ये दोनों (Tension तथा Pulse Pressure) बढ़ जाते हैं।

।घ। नाड़ी देखते समय नाड़ी की गति सम है या विषम् है यह देखा जाता है। साधारणतः सब नाड़ियों का उठाव एक जितना होता है और उनके बीच के अंतर भी एक जितने होते हैं। जब नाड़ियों के उठाव भी भिन्न २ आकार के हों और उनके बीच के अंतर भी भिन्न भिन्न विस्तार के हों तो Auricular Fibrillation का संदेह करना चाहिये। जब कोई नाड़ी बीच में छूटती हुई २ दिखाई पड़े तो Heart Block का संदेह करना चाहिये। जब कोई कोई Beat उचित समय से पहले ही होती प्रतीत हो तो Premature Systole का संदेह करें। यदि नाड़ियां छोटी छोटी और शीघ्र गामी हों तो हृदय की Tachycardia का संदेह करें।

Dicrotic Pulse:-
(सर्प गति नाड़ी)

साधारणतः नाड़ी पहले उठती है और फिर गिरती है परंतु गिरने से ठीक पहले फिर उसमें एक छोटा सा उठाव हुआ करता है जो धमनियों में, रक्त के अंदर, पीछे की ओर एक लहर के उठने से उत्पन्न होता है। इसे Dicrotic Wave कहते हैं। साधारणतः तो यह छोटा उठाव हमारी अंगुली को विशेष प्रतीत नहीं होता परंतु जब निर्बलता के कारण से धमनियां अति मृदु हुई हुई हों उनमें उस समय रहने वाला दबाव (Tension) बहुत गिरा हुआ हो दूसरे शब्दों में Peripheral Resistance बहुत कम हो और दूसरी ओर ज्वर के कारण हृदय का स्पंदन प्रबल हो तो रक्त के अंदर पीछे की तरफ उठने वाली यह लहर Dicrotic Wave अधिक स्पष्ट हो जाती है।

Water Hammer Pulse:- जब नाड़ी का उठाव तो अधिक हो परंतु उसमें स्थिरता न हो वह सहसा ही गिरजाय तो उसे Water Hammer-Pulse कहते हैं। यह Aortic Regurgitation का सूचक होती है।

रक्त भार (Blood Pressure) परीक्षा Manometer को अपने सामने रख के उसके Armlet को उसकी बाहु पर लपेट देना चाहिये। फिर पंप के Valve को बंद करके Armlet में हवा भरते जायें जिससे मेनोमीटर का पारा लगभग दो सौ के अंक तक पहुंच जाये। फिर स्टेथस्कोप के चेस्ट पीस को कोहनी के कुछ ऊपर Bracheal Artery पर रख के Valve को थोड़ा खोल के हवा को Armlet में से निकलने दे इससे पारा नीचे गिरना शुरू हो जायगा। जिस अंक पर पहले टिक टिक की आवाज सुनाई पड़े उसे नोट कर लें। यह Systolic Pressure है। इसके बाद जब तक पारा गिरता जाय टिक टिक की आवाज सुनते रहें जिस अंक पर यह आवाज बंद हो जाये उसे भी नोट कर लें। इसे Diastolic Pressure कहते हैं।

स्वस्थ व्यक्ति में Systolic Pressure १०० से १४० तक होता है और Diastolic Pressure ६० से ९० तक M.M.of Mercury होता है। इन दोनों के बीच में जो अंतर है उसे को नाड़ी का दबाव (Pulse Pressure) समझना चाहिये। साधारणतः यह ४० - ५० के लगभग होता है।

यदि Systolic Pressure १५० से ऊपर ही रहे और Diastolic १०० से ऊपर रहे तो इसे Hypertension कहते हैं और जीर्ण वृक्क रोग का संदेह करना चाहिये। Pregnancy Toxaemia से भी ऐसा हो सकता है। Diabetes से भी रक्त भार बढ़ जाता है। अर्थात् श्रम और व्यायाम के न करने और अधिक आहार लेते रहने से भी ऐसा हो जाता है।

रक्त भार घटा हुआ हो तो कई व्यक्तियों में यह स्वाभाविक होता है। किसी घाव से अधिक रक्त निकल जाने, बहुत दस्तों के आ जाने, और Perpheral Circulatory Failure आदि Shock (धक्के) के लगने पर भी रक्त भार गिर जाता है। Left Ventricle के निर्बल हो जाने से जैसे Coronary Thrombasis से या तीव्र ज्वरों में Toxic-Myocarditis से भी रक्त भार गिर जाता है।

मूत्र संबंधी परीक्षा :--

प्रश्न :-- यदि वृक्क रोग (Nephritis) का संदेह हो तो पूछें कि पहले Tonsillitis तो नहीं हुआ था प्रातः काल आंखों पर भारीपन तो

Water Hammer Pulse:-

[illegible] Water Hammer-Pulse [illegible] Aortic Regurgitation [illegible]

[illegible] (Blood Pressure) [illegible] Manometer [illegible] Armlet [illegible] Valve [illegible] Armlet [illegible] Brachial Artery [illegible] Valve [illegible] Armlet [illegible] Systolic Pressure [illegible] Diastolic Pressure [illegible]

[illegible] Systolic Pressure [illegible] Diastolic Pressure [illegible] M.M. of Mercury [illegible] (Pulse Pressure) [illegible]

[illegible] Systolic Pressure [illegible] Diastolic [illegible] Hypertension [illegible] Pregnancy Toxaemia [illegible] Diabetes [illegible]

[illegible] Peripheral Circulatory Failure [illegible] Shock [illegible] Left Ventricle [illegible] Coronary Thrombosis [illegible] Toxic-Myocarditis [illegible]

[illegible]

[illegible] (Nephritis) [illegible] Tonsillitis [illegible]

नहीं आ जाता। कटि प्रदेश (Lumber Region) पर दर्द तो नहीं होता या वहां से दर्द उसका अंडकोष की तरफ तो नहीं जाता।

रोगी बड़ी आयु का हो और जीर्ण वृक्क रोग का संदेह हो तो पूछें कि सिर में दर्द तो नहीं होता। जी हल्की तो नहीं आ जाती, या हिचकी तो नहीं आती या दृष्टि धुंधली तो नहीं होती जाती। दिन में पड़ते ही निद्रा तो नहीं आ जाती या रात्रि में जल्दी जल्दी निद्रा तो नहीं टूट जाती। मूत्र दिन रात का मिलकर अधिक तो नहीं आता। अधिक आता हो तो रात में या दिन में कम अधिक आता है। दर्द होता हो तो मूत्र आने से पहले होता है या मूत्र आते समय होता है या अंत में होता है।

मूत्र :--

साधारणतः दिन रात में मूत्र १$\frac{१}{२}$ सेर या १५०० सी.सी. के लगभग आता है इसका रंग फीका पीला सा होता है। वह पारदर्शक और लगभग निर्गन्ध होता है। इसकी Specific Gravity १०१५ से १०२५ तक होती है इसका यह भार इसके अंदर विद्यमान Urea और Chlorides के ऊपर निर्भर है। मूत्र दिन भर में १ या १$\frac{१}{४}$ सेर तक और रात को $\frac{१}{४}$ या $\frac{१}{२}$ सेर तक आता है। ज्यादा भोजन पान करने और शीतकाल में इसकी मात्रा कुछ बढ़ जाती है। मूत्र में विद्यमान Acid Sodium Phasphate के कारण वह अम्लीय या Acidic होता है। Protein भोजन अधिक किया जाय तो इसकी Acidity बढ़ती है। सब्जियों और फलों का अधिक सेवन किया जाय तो इसकी Acidity कम घटती है।

जब गुर्दे अपना काम भली प्रकार नहीं करते तो जीर्ण वृक्क रोग में, तो मूत्र रात को अधिक आने लगता है (Nocturia) और फीके रंग का होता है और इसकी Specific Gravity घटी हुई होती है।

मधुमेह में मूत्र की मात्रा अधिक होती है और इसकी Specific Gravity बढ़ी हुई होती है। Acute Nephritis में तथा हृदय दौर्बल्य (Heart Failure) में मूत्र की मात्रा कम हो जाती है।

मूत्र का रंग हरा हो तो इसकी Acidity बढ़ी हुई समझनी चाहिये, रंग भूरा पीला हो तो Bile (पित्त) की अधिकता समझनी चाहिये। इसका रंग हंगली जो जैसे ज्वरों में होता है तो Urabilin तथा मूत्र का रंग काला (Smoky) हो तो इसमें रक्त समझना चाहिये।

निक्षेप :-- मूत्र आने के बाद ठंडा होने पर धुंधलापन सा हो जाय और मूत्र अम्लीय हो तो इसमें Sodium, Potassium या Ammonium के Urates मिले हुये समझने चाहियें। ये मूत्र के रंग को पकड़ लेते हैं। इसलिये इनके कारण मूत्र में ईंट के जैसा निक्षेप आ जाता है। परंतु मूत्र को गर्म करने

से ये घुल जाते है।

मूत्र के शीशी में पड़े रहने पर नीचे एक बदली सी बैठ जाये तो उसे Mucus समझना चाहिये। इस बदली के ऊपर यदि एक पिसी हुई श्वेत से निक्षेप की तह बैठ जाये और मूत्र अम्लीय हो तो इसे Calcium, Ammonium आदि का Oxalates का निक्षेप समझना चाहिये। मूत्र के नीचे गहरे भूरे रंग के दाने दाने बैठ जायें जिन्हें Cayenne Papper Deposit कहते हैं। तो इसे Uric Acid समझना चाहिये। मूत्र में अंदर से ही मठे या चूने जैसा निक्षेप आये तो इसे Phosphates समझना चाहिये। यह निक्षेप थोड़ा सा १०% प्रतिशत Acetic Acid मिलने से घुल जाता है। मूत्र में मवाद (Pus) का निक्षेप हो तो वह इसमें नहीं घुलता।

मूत्र में Albumin की जांच करने के लिये टेस्ट ट्यूब के $\frac{3}{4}$ भाग को मूत्र से भर के उसके ऊपर के हिस्से को ज्वाला पर रखकर उबालें यदि वह उबला हुआ मूत्र सफेद हो जाये और १० प्रतिशत Acetic Acid से साफ न हो तो Albumin का निश्चय करना चाहिये।

मूत्र में खांड की जांच करने के लिये एक टेस्ट ट्यूब में Fehlings-Solution A.B. दोनों बराबर बराबर मिलाकर एक इंच तक भर लें। दूसरी टेस्ट ट्यूब में उतना ही मूत्र भर कर दोनों को उबाल लें फिर मूत्र को Solution में डाल दें अथवा ५ सी.सी. Benedicts Solution में ८ बूंद मूत्र मिला के दो मिनट उबाल लें और ठंडा होने के लिये रख दें। अब यदि इनमें लाल पीला निक्षेप तुरंत आ जाये तो दो या इससे कुछ ज्यादा प्रतिशत खांड का अनुमान करें। पीला सा निक्षेप आये तो एक से दो प्रतिशत तक का अनुमान करें। यदि हरा सा निक्षेप आवे तो $\frac{1}{2}$ से १ प्रतिशत तक का अनुमान करें। मूत्र केवल हरा सा धुंधला हो जाये तो •१ से •५ प्रतिशत तक का अनुमान करें।

नाड़ी संस्थान (Nervous System) की परीक्षा :—

<u>प्रश्न</u>. रोगी में अपस्मार का दौरा होता हो तो पूछना चाहिये कि पहला दौरा किस आयु में आया फिर कितनी कितनी देर बाद दौरे होते रहे। दौरे जागते में होते हैं या नींद के समय। दौरे से पहले कोई पूर्व रूप (Aura) होते हैं तो वे क्या होते हैं। क्या दौरे में मूर्च्छा ही होती है या आक्षेप भी होते हैं। दौरे के समय जीभ तो नहीं कटती।

यदि न्यूनाधिक पक्षाघात हो तो पूछें कि पहले फिरंग रोग या रक्तभार के रोग तो नहीं हुये। पक्षाघात अचानक हुआ या मिनटों और घंटों में हुआ या महीनों में हुआ। । पहला Haemorrhage से दूसरा Thrombosis से और तीसरा Tumour से होता है।

किसी शाखा में दर्द होता हो तो पूछना चाहिये कि वह कहां होता है और किस दिशा में जाता है और किस चीज से बढ़ता है। हर समय होता है या दौरों में होता है; दर्द के प्रदेश में सुप्ति (Numbness) झनझनाहट (Tingling) की प्रतीति तो नहीं होती। जैसा कि Neuritis में होती है।

सिर में दर्द हो तो वह किस प्रकार का है और किस स्थान पर होता है। और किस समय प्रारंभ होता है। हर समय रहता है या दौरों में होता है। दृष्टि पर इसका क्या असर होता है। सिर दबा हुआ या फटा हुआ तो नहीं प्रतीत होता। अनिन्द्रता या व्याकुलता के लक्षण तो नहीं रहते। पहले बायें सिर में शुरु तो नहीं होता। जीर्ण वृक्क रोग या रक्तचाप तो नहीं होता। सिर को नीचे झुकाने (जैसा Cerebral Tumour में होता है) से तो नहीं होता।

मस्तिष्क परीक्षा -- (Examination of the Brain)

मस्तिष्क के स्वाभाविक गुणों जैसे बुद्धि, स्मृति, एकाग्रता, निद्रा आदि की जांच करनी चाहिये। रोगी को देश काल का ज्ञान है या नहीं। इसमें किसी प्रकार का भावावेश तो नहीं अर्थात् वह भयभीत, चिन्तित, दुखी तो नहीं। इसे किसी प्रकार का भ्रम (Delusion) या मिथ्या विश्वास (Hallucination) तो नहीं। इसे अपने शरीर की ठीक ठीक सुध बुध है या नहीं, क्या वह वास्तविक दुनियां में रहता है या काल्पनिक दुनिया में। इसकी वाणी कैसी है। इसकी भी जांच करें।

मूक रोग (Aphasia):-

जो शब्द हम कान के द्वारा सुनते हैं उसकी प्रतीति हमें मस्तिष्क के Superior Temporal Gyrus में होती है। लिखे हुये शब्द को पढ़ने पर इसकी प्रतीति हमें मस्तिष्क के Angular Gyrus में होती है। इन दोनों स्थानों से प्राप्त हुये शब्दों के उच्चारण का केन्द्र स्थान हमारे बायें मस्तिष्क गोलार्द्ध के दूसरे तीसरे Frontal Convolutions के पिछले भागों में स्थित है। (Bronca's Centre) अर्थात् इसी स्थान से हमारे कंठ और जिव्हा को हिलाने वाले चेष्टासूत्र आरंभ होते हैं तथा इसी स्थान पर वे सेल उपस्थित हैं जिनसे उनमें की पिछले भागों मांस पेशियों को चेष्टा सूत्र जाते हैं। xxxxMiddlexx

मस्तिष्क में विचार वाणी के इसके सब केन्द्र को Left Middle Cerebral-Artery. की Cortex को जाने वाली शाखाओं से रक्त पहुंचता है। इन शाखाओं में अवरोध या Thrombosis हो जाने से या इनमें स्तंभ (Angiospasm) हो जाने से जैसे कि Migraine अपस्मार, Uraemia आदि में होता है। Aphasia का रोग हो जाता है। मस्तिष्क में

Disseminated Sclerosis के हो जाने से बोलना मंद हो जाता है या बंद सा हो जाता है। इस उपर्युक्त केन्द्र में रोग होने से जो बोलना बंद होता है इसे भी Motor Aphosia कहते हैं।

यदि केवल सुने हुये शब्द की या लिखे हुये शब्द की ही प्रतीति न हो अर्थात् या तो Word Deafnes. हो या Word Blindness हो तो इन दोनों को Sensory Aphasia कहते हैं। बहुधा तो ये सभी केन्द्र न्यूनाधिक रूप से रुग्ण होते हैं। इसलिये Mixed Aphasia अधिक सुलभ रोग है।

Dysathria जब वाणी के केन्द्र में तो रोग न हो परंतु उच्चारण करने वाली मांस पेशियों में रोग के कारण शब्दोच्चारण विषम् हो जाय तो इसे Dysarthria कहते हैं। Extra Pyramidal संस्थान में रोग के होने से शब्दोच्चारण करने वाली मांस पेशियों में स्तंभ Rigidity का लक्षण रहता है। जिससे एक बड़ी आयु का व्यक्ति शब्द तोड़ तोड़ कर बोलने लगता है। मस्तिष्क में Disseminated Sclerosis का रोग हो तो भी बोलने में विषमता (Scanning) हो जाती है।

<u>मांसपेशियों की परीक्षा :—</u> साधारणतः मांसपेशियों में स्तब्धता (Spasticity) नहीं होती परंतु जब Upper Motor Neurous में रोग हो तो एक तरफ के बाहिर अंग में स्तब्धता दीखने लगती है। बाहु धड़ पर संकुचित तथा Pronated रहती है। जंघा फैली हुई और अकड़ी हुई रहती है।

दूसरा Parkinsonism रोग में भी मांसपेशियों में स्तब्धता Spasticity रहती है। Extra Pyramidal संस्थान के कारण शरीर की मांसपेशियों में एक बल Tone हर समय कायम रहता है ताकि Pyramidal चेष्टाओं के द्वारा जब हम कोई ऐच्छिक चेष्टा करना चाहें तो वह सुगमता से हो सके। इसी संस्थान के कारण ही हमारे चलते फिरते समय होने वाली स्वयं चेष्टायें भी संपन्न होती हैं। इस संस्थान में विशेषतः Globus Pallidus के सेलों तथा सूत्रों में Cerebral Arteriosclerosis, Hypertension अथवा फिरंग रोग की विष के कारण क्षीणता (Degen.) के हो जाने से भी शरीर की मांस पेशियों में स्तब्धता का लक्षण हो जाता है।

इस रोग में शाखाओं की अपेक्षा चेहरे, ग्रीवा तथा धड़ की मांस पेशियों में स्तब्धता (Rigidity) अधिक होती है। जब शाखाओं में स्तब्धता होती है तो वह भी इनकी ऊपर ऊपर की मांस पेशियों में, सिरों की मांस पेशियों की अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिये इस रोग में रोगी का चेहरा भाव हीन सा दीखता, कंठ, जिह्वा, ओष्ठ आदि में स्तब्धता होने से वाणी में लचक नहीं रहती। पलकों तथा चबाने की मांस पेशियों में भी स्वाभाविक लचक नहीं रहती। ग्रीवा तथा धड़ में लकड़ी समान [illegible] धड़ के साथ ही

हुई और कोहनी पर थोड़ी संकुचित रहती है। बाहों के समान टांगों में भी स्वाभाविक लचक नहीं रहती तथा गोडों पर कुछ कुछ संकुचित दीखती हैं। कठोरता के कारण रोगी का शरीर कुछ कुछ प्लास्टर का बना हुआ सा लगता है। इसीलिये उसकी सभी चेष्टायें मंद हो जाती हैं। हाथों तथा अंगुलियों की मांस पेशियों में स्तब्धता के कारण लिखने में कुछ कठिनता होती है।

तीसरा Disseminated Sclerosis के कारण भी अंगों में विशेषतः निम्न शाखाओं में स्तब्धता उत्पन्न हो जाती है। एक टांग में या दोनों टांगों में स्तब्धता तथा गुरुता रहती है तथा Pyramidal सूत्रों में रोग के समान ही इसमें रोगी की एक या दोनों जंघाओं में उपस्तंभ (Paralegia) का लक्षण होता है। जिस निम्न शाखा में यह रोग होता है उनमें Tendon Reflexes बढ़े हुये होते हैं।

मांस पेशियों में कंप (Tremor) का लक्षण भी होता है। जिसका प्रधान कारण Parkinsonism का रोग है। यद्यपि कईयों में इस रोग के कारण स्तब्धता के लक्षण के स्थान पर कंप का लक्षण होता है जो पहले एक हाथ की अंगुलियों तथा अंगूठों में प्रारंभ होता है जब हाथ आराम में होता है तब यह कंप अधिक होता है। निद्रावस्था में नहीं होता। अंगुलियों तथा अंगूठे में ऐसा कंप होता है जैसे मानो रोगी गोली बना रहा हो। फिर हाथ के बाद अग्रबाहु में क्रमिक Pronation-Supination का कंप होने लगता है। किसी प्रकार के मानसिक आवेश में यह कंप और अधिक होने लगता है। यह कंप का लक्षण निचले जबड़े में भी हो सकता है या सिर में भी हो सकता है।

Disseminated Sclerosis रोग के कारण भी हाथ में कंप हो सकता है जो किसी सूक्ष्म काम के करते समय विशेष होता है यथा प्याले को मुख पर लाते समय अधिक होता है। इसलिये जिसे Intention Tremor भी कहते हैं। वृद्धावस्था से पहले होने वाला कंप का यही कारण होता है।

मांस में उद्वेष्टन Cramps भी होते हैं। जो बड़ी आयु में हों और रात को सोते समय हों तो जीर्ण वृक्क रोग (Uraemia) का संदेह करें। चलते समय हों तो Arterio Sclerosis का। वृद्धावस्था से पहले रात को हों तो मधुमेह अथवा Peripheral Neuritis का संदेह करें।

<u>संज्ञा संबंधी परीक्षा :--</u> स्पर्श ज्ञान के लिये रुई से उसकी परीक्षा रुई का स्पर्श करके की जाती है। अतिस्पर्श (Hyperaesthesia) की परीक्षा पिन के नोक की हल्की सी रगड़ (Pindragging) से की जाती है। ठीक संज्ञा वाले प्रदेश से अधिक संज्ञा वाले प्रदेश पर पिन को ले जाना चाहिये। वेदना के अभाव या Analgesia की परीक्षा [illegible] से दबा के

की जाती है। ताप ज्ञान का प्रतीति के लिये गर्म या ठंडे जल से भरी टैस्ट ट्यूब उस स्थान पर लगाई जाती है।

अति स्पर्श या .Peraesthesia:- हाथों या पैरों में दोनों ओर हो तो Peripheral Nerve के रोग की आशंका करनी चाहिये अर्थात् इन नाड़ियों को उचित मात्रा में रक्त या Oxygen नहीं मिल रही। दोनों पैरों के नीचे की त्वचा सोई हुई हो या चलते समय पैरों के नीचे रुई की गद्दी सी लगी हुई प्रतीत होती हो तो Tabes Dorsails अर्थात् Cord या सुषुम्ना के Posterior Column में फिरंग जनित विष के दुष्प्रभाव का अनुमान करना चाहिये। इसी प्रकार यदि पिंडलियों या एड़ियों को जोर से दबाने से भी दर्द न हो तो भी इसी रोग का अनुमान करना चाहिये।

दोनों ओर या एक ओर गोड़े से नीचे टांग अथवा पैर में सहसा क्षणिक तीव्र शूल के वेग हों तो भी Tabes का संदेह करना चाहिये। बाहु में Ulnar Nerve और टांग में Ant.Tibial Nerve में दर्द हो या हाथ पांव की त्वचा में स्पर्श की न्यूनता हो तो महा कुष्ठ का संदेह करना चाहिये।

प्रतिक्षिप्त चेष्टायें (Reflexes):-

Superficial Reflexes त्वचा संबंधी प्रतिक्षिप्त चेष्टायें

१.. Epigasteric Reflexe निचली छाती की त्वचा पर थोड़ी सी टकोर देने से Epigastrium में गढ़ा पड़ जाता है।

२.. Upper Abdominal Reflex पसलियों से नीचे की त्वचा पर हलकी सी टकोर देने से उदार Rectus संकुचित हो जाती है।

३.. Lower Abdominal Reflex:- Poupart Ligament के ऊपर त्वचा को जरा टकोरने से उदार Obliquus Abdominis संकुचित हो जाती है।

४.. Plantar Reflex का कौन ऊपर (नाड़ी रोगों में) हो जाता है।

५.. Deep Reflexes:- Knee Jerk का कौन ऊपर नाड़ी रोगों में हो जाता है।

६.. Biceps तथा Triceps Jerks:- कोहनी को ९० डिग्री पर संकुचित करके अग्रबाहु को Semi Pronation में रखकर इसकी Tendon को टकोरें तो इस मांस में संकोच उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार Triceps की Tendon को टकोरें तो वह मांस पेशी संकुचित हो जाती है।

Superficial Reflexes न हों या बहुत कम हों तो उस तरफ के Pyramidal मार्ग में रोग का अनुमान करना चाहिये। Disseminated-Sclerosis में फिर से कुछ होते हैं। Plantar Reflex उल्टा हो अर्थात्

Flexor न हो के Extensor या ऊपर की तरफ हो तो भी Pyramidal नाड़ी में रोग का अनुमान करना चाहिये।

गहरे प्रतिक्षेप अर्थात् Tendon Reflexes बढ़े हुये हों तो Uffermotor Neurones में अर्थात् या तो Motor Cartex में रोग है या वहां से प्रारंभ होकर सुषुम्ना कांड के Anterior Horn Cells में समाप्त होने वाले सूत्रों में रोग का अनुमान करना चाहिये। Reflex Arch के उत्तेजित होने पर जैसे Strychnine विष में या Tetanus स्तंभ रोग में भी ये प्रतिक्षेप अत्यधिक बढ़े हुये होते हैं।

यदि गहरे प्रतिक्षेप (T.R.) लुप्त हों तो Lower Afferent या Efferent Neurones में या Reflex Arch से संबंधित सुषुम्नागत केंद्रों में रोग का अनुमान करें। जैसे कि Tabes Dorsalis में जिनमें Pasterior Roots रोग ग्रस्त होते हैं तथा Polyneuritis में जिनमें प्रायः निचले Motor तथा Sensory. रुग्ण होते हैं गहरे प्रतिक्षेप लुप्त होते हैं।

आयुर्वैदिक रोग परीक्षा विधि

दोष-दूष्य-निदान,ज्ञानविधि

आयुर्वैदिक दृष्टि से शरीर के मूल कारण पंच तत्व या तीन धातु हैं। आयुर्वेदानुसार शरीर जिन छोटे छोटे सेलों और सूत्रों से बना हुआ है वे पृथ्वी-अप-तेज-वायु-आकाश इन पांच तत्वों से बने हुये हैं। दूसरे शब्दों में ये सेल्स तथा सूत्र पृथ्वी अप तत्वों अर्थात् कफ धातु से तेज तत्व अर्थात् पित्त धातु से और वायु आकाश तत्वों अर्थात् वायु धातु से बने हुये हैं। इनमें से पृथ्वी अप तत्वों या कफ धातु के कारण शरीर में वृद्धि की या जल की होता है। तेजतत्व या पित्त धातु से शरीर में पक्ति की या अग्नि की होता है तथा वायु और आकाश तत्वों या वायु धातु के कारण शरीर में गति की या वायु की होता है। वायु तत्व न केवल शरीर की गति का ही कारण है पर उसके शरीर की जीवनी शक्ति होने के कारण वह कफ के वृद्धि की और पित्त के पक्ति की में भी सहायक होता है। इस प्रकार आयुर्वेद में शरीर को त्रिधातु जनित कहा जाता है।

सम अवस्था या प्राकृतिक अवस्था में ये शरीर के स्वास्थ्य का कारण हैं। विषम् या वैकृतिक अवस्था में ये रोग का कारण हो जाते हैं। शरीर को दूषित करके रोगोत्पादक होने के कारण इन्हें दोष भी कहते हैं।

१.. रोग परीक्षा करते समय आयुर्वेदानुसार सबसे पहले यह देखा जाता है कि शरीर में कौन सा दोष बढ़ा हुआ है। जिस दोष के लक्षण शरीर में दिखाई देते हों उसे बढ़ा हुआ समझा जाता है।

जब शरीर में कफ का वृद्धिकर्म बढ़ा हुआ और पित्त का पक्ति कर्म मंद हुआ हो अर्थात् शरीर में गुरुता,मंदता,शिथिलता,मंदोष्णता,निद्रा-धिक्यता आदि के लक्षण हों तो शरीर में कफ दोष की वृद्धि का अनुमान कर लिया जाता है।

जब शरीर में पित्त का अग्निकर्म या पक्तिकर्म बढ़ा हुआ हो एवं कफ का वृद्धिकर्म घटा हुआ हो अर्थात् शरीर में उष्णता,दाह, पित्तावभासता एवं निर्बलता के लक्षण हों तो शरीर में पित्त दोष की वृद्धि है ऐसा अनुमान कर लिया जाता है।

जब शरीर का प्राण तत्व या गति तत्व या वायु तत्व कुछ घटा हुआ हो एवं कफ का वृद्धि की और पित्त का पक्तिकर्म भी मंद हो,तब शरीर में चलता । विक्षोभशीलता Irritability) अति प्रतीति (Hyperaesthesia) के लक्षण हो जाते हैं जिनको देखकर वायु दोष की वृद्धि का अनुमान किया जाता है।

जब शरीर का यही प्राणतत्व या वायु धातु और अधिक

घट जाता है एवं परिणामत: कफ का वृद्धि और पित्त का अपचित और अधिक मंद हो जाता है तो शरीर में लघुता- रूक्षता, मंदोष्णता, कृशता आदि क्षीणता सूचक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिनको देखकर शरीर में वात क्षय का अनुमान कर लिया जाता है।

इस प्रकार रोग विनिश्चय में सबसे पहले इस बात की जांच की जाती है कि शरीर में कौन से दोष की वृद्धि हुई हुई है या वायु पित्त कफ में से कौन सा धातु क्षीण हुआ हुआ है।

२.. दूसरा यह जांच की जाती है कि इस बढ़े हुये दोष ने किस अवयव या अंग में स्थान संश्रय किया है। अर्थात् दोष ने किस अवयव को विशेषत: दूषित किया है। दूसरे शब्दों में दूष्य कौन सा है। इस बात का निर्णय किया जाता है। अन्न स्रोत, श्वास स्रोत, मूत्र स्रोत, रक्त स्रोत, मांसवह स्रोत, मेदोवह स्रोत, मस्तिष्क त्वचा श्लेष्म कला आदि में से कौन सा अवयव विशेष दूषित हुआ है इसका पता लगाना चाहिये।

इनमें से किसी अवयव में मंदोष्णता, शैत्य, या हल्की लालिमा या कंडू या श्वेत स्राव युक्त शोथ हो तो उसे कफ दोष की वृद्धि और पित्त क्षय का दूष्य स्थान समझना चाहिये। किसी अवयव में राग, पाक, ज्वर, आदि से युक्त शोथ हो तो उसे पित्त दोष की वृद्धि और कफ क्षय का दूष्य स्थान समझना चाहिये। इनमें से किसी अवयव में चलता, विस्तारभेदी दाह, स्तंभ, संकोच, तोद, भेद, शूल आदि लक्षण बढ़े हुये हों तो वहां पर वायु दोष की वृद्धि तथा कफ और पित्त क्षय का दूष्य स्थान समझना चाहिये तथा यदि इन में से किसी स्थान पर लघुता (Atrophy) रूक्षता, खरता, कठोरता, शुष्कता, स्पर्शासहिष्णुता के लक्षण बढ़े हुये हों तो उसे वायु क्षय का दूष्य स्थान समझना चाहिये।

परीक्षा:

शरीर में कौन सा दोष बढ़ा तथा कौन सा घटा है इसकी परीक्षा त्वचा, नेत्र, मूत्र, मल, रस, नाड़ी आदि की परीक्षा द्वारा भी किया जाता है।

१.. त्वचा, आर्द्र, शीत, श्वेत या सनवर्ण हो तो कफ दोष, उष्ण स्वेद युक्त तथा पीत वर्ण हो तो पित्त दोष और शीत स्पर्शासहिष्णु रूक्ष हो तो वायु दोष की वृद्धि का अनुमान करना चाहिये।

२.. नेत्र, आर्द्र, स्निग्ध, श्वेत वर्ण हों तो कफ दोष, पीत वर्ण या रक्तवर्ण हों तो पित्त दोष, रूक्ष स्पर्शासह वर्ण, अन्दर धंसे हुये हों तो वायु दोष की वृद्धि का सूचक होते हैं।

३.. मूत्र, मात्रा में अधिक, स्निग्ध, ठंडा, सफेद से युक्त हो तो शरीर में कफ दोष, पीत, रक्तवर्ण, पूययुक्त, उष्ण हो तो शरीर में पित्त दोष, तथा जल की तरह का हो रूक्ष हो स्पर्शासहिष्णु हो शरीर में वायु दोष की वृद्धि का सूचक होता है।

101

४.. मल, हीन, मात्रा में अधिक, पिच्छिल, श्वेत और दुर्गन्धित हो तो कफ दोष, पीत और द्रवरूप, उष्ण हो तो पित्त दोष और शुष्क, कठोर, मात्रा में न्यून, श्याम वर्ण हो तो शरीर में वायुदोष की वृद्धि का अनुमान करें।

५.. रस, मुख में मधुर लवण रस हो तो कफ दोष, कटु, तिक्त, अम्ल रस हो तो पित्तदोष, कषायरस हो तो। तो वायु दोष की वृद्धि का अनुमान करें।

६.. नाड़ी, की गति मंद हो, मंद वेग हो, स्थिर हो, अर्थात् उसकी स्थिरता स्पष्ट हो इसलिये जो देखने में कुक्कुट गति या मयूर गति हो विशेष उष्ण हो तो शरीर में कफ दोष की वृद्धि, यदि नाड़ी गति तीव्र हो अर्थात् वेगवती हो अधिक रक्त से भरी होने से दीर्घा हो, बलवती हो (Systolic Pressure) वाली हो) अर्थात् मंडूक गति हो, विशेष उष्ण हो तो इसे पित्त दोष की वृद्धि, तथा यदि नाड़ी चपल हो अर्थात् अति तीव्र गति हो, अस्थिर व निर्बल हो अर्थात् उसकी स्थिरता व बल कम हों तो शरीर में वायु दोष की वृद्धि का अनुमान करना चाहिये।

इसी प्रकार यदि धमनियों में Tension के कम होने से Dicratic Wave कुछ स्पष्ट हो जाते हैं वह सर्पगति प्रतीत होने लगे तो इससे भी शरीर में वायु दोष की वृद्धि का अनुमान किया जाता है।

३.. तीसरा रोगी की प्रकृति, उसकी आयु, उसका देश, उसका आहार, व्यवहार, उसकी मानसिक अवस्था आदि के ज्ञान से भी इसमें किस दोष की वृद्धि से रोग हुआ है यह जाना जा सकता है।

। क। अर्थात् यदि किसी की प्रकृति कफ की हो, उसके शरीर में स्वभावतः ही पचिकाओं की अपेक्षा वृद्धि की प्रबल हो, इसमें गुरुता, स्निग्धता शीतता, अग्निमंदता के लक्षण हों तो इसमें कफ दोष की वृद्धि से रोग हुआ है ऐसी कल्पना करनी चाहिये।

यदि रोगी छोटी आयु का हो, शीतकाल, वसन्तकाल, पूर्वाह्न या रात्रि या भोजन के तुरंत बाद रोग बढ़ता हो तो भी रोग को कफ दोष की वृद्धि से हुआ समझना चाहिये।

यदि रोग अधिक आहार लेने से या गुरु, स्निग्ध, शीत, गुड़, मधुर, अम्ल, लवण, रस आहार से और बैठे रहने या व्यायाम न करने से बढ़ता हो तो इसे भी कफ दोष की वृद्धि से हुआ समझना चाहिये।

रोगी का देश, आनूप अर्थात् जल बहुल हो तो भी कफ दोष की वृद्धि से इसे रोग हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

। ख। जो व्यक्ति जन्म से ही पित्त प्रकृति का हो अर्थात् जिसमें वृद्धि की अपेक्षा पचिकाएँ प्रबल हो तो इसमें पित्त दोष की वृद्धि का

ही अनुमान करना चाहिये।

यदि रोगी मध्यमायु का हो, मध्याह्न मध्यरात्रि या भोजन के पचन होते समय या ग्रीष्म काल या शरद् काल में अर्थात् पित्त प्रधान काल में रोग हो तो भी उसे पित्त दोष जनित समझना चाहिये।

इसी प्रकार उष्ण गुण आहार पान करने वाले तथा कटु, अम्ल, लवण रस, आहार लेने वाले, अति श्रम शील व्यक्ति में रोग हो तो उसे पित्त दोष जनित समझना चाहिये। रोगी का देश उष्ण, सूखा और गर्म हो तो भी उसमें पित्त दोष की अधिकता का अनुमान करना चाहिये।

। ग। यदि रोगी जन्म से ही वायु प्रकृति का हो अर्थात् उसकी पाचन शक्ति या जीवनी शक्ति या प्रतिरोधक शक्ति स्वभावतः ही कम हो, शरीर व मन में चलता का गुण विशेष हो, शीत आहार, विहार, अनुकूल न हों, अग्नि विषम् हो तो उसमें रोग वायु दोष की अधिकता से हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

इसी प्रकार यदि आयु वृद्ध हो, सांयकाल या रात्रि के पिछले भाग में या भोजन के जीर्ण हो जाने के बाद या वर्षाकाल में अर्थात् वायु के काल में रोग हो तो उसे भी वायु दोष की वृद्धि से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये।

इसी प्रकार शीत रूक्ष गुण अपौष्टिक आहार, अति शारीरिक श्रम, अति क्रोध, चिन्ता, भय, शोक, आदि वायु प्रकोप आहार विहार से रोग हो तो उसे भी वायु दोष जनित समझना चाहिये।

इसी प्रकार आनूपदेश में भी रोग हो तो उसे कफ या वायु दोष की अधिकता से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये।

इसीलिये चरक ने जो यह कहा है कि रोगी में (1) दोष कौन सा बढ़ा है, (2) कौन सा दूष्य है तथा (3) दोष के बढ़ने और दूष्य की विकृति के कारण क्या हुये हैं, यह भली प्रकार पता लगा कर उनके विपरीत औषध आहार विहार का सेवन कराया जाय तो रोग अवश्य ही ठीक हो जाता है, ठीक ही है।

।। चरक वि ३ - ३.३ ।।

कुछ स्मरणीय बातें :-

रक्त के संघटक तत्व —

कैल्शियम	९ - ११	मिलि प्रति १०० सी.सी. मैं	
लवण	५६० - ६२०	"	"
पोटाशियम	१७ - २२	"	"
सोडियम	३२५ - ३५०	"	"
खांड	८० - १२०	"	"
Cholesterol	१५० - २००	"	"
प्रोटीन	६.३ - ७.८	"	"
अल्ब्यूमिन	३ - ४	ग्राम "	"
ग्लोब्युलिन	१.५ - ३	" "	"
फाइब्रिनोजन	.३	" "	"
फोस्फोरस	३ - ४	" "	"
यूरिया	२० - ४०	मिलिग्राम "	"
यूरिक एसिड	३ - ४	" "	"
बिलीरुबिन	.३ - .८	" "	"
Phosphatase Acid	२.५	Kind Armstrong Units.	
Alkaline	५ - १५	" "	"
बाइकार्बोनेट —	५३-६० Volume प्रति १०० CO2		
रक्त कण	४.५ - ५.५	मिलियन प्रतिक्यूबिक मलीमीटर	
श्वेत कण	४ हजार - ८ हजार	"	"
Neutrophils	५५ - ७०	प्र० श०	
Lymphocyles	२० - ४०	प्र० श०	
Monocytes	४ - ८	प्र० श०	
Eosinophils	½ - ३	प्र० श०	

रक्त का Sedimentation Rate. १ घं० में १ - ८ मि० मि०

मूत्र

लवण	१० ग्राम	१ हजार सी० सी० मैं
फोस्फोरस	२ ग्राम	"
सोडियम	४ ग्राम	"
पोटाशियम	२ ग्राम	"
गंधक	२ ग्राम	"
यूरिया	३० ग्राम	"
यूरिक एसिड	.६ ग्राम	"
अमोनिया / Creatinine	.६ ग्राम	"
Diastase	१.५ ग्राम / 30 Wohlgemuth Units में से कम २४ घं० में।	"

भार (ग्रेन मिलि में)

१ ग्रेन	—	६० मिलिग्राम
$\frac{१}{२}$ ग्रेन	—	३० मिलिग्राम
$\frac{१}{४}$ ग्रेन	—	१५ मिलिग्राम
$\frac{१}{१२}$ ग्रेन	—	५ मिलिग्राम
$\frac{१}{६०}$ ग्रेन	—	१ मिलिग्राम

भार (औंस व सी.सी. में)

१ औंस	—	३० सी.सी.
१५ बूंद	—	१ सी.सी.
१ ड्राम	—	४ सी.सी.
२० औंस	। १ पाइं।	६०० सी.सी.
१ $\frac{३}{४}$ पाइंट		१ लिटर

भार (औंस व ग्राम में)

१ औंस	—	३० ग्राम
१ ड्राम	—	४ ग्राम
१५ ग्रेन	—	१ ग्राम
७$\frac{१}{२}$ ग्रेन	—	$\frac{१}{२}$ ग्राम
५ ग्रेन	—	·३२ ग्राम
३ ग्रेन	—	·२ ग्राम
२ ग्रेन	—	·१३ ग्राम